महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित

कथासरित्सागर

(द्वितीय खण्ड)

[मूल संस्कृत के साथ सप्तम लम्बक से एकादश लम्बक तक]

अनुवादक

स्वर्गीय पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—६



प्रथम संस्करण : शकाब्द १८८३; खृष्टाब्द १९६१

मूल्य : १२.५०

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

वक्तव्य

कथासरित्सागर का द्वितीय खण्ड प्रकाशित करते हुए हमें अत्यधिक हर्ष हो रहा है। इसका प्रथम खण्ड १९६० ई० के मध्य में प्रकाशित हुआ था। सुधी पाठकों ने इसे अपनाकर हमारा उत्साह बढ़ाया। हमें उसी से प्रेरणा मिली। विश्वास है, इस द्वितीय खण्ड का भी उसी तरह स्वागत होगा।

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित 'कथासरित्सागर' में कुल १८ लम्बक हैं, जिनमें से प्रथम खण्ड में छह लम्बकों का मूल के साथ हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया गया था। द्वितीय खण्ड में पाँच लम्बकों का मूल-सह हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। शेष सात लम्बक तृतीय खण्ड में प्रकाशित किये जायेंगे। इस तरह तीन खण्डों में सम्पूर्ण कथासरित्सागर के प्रकाशन का काम समाप्त होगा। हम उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जिस दिन तृतीय खण्ड का मूल-सह हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित कर इस अनुष्ठान की पूर्णाहुति कर सकेंगे।

कथासरित्सागर के प्रथम खण्ड में हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी भूमिका में इस ग्रंथ पर विशद रूप से विवेचन किया है। हम पाठकों से आग्रह करेंगे कि वह भूमिका उसी खण्ड में देखने की कृपा करें। यहाँ उस भूमिका को प्रकाशित करना अनावश्यक था; क्योंकि जो भूमिका एक खण्ड में प्रकाशित हो चुकी है, वह सभी खण्डों पर समान रूप से प्रकाश डालती है।

जैसा कि हम प्रथम खण्ड के 'वक्तव्य' में निवेदन कर चुके हैं, इस ग्रंथ के दो खण्डों का ही हिन्दी-अनुवाद पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने किया था, तथा इस ग्रन्थ के लिए उन्होंने विस्तृत भूमिका भी लिखने की योजना बनाई थी, तभी उनका देहावसान हो गया और वे इसके प्रथम खण्ड को भी प्रकाशित होते न देख सके। इसके लिए हमें हार्दिक दुःख है। इसके तृतीय खण्ड के शेष सात लम्बकों के हिन्दी-अनुवाद का कार्य सम्पन्न हो रहा है। उसकी पाण्डुलिपि प्राप्त होते ही प्रेस में मुद्रणार्थ भेजी जायगी।

आशा है, हमारे सुधी पाठक इस खण्ड को भी उसी चाव से अपनाकर हमें उत्साहित करेंगे।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
दीपावली, २०१८ वि०

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
संचालक

विषयानुक्रमणी

[प्रस्तुत विषयानुक्रमणी हिन्दी-अनुवाद के अनुसार है ।]

कथासरित्सागर

(द्वितीय खण्ड)

रत्नप्रभा नाम सप्तमो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

रत्नप्रभा नामक सप्तम लम्बक

नगेन्द्र-नन्दिनी पार्वती के प्रबल प्रणय-मन्दराचल के मन्थन द्वारा शिवजी के मुख-रूपी समुद्र से निकले हुए इस कथा-रूपी अमृत का जो लोग आदर और आग्रहपूर्वक पान करते हैं, वे शिवजी की कृपा से निर्विघ्न सिद्धियों को प्राप्त कर, दिव्य पद लाभ करते हैं।

प्रथमस्तरङ्गः

मङ्गलाचरणम्

केलिकेशग्रहव्यग्रगौरीकरनखावृतम् ।
शिवायानेकचन्द्राढ्यमिव शार्वं शिरोऽस्तु वः ॥१॥[1]
करं दानाम्भसार्द्रं यः कुञ्चिताग्रं प्रसारयन् ।
ददत् सिद्धिमिवाभाति स पायाद्वो गजाननः ॥२॥[2]

रत्नप्रभायाः कथा

एवं स तत्र कौशाम्ब्यां पुत्रो वत्सेश्वरस्य ताम् ।
परिणीय युवा प्राणसमां मदनमञ्चुकाम् ॥३॥
नरवाहनदत्तः स्वैः सचिवैर्गोमुखादिभिः ।
समं तस्थौ यथाकामं परिपूर्णमनोरथः ॥४॥
एकदा चोल्लसन्मत्तकोकिलारावराजिते ।
प्रवर्त्तितलतालास्यवल्गन्मलयमारुते ॥५॥
प्रगीतभृङ्गसुभगे सम्प्राप्ते च मधूत्सवे ।
ययौ विहर्त्तुमुद्यानं राजपुत्रः समन्त्रिकः ॥६॥
तत्र भ्रान्त्वागतोऽकस्मादुपेत्य निजगाद तम् ।
प्रहर्षोत्फुल्लनयनः स्ववयस्यस्तपन्तकः ॥७॥
युवराज मया दृष्टा कापीतो नातिदूरतः ।
कन्यावतीर्य गगनात् स्थिताऽशोकतरोरधः ॥८॥
तयैव प्रेषितश्चाहमुपेत्य ससखीकया ।
स्वकान्तिद्योतितदिशा त्वदाह्वानाय कन्यया ॥९॥
तच्छ्रुत्वा स स्वसचिवैः साकं तद्दर्शनोत्सुकः ।
नरवाहनदत्तस्तत्तरुमूलमगाद्द्रुतम् ॥१०॥
ददर्श तत्र तां कान्तां लोललोचनषट्पदाम् ।
शोणौष्ठपल्लवां पीनस्तनस्तबकशोभिताम् ॥११॥
परागपुञ्जगौराङ्गीं छायया तापहारिणीम् ।
आत्तोचिताकृतिं साक्षादिवोपवनदेवताम् ॥१२॥

---

१. अत्र मङ्गलाचरणे शिवाशिवयोः सम्भोगशृङ्गारवर्णनमस्ति। पार्वती स्वाधीना नायिका वर्त्तते। अलङ्कारश्चात्रोत्प्रेक्षा। २. अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः।

प्रथम तरंग

मंगलाचरण

शिव और पार्वती की प्रेम-क्रीडा के समय शिव का केश ग्रहण करते हुए पार्वती के हाथों के नखों में प्रतिबिम्बित अनेक चन्द्रमाओं से युक्त उनका (शिव का) मस्तक आपका कल्याण करे ॥१॥[1]

मदजल से गीली और सिकुड़ी हुई सूँड़ को फैलाकर मानों सिद्धि प्रदान करते हुए गणपति आपकी रक्षा करें ॥२॥

रत्नप्रभा की कथा

पूर्वोक्त प्रकार से प्राणप्यारी मदनमंचुका के साथ धूमधाम से विवाह करके सफलमनोरथ युवराज नरवाहनदत्त गोमुख आदि मन्त्रियों के साथ कौशाम्बी नगरी में सुखपूर्वक निवास करने लगा ॥३-४॥

एक बार, मदोन्मत्त कोयल के कूकने से मनोहर, लताओं को नचाते हुए मलय पवन से सुरभित और गुनगुनाते हुए भौंरों के गुंजन से मुखरित वसन्त-समय के प्राप्त होने पर, राजकुमार, अपने साथी मन्त्रियों के साथ, उद्यान-विहार के लिए गया ॥५-६॥

उद्यान-विहार करके आया हुआ और प्रसन्नता से विकसित नेत्रोंवाला तपन्तक[2] सहसा युवराज के पास आकर बोला—॥७॥

'युवराज ! यहाँ से कुछ समीप ही मैंने आकाश से उतरकर अशोक-वृक्ष के नीचे खड़ी किसी कन्या को देखा है ॥८॥

सहेली के साथ आई हुई और अपनी कान्ति से दिशाओं को प्रकाशित करती हुई उसी कन्या ने मेरे पास आकर तुम्हें बुलाने के लिए मुझे तुम्हारे पास भेजा है' ॥९॥

यह सुनकर नरवाहनदत्त, अपने साथी मन्त्रियों के साथ उस कन्या को देखने के लिए शीघ्र ही अशोक वृक्ष के नीचे गया ॥१०॥

वहाँ उसने जन-लोचनों के लिए भ्रमरी के समान, लाल ओठोंवाली एवं उभरे हुए स्तनों से शोभित उस सुन्दरी को देखा ॥११॥

पुष्पराग के समान गौर अंगोंवाली, अपनी छाया से सन्ताप हरनेवाली और सुन्दर आकृतिवाली वह सुन्दरी उस उपवन की साक्षात् देवी-सी मालूम हो रही थी ॥१२॥

---

१. इस मंगलाचरण में संभोग-शृंगार रस है। पार्वती स्वाधीनपतिका नायिका है और यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है। २. युवराज का नर्मसचिव, वसन्तक का पुत्र।

उपाययौ च प्रणतां स तामभिननन्द च।
दिव्यकन्यां नृपसुतस्तद्रूपापहृतेक्षणः ॥१३॥
अथ तत्सचिवः सर्वेषूपविष्टेषु गोमुखः।
तामपृच्छच्छुभे का त्वं किमर्थश्चागमोऽत्र ते ॥१४॥
तच्छ्रुत्वा सा दुरुल्लङ्घ्यमन्मथाज्ञोज्झितत्रपा।
नरवाहनदत्तस्य वदनाम्भोरुहं मुहुः ॥१५॥
पश्यन्ती चक्षुषा तिर्यगसमप्रणयस्नुता।
विस्तरेणात्मवृत्तान्तकथामेवमवर्णयत् ॥१६॥

रत्नप्रभया कथितः स्ववृत्तान्तः

अस्ति त्रिजगति ख्यातो नगेन्द्रो हिमवानिति।
भूरिशृङ्गस्य तस्यैकं शृङ्गं गौरीपतेर्गिरिः ॥१७॥
भास्वन्मणिप्रभामाली विलसत्तुहिनद्युतिः।
गगनाभोग इव यः परिच्छेत्तुं न शक्यते ॥१८॥
हरप्रसादलभ्यानां जरामृत्युभयच्छिदाम्।
सिद्धीनामोषधीनां च निधानं यस्य सानवः ॥१९॥
येन विद्याधरव्रातशरीररुचिपिञ्जरैः।
शिखरैरमराद्रीन्द्रशृङ्गशोभाभिभूयते ॥२०॥
तत्र काञ्चनशृङ्गाख्यमस्ति हेममयं पुरम्।
भाभि. प्रभाकरस्थानमिव यद्भाति भासुरम् ॥२१॥
बहुयोजनविस्तीर्णे तस्मिन्विद्याधरेश्वरः।
आस्ते हेमप्रभो नाम दृढभक्तिरुमापतौ ॥२२॥
तस्य चास्ति महादेवी पत्नीषु बहुषु प्रिया।
अलङ्कारप्रभा नाम रोहिणीव हिमत्विषः ॥२३॥
तया सह स राजा च प्रातरुत्थाय धार्मिकः।
स्नात्वार्चयित्वा विधिवद् गौरीयुक्तं महेश्वरम् ॥२४॥
एत्य मानुषलोकं च रत्नमिश्रं दिने दिने।
ब्राह्मणेभ्यो दरिद्रेभ्यः स्वर्णलक्षं प्रयच्छति ॥२५॥
ततश्चागत्य धर्मेण राजकृत्यान्यवेक्ष्य सः।
करोत्याहारपानादि मुनिवन्नियतव्रतः ॥२६॥

युवराज उसके समीप गया और प्रणाम करती हुई उसका अभिनन्दन किया। उस दिव्य कन्या के रूप के आकर्षण से उसकी आँखें स्तब्ध हो गईं ॥१३॥

तदनन्तर सबके बैठ जानेपर युवराज के सचिव गोमुख ने उससे पूछा—'हे कल्याणी! तू कौन है और यहाँ किसलिए आई है?' ॥१४॥

यह सुनकर अलंघनीय कामदेव की आज्ञा से लज्जा को त्यागकर नरवाहनदत्त के मुख-कमल को प्रेमामृत बरसाती हुई तिरछी आँखों से बराबर निहारती हुई वह कन्या अपना वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगी— ॥१५-१६॥

रत्नप्रभा का स्वकथित वृत्तान्त

तीनों लोकों में प्रसिद्ध हिमाचल नाम का पर्वतराज है। अनेक शिखरोंवाले उस हिमालय का, चमकती हुई मणियों की प्रभा से शोभित तथा चन्द्रमा से चमकता हुआ एक बड़ा शिखर है, जिसका विस्तार आकाश के समान असीम और अनन्त है ॥१७-१८॥

उस पर्वत की स्थलियाँ, वृद्धावस्था और मृत्यु को दूर करनेवाली तथा शिव की कृपा से प्राप्त होनेवाली ओषधियों और सिद्धियों का कोष (खजाना) हैं ॥१९॥

विद्याधरों के समूह की कान्ति से पीत वर्णवाले, जिसके शिखर, सुमेरु पर्वत के शिखरों की शोभा को नीचा दिखाते हैं ॥२०॥

वहाँ कांचनशृंग नाम का सुवर्णमय नगर है, जो स्वर्ण और रत्नों की प्रभाओं से सदा चमकता हुआ सूर्य के निवास-स्थान के समान मालूम होता है ॥२१॥

अनेक कोसों में फैले हुए उस नगर में हेमप्रभ नाम का विद्याधरों का राजा है, जो शिव में दृढ भक्ति रखता है ॥२२॥

उस हेमप्रभ की अनेक पत्नियों में अलंकारप्रभा नाम की पत्नी उसी प्रकार प्रधान है, जिस प्रकार चन्द्रमा की पत्नियों में रोहिणी ॥२३॥

वह धार्मिक राजा हेमप्रभ, प्रातःकाल उठकर स्नान करके उस महारानी के साथ गौरी-समेत शिव की विधिवत् पूजा करता है ॥२४॥

और, प्रतिदिन मर्त्यलोक में आकर दरिद्र ब्राह्मणों को रत्नो के साथ एक लाख स्वर्ण की मुहरें दान करता है ॥२५॥

मुनियों के समान नियमित व्रत करनेवाला वह राजा दान करने के अनन्तर अपनी नगरी में आता और राज्य-कार्यों को देखता है, तब अन्न-जल ग्रहण करता है ॥२६॥

एवं दिनेषु गच्छत्सु तस्योद्घातवशात्[1] किल।
अपुत्रताकृता राज्ञश्चिन्ता जातूदपद्यत ॥२७॥
तयातिदुर्मनस्कं च दृष्ट्वा पप्रच्छ तं प्रिया।
अलङ्कारप्रभा देवी दौर्मनस्यस्य कारणम् ॥२८॥
ततः स राजावादीत्तां सर्वसम्पत्तिरस्ति मे।
एकं तु पुत्रो नास्तीति दुःखं मां देवि बाधते ॥२९॥
या मया प्रागपुत्रस्य पुंसः सत्त्ववतः कथा।
श्रुता तत्स्मरणोद्घाताच्चिन्तैषा चोद्गता मम ॥३०॥
कीदृशी सा कथा देवेत्युक्तो देव्या तया च सः।
राजा तस्यै कथामेवं संक्षेपात्तामवर्णयत् ॥३१॥

राज्ञः सत्त्वशीलस्य कथा

नगरे चित्रकूटाख्ये ब्राह्मणार्चनतत्परः।
बभूव ब्राह्मणवरो नाम्नान्वर्थो महीपतिः ॥३२॥
तस्यासीत्सत्त्वशीलाख्यो जयी युद्धैकसेवकः।
मासे मासे च लेभे स तस्मात् स्वर्णशतं नृपात् ॥३३॥
पर्याप्त्यै तच्च नैवाभूत्त्यागिनस्तस्य काञ्चनम्।
अपुत्रत्वाच्च दानैकविनोदासक्तचेतसः ॥३४॥
पुत्रो विनोदहेतुर्मे दत्तस्तावन्न वेधसा।
दत्तं च दानव्यसनं तदप्यर्थविनाकृतम् ॥३५॥
वरं जीर्णस्य शुष्कस्य तरोर्जन्मोपलस्य वा।
न संसारे दरिद्रस्य त्यागैकव्यसनस्य च ॥३६॥
इति सञ्चिन्तयन्नित्यं सत्त्वशीलः स जातुचित्।
उद्याने सञ्चरन् प्राप निधिं दैवात्कदाचन ॥३७॥
सभृत्यश्च तमादाय भूरिकाञ्चनभास्वरम्।
महार्घरत्नरुचिरं निनाय प्रसभं गृहम् ॥३८॥
ततः स भोगान्भुञ्जानो ब्राह्मणेभ्यो ददद्वसु।
भृत्येभ्यश्च सुहृद्भ्यश्च यावदास्तेऽत्र सात्त्विकः ॥३९॥

---

१. प्रसङ्गवशादित्यर्थः।

इस प्रकार, बहुत दिन व्यतीत होने पर भी उसे पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई। एक बार उसे इस बात पर गम्भीर चिन्ता उत्पन्न हो गई ॥२७॥

उसे अत्यन्त चिन्तित देखकर रानी अलंकारप्रभा ने उसकी उदासी का कारण पूछा ॥२८॥

प्रश्न सुनकर राजा ने कहा—'देवि ! मुझे सभी प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त है, किन्तु एक पुत्र का अभाव मेरी चिन्ता का कारण हो रहा है ॥२९॥

मैंने एक पुत्रहीन सत्त्ववान् मनुष्य की कथा सुनी थी, उसके स्मरण आने पर आज चिन्ता बढ़ गई है' ॥३०॥

'वह कैसी कथा है ?'— इस प्रकार रानी के पूछने पर राजा ने संक्षेप से वह कथा इस प्रकार सुनाई ॥३१॥

राजा सत्त्वशील की कथा

चित्रकूट नामक नगर में ब्राह्मणों की सेवा में निरत ब्राह्मणवर नामक यथार्थ नामवाला राजा था ॥३२॥

उसका सत्त्वशील नामक एक विजयी और युद्ध में सहायता करनेवाला भक्त सेवक था। उसे राजा प्रतिमास एक सौ स्वर्ण-मुद्रा वेतन के रूप में देता था ॥३३॥

किन्तु परम उदार उस सत्त्वशील के लिए इतना धन पूरा नहीं होता था; क्योंकि पुत्र न होने के कारण वह उस धन को दान कर देता था ॥३४॥

वह सोचता था कि विधि ने मेरे मनोविनोद के लिए एक पुत्र नहीं दिया, केवल दान देने का व्यसन दिया, वह भी धन के बिना ॥३५॥

संसार में पुराने और सूखे वृक्ष या पत्थर का जन्म होना अच्छा है; किन्तु दान का व्यसनी होकर दरिद्र होना अच्छा नहीं ॥३६॥

ऐसा सोचते हुए सत्त्वशील ने घूमते-घामते दैवयोग से अपने उद्यान में कोष (खजाना) प्राप्त किया ॥३७॥

अपने नौकरों की सहायता से, वह सत्त्वशील अपरिमित स्वर्ण और रत्नों से भरे हुए खजाने को, अपने घर उठवा ले गया ॥३८॥

इतना धन प्राप्त करके वह सुख-भोग करता, दान देता और भृत्यों तथा मित्रों को बाँटता हुआ सुख से रहने लगा ॥३९॥

तावद्दृष्ट्वा तदभ्यूह्य निषिलाभः स गोत्रजैः।
तस्य राजकुले गत्वा स्वैरं राज्ञे निवेदितः ॥४०॥
अथ राज्ञा समाहूतः प्रतीहारनिदेशतः।
क्षणं राजाङ्गणैकान्ते सत्त्वशीलः स तस्थिवान् ॥४१॥
तत्र हस्तस्थया लीलावज्रमुष्ट्या खनन्क्षितिम्।
स लेभे ताम्रकुम्भीस्थं निधानं चापरं महत् ॥४२॥
दत्वेदं रञ्जनीयस्ते राजेति हृदयं निजम्।
विधिना सत्त्वतुष्टेन प्रकाशमिव दर्शितम् ॥४३॥
तथैवाच्छादयामास मृदा तच्च विवेश च।
आवेदितः प्रतीहारेणान्तिकं नृपतेस्ततः ॥४४॥
ज्ञातं मया निधिर्लब्धस्त्वया तं नः समर्पय।
इति तत्र स राजा च प्रणतो जगदे स्वयम् ॥४५॥
किमर्पयामि देवाद्यं किमद्यतनमुच्यताम्।
सोऽपि तत्रेति राजानं सत्त्वशीलो जगाद तम् ॥४६॥
अर्पयाभिनवप्राप्तमित्युक्तश्च म भूभृता।
गत्वा राजाङ्गणैकान्ते निधिं तस्मै समर्पयत् ॥४७॥
आद्यं निधिं यथेच्छं त्वं भुङ्क्ष्वेति प्रेषितोऽथ सः।
नृपेण निधितुष्टेन सत्त्वशीलोऽगमद्गृहम् ॥४८॥
तत्रासीद्दानभोगाभ्यां तन्वन्नाम्नो यथार्थताम्।
नुदंश्चापुत्रतादुःखदौर्मनस्यं कथञ्चन ॥४९॥
इत्येतत्सत्त्वशीलस्य वृत्तं पूर्वं श्रुतं मया।
संस्मृत्य स्थीयते दुःखं पुत्रासद्भावचिन्तया ॥५०॥
इति विद्याधरेन्द्रेण भार्या हेमप्रभेण सा।
अलङ्कारप्रभा देवी गदिता निजगाद तम् ॥५१॥
सत्यमेवं सुसत्त्वानां माहात्म्यं भजते विधिः।
किं नापरो निधिर्लब्धः सत्त्वशीलेन सङ्कटे ॥५२॥
तत् स्वसत्त्वप्रभावेण त्वमपि प्राप्स्यसीप्सितम्।
शृणु विक्रमतुङ्गस्य कथां चात्र निदर्शनम् ॥५३॥

राज्ञो विक्रमतुङ्गस्य कथा

अस्ति पाटलिपुत्राख्यं भुवोऽलङ्करणं पुरम्।
पूर्णवर्णव्यवस्थानैस्तैस्तैः सन्मणिभिश्चितम् ॥५४॥

उसके वैभव को देखकर उसके कुटुम्बियों ने पता लगा लिया कि इसे कहीं खजाना हाथ लगा है। अतः, ईर्ष्यावश उन्होंने राजा से जाकर सारा समाचार सुना दिया ॥४०॥

राजा ने पहरेदार को भेजकर सत्त्वशील को बुलवाया। वह भी राजभवन के आँगन में आकर एक कोने में खड़ा हो गया। वहाँ पर एकान्त में उसने हाथ में ली हुई छड़ी की नोक से मिट्टी की कच्ची, भूमि, खड़े-खड़े खोद डाली और उसे वहाँ पर ताँबे के घड़े में भरी हुई मुहरों का खजाना दीख पड़ा ॥४१-४२॥

वह खजाना क्या मिला मानों देव ने—'इसे देकर राजा को संतुष्ट करो', इस प्रकार का प्रकाश दिया ॥४३॥

सत्त्वशील ने उस गढ़े को मिट्टी से भर दिया और द्वारपाल के साथ राजा के सन्मुख उपस्थित हुआ। उसके प्रणाम करने पर राजा ने स्वयं कहा—॥४४॥

'मुझे मालूम हुआ है कि तुम्हें खजाना मिला है। उसे हमें सौंप दो' ॥४५॥

यह सुनकर सत्त्वशील नम्रभाव से बोला कि 'महाराज? पहले मिला हुआ खजाना समर्पण करूँ या आज का मिला हुआ?' ॥४६॥

राजा ने कहा—'अभी प्राप्त धन-भाण्डार मुझे दो।' सत्त्वशील ने राजा को एकान्त में ले जाकर तुरन्त देखा हुआ धन-भाण्डार दे दिया ॥४७॥

राजा ने प्रसन्न होकर कहा—'पहले भाण्डार को तुम आनन्द से भोगो।' इस प्रकार सन्तुष्ट राजा से आज्ञा पाकर सत्त्वशील अपने घर आया ॥४८॥

घर आकर अपुत्रता के दुःख को किसी प्रकार भुलाता हुआ सत्त्वशील दान और भोग से भाण्डार को लुटाता हुआ अपने नाम को चरितार्थ करने लगा ॥४९॥

विद्याधर-राजा हेमप्रभ ने कहा कि 'इस प्रकार सत्त्वशील की कथा स्मरण करके पुत्र न होने की चिन्ता से दुःखी हूँ' ॥५०॥

पति हेमप्रभ से इस प्रकार कही गई रानी अलंकारप्रभा उससे बोली—॥५१॥

'यह सच है कि उदार हृदयवालों की दैव भी सहायता करता है। क्या दूसरा स्वर्ण-भाण्डार देकर देव ने सत्त्वशील की संकट के समय सहायता नहीं की? ॥५२॥

इसी प्रकार, तुम भी अपने सत्त्व के प्रभाव से इच्छित फल प्राप्त करोगे।' इस सम्बन्ध में उदाहरणस्वरूप विक्रमतुंग नामक राजा की कथा सुनो'— ॥५३॥

विक्रमतुंग राजा की कथा

पृथ्वी का अलंकारस्वरूप पाटलिपुत्र नाम का नगर है, जिसमें पूर्ण कान्तिवाली नाना प्रकार की मणियाँ जड़ी हुई हैं ॥५४॥

तत्र विक्रमतुङ्गाख्यो राजाभूत्सत्त्ववान्पुरा ।
योऽभूत्पराङ्मुखो दाने नार्थिनां न युधि द्विषाम् ॥५५॥
स जातु मृगयाहेतोः प्रविष्टो नृपतिर्वनम् ।
बिल्वैर्होमं विदधतं तत्र ब्राह्मणमैक्षत ॥५६॥
तं दृष्ट्वा प्रष्टुकामोऽपि परिहृत्य तदन्तिकम् ।
ययौ स दूरं मृगयारसेन सबलस्ततः ॥५७॥
उत्पतद्भिः पतद्भिश्च हन्यमानैः स्वपाणिना ।
चिरं मृगैश्च सिंहैश्च क्रीडित्वा कन्दुकैरिव ॥५८॥
आवृत्तस्तं तथैवात्र दृष्ट्वा होमपरं द्विजम् ।
उपेत्य नत्वा पप्रच्छ नाम होमफलं च सः ॥५९॥
ततः स ब्राह्मणो भूपं कृताशीस्तमभाषत ।
विप्रोऽहं नागशर्माख्यो होमे च शृणु मे फलम् ॥६०॥
अनेन बिल्वहोमेन प्रसीदति यदानलः ।
हिरण्मयानि बिल्वानि तदा निर्यान्ति कुण्डतः ॥६१॥
ततोऽग्निः प्रकटीभूय वरं साक्षात् प्रयच्छति ।
वर्त्तते मम भूयांश्च कालो बिल्वानि जुह्वतः ॥६२॥
मन्दपुण्यस्य नाद्यापि तुष्यत्येव स पावकः ।
इत्युक्ते तेन राजा तं धीरसत्त्वोऽभ्यभाषत ॥६३॥
तर्हि मे देहि बिल्वं त्वमेकं यावज्जुहोमि तत् ।
प्रसादयामि च ब्रह्मन्नधुनैव तवानलम् ॥६४॥
कथं प्रसादयसि तं वह्निमप्रयतोऽशुचिः ।
यो ममैवं व्रतस्थस्य पूतस्यापि न तुष्यति ॥६५॥
इत्युक्तस्तेन विप्रेण राजा तमवदत्पुनः ।
मैवं प्रयच्छ मे बिल्वं पश्याश्चर्यं क्षणादिति ॥६६॥
ततः स राज्ञे विप्रोऽस्मै ददौ बिल्वं सकौतुकः ।
राजा च स तदा तत्र दृढसत्त्वेन चेतसा ॥६७॥
हुतेनानेन बिल्वेन न चेत्तुष्यति तच्छिरः ।
त्वय्यग्ने स्वं जुहोमीति ध्यात्वा तस्मिञ्जुहाव तत् ॥६८॥
आविरासीच्च सप्तार्चिः कुण्डाद् बिल्वं हिरण्मयम् ।
स्वयमादाय तत्तस्य फलं सत्त्वतरोरिव ॥६९॥
जगाद च स साक्षात्तं जातवेदा महीपतिम् ।
सत्त्वेनानेन तुष्टोऽस्मि तद्गृहाण वरं नृप ॥७०॥

प्राचीन समय उस नगर में विक्रमतुंग नाम का सत्त्वशील राजा था, जो दान देने में याचकों से और युद्ध में शत्रुओं से कभी पराङ्मुख नहीं हुआ ॥५५॥

किसी समय वह राजा शिकार खेलने के लिए जंगल में गया। वहाँ उसने बिल्वफल (बेल) से होम करते हुए किसी ब्राह्मण को देखा ॥५६॥

उसे देखकर पूछने की इच्छा होने पर भी, राजा, उसे छोड़कर शिकार के लिए सेना के साथ आगे चला गया ॥५७॥

उछलते-गिरते हाथों से मारे जाते हुए गेंदों के समान, मृगों और सिंहों से चिर काल तक खेलकर लौटे हुए राजा ने उसी स्थान पर होम करते हुए ब्राह्मण को देखा और समीप जाकर प्रणाम करके उससे होम का फल पूछा ॥५८-५९॥

तब वह ब्राह्मण, राजा को आशीर्वाद देकर बोला—'मैं नागशर्मा नाम का ब्राह्मण हूँ। इस होम का फल सुनो—॥६०॥

इस बिल्व के होम से जब अग्नि प्रसन्न होती है, तब कुण्ड से सोने के बिल्व निकलते हैं ॥६१॥

और, तब अग्नि प्रकट होकर स्वयं वरदान देती है। मुझे बिल्वों का होम करते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया, किन्तु मुझ अभागे पर अभी तक अग्नि प्रसन्न नहीं हुई।' उसके ऐसा कहने पर धीरसत्त्वशाली राजा उससे बोला—॥६२-६३॥

'यदि ऐसा है, तो एक बिल्व मुझे दो, मैं उसका होम करता हूँ और तुम्हारी अग्नि को अभी प्रसन्न करता हूँ' ॥६४॥

ब्राह्मण ने राजा से कहा—'अनियमित और अपवित्र अवस्था में तुम आग को कैसे प्रसन्न करोगे, जब कि नियमपूर्वक अनुष्ठान करने और पवित्र स्थिति में रहनेवाले मुझपर वह प्रसन्न नहीं है' ॥६५॥

राजा ने कहा—'ऐसी बात नहीं है। तुम चिन्ता न करो। तुम मुझे एक बिल्व दो और आश्चर्य देखो' ॥६६॥

तब ब्राह्मण ने आश्चर्य के साथ राजा को बिल्व दिया और राजा दृढ़ चित्त से मन-ही-मन बोला—'हे अग्निदेव! यदि तुम मेरे बिल्व-होम से प्रसन्न न होगे, तो मैं अपना सिर तुम्हारे लिए होम कर दूँगा।' ऐसा कहकर उसने बिल्व को होम दिया ॥६७-६८॥

बिल्व का होम करते ही हाथों में स्वर्ण का बिल्व लिये हुए अग्निदेव कुण्ड से प्रकट हुए, मानों वे राजा के दृढ़ सत्त्व का फल लेकर आये हों ॥६९॥

और दृढ़हृदय राजा से बोले—'तुम्हारे इस सत्त्व से मैं प्रसन्न हूँ। वर माँगो' ॥७०॥

तच्छ्रुत्वा स महासत्त्वो राजा तं प्रणतोऽब्रवीत्।
को ममान्यो वरो देहि द्विजायास्मै तथेप्सितम् ॥७१॥
इति राज्ञो वचः श्रुत्वा सुप्रीतोऽग्निर्जगाद तम्।
राजन् महाधनपतिर्ब्राह्मणोऽयं भविष्यति ॥७२॥
त्वमप्यक्षीणकोषश्रीर्मत्प्रसादाद् भविष्यसि।
एवं दत्तवरं वह्निं ब्राह्मणः स व्यजिज्ञपत् ॥७३॥
आविर्भूतोऽसि सहसा राज्ञः स्वेच्छाविहारिणः।
न मे सनियमस्यापि किमेतद् भगवन्निति ॥७४॥
ततोऽग्निर्वरदः प्राह नादास्यं दर्शनं यदि।
अहोष्यदेष स्वशिरस्तीव्रसत्त्वो नृपो मयि ॥७५॥
तीव्रसत्त्वस्य नचिराद् भवन्त्येव हि सिद्धयः।
मन्दसत्त्वस्य तु चिराद् ब्रह्मन् युष्मादृशस्य ताः ॥७६॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते वह्नौ नृपमामन्त्र्य स द्विजः।
नागशर्मा ततो गत्वा क्रमेणाभून्महाधनः ॥७७॥
नृपोऽपि दृष्टसत्त्वः स स्तूयमानोऽनुयायिभिः।
ययौ विक्रमतुङ्गः स्वं पुरं पाटलिपुत्रकम् ॥७८॥
तत्र स्थितमकस्मात्तं प्रविश्य प्रभुमेकदा।
रहः शत्रुञ्जयो नाम प्रतीहारो व्यजिज्ञपत् ॥७९॥
विजने देव विज्ञप्तिं चिकीर्षुर्ब्राह्मणो बटुः।
दत्तशर्मेति नाम स्वं ब्रुवाणो द्वारि तिष्ठति ॥८०॥
प्रवेशयेति भूपेन तेनादिष्टे प्रवेशितः।
स्वस्तिपूर्वं स राजानं प्रणम्योपाविशद् बटुः ॥८१॥
व्यजिज्ञपच्च देवाहं चूर्णयुक्त्या कयाचन।
सद्यः साधयितुं जाने ताम्रात् कनकमुत्तमम् ॥८२॥
गुरुणा ह्युपदिष्टा सा युक्तिर्मम मया च तत्।
दृष्टं साक्षात्तया युक्त्या संसिद्धं तस्य काञ्चनम् ॥८३॥
इत्युक्ते बटुना तेन ताम्रमानाययन्नृपः।
विलीने च कृते तस्मिन्स बटुश्चूर्णमक्षिपत् ॥८४॥
क्षिप्यमाणं च तच्चूर्णमदृश्यः कोऽप्यपाहरत्।
यक्षस्तं च ददर्शैकः स राजा तुष्टपावकः ॥८५॥

यह सुनकर महावीर राजा प्रणाम करता हुआ बोला—'मेरे लिए दूसरा और वर क्या चाहिए, पहले उस ब्राह्मण का मनोरथ पूर्ण करो' ॥७१॥

राजा की बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न अग्नि ने कहा कि यह ब्राह्मण, महाधनपति होगा और मेरी कृपा से तुम्हारा भाण्डार और लक्ष्मी दोनों कभी क्षीण न होंगे। इस प्रकार, वर देते हुए अग्नि से ब्राह्मण बोला—॥७२-७३॥

'भगवन्! स्वेच्छाविहारी राजा से तुम इतना शीघ्र प्रसन्न हो गये और कठोर नियम तथा व्रत करनेवाले मुझसे न हुए, यह क्या बात है?' ॥७४॥

तब अग्नि ने कहा—'यदि मैं दर्शन न देता, तो वह महासत्त्वशाली राजा अपना सिर काटकर मुझ में होम देता ॥७५॥

उत्कट सत्त्ववाले व्यक्तियों को सिद्धियाँ शीघ्र प्राप्त होती हैं और हे ब्राह्मण! तुम्हारे ऐसे मन्द सत्त्ववालों को सिद्धियाँ देर से प्राप्त होती हैं' ॥७६॥

ऐसा कहकर अग्निदेव के अन्तर्धान होने पर नागशर्मा राजा से आज्ञा लेकर चला गया और वह क्रमशः महाधनी हो गया ॥७७॥

राजा भी अपनी अद्भुत सत्त्वशीलता के कारण सेवकों से स्तुति किया जाता हुआ पाटलिपुत्र नगर को गया ॥७८॥

एक बार एकान्त में बैठे हुए राजा के समीप शत्रुंजय नामक द्वारपाल ने कहा—'महाराज! अपना नाम दत्तशर्मा बताता हुआ एक ब्रह्मचारी ब्राह्मण आपसे एकान्त में कुछ निवेदन करने के लिए द्वार पर आया है' ॥७९-८०॥

'उसे बुलाओ'—राजा की इस प्रकार आज्ञा पाने पर द्वारपाल उसे ले आया। वह भी राजा को 'स्वस्ति' कहकर और प्रणाम करके बैठ गया ॥८१॥

और बोला—'महाराज! मैं किसी चूर्ण मिलाने की युक्ति द्वारा ताँबे से तुरन्त उत्तम सोना बनाना जानता हूँ ॥८२॥

वह युक्ति गुरु ने मुझे बताई है और मैंने उसकी अनेक बार परीक्षा की है, जिससे सोना बन गया ॥८३॥

उस ब्रह्मचारी के ऐसा कहने पर राजा ने ताँबा मँगवाया। उसके पिघल जाने पर ब्रह्मचारी ने उसमें चूर्ण डाला। उसमें चूर्ण डालते ही किसी छिपे हुए देवता ने अदृश्य रूप से उस चूर्ण का अपहरण कर लिया। अग्नि की कृपा से राजा ने उस अदृश्य यक्ष को देख लिया ॥८४-८५॥

अप्राप्तचूर्णं ताम्रं च न सुवर्णीबभूव तत्।
एवं त्रिः कुर्वतस्तस्य बटोर्मोघः श्रमोऽभवत्॥८६॥
ततो विषण्णादादाय राजा तस्माद् बटोः स्वयम्।
चूर्णं विलीने चिक्षेप ताम्रे तेजस्विनां वरः॥८७॥
तस्य तन्नाहरच्चूर्णं यक्षः स्मित्वा ययौ तु सः।
तेन तच्चूर्णसंयोगात्ताम्रं कनकतामगात्॥८८॥
विस्मिताय ततस्तस्मै बटवे परिपृच्छते।
स राजा यक्षवृत्तान्तं यथादृष्टं शशंस तम्॥८९॥
शिक्षित्वा चूर्णयुक्तिं च बटोस्तस्मात्तदेव ताम्।
नृपश्चक्रे कृतार्थं तं कृतदारपरिग्रहम्॥९०॥
भेजे च पूर्णकोषश्रीर्हेम्ना तद्युक्तिजन्मना।
सावरोधोऽसमान् भोगानदरिद्रीकृतद्विजः॥९१॥
तदेवं भीत इव वा परितुष्ट इवाथवा।
ददाति तीव्रसत्त्वानामिष्टमीश्वर एव हि॥९२॥
त्वत्तश्च धीरसत्त्वोऽन्यः कोऽस्ति दाता च देव तत्।
दास्यत्याराधितः शम्भुः पुत्रं ते मा शुचं कृथाः॥९३॥
इत्युदारमलङ्कारप्रभादेवीमुखाद्वचः।
श्रुत्वा हेमप्रभो राजा श्रद्दधे च तुतोष च॥९४॥
मेने च तनयप्राप्तिं गौरीशाराधनाद् ध्रुवम्।
सूचितां हृदयेनैव निजेनोत्साहशालिना॥९५॥
ततोऽन्येद्युः सदेवीकः स्नातोऽभ्यर्चितशङ्करः।
नवकाञ्चनकोटीश्च विप्रेभ्यः प्रतिपाद्य सः॥९६॥
तनयार्थं तपस्तेपे निराहारो हराग्रतः।
देहस्त्यक्तो मया शर्वस्तोषितो वेति निश्चितः॥९७॥
तपस्थश्चेति तुष्टाव वरदं गिरिजापतिम्।
"हेलावितीर्णदुग्धाब्धिं प्रपन्नायोपमन्यवे॥९८॥
नमस्तेऽस्तु जगत्सर्गस्थितिसंहारहेतवे।
गौरीश तत्तद्व्योमादिभेदभिन्नाष्टमूर्त्तये॥९९॥
नमस्ते सततोत्फुल्लहृत्कुशेशयशायिने।
विशुद्धमानसावासकलहंसाय शम्भवे॥१००॥

चूर्ण न मिल सकने के कारण वह ताँबा सोना न बन सका। इस प्रकार, तीन बार करने पर भी ब्रह्मचारी का प्रयत्न निष्फल ही रहा ॥८६॥

तब राजा ने दुःखित ब्रह्मचारी से उस चूर्ण को लेकर स्वयं पिघले हुए ताँबे में डाला और उससे सोना बन गया ॥८७॥

राजा के चूर्ण डालने पर यक्ष ने उसका अपहरण नहीं किया और मुस्कराकर चला गया ॥८८॥

इस घटना से आश्चर्य-चकित उस ब्रह्मचारी के पूछने पर राजा ने यक्ष की बात उसे कह सुनाई ॥८९॥

तब राजा ने उस ब्रह्मचारी से चूर्ण बनाने की युक्ति सीख ली और उसका विवाह कराकर पालन-पोषण की व्यवस्था कर दी ॥९०॥

और, उस युक्ति से सोना बनाकर राजा ने अपने भाण्डार को समृद्ध कर लिया ॥९१॥

इस प्रकार, डरा हुआ या प्रसन्न ईश्वर उग्र सत्त्ववालों को सिद्धि प्रदान करता ही है ॥९२॥

इसलिए 'हे महाराज ! तुमसे गम्भीर सत्त्वशाली और कौन दाता है। अतः, शिव तुम्हें पुत्र प्रदान करेंगे। शोक मत करो' ॥९३॥

इस प्रकार, रानी अलंकारप्रभा के उदार वचन सुनकर राजा हेमप्रभ प्रसन्न हुआ और उसकी बातों पर उसने विश्वास किया ॥९४॥

राजा ने अपने उत्साह-भरे हृदय से शिव की आराधना से पुत्र की प्राप्ति को सम्भव समझा ॥९५॥

तब दूसरे दिन राजा हेमप्रभ, रानी के साथ स्नान करने के बाद शिव की पूजा करके और ब्राह्मणों को नौ करोड़ सोने की मुद्राएँ दान करके पुत्र-प्राप्ति के लिए निराहार होकर शिव के सम्मुख तप करने के लिए बैठ गया और उसने यह निश्चय कर लिया कि या तो देह-त्याग करूँगा अथवा शंकर को प्रसन्न करूँगा ॥९६-९७॥

तप में बैठे हुए उसने भगवान् गिरिजापति की इस प्रकार स्तुति की—'शरण में आये हुए उपमन्यु को स्वेच्छा से दुग्ध-समुद्र दान करनेवाले, संसार की उत्पत्ति, रक्षा और प्रलय करनेवाले हे शंकर ! तुम्हें प्रणाम है। हे आकाश आदि अष्टमूर्त्ति धारण करनेवाले गौरीपति ! तुम्हें प्रणाम है ॥९८-९९॥

हे निरन्तर खिले हुए हृदय-कमल में निवास करनेवाले, निर्मल मानस-सरोवर के कलहंस शम्भु ! तुम्हें प्रणाम है ॥१००॥

नमो दिव्यप्रकाशाय निर्मलाय जलात्मने।
प्रक्षीणदोषैर्दृश्याय सोमायात्यद्भुताय ते ॥१०१॥
देहार्धधृतकान्ताय केवलब्रह्मचारिणे।
इच्छानिर्मितविश्वाय नमो विश्वमयाय ते" ॥१०२॥
एवं कृतस्तुतिं तं च राजानं गिरिजापतिः।
त्रिरात्रोपोषितं स्वप्ने साक्षाद् भूयेदमब्रवीत् ॥१०३॥
उत्तिष्ठ राजन्भावी ते वीरो वंशधरः सुतः।
गौरीप्रसादात्कन्यापि भविष्यत्युत्तमा तव ॥१०४॥
नरवाहनदत्तस्य युष्माकं चक्रवर्तिनः।
भविष्यतो भवित्री या महिषी महसां निधेः ॥१०५॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते शर्वे सोऽथ विद्याधरेश्वरः।
हेमप्रभः प्रबुबुधे प्रहृष्टो रजनीक्षये ॥१०६॥
आनन्दयदलङ्कारप्रभां स्वप्नं निवेद्य सः।
गौर्या स्वप्ने तथैवोक्तां भार्यां संवादशंसिनीम् ॥१०७॥
उत्थाय च ततः स्नातः स राजार्चितधूर्जटिः।
चकार दत्तदानः सन्नुत्सवं कृतपारणः ॥१०८॥
दिवसेष्वथ यातेषु देवी कतिपयेषु सा।
अलङ्कारप्रभा तस्य राज्ञो गर्भमधारयत् ॥१०९॥
आनन्दयामास च तं मुखेन मधुगन्धिना।
लोलनेत्रालिना कान्तं पङ्कजेनेव पाण्डुना ॥११०॥
आख्यातश्लाघ्यजन्मानमुदारैर्गर्भदोहदैः।
असूत तनयं काले द्यौरर्कमिव सा ततः ॥१११॥
येन जातेन सहजैस्तेजोभिरवभासितम्।
सिन्दूरारुणतां नीतमपि तज्जातवासकम् ॥११२॥
पिता च तं शिशुं राजा शत्रुगोत्रभयावहम्।
दिव्यवागुपदिष्टेन नाम्ना वज्रप्रभं व्यधात् ॥११३॥
ततः स ववृधे बालः पार्वणेन्दुरिव क्रमात्।
कलाभिः पूर्यमाणः सन् वृद्धिहेतोः कुलाम्बुधेः ॥११४॥
अथाचिरात्पुनस्तस्य राज्ञो हेमप्रभस्य सा।
अलङ्कारप्रभा राज्ञी सगर्भा समपद्यत ॥११५॥

हे दिव्य प्रकाशधारी निर्मल जल-स्वरूप, हे निर्दोष व्यक्तियों से देखे जानेवाले अत्यन्त आश्चर्यमय शिव! तुम्हें प्रणाम है। हे आधे शरीर में गिरिजा को धारण करनेवाले, विशुद्ध ब्रह्मचारिन्! हे संकल्पमात्र से विश्व की रचना करनेवाले और स्वयं विश्वस्वरूप! तुम्हें प्रणाम है' ॥१०१-१०२॥

इस प्रकार, स्तुति करते हुए और तीन दिनों तक उपवास किये हुए राजा से प्रसन्न होकर शिव ने दर्शन देकर कहा—'राजन्! उठो। तुम्हारे वंश का प्रवर्त्तक बालक उत्पन्न होगा और गौरी की कृपा से तुम्हें एक उत्तम कन्या भी होगी ॥१०३-१०४॥

वह कन्या तुम विद्याधरों के होनेवाले चक्रवर्ती नरवाहनदत्त की महारानी बनेगी' ॥१०५॥

ऐसा कहकर शिव के अन्तर्धान होने पर वह विद्याधरों का राजा, प्रातःकाल प्रसन्न-चित्त होकर उठा और उसने अपनी महारानी अलंकारप्रभा को स्वप्न का समाचार सुनाकर आनन्दित किया, रानी ने भी स्वप्न में पार्वती के द्वारा इसी प्रकार के वरदान प्राप्त करने का समाचार सुनाया ॥१०६-१०७॥

राजा ने उठकर स्नान करके शिव की पूजा की और दान किया तथा व्रत का पारणोत्सव किया। कुछ दिन व्यतीत होने पर रानी अलंकारप्रभा ने गर्भ-धारण किया ॥१०८-१०९॥

वह रानी मधु से सुगन्धित और चंचल नेत्र-भ्रमरवाले पाण्डुरवर्ण कमल के समान मुख से राजा को आनन्दित करने लगी ॥११०॥

तदनन्तर प्रसिद्ध और प्रशंसनीय जन्मवाले पुत्र को रानी ने इस प्रकार उत्पन्न किया, जैसे आकाश सूर्य को उत्पन्न करता है ॥१११॥

उत्पन्न होते ही उस कुमार ने अपने फैलते हुए तेज से उस प्रसूति-गृह को मानों सिन्दूर से लाल कर दिया ॥११२॥

पिता हेमप्रभ ने, शत्रुकुल को भय देनेवाले उस पुत्र का नाम आकाशवाणी के आज्ञानुसार वज्रप्रभ रखा ॥११३॥

तब वह बालक, पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान अपने कुल-रूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए क्रमशः बढ़ने लगा ॥११४॥

तदनन्तर राजा हेमप्रभ की रानी अलंकारप्रभा ने पुनः थोड़े दिनों में ही गर्भ धारण किया ॥११५॥

सगर्भा चाश्रयोद्भूतसविशेषद्युतिस्तथा।
सत्यं हेमासनारूढा भेजेऽन्तःपुररत्नताम् ॥११६॥
विद्याकल्पितसत्पद्मविमानेन नभस्तले।
बभ्राम च तथाभूतविलसद्गर्भदोहदा ॥११७॥
प्राप्ते च समये तस्या देव्याः कन्याजनिष्ट सा।
पर्याप्तं वर्णनं यस्या जन्म गौरीप्रसादतः ॥११८॥
नरवाहनदत्तस्य भार्येयं भाविनीति वाक्।
तदाश्रावि हरादेशवचःसंवादिनी दिवः ॥११९॥
ततो राजा सुतोत्पत्तिनिर्विशेषकृतोत्सवः।
तां स हेमप्रभोऽकार्षीन्नाम्ना रत्नप्रभां सुताम् ॥१२०॥
स्वविद्यासंस्कृता सा च तस्य रत्नप्रभा पितुः।
अवर्धत गृहे दिक्षु प्रकाशस्तूदपद्यत ॥१२१॥
ततः स राजा तं वर्महरं वज्रप्रभं सुतम्।
कृतदारक्रियं कृत्वा यौवराज्येऽभिषिक्तवान् ॥१२२॥
विन्यस्तराज्यभारश्च तस्मिन्नासीत्स निर्वृतः।
सुताविवाहचिन्ता तु तस्यैकाभूत्तदा हृदि ॥१२३॥
एकदा सोऽन्तिकासीनां प्रदेयां वीक्ष्य तां सुताम्।
राजाब्रवीदलङ्कारप्रभां देवीं समीपगाम् ॥१२४॥
कुलालङ्कारभूतापि पश्य देवि जगत्त्रये।
कन्या नाम महद्दुःखं धिगहो महतामपि ॥१२५॥
विनीताप्याप्तविद्यापि रूपयौवनवत्यपि।
रत्नप्रभा वरप्राप्त्या विनैषा यद्दुनोति माम् ॥१२६॥
नरवाहनदत्तस्य भार्योक्ता दैवतैरियम्।
तत्किं न दीयते तस्मै भाव्यस्मच्चक्रवर्तिने ॥१२७॥
इति चोक्तस्तया देव्या स राजा पुनरब्रवीत्।
बाढं सा कन्यका धन्या या तं वरमवाप्नुयात् ॥१२८॥
स हि कामावतारोऽत्र किं तु नाद्यापि दिव्यताम्।
प्राप्तस्तेन मया तस्य विद्याप्राप्तिः प्रतीक्ष्यते ॥१२९॥
इत्येवं वदतस्तस्य सद्यस्तैर्वचनैः पितुः।
कर्णप्रविष्टैः कन्दर्पमोहमन्त्रपदोपमैः ॥१३०॥
भ्रान्तेवाविष्टचित्तेव सुप्तेव लिखितेव च।
अभूद्रत्नप्रभा तेन हृतचित्ता वरेण सा ॥१३१॥

वह गर्भवती रानी रनिवास में सिंहासन पर बैठी हुई सचमुच रनिवास के रत्न-सी मालूम होती थी ॥११६॥

गर्भ के कारण होनेवाली इच्छा की पूर्ति के लिए वह अपनी विद्या के प्रभाव से व्योम-यान की कल्पना करके आकाश में विचरण करती थी ॥११७॥

गर्भ का समय (दस महीने) पूरा होने पर रानी ने कन्या को उत्पन्न किया। उस कन्या के वर्णन में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उस का जन्म पार्वती की कृपा से हुआ था ॥११८॥

उसके उत्पन्न होने पर शिव की आज्ञा का अनुसरण करनेवाली यह आकाशवाणी हुई कि 'यह नरवाहनदत्त की भावी पत्नी होगी' ॥११९॥

राजा ने पुत्रोत्पत्ति के समान ही उसका जन्म-महोत्सव मनाया और उस कन्या का नाम रत्नप्रभा रखा ॥१२०॥

राजा ने उस कन्या को अपनी विद्याओं से शिक्षित कर दिया। वह कन्या घर में बढ़ने लगी और उसका प्रकाश चारों दिशाओं में फैलने लगा ॥१२१॥

तदनन्तर राजा ने उस कुमार को युद्ध-विद्याओं में निपुण देखकर उसका विवाह करके उसे युवराज बना दिया ॥१२२॥

पुत्र पर राज्य-भार देकर राजा हेमप्रभ निश्चिन्त और सुखी था; किन्तु कन्या के विवाह की एक चिन्ता उसके हृदय में जगी हुई थी ॥१२३॥

एक बार वह राजा अपने पास बैठी हुई विवाह-योग्य कन्या को देखकर समीप में स्थित रानी अलंकारप्रभा से बोला—॥१२४॥

'हे महारानी! तीनों लोकों में कुल के अलंकार-रूप होने पर भी कन्या, महान् लोगों के लिए भी अत्यन्त दुःखदायिनी होती है ॥१२५॥

यह रत्नप्रभा शिक्षिता, रूपवती और विद्याओं की जानकार होने पर भी वर न मिलने के कारण मुझे दुःख दे रही है' ॥१२६॥

रानी ने कहा कि 'देवताओं ने इसके नरवाहनदत्त की महारानी होने की आकाशवाणी की है, अतः हमारे उस भावी चक्रवर्त्ती को इसे क्यों नहीं दे देते ?' ॥१२७॥

रानी से इस प्रकार कहे गये राजा हेमप्रभ ने उससे कहा—'ठीक है। वह कन्या धन्य है, जो नरवाहनदत्त को पति-रूप में प्राप्त करे। वह कामदेव का अवतार है; किन्तु उसने अभी दिव्यता नहीं प्राप्त की। अतः, मैं उसकी विद्या-प्राप्ति की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। (विद्या प्राप्त होने पर वह दिव्य विद्याधर हो जायगा) ॥१२८–१२९॥

इस प्रकार पिता के मुख से काम के मोहन-मन्त्रों के समान उन अक्षरों के कान में जाने पर रत्नप्रभा उस पति द्वारा चित्त हरण कर लेने पर, व्याकुल-सी, मूर्च्छित-सी सोई-सी, और लिखी हुई-सी हो गई ॥१३०-१३१॥

ततः कथञ्चित्पितरौ प्रणम्यान्तःपुरं निजम्।
गत्वा चिन्तातुरा निद्रां चिरेण कथमप्यगात्॥१३२॥
प्रातः शुभं दिनं पुत्रि तत्स वत्सेश्वरात्मजः।
द्रष्टव्यः स्ववरो गत्वा कौशाम्बीं नगरीं त्वया॥१३३॥
ततश्च स्वपुरेऽमुष्मिन्नानीय त्वत्पिता स्वयम्।
तव तस्य च कल्याणि विवाहं संविधास्यति॥१३४॥
इति स्वप्नेऽथ तं गौरी सानुकम्पा समादिशत्।
प्रबुध्य सा च तं स्वप्नं प्रातर्मात्रे न्यवेदयत्॥१३५॥
ततः सा तदनुज्ञाता बुद्ध्वा विद्याप्रभावतः।
उद्यानस्थं वरं द्रष्टुं प्रावर्त्तत निजात्पुरात्॥१३६॥
तामार्यपुत्र मामेतां वेत्थ रत्नप्रभामिति।
प्राप्तामुक्त्वा क्षणेनाद्य वित्थ यूयमतः परम्॥१३७॥
एतत्तस्या वचः श्रुत्वा माधुर्यन्यक्कृतामृतम्।
विलोक्य नेत्रपीयूषं विद्याधर्या वपुश्च तत्॥१३८॥
नरवाहनदत्तोऽन्तर्विधातारं निनिन्द सः।
श्रोत्रनेत्रमयं कृत्स्नमकरोत्किं न मामिति॥१३९॥
जगाद तां च धन्योऽहं जन्माद्य सफलं मम।
योऽहमेवं स्वयं तन्वि स्नेहादभिसृतस्त्वया॥१४०॥
इत्यन्योन्यनवप्रेमकृतसंलापयोस्तयोः।
अकस्माद्ददृशे तत्र विद्याधरबलं दिवि॥१४१॥
तातोऽयमागतोऽत्रेति द्राग्रत्नप्रभयोदिते।
राजा हेमप्रभो व्योम्नः सपुत्रोऽवततार सः॥१४२॥
उपाययौ च पुत्रेण सह वज्रप्रभेण सः।
नरवाहनदत्तं तं विहितस्वागतादरम्॥१४३॥
अन्योन्यरचिताचारा यावत्तिष्ठन्ति ते क्षणात्।
तावत्तत्राययौ बुद्ध्वा वत्सराजः समन्त्रिकः॥१४४॥
कृतातिथ्यविधिं तं च नृपं हेमप्रभोऽथ सः।
यथा रत्नप्रभोक्तं तं वृत्तान्तं समबोधयत्॥१४५॥

तब वह कन्या, माता-पिता को प्रणाम करके और किसी प्रकार उठकर अपने निवास-भवन में चली गई और अत्यन्त चिन्ता से व्याकुल होकर किसी प्रकार बड़ी देर के बाद सो गई ॥१३२॥

तब स्वप्न में उसे दयामयी पार्वती ने कहा—'बेटी ! कल शुभ दिन है। अतः, तुम स्वयं कौशाम्बी में जाकर अपने पति को देखना। तब तुम्हारा पिता स्वयं वहाँ आकर तुम्हारा विवाह करेगा'। पार्वती के उस प्रकार के आदेश को उसने प्रातःकाल उठकर अपनी माता से कह सुनाया ॥१३५॥

माता की आज्ञा पाकर और अपनी विद्या के प्रभाव से सब कुछ जानकर वह उद्यान में स्थित अपने पति को देखने के लिए अपने नगर से चली ॥१३६॥

'हे आर्यपुत्र ! तुम मुझे वही रत्नप्रभा समझो, जो उत्कण्ठित होकर तुम्हारे पास आई है। आगे तुम जैसा समझो' ॥१३७॥

इस प्रकार, उसके अमृत को नीचा दिखानेवाले मधुर वचन को सुनकर और नेत्रों के लिए अमृत के समान उस विद्याधरी के सुन्दर रूप को देखकर नरवाहनदत्त विधाता की निन्दा करने लगा कि उसने सारा शरीर ही नेत्रमय और कर्णमय क्यों नहीं बना दिया कि उसे मैं देखता ही रहता और उसके वचन सुनता ही रहता ॥१३८-१३९॥

और बोला—'मैं धन्य हूँ। आज मेरा जन्म सफल हुआ कि तुमने प्रेम से मेरे पास अभिगमन किया ॥१४०॥

इस प्रकार, उन दोनों के परस्पर नवीन प्रेम के कारण वार्त्तालाप करते हुए ही अकस्मात् आकाश में विद्याधरों की सेना दीख पड़ी ॥१४१॥

'यह मेरे पिता आये'—रत्नप्रभा के इस प्रकार कहते ही राजा हेमप्रभ, अपने पुत्र के साथ आकाश से तुरन्त उतरा ॥१४२॥

वह राजा हेमप्रभ, अपने पुत्र वज्रप्रभ के साथ, स्वागत करते हुए नरवाहनदत्त के पास आया ॥१४३॥

जबतक वे परस्पर शिष्टाचार करते हुए मिल रहे थे, इतने में ही उनका आगमन जानकर वत्सराज उदयन भी अपने मंत्री के साथ वहीं आ गया ॥१४४॥

अतिथि-सत्कार प्राप्त करने के बाद राजा हेमप्रभ ने, उदयन को, रत्नप्रभा के पूर्व कथनानुसार सारा, वृत्तान्त सुनाया ॥१४५॥

जगाद च मया चेयं ज्ञाता विद्याप्रभावतः।
इहागता सुता सर्वं वृत्तान्तं चात्र वेद्म्यहम् ॥१४६॥

. . . .

चक्रवर्त्तिविमानं हि भाव्यग्रेऽमुष्य तादृशम् ॥१४७॥
अनुमन्यस्व तद्द्रक्ष्यस्यचिरादेतमात्मजम्।
रत्नप्रभावधूयुक्तं युवराजमिहागतम् ॥१४८॥
एवं वत्सेशमभ्यर्थ्य तेनानुमतवाञ्छितः।
सपुत्रः कल्पयित्वा तद्विमानं निजविद्यया ॥१४९॥
तत्रारोप्य त्रपानम्रमुखं रत्नप्रभायुतम्।
नरवाहनदत्तं तं सहितं गोमुखादिभिः ॥१५०॥
यौगन्धरायणेनापि पित्रानुप्रेषितेन सः।
हेमप्रभो निनाय स्वं पुरं काञ्चनशृङ्गकम् ॥१५१॥
नरवाहनदत्तश्च ददर्श प्राप्य तत्पुरम्।
श्वाशुरं काञ्चनमयं हेमप्राकारभासुरम् ॥१५२॥
रश्मिप्रतानैर्निर्यद्भिरलङ्कृतमिवाभितः।
प्रसारितानेकभुजं जामातृप्रीतिसम्भ्रमात् ॥१५३॥
तत्र तां विधिवत्तस्मै राजा हेमप्रभो ददौ।
रत्नप्रभां महारम्भो हरयेऽब्धिरिव श्रियम् ॥१५४॥
प्रायच्छद्रत्नराशींश्च तदा तस्मै स भास्वरान्।
प्रदीप्तानेकवीवाहवह्निविभ्रमशालिनः ॥१५५॥
सोत्सवस्य पुरे चास्य राज्ञो वित्तानि वर्षतः।
लब्धवस्त्रा इव बभुः सपताका गृहा अपि ॥१५६॥
नरवाहनदत्तश्च निर्व्यूढोद्वाहमङ्गलः।
दिव्यभोगभुगत्रास्त स रत्नप्रभया समम् ॥१५७॥
रेमे च दिव्यान्युद्यानवापीदेवकुलानि सः।
पश्यंस्तया समारुह्य तद्विद्याबलतो नभः ॥१५८॥
एवं च तत्र कतिचिद्दिवसानुषित्वा
विद्याधराधिपपुरे स वधूसहायः।
वत्सेश्वरस्य तनयः स्वपुरीं प्रयातुं
यौगन्धरायणमतेन मतिं चकार ॥१५९॥

और कहा कि 'मैंने विद्या के प्रभाव से यह जान लिया कि मेरी कन्या यहाँ आई है और सब भी मैं जानता हूँ ॥१४६॥

यह कुमार नरवाहनदत्त जब चक्रवर्ती होगा, तब इसको भी ऐसा विमान होगा। आप लोग कुछ ही समय में रत्नप्रभा के साथ अपने पुत्र को यहाँ आया हुआ देखोगे ॥१४७-१४८॥

'इस समय हम लोगों को जाने की आज्ञा दो', इस प्रकार वत्सराज से निवेदन करके और उसकी आज्ञा प्राप्त करके अपनी विद्या के प्रभाव से विमान की रचना करके, पुत्र के साथ उस विमान में लज्जा से नीचा मुँह किये हुए नरवाहनदत्त को, उसके मित्र गोमुख आदि के साथ विमान में बिठाकर और वत्सराज के द्वारा प्रेषित यौगन्धरायण को साथ लेकर हेमप्रभ अपने कांचनशृंग नगर को गया ॥१४९—१५१॥

नरवाहनदत्त ने भी सुवर्णमय और सोने की चारदीवारी से घिरे हुए श्वशुर के नगर को देखा, जो चारों ओर निकलती हुई प्रकाश की किरणों से ऐसा शोभित था, मानों जामाता के स्नेह से अपने हाथों को ऊँचा करके फैलाये हुआ था ॥१५२-१५३॥

उस नगर में पहुँचकर राजा हेमप्रभ ने, शास्त्र-विधि के अनुसार नरवाहनदत्त को अपनी कन्या इस प्रकार दी, जैसे समुद्र ने विष्णु को लक्ष्मी दी थी ॥१५४॥

कन्या के साथ उसने रत्नों के चमकते हुए ढेर दहेज में दिये, जो अनेक विवाहों में प्रज्वलित अग्नियों का भ्रम उत्पन्न कर रहे थे ॥१५५॥

समस्त कांचनपुर नगर में विवाह का उत्सव इस प्रकार हुआ कि ध्वजा (पताका) वाले घर भी ऐसे लग रहे थे, मानों राजा से वस्त्र प्राप्त किये हुए हों ॥१५६॥

नरवाहनदत्त, विवाहोत्सव के हो जाने पर पत्नी रत्नप्रभा के साथ दिव्य भोगों का भोग करता हुआ उस नगर में रहने लगा ॥१५७॥

वह उस नगरी के दिव्य बाग-बगीचों, वापियों और देव-मन्दिरों में विहार करता था और विद्या के प्रभाव से रत्नप्रभा के साथ आकाश में भी विचरण करता था ॥१५८॥

इस प्रकार, पत्नी के साथ नरवाहनदत्त ने, उस विद्याधरों के नगर में, कुछ दिनों तक रहकर अपने पिता के पास आने के लिए यौगन्धरायण के साथ सम्मति की ॥१५९॥

श्वश्र्वा ततो रचितमङ्गलसंविधानः
सम्पूजितः ससचिवः श्वशुरेण भूयः।
तेनैव पुत्रसहितेन सह प्रतस्थे
कान्तासखस्तदधिरुह्य पुनर्विमानम् ॥१६०॥
प्राप्याशु तां प्रमदनिर्भरवत्सराज-
बद्धोत्सवां स जननीनयनामृतौघः।
रत्नप्रभां दधदथ स्वपुरीं विवेश
हेमप्रभेण ससुतेन सहानुगैश्च ॥१६१॥
वत्सेश्वरोऽपि सह वासवदत्तया तं
पादानतं समभिनन्द्य सुतं वधूं च।
हेमप्रभं सतनयं विभवानुरूपं
सम्बन्धिनं नवमपूजयदूर्जितश्रीः ॥१६२॥
अथ विद्याधरराजे तस्मिन्नापृच्छ्य वत्सराजादीन्।
उत्पत्य नभः ससुते गतवति हेमप्रभे स्वपुरम् ॥१६३॥
नरवाहनदत्तोऽसौ रत्नप्रभया समदनमञ्चुकया।
सह सुखितस्तदनैपीद्दिवसं सखिभिर्निजैर्युक्तः ॥१६४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे रत्नप्रभालम्बके प्रथमस्तरङ्गः।

द्वितीयस्तरङ्गः

रत्नप्रभाकथा (पूर्वानुवृत्ता)

एवं विद्याधरीं भार्यां भव्यां रत्नप्रभां नवाम्।
तस्य प्राप्तवतोऽन्येद्युस्तद्वेश्मनि तया सह ॥१॥
नरवाहनदत्तस्य स्थितस्य प्रातराययुः।
दर्शनार्थमुपद्वारं सचिवा गोमुखादयः ॥२॥
द्वाःस्थया क्षणरुद्धेषु तेष्वत्रावेदितेष्वथ।
प्रविष्टेष्वादृतेष्वेतां द्वाःस्थां रत्नप्रभाभ्यधात् ॥३॥
द्वारमेषां न रोद्धव्यमिह प्रविशतां पुनः।
आर्यपुत्रवयस्यानां स्वं शरीरममी हि नः ॥४॥

तदनन्तर सास के द्वारा मंगल-विधान करने पर और ससुर के द्वारा सम्मानित किया गया नरवाहनदत्त, पुत्र (साले) के सहित अपने ससुर के साथ, अपनी पत्नी और मित्रों को लिये हुए विमान पर बैठकर कौशाम्बी की ओर चला ॥१६०॥

और, शीघ्र ही वत्सराज से किये गये उत्सव से अलंकृत राजधानी में, माताओं की आँखों के लिए अमृत प्रवाहित करता हुआ नरवाहनदत्त, अपने ससुर, साले और पत्नी रत्नप्रभा एवं अपने साथियों के साथ पहुँचा ॥१६१॥

वासवदत्ता के साथ उदयन ने भी, पैरों पर गिरते हुए पुत्र और पुत्रवधू का अभिनन्दन किया और अपने विभव के अनुरूप अपने नये सम्बन्धी हेमप्रभ और उसके पुत्र वज्रप्रभ का स्वागत-सत्कार किया ॥१६२॥

तदनन्तर हेमप्रभ के, उदयन से आज्ञा लेकर पुत्र के साथ आकाश में उड़कर अपने नगर को विदा होने पर, वह नरवाहनदत्त, मदनमंचुका और रत्नप्रभा के साथ अपने मित्रों से मिलकर सुख से दिन बिताने लगा ॥१६३-१६४॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के
कथापीठलम्बक का प्रथम तरंग समाप्त

द्वितीय तरंग

रत्नप्रभा की कथा (क्रमशः)

इस प्रकार, विद्याधर-जाति की रत्नप्रभा नामक नई पत्नी को प्राप्त करके आनन्द का उपभोग करते हुए नरवाहनदत्त से मिलने के लिए उसके गोमुख आदि मित्र एक दिन प्रातः काल आये और रनिवास के द्वार पर खड़े हुए ॥१-२॥

द्वारपालिका के द्वारा कुछ समय तक रोके जाकर और फिर सूचना देकर भीतर प्रवेश पाने पर नरवाहनदत्त द्वारा उनका स्वागत-सत्कार किया गया। उसके बाद रत्नप्रभा ने द्वार-पालिका से कहा—'तुम अब इन लोगों को द्वार पर रोका न करो, ये आर्यपुत्र के मित्र और हमारे ही अंग हैं ॥३-४॥

रक्षा चान्तःपुरेष्वीदृङ्नैवमेतन्मतं मम।
इति द्वाःस्थामुदित्वा स स्वपतिं तमथाब्रवीत् ॥५॥
आर्यपुत्र प्रसङ्गेन वदामि तव तच्छृणु।
नीतिमात्रमहं मन्ये स्त्रीणां रक्षानियन्त्रणम् ॥६॥
ईर्ष्याकृतोऽथवा मोहः कार्यं तेन न किञ्चन।
महत्तरेण रक्ष्यन्ते शीलेनैव कुलस्त्रियः ॥७॥
धातापि न प्रभुः प्रायश्चपलानां तु रक्षणे।
मत्ता नदी च नारी च नियन्तुं केन पार्यते ॥८॥

राज्ञो रत्नाधिपतेः कथा

तथा च श्रूयतामत्र कथां वः कथयाम्यहम्।
अस्तीह रत्नकूटाख्यं द्वीपं मध्येऽम्बुधेर्महत् ॥९॥
तत्र राजा महोत्साहः पुरा परमवैष्णवः।
यथार्थेनाभिधानेन रत्नाधिपतिरित्यभूत् ॥१०॥
स राजा विजयं पृथ्व्याः सर्वराजात्मजास्तथा।
भार्याः प्राप्तुं तपस्तेपे विष्णोराराधनं महत् ॥११॥
सन्तुष्टस्तपसा साक्षाद् भगवानादिदेश तम्।
उत्तिष्ठ राजंस्तुष्टोऽस्मि तदिदं वच्मि ते शृणु ॥१२॥
कलिङ्गविषये कोऽपि गन्धर्वो मुनिशापतः।
समुत्पन्नो गजः श्वेतः श्वेतरश्मिरिति श्रुतः ॥१३॥
पूर्वजन्मतपःसिद्धियोगान्मद्भक्तितस्तथा।
ज्ञानी गगनगामी च गजो जातिस्मरश्च सः ॥१४॥
दत्तादेशो मया स्वप्ने स च हस्ती महांस्तव।
एत्य स्वयं द्युमार्गेण वाहनत्वं प्रपत्स्यते ॥१५॥
तमारुह्य गजं श्वेतं सुरेभमिव वज्रभृत्।
व्योममार्गेण यं यं त्वं राजानमभियास्यसि ॥१६॥
स स दिव्यानुभावाय भीतस्तुभ्यं प्रदास्यति।
स्वप्ने मयैव दत्ताज्ञः कन्यादाननिभात्करम् ॥१७॥
एवं विजेष्यसे कृत्स्नां पृथ्वीमन्तःपुराणि च।
राजपुत्रीसहस्राणि त्वमशीतिमवाप्स्यसि ॥१८॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते विष्णौ स राजा कृतपारणः।
अन्येद्युरागतं व्योम्ना तं ददर्श गजं शुभम् ॥१९॥

रनिवास पर ऐसी रोक-टोक न होनी चाहिए—ऐसा मेरा विचार है।' द्वारपालिका को ऐसा कहकर उसने अपने पति से कहा—'आर्यपुत्र ! इस प्रसंग में मैं कहती हूँ, सुनो ! स्त्रियों की रक्षा और नियन्त्रण को मैं केवल नीति समझती हूँ या ईर्ष्या अथवा अज्ञानमात्र उससे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। स्त्रियाँ तो सबसे बड़े रक्षक अपने सच्चरित्र से ही रक्षित होती हैं। चंचला स्त्रियों के रक्षा के लिए तो ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हैं। मदोन्मत्ता नारी और नदी का नियन्त्रण कौन कर सकता है!' ॥५—८॥

राजा रत्नाधिप की कथा

मैं इस सम्बन्ध में एक कथा कहती हूँ, सुनो—

समुद्र के बीच में रत्नकूट नाम का एक विशाल द्वीप है। वहाँ महा उत्साही और परम विष्णुभक्त यथार्थ नामवाला रत्नाधिपति नाम का राजा था। वह राजा पृथ्वी के सभी राजाओं की कन्याओं के साथ विवाह करने तथा सारी पृथ्वी का विजय करने के लिए विष्णु भगवान् का तप करने लगा ॥९—११॥

उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने स्वयं दर्शन देकर कहा—'राजन्, उठो, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। जो कहता हूँ, उसे सुनो—॥१२॥

कलिंग देश में कोई गन्धर्व, मुनि के शाप से सफेद हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ है। वह श्वेतरश्मि के नाम से प्रसिद्ध है॥१३॥

वह हाथी पूर्वजन्म की तपस्या-सिद्धि के कारण और मेरी भक्ति के कारण ज्ञानी, आकाशविहारी और पूर्वजन्म का ज्ञान रखनेवाला है॥१४॥

मैं ने स्वप्न में उसे आज्ञा दी है, वह आकाश-मार्ग से स्वयं आकर तुम्हारा वाहन बनेगा ॥१५॥

उस सफ़ेद हाथी पर तुम, ऐरावत पर इन्द्र के समान, बैठकर आकाश-मार्ग से जिस राजा का आह्वान करोगे, वह भय से दिव्य प्रभाव से सम्पन्न तुम्हें स्वयं कन्या-दान के व्याज से कर देकर तुम्हारे अधीन हो जायगा॥१६-१७॥

इस प्रकार, तुम सारी पृथ्वी का और राजकन्याओं का विजय करोगे और अस्सी हजार राजकुमारियों से विवाह करोगे॥१८॥

ऐसा कहकर भगवान् विष्णु के अन्तर्हित होने पर वह राजा व्रत का पारण करके प्रकृतिस्थ हुआ और दूसरे ही दिन, उसने आकाश से आये हुए कल्याणमय हाथी को देखा॥१९॥

आरुह्योपनतं तं च यथादिष्टः स विष्णुना।
तथा विजित्य पृथिवीमाजह्रे राजकन्यकाः ॥२०॥
सहस्राशीतिसंख्याभिस्ततस्ताभिः समं च सः।
उवास रत्नकूटेऽत्र यथेच्छं विहरन्नृपः ॥२१॥
शान्त्यर्थं शीतरश्मेश्च तस्य दिव्यस्य दन्तिनः।
प्रत्यहं भोजयामास विप्राणां शतपञ्चकम् ॥२२॥
कदाचिच्च तमारुह्य परिभ्रम्य स भूपतिः।
द्वीपान्तराणि स्वं द्वीपं रत्नाधिपतिराययौ ॥२३॥
तत्रावतरतस्तस्य गगनात्तु गजोत्तमम् ।
चञ्च्वा तार्क्ष्योद्भवः पक्षी मूर्ध्नि दैवादताडयत् ॥२४॥
स च पक्षी प्रदुद्राव राज्ञा तीक्ष्णाङ्कुशाहतः।
हस्ती तु भूमावपतच्चञ्च्वाघातेन मूर्च्छितः ॥२५॥
नृपेऽवतीर्णे स गजो लब्धसंज्ञोऽपि नाशकत्।
उत्थाप्यमानोऽप्युत्थातुं निरस्तकवलग्रहः[1] ॥२६॥
पञ्चाहानि तथैवास्मिन्वारणे पतितस्थिते।
दुःखितः स निराहारो राजा चाप्येवमब्रवीत् ॥२७॥
भो लोकपाला ब्रूतास्मिन्नुपायं सङ्कटे मम।
अन्यथोपहरिष्यामि छित्वाहं स्वशिरोऽद्य वः ॥२८॥
इत्युक्त्वैवात्तखड्गं तं स्वशिरश्छेत्तुमुद्यतम्।
अशरीरा जगादैवं वाणी तत्क्षणमम्बरात् ॥२९॥
मा साहसं कृथा राजन्साध्वी काचित्करोति चेत्।
हस्तस्पर्शं गजस्यास्य तदुत्तिष्ठति नान्यथा ॥३०॥
तच्छ्रुत्वैवामृतलतां नाम हृष्टः स भूपतिः।
मुख्यामानाययामास निजां देवीं सुरक्षिताम् ॥३१॥
तया स्पृष्टः स हस्तेन नोदतिष्ठद् गजो यदा।
तदा सोऽन्या निजाः सर्वा देवीरानाययन्नृपः ॥३२॥
ताभिः कृतकरस्पर्शः समस्ताभिरपि क्रमात्।
नैवोत्तस्थौ द्विपः सोऽत्र न तास्वेकाप्यभूत्सती ॥३३॥

---

१. भोजनेऽप्यसमर्थः।

उस आये हुए हाथी पर विष्णु भगवान् के आज्ञानुसार चढ़कर राजा ने सारी पृथ्वी को जीतकर राज-कन्याओं का आहरण किया ॥२०॥

वह राजा अस्सी हजार कन्याओं को लाकर रत्नकूटपुर में यथेच्छ विहार करता हुआ रहने लगा ॥२१॥

और उस श्वेतरश्मि[1] हाथी की शान्ति के लिए प्रतिदिन पाँच सौ ब्राह्मणों को भोजन कराता था ॥२२॥

किसी समय उस हाथी पर चढ़कर और अनेक द्वीपों का भ्रमण करके वह राजा, अपने द्वीप में आया। वहाँ पर आकाश से भूमि पर उतरते हुए उस हाथी के मस्तक पर गरुडजातीय पक्षी ने चोंच से प्रहार किया ॥२३-२४॥

राजा के तीखे अंकुश के प्रहार से वह पक्षी तो भाग गया, किन्तु हाथी चोंच की मार से मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा ॥२५॥

राजा के उतर जाने पर होश में आया हुआ भी वह हाथी, उठाये जाने पर भी न उठ सका और न आहार कर सका ॥२६॥

इस प्रकार, पाँच दिनों तक उस हाथी के निराहार पड़े रहने पर राजा भी निराहार रहकर दुःखित हुआ और बड़ी चिन्ता में पड़कर बोला—'हे लोकपालो, मुझे इस संकट में कोई उपाय बताओ। नही तो मैं अपना सिर काटकर तुम्हें बलि दे दूँगा' ॥२७-२८॥

ऐसा कहकर और तलवार खींचकर अपना गला काटने को तैयार राजा से आकाशवाणी ने अप्रत्यक्ष रूप से कहा—॥२९॥

'हे राजन्! ऐसा दुस्साहस कार्य न करो। यदि कोई पतिव्रता स्त्री अपने हाथ से इस हाथी का स्पर्श करेगी, तो यह उठ जायगा। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है' ॥३०॥

यह सुनकर प्रसन्न राजा ने, अमृतलता नाम की सुरक्षित प्रधान रानी को बुलवाया ॥३१॥

जब उसके छूने पर हाथी नहीं उठा, तब उसने अन्य सभी रानियों को बुलवाया ॥३२॥

उनके छूने पर भी जब हाथी न उठा, तब यह निश्चय हो गया कि इनमे कोई भी सच्चरित्रा और पतिव्रता नहीं है ॥३३॥

---

१. किसी-किसी पुस्तक में हाथी का नाम 'शीतरश्मि' लिखा है। किन्तु, 'श्वेतरश्मि' नाम ही उचित प्रतीत होता है।—अनु०

अन्तःपुरसहस्राणि तामशीतिमपि स्फुटम् ।
दृष्ट्वा विलज्जितान्येव स राजा जनसन्निधौ ॥३४॥
विलक्षः स्वपुरात्तस्मादानाय्य निखिलाः स्त्रियः ।
क्रमेण हस्तिनस्तस्य हस्तस्पर्शमकारयत् ॥३५॥
तथापि यत्स नोत्तस्थौ गजेन्द्रस्तत्स भूपतिः ।
कष्टं पुरे मे साध्वी स्त्री नैकापीति त्रपां ययौ ॥३६॥
तावच्च हर्षगुप्ताख्यस्ताम्रलिप्त्याः समागतः ।
वणिक्तत्राययौ बुद्ध्वा वृत्तान्तं तं सकौतुकः ॥३७॥
तस्य कर्मकरी पश्चादाजगाम पतिव्रता ।
एका शीलवती नाम सा तद्दृष्ट्वा तमब्रवीत् ॥३८॥
स्पृशाम्यहं करेणैतं स्वभर्तुश्चापरो मया ।
मनसापि न चेद्ध्यातस्तदुत्तिष्ठत्वयं द्विपः ॥३९॥
इत्युक्त्वोपेत्य हस्तेन सा च पस्पर्श तं गजम् ।
उदतिष्ठत्स च स्वस्थः कवलं च ततोऽग्रहीत् ॥४०॥
इमास्ता विरलाः साध्व्यः काश्चिदेवेश्वरोपमाः ।
सर्गपालनसंहारसमर्था जगतोऽस्य याः ॥४१॥
इति शीलवतीं तत्र कृतकोलाहलो जनः ।
तां तुष्टाव तदा दृष्ट्वा श्वेतरश्मिं तमुत्थितम् ॥४२॥
राजापि रत्नाधिपतिः परितुष्याभिनन्द्य ताम् ।
सोऽपूरयदसंख्यातै रत्नैः शीलवतीं सतीम् ॥४३॥
तत्स्वामिनं न वणिजं हर्षगुप्तं तथैव तम् ।
अपूजयद्ददौ चास्य गृहं राजगृहान्तिके ॥४४॥
परिवर्जितसंस्पर्शा निजभार्यास्तथैव सः ।
पिण्डाच्छादनमात्रैकभागिनीरकरोत्ततः ॥४५॥
अथानाय्य कृताहारो हर्षगुप्तस्य सन्निधौ ।
साध्वीं शीलवतीं तां स जगाद विजने नृपः ॥४६॥
शीलवत्यस्ति ते काचित्कन्या पितृकुलादिति ।
तां मे दापय जाने हि सापि स्यात्त्वादृशी ध्रुवम् ॥४७॥
इत्युक्ता तेन सा राज्ञा शीलवत्यब्रवीत्तदा ।
राजदत्तेति नाम्नास्ति ताम्रलिप्त्यां स्वसा मम ॥४८॥
उपयच्छस्व तां देव श्लाघ्यरूपां यदीच्छसि ।

राजा की अस्सी हजार रानियाँ, इस घटना से जन-समाज के सामने अत्यन्त लज्जित हुईं ॥३४॥

तब राजा ने भी लज्जित होकर अपने नगर की सभी स्त्रियों को बुलाकर क्रम से हाथी को छुलाया ॥३५॥

फिर भी, वह हाथी न उठा, तो राजा को इसके लिए बड़ी लज्जा इस बात की हुई कि मेरे नगर में एक भी सदाचारिणी स्त्री नहीं है ॥३६॥

इतने में ताम्रलिप्ती (तमलुक) नगरी से आया हुआ हर्षगुप्त नाम का एक वैश्य उस तमाशे को देखने के लिए आया। उसके पीछे उसकी एक शीलवती नाम की सेविका पत्नी भी आई और उसने देखकर कहा ॥३७-३८॥

'मैं इस हाथी को हाथ से छूती हूँ। यदि मैंने अपने पति के सिवाय दूसरे को मन से भी न ध्यान किया हो, तो यह हाथी उठ जाय ॥३९॥

ऐसा कहकर और समीप जाकर उसने हाथी को छू दिया। उसके छूते ही हाथी उठ खड़ा हुआ और आहार करने लगा ॥४०॥

इस प्रकार, ईश्वर के समान, इस संसार की सृष्टि, पालन और संहार करने में समर्थ, पतिव्रता स्त्रियाँ विरले ही हैं। इस प्रकार, कोलाहल करती हुई जनता वहाँ पर सती शीलवती की प्रशंसा करने लगी ॥४१-४२॥

राजा ने प्रसन्न होकर सती शीलवती को असंख्य धन-रत्न दिये और उसके पति हर्षगुप्त को राजभवन के समीप ही घर देकर बसा दिया और उसका बहुत सत्कार किया ॥४३-४४॥

और तभी से उस राजा ने अपनी सभी स्त्रियों का स्पर्श तक छोड़ दिया और उनके लिए केवल भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध कर दिया ॥४५॥

तदनन्तर राजा ने हर्षगुप्त को बुलवाया। उसके साथ भोजन करने के बाद, राजा ने सती शीलवती से एकान्त में कहा—॥४६॥

'हे शीलवती! क्या तुम्हारे पिता के कुल में कोई कन्या है? यदि है, तो उसे मुझे दिलवाओ। मैं समझता हूँ कि वह भी तुम्हारे समान अवश्य सदाचारिणी होगी' ॥४७॥

उस राजा से इस प्रकार कही गई शीलवती बोली—'ताम्रलिप्ती नगरी में राजदत्ता नाम की मेरी बहन है। महाराज, यदि आप चाहते हैं, तो उस सुन्दरी से विवाह कीजिए' ॥४८-४९॥

इत्युक्तः स तया राज्ञा प्रतिपेदे तथेति तत् ॥४९॥
निश्चित्य च तदन्येद्युः शीलवत्या तया सह।
तेनापि हर्षगुप्तेन तमारुह्य खगामिनम् ॥५०॥
श्वेतरश्मिं स्वयं गत्वा ताम्रलिप्तीं स भूपतिः।
विवेश हर्षगुप्तस्य वणिजस्तस्य मन्दिरम् ॥५१॥
तत्र पप्रच्छ तदहर्लग्नं शीलवतीस्वसुः।
विवाहे राजदत्ताया गणकानात्मनस्तथा ॥५२॥
गणकाश्चोभयोः पृष्ट्वा नक्षत्राण्येवमब्रुवन्।
लग्नो वां शोभनो राजन्नस्ति मासेष्वितस्त्रिषु ॥५३॥
अद्य वा विद्यते यादृक्तेनैषा चेद्विवाह्यते।
राजदत्ता ततोऽवश्यमसाध्वी भवति प्रभो ॥५४॥
गणकैरेवमुक्तोऽपि कमनीयवधूत्सुकः।
एकाकी चिरमस्थास्नुः स राजा समचिन्तयत् ॥५५॥
अलं विचारेणाद्यैव राजदत्तामिहोद्वहे।
शीलवत्याः स्वसा ह्येषा निर्दर्पा नासती भवेत् ॥५६॥
यत्तत्समुद्रमध्येऽस्ति द्वीपखण्डममानुषम्।
एकशून्यचतुःशालं तत्रैतां स्थापयामि च ॥५७॥
दुर्गमेऽत्र परीवारं स्त्रीरेवास्याः करोमि च।
पुरुषादर्शनादेवमसती स्यादियं कथम् ॥५८॥
इति निश्चित्य तदहः परिणिन्ये स भूपतिः।
तां राजदत्तां सहसा शीलवत्या समर्पिताम् ॥५९॥
कृतोद्वाहः कृताचारो हर्षगुप्तेन तां वधूम्।
आदाय तेनैव समं शीलवत्या तया च सः ॥६०॥
श्वेतरश्मिं तमारुह्य क्षणेन नभसा निजम्।
मार्गोन्मुखजनं द्वीपं रत्नकूटं तदाययौ ॥६१॥
संविभेजे च तां भूयस्तथा शीलवतीं यथा।
प्राप्तसाध्वीव्रतफला कृतार्था समपादि सा ॥६२॥
ततस्तत्रैव करिणि श्वेतरश्मौ नभश्चरे।
आरोप्य तां नववधूं राजदत्तां स चिन्तिते ॥६३॥
नीत्वा तत्राब्धिमध्यस्थे द्वीपे मानुषदुर्गमे।
आस्थापयच्चतुःशाले नारीमयपरिच्छदाम् ॥६४॥

उसके ऐसा कहने पर राजा ने उसे स्वीकार किया ॥४९॥

दूसरे दिन शीलवती से निश्चय करके, उस हर्षगुप्त वैश्य के साथ आकाशगामी श्वेतरश्मि हाथी पर बैठकर वह राजा स्वयं ताम्रलिप्ती नगरी में गया और हर्षगुप्त के यहाँ जाकर ठहरा ॥५०-५१॥

वहाँ जाकर उसने ज्योतिषियों से शीलवती की बहन से विवाह करने का लग्न पूछा। गणकों ने दोनों के नक्षत्र पूछकर कहा—'राजन्! तुम दोनों का विवाह आज से तीन महीने के बाद ठीक बनता है। आज ही यदि इसका विवाह किया जायगा, तो यह कन्या अवश्य दुराचारिणी हो जायगी' ॥५२-५४॥

गणकों के इस प्रकार कहने पर भी उस सुन्दरी कन्या के लिए उत्सुक और इतने दिनों तक अकेले रहने में असमर्थ राजा ने सोचा ॥५५॥

अधिक सोच-विचार क्या करें। आज ही राजदत्ता से विवाह करता हूँ; क्योंकि यह शीलवती की बहन है, शान्त और सती ही होगी। और, रत्नद्वीप के समीप ही, जो बिना मनुष्यों का एक छोटा-सा टापू है, उसमें एक चौसाला (चतुःशाल) बनाकर इसे रखता हूँ ॥५६-५७॥

उस दुर्गम द्वीप में इसके नौकर-चाकरों में सभी स्त्रियाँ रहेंगी। पुरुष का जब दर्शन ही नहीं होगा, तब यह व्यभिचारिणी कैसे होगी ॥५८॥

ऐसा सोचकर राजा ने उसी दिन शीलवती से दान की गई उस राजदत्ता से विवाह कर लिया ॥५९॥

इस प्रकार, विवाह करके हर्षगुप्त द्वारा वैवाहिक रीति-रिवाजों के किये जाने पर, राजा उस नववधू, शीलवती और वैश्य के साथ हाथी पर चढ़कर आकाश-मार्ग से रत्नकूट द्वीप में आया, जहाँ जनता उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥६०-६१॥

राजधानी में आकर राजा ने शीलवती को फिर से पर्याप्त धन, मान आदि से सत्कार किया। उसे भी पतिव्रता-पालन का अच्छा फल मिला ॥६२॥

तदनन्तर राजा उस नववधू को उसी आकाशगामी हाथी पर बिठाकर पूर्वचिन्तित समुद्र के मध्य में स्थित, मनुष्यों से अगम्य द्वीप में ले गया और अनेक दासियों के साथ उसे वहीं चौसाले में रख दिया ॥६३-६४॥

यद्यद्वस्तूपयुक्तं च तस्यास्तत्तदविश्वसन् ।
व्योम्नैव प्रापयामास तत्र तेन गजेन सः ॥६५॥
स्वयं तदनुरक्तश्च तत्रैवासीत्सदा निशि ।
आययौ राजकार्यार्थं रत्नकूटे दिवा पुनः ॥६६॥
एकदा स तया साकं प्रत्यूषे राजदत्तया ।
राजा प्रतिघ्नन्दुःस्वप्नं सिषेवे पानमङ्गलम् ॥६७॥
तेन मत्ताममुञ्चन्तीमपि मुक्त्वा स तां ययौ ।
रत्नकूटं स्वकार्यार्थं नित्यस्निग्धा हि राजता ॥६८॥
तत्र तस्थौ सशङ्केन कुर्वन्कार्याणि चेतसा ।
क्षीबा किमेकका मुक्ता सा त्वयेतीव शंसता ॥६९॥
तावच्च राजदत्ता सा स्थाने तत्रातिदुर्गमे ।
महानसादिव्यग्रासु दासीष्वेकाकिनी स्थिता ॥७०॥
द्वारे विधिमिवान्यं तत्तद्रक्षाविजिगीषया ।
आगतं पुरुषं कञ्चिद्ददर्शाश्चर्यदायकम् ॥७१॥
कस्त्वं कथमिदं स्थानमगम्यं चागतो भवान् ।
इति तं चान्तिकप्राप्तं क्षीबा पप्रच्छ सा किल ॥७२॥
ततः स दृष्टबहुलक्लेशस्तां पुरुषोऽब्रवीत् ।
मुग्धे पवनसेनाख्यो वणिक्पुत्रोऽस्मि माथुरः ॥७३॥
हृतस्वो गोत्रजैः सोऽहमनाथः प्रमयात्पितुः ।
गत्वा विदेशे कृपणां परसेवामशिश्रियम् ॥७४॥
ततः कृच्छ्रेण सम्प्राप्य धनलेशं वणिज्यया ।
गच्छन्देशान्तरं मार्गे मुषितोऽस्म्येत्य तस्करैः ॥७५॥
ततो भिक्षां भ्रमंस्तुल्यैः सहान्यैर्गतवानहम् ।
रत्नानामाकरस्थानं कनकक्षेत्रसंज्ञकम् ॥७६॥
तत्राङ्गीकृत्य भूपस्य भागं संवत्सरावधि ।
खाते खनन्क्षितिं रत्नं नैकमप्यस्मि लब्धवान् ॥७७॥
नन्दत्सु लब्धरत्नेषु मद्विधेष्वपरेषु च ।
गत्वाब्धितीरे दुःखार्त्तः काष्ठान्यहमुपाहरम् ॥७८॥
अग्निप्रवेशाय चितां यावत्तत्र करोमि तैः ।
जीवदत्ताभिधस्तावत्कोऽप्यत्र वणिगाययौ ॥७९॥

वहाँ जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती थी, उन्हें राजा आकाशगामी हाथी से भेजता था। किसी पुरुष का विश्वास न करता था ॥६५॥

स्वयं भी उसके प्रेम के कारण प्रति रात्रि को हाथी से वहाँ जाता था और दिन में फिर रत्नकूट चला आता था ॥६६॥

एक बार राजा ने बुरे स्वप्न की शान्ति के लिए प्रभात-काल में ही उसके (राजदत्ता के) साथ मद्यपान कर लिया। मद्यपान से मत्त उस रानी के बार-बार मना करने पर भी, वह राजा राजकार्यों को देखने के लिए रत्नकूट चला आया। क्योंकि, राजकार्य, दैनिक प्रिय कर्त्तव्य है ॥६७-६८॥

वहाँ राजकार्य करते हुए भी राजा मदोन्मत्ता अकेली रानी की चिन्ता करते हुए, अनमने भाव से कार्य कर रहा था ॥६९॥

इतने में ही वह रानी राजदत्ता दासियों के भोजन-निर्माण आदि कार्यों में व्यस्त हो जाने पर, उस दुर्गम द्वीप के भवन के द्वार पर अकेली ही निकल आई ॥७०॥

उसके द्वार पर आते ही उसकी रक्षा भंग करने के लिए मानों दैव से प्रेरित कोई पुरुष आया, उसे मदोन्मत्ता राजदत्ता ने देखा और पास आने पर पूछा—'तुम कहाँ से आये हो, कौन हो और इस दुर्गम स्थान पर किस प्रकार आ सके?' ॥७१-७२॥

अनेक कष्टों को देखे हुए उस पुरुष ने कहा—'हे सुन्दरी! मैं मथुरावासी पवनसेन नामक बनिये का पुत्र हूँ। पिता की मृत्यु होने पर कुटुम्बियों द्वारा सब धन हरण कर लेने पर विदेश जाकर दीन चाकरी करने लगा ॥७३-७४॥

तब बड़ी कठिनाई से व्यापार द्वारा धन कमाकर दूसरे देश को जाता हुआ राह में चोरों से लूट लिया गया ॥७५॥

तब अपने जैसे लोगों के साथ रत्नों की खदानोंवाले कनक-क्षेत्र में गया ॥७६॥

वहाँ पर राजा को हिस्सा देने का निर्णय करके एक साल तक रत्न-प्राप्ति के लिए जमीन खोदता रहा। गहरे गढ़ों के खोदने पर भी रत्न न मिला ॥७७॥

और, मेरे साथी रत्नों को पाकर प्रसन्न हो रहे थे, इसलिए मैंने दुःख से पीड़ित होकर समुद्र के किनारे लकड़ियाँ एकत्र करके जल मरने के लिए चिता बनाई। जब मैं चिता में प्रवेश कर ही रहा था कि इतने में जीवदत्त नामक जहाजी बनिया दैवयोग से आया ॥७८-७९॥

निवार्य मरणात्तेन दत्त्वा वृत्तिं दयालुना।
गृहीतोऽहं प्रवहणे स्वर्णद्वीपं यियासता॥८०॥
ततोऽकस्मात्प्रवहणेनाब्धिमध्येन गच्छताम्।
पञ्चस्वहःसु यातेषु मेघोऽकस्माददृश्यत॥८१॥
प्रवृष्टे स्थूलधाराभिर्मेघेऽस्मिन्मारुतेन तत्।
अघूर्णत प्रवहणं मत्तहस्तिशिरो यथा॥८२॥
क्षणान्निमज्ज्य भग्नेऽस्मिन्यानपात्रे विधेर्वशात्।
एकः फलहकः प्राप्तस्तत्कालं मज्जता मया॥८३॥
तदारूढस्ततः शान्ते मेघाटोपे विधेर्वशात्।
इमं प्रदेशं प्राप्याहमुत्तीर्णः साम्प्रतं वने॥८४॥
वीक्ष्य चेदं चतुःशालं प्रविश्याभ्यन्तरं मया।
दृष्टा दृष्टिसुधावृष्टिस्त्वं तापशमनी शुभे॥८५॥
इत्युक्तवन्तं पर्यङ्के निवेश्यैवालिलिङ्ग तम्।
मोहिता राजदत्ता सा मदेन मदनेन च॥८६॥
स्त्रीत्वं क्षीबत्वमेकान्तः पुंसो लाभोऽनियन्त्रणा।
यत्र पञ्चाग्नयस्तत्र वार्त्ता शीलतृणस्य का॥८७॥
न चैवं क्षमते नारी विचारं मारमोहिता।
यदियं चकमे राज्ञी तमकाम्यं विपद्गतम्॥८८॥
तावच्च रत्नाधिपतिः स राजा रत्नकूटतः।
आजगामोत्सुकस्तूर्णं द्युचरद्विपवाहनः॥८९॥
प्रविशंश्चात्र सोऽपश्यत्तादृशेनापि तेन ताम्।
पुरुषेण समं भार्यां राजदत्तां रतिस्थिताम्॥९०॥
दृष्ट्वा जिघांसितमपि क्षितीशः पुरुषं स तम्।
नावधीत्पादपतितं ब्रुवाणं कृपणा गिरः॥९१॥
भार्यां भीतां च मत्तां तां स वीक्ष्यैवमचिन्तयत्।
मद्ये मारैकसुहृदि प्रसक्ता स्त्री सती कुतः॥९२॥
नियन्तुं चपला नारी रक्षयापि न शक्यते।
किं नामोत्पातवाताली बाहुभ्यां जातु बध्यते॥९३॥
न कृतं गणकोक्तं यत्तदिदं तस्य मे फलम्।
विपाककटुकं तस्य नाप्तवाक्यावधीरणम्॥९४॥

स्वर्णद्वीप जाते हुए उस दयालु बनिये ने मरने से रोककर और जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध करके मुझे जहाज पर चढ़ा लिया ।।८० ।।

तब समुद्र के बीच जहाज से जाते हुए हम लोगों को पाँच दिन बीत गये छठे दिन अकस्मात् बादल दीख पड़े और मूसलाधार पानी बरसने पर आँधी से जहाज, हाथी के सिर के समान झूमने लगा। और क्षण-भर में टूटकर डूब गया। डूबते हुए मैंने एक लकड़ी का तख्ता पा लिया।।८१---८३।।

उस पर बैठा हुआ मैं, आकाश साफ होने पर, इस द्वीप के किनारे वन में आ लगा। वहाँ से इस चौसाले मकान को देखकर इधर आया और यहाँ आँखों के लिए अमृत-वर्षा के समान दुःख शमन करनेवाली तुम्हें देखा।।८४-८५।।

ऐसा कहते हुए उस बनिये को. मद और काम से उन्मत्त राजदत्ता ने पलंग पर बैठाकर लिपटा लिया।।८६।।

स्त्रीत्व, मद्य का नशा, एकान्त, पुरुष का मिलना और पूर्ण स्वतन्त्रता, जहाँ ये पाँच अग्नियाँ, एकत्र हों, वहाँ चरित्र-रूपी तृण की बात ही क्या ? ।।८७।।

काम से उत्तेजित नारी किसी प्रकार का विचार नही कर सकती। इसीलिए, उसने विपत्ति में पड़े हुए उस दरिद्र और कुरूप को भी अपना लिया।।८८।।

इतने में ही वह राजा रत्नाधिपति, उत्सुकता के साथ आकाशगामी हाथी पर बैठकर शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचा।।८९।।

उसने आते ही उस दीन दरिद्र के साथ सोयी हुई रानी राजदत्ता को अपनी आँखों से देखा।।९०।।

उसने मार डालने योग्य व्यक्ति को भी दीनतापूर्वक प्रार्थना करने पर नही मारा। डरी हुई और नशे में चूर पत्नी को देखकर वह इस प्रकार सोचने लगा कि काम का एकमात्र मित्र मद्य के पी लेने पर स्त्री सती कैसे रह सकती है ? ।।९१-९२।।

चंचला (दुराचारिणी) स्त्री, रक्षा से भी रोकी नहीं जा सकती। क्या प्रलयकालीन आँधी, हाथों से रोकी जा सकती है ? ।।९३।।

मैंने जो गणकों का कहना नहीं माना, उसी का यह फल है। विश्वस्त और हितैषी पुरुषों की बात का अनादर करना किसके लिए परिणाम में कड़वा नहीं होता।।९४।।

शीलवत्याः स्वसेतीमां जानतो बत विस्मृता।
सुधायाः सहजा सा मे कालकूटविषच्छटा ॥९५॥
अथवा कः समर्थः स्यादसम्भाव्यं विचेष्टितम्।
जेतुं पुरुषकारेण विधेरद्भुतकर्मणः ॥९६॥
इत्यालोच्य न चुक्रोध कस्मैचित्तं जहौ च सः।
पृष्टोदन्तं वणिक्पुत्रं राजा प्रच्छन्नकामुकम् ॥९७॥
सोऽपि मुक्तस्ततोऽपश्यन्गतिं काञ्चिद्वणिक्सुतः।
निर्गत्याब्धौ प्रवहणं दूरादागच्छदैक्षत ॥९८॥
ततः फलहकं भूयस्तमेवारुह्य सोऽम्बुधौ।
भ्रमन्पूत्कृत्य चक्रन्द मामुद्धरत भो इति ॥९९॥
तेन तं क्रोधवर्माख्यो वणिक्तद्यानपात्रगः।
समुद्धृत्य वणिक्पुत्रं चकारान्तिकवर्त्तिनम् ॥१००॥
यस्य यद्विहितं धात्रा कर्म नाशाय तस्य तत्।
पदवीं यत्र तत्रापि धावतोऽप्यनुधावति ॥१०१॥
यत्स तत्र स्थितो मूढस्तत्पत्न्या सङ्गतो रहः।
विलोक्य वणिजा तेन क्षेपितोऽब्धौ व्यपद्यत ॥१०२॥
तावच्च रत्नाधिपतिः स राजा सपरिच्छदाम्।
आरोप्य श्वेतरश्मौ तां राजदत्तामकोपनः ॥१०३॥
प्रापय्य रत्नकूटं च शीलवत्याः समर्प्य च।
तस्यै च सचिवेभ्यश्च तद्वृत्तान्तमवर्णयत् ॥१०४॥
जगाद च कियद्दुःखमनुभूतमहो मया।
असारविरसेष्वेषु भोगेष्वासक्तचेतसा ॥१०५॥
तदिदानीं वनं गत्वा हरिं शरणमाश्रये।
येन स्यां नैव दुःखानां भाजनं पुनरीदृशाम् ॥१०६॥
इत्यूचिवान् स सचिवैर्वार्यमाणोऽपि दुःखितः।
शीलवत्या च वैराग्यान्निश्चयं नैव तज्जहौ ॥१०७॥
ततोऽर्धमर्पयित्वादावेकं साध्व्यै स्वकोषतः।
शीलवत्यै द्विजेभ्योऽर्धं दत्वान्यद् भोगनिस्पृहः ॥१०८॥
पापभञ्जनसंज्ञाय ब्राह्मणाय यथाविधि।
ददौ गुणगरिष्ठाय निजं राज्यं स भूपतिः ॥१०९॥

यह शीलवती की बहन है—यह देखते हुए मैं यह भूल गया कि हलाहल विष भी अमृत का सहोदर ही है ॥९५॥

यह भी ठीक है कि दैव की आश्चर्यजनक चेष्टा को, कौन व्यक्ति, पुरुषार्थ से, जीत सकता है ॥९६॥

ऐसा सोचकर राजा ने क्रोध नहीं किया और वृत्तान्त पूछकर उस वैश्य-पुत्र को छोड़ दिया ॥९७॥

छूटा हुआ वैश्य-पुत्र, अपने जाने का मार्ग खोजता हुआ भवन से निकलकर समुद्र के तट पर गया और उसने दूर से आते हुए एक जहाज को देखा ॥९८॥

तब उसी तख्ते पर चढ़कर, जिससे पहले आया था, समुद्र में कूद पड़ा और चिल्लाकर रोने लगा कि मुझे बचाओ। उसका रोना-चिल्लाना सुनकर उस जहाज में बैठे हुए उसके स्वामी क्रोधवर्मा ने उसे जहाज में चढ़ाकर अपने पास रख लिया ॥९९-१००॥

दैव ने जिसके नाश के लिए जो विधान रच रखा है, वह, दौड़कर भागते हुए का भी पीछा करता है ॥१०१॥

यही कारण था कि वह मूर्ख बनिया जहाज में चलते हुए एकान्त में क्रोधवर्मा की स्त्री के साथ पकड़ा गया। क्रोधवर्मा उसके इस कुकृत्य को देखकर क्रुद्ध हो उठा और उसे समुद्र में फेंक दिया, जिससे वह डूबकर मर गया ॥१०२॥

इधर राजा रत्नाधिपति, क्रोध न करके राजदत्ता (अपनी स्त्री) को सेवकों और सामान के साथ श्वेतरश्मि हाथी पर बैठाकर रत्नकूट ले आया ॥१०३॥

रत्नकूट में पहुँचकर राजा ने उसे उसकी बहन शीलवती को सौंप दिया और शीलवती तथा मन्त्रियों को उसका सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥१०४॥

और बोला—'आश्चर्य है कि सार-रहित और नीरस सांसारिक भोगों में आसक्त रहकर मैंने कितना कष्ट पाया ॥१०५॥

इसलिए, अब वन में जाकर भगवान् की शरण लेता हूँ, जिससे फिर ऐसे कष्टों का भोग न करूँ ॥१०६॥

ऐसा कहते हुए, राजा, दुःखी मन्त्रियों और शीलवती द्वारा बहुत रोके जाने पर भी वैराग्य पर दृढ़ रहा ॥१०७॥

और उसने अपना सारा राज्य पापभंजन नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण को विधिपूर्वक दान कर दिया और शेष धन शीलवती तथा अन्यान्य ब्राह्मणों को देकर भोगों से सर्वथा विरक्त हो गया ॥१०८-१०९॥

दत्तराज्यश्च नभसा स गमिष्यंस्तपोवनम् ।
आनाययच्छ्वेतरश्मिं पौराणां साश्रु पश्यताम् ॥११०॥
आनीतमात्रः स करी शरीरं प्रविमुच्य तत् ।
पुरुषो दिव्यरूपोऽभूद्धारकेयूरराजितः ॥१११॥

श्वेतरश्मिकथितः पूर्वजन्मवृत्तान्तः

को भवान्किमिदं चेति पृष्टो राज्ञा जगाद सः ।
गन्धर्वौ भ्रातरावावामुभौ मलयवासिनौ ॥११२॥
अहं सोमप्रभो नाम ज्येष्ठो देवप्रभश्च सः ।
तस्य चैकैव मद्भ्रातुर्भार्या सा चातिवल्लभा ॥११३॥
स तां राजवतीं नाम कृत्वोत्सङ्गे परिभ्रमन् ।
एकदा सिद्धवासाख्यं स्थानं प्रायान्मया सह ॥११४॥
केशवायतने तत्र वयमभ्यर्चिताच्युताः ।
प्रावर्त्तामहि सर्वेऽपि गातुं भगवतः पुरः ॥११५॥
तावदागत्य तत्रैकः सिद्धस्तां श्रव्यगायिनीम् ।
दृशा राजवतीं पश्यन्नतिष्ठदनिमेषया ॥११६॥
सिद्धोऽपि साभिलाषः किं परनारीं निरीक्षसे ।
इति सेर्ष्यः स मद्भ्राता क्रुधा सिद्धं तमब्रवीत् ॥११७॥
ततः स सिद्धः कुपितः शप्तुमेवं तमभ्यधात् ।
गीताश्चर्यान्मया मूढ वीक्षितेयं न कामतः ॥११८॥
तन्मर्त्ययोनावीर्ष्यालुः पत त्वमनया सह ।
पश्यैतामेव भार्यां त्वं साक्षात्तत्रान्यसङ्गताम् ॥११९॥
इत्यूचिवान् मया सोऽथ बाल्यात्तच्छापकोपतः ।
हस्तस्थेनाहतः क्रीडामृण्मयश्वेतहस्तिना ॥१२०॥
ततः स मां समशपद्येनाहं भवताहतः ।
तादृक्श्वेतो गजो भूमौ भवानुत्पद्यतामिति ॥१२१॥
अथानुनीतो मद्भ्रात्रा तेन देवप्रभेण सः ।
सिद्धः कृपालुः शापान्तमेवमस्माकमब्रवीत् ॥१२२॥
हरेः प्रसादान्मर्त्योऽपि भूत्वा द्वीपेश्वरो भवान् ।
गजीभूतमिमं प्राप्स्यस्यनुजं दिव्यवाहनम् ॥१२३॥
अन्तःपुरसहस्राणि त्वमगीतिमवाप्स्यसि ।
तेषां वेत्स्यसि दौःशील्यं सर्वेषां जनसन्निधौ ॥१२४॥

राज्य और धन का दान करके राजा ने, रोते हुए नागरिकों के सामने ही तपोवन में जाने की इच्छा से श्वेतरश्मि हाथी को बुलाया ॥११०॥

सामने प्रस्तुत श्वेतरश्मि हाथी ने, तुरन्त अपना हाथी का शरीर छोड़कर हार-केयूर-धारी दिव्य पुरुष गन्धर्व का रूप धारण किया ॥१११॥

श्वेतरश्मि हाथी के पूर्वजन्म की कथा

'तुम कौन हो, और यह क्या किया ?'—राजा के इस प्रकार पूछने पर हाथी बोला—'मैं और तुम—हम दोनों पूर्वजन्म में मलयाचल-निवासी गन्धर्वजातीय भाई हैं। मैं छोटा भाई सोमप्रभ हूँ और दूसरा बड़ा भाई देवप्रभ था। उसकी राजवती नाम की अत्यन्त प्यारी पत्नी थी, जिसे वह गोद में लेकर घूमते हुए सिद्धवास नामक स्थान में मेरे साथ गया ॥११२—११४॥

वहीं पर विष्णु भगवान् के एक मन्दिर में उनकी पूजा करके हम लोग गाने के लिए प्रवृत्त हुए ॥११५॥

उस मन्दिर में एक सिद्ध आया और वह अतिमनोहर गान करते हुए राजवती को एकटक से देखने लगा ॥११६॥

मेरे बड़े भाई ने उसे इस प्रकार घूरते हुए देखकर उस सिद्ध से, क्रुद्ध होकर कहा कि तू सिद्ध होकर भी दूसरे की स्त्री को इस प्रकार की लालसा से क्यों देखता है ? ॥११७॥

तब सिद्ध ने भी क्रुद्ध होकर उसे शाप देने के लिए इस प्रकार कहा—'रे मूर्ख ! गाने के आश्चर्य से मैंने इसे देखा, वासना से नहीं। इसलिए, हे ईर्ष्यावाले ! तुम दोनों इसके साथ मनुष्य की योनि में जा गिरोगे और तुम इसी पत्नी का दूसरे से समागम करते हुए अपनी आँखों से देखोगे'। ऐसा कहते हुए उस सिद्ध को मैंने क्रोध से, हाथ में लिये हुए मिट्टी के सफेद हाथी (खिलौने) से मारा ॥११८—१२०॥

तब उसने मुझे शाप दिया कि 'तूने मुझे मिट्टी के सफेद हाथी से मारा है, इसलिए तू अगले जन्म में सफेद हाथी की योनि में जन्म लेगा' ॥१२१॥

तदनन्तर मेरे भाई द्वारा किये गये अनुनय-विनय पर प्रसन्न उस सिद्ध ने दयालु होकर हम दोनों का शापान्त इस प्रकार किया ॥१२२॥

देवप्रभ से कहा कि 'तू विष्णु भगवान् की कृपा से मनुष्य होकर भी एक द्वीप का राजा होगा और हाथी बने हुए अपने भाई को दिव्य वाहन के रूप में प्राप्त करेगा। तेरी अस्सी हजार रानियाँ होंगी। उन सभी रानियों की दुश्चरित्रता तुझे जनता के सामने मालूम होगी ॥१२३-१२४॥

अथैतां मानुषीभूतां स्वभार्यां परिणेष्यसि।
प्रत्यक्षमेनामपि च द्रक्ष्यस्यन्येन सङ्गताम् ॥१२५॥
ततो विरक्तहृदयो दत्त्वा राज्यं द्विजन्मने।
देवप्रभ यदा शान्तो वनं गन्तुं प्रवत्स्यसि ॥१२६॥
तदा प्रथममुक्तेऽस्मिन्नाजत्वादनुजे तव।
अनया भार्यया साकं शापात्त्वमपि मोक्ष्यसे ॥१२७॥
इति सिद्धोक्तशापान्ता वयं प्राक्कर्मभेदतः।
एवं जाताः पृथग्योगाच्छापान्तः सैष चाद्य नः ॥१२८॥
एवं सोमप्रभेणोक्ते स रत्नाधिपतिर्नृपः।
जातिं स्मृत्वाब्रवीद्धन्त सैष देवप्रभो ह्यहम् ॥१२९॥
एषापि राजदत्ता सा पत्नी राजवती मम।
इत्युक्त्वा स तया साकं भार्यया तां तनुं जहौ ॥१३०॥
क्षणात्सर्वेऽपि गन्धर्वा भूत्वा लोकस्य पश्यतः।
खमुत्पत्य निजं धाम ययुस्ते मलयाचलम् ॥१३१॥
शीलवत्यपि शीलस्य माहात्म्यात्प्राप्य सम्पदम्।
ताम्रलिप्तीं पुरीं गत्वा तस्थौ धर्मोपसेविनी ॥१३२॥

इति जगति न रक्षितुं समर्थः क्वचिदपि कश्चिदपि प्रसह्य नारीम्।
अवति तु सततं विशुद्ध एकः कुलयुवतीं निजसत्त्वपाशबन्धः ॥१३३॥
एवं चेर्ष्या नाम दुःखैकहेतुर्दोषः पुंसां द्वेषदायी परेषाम्।
योऽयं मा भूद्रक्षणायाङ्गनानामत्यौत्सुक्यं प्रत्युतासां करोति ॥१३४॥
इति नरवाहनदत्तो रत्नप्रभया स्वभार्यया कथिताम्।
स निशम्य कथामर्थ्यां सचिवैः सार्धं परं मुमुदे ॥१३५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे रत्नप्रभालम्बके द्वितीयस्तरङ्गः।

तृतीयस्तरङ्गः

निश्चयदत्तस्य अनुरागपरायाश्च कथा

एवं रत्नप्रभाख्यातकथाक्रमवशादथ।
नरवाहनदत्तं तं सचिवो गोमुखोऽब्रवीत् ॥१॥

तदनन्तर तू मनुष्य-योनि में उत्पन्न इसी पत्नी को प्राप्त करेगा इसे और दूसरे पुरुष के साथ अपनी आँखों से देखेगा। तब तू विरक्त होकर ब्राह्मण को राज्य देकर वन जाने का यत्न करेगा। उस समय तेरा छोटा भाई सोमप्रभ भी हाथी की योनि से मुक्त हो जायगा और तू भी इसी पत्नी के साथ मानव-योनि से मुक्त होकर अपने गन्धर्व-रूप को प्राप्त करेगा'॥१२५—१२७॥

हाथी ने फिर कहा—'इस प्रकार, हम लोग सिद्ध के शाप से मुक्त हो गये। अपने-अपने कर्म के भेद से हमलोग पृथक-पृथक् योनि में उत्पन्न हुए थे। अब हमलोगों के शाप का आज अन्त हो गया'॥१२८॥

सोमप्रभ के ऐसा कहने पर वह राजा रत्नाधिपति बोला—'मैं अपने पूर्व जन्म का स्मरण करता हूँ। वह देवप्रभ मैं ही तो था और यह राजदत्ता मेरी राजवती नाम की पत्नी है।' ऐसा कहकर राजा और रानी राजवती राजदत्ता ने अपना मनुष्य का चोला त्याग दिया। उसी समय वे तीनों (राजा, रानी और हाथी) गन्धर्व-देह धारण करके लोगों के देखते-देखते आकाश में उड़कर मलयाचल-स्थित अपने धाम को चले गये॥१२९—१३१॥

शीलवती भी अपने शुद्ध चरित्र के प्रभाव से प्रचुर धन प्राप्त करके ताम्रलिप्ती नगर में जाकर धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगी॥१३२॥

इस प्रकार, संसार में कहीं भी कोई स्त्री को नियन्त्रण में रखकर रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता। कुलीन स्त्री की, उसका अपना ही एकमात्र प्रबल और विशुद्ध मन उनकी रक्षा कर सकता है॥१३३॥

इस प्रकार, दूसरों से ईर्ष्या करना और उन पर दोष लगाना यह मानव-स्वभाव का दोष है। यही अधिक नियन्त्रण स्त्रियों की उत्सुकता को अत्यधिक बढ़ा देता है॥१३४॥

नरवाहनदत्त, इस प्रकार अपनी पत्नी रत्नप्रभा से कही गई कथा को सुनकर अपने मन्त्रियों के साथ अत्यन्त प्रसन्न हुआ॥१३५॥

महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचित कथासरित्सागर के रत्नप्रभालम्बक का
द्वितीय तरंग समाप्त

तृतीय तरंग

निश्चयदत्त और अनुरागपरा की कथा

इस प्रकार, रत्नप्रभा से कही गई कथा के क्रम में नरवाहनदत्त का मन्त्री गोमुख उससे कहने लगा—॥१॥

सत्यं साध्व्यः प्रविरलाश्चपलास्तु सदा स्त्रियः।
अविश्वास्यास्तथा चैतामपि देव कथां शृणु ॥२॥
इहास्त्युज्जयिनी नाम नगरी विश्वविश्रुता।
तस्यां निश्चयदत्ताख्यो वणिक्पुत्रोऽभवत्पुरा ॥३॥
स द्यूतकारो द्यूतेन धनं जित्वा दिने दिने।
स्नात्वा सिप्राजलेऽभ्यर्च्य महाकालमुदारधीः ॥४॥
दत्त्वा दानं द्विजातिभ्यो दीनानाथेभ्य एव च।
व्यधाद्विलेपनाहारताम्बूलाद्यविशेषतः ॥५॥
सदा स्नानार्चनाद्यन्ते महाकालालयान्तिके।
गत्वा व्यलिम्पदात्मानं श्मशाने चन्दनादिना ॥६॥
तत्रस्थे च शिलास्तम्भे स विन्यस्य विलेपनम्।
विलिलेप कषन्पृष्ठं युवा प्रत्यहमेककः ॥७॥
तेन स्तम्भः स सुश्लक्ष्णः कालेनाभवदेकतः।
अथागाच्चित्रकृत्तेन पथा रूपकृता सह ॥८॥
स स्तम्भं वीक्ष्य सुश्लक्ष्णं तत्र गौरीं समालिखत्।
रूपकारोऽपि शस्त्रेण क्रीडयैवोल्लिलेख ताम् ॥९॥
ततस्तयोर्गतवतोर्महाकालार्चनागता।
विद्याधरसुतैकात्र स्तम्भे देवी ददर्श ताम् ॥१०॥
सुलक्षणत्वात्सान्निध्यं तस्यां मत्वा कृतार्चना।
अदृश्या विश्रमायैतं शिलास्तम्भं विवेश सा ॥११॥
तावन्निश्चयदत्तः स तत्रागत्य वणिक्सुतः।
साश्चर्यः स्तम्भमध्ये तां ददर्शोल्लिखितामुमाम् ॥१२॥
विलिप्याङ्गानि तत्स्तम्भागेऽन्यत्रानुलेपनम्।
न्यस्य पृष्ठं समालब्धुं प्रारेभे निकषंश्च सः ॥१३॥
तद्विलोक्य विलोलाक्षी सा विद्याधरकन्यका।
स्तम्भान्तरस्था तद्रूपहृतचित्ता व्यचिन्तयत् ॥१४॥
ईदृशस्यापि कोऽप्यस्य नास्ति पृष्ठानुलेपकः।
तदहं तावदद्यास्य पृष्ठमेषा समालभे ॥१५॥
इत्यालोच्य प्रसार्यैव करं स्तम्भान्तरात्ततः।
व्यलिपत्तस्य सा पृष्ठं स्नेहाद्विद्याधरी तदा ॥१६॥

सच है, सदाचारिणी स्त्रियाँ विरल होती हैं। प्रायः स्त्रियाँ चंचला (दुराचारिणी) ही होती हैं और विश्वास के योग्य भी नहीं होतीं। इस प्रसंग में यह भी एक कथा सुनें ॥२॥

संसार में प्रसिद्ध उज्जयिनी नाम की नगरी है। प्राचीन समय में वहाँ निश्चयदत्त नाम का बनिया का बेटा रहता था ॥३॥

वह जुआरी था और प्रतिदिन जूए से धन जीतकर, शिप्रा नदी में स्नान और महाकालेश्वर शिव की पूजा करके ब्राह्मणों, दीनों एवं अनाथों को दान देकर चन्दन, इत्र, भोजन, ताम्बूल आदि का व्यवहार करता था। (वह बहुत खर्चीला और शौकीन था) ॥४-५॥

वह निश्चयदत्त, प्रतिदिन स्नान, पूजा आदि करके महाकाल-मन्दिर के समीप श्मशान में जाकर शरीर में चन्दन लगाता था ॥६॥

वह युवक वैश्य, उस श्मशान में खड़े एक पत्थर के खम्भे पर, चन्दन लगाकर उस पर अपनी पीठ रगड़ता था ॥७॥

प्रतिदिन पीठ के रगड़ने से वह खम्भा, अत्यन्त चिकना और सुन्दर हो गया था। एक बार उस मार्ग से एक चित्रकार एक मूर्तिकार (संगतराश) के साथ उधर से आया ॥८॥

उसने खम्भे को खूब चिकना देखकर उस पर गौरी का चित्र बना दिया। मूर्त्तिकार ने भी क्रीड़ावश छेनी और हथौड़ी से उसे खोदकर मूर्त्ति का रूप दे दिया ॥९॥

उन दोनों के चले जाने पर महाकाल की पूजा के लिए आई एक विद्याधर-कन्या, उधर आ निकली और उसने खम्भे पर पार्वती की खुदी हुई मूर्त्ति देखी ॥१०॥

उसे बहुत चिकना देखकर और पार्वती का वास समझकर वह विद्याधरी महाकाल की पूजा करके उसी खम्भे में अदृश्य रूप से प्रवेश कर गई ॥११॥

इतने में ही वैश्य-पुत्र प्रतिदिन के नियमानुसार उस खम्भे पर आया और गौरी की खुदी हुई मूर्त्ति उसने देखी ॥१२॥

तब उसने शरीर पर चन्दन का लेप करके खम्भे की दूसरी ओर पीठ रगड़ना प्रारम्भ किया ॥१३॥

उसे पीठ रगड़ते हुए देखकर वह चंचलाक्षी विद्याधरी खम्भे के अन्दर बैठी हुई उस वैश्य की सुन्दरता से मोहित हो गई और सोचने लगी ऐसे सुन्दर युवक की पीठ पर चन्दन लगानेवाला कोई नहीं है। तब मैं ही इसकी पीठ पर चन्दन लगाती हूँ ॥१४-१५॥

ऐसा सोचकर और खम्भे के अन्दर से ही हाथ फैलाकर स्नेह से उसकी पीठ मलने लगी ॥१६॥

तत्क्षणं लब्धसंस्पर्शः श्रुतकङ्कणनिःस्वनः।
जग्राह हस्तं हस्तेन स तस्यास्तं वणिक्सुतः॥१७॥
महाभागापराद्धं ते किं मया मुञ्च मे करम्।
इत्यदृश्येव तं विद्याधरी स्तम्भादुवाच सा॥१८॥
प्रत्यक्षा ब्रूहि मे का त्वं ततो मोक्ष्यामि ते करम्।
इति निश्चयदत्तोऽपि प्रत्युवाच स तां ततः॥१९॥
प्रत्यक्षदृश्या सर्वं ते वच्मीति शपथोत्तरम्।
विद्याधर्या तयोक्तोऽथ करं तस्या मुमोच सः॥२०॥
अथ स्तम्भाद्विनिर्गत्य साक्षात्सर्वाङ्गसुन्दरी।
तन्मुखासक्तनयना तं जगादोपविश्य सा॥२१॥
अस्ति प्रालेयशैलाग्रे नगरी पुष्करावती।
नाम्ना विन्ध्यपरस्तस्यामास्ते विद्याधराधिपः॥२२॥
अनुरागपरा नाम तस्याहं कन्यका सुता।
महाकालार्चनायाता विश्रान्तास्मीह सम्प्रति॥२३॥
तावच्च त्वमिहागत्य कुर्वन्पृष्ठविलेपनम्।
दृष्टः स्तम्भेऽत्र मारीय[1] मोहनास्त्रोपमो मया॥२४॥
ततः प्रागनुरागेण रञ्जितः स्वान्तवान्मम।
पश्चात्पृष्ठविलेपिन्या अङ्गरागेण ते करः॥२५॥
अतः परं ते विदितं तत्पितुर्धाम सम्प्रति।
गच्छामीति तयोक्तोऽथ वणिक्पुत्रो जगाद सः॥२६॥
स्वीकृतं तन्मया चण्डि न स्वान्तं भवतीहृतम्।
अमुक्तस्वीकृतस्वान्ता कथमेवं तु गच्छसि॥२७॥
इति तेनोदिता सा च लघुरागवशीकृता।
सङ्गमिष्ये त्वया काममेष्यस्यस्मत्पुरीं यदि॥२८॥
दुर्गमा सा न ते नाथ सेत्स्यते ते समीहितम्।
नहि दुष्करमस्तीह किञ्चिदध्यवसायिनाम्॥२९॥
इत्युदीर्य खमुत्पत्य सानुरागपरा ययौ।
अगान्निश्चयदत्तोऽपि स तद्गतमना गृहम्॥३०॥

---

१. मारस्य कामस्य इदं मारीयं =काम सम्बन्धि।

सुन्दर कोमल स्पर्श का अनुभव करते हुए और कँगने के शब्द को सुनते हुए निश्चयदत्त ने पीछे हाथ घुमाकर उसके हाथ को पकड़ लिया ॥१७॥

उसके हाथ पकड़ने पर वह अदृश्य विद्याधरी, खम्भे के भीतर से बोली—'हे महाभाग ! मैंने तेरा कौन-सा अपराध किया है कि मेरा हाथ पकड़ रखा है। इसे छोड़ो' ॥१८॥

वैश्य पुत्र ने कहा—'मेरे सामने आकर बताओ कि तुम कौन हो, तब तुम्हारा हाथ छोड़ूँगा।' विद्याधरी ने शपथ खाकर कहा कि 'मैं प्रत्यक्ष होकर तुम्हें सब कहूँगी।' उसके ऐसा कहने पर उसने हाथ छोड़ दिया ॥१९-२०॥

तदनन्तर वह सर्वांगसुन्दरी विद्याधरी, वैश्य-पुत्र के मुख पर आँखें गड़ाए हुए, बैठकर बोली—॥२१॥

'हिमालय पर्वत के शिखर पर पुष्करावती नाम की नगरी है। वहाँ विन्ध्यपर नाम का विद्याधरों का राजा है ॥२२॥

उनकी मैं अनुरागपरा नाम की कन्या हूँ। यहाँ महाकाल भगवान् की पूजा के लिए आई थी। इस खम्भे में कुछ देर के लिए विश्राम कर रही हूँ ॥२३॥

तबतक कामदेव के मोहन-मन्त्र के समान यहाँ आकर चन्दन को शरीर में घिसते हुए तुम्हें देखा ॥२४॥

तुम्हारी पीठ पर चन्दन का लेप करती हुई मेरा हाथ तुमने प्रथम अनुराग के समान पकड़ा। अब मैं जाती हूँ।' उस कन्या के इस प्रकार कहने पर वैश्य-पुत्र ने कहा—'अब मुझे तुम्हारे पिता का स्थान मालूम हो गया है। अभी तक तुम से हरण किये गये अपने हृदय को मैंने वापस नहीं लिया है। लिये हुए हृदय के बिना वापस किये तुम कैसे जाओगी ?' ॥२५—२७॥

उससे इस प्रकार कही गई और स्वल्प प्रेम के वशीभूत वह विद्याधरी बोली—'यदि तुम मेरी नगरी में आ जाओगे, तो फिर मिलूँगी ॥२८॥

किन्तु हे नाथ ! वह नगरी अत्यन्त दुर्गम है, इसलिए तुम्हारी अभिलाषा पूरी न हो सकेगी। फिर भी, उद्योगी पुरुषों के लिए दुष्कर क्या है ?' ऐसा कहकर वह अनुरागपरा आकाश-मार्ग से उड़कर चली गई निश्चयदत्त भी उसीमें हृदय को लगाये हुए अपने घर लौट आया ॥३०॥

स्मरद्रुमादिव स्तम्भादुद्भिन्नं करपल्लवम्।
हा धिक्तस्या गृहीत्वापि नाप्तः पाणिग्रहो मया॥३१॥
तद्व्रजाम्यन्तिकं तस्याः पुरीं तां पुष्करावतीम्।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि दैवं वा साहाय्यं मे करिष्यति॥३२॥
इति सञ्चिन्तयन् नीत्वा स्मरार्त्तः सोऽत्र तद्दिनम्।
प्रातिष्ठत ततः प्रातरवलम्ब्योत्तरां दिशम्॥३३॥
ततः प्रक्रामतस्तस्य त्रयोऽन्ये सहयायिनः।
मिलन्ति स्म वणिक्पुत्रा उत्तरापथगामिनः॥३४॥
तैः समं समतिक्रामन् पुरग्रामाटवीनदीः।
क्रमादुत्तरदिग्भूमिं प्राप स म्लेच्छभूयसीम्॥३५॥
तत्र तैरेव सहितः पथि प्राप्यैव ताजिकैः।
नीत्वा परस्मै मूल्येन दत्तोऽभूत्ताजिकाय सः॥३६॥
तेनाऽपि तावद् भृत्यानां हस्ते कोशलिकाकृते।
मुरवाराभिधानस्य तुरुष्कस्य व्यसृज्यत॥३७॥
तत्र नीतः स तद्भृत्यैर्युक्तैस्तैरपरैस्त्रिभिः।
मुरवारं मृतं बुद्ध्वा तत्पुत्राय न्यवेदयत्॥३८॥
पितुः कोशलिका ह्येषा मित्रेण प्रेषिता मम।
तत्तस्यैवान्तिके प्रातः खाते क्षेप्या इमे मया॥३९॥
इत्यात्मना चतुर्थं तं तत्पुत्रोऽपि स तां निशाम्।
संयम्य स्थापयामास तुरुष्को निगडैर्दृढम्॥४०॥
ततोऽत्र बन्धने रात्रौ मरणत्रासकातरान्।
सखीन्निश्चयदत्तस्तान् स जगाद वणिक्सुतान्॥४१॥
का विषादेन वः सिद्धिर्धैर्यमालम्ब्य तिष्ठत।
भीता इव हि धीराणां दूरे यान्ति विपत्तयः॥४२॥
स्मरतैकां भगवतीं दुर्गामापद्विमोचनीम्।
इति तान् धीरयन् भक्त्या देवीं तुष्टाव सोऽथ ताम्॥४३॥
'नमस्तुभ्यं महादेवि पादौ ते यावकाङ्कितौ।
मृदितासुरलग्नास्रपङ्काविव नमाम्यहम्॥४४॥
जितं शक्त्या शिवस्यापि विश्वैश्वर्यकृता त्वया।
त्वदनुप्राणितं चेदं चेष्टते भुवनत्रयम्॥४५॥

और पेड़ के समान खम्भे से निकले हुए उसके पाणि-पल्लव का स्मरण करते हुए सोचने लगा 'कि मैंने उसका हाथ पकड़ने पर भी विवाह नहीं किया, यह बहुत बुरा किया' ॥३१॥

अतः, अब मैं पुष्करावती पुरी में उसी के समीप जाता हूँ। या तो प्राणों का त्याग करूँगा अथवा दैव ही मेरी सहायता करेगा ॥३२॥

ऐसा सोचते हुए उस काम-पीड़ित वैश्य ने उस दिन को किसी प्रकार व्यतीत किया और प्रातःकाल उठते ही उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा ॥३३॥

उस ओर जाते हुए उसे मार्ग में और भी तीन बनिया सहयात्री मिले, जो उत्तरापथ की ओर जा रहे थे ॥३४॥

उनके साथ नगरों, ग्रामों जंगलों और नदियों को पार करके वह म्लेच्छों से भरी हुई उत्तर दिशा में पहुँचा ॥३५॥

वहाँ पर वह उन अन्य यात्रियों के साथ ताजिक (म्लेच्छ) लोगों से पकड़ा जाकर दूसरे ताजिक के हाथ दामों पर बेच दिया गया ॥३६॥

उसने भी उन चारों को खरीद कर नौकर के हाथों, उपहार-स्वरूप मुरवार नामक तुर्क के पास भिजवा दिया ॥३७॥

जब उस ताजिक के नौकर, उन तीनों के साथ निश्चयदत्त को लेकर मुरवार के पास पहुँचे, तब वह (मुरवार) मर चुका था। अतः, उन्हें उसके पुत्र को सौंप दिया गया ॥३८॥

'यह मेरे मित्र ने पिता के लिए उपहार भेजा है, अतः इन्हें कल प्रातः उन्ही के पास कब्र में गाड़ दिया जायेगा'—ऐसा कहकर उस तुर्क के पुत्र ने उन्हें कसकर बाँधा और एक तरफ रख दिया ॥३९-४०॥

तदनन्तर जकड़कर बाँधे गये उन अन्य तीन वैश्य-पुत्रों को मृत्यु के भय से व्याकुल देखकर निश्चयदत्त ने उनसे कहा— ॥४१॥

'शोक और दुःख मनाने से तुम्हारा क्या बनेगा। धीरज धरकर पड़े रहो। धैर्यशाली लोगों की विपत्तियाँ, मानों डरकर दूर भागती हैं ॥४२॥

बस, एकमात्र संकट को दूर करनेवाली जगदम्बा भगवती का स्मरण करो।' इस प्रकार, साथियों को धीरज बंधाकर निश्चयदत्त, भगवती की स्तुति करने लगा— ॥४३॥

'हे महादेवि! तुम्हारे उन चरणों में प्रणाम करता हूँ, जिनमें मारे हुए असुरों का रक्त, अलता (महावर) के समान शोभित होता है ॥४४॥

विश्व का ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली तुमने शिव को भी जीत लिया। ये तीनों लोक तुम्हारी ही जीवित या सक्रिय प्रेरणा हैं' ॥४५॥

परित्रातास्त्वया लोका महिषासुरसूदिनि ।
परित्रायस्व मां भक्तवत्सले शरणागतम्' ॥४६॥
इत्यादि सम्यग्देवीं तां स्तुत्वा सहचरैः सह ।
सोऽथ निश्चयदत्तोऽत्र श्रान्तो निद्रामगाद्द्रुतम् ॥४७॥
उत्तिष्ठत सुता यात विगतं बन्धनं हि वः ।
इत्यादिदेश सा स्वप्ने देवी तं चापरांश्च तान् ॥४८॥
प्रबुध्य च तदा रात्रौ दृष्ट्वा बन्धान् स्वतश्च्युतान् ।
अन्योन्यं स्वप्नमाख्याय हृष्टास्ते निर्ययुस्ततः ॥४९॥
गत्वा दूरमथाध्वानं क्षीणायां निशि तेऽपरे ।
ऊचुर्निश्चयदत्तं तं दृष्टत्रासा वणिक्सुताः ॥५०॥
आस्तां बहुम्लेच्छतया दिगेषा दक्षिणापथम् ।
वयं यामः सखे त्वं तु यथाभिमतमाचर ॥५१॥
इत्युक्तस्तैरनुज्ञाय यथेष्टागमनाय तान् ।
उदीचीमेव तामाशामवलम्ब्य पुनश्च सः ॥५२॥
एको निश्चयदत्तोऽथ प्रतस्थे प्रसभं पथि ।
अनुरागपराप्रेमपाशकृष्टो निरस्तधीः ॥५३॥
क्रमेण गच्छन् मिलितः स महाव्रतिकैः सह ।
चतुर्भिः प्राप्य सरितं वितस्तामुत्ततार सः ॥५४॥
उत्तीर्य च कृताहारः सूर्येऽस्ताचलचुम्बिनि ।
विवेश तैरेव समं वनं मार्गवशागतम् ॥५५॥
तत्र चाग्रागताः केचित्तमूचुः काष्ठभारिकाः ।
क्व गच्छथ दिने याते ग्रामः कोऽप्यस्ति नाग्रतः ॥५६॥
एकस्तु विपिनेऽमुष्मिन्नस्ति शून्यः शिवालयः ।
तत्र तिष्ठति यो रात्रावन्तर्वा बहिरेव वा ॥५७॥
तं शृङ्गोत्पादिनी नाम शृङ्गोत्पादनपूर्वकम् ।
मोहयित्वा पशूकृत्य भक्षयत्येव यक्षिणी ॥५८॥
एतच्छ्रुत्वापि सावज्ञास्ते महाव्रतिनस्तदा ।
ऊचुर्निश्चयदत्तं ते चत्वारः सहयायिनः ॥५९॥
एहि किं कुरुतेऽस्माकं वराकी सात्र यक्षिणी ।
तेषु तेषु श्मशानेषु निशासु हि वयं स्थिताः ॥६०॥

'हे महिषासुरमर्दिनी ! तुमने सारे संसार की रक्षा की है, इसलिए हे भक्तों पर स्नेह करनेवाली ! शरण में आये हुए मेरी रक्षा करें' ॥४६॥

अपने साथियों के साथ इस प्रकार देवी की स्तुति करके वह (वैश्य) भी थकान के कारण सो गया ॥४७॥

'उठो, उठो, जाओ, तुम्हारे बन्धन कट गये।'—इस प्रकार, देवी ने स्वप्न में उन्हें आदेश दिया। जागने पर उठकर उन लोगों ने अपने को बन्धन-मुक्त पाया। वे आपस में स्वप्न की बात करके प्रसन्न हुए ओर वहाँ से चल पड़े। राह में सुबह होने पर अन्य साथियों ने निश्चयदत्त से कहा कि म्लेच्छों से भरी हुई उत्तर दिशा को छोड़ो, दक्षिणापथ ही अच्छा है। अतः, हमलोग उधर ही जाते है। तुझे जो अच्छा लगे, करो ॥४८—५१॥

उनसे इस प्रकार कहे गये निश्चयदत्त ने उन्हें इच्छानुसार जाने के लिए कहकर स्वयं उसी उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा ॥५२॥

अकेला निश्चयदत्त, विवश होकर मार्ग से जा रहा था; क्योंकि अनुरागपरा नामक विद्याधरी के प्रेम से उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो रही थी ॥५३॥

चलते-चलते मार्ग में उसे चार महाव्रती (कापालिक) मिले। उनके साथ वह वितस्ता (झेलम) नदी को पार कर गया ॥५४॥

वितस्ता को पारकर और भोजन करके, सूर्यास्त के समय, वे लोग, मार्ग में आये हुए एक वन में घुसे ॥५५॥

उस वन से आये हुए कुछ लकड़हारे उन्हें पहले मिले और बोले—'आगे कहाँ जा रहे हो, इधर कोई गाँव नही है ॥५६॥

इस सूने जंगल मे सिर्फ एक शिवालय है। उस शिवालय के बाहर या भीतर जो ठहरता है, उसे शृंगोत्पादिनी नाम की यक्षिणी पशु बनाकर, सिर में सींग उत्पन्न करके खा जाती है ॥५७-५८॥

यह सुनकर भी उसकी परवाह न करनेवाले वे चारों कापालिक साथी, निश्चय दत्त से बोले—'आओ जी ! वह बेचारी यक्षिणी हम लोगों का क्या कर सकती है ? हम लोग रात में बड़े-बड़े श्मशानों में रह चुके हैं' ॥५९-६०॥

इत्युक्तवद्भिस्तैः साकं गत्वा प्राप्य शिवालयम् ।
शून्यं निश्चयदत्तस्तां रात्रिं नेतुं विवेश सः ॥६१॥
तत्राङ्गणे विधायाशु भस्मना मण्डलं महत् ।
प्रविश्य चान्तरे तस्य प्रज्वाल्याग्निं सहेन्धनैः ॥६२॥
धीरो निश्चयदत्तः स ते महाव्रतिनस्तथा ।
मन्त्रं जपन्तो रक्षार्थं सर्व एवावतस्थिरे ॥६३॥
अथाययौ वादयन्ती दूरात् कङ्कालकिन्नरीम् ।
नृत्यन्ती यक्षिणी तत्र सा शृङ्गोत्पादिनी निशि ॥६४॥
एत्य तेषु चतुर्ष्वेकं सा महाव्रतिनं प्रति ।
दत्तदृङ्गमन्त्रमपठन्नृत्तं मण्डलाद्बहिः ॥६५॥
तेन मन्त्रेण सञ्जातशृङ्गो मोहित उत्थितः ।
नृत्यंस्तस्मिञ्ज्वलत्यग्नौ स महाव्रतिकोऽपतत् ॥६६॥
पतितं चार्धदग्धं तमाकृष्यैवाग्निमध्यतः ।
सा शृङ्गोत्पादिनी हृष्टा भक्षयामास यक्षिणी ॥६७॥
ततो द्वितीये व्रतिनि न्यस्तदृष्टिस्तथैव सा ।
तं शृङ्गोत्पादनं मन्त्रं पपाठ च ननर्त्त च ॥६८॥
सोऽपि द्वितीयस्तन्मन्त्रजातशृङ्गः प्रनर्त्तितः ।
पतितोऽग्नौ तयाकृष्य पश्यत्स्वन्येष्वभक्ष्यत ॥६९॥
एवं क्रमेण संमोह्य तान् महाव्रतिनो निशि ।
तयाभक्ष्यन्त यक्षिण्या चत्वारोऽपि सशृङ्गकाः ॥७०॥
चतुर्थं भक्षयन्त्या च तया मांसास्रमत्तया[1] ।
स्वयं किन्नरिकातोद्यं दैवाद् भूमौ न्यधीयत ॥७१॥
तावच्च क्षिप्रमुत्थाय तद्गृहीत्वैव वादयन् ।
धीरो निश्चयदत्तोऽपि प्रनृत्यन् विहसन् भ्रमन् ॥७२॥
तं शृङ्गोत्पादनं मन्त्रमसकृच्छ्रुतशिक्षितम् ।
पापठ्यते स्म यक्षिण्यास्तस्या न्यस्तेक्षणो मुखे ॥७३॥
तत्प्रयोगप्रभावेण विवशा मृत्युशङ्किनी ।
उत्थातुकामशृङ्गी सा प्रह्वा तं प्राह यक्षिणी ॥७४॥

---

१. मासं अस्रं = रुधिरं, ताभ्यां मत्तया ।

ऐसा कहते हुए उन साथियों के साथ निश्चयदत्त, उस सूने शिवालय में रात बिताने के लिए घुसा ॥६१॥

उस मन्दिर के आँगन में भस्म से एक बड़ा-सा मण्डल बना कर और उसके भीतर जाकर लकड़ियों से आग जलाकर वे यक्षिणी के भय से मन्त्र जपते हुए बैठ गये ॥६२-६३॥

कुछ समय के अनन्तर दूर से ही नर-कंकाल की वीणा बजाती और नाचती हुई वह शृंगोत्पादिनी यक्षिणी रात में वहाँ आई ॥६४॥

वह आकर उन चारों में से एक-एक के साथ आँखें लड़ाकर नाचती हुई मण्डल के बाहर मन्त्र पढ़ने लगी ॥६५॥

उस मन्त्र के प्रभाव से उन चारों में से एक के सिर पर सींग उग आये और वह नाचता हुआ उस जलती हुई आग में जा गिरा ॥६६॥

आग में गिरकर अधजले उसे आग से खींचकर यक्षिणी ने प्रसन्नता से खा लिया ॥६७॥

तब दूसरे कापालिक के प्रति आँखें गड़ाकर वीणा बजाती हुई यक्षिणी सींग उत्पन्न करने-वाले मन्त्र को पढ़कर नाचने लगी ॥६८॥

वह दूसरा व्रती भी सींग उत्पन्न होने पर उसी प्रकार नाचने लगा और आग में जा गिरा। यक्षिणी दूसरों के देखते-देखते ही उसे भी खींचकर खा गई ॥६९॥

इस प्रकार, उन चारों व्रतियों को मोहित करके उन चारों सींगवालों को उसने खा लिया ॥७०॥

चौथे पुरुष को खाती हुई, मांस और रुधिर खाने से उन्मत्त, यक्षिणी ने अपनी वीणा को दैवयोग से भूमि पर रख दिया ॥७१॥

तब निश्चयदत्त ने जल्दी से उठकर उसकी वीणा उठा ली और नाचते, गाते और घूमते हुए, सुनकर याद किये हुए शृंगोत्पादन-मन्त्र को जपने लगा। और, अपनी आँखें यक्षिणी के मुँह पर टिका दीं ॥७२-७३॥

उस मन्त्र-प्रयोग के प्रभाव से विवश और मृत्यु-मुख में जाती हुई वह यक्षिणी सींगों को निकलते हुए देखकर नम्र होकर बोली—॥७४॥

मा वधीस्त्वं महासत्त्व ! स्त्रियं मां कृपणामिमाम्।
इदानीं शरणं त्वं मे मन्त्रपाठादि संहर ॥७५॥
रक्ष मां वेद्म्यहं सर्वमीप्सितं साधयामि ते।
अनुरागपरा यत्र तत्र त्वां प्रापयाम्यहम् ॥७६॥
इति सप्रत्ययं प्रोक्तस्तया धीरस्तथेति सः।
चक्रे निश्चयदत्तोऽत्र मन्त्रपाठादिसंहृतिम् ॥७७॥
ततः स तस्या यक्षिण्याः स्कन्धमारुह्य तद्गिरा।
नीयमानस्तया व्योम्ना प्रतस्थे तां प्रियां प्रति ॥७८॥
प्रभातायां च रजनौ प्राप्येकं गिरिकाननम्।
नम्रा निश्चयदत्तं तं गुह्यकी सा व्यजिज्ञपत् ॥७९॥
सूर्योदयेऽधुना गन्तुं शक्तिर्नास्ति ममोपरि।
तदस्मिन् कानने कान्ते गमयेदं दिनं प्रभो ॥८०॥
फलानि भुङ्क्ष्व स्वादूनि निर्झराम्भः शुभं पिब।
अहं यामि निजं स्थानमेष्यामि च निशागमे ॥८१॥
नेष्यामि च तदैव त्वामनुरागपरान्तिकम्।
मौलिमालां हिमगिरेर्नगरीं पुष्करावतीम् ॥८२॥
इत्युक्त्वा तदनुज्ञाता स्कन्धात्तत्रावतार्य तम्।
यक्षिणी पुनरागन्तुं सत्यसन्धा जगाम सा ॥८३॥
ततो निश्चयदत्तोऽस्यां गनायामैक्षतात्र सः।
अगाधमन्तः सविषं स्वच्छशीतं बहिः सरः ॥८४॥
रागिन् स्त्रीचित्तमेतादृगित्यर्केण निदर्शनम्।
प्रसारितकरेणेव प्रकटीकृत्य दर्शितम् ॥८५॥
स तद् विषाक्तं गन्धेन बुद्ध्वा मानुषकृत्यतः।
त्यक्त्वाम्भोऽर्थी तृपार्त्तः सन्दिव्ये तत्राभ्रमद् गिरौ ॥८६॥
भ्रमन्नुन्नतभूभागे पद्मरागमणी इव।
स्फुरन्तौ द्वावपश्यच्च भुवं तां निचखान च ॥८७॥
अपास्तमृत्तिकश्चास्य जीवतो मर्कटस्य सः।
शिरो ददर्श ते चास्य पद्मरागाविवाक्षिणी ॥८८॥
ततो विस्मयते यावत्किमेतदिति चिन्तयन्।
तावन्मनुष्यवाचासौ मर्कटस्तमभाषत ॥८९॥

हे महाभाग ! तुम मुझ दीन स्त्री को न मारो। इस समय में मैं तुम्हारी शरण में हूँ।' और, मन्त्रपाठ बन्द कर यक्षिणी ने निश्चयदत्त से फिर इस प्रकार कहा—॥७५॥

'मेरी रक्षा करो। मैं सब जानती हूँ। तुम्हारा अभिप्राय समझती हूँ। अनुरागपरा जहाँ रहती है, वहाँ तुम्हें पहुँचा देती हूँ' ॥७६॥

इस प्रकार, विश्वास के साथ कहने पर निश्चयदत्त ने मन्त्र-पाठ बन्द कर दिया ॥७७॥

तदनन्तर, उस यक्षिणी के कन्धे पर चढ़कर वह निश्चयदत्त, प्रिया अनुरागपरा की ओर चला ॥७८॥

रात बीतने होने पर सवेरे एक पर्वतीय जंगल में पहुँचकर वह विनम्रा यक्षिणी निश्चयदत्त से बोली—'हे महाभाग ! अब सूर्योदय होने पर ऊपर जाने के लिए मेरी शक्ति नहीं है। इसलिए, तुम इसी रमणीय जंगल में दिन बिताओ। मीठे-मीठे फल खाओ। झरनों का सुन्दर-स्वच्छ जल पियो। मैं अपने घर को जाती हूँ। रात होने पर फिर आऊँगी ॥७९—८१॥

उसी समय, तुम्हें हिमालय के शिखर की माला के समान पुष्करावती नगरी में अनुरागपरा के समीप पहुँचा दूँगी।' ऐसा कहकर और निश्चयदत्त को कन्धे से उतारकर उसकी आज्ञा फिर आने के लिए सच्ची प्रतिज्ञा करके वह यक्षिणी चली गई ॥८२-८३॥

उसके चले जाने पर निश्चयदत्त ने वहाँ पर एक अथाह और अन्दर से विषैले एवं बाहर से स्वच्छ तालाब को देखा। 'स्त्रियों का चित्त इसी प्रकार भीतर से विषमय और बाहर से स्वच्छ दीखता है', सूर्य, मानो अपनी करों (किरणों) से निश्चयदत्त को यह कहते हुए तालाब दिखा रहा था ॥८४-८५॥

प्यासा निश्चयदत्त मनुष्य के कृत्य से उस तालाब को जहरीला समझकर पानी के लिए उस दिव्य पर्वत पर इधर-उधर घूमने लगा ॥८६॥

घूमते हुए उसने पहाड़ की ऊँची भूमि में मिट्टी के अन्दर पद्मराग मणि के समान चमकती हुई दो आँखें देखीं। उसके बाद वह उस भूमि को खोदने लगा ॥८७॥

मिट्टी को हटाते ही उसने जीवित बन्दर का सिर देखा। जैसे ही वह उसके लिए सोचने लगा, इतने में ही वह बन्दर मनुष्य की वाणी में बोला—॥८८-८९॥

मानुषो मर्कटीभूतो विप्रोऽहं मां समुद्धर ।
कथयिष्यामि ते साधो स्ववृत्तान्तं ततोऽखिलम् ॥९०॥
एतच्छ्रुत्वैव साश्चर्यो मृत्तिकामपनीय सः ।
भूमेर्निश्चयदत्तस्तमुज्जहाराथ मर्कटम् ॥९१॥
उद्धृतः पादपतितस्तं भूयोऽपि स मर्कटः ।
उवाच दत्ताः प्राणा मे कृच्छ्रादुद्धरता त्वया ॥९२॥
तदेहि यावच्छ्रान्तस्त्वमुपयुङक्ष्व फलाम्बुनी ।
त्वत्प्रसादादहं चापि करिष्ये पारणं चिरात् ॥९३॥
इत्युक्त्वा तमनैषीत्स दूरं गिरिनदीतटम् ।
कपिः स्वाधीनसुस्वादुफलसच्छायपादपम् ॥९४॥
तत्र स्नात्वोपभुक्ताम्बुफलः स कृतपारणम् ।
कपिं निश्चयदत्तस्तं प्रत्यागत्य ततोऽब्रवीत् ॥९५॥
कथं त्वं मर्कटीभूतो मानुषोऽप्युच्यतामिति ।
ततः स मर्कटोऽवादीच्छृणिवदानीं वदाम्यदः ॥९६॥

वानररूपिणः सोमस्वामिब्राह्मणस्य कथा

चन्द्रस्वामीति नाम्नास्ति वाराणस्यां द्विजोत्तमः ।
तस्य पत्न्यां सुवृत्तायां जातोऽस्म्येष सुतः सखे ॥९७॥
सोमस्वामीति पित्रा च कृतनामा क्रमादहम् ।
आरूढो मदनव्यालगजं मर्दनिरङ्कुशम् ॥९८॥
तं मां कदाचिदद्राक्षीद्वाराद्वातायनाग्रगा ।
श्रीगर्भाख्यस्य वणिजस्तत्पुरीवासिनः सुता ॥९९॥
तरुणी बन्धुदत्ताख्या माथुरस्य वणिक्पतेः ।
भार्या वराहदत्तस्य पितुर्वेश्मन्यवस्थिता ॥१००॥
सा मदालोकसञ्जातमन्मथान्विष्य नाम मे ।
वयस्यां प्राहिणोदाप्तां मह्यं मत्सङ्गमार्थिनी ॥१०१॥
सा तद्वयस्या कामान्धामुपगम्य जनान्तिकम् ।
आख्याततदभिप्राया मामनैषीन्निजं गृहम् ॥१०२॥
तत्र मां स्थापयित्वा च गत्वा गुप्तं तदैव सा ।
तां बन्धुदत्तामानैषीदौत्सुक्यागणितत्रपाम्[1] ॥१०३॥

---

१. औत्सुक्येनकामावेशतया न गणिता त्रपा यया सा ।

'हे सज्जन ! मैं मनुष्य हूँ। बन्दर बनाया गया ब्राह्मण हूँ। मुझे निकालो। तब मैं अपना सारा वृत्तान्त तुमसे कहूँगा' ॥९०॥

यह सुनकर आश्चर्य-चकित निश्चयदत्त ने भली भाँति भूमि खोदकर उसे बाहर निकाला ॥९१॥

भूमि से निकला हुआ बन्दर उसके पैरों पर गिरकर फिर बोला—'तुमने कष्ट से मुझे बचाते हुए मेरे प्राण दिये। तुम भी मेरे साथ थक गये हो। फल और जल ग्रहण करो। तुम्हारी कृपा से मैं भी चिरकाल के बाद आज पारण करूँगा' ॥९२-९३॥

ऐसा कहकर बन्दर उसे वहाँ से दूर एक पहाड़ी नदी के किनारे ले गया, जहाँ स्वतन्त्र एवं स्वादिष्ठ फल और छायावाला एक वृक्ष था ॥९४॥

वहाँ स्नान करके मीठे फल खाया हुआ निश्चयदत्त, जलपान किये हुए बन्दर के पास आकर बोला—॥९५॥

'तू मनुष्य होकर भी बन्दर कैसे बना।' तब बन्दर बोला कि सुनो, अब मैं यह कहता हूँ ॥९६॥

बन्दर बने सोमस्वामी की कथा

मित्र ! वाराणसी नगरी में चन्द्रस्वामी नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी पतिव्रता स्त्री से उत्पन्न यह मैं उसका पुत्र हूँ ॥९७॥

मेरे पिता ने मेरा नाम सोमस्वामी रखा था। क्रमशः बड़ा होते-होते मैं मदोन्मत्त काम-रूपी जंगली हाथी पर चढ़कर जवान हो गया ॥९८॥

किसी समय वाराणसी-निवासी श्रीगर्भ नाम के वैश्य की कन्या ने घर की खिड़की से दूर से आते हुए मुझे देखा ॥९९॥

वह युवती, मथुरा के प्रधान वैश्य वराहदत्त की पत्नी थी, जो उस समय अपने पिता के घर में रह रही थी ॥१००॥

मुझे देखने से उत्पन्न काम से विह्वल होकर उस वैश्य-कन्या ने मेरे संगम के लिए अपनी विश्वस्त दूती को भेजा ॥१०१॥

उसकी सहेली, उसे कामान्ध जानकर, एकान्त में उसके मन की बात मुझसे कहकर मुझे अपने घर ले गई ॥१०२॥

मुझे अपने घर में ठहराकर वह सखी, गुप्त रूप से बन्धुदत्ता के पास गई और काम की उत्सुकता से लज्जा को छोड़ी हुई उसे वहाँ ले आई ॥१०३॥

आनीतैव च सा मेऽत्र कण्ठाश्लेषमुपागमत्।
एकवीरो हि नारीणामतिभूमिं गतः स्मरः ॥१०४॥
एवं दिने दिने स्वैरमागत्यात्र पितुर्गृहात्।
अरंस्त बन्धुदत्ता सा मया सह सखीगृहे ॥१०५॥
एकदा तां निजगृहं नेतुं तत्र चिरस्थिताम्।
आगतः स पतिस्तस्या मथुरातो महावणिक् ॥१०६॥
ततः पित्राभ्यनुज्ञाता पत्या तेन निनीषिता।
रहस्यज्ञां द्वितीयां सा बन्धुदत्ताब्रवीत् सखीम् ॥१०७॥
निश्चितं सखि नेतव्या भर्त्राहं मथुरां पुरीम्।
न च जीवाम्यहं तत्र सोमस्वामिविनाकृता ॥१०८॥
तदत्र कोऽभ्युपायो मे कथयेत्युदिता तया।
सखी सुखशया नाम योगिनी तां जगाद सा ॥१०९॥
द्वौ स्तो मन्त्रप्रयोगौ मे ययोरेकेन सूत्रके।
कण्ठबद्धे झगित्येव मानुषो मर्कटो भवेत् ॥११०॥
द्वितीयेन च मुक्तेऽस्मिन्सूत्रके सैष मानुषः।
पुनर्भवेत्कपित्वे च नास्य प्रज्ञा विलुप्यते ॥१११॥
तद्यदीच्छति सुश्रोणि सोमस्वामी प्रियः स ते।
तदेतं मर्कटशिशु सम्प्रत्येव करोम्यहम् ॥११२॥
ततः क्रीडानिभादेतं गृहीत्वा मथुरां व्रज।
मन्त्रयुक्तिद्वयं चैतद् भवती शिक्षयाम्यहम् ॥११३॥
संविधास्यसि येनैनं पार्श्वस्थं मर्कटाकृतिम्।
रहःस्थाने च पुरुषं प्रियं सम्पादयिष्यसि ॥११४॥
एवमुक्ता तया सख्या बन्धुदत्ता तथैव सा।
रहस्यानाय्य सस्नेहं तदर्थं मामबोधयत् ॥११५॥
कृतानुज्ञं च मां बद्धमन्त्रसूत्रं गले क्षणात्।
तत्सखी सा सुखशया व्यधान्मर्कटपोतकम् ॥११६॥
तद्रूपेण स्वभर्त्रे सा बन्धुदत्तोपनीय माम्।
सख्या मह्यं विनोदाय दत्तोऽसावित्यदर्शयत् ॥११७॥
अतुष्यत् स च मां दृष्ट्वा क्रीडनीयं तदङ्कगम्।
अहं च कपिरेवासं प्राज्ञोऽपि व्यक्तवागपि ॥११८॥

वहाँ आते ही वह मेरे गले से चिपट गई। स्त्रियों का उग्र रूप से चढ़ा हुआ काम, एकमात्र वीर होता है ॥१०४॥

इस प्रकार, वह बन्धुदत्ता, प्रतिदिन पिता के घर से सखी के घर आकर मेरे साथ क्रीड़ा करती रही ॥१०५॥

एक बार उसका पति बहुत दिनों से पिता के घर रही हुई उसे अपने साथ ले जाने के लिए मथुरा से आया। तदनन्तर पिता की आज्ञा से ले जाने के लिए उत्सुक पति को जानकर बन्धुदत्ता, अपने रहस्य को जाननेवाली सखी से बोली—॥१०६-१०७॥

'मेरा पति, मुझे अवश्य ही मथुरा ले जायगा और मैं सोमस्वामी के विना जी नहीं सकती ॥१०८॥

इस विषय में अब कौन-सा उपाय किया जाय, यह बताओ।' इस प्रकार कही गई बन्धुदत्ता की सुखशया नाम की योगिनी सखी बोली ॥१०९॥

'मेरे पास दो मन्त्र हैं। एक मन्त्र से गले में डोरा बाँधने से मनुष्य तुरन्त बन्दर बन जाता है ॥११०॥

और, दूसरे मन्त्र से डोरा खोल देने पर फिर वह मनुष्य बन जाता है। बन्दर बन जाने पर या पुनः मनुष्य बन जाने पर उसका ज्ञान नष्ट नहीं होता ॥१११॥

अतः, हे सुन्दरी ! यदि तू चाहती है, तो तेरे प्यारे सोमस्वामी को मैं अभी बन्दर का बच्चा बना देती हूँ। तू इसे खिलौना बनाकर साथ लेकर मथुरा चली जा। मैं दोनों मन्त्र और उसकी युक्ति तुझे बता देती हूँ। इससे तुम एकान्त में इसे प्रिय पुरुष बनाकर इच्छानुसार संगम कर सकोगी' ॥११२—११४॥

उस सखी से इस प्रकार कही गई बन्धुदत्ता ने मुझे बुलवाकर यह योजना प्रेमपूर्वक समझाई ॥११५॥

मेरी सम्मति पाने पर उसकी सखी सुखशया ने मुझे मन्त्रित करके, गले में डोरा बाँधकर तुरन्त बन्दर बना दिया ॥११६॥

मुझे बन्दर के रूप में ले जाकर बन्धुदत्ता अपने पति से बोली कि मेरी सखी ने मुझे मन-बहलाव के लिए यह बन्दर दिया है ॥११७॥

उसकी गोद में बैठे हुए उस खिलौने को देखकर उसका पति प्रसन्न हुआ। मैं सब समझता हुआ और स्पष्ट बोलता हुआ भी बन्दर ही रहा ॥११८॥

अहो स्त्रीचरितं चित्रमित्यन्तश्च हसन्नपि।
तथातिष्ठमहं को हि कामेन न विडम्ब्यते ॥११९॥
सख्या शिक्षिततन्मन्त्रा बन्धुदत्ता ह्ययथापरे।
मथुरां प्रति सा प्रायाद् भर्त्रा सह पितुर्गृहात् ॥१२०॥
मां चाप्येकस्य भृत्यस्य स्कन्धमारोपयत्तदा।
स भर्त्ता बन्धुदत्तायाः पथि तत्प्रियकाम्यया ॥१२१॥
ततो वयं ते सर्वेऽपि यान्तो मध्ये पथि स्थितम्।
दिनैर्द्वित्रैर्वनं प्राप्ता बहुमर्कटभीषणम् ॥१२२॥
ततोऽभ्यधावन् दृष्ट्वा मां मर्कटा गणशोऽभितः।
क्षिप्तं किलकिलारावैराह्वयन्तः परस्परम् ॥१२३॥
आगत्य खादितुं ते च प्रारभन्त प्लवङ्गमाः।
दुर्वारास्तं वणिग्भृत्यं यस्य स्कन्धेऽहमासितः ॥१२४॥
स तेन विह्वलः स्कन्धात्त्यक्त्वैव भुवि मां भयात्।
पलायितोऽभूदथ मामगृह्णंस्तेऽत्र मर्कटाः ॥१२५॥
मत्स्नेहाद् बन्धुदत्ता च तद्भर्त्ता तस्य चानुगाः।
पाषाणैर्लगुडैर्घ्नन्तो जेतुं तान्नाशकन्कपीन् ॥१२६॥
ततस्ते मर्कटा मूढस्याङ्गेऽङ्गे लोम लोम मे।
नखैर्व्यलुम्पन्दन्तैश्च कुकर्मकुपिता इव ॥१२७॥
कण्ठसूत्रस्य माहात्म्याच्छम्भोश्च स्मरणात्ततः।
अहं लब्धबलस्तेभ्यो बन्धमुन्मृच्य विद्रुतः ॥१२८॥
प्रविश्य गहने तेषां व्यतीतो दृष्टिगोचरात्।
क्रमाद्वनाद्वनं गच्छन्निदं प्राप्तोऽस्मि काननम् ॥१२९॥
भ्रष्टस्य बन्धुदत्ताया जन्मन्यत्रैव ते कथम्।
मर्कटत्वफलो जातः परदारसमागमः ॥१३०॥
इति दुःखतमोऽन्धस्य भ्रमतः प्रावृषीह मे।
दुःखान्तरमपि प्रत्तमसन्तुष्टेन वेधसा ॥१३१॥
यन्मामकस्मादागत्य कराक्रान्तं करेणुका।
मेघाम्भःप्लुतवल्मीककर्दमान्तर्न्यवेशयत् ॥१३२॥
भवितव्यानियुक्ता च जाने सा कापि देवता।
यद्यत्नान्नाशकं तस्मात् पङ्काच्चलितुमप्यलम् ॥१३३॥

और, मन में स्त्री-चरित्र को सोचकर हँसता तथा आश्चर्य करता रहा ॥११९॥

दूसरे दिन सहेली से मन्त्र सीखकर बन्धुदत्ता, पति के साथ पिता के घर से मथुरा को चली ॥१२०॥

उसके पति ने बन्धुदत्ता की प्रसन्नता के लिए मुझे भी एक नौकर के कन्धे पर बिठाकर साथ ले लिया ॥१२१॥

इस प्रकार, मार्ग में जाते हुए हम सब लोग दो-तीन दिनों में बहुत-से बन्दरों से भरे हुए जंगल में जा पहुँचे ॥१२२॥

मुझे देखकर वे जंगली बन्दर झुण्ड बनाकर चारों ओर से घेरकर मुझ पर टूट पड़े। जिस नौकर के कन्धे पर मैं था, उसे उन्होंने घेर लिया ॥१२३॥

बन्दरों के आक्रमण से व्याकुल वह नौकर भय से मुझे जमीन पर छोड़कर भाग गया। पर, वानरों ने मुझे पकड़ लिया। मेरे प्रेम से बन्धुदत्ता और उसके पति ने लाठियों और ढेलों से बन्दरों को भगाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वे उनपर विजय न पा सके ॥१२४—१२६॥

मुझे पकड़कर उन बन्दरों ने मानो मेरे कुकर्मों पर क्रुद्ध होकर मेरे अंग-अंग और रोम-रोम को नोच डाला। गले में पड़े हुए डोरे और शिवजी की कृपा से मैं कुछ बल पाकर उनसे छूटकर भाग गया ॥१२७-१२८॥

उनकी दृष्टि से ओझल होकर मैं घने जंगल में पहुँच गया और जंगल से जंगल होता हुआ क्रमशः इस वन में पहुँच गया ॥१२९॥

बन्धुदत्ता से छूटे हुए मुझे इस जन्म में ही परदार-समागम का फल बन्दरपन मिला ॥१३०॥

इस प्रकार, दुःख के तम से अन्धे हुए और वर्षाकाल में घूमते हुए मुझे असन्तुष्ट दैव ने एक दूसरा दुःख भी दे दिया ॥१३१॥

एक बार बैठे हुए मुझे सहसा एक हथिनी ने आकर सूँड़ से लपेट लिया और वर्षा से (भींगी बाँबी जंगल में दीमकों के रहने का स्थान मृत्तिका-स्तूप) के अन्दर घुसा दिया ॥१३२॥

मेरे भवितव्य के कारण न जाने वह हथिनी कोई देवता बनकर आई थी कि मेरे लाख यत्न करने पर भी मैं उस कीचड़ से जकड़ा हुआ हिल भी नहीं सका ॥१३३॥

आश्वास्यमाने चैतस्मिन् न मृतोऽस्मि न केवलम् ।
यावज्ज्ञानं ममोत्पन्नमनिशं ध्यायतो हरम् ॥१३४॥
तावत्कालं च नैवासीत् क्षुत्तृष्णा च सखे मम ।
यावदद्योद्धृतः शुष्कपङ्ककूटादहं त्वया ॥१३५॥
ज्ञाने प्राप्तेऽपि शक्तिर्मे तावती नैव विद्यते ।
मोचयेयं ययात्मानमितो मर्कटभावतः ॥१३६॥
कण्ठसूत्रं यदा कापि तन्मन्त्रेणैव मोक्ष्यति ।
योगिनी मे तदा भूयो भवितास्मीह मानुषः ॥१३७॥
इत्येष मम वृत्तान्तस्त्वं त्वगम्यमिदं वनम् ।
किमागतः कथं चेति ब्रूहीदानीं वयस्य मे ॥१३८॥
एवं मर्कटरूपेण सोमस्वामिद्विजेन सः ।
उक्तो निश्चयदत्तः स्वं तस्मै वृत्तान्तमब्रवीत् ॥१३९॥
यथा विद्याधरीहेतोरुज्जयिन्याः समागतः ।
आनीतो धैर्यजितया यक्षिण्या च तया निशि ॥१४०॥
ततः श्रुततदाश्चर्यवृत्तान्तः कपिरूपधृत् ।
धीमान्निश्चयदत्तं तं सोमस्वामी जगाद सः ॥१४१॥
अनुभूतं त्वया दुःखं मयैव स्त्रीकृते महत् ।
न च श्रियः स्त्रियश्चेह कदाचित्कस्यचित् स्थिराः ॥१४२॥
सन्ध्यावत्क्षणरागिण्यो नदीवत्कुटिलाशयाः ।
भुजगीवदविश्वास्या विद्युद्वच्चपलाः स्त्रियः ॥१४३॥
तत्सा विद्याधरी रक्ताप्यनुरागपरा क्षणात् ।
प्राप्य कञ्चित् स्वजातीयं विरज्येत् त्वयि मानुषे ॥१४४॥
तदलं स्त्रीनिमित्तेन प्रयासेनामुनाधुना ।
किम्पाकफलतुल्येन विपाकविरसेन ते ॥१४५॥
मा गा विद्याधरपुरीं तां सखे पुष्करावतीम् ।
यक्षिणीस्कन्धमारुह्य तामेवोज्जयिनीं व्रज ॥१४६॥
कुरु मद्वचनं मित्र पूर्वं मित्रवचो मया ।
न कृतं रागिणा तेन परितप्येऽधुनाप्यहम् ॥१४७॥
बन्धुदत्तानुरक्तं हि सुस्निग्धो ब्राह्मणस्तदा ।
वारयन् भवशर्माख्यः सुहृन्मामेवमब्रवीत् ॥१४८॥

हृदय को अनेक प्रकार से आश्वासन देने पर और भगवान् का ध्यान करने के कारण मैं मरा नहीं ॥१३४॥

जबतक तुमने मुझे उस मिट्टी के ढेर से नहीं निकाला, तबतक मुझे भूख और प्यास नहीं लगी ॥१३५॥

ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी मुझ में अभी तक ऐसी शक्ति नहीं आई कि मैं उस वानर-योनि से छुटकारा पाऊँ ॥१३६॥

जब कोई योगिनी उसके मन्त्र द्वारा मेरे गले के डोरे को खोलेगी, तभी मैं मनुष्य बन जाऊँगा ॥१३७॥

यही मेरी कहानी है। मित्र ! अब तू बता कि इस अगम्य वन में कैसे आया ? ॥१३८॥

इस प्रकार, वानर-रूपी सोमस्वामी नामक ब्राह्मण से कहा गया निश्चयदत्त, उसके लिए अपना वृत्तान्त कहने लगा—॥१३९॥

कि कैसे वह विद्याधरी अनुरागपरा के कारण उज्जैन से वहाँ तक चला आया। और धैर्य से जीती हुई—वश की हुई—यक्षिणी के द्वारा रात में कैसे यहाँ पहुँचाया गया—इत्यादि सब वृत्तान्त उसने बन्दर से कहा ॥१४०॥

उसके आश्चर्य-भरे समाचार को सुनकर बन्दर बना हुआ बुद्धिमान् सोमस्वामी उससे बोला—॥१४१॥

'तुमने भी मेरे ही समान स्त्री के पीछे कष्ट माँगा है, किन्तु याद रखो, किसी की स्त्री और श्री (लक्ष्मी) कभी स्थिर नहीं रही। सन्ध्या के समान क्षणिक राग (प्रेम) वाली होती है। नदी के समान इनका हृदय कुटिल (ऊँचा-नीचा) रहता है और नागिन की तरह ये अविश्वसनीय तथा बिजली की तरह चंचल होती हैं ॥१४२-१४३॥

इसलिए, वह अनुरागपरा विद्याधरी, तुम्हारे ऊपर आसक्त होकर भी किसी विद्याधर-जाति के कामी को पाकर तुम मनुष्य से विरक्त हो जायगी ॥१४४॥

इसलिए, तुम स्त्री के लिए यह परिणाम-नीरस व्यर्थ प्रयत्न मत करो। हे मित्र ! तुम विद्याधरों की पुष्करावती नगरी में न जाओ। यक्षिणी के कन्धे पर चढ़कर अपनी उज्जयिनी नगरी लौट जाओ ॥१४५॥४६॥

हे मित्र ! मेरी बात मानो। मैंने भी पहले अपने मित्र की बात नहीं मानी, इसीलिए अब पश्चात्ताप कर रहा हूँ ॥१४७॥

जब मैं बन्धुदत्ता में अनुरक्त था, तब मेरे एक परम स्नेही ब्राह्मण भवशर्मा ने मुझे इसी प्रकार रोका और कहा था—॥१४८॥

स्त्रियाः सखे वशं मा गाः स्त्रीचित्तं ह्यतिदुर्गमम्।
तथा च मम यद्वृत्तं तदिदं वच्मि ते शृणु ॥१४९॥
वाराणस्यामिहैवासीत्तरुणी रूपशालिनी।
ब्राह्मणी सोमदा नाम चपला गुप्तयोगिनी ॥१५०॥
तया च सह मे दैवात् समभूत्सङ्गमो रहः।
तत्सङ्गमक्रमात्तस्यां मम प्रीतिरवर्धत ॥१५१॥
एकदा तामहं स्वैरमीर्ष्याकोपादताडयम् ।
तच्चासहिष्ट सा क्रूरा कोपं प्रच्छाद्य तत्क्षणम् ॥१५२॥
अन्येद्युः प्रणयक्रीडाव्याजाच्च मम सूत्रकम्।
गले बध्नादहं दान्तस्तत्क्षणं बलदोऽभवम् ॥१५३॥
ततोऽहं बलदीभूतस्तया दान्तोष्ट्रजीविनः।
एकस्य पुंसो विक्रीतो गृहीताभीष्टमूल्यया ॥१५४॥
तेनारोपितभारं मां क्लिश्यमानमवेक्षन।
बन्धमोचनिका नाम योगिन्यत्र कृपान्विता ॥१५५॥
सा ज्ञानतः सोमदया विदित्वा मां . पशूकृतम्।
मुमोच कण्ठात् सूत्रं मे मद्गोस्वामिन्यपश्यति ॥१५६॥
ततोऽहं मानुषीभूतः स च क्षिप्राद्विलोकयन्।
पलायितं मां मन्वानो मत्स्वामी प्राभ्रमद्दिशः ॥१५७॥
अहं च बन्धमोचिन्या तया सह ततो व्रजन्।
दैवादागतया दूराद्दृष्टः सोमदया तया ॥१५८॥
सा क्रोधेन ज्वलन्ती तां ज्ञानिनीं बन्धमोचिनीम्।
अवादीत्किमयं पापस्तिर्यक्त्वान्मोचितस्त्वया ॥१५९॥
धिक्प्राप्स्यसि दुराचारे फलमस्य कुकर्मणः।
प्रातस्त्वां निहनिष्यामि सहितां पाप्मनामुना ॥१६०॥
इत्युक्त्वैव गतायां च तस्यां सा सिद्धयोगिनी।
तत्प्रतीघातहेतोर्मामवोचद्बन्धमोचिनी ॥१६१॥
हन्तुं मां कृष्णतुरगीरूपेणैपाभ्युपैष्यति।
मया च शोणवडवारूपमत्राश्रयिष्यते ॥१६२॥
ततो युद्धे प्रवृत्ते नौ पृष्ठतः खड्गपाणिना।
सोमदायां प्रहर्त्तव्यं त्वयास्याममप्रमादिना ॥१६३॥

'मित्र ! स्त्री के वश मत हो। स्त्रियोंका हृदय अत्यन्त दुर्गम होता है। मेरे साथ जो बीती है, उसे कहता हूँ, सुनो' ॥१४९॥

इसी वाराणसी नगरीमें युवती, सुन्दरी, चंचल और गुप्तयोगिनी सोमदा नामकी ब्राह्मणी रहती थी ॥१५०॥

दैव-योग से मेरे साथ उसका एकान्त समागम हो गया। उसी क्रम से मेरा उसका प्रेम बढ़ा ॥१५१॥

एक बार ईर्ष्या से क्रोध करके मैंने उसे मारा। उस दुष्टा ने क्रोध को छिपाकर उस समय उसे सहन कर लिया ॥१५२॥

दूसरे दिन उसने प्रेम-क्रीडा के बहाने मेरे गले में सूत बाँध दिया और उसी समय मैं बधिया बैल बन गया ॥१५३॥

बैल बने हुए उसने मुझे, बधिया ऊँटों का व्यापार करनेवाले एक व्यापारी के हाथ इच्छित मूल्य लेकर बेच दिया ॥१५४॥

बोझ लदे हुए और तंग होते हुए मुझे देखकर बन्धमोचनिका नाम की योगिनी को दया आ गई ॥१५५॥

उसने अपनी विद्या के प्रभाव से मुझे सोमदा द्वारा पशु बनवाया हुआ समझकर मेरे मालिक की अनुपस्थिति में मेरे गले का डोरा खोल दिया ॥१५६॥

तब मैं मनुष्य हो गया। मेरा मालिक मुझे (बैल को) भागा हुआ जानकर चारों ओर ढूंढता हुआ घूमने लगा ॥१५७॥

मुझे बन्धमोचनिका के साथ घूमते हुए दैवयोग से उस सोमदा ने दूर से देख लिया ॥१५८॥

क्रोध से जलती हुई सोमदा ने मोचनिका योगिनी से कहा कि तूने इस पापी को पशु-योनि से क्यों मुक्त कर दिया ? तुझे धिक्कार है ! इस कुकर्म का फल तुझे कल प्रातःकाल मारकर चखाऊँगी ॥१५९-१६०॥

ऐसा कहकर सोमदा के चले जाने पर वह सिद्ध योगिनी बन्धमोचनिका मुझसे बोली— 'यह सोमदा काली घोड़ी का रूप धारण करके मुझे मारने के लिए आयेगी और मैं उस समय लाल घोड़ी के रूप में रहूँगी ॥१६१-१६२॥

हम दोनों का युद्ध प्रारम्भ होने पर तुम तलवार लिये हुए पीछे रहकर सावधानी से सोमदा पर प्रहार करना ॥१६३॥

एवमेतां हनिष्यावस्तत्प्रातस्त्वं गृहे मम।
आगच्छेरित्युदित्वा सा गृहं मे स्वमदर्शयत् ॥१६४॥
तत्र तस्यां प्रविष्टायामहं निजगृहानगाम्।
अनुभूताद्भुतानेकजन्मामुत्रैव जन्मनि ॥१६५॥
प्रातः कृपाणपाणिश्च गतवानस्मि तद्गृहम्।
अथागात् सोमदा सात्र कृष्णाश्वारूपधारिणी ॥१६६॥
सापि शोणहयारूपमकरोद् बन्धमोचिनी।
खुरदन्तप्रहारैश्च ततो युद्धमभूत्तयोः ॥१६७॥
मया प्रदत्तनिस्त्रिंशप्रहारा क्षुद्रशाकिनी।
निहता बन्धमोचिन्या तया सा सोमदा ततः ॥१६८॥
अथाहं निर्भयीभूतस्तीर्णतिर्यक्त्वदुर्गतिः।
न कुस्त्रीसङ्गमं भूयो मनसा समचिन्तयम् ॥१६९॥
चापलं साहसिकता शाकिनीशम्बरादयः।
दोषाः स्त्रीणां त्रयः प्रायो लोकत्रयभयावहाः ॥१७०॥
तच्छाकिनीसखीं बन्धुदत्तां किमनुधावसि।
स्नेहो यस्या न पत्यौ स्वे तस्यास्तु त्वय्यसौ कुतः ॥१७१॥
एवमुक्तोऽप्यहं तेन मित्रेण भवशर्मणा।
नाकार्षं वचनं तस्य प्राप्तोऽस्मीमां गतिं ततः ॥१७२॥
अतस्त्वां वच्मि मा कार्षीरनुरागपरां प्रति।
क्लेशं सा हि स्वजातीये प्राप्ते त्वां त्यक्ष्यति ध्रुवम् ॥१७३॥
भृङ्गीव पुष्पं पुरुषं स्त्री वाञ्छति नवं नवम्।
अतोऽनुतापो भविता ममेव भवतः स्वके ॥१७४॥
इत्येतत्कपिरूपस्थसोमस्वामिवचो हृदि।
तस्य निश्चयदत्तस्य नाविशद्रागनिर्भरे ॥१७५॥
उवाच स कपिं तं हि न मा व्यभिचरेन्मयि।
विद्याधराधिपकुले शुद्धे जाता ह्यसाविति ॥१७६॥
एवं तयोरालपतोः सन्ध्यारक्तोऽस्तभूधरम्।
ययौ निश्चयदत्तस्य प्रियेच्छुरिव भास्करः ॥१७७॥
अथागतायां रजनावग्रदूत्यामिवाययौ।
सा शृङ्गोत्पादिनी तस्य निकटं तत्र यक्षिणी ॥१७८॥

इस प्रकार, हम दोनों इसे प्रातःकाल मार डालेंगे। तुम सवेरे ही मेरे घर पर आ जाना।' ऐसा कहकर उसने उसे अपना घर दिखा दिया। उसके घर चले जाने पर मैं अपने घर लौट आया। मैं इसी जन्म में अनेक अद्भुत जन्मों का अनुभव कर चुका था ॥१६४-१६५॥

सवेरे ही तलवार हाथ में लेकर बन्धमोचनिका के घर गया और सोमदा काली घोड़ी के रूप में वहाँ आई ॥१६६॥

उस बन्धमोचनिका ने भी लाल घोड़ी का रूप धारण किया और खुरों एवं दाँतों के प्रहार से उन दोनों का युद्ध प्रारम्भ हुआ। अवसर पाकर मेरे द्वारा प्रहार करने पर वह नीच डाइन (सोमदा) बन्धमोचनिका से मार दी गई ॥१६७-१६८॥

तदनन्तर पशुता की दुर्दशा से छूटे हुए मैंने यह निश्चय किया कि अब मन से भी परस्त्री का संगम न करूँगा ॥१६९॥

चंचलता, साहस और डायनपन—स्त्रियों के ये तीन दोष, तीनो लोकों को भय देनेवाले हैं। इसलिए, डायन की सहेली बन्धुदत्ता का पीछा क्यों कर रहे हो, जिसका अपने पति के प्रति प्रेम नहीं है, वह तुमसे क्या स्नेह करेगी ?' ॥१७०-१७१॥

मित्र भवशर्मा से इस प्रकार कहे जाने पर भी मैंने उसकी बात नहीं मानी, उसीसे इस गति को पहुँचा हूँ ॥१७२॥

इसीलिए, तुमसे भी कहता हूँ कि तुम भी अनुरागपरा से प्रेम न करो। वह किसी स्वजातीय विद्याधर के मिलने पर तुम्हें छोड़ देगी ॥१७३॥

जैसे मधुकरी नये-नये फूलों को चाहती है, उसी प्रकार स्त्री नये-नये यार को चाहती है। अतः, हे मित्र ! तुम्हें भी मेरे ही समान पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥१७४॥

सोमस्वामी के प्रेम से भरे ये वचन निश्चयदत्त के हृदय में स्थान न पा सके ॥१७५॥

वह बोला—'अनुरागपरा मेरे साथ कभी धोखा न करेगी, वह विशुद्ध विद्याधरी-वंश में जन्मी है' ॥१७६॥

इस प्रकार, उनदोनों के वार्त्तालाप करते-करते सूर्य मानों निश्चयदत्त का प्रिय कार्य करने के लिए अस्ताचल को चल पड़ा। तदनन्तर रात आने पर अग्रदूती के समान वह शृंगोत्पादिनी यक्षिणी उसके समीप आई ॥१७७-१७८॥

ययौ निश्चयदत्तस्तत्स्कन्धारूढः प्रियां प्रति।
प्रयातुमापृच्छ्य कपिं स्मर्त्तव्योऽस्मीति वादिनम् ॥१७९॥
निशीथे च हिमाद्रौ तामनुरागपरा पितुः।
पुरीं विद्याधरपतेः प्राप्तवान् पुष्करावतीम् ॥१८०॥
तावत्प्रभावतो बुद्ध्वा तदभ्यागमनाय सा।
ततो नगर्या निरगादनुरागपरा बहिः ॥१८१॥
इयमायाति ते कान्ता निशि नेत्रोत्सवप्रदा।
इन्दुमूर्त्तिर्द्वितीयेव तदिदानीं व्रजाम्यहम् ॥१८२॥
इत्युक्त्वा दर्शयित्वा तामंसाग्रादवतारितम्।
नत्वा निश्चयदत्तं तमथ सा यक्षिणी ययौ ॥१८३॥
ततः सापि चिरौत्सुक्यसंरम्भालिङ्गनादिभिः।
उपगम्याभ्यनन्दत्तमनुरागपरा प्रियम् ॥१८४॥
सोऽप्याश्लिष्य बहुक्लेशलब्धतत्सङ्गमोत्सवः।
अवर्त्तमानः स्वे देहे तनुं तस्या इवाविशत् ॥१८५॥
तेन गान्धर्वविधिना भार्या भूत्वाथ तस्य सा।
अनुरागपरा सद्यो विद्यया निर्ममे पुरम् ॥१८६॥
तस्मिन्निश्चयदत्तोऽसो बाह्ये तस्थौ तया सह।
तद्विद्याच्छन्नदृष्टिभ्यां तत्पितृभ्यामनर्कितः ॥१८७॥
पृष्टस्तांस्तादृशांस्तस्यै मार्गक्लेशाञ्शशंस यत्।
तेन सा बहु मेने तं भोगैश्चेष्टैरुपाचरत् ॥१८८॥
अथ तन्मर्कटीभूतसोमस्वामिकथाद्भुतम्।
सोऽत्र निश्चयदत्तोऽस्यै विद्याधर्यै न्यवेदयत् ॥१८९॥
जगाद चैतन्मित्रं मे त्वत्प्रयत्नेन केनचित्।
निर्यक्त्वाद्यदि मुच्येत तत्प्रिये सुकृतं भवेत् ॥१९०॥
इत्युक्ता तेन सावोचदनुरागपरापि तम्।
योगिन्या मन्त्रमार्गोऽयं नास्माकं विषयः पुनः ॥१९१॥
तथापि साधयिष्यामि प्रियमेतदहं तव।
अभ्यर्थ्य भद्ररूपाख्यां वयस्यां सिद्धयोगिनीम् ॥१९२॥
तच्छ्रुत्वा स वणिक्पुत्रो हृष्टस्तामवदत् प्रियाम्।
तर्हि तं पश्य मन्मित्रमेहि यावत्तदन्तिकम् ॥१९३॥

'मुझे याद रखना', ऐसा कहते हुए बन्दर से पूछकर निश्चयदत्त, यक्षिणी के कन्धे पर चढ़कर अपनी प्रेयसी के पास चला ॥१७९॥

और, आधी रात के समय, हिमालय पर स्थित, अनुरागपरा के पिता की नगरी पुष्करावती में पहुँचा ॥१८०॥

इधर विद्याधरी अनुरागपरा ने भी अपनी विद्या के प्रभाव से निश्चयदत्त का आना जान लिया और उसे लाने के लिए वह अपने पिता की नगरी से बाहर निकल आई ॥ १८१॥

दूसरे चन्द्रमा के समान यह तुम्हारे नेत्रों को आनन्द देनेवाली तुम्हारी सुन्दरी प्यारी आ रही है। तो, अब मैं जाती हूँ, इस प्रकार कहती हुई यक्षिणी निश्चयदत्त को कन्धे से उतारकर और उसे नमस्कार करके चली गई ॥१८२-१८३॥

तब उस विद्याधरी ने भी चिरकालीन उत्कण्ठा से भरकर आलिंगन-चुम्बन आदि से निश्चयदत्त का भलीभाँति अभिनन्दन किया ॥१८४॥

अत्यन्त क्लेश के अनन्तर प्राप्त होनेवाले समागम से आनन्दित निश्चयदत्त अनुरागपरा का आलिंगन करते हुए उसके शरीर में प्रवेश करके मानो अपने शरीर में की सुध-बुध खो दी ॥१८५॥

अनुरागपरा, उसके साथ गान्धर्व-विधिसे विवाह करके अपने विद्या-बल से नया नगर बनाकर उसी में उसके साथ रहने लगी ॥१८६॥

उसी की विद्या के प्रभाव से उसके माता-पिता की दृष्टि से छिपाया हुआ निश्चयदत्त, उसके साथ बाहरी नगर में रहने लगा ॥१८७॥

उसके पूछने पर उसने मार्ग में प्राप्त होनेवाले कष्टों का भी वर्णन उससे किया, इस कारण वह उससे अधिक प्यार करने लगी और विविध भोगों से उसे प्रसन्न करने लगी ॥१८८॥

तदनन्तर निश्चयदत्त ने बन्दर बने हुए सोमस्वामी की आश्चर्य-जनक कथा उसे सुनाई और कहा कि यदि तुम्हारे प्रयत्न से वह पशु-योनि से छूट जाय, तो तुम्हे बहुत पुण्य होगा ॥१८९-१९०॥

ऐसा कहने पर अनुरागपरा उससे बोली—'यह योगिनियों की मन्त्र-सिद्धियों का काम है। हमारा विषय नही है ॥१९१॥

तो भी मैं तुम्हारे इस प्रिय कार्य को अपनी सखी भद्ररूपा नाम की सिद्ध योगिनी से प्रार्थना करके, सिद्ध करूँगी' ॥१९२॥

यह सुनकर प्रसन्न वैश्य-पुत्र बोला—'तुम मेरे उस मित्र को देखो। आओ, उसके पास चलें' ॥१९३॥

तथेत्युक्ते तयान्येद्युस्तदुत्सङ्गस्थितश्च सः ।
व्योम्ना निश्चयदत्तोऽगात्सख्युस्तस्यास्पदं वनम् ॥१९४॥
तत्र तं सुहृदं दृष्ट्वा कपिरूपमुपेत्य सः ।
प्रणमत्प्रियया साकमपृच्छत्कुशलं तदा ॥१९५॥
अद्य मे कुशलं यत्त्वमनुरागपरायुतः ।
दृष्टो मयेति सोऽप्युक्त्वा सोमस्वामिकपिः किल ॥१९६॥
तमभ्यनन्दत्प्रददौ तत्प्रियायै तथाशिषम् ।
ततः सर्वेऽप्युपाविक्षंस्तत्र रम्ये शिलातले ॥१९७॥
चक्रुश्च तत्कथालापं तत्तत्तस्य कपेः कृते ।
आदौ निश्चयदत्तेन चिन्तितं कान्तया सह ॥१९८॥
ततस्तं कपिमापृच्छ्य प्रेयसीसदनं च तत् ।
ययौ निश्चयदत्तो द्यामुत्पत्याङ्के धृतस्तया ॥१९९॥
अन्येद्युस्तामवादीच्च सोऽनुरागपरां पुनः ।
एहि तस्यान्तिकं सख्युः क्षणं यावत् कपेरिति ॥२००॥
ततः सापि तमाह स्म त्वमेवाद्य व्रज स्वयम् ।
गृहाणोत्पतनीं विद्यां मत्तोऽवतरणीं तथा ॥२०१॥
इत्युक्तः स तदादाय तद्विद्याद्वितयं ततः ।
व्योम्ना निश्चयदत्तोऽगात्सख्युस्तस्यान्तिकं कपेः ॥२०२॥
तत्र यावत्स कुरुते तेन साकं चिरं कथाः ।
सानुरागपरा तावदुद्यानं निर्ययौ गृहात् ॥२०३॥
तत्र तस्यां निषण्णायां विद्याधरकुमारकः ।
कोऽप्याजगाम नभसा परिभ्राम्यन्यदृच्छया ॥२०४॥
स दृष्ट्वैव स्मरावेशविवशस्तामुपाययौ ।
विद्याधरीं स तां बुद्ध्वा विद्यया मर्त्यभर्तृकाम् ॥२०५॥
साप्युपेतं तमालोक्य सुभगं विनतानना ।
कस्त्वं किमागतोऽसीति शनैः पप्रच्छ कौतुकात् ॥२०६॥
ततः स प्रत्यवोचत्तां स्वविद्याज्ञानशालिनम् ।
विद्धि विद्याधरं मुग्धे नाम्ना मां राजभञ्जनम् ॥२०७॥
सोऽहं सन्दर्शनादेव सहसा हरिणेक्षणे ।
मनोभुवा वशीकृत्य तुभ्यमेव समर्पितः ॥२०८॥

उसके स्वीकार करने पर दूसरे दिन निश्चयदत्त विद्याधरी की गोद में बैठकर उस बन्दर-वाले वन में गया ॥१९४॥

वन में बन्दर-रूप उस मित्र को प्रिया के साथ प्रणाम करके निश्चयदत्त ने उसका कुशल-मंगल पूछा ॥१९५॥

बन्दर ने कहा–'आज मेरा कुशल ही है कि तू अनुरागपरा के साथ मुझसे मिला', ऐसा कहकर बन्दर-रूप सोमस्वामी ने निश्चयदत्त को बधाई दी और उसकी पत्नी को आशीर्वाद दिया। तदनन्तर वे सब एक पत्थर की सुन्दर चट्टान पर बैठ गये ॥१९६-१९७॥

वहाँ बैठकर वे उस बन्दर के लिए चर्चा करने लगे, जैसा कि निश्चयदत्त ने पहले ही अपनी पत्नी से कहा था ॥१९८॥

तदनन्तर अपनी प्रेयसी की गोद में बैठा हुआ निश्चयदत्त बन्दर से आज्ञा लेकर अपनी पत्नी के नवनिर्मित भवन में लौट गया ॥१९९॥

दूसरे दिन, निश्चयदत्त ने फिर कहा—'आओ, उस बन्दर-मित्र के पास आज फिर चलें।' तब अनुरागपरा बोली—'आज तुम स्वयं जाओ। मुझ से उड़ने और उतरने की विद्या ले लो ॥२००-२०१॥

उसके ऐसा कहने पर वह निश्चयदत्त विद्याधरी से दोनों विद्याएँ प्राप्त करके आकाश में उड़कर उस मित्र बन्दर के पास आया ॥२०२॥

इधर जब वह अपने मित्र के साथ बैठकर गप-शप कर रहा था, उधर अनुरागपरा घर से निकल बाग में आई। जब वह बाग में बैठी थी तब ऊपर आकाश से उड़ता हुआ एक विद्याधर-कुमार घूमता हुआ उधर आ निकला। वहाँ पर अनुरागपरा को देखकर काम के आवेश में आ गया और उसे मनुष्य-पतिवाली विद्याधरी जानकर उसके समीप आया ॥२०३-२०५॥

उस विद्याधरी ने भी उस सुन्दर विद्याधर-युवक को पास आये देखकर नीचे मुंह किये हुए कौतुक से पूछा—'तू कौन है और क्यों आया है' ॥२०६॥

तब वह बोला—'हे सुन्दरी! मुझे अपनी विद्याओं के ज्ञानवाला राजभंजन नामक विद्याधर समझो ॥२०७॥

मृगनयनी! वह मैं तुझे देखकर कामदेव द्वारा वश में करके तुझको समर्पित कर दिया गया हूँ' ॥२०८॥

तदलं देवि सेवित्वा मर्त्यं धरणिगोचरम् ।
पिता वेत्ति न यावत्ते तावत्तुल्यं भजस्व माम् ॥२०९॥
इति तस्मिन्ब्रुवाणे सा कटाक्षार्धविलोकिनी ।
अचिन्तयदयं युक्तो ममेति चपलाशया ॥२१०॥
ततो लब्धाशयं चक्रे भार्या तेनैव तत्र सा ।
अपेक्षते द्वयोरैकचित्त्ये किं रहसि स्मरः ॥२११॥
अथ विद्याधरे तस्मिन् सम्प्रत्यपसृते ततः ।
आगान्निश्चयदत्तोऽत्र सोमस्वामिसमीपतः ॥२१२॥
आगतस्य न सा चक्रे विरक्तालिङ्गनादिकम् ।
अनुरागपरा तस्य व्यपदिश्य शिरोरुजम् ॥२१३॥
स तु तद्व्याजमविदन्नृजुः स्नेहविमोहितः ।
अस्वास्थ्यमेव मत्वास्या दुःखं तदनयद्दिनम् ॥२१४॥
प्रातश्च दुर्मना भूयस्तं कपिं सुहृदं प्रति ।
स सोमस्वामिनं प्रायान्नभसा विद्ययोर्बलात् ॥२१५॥
याते तस्मिन्नुपागात्तां साऽनुरागपरां पुनः ।
कामी विद्याधरो रात्रिकृतोन्निद्रस्तया विना ॥२१६॥
निशाविरहसोत्कण्ठां कण्ठे तामवलम्ब्य च ।
सुरतान्तपरिश्रान्तो निद्राक्रान्तो बभूव सः ॥२१७॥
साप्यङ्कसुप्तं प्रच्छाद्य प्रियं विद्याबलेन तम् ।
रात्रिजागरणान्निद्रामनुरागपरा ययौ ॥२१८॥
तावन्निश्चयदत्तोऽपि प्राप तस्यान्तिकं कपेः ।
सोऽपि पप्रच्छ तं कृत्वा स्वागतं वानरः सुहृत् ॥२१९॥
दुर्मनस्कमिवाद्य त्वां किं पश्याम्युच्यतामिति ।
ततो निश्चयदत्तोऽपि स तं वानरमब्रवीत् ॥२२०॥
अनुरागपरात्यर्थमस्वस्था मित्र वर्तते ।
तेनास्मि दुःस्थितः सा हि प्राणेभ्योऽपि प्रिया मम ॥२२१॥

इसलिए, हे देवि ! अब तुम पृथिवी पर रहनेवाले मानव का तबतक परित्याग कर दो, जबतक तुम्हारे पिता को मालूम नहीं होता और अपने समानजातीय मेरा वरण कर लो' ॥२०९॥

उसके ऐसा कहने पर कटाक्ष से देखती हुई वह चंचलहृदया विद्याधरी सोचने लगी कि 'यह मेरे लिए उपयुक्त पति है।' ॥२१०॥

तब राजभञ्जन ने उसके हृदय के अभिप्राय को जानकर उसे भार्या बना लिया। एकान्त में दोनों (प्रेमी और प्रेमिका) के एकचित्त होने पर कामदेव किसकी परवाह करता है ? ॥२११॥

तदनन्तर, विद्याधर के चले जाने पर निश्चयदत्त, सोमस्वामी से मिलकर आ गया ॥२१२॥

उसके लौट आनेपर उस विरक्ता अनुरागपरा ने सिरदर्द का बहाना करके उससे आलिंगन आदि द्वारा प्रेम-प्रदर्शन नहीं किया ॥२१३॥

उस सरलहृदय प्रेमी निश्चयदत्त ने, उसका बहाना न समझकर वैसे ही वह दिन व्यतीत किया और प्रातःकाल, दुःखितचित्त होकर विद्या के बल से पुनः उस बन्दर के समीप गया ॥२१४-२१५॥

उसके चले जानेपर, अनुरागपरा के बिना रात-भर का जगा हुआ वह कामी विद्याधर फिर उसके पास आया। रात के जागरण से उत्कण्ठित उसे गले से लगाकर वह विद्याधर काम-क्रीडा से थककर वहीं सो गया ॥२१६-२१७॥

वह अनुरागपरा भी रात-भर जगने के कारण गोद में सोये उस प्यारे को विद्याबल से छिपाकर सो गई ॥ २१८॥

इधर निश्चयदत्त भी बन्दर के पास पहुँचा। बन्दर ने भी उसका स्वागत करके समाचार पूछा—॥२१९॥

'आज तुम खिन्नमन मालूम हो रहे हो ? क्या कारण है, बताओ।' तब निश्चयदत्त उस बन्दर से बोला—'मित्र ! अनुरागपरा अस्वस्थ हो गई है। उसी से दुःखी हूँ ! वह मेरे प्राणों से भी प्यारी है' ॥२२०-२२१॥

इत्युक्तस्तेन स ज्ञानी मर्कटस्तमभाषत ।
गच्छ सुप्तामिदानीं तां स्थितां कृत्वाङ्कवर्त्तिनीम् ॥२२२॥
तद्दत्तविद्यया व्योम्ना तामानय मदन्तिकम् ।
यावन्महदिहाश्चर्यं दर्शयाम्यधुनैव ते ॥२२३॥
तच्छ्रुत्वा खेन गत्वैव सोऽनुरागपरां ततः ।
दृष्ट्वा निश्चयदत्तस्तां सुप्तामङ्केऽग्रहील्लघु ॥२२४॥
तं तु विद्याधरं तस्या नाङ्के लग्नं ददर्श सः ।
सुप्तं विद्याबलेनादावदृश्यं विहितं तया ॥२२५॥
उत्पत्य चान्तरिक्षं तामनुरागपरां क्षणात् ।
आनिनाय कपेस्तस्य स सोमस्वामिनोऽन्तिकम् ॥२२६॥
स कपिर्दिव्यदृक्तस्मै तदा योगमुपादिशत् ।
येन विद्याधरं तस्याः कण्ठे लग्नं ददर्श सः ॥२२७॥
दृष्ट्वा च हा धिगेतत्किमिति तं वादिनं कपिः ।
स एव तत्त्वदर्शी नद्यथावृत्तमबोधयत् ॥२२८॥
क्रुद्धे निश्चयदत्तेऽथ तस्मिन् विद्याधरोऽत्र सः ।
प्रबुद्धस्तत्प्रियाकामी खमुत्पत्य तिरोदधे ॥२२९॥
सापि प्रबुद्धा तत्कालमनुरागपरात्मनः ।
रहस्यभेदं तं दृष्ट्वा ह्रिया तस्थावधोमुखी ॥२३०॥
ततो निश्चयदत्तस्तामुवाचोदश्रुलोचनः ।
विश्वस्तोऽहं कथं पापे त्वयैव बत वञ्चितः ॥२३१॥
अत्यन्तचञ्चलस्येह पारदस्य निबन्धने ।
कामं विज्ञायते युक्तिर्न स्त्रीचित्तस्य काचन ॥२३२॥
इति ब्रुवति तस्मिन्सानुत्तरा रुदती शनैः ।
अनुरागपरोत्पत्य दिवं धाम निजं ययौ ॥२३३॥
ततो निश्चयदत्तं तं सुहृन्मर्कटकोऽब्रवीत् ।
एतां यदन्वधावस्त्वं वारितोऽपि मया प्रियाम् ॥२३४॥
तस्येदं तीव्ररागाग्नेः फलं यदनुतप्यसे ।
को हि सम्पत्सु चपलास्वाश्वासो वनितासु च ॥२३५॥

उससे इसप्रकार कहा गया वह ज्ञानी बन्दर बोला—'जाओ, उसकी दी हुई विद्या के प्रभाव से सोई हुई उसे गोद में उठाकर ले आओ। तब मैं तुझे एक महान् आश्चर्य दिखाऊँगा ॥२२२-२२३॥

यह सुनकर निश्चयदत्त, आकाश-मार्गसे वहाँ गया और सोती हुई अनुरागपरा को धीरे से गोद में उठाकर सोमस्वामी बन्दर के समीप ले आया। पहले सोये और फिर विद्याधरी के द्वारा विद्या के बल से अदृश्य कर दिये गये उस विद्याधर को, विद्याधरी के शरीर से लगे रहने पर भी, निश्चयदत्त ने नहीं देखा ॥२२४-२२६॥

उसके बाद उस दिव्य दृष्टिवाले बन्दर ने निश्चयदत्त को ऐसा योग बताया, जिससे निश्चयदत्त ने विद्याधरी के गले में चिपके हुए विद्याधर को देख लिया। देखते ही 'ओह! यह क्या?'—ऐसा कहते हुए उसे तत्त्वदर्शी वानर ने सब यथार्थ बात बता दी ॥२२७-२२८॥

यह दृश्य देखकर निश्चयदत्त के क्रुद्ध होने पर वह विद्याधर आकाश में उड़ गया। और, वह अनुरागपरा भी निद्रा से जागकर अपने रहस्य का भण्डाफोड़ देखकर लज्जा से नीचा मुँह किये बैठ गई ॥२२९-२३०॥

तब रोते हुए निश्चयदत्त ने कहा—'हे पापिन! तेरे ऊपर विश्वास करनेवाले मुझे तुमने क्यों ठग लिया? ॥२३१॥

अत्यन्त चंचल पारे को बाँधने की युक्ति है। परन्तु, चंचल स्त्री-चित्त को जानने या बाँधने की कोई युक्ति नहीं, ॥२३२॥

उसके ऐसा कहने पर वह अनुरागपरा उत्तर दिये बिना ही धीरे-धीरे रोती हुई आकाश में उड़कर अपने घर चली गई ॥२३३॥

तब वह वानर सोमस्वामी निश्चयदत्त से बोला—'मेरे रोकने पर भी जो तुम इस स्त्री के पीछे दौड़ रहे थे, उसी तीव्र प्रेमाग्नि का यह फल है कि आज जल रहे हो। चंचल धन और स्त्री का क्या विश्वास? ॥२३४-२३५॥

तदलं परितापेन तवेदानीं शमं कुरु।
भवितव्यं हि धात्रापि न शक्यमतिवर्त्तितुम् ॥२३६॥
इति तस्मात्कपेः श्रुत्वा शोकमोहं विहाय तम्।
ययौ निश्चयदत्तोऽत्र विरक्तः शरणं शिवम् ॥२३७॥
अथ तत्र वने सुहृदा कपिना सह तिष्ठतस्ततो निकटम्।
तस्याजगाम दैवात्तपस्विनी मोक्षदा नाम ॥२३८॥
सा तं क्रमेण दृष्ट्वा प्रणतं पप्रच्छ मानुषस्य सतः।
चित्रं कथमिह जातो मित्रं ते मर्कटोऽयमिति ॥२३९॥
ततः स्वं वृत्तान्तं तदनु च स मित्रस्य चरितं
समाचख्यौ तस्यै कृपणमथ तामेवमवदत्।
प्रयोगं मन्त्रं वा यदि भगवती वेत्ति तदिमं
कपित्वात् सन्मित्रं सुहृदमधुना मोचयतु मे ॥२४०॥
तच्छ्रुत्वा सा तस्य बाढं कपेस्तत्
सूत्रं कण्ठान्मन्त्रयुक्त्या मुमोच।
सोऽथ त्यक्त्वा मार्कटीमाकृतिं तां
सोमस्वामी पूर्ववन्मानुषोऽभूत् ॥२४१॥
तस्यां ततश्च तडितीव तिरोहितायां
दिव्यप्रभावभृति भूरि तपो विधाय।
कालेन तत्र किल निश्चयदत्तसोम-
स्वामिद्विजौ प्रययतुः परमां गतिं तौ ॥२४२॥
एवं निसर्गचपला ललना विवेक-
वैराग्यदायिबहुदुश्चरितप्रबन्धाः।
साध्वी तु काचिदपि तासु कुलं विशालं
यालङ्करोत्यभिनवा खमिवेन्दुलेखा ॥२४३॥
इत्येतां नरवाहनदत्तः सचिवस्य गोमुखस्य मुखात्।
चित्रामाकर्ण्य कथां तुतोष रत्नप्रभासहितः ॥२४४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे रत्नप्रभालम्बके तृतीयस्तरङ्गः।

अब व्यर्थ चिन्ता और शोक मत करो। जो होना है, उसे ब्रह्मा भी नहीं बदल सकते' ॥२३६॥

वानर से यह सुनकर और शोक एवं मोह को छोड़कर निश्चयदत्त, विरक्त भाव से शिव की शरण में चला गया ॥२३७॥

तदनन्तर, वन में उस बन्दर के साथ रहते हुए निश्चयदत्त के पास एक बार दैव योग से मोक्षदा नाम की तपस्विनी आई। उसने प्रणाम करते हुए निश्चयदत्त से पूछा कि तुम्हारे मनुष्य होते हुए भी यह तुम्हारा मित्र वानर कैसे हुआ, यह आश्चर्य है! ॥२३८-२३९॥

तब निश्चयदत्त ने पहले अपना और बाद वानर का समाचार सुनाकर उस तपस्विनी से दीनतापूर्वक कहा—'यदि आप कोई प्रयोग या मन्त्र जानती हैं, तो मेरे मित्र को पशुता से बचाइए, ॥२४०॥

निश्चयदत्त की प्रार्थना सुनकर मोक्षदा योगिनी ने उसे स्वीकार कर, मन्त्र की युक्ति से बन्दर के गले का डोरा खोल दिया। उसके खोलते ही सोमस्वामी बन्दर-रूप छोड़कर उसी क्षण अपने यथार्थ मनुष्य-रूप में आ गया ॥२४१॥

तदनन्तर, वह दिव्य प्रभाववाली मोक्षदा के बिजली के समान अन्तर्धान हो जाने पर निश्चयदत्त और सोमस्वामी दोनों उग्र तपस्या करते हुए मोक्ष-धाम को प्राप्त हुए ॥२४२॥

इस प्रकार, स्वभाव से चंचला स्त्रियाँ विवेक और वैराग्य देनेवाले अपने दुराचारों का त्याग नहीं करतीं। पतिव्रता स्त्री तो इनमें विरल ही होती है, जो अपने कुल को उसी प्रकार आनन्दित करती हैं, जैसे नई चन्द्रकला, आकाश को शोभित करती है ॥२४३॥

इस प्रकार, गोमुख के मुख से इस विचित्र कथा को सुनकर रत्नप्रभा के साथ नरवाहनदत्त बहुत सन्तुष्ट हुआ ॥२४४॥

महाकवि श्रीसोमदेव भट्ट-विरचित कथासरित्सागर के रत्नप्रभालम्बक का
तृतीय तरंग समाप्त

चतुर्थस्तरङ्गः

राज्ञो विक्रमादित्यस्य मदनमालावेश्यायाश्च कथा

गोमुखीयकथातुष्टं दृष्ट्वा तत्स्पर्धया किल।
नरवाहनदत्तं तं मरुभूतिरथाब्रवीत् ॥१॥
प्रायेण चपलाः कामं स्त्रियो नैकान्ततः पुनः।
वेश्या अपि च दृश्यन्ते सत्त्वाढ्या किमुतापराः ॥२॥
तथा च देव विख्यातामिमामत्र कथां शृणु।
विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके ॥३॥
तस्याभूतामभिप्रेते मित्रे हयपतिर्नृपः।
राजा गजपतिश्चोभौ बह्वश्वगजसाधनौ ॥४॥
शत्रुर्नरपतिर्भूरिपादातस्तस्य चाभवत्।
मानिनो नरसिंहाख्यः प्रतिष्ठानेश्वरो बली ॥५॥
तं रिपुं प्रति सामर्षः स मित्रबलगर्वितः।
चकार विक्रमादित्यः प्रतिज्ञां सभमादिमाम् ॥६॥
तथा मया विजेतव्यो राजा नरपतिर्यथा।
स बन्दिमागधैर्द्वारि सेवको मे निवेद्यते ॥७॥
एवं कृतप्रतिज्ञस्ते मित्रे हयगजाधिपौ।
समानीय समं ताभ्यां हस्त्यश्वक्षोभितक्षितिः ॥८॥
अभियोक्तुं नरपतिं नरसिंहं प्रसह्य तम्।
स ययौ विक्रमादित्यो राजाखिलबलान्वितः ॥९॥
प्राप्ते तस्मिन्प्रतिष्ठाननिकटं सोऽप्यवेत्य तत्।
नरसिंहो नरपतिः संनह्याग्रेऽस्य निर्ययौ ॥१०॥
ततस्तयोरभूद्युद्धं राज्ञोर्जनितविस्मयम्।
गजाश्वेन समं यत्र युध्यन्ते स्म पदातयः ॥११॥
क्रमाच्च नरसिंहस्य कोटिसंख्यपदातिभिः।
भग्नं तद्विक्रमादित्यबलं नरपतेर्बलैः ॥१२॥
भग्नश्च विक्रमादित्यः पुरं पाटलिपुत्रकम्।
ययौ पलाय्य तन्मित्रे स्वं स्वं देशं च जग्मतुः ॥१३॥
नरसिंहो नरपतिर्जितशत्रुर्निजं पुरम्।
प्रविवेश प्रतिष्ठानं बन्दिभिः स्तुतविक्रमः ॥१४॥

चतुर्थ तरङ्ग

राजा विक्रमादित्य और मदनमाला वेश्या की कथा

गोमुख से कही गई कथा को सुनकर प्रसन्न हुए नरवाहनदत्त को देखकर उससे मरुभूति बोला—

'स्त्रियाँ अधिकांशतः अवश्य ही चंचल (दुराचारिणी) होती हैं'—यह कोई निश्चित बात नहीं है। ऐसी वेश्याएँ भी देखी जाती हैं, जो सत्त्वगुणवाली (सदाचारिणी) होती हैं। दूसरी स्त्रियों की तो बात ही क्या ? ॥१-२॥

महाराज ! मैं इस विषय में एक प्रसिद्ध कथा सुनाता हूँ, सुनिए—। पाटलिपुत्र नगर में विक्रमादित्य नामक राजा था। उसके दो परम प्रिय मित्र राजा थे। एक का नाम हयपति और दूसरे का गजपति था। इन दोनों राजाओं की सेना मे हाथी और घोड़े प्रचुर मात्रा में थे ॥३-४॥

उस राजा विक्रम का एकमात्र शत्रु प्रतिष्ठानपुर का बलवान्-राजा नरसिंह था, जो उसके वश में नहीं आया था ॥५॥

राजा विक्रम उस शत्रु के प्रति क्रोध करके और मित्र राजाओं के घोड़ों और हाथियों की शक्ति पर विश्वास करके आवेश में यह प्रतिज्ञा कर बैठा कि मुझे प्रतिष्ठान-नरेश पर ऐसी विजय प्राप्त करनी है कि वह मेरे द्वार पर भाटों और भृत्यों द्वारा सेवकों के समान सूचना दिये जाने पर प्रवेश पा सके ॥६-७॥

ऐसी प्रतिज्ञा करके हयपति और गजपति नामक दोनों मित्रों से सम्मति करके उनके साथ ही हाथी-घोड़ों से पृथ्वी को रौंदता हुआ अपनी समस्त सेना के साथ प्रतिष्ठान-नरेश पर आवेश के साथ चढ़ गया ॥ ८-९॥

विक्रम की चढ़ाई का समाचार सुनकर राजा नरसिंह भी अपने पैदल सैनिकों के साथ युद्ध के लिए समरभूमि में निकल आया ॥१०॥

वहाँ उन दोनों का आश्चर्यजनक घमासान युद्ध हुआ, जिसमें पैदल सैनिक घोड़ों और हाथियों के साथ लड़े ॥११॥

क्रमशः नरसिंह के एक करोड़ पैदल सैनिकों से, विक्रम की सेना हार गई और भाग गई, विक्रमादित्य भी भागकर पाटलिपुत्र में चला आया और उसके मित्र अश्वपति (हयपति) तथा गजपति भी अब अपनी-अपनी राजधानियों को चले गये ॥१२-१३॥

शत्रु पर विजय प्राप्त किया हुआ राजा नरसिंह भी, विजयलक्ष्मी के साथ बन्दी-चारणों से स्तुति किया जाता हुआ अपने प्रतिष्ठान नगर में गया ॥१४॥

ततः स विक्रमादित्योऽसिद्धकार्यो व्यचिन्तयत्।
शस्त्रैरजेयं शत्रुं तं जयामि प्रज्ञया वरम्॥१५॥
कामं केचिद्विगर्हन्तां मा प्रतिज्ञान्यथा तु भूत्।
इति सञ्चिन्त्य निक्षिप्य राज्यं योग्येषु मन्त्रिषु॥१६॥
निर्गत्य नगराद् गुप्तं मुख्येनैकेन मन्त्रिणा।
सह बुद्धिवराख्येण राजपुत्रवरैस्तथा॥१७॥
पञ्चभिः कुलजैः शूरैः स कार्पटिकवेषभृत्।
भूत्वा पुरं निजरिपोः प्रतिष्ठानं जगाम तत्॥१८॥
तत्र वारविलासिन्या नरेन्द्रसदनोपमम्।
ययौ मदनमालेति ख्याताया वरमन्दिरम्॥१९॥
कृताह्वानमिव प्रांशुप्राकारशिखरोच्छ्रितैः।
ध्वजांशुकैर्मृदुमरुद्विक्षिप्ताक्षिप्तपल्लवैः॥२०॥
प्रधाने पूर्वदिग्द्वारे विविधायुधशालिनाम्।
गुप्तं सहस्रविंशत्या पदातीनां दिवानिशम्॥२१॥
अन्यासु दिक्षु तिसृषु द्वारि द्वारि मदोद्धतैः।
दशभिर्दशभिः शूरसहस्रैरभिरक्षितम्॥२२॥
आवेदितः प्रतीहारैस्तथाभूतः प्रविश्य च।
क्वचित्प्रवितताने कवराश्वश्रेणिशोभितम्॥२३॥
क्वचिदाबद्धमातङ्गघटासङ्कटसञ्चरम्।
क्वचिदायुधसन्दर्भगम्भीराकारगुम्भितम्॥२४॥
क्वचिद् रत्नप्रभाभास्वद्बहुकोषगृहोज्ज्वलम्।
क्वचित्सेवकसङ्घातसन्तताबद्धमण्डलम्॥२५॥
क्वचिदुच्चैः पठद्वन्दिवृन्दकोलाहलाकुलम्।
क्वचिन्निबद्धसङ्गीतमृदङ्गध्वनिनादितम्॥२६॥
सप्तकक्ष्याविभक्तं तत्स पश्यन् सपरिच्छदः।
प्रापन्मदनमालाया वासप्रासादमुन्नतम्॥२७॥
सा तं कक्ष्यासु साकूतनिर्वर्णितहयादिकम्।
श्रुत्वा परिजनान्मत्वा प्रच्छन्नं कञ्चिदुत्तमम्॥२८॥
प्रत्युद्गम्य प्रणम्याथ साभिलाषं सकौतुकम्।
राजोचिते प्रवेश्यान्तरुपावेशयदासने॥२९॥

तब पराजित राजा विक्रमादित्य ने सोचा कि शत्रु शस्त्रों से अजेय है। अतः, अच्छा हो कि इसपर बुद्धि से विजय प्राप्त करूँ ॥१५॥

भले ही कुछ लोग निन्दा करें, किन्तु मेरी प्रतिज्ञा झूठी न होनी चाहिए—ऐसा सोचकर और राज्यकार्य का भार, मन्त्रियों पर डालकर एक सौ राजपूतों तथा पाँच विशेष अंगरक्षकों के साथ गुप्त रूप से साधु का वेश बनाकर राजा विक्रमादित्य प्रतिष्ठानपुर पहुँचा ॥१६—१८॥

वहाँ जाकर वह राजा राजभवन के समान महान् और सुन्दर मदनमाला नाम की वेश्या के भवन में जा पहुँचा ॥१९॥

वह विशाल भवन, (वायु से कम्पित कपड़ों की झंडियों के) हिलते हुए वस्त्रों से मानों अतिथियों को हाथ से आमन्त्रित करता था। उस भवन के पूर्वी द्वार पर बीस हजार सैनिक सिपाही, दिन-रात रक्षा करते थे और अन्य तीनों दिशाओं के द्वारों पर दस-दस हजार शूर-वीर सैनिक पहरा देते थे ॥२०—२२॥

वह भवन कहीं, घोड़ों की फैली हुई पंक्तियों से शोभित हो रहा था। कहीं हाथियों की घन-घटा से भरा हुआ था। कहीं विविध अस्त्र-शस्त्रों की सुन्दर सजावट थी। कहीं चमचमाते रत्नों और खजानों से उज्ज्वल था। कहीं संगीत और मृदंग की मधुर स्वर-लहरी लहरा रही थी। सात प्राकारों (घेरों) में बँटे हुए उस भवन को देखता हुआ राजा मदनमाला के ऊँचे भवन पर पहुँचा ॥२३—२७॥

मदनमाला ने उन प्राकारों में अभिप्राय के साथ हाथी, घोड़े आदि को देखते हुए उस राजा के गुप्तचरों द्वारा समाचार जानकर उसे गुप्त बने हुए उच्च कोटि का व्यक्ति समझ लिया और उसके आने पर उसकी अगवानी करती हुई उसे नमस्कार करके बड़ी अभिलाषा और आदर के साथ लाकर राजाओं के योग्य आसन पर बिठाया ॥२८-२९॥

सोऽपि तद्रूपलावण्यविनयाहृतचेतनः।
तामभ्यनन्ददात्मानमप्रकाश्यैव भूपतिः॥३०॥
ततो मदनमाला सा स्नानपुष्पानुलेपनैः।
वस्त्रैराभरणैर्भूपं महार्हैस्तममानयत्॥३१॥
दत्त्वा दिवसवृत्तिं च तेषां तदनुयायिनाम्।
आहारैस्तं ससचिवं नानारूपैरुपाचरत्॥३२॥
निनाय च समं तेन दिनं पानादिलीलया।
आत्मानं चार्पयत्तस्मै सा दर्शनवशीकृता॥३३॥
तथैवाराध्यमानोऽथ च्छन्नोऽप्यहरहस्तया।
स तस्थौ विक्रमादित्यश्चक्रवर्त्युचितैः क्रमैः॥३४॥
याचकेभ्यो ददौ नित्यं वित्तं यावच्च यच्च सः।
दृष्ट्वा मदनमाला सा तत्तस्मै स्वमुपानयत्॥३५॥
तेनोपभुज्यमानं च सा शरीरं धनं तथा।
मेने कृतार्थमन्यस्मिन्पुंस्यर्थे च पराङ्मुखी॥३६॥
तत्प्रेम्णा ह्यपि तत्रत्यमनुरक्तं नराधिपम्।
आयान्तं नरसिंहं तं वारयामास युक्तिभिः॥३७॥
एवं तया सेव्यमानः कदाचिन्मन्त्रिणं रहः।
राजा सहचरं सोऽत्र तं बुद्धिवरमभ्यधात्॥३८॥
अर्थार्थिनी न कामेऽपि वेश्या रज्यति तं विना।
तासां लोभो हि विधिना दत्तो निर्माय याचकान्॥३९॥
इयं मदनमाला तु भुज्यमाने धने मया।
न विरज्यत्यतिस्नेहान्मयि प्रत्युत तुष्यति॥४०॥
तदस्याः सम्प्रति कथं करोमि प्रत्युपक्रियाम्।
येन कामं प्रतिज्ञापि क्रमेण मम सेत्स्यति॥४१॥
तच्छ्रुत्वा तं ब्रवीति स्म मन्त्री बुद्धिवरो नृपम्।
यद्येवं तदनर्घाणि यानि रत्नान्युपाहरत्॥४२॥
प्रपञ्चबुद्धिभिक्षुस्ते तेभ्योऽस्यै देहि कानिचित्।
इत्युक्तो मन्त्रिणा तेन राजा तं प्रत्यभाषत॥४३॥
दत्तैः समग्रैरपि तैर्नास्याः किञ्चित्कृतं भवेत्।
एतद्वृत्तान्तसंश्लिष्टा किं त्वस्यान्यत्र निष्कृतिः॥४४॥

राजा ने भी उसके सौन्दर्य, लुनाई एवं विनय से आकृष्ट होकर अपने को छिपाये हुए ही उसका समुचित अभिनन्दन किया ॥३०॥

तब मदनमाला ने स्नान, बहुमूल्य फूल, इत्र, वस्त्र, भूषण आदि से राजा का सत्कार किया ॥३१॥

राजा के अनुयायियों का भी समुचित भोजन आदि विविध प्रकार से आतिथ्य-सत्कार किया ॥३२॥

उसके दर्शन से वशीभूत मदनमाला ने पान (मद्यपान), संगीत आदि से दिन-भर उसका मनोरंजन किया और अपने को राजा के लिए अर्पित कर दिया ॥३३॥

उस वेश्या द्वारा प्राप्त, चक्रवर्त्ती राजा के योग्य सेवा-सत्कार का इसी प्रकार सेवन करता हुआ राजा कुछ दिनों के लिए वहीं गुप्त रूप से रहने लगा ॥३४॥

याचकों को प्रतिदिन वह जितना जो कुछ भी देता था, मदनमाला वह सब लाकर स्वयं रख देती थी ॥३५॥

मदनमाला राजा पर इस प्रकार आसक्त थी कि अन्य लोगों के संपर्क से दूर रहकर, राजा विक्रम से उपभोग किये जाते धन और शरीर को सफल और धन्य समझती थी। यहाँ तक कि प्रतिष्ठान नगर के राजा नरसिंह को भी विक्रमादित्य के प्रेम के कारण किसी युक्ति से उसने आने से रोक दिया ॥३६-३७॥

इस प्रकार, मदनमाला से सेवित राजा विक्रम ने, अपने साथ रहनेवाले मन्त्री बुद्धिवर से एकान्त में कहा—'वेश्या अर्थ-लोलुप होती है। अर्थ के विना वह कामदेव पर भी प्रसन्न नहीं होती। ब्रह्मा ने भिक्षुकों का निर्माण करके और उनसे लोभ को लेकर वेश्याओं को दे दिया ॥३८-३९॥

किन्तु, यह मदनमाला धन का अत्यन्त स्वतन्त्र उपभोग करते हुए भी मुझ पर अत्यन्त स्नेह के कारण विरक्त नहीं है, बल्कि प्रसन्न है ॥४०॥

तो मैं अब इसका प्रत्युपकार कैसे करूँ? जिससे क्रमशः मेरी प्रतिज्ञा भी सिद्ध हो सके' ॥४१॥

यह सुनकर मन्त्री बुद्धिवर राजा विक्रम से बोला—'यदि ऐसा ही है, तो प्रपंचबुद्धि नाम के भिक्षु (तपस्वी) ने जो तुम्हे रत्न दिये थे, उन बहुमूल्य रत्नों को इसे भेंट कर दो ॥४२॥

तब राजा ने कहा—उन सब रत्नों के देने पर भी इसका कुछ भी बदला नहीं चुकाया जा सकता। उसके वृत्तान्त से सम्बद्ध उसका प्रत्युपकार करने का और ही उपाय है ॥४३-४४॥

तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीन्मन्त्री देव किं तेन भिक्षुणा।
त्वत्सेवा सा कृतेत्येष तद्वृत्तान्तस्त्वयोच्यताम् ॥४५॥
इत्युक्तो मन्त्रिणा तेन राजा बुद्धिवरेण सः।
जगाद शृणु तत्रैतां तत्कथां वर्णयामि ते ॥४६॥

प्रपञ्चबुद्धिभिक्षुककथा

पूर्वं पाटलिपुत्रे मे प्रविश्यास्थानमन्वहम्।
भिक्षुः प्रपञ्चबुद्ध्याख्यः समुद्गकमुपानयत् ॥४७॥
अहं तथैव सततं वर्षमात्रं समर्पयन्।
भाण्डागारिकहस्ते तदनुद्घाटितमेव सत् ॥४८॥
एकदा भिक्षुणा तेन ढौकितं तत्समुद्गकम्।
दैवात् पाणेर्मम पतद्द्विधाभूतमभूद् भुवि ॥४९॥
निरगाच्च महारत्नं तस्मादनलभासुरम्।
प्राङ्मयैवापरिज्ञातं हृदयं तेन दर्शितम् ॥५०॥
तद्दृष्ट्वादाय चान्यानि तान्यानाय्य विभज्य च।
समुद्गकानि सर्वेभ्यो रत्नान्यहमवाप्तवान् ॥५१॥
ततः प्रपञ्चबुद्धिं तमप्राक्षं विस्मयादहम्।
किमहो सेवसे रत्नैरेवं मामीदृशैरिति ॥५२॥
अथात्र विजनं कृत्वा स भिक्षुर्मामिवोचत।
अस्यां कृष्णचतुर्दश्यामागामिन्यां निशागमे ॥५३॥
श्मशाने साधनीया मे विद्या काचित्ततो बहिः।
तत्र साहायके वीर त्वदागमनमर्थये ॥५४॥
वीरसाहाय्यनिर्विघ्नाः सुखलभ्या हि सिद्धयः।
इत्युक्तो भिक्षुणा तेन तदहं प्रतिपन्नवान् ॥५५॥
अथ हृष्टे गते तस्मिन् दिनैः कृष्णचतुर्दशी।
आगात्सा श्रमणस्यास्य तस्यास्मार्षमहं वचः ॥५६॥
ततः कृताह्निको भूत्वा प्रदोषं प्रतिपालयन्।
कृतसन्ध्याविधिर्दैवात् क्षिप्रं निद्रामगामहम् ॥५७॥
तत्क्षणं गरुडारूढो भगवान् भक्तवत्सलः।
हरिः पद्माङ्कितोत्सङ्गः स्वप्ने मामेवमादिशत् ॥५८॥

यह सुनकर मन्त्री ने कहा—'महाराज! उस भिक्षु ने आपका कौन-सा उपकार किया, उसे बताइए।' राजा ने कहा—सुनो, उसकी कथा मैं तुम्हें सुनाता हूँ—॥४५-४६॥

प्रपञ्चबुद्धि नामक भिक्षुक की कथा

प्राचीन समय में, पाटलिपुत्र (पटना) में प्रपंचबुद्धि नाम का भिक्षु (तपस्वी) प्रतिदिन दरबार में आकर मुझे एक बन्द डिब्बा देता था। एक वर्ष तक प्रतिदिन वह डिब्बा देता रहा और मैं उसे उसी प्रकार (बिना खोले ही) भाण्डार के अधिकारी को दे देता था॥४७-४८॥

एक बार उस भिक्षु से दिया गया रत्न का डिब्बा दैवयोग से मेरे हाथमे गिरकर दो टुकड़े हो गया। उसके अन्दर से आग के समान जलता हुआ चमकीला रत्न निकला, मानों उस डिब्बे ने पहले मेरे द्वारा न जाने हुए अपने हृदय का प्रदर्शन किया॥४९-५०॥

उसे देखकर मैंने सभी पुराने डिब्बे मँगाये और उनके खोलने पर सबमें ऐसे चमकीले अमूल्य रत्न निकले॥५१॥

तब मैंने प्रपंचबुद्धि से पूछा आश्चर्य है कि तुम ऐसे अमूल्यरत्नों से मेरी सेवा क्यों कर रहे हो? ॥५२॥

तब वहाँ से सब लोगों को हटाकर वह भिक्षु बोला—'इसी आनेवाली कृष्ण चतुर्दशी को मैं रात के समय एक विद्या की सिद्धि करूँगा। उसमें बाहरी सहायता के लिए तुम्हारे ऐसे वीर की आवश्यकता है। वीर की सहायता से विघ्न दूर होने पर सहज में ही सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं' भिक्षु के ऐसा कहने पर मैंने उसकी सहायता करना स्वीकार कर लिया॥५३—५५॥

उसके प्रसन्न होकर चले जाने पर और कुछ दिनो के व्यतीत होने पर कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि आई। मैंने उस भिक्षु की बात का स्मरण किया॥५६॥

तब प्रातःकाल उठकर अपना नित्यकर्म करके सायंकाल की प्रतीक्षा करने लगा। सायंकाल की सन्ध्या-विधि करके मैं रात्रि में जल्दी ही सो गया॥५७॥

निद्रा आते ही, स्वप्न में, गरुड़ पर बैठे हुए लक्ष्मी को गोद में लिये भक्तवत्सल भगवान् ने आदेश दिया—॥५८॥

प्रपञ्चबुद्धिरन्वर्थनामायं मण्डलार्चने।
पुत्र श्मशाने नीत्वा त्वामुपहारीकरिष्यति ॥५९॥
अतो वक्ष्यति यत्स त्वां जिघांसुर्मा स्म तत्कृथाः।
त्वं पूर्वं कुरु शिक्षित्वा करिष्यामीति तं वदेः ॥६०॥
ततस्तथा तं कुर्वाणं तच्छिद्रेणैव तत्क्षणम्।
हन्यास्त्वं तदभिप्रेता सिद्धिस्तव भविष्यति ॥६१॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते विष्णौ प्रबुद्धोऽहमचिन्तयम्।
हरेरनुग्रहाज्ज्ञातो वध्यो मायी मयाद्य सः ॥६२॥
एवं विचिन्त्य यामिन्याः प्रथमे प्रहरे गते।
कृपाणपाणिरेकाकी तच्छ्मशानमगामहम् ॥६३॥
तत्र दृष्ट्वा तमभ्यागां भिक्षुमर्चितमण्डलम्।
सोऽपि वीक्ष्याभ्यनन्दन्मामब्रवीच्च तदा शठः ॥६४॥
मीलिताक्षः प्रसार्याङ्गं पत भूमाववाङ्मुखः।
राजन्नेवं भवेत् सिद्धिर्द्वयोरप्यावयोरिति ॥६५॥
ततोऽहं प्रत्यवोचं तं त्वमेव प्रथमं कुरु।
मह्यं दर्शय शिक्षित्वा विधास्यामि तथैव तत् ॥६६॥
तच्छ्रुत्वा श्रमणो मूढस्तथा भुवि स चापतत्।
छिन्नं तस्य च निस्त्रिंशप्रहारेण मया शिरः ॥६७॥
अथान्तरिक्षादुदभूद् भारती साधु भूपते।
त्वया हि भिक्षुः पापोऽयमुपहारीकृतोऽद्य यत् ॥६८॥
यास्य साध्या भवेत्सा ते सिद्धाद्य गगने गतिः।
अहं धैर्येण तुष्टस्ते कामचारी धनाधिपः ॥६९॥
तदस्मत्तो वृणीष्वान्यं वरं यमभिवाञ्छसि।
इत्युक्त्वा प्रकटीभूतं प्रणम्याहं तमब्रवम् ॥७०॥
यदा त्वामर्थयिष्येऽहमुपयुक्तं तदा वरम्।
संस्मृतोपस्थितो भूत्वा भगवन्मे प्रदास्यसि ॥७१॥
एवमस्त्विति मामुक्त्वा तिरोऽभूत्स धनाधिपः।
लब्धसिद्धिश्च रभसात् स्वमन्दिरमगामहम् ॥७२॥
इत्युक्तस्ते स्ववृत्तान्तस्तत्कुबेरवरेण मे।
कार्या मदनमालायास्तेनास्याः प्रत्युपक्रिया ॥७३॥

'यह प्रपंचबुद्धि नाम के अनुसार प्रपंचबुद्धि ही है। हे पुत्र ! वह मण्डल की पूजा में तुम्हें श्मशान में ले जाकर तुम्हारा बलिदान करेगा ॥५९॥

इसलिए, तुम्हें मारने के लिए जो कुछ कहे, वह न करना। उससे कहना कि पहले तुम क्रिया करके हमको सिखाओ, तो मैं करूँगा ॥६०॥

जब वह तुम्हें सिखाने के लिए उस प्रकार करे, तब तुम उसकी युक्ति से उसी क्षण उसे मार देना। इस प्रकार वह जिस सिद्धि को चाहता है, वह तुम्हें मिलेगी' ॥६१॥

विष्णु भगवान् के ऐसा कहकर अन्तर्धान होने पर मैंने उठकर सोचा—मैंने मायावी को भगवान् की कृपा से जाना और मुझ से वह मारा जायगा ॥६२॥

ऐसा सोचकर एक पहर रात बीतने पर नंगी तलवार लिये हुए मैं अकेला श्मशान पहुँचा ॥६३॥

वहाँ मण्डल की पूजा किये हुए उस भिक्षु को देखकर मैं उसके समीप गया। वह भी धूर्त्त मुझे देखकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोला—॥६४॥

'आँखे बन्द करके अंगों को फैलाकर नीचे मुँह किये हुए पृथ्वी पर प्रणाम करो। राजन् ! इस प्रकार हम दोनों को एक समान सिद्धि प्राप्त होगी' ॥६५॥

तब मैंने उससे कहा—'पहले तुम इस प्रकार प्रणाम करो। पहले मुझे करके दिखाओ, तब मैं भी इसी प्रकार करूँगा' ॥६६॥

ऐसा सुनकर वह मूर्ख श्रमण उसी प्रकार करने लगा। मैंने तलवार से उसका सिर काट डाला ॥६७॥

इसके बाद ही आकाश में वाणी हुई 'राजन् ! बहुत अच्छा किया, जो इस पापी भिक्षु का बलिदान कर डाला ॥६८॥

इसलिए मैं धनाधिप कुबेर, तुम्हारे धैर्य से प्रसन्न हूँ। इसलिए, मुझसे और जो कुछ चाहता है, वह और वर माँग।' ऐसा कहकर प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर सामने आये कुबेर को प्रणाम करके मैंने कहा—'भगवन् ! आवश्यकता पड़ने पर मैं जब भी तुमसे प्रार्थना करूँ, तब तुम स्मरण-मात्र से उपस्थित होकर मुझे वर प्रदान करना ॥६९—७१॥

'ऐसा ही होगा', मुझे ऐसा कहकर कुबेर अन्तर्धान हो गया और मैं सिद्धि प्राप्त करके शीघ्र अपने भवन में आया ॥७२॥

यह मैंने तुझे अपना वृत्तान्त सुना दिया। अब उसी कुबेर देवता के वर से मदनमाला का प्रत्युपकार करता हूँ ॥७३॥

तद्बुद्धिवर गच्छ त्वं तावत्पाटलिपुत्रकम्।
वेषच्छन्नं समादाय राजपुत्रपरिच्छदम् ॥७४॥
अहं च कृत्वा प्रत्यग्रां प्रियायाः प्रत्युपक्रियाम्।
पुनरागमनायेह तत्रैवैष्यामि सम्प्रति ॥७५॥
एवमुक्त्वा स सचिवं विक्रमादित्यभूपतिः।
दिनकृत्यं स कृत्वा तं व्यसृजत्सपरिच्छदम् ॥७६॥
तथेति च गते तस्मिंस्तां निनाय निशां नृपः।
भाविविश्लेषसोत्कण्टः समं मदनमालया ॥७७॥
सापि दूरीभवन्तं तं शंसतेवान्तरात्मना।
आलिङ्गती मुहुः सोत्का नास्यां निद्रामगान्निशि ॥७८॥
ततः प्रातः स राजा तु विहितावश्यकक्रियः।
नित्यदेवार्चनागारं विवेशैको जपच्छलात् ॥७९॥
तत्र वैश्रवणं देवं संस्मृतोपस्थितं च सः।
वरं प्राक्प्रतिपन्नं तं प्रणम्यैवमयाचत ॥८०॥
प्रयच्छ देव तेनाद्य वरेणाङ्गीकृतेन मे।
सौवर्णान्पञ्च महतः पुरुषांस्तानिहाक्षयान् ॥८१॥
येषामिष्टोपभोगाय च्छिद्यमानान्यनारतम्।
तादृशान्येव जायन्ते तान्यङ्गानि पुनः पुनः ॥८२॥
एवं भवन्तु तद्रूपाः पुरुषास्ते यथेच्छसि।
इत्युक्त्वा स धनाध्यक्षो जगामादर्शनं क्षणात् ॥८३॥
राजापि तत्क्षणं सोऽत्र देवागारे ददर्श तान्।
स्थितानकस्मात्सौवर्णान्महतः पञ्च पूरुषान् ॥८४॥
ततः प्रविष्टो निरगात्स्वां प्रतिज्ञामविस्मरन्।
द्यामुत्पत्य ययौ तावत्पुरं पाटलिपुत्रकम् ॥८५॥
तत्राभिनन्दितोऽमात्यैः पौरैरन्तःपुरैश्च सः।
तस्थौ कार्याणि कुर्वाणः प्रतिष्ठानस्थया धिया ॥८६॥
तावच्चात्र प्रतिष्ठाने प्राविशत्तस्य सा प्रिया।
चिरप्रविष्टं तं कान्तं वीक्षितुं देवसद्म तत् ॥८७॥

इसलिए, बुद्धिवर! तुम वेष से छिपे हुए राजपूतों की सेना लेकर पाटलिपुत्र जाओ। मैं अपनी प्यारी की तुरन्त प्रतिक्रिया (प्रत्युपकार) करके पुनः यहाँ आने के लिए वहीं आता हूँ' ॥७४-७५॥

विक्रमादित्य ने मन्त्री को ऐसा कहकर और दिन-भर के कार्य करके नौकरों और सिपाहियों के साथ मंत्री को भेज दिया ॥७६॥

इस प्रकार मन्त्री के चले जाने पर, राजा ने भावी वियोग की उत्कण्ठा से वह रात मदनमाला के साथ व्यतीत की ॥७७॥

वह मदनमाला दूर होनेवाले राजा के वियोग की मानों सूचना देते हुए हृदय से अतृप्त होकर आलिंगन करती हुई उस रात में सोई नहीं ॥७८॥

प्रातःकाल राजा नित्य कृत्य करके जप करने के बहाने अकेला ही देवता के पूजा-घर में गया ॥७९॥

वहाँ उसने स्मरण करने से ही उपस्थित कुबेर देवता को बुलाकर और प्रणाम करके इस प्रकार प्रार्थना की—॥८०॥

'हे देव ! पहले स्वीकार किये हुए वर के अनुसार तुम मुझे सोने के ऐसे पाँच अक्षय पुरुष प्रदान करो, जिन्हें प्रतिदिन बार-बार काटकर दान कर देने पर उनके कटे अंग पुनः पूर्ववत् हो जायँ ॥८१-८२॥

'ऐसा ही होगा; जैसे पुरुष तुम चाहते हो, तुम्हें मिलेंगे' ऐसा कहकर कुबेर देवता अन्तर्द्धान हो गये ॥८३॥

राजा ने भी उसी समय उस देवमन्दिर में अकस्मात् रखे हुए सोने के पाँच पुरुष देखे। तब राजा भी अपनी प्रतिज्ञा को बिना भुलाये देवगृह से निकलकर और आकाश में उड़कर पाटलिपुत्र नगर को चला गया ॥८४-८५॥

वहाँ रानियों, मन्त्रियों एवं जनता के द्वारा अभिनन्दन किया गया राजा प्रतिष्ठान की ओर बुद्धि लगाये हुए रहने लगा ॥८६॥

इधर प्रतिष्ठान में उसकी प्यारी प्रेयसी मदनमाला, अत्यन्त बिलम्ब देखकर राजा को देखने के लिए उस देवगृह में गई ॥८७॥

प्रविष्टा तत्र नाद्राक्षीत्प्रियं तं नृपतिं क्वचित्।
अद्राक्षीत्तु महोच्छ्रायान्[1] सौवर्णान्पञ्च पूरुषान् ॥८८॥
तान्दृष्ट्वा तमनासाद्य दुःखिता सा व्यचिन्तयत्।
नूनं विद्याधरः कोऽपि गन्धर्वो वा स मे प्रियः ॥८९॥
यः संविभज्य मामेभिः पुंभिरुत्पत्य खं गतः।
तदेतैर्भर्तृतुल्यैः किं तद्वियुक्ता करोम्यहम् ॥९०॥
इति सञ्चिन्त्य पृच्छन्ती निजं परिजनं मुहुः।
तत्प्रवृत्तिं विनिर्गत्य तत्र बभ्राम सर्वतः ॥९१॥
न च लेभे रतिं क्वापि हर्म्योद्यानगृहादिषु।
विलपन्ती वियोगार्त्ता शरीरत्यागसम्मुखी ॥९२॥
मा विषादं कृथा देवि कोऽपि कामचरो हि सः।
देवो यदृच्छया भूयो भव्यां त्वामभ्युपैष्यति ॥९३॥
इत्यादिभिः प्रदत्तास्थैर्वाक्यैः परिजनेन सा।
आश्वासिता कथमपि प्रतिज्ञामकरोदिमाम् ॥९४॥
षण्मासमध्ये यदि मे न स दास्यति दर्शनम्।
दत्तसर्वस्वया वह्नौ प्रवेष्टव्यं ततो मया ॥९५॥
इति प्रतिज्ञयात्मानं संस्तभ्याभूत्ततश्च सा।
अन्वहं ददती दानं ध्यायन्ती तं स्ववल्लभम् ॥९६॥
एकदा स्वर्णपुंसां च तेषामेकस्य सा भुजौ।
छेदयित्वा द्विजातिभ्यो ददौ दानैकतत्परा ॥९७॥
द्वितीयेऽह्नि च साद्राक्षीत्तादृशावेव तस्य तौ।
रात्रिमध्ये समुत्पन्नौ भुजौ सञ्जातविस्मया ॥९८॥
ततः क्रमेण सान्येषां भुजौ दानार्थमच्छिनत्।
उत्पेदिरे च सर्वेषां पुनस्तेषां तथैव ते ॥९९॥
अथ तानक्षयान् दृष्ट्वा विप्रेभ्यो वेदसंख्यया।
अध्येतृभ्यो ददौ छित्त्वा तद्भुजान् सा शुभान्वहम् ॥१००॥
दिनैश्चाल्पैर्गतां दिक्षु श्रुत्वा तां ख्यातिमाययौ।
तत्र संग्रामदत्ताख्यो विप्रः पाटलिपुत्रकात् ॥१०१॥

---

१. अत्युन्नतान्।

उसमें जाकर उसने कहीं भी राजा को नहीं देखा, प्रत्युत वहाँ बड़े ऊँचे पाँच सोने के पुरुषों को देखा ॥ ८८॥

उन्हें देखकर और राजा को न देखकर वह (मदनमाला) सोचने लगी कि वह मेरा प्यारा अवश्य कोई विद्याधर है या गन्धर्व है ॥८९॥

जो मेरे हिस्से में ये पाँच सोने के पुरुष देकर आकाश में उड़ गया, तो उससे वियुक्त होकर इन व्यर्थ भार-स्वरूप पुरुषों को क्या करूँगी ॥९०॥

ऐसा सोचकर पूजागृह से बाहर निकलकर अपने सेवकों से उसका समाचार बार-बार पूछती हुई मदनमाला, पागलों की भाँति इधर-उधर घूमने लगी ॥९१॥

भवन, उद्यान आदि कहीं भी उसे शान्ति न मिली। वह राजा के वियोग से पीड़ित होकर अपना शरीर-त्याग करने का प्रयत्न करने लगी ॥९२॥

'हे देवि ! दुःख न करो। वह अकस्मात् आया हुआ देवता, पुनः तुम्हारे पास आयेगा' ॥९३॥

इस प्रकार, आशा और आश्वासन देनेवाले परिजनों के वाक्यों से आश्वासित मदनमाला ने प्रतिज्ञा यह कर ली कि यदि वह मेरा प्यारा छह महीनों के अन्दर दर्शन न देगा, तो मैं अपना सर्वस्व-दान करके आग में जलकर मर जाऊँगी ॥९४-९५॥

ऐसी प्रतिज्ञा करके और अपने को किसी प्रकार रोककर प्रतिदिन दान देती और अपने प्रिय का ध्यान करती हुई वह किसी तरह जीवित रहने लगी ॥९६॥

एक बार परम दानी उसने सोने के पुरुषों में से एक के हाथों को कटवाकर ब्राह्मणों को दान दे दिया ॥९७॥

दूसरे दिन, उसने देखा कि उसके हाथ उसी तरह रात-भर में फिर से पैदा हो गये हैं ! इससे उसे आश्चर्य हुआ ॥९८॥

इसी प्रकार, उसने क्रमशः सभी पुरुषों के हाथ कटवाकर दान कर दिये; किन्तु रात-भर में वे हाथ उसी प्रकार उग गये ॥९९॥

तदनन्तर, उसने उन पुरुषों को अक्षय देखकर ब्राह्मणों को वेद की संख्या से दान करना प्रारम्भ किया। अर्थात्, जो ब्राह्मण, जितने वेद जानता था, उतने हाथ उसे दान में देने लगी ॥१००॥

कुछ दिनों में उस के दान की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। उसकी इस प्रसिद्धि को सुनकर संग्रामदत्त नामक ब्राह्मण पटलिपुत्र से आया ॥१०१॥

स दरिद्रश्चतुर्वेदो गुणैर्युक्तस्तदन्तिकम्।
प्रतिग्रहार्थी प्राविक्षत्तदा द्वाःस्थनिवेदितः॥१०२॥
सा तस्मै वेदसंख्याकान् ददौ सौवर्णपुंभुजान्।
अर्चिताय व्रतक्षामैरङ्गैर्विरहपाण्डुरैः॥१०३॥
ततः स विप्रो दुःखार्त्तांच्छ्रुत्वा तत्परिवारितः।
तद्वृत्तान्तं महाघोरप्रतिज्ञान्तमशेषतः॥१०४॥
हृष्टो विषण्णश्चारोप्य सौवर्णानुष्ट्रयोर्द्वयोः।
भुजानेतान्निवासं स्वं ययौ पाटलिपुत्रकम्॥१०५॥
अराजरक्षिते क्षेमं नास्मिन् मे काञ्चने भवेत्।
इति तत्र स सञ्चिन्त्य प्रविश्यास्थानवर्त्तिनम्॥१०६॥
नृपतिं विक्रमादित्यं ब्राह्मणः स व्यजिज्ञपत्।
इहैवास्मि महाराज वास्तव्यो नगरे द्विजः॥१०७॥
सोऽहं दरिद्रो वित्तार्थी प्रयातो दक्षिणापथम्।
प्राप्तः परं प्रतिष्ठानं नरसिंहस्य भूपतेः॥१०८॥
तत्र प्रतिग्रहार्थी सन् प्रख्यातयशसो गृहम्।
अहं मदनमालाया गणिकाया गतोऽभवम्॥१०९॥
तस्याः सकाशे दिव्यो हि कोऽप्युषित्वा चिरं पुमान्।
गतः क्वाप्यक्षयान् दत्त्वा पुरुषान् पञ्च काञ्चनान्॥११०॥
ततस्तद्विप्रयोगार्त्ता जीवितं विषवेदनाम्।
देहं निष्फलमायासं नाहारं चौर्यातनाम्॥१११॥
मन्यमाना गतधृतिः कथञ्चिदनुजीविभिः।
आश्वास्यमाना व्यधित प्रतिज्ञां सा मनस्विनी॥११२॥
यदि षण्मासमध्ये मां न स सम्भावयिष्यति।
तन्मयाग्नौ प्रवेष्टव्यं दौर्भाग्योपहतात्मना॥११३॥
इति बद्धप्रतिज्ञा सा मरणाध्यवसायिनी।
ददात्यनुदिनं दानं सुमहत्सुकृतैषिणी॥११४॥
सा च दृष्टा मया देव विशृङ्खलपदस्थितिः।
अनाहारकृशेनापि शरीरेणातिशोभिता॥११५॥
दानतोयार्द्रितकरा मिलितालिकुलाकुला।
दुःस्थिता कामकरिणो मदावस्थेव देहिनी॥११६॥

वह दरिद्र और गुणी चतुर्वेदी ब्राह्मण, दान लेने के लिए द्वारपालों से निवेदन किये जाने पर उसके समीप गया ॥१०२॥

उस मदनमाला ने व्रत से कृश और विरह में पीले पड़ गये अंगों से, उस ब्राह्मण की विधिवत् पूजा करके सोने की चार भुजाएँ उसे प्रदान कीं ॥१०३॥

उस ब्राह्मण ने उसके दुःखी परिवार से उसकी कष्ट-कथा और अन्त में अग्नि-प्रवेश की प्रतिज्ञा सुनकर मन में खेद प्राप्त किया ॥१०४॥

खिन्न, और साथ ही ब्राह्मण सोने की भुजाओं को दो ऊँटों पर लादकर अपने घर पाटलिपुत्र को चला गया ॥१०५॥

घर पहुँचकर उसने सोचा कि यदि यह सोना राजा द्वारा रक्षित न किया गया, तो मेरा कल्याण नहीं है,—ऐसा सोचकर वह ब्राह्मण दरबार में बैठे हुए राजा विक्रमादित्य के पास गया और निवेदन करने लगा—'महाराज ! मैं इसी नगर का रहनेवाला ब्राह्मण हूँ। मैं दरिद्र, धन के लिए दक्षिण दिशा के महाराज नरसिंह के प्रतिष्ठान नगर में गया था। वहाँ दाताओं में प्रसिद्ध यशस्विनी मदनमाला के घर गया था। उसके पास एक दिव्य पुरुष कुछ दिनों तक रहकर और उसे सोने के पाँच अक्षय पुरुष देकर कहीं चला गया। उसके वियोग से पीड़ित मदनमाला, जीवन को विष-वेदना, देह को निष्फल और आहार को घोर-यातना समझकर जीवित है। उसने सेवकों के आश्वासन देने पर यह प्रतिज्ञा की है कि 'यदि वह मेरा प्यारा पति, छह महीने के अन्दर आकर मुझे नहीं सँभालेगा, तो मैं अभागिन आग में प्रवेश करूँगी ॥१०६-११३॥

इस प्रकार, प्रतिज्ञाबद्ध मदनमाला मरने के लिए उद्यत होकर अत्यधिक पुण्य-लाभ की इच्छा से प्रतिदिन बहुत दान देती है। ॥११४॥

महाराज ! मैंने उसे देखा है। उसके पैर लड़खड़ाते हैं, किन्तु अनाहार से दुर्बल होने पर भी उसका शरीर अति मनोहर है। दान के जल से उसके हाथ सदा गीले रहते हैं। घेरे हुए भौंरों से उसके केश व्याकुल रहते हैं। वह काम-रूपी हाथी की शरीरधारिणी मदावस्था के समान प्रतीत होती है ॥११५-११६॥

मन्ये निन्द्यश्च वन्द्यश्च स कामी यो जहाति ताम्।
कान्तो येन विना सा च तनुं त्यजति सुन्दरी॥११७॥
तयात्र मह्यं चत्वारः स्वर्णाः पुरुषबाहवः।
चतुर्वेदाय विधिवत् प्रदत्ता वेदसंख्यया॥११८॥
तत्सुसत्रगृहं कृत्वा स्वधर्ममिह सेवितुम्।
इच्छाम तत्र देवेन साहाय्यं मे विधीयताम्॥११९॥
इति तस्य मुखाच्छ्रुत्वा प्रियावार्त्तां द्विजस्य सः।
सद्योऽभूद्विक्रमादित्यस्तदाक्षिप्तमना नृपः॥१२०॥
आदिश्य च प्रतीहारं द्विजस्यास्येष्टसिद्धये।
विचिन्त्य दृढरागां च तां तृणीकृतजीविताम्॥१२१॥
प्रतिज्ञासिद्धिसाहाय्ये सहसोत्कः स्वकामिनीम्।
गणयित्वाल्पशेषं च तस्या देहव्ययावधिम्॥१२२॥
सत्वरं मन्त्रिनिक्षिप्तराज्यो गत्वा विहायसा।
प्रतिष्ठानं स नृपतिः प्रियावेश्म विवेश तत्॥१२३॥
तत्र ज्योत्स्नाच्छवसनां विवुधार्पितवैभवाम्।
कृशामपश्यत् कान्तां तां पर्वणीन्दुकलामिव॥१२४॥
सापि नेत्रसुधासारमतर्कितमुपस्थितम्।
दृष्ट्वा मदनमाला तमुद्भ्रान्तेवाभवत् क्षणम्॥१२५॥
आलिङ्गन्ती ततो भूयः पलायनभयादिव।
कण्ठे भुजलतापाशमर्पयामास तस्य सा॥१२६॥
किं मामनागसं त्यक्त्वा गतवानसि निष्कृप।
इत्युवाच च तं बाष्पघर्घराक्षरया गिरा॥१२७॥
एहि वक्ष्यामि रहसीत्युक्त्वा सोऽभ्यन्तरं रहः।
तया सह ययौ राजा परिवाराभिनन्दितः॥१२८॥
तत्रात्मानं प्रकाश्यास्यै स्ववृत्तान्तमवर्णयत्।
नरसिंहनृपं युक्त्या जेतुमत्रागमद्यथा॥१२९॥
यथा प्रपञ्चबुद्धिं च हत्वा खेचरतां ययौ।
यथा वरं धनाध्यक्षात्प्राप्य संव्यभजच्च ताम्॥१३०॥
यथा च ब्राह्मणाद्वार्त्तां श्रुत्वा तत्रागतः पुनः।
तत्सर्वमाप्रतिज्ञार्थादुक्त्वा भूयो जगाद ताम्॥१३१॥

मेरी समझ से वह कामी निन्दनीय और प्रशंसनीय भी है। जिसने उसे छोड़ दिया है, वह इतना कमनीय भी है कि वह उसके विना प्राण देने जा रही है॥११७॥

उसने चार वेद जाननेवाले मुझे वेदों की संख्यानुसार चार सोने के पुरुष के हाथ दिये हैं॥११८॥

उन्हें सत्रगृह बना करके स्वधर्म-सेवा में लगाना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि आप उसके संरक्षक बनें॥११९॥

उस ब्राह्मण के मुख से यह प्रियवार्त्ता सुनकर राजा विक्रमादित्य का मन मदनमाला ओर खिंच गया॥१२०॥

और, ब्राह्मण का कार्य करने के लिए प्रतीहार को आज्ञा देकर मदनमाला को दृढ़ प्रेमवाली और अपने लिए जीवन को तृण समान समझनेवाली जानकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने में उत्कण्ठित राजा ने मदनमाला के जीवन को स्वल्प दिनों का समझकर शीघ्र ही मन्त्रियों पर राज्य-भार डालकर आकाश-मार्ग से राजा प्रतिष्ठान नगर को प्रस्थान किया और अपनी प्रेयसी के घर पहुँचा॥१२१—१२३॥

वहाँ उसने चाँदनी में स्वच्छ वस्त्र पहने हुई अपने वैभव को ब्राह्मणों के लिए अर्पित की हुई दुर्बल मदनमाला को अमावस्या की चन्द्र-कला के समान देखा॥१२४॥

वह मदनमाला भी आँखों के लिए अमृत-तत्त्व के समान सहसा आए हुये राजा को देखकर क्षण-भर के लिए स्तब्ध एवं चकित-सी हो गई॥१२५॥

तदनन्तर, उसने उठकर राजा को मानों इसलिए बाहुपाश में बाँध लिया कि कहीं फिर भाग न जाय॥१२६॥

और, 'हे क्रूर! मुझ निरपराध? को छोड़कर क्यों चले गये'—इस प्रकार आँसुओं से रुँधे कण्ठ से बोली—॥१२७॥

'आओ, एकान्त में कहूँगा'—ऐसा कहकर राजा उसे घर के भीतर एकान्त में ले गया। राजा के आ जाने पर मदनमाला के परिवार (सेवक आदि ने) प्रसन्नता मनाई और राजा का अभिनन्दन किया॥१२८॥

एकान्त में जाकर राजा ने अपने को प्रकट करके उसे अपना वृत्तान्त सुनाया—जैसेकि वह राजा नरसिंह को जीतने के लिए पहले आया था॥१२९॥

और, जैसे प्रपंचबुद्धि भिक्षु को मारकर आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त की थी और जैसे कुबेर से वर प्राप्त करके उसे सोने के पुरुष प्रदान किये और जैसे ब्राह्मण द्वारा उसका समाचार सुनकर पुनः वहाँ आया—यह सारा वृत्तान्त राजा ने मदनमाला को विस्तार से सुना दिया॥१३०-१३१॥

तत्प्रिये नरसिंहोऽयमजेयोऽतिबली बलैः।
द्वन्द्वयुद्धेन च मया साकमेष नियुध्यते ॥१३२॥
भूचरं द्युचरो भूत्वा न चैनं हतवानहम्।
अधर्मयुद्धेन जयं को हीच्छेत्क्षत्रियो भवन् ॥१३३॥
तन्मे प्रतिज्ञासाध्यं यद्बन्दिभिर्द्वारवर्तिनः।
आवेदनं नृपस्यास्य तत्र साहायकं कुरु ॥१३४॥
एतच्छ्रुत्वैव धन्यास्मीत्युक्त्वा राज्ञामुना सह।
संमन्त्र्य गणिकाथ स्वानाहूयोवाच बन्दिनः ॥१३५॥
नरसिंहो यदा राजा गृहमेष्यति मे तदा।
द्वारसन्निहितैर्भाव्यं भवद्भिर्दत्तदृष्टिभिः ॥१३६॥
देव भक्तोऽनुरक्तश्च नरसिंहनृपस्त्वयि।
इति वाच्यं च युष्माभिस्तस्य प्रविशतो मुहुः ॥१३७॥
कः स्थितोऽत्रेति यदि च प्रक्ष्यत्युत्प्रेक्ष्य तत्क्षणम्।
स्थितोऽत्र विक्रमादित्य इति वक्तव्य एव सः ॥१३८॥
इत्युक्त्वा तान्विसृज्याथ प्रतीहारीं जगाद सा।
नरसिंहो न राजात्र निषेध्यः प्रविशन्निति ॥१३९॥
एवं कृत्वा पुनः प्राप्तप्राणनाथा यथासुखम्।
तस्थौ मदनमाला सा निःसंख्यं ददती वसु ॥१४०॥
ततः श्रुत्वातिदानं तत्सौवर्णपुरुषोद्भवम्।
नरसिंहनृपो हित्वाप्यागाद्द्रष्टुं स तद्गृहम् ॥१४१॥
प्रतीहारानिषिद्धस्य तस्य प्रविशतोऽत्र च।
आ बहिर्द्वारतस्तारमूचुः सर्वेऽपि बन्दिनः ॥१४२॥
नरसिंहो नृपो देव प्रणतो भक्तिमानिति।
तच्च शृण्वन्स सामर्षः सशङ्कश्चाभवन्नृपः ॥१४३॥
पृष्ट्वा च कः स्थितोऽत्रेति बुद्ध्वा तत्र स्थितं च तम्।
राजानं विक्रमादित्यं क्षणमेवमचिन्तयत् ॥१४४॥
तदिदं प्राक्प्रतिज्ञातं द्वारि मद्विनिवेदनम्।
निर्व्यूढममुना राज्ञा प्रसह्यान्तः प्रविश्य मे ॥१४५॥
अहो राजायमोजस्वी येनाद्यैवमहं जितः।
न च वध्यो बलेनासावेकाकी मे गृहागतः ॥१४६॥

यह कहकर अपनी प्रतिज्ञा सुनाकर फिर बोला—'प्रिये ! यह राजा अत्यन्त बलवान् है, अतः अजेय है। यह मेरे साथ द्वन्द्व-युद्ध कर सकता था; क्योंकि मैं आकाशचारी होकर भूमिचारी को मारना नहीं चाहता था। कौन व्यक्ति, क्षत्रिय होकर अधर्म-युद्ध से विजय प्राप्त करना चाहेगा? ॥१३२—१३३॥

इसलिए, मेरी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए द्वार पर आये हुए नरसिंह के आगमन की सूचना दिलाने में मेरी सहायता करो ॥१३४॥

यह सुनकर वेश्या बोली—'मैं धन्य हूँ।' तदनन्तर राजा से आवश्यक परामर्श करके वेश्या ने अपने बन्दियों को बुलाकर कहा—"राजा नरसिंह जब मेरे घर पर आयेगा, तब तुम लोग उसपर दृष्टि रखते हुए द्वार के पास ही रहना और उसके द्वार में प्रवेश करने के समय कहना—'महाराज ! राजा नरसिंह आप पर भक्ति और अनुराग रखता है। यदि राजा नरसिंह, उस समय यह कहे कि यहाँ कौन ठहरा है, तो कहना कि यहाँ राजा विक्रमादित्य है।" ऐसा कहकर और उन्हें विदाकर, मदनमाला ने द्वारपालिका से कहा—'यहाँ अन्दर आते हुए राजा नरसिंह को रोकना नहीं' ॥१३५—१३९॥

ऐसा प्रबन्ध करके प्राणनाथ को पुनः प्राप्त की हुई मदनमाला भिक्षुओं को असंख्य धन देती हुई राजा के साथ सुख से रहने लगी ॥१४०॥

तदनन्तर, सोने के पुरुषों द्वारा असंख्य दान करती हुई मदनमाला का समाचार सुनकर चकित राजा नरसिंह उस वेश्या के घर का परित्याग कर देने पर भी, सोने के पुरुषों को देखने के लिए उसके यहाँ आया ॥१४१॥

द्वारपालों से न रोके हुए राजा नरसिंह के भीतर आते ही मदनमाला के बन्दीजन, बाहरी द्वार में ही जोर से चिल्लाकर बोले—'महाराज राजा नरसिंह आपके प्रति भक्ति रखता है! और भक्त है।' यह सुनकर राजा नरसिंह क्षण भर के लिए क्रोध और शंका से भर गया ॥१४२—१४३॥

उसने पूछा कि यहाँ कौन ठहरा है? राजा विक्रमादित्य को वहाँ ठहरा हुआ जानकर राजा नरसिंह ने एक क्षण के लिए सोचा—॥१४४॥

राजा विक्रम ने पहले ही द्वार पर मेरी सूचना दिलाने की प्रतिज्ञा की थी, उस प्रतिज्ञा को राजा ने हठात् मेरे घर में घुसकर ही पूरा किया ॥१४५॥

आश्चर्य है कि यह राजा बहुत तेजस्वी है, जिसने आज ही मुझे जीत लिया और एकाकी एवं मेरे घर पर आया हुआ यह मेरे लिए मारने योग्य भी नहीं है ॥१४६॥

तत्तावत् प्रविशामीति नरसिंहो विचिन्त्य सः।
विवेशाभ्यन्तरं राजा बन्दिवृन्दनिवेदितः ॥१४७॥
प्रविष्टं तं च दृष्ट्वैव सस्मितं सस्मिताननः।
उत्थाय विक्रमादित्यः कण्ठे जग्राह भूपतिम् ॥१४८॥
अथोपविष्टौ तौ द्वावप्यन्योन्यकुशलं नृपौ।
तस्यां मदनमालायां पार्श्वस्थायामपृच्छताम् ॥१४९॥
कथाक्रमाच्च पप्रच्छ विक्रमादित्यमत्र सः।
नरसिंहः कुतोऽत्रेमे सुवर्णपुरुषा इति ॥१५०॥
ततोऽत्र विक्रमादित्यो निहतश्रमणाधमम्।
साधिताकाशगमनं वित्तेश्वरवरेण च ॥१५१॥
सम्प्राप्ताक्षयसौवर्णमहापुरुषपञ्चकम्।
कृत्स्नं कथितवानस्मै स्ववृत्तान्तं तमद्भुतम् ॥१५२॥
नरसिंहोऽथ मत्वा तं महाशक्तिं नभश्चरम्।
अपापबुद्धिं वृतवान् मित्रत्वाय नृपो नृपम् ॥१५३॥
प्रतिपन्नसुहृत्त्वं च कृताचारविधिं तदा।
राजधानीं निजां नीत्वा स्वोपचारैरुपाचरत् ॥१५४॥
सम्मान्य प्रहितस्तेन राज्ञा च स नृपः पुनः।
गृहं मदनमालाया विक्रमादित्य आययौ ॥१५५॥
अथ स निजौजःप्रतिभासम्पादितदुस्तरप्रतिज्ञार्थः।
गन्तुं चकार चेतो निजनगरं विक्रमादित्यः ॥१५६॥
तेन समं सा जिगमिषुरसहा विरहस्य मदनमालापि।
त्यक्ष्यन्ती तं देशं ब्राह्मणसादकृत वसतिं स्वाम् ॥१५७॥
ततस्तया साकमनन्यचित्तया तदीयहस्त्यश्वपदात्यनुद्रुतः।
स विक्रमादित्यनरेन्द्रचन्द्रमा निजं पुरं पाटलिपुत्रकं ययौ ॥१५८॥
तत्र तेन सह बद्धसौहृदस्तस्थिवान् स नरसिंहभूभृता।
अन्वितो मदनमालया तया प्रेममुक्तनिजदेशया सुखम् ॥१५९॥
इति देव भवत्युदारसत्त्वो दृढरक्तश्च विलासिनीजनोऽपि।
अवरोधसमो महीपतीनां किमुतान्यः कुलजः पुरन्ध्रिलोकः ॥१६०॥
इत्थं निशम्य मरुभूतिमुखादुदारामेतां कथां स नरवाहनदत्तभूपः।
विद्याधरोत्तमकुलप्रभवा च सास्य रत्नप्रभा नववधूर्व्यधित प्रमोदम् ॥१६१॥
इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे रत्नप्रभालम्बके चतुर्थस्तरङ्गः।

अच्छा जो हो, मैं अन्दर जाता हूँ। देखा जायगा'। इस प्रकार सोचता और बन्दियों से सूचित किया जाता हुआ राजा अन्दर गया ॥१४७॥

उसके अन्दर आते ही मुस्कराते हुए राजा विक्रमादित्य ने उठकर उसे गले से लगा लिया ॥१४८॥

तदनन्तर मदनमाला के समीप ही बैठे हुए दोनों ने आपस में कुशल-मंगल पूछा ॥१४९॥

वार्तालाप के सिलसिले में राजा नरसिंह ने, विक्रमादित्य से पूछा कि 'ये सोने के मनुष्य कैसे आये ?' ॥१५०॥

तब उसी प्रसंग में राजा विक्रम ने प्रपंचबुद्धि भिक्षु का मारना, धनपति कुबेर से आकाश-गति और अक्षयसुवर्ण के पाँच महापुरुषों की प्राप्ति की वह आश्चर्यभरी समस्त कथा कह सुनाई ॥१५१-१५२॥

विक्रम का वृत्तान्त सुनकर उसे आकाशचारी एवं महाशक्तिशाली जानकर नरसिंह ने मित्रता के लिए प्रस्ताव किया और मित्रता प्राप्त की ॥१५३॥

इस प्रकार, मित्रता प्राप्त करने पर राजा नरसिंह ने विक्रम को अपनी राजधानी में ले जाकर राजोचित स्वागत-सत्कार से सम्मानित किया और उसके द्वारा सम्मानित राजा विक्रम फिर से मदनमाला के घर पर आ गया ॥१५४-१५५॥

इस प्रकार, अपने बल और प्रतिभा-प्रकर्ष से, अपनी असाधारण प्रतिज्ञा को पूरी करके राजा विक्रमादित्य ने, अपने नगर पाटलिपुत्र में जाने का विचार किया ॥१५६॥

राजा के वियोग को सहन न करती हुई मदनमाला भी अपने देश का त्याग कर और अपनी सम्पत्ति ब्राह्मणों को दान करके राजा के साथ पाटलिपुत्र जाने को उद्यत हुई ॥१५७॥

तब राजाओं में चन्द्रमा के समान वह राजा विक्रमादित्य, अनन्य चित्तवाली प्राणप्रिया मदनमाला को उसके हाथी, घोड़े और सैनिकों के साथ, अपने पाटलिपुत्र नगर में ले आया ॥१५८॥

राजा नरसिंह के दृढ स्नेहयुक्त सौहार्द से सन्तुष्ट राजा विक्रम, प्रेम के कारण स्वदेश को छोड़कर आई हुई मनदमाला के साथ सुखपूर्वक रहने लगा ॥१५९॥

हे महाराज (नरवाहनदत्त), इस प्रकार वेश्याएँ भी उदारचरित और वैसी ही सदाचारिणी होती हैं—जैसी महारानियाँ। अन्य कुलीन स्त्रियों की तो बात ही क्या ॥१६०॥

इसप्रकार, मरुभूति के मुख से उदार कथा को सुनकर राजा नरवाहनदत्त और उसकी उत्तम विद्याधर-कुल में उत्पन्न नववधू रत्नप्रभा ने अत्यधिक आनन्द प्राप्त किया ॥१६१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के रत्नप्रभालम्बक का

चौथा तरंग समाप्त

पञ्चमस्तरङ्गः

राजपुत्रशृङ्गभुजस्य रूपशिखायाश्च कथा

एवं कथितवत्यत्र मरुभूतौ चमूपतिः।
नरवाहनदत्तस्य पुरो हरिशिखोऽब्रवीत् ॥१॥
सत्यमेव न सुस्त्रीणां भर्तुरन्यत्परायणम्।
तथा च श्रूयतामेषाप्यत्र चित्रतरा कथा ॥२॥
वर्धमानपुरं नाम यदस्ति नगरं भुवि।
तत्र वीरभुजाख्योऽभूद्राजा धर्मभृतां वरः ॥३॥
अन्तःपुरशते तस्य विद्यमानेऽप्यभूत्प्रभोः।
एका गुणवरा नाम राज्ञी प्राणाधिकप्रिया ॥४॥
पत्नीशतस्य मध्ये च न तावद् दैवयोगतः।
एकस्यामपि कस्याञ्चित्पुत्रस्तस्योदपद्यत ॥५॥
तेन वैद्यं स पप्रच्छ श्रुतवर्धनसंज्ञकम्।
कच्चिदस्त्यौषधं तादृग्येन स्यात्पुत्रसम्भवः ॥६॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्वैद्यो देवैतत्साधयाम्यहम्।
वन्यच्छगलकः किं तु देवेनानाय्यतां मम ॥७॥
इत्याकर्ण्य भिषग्वाक्यं प्रतीहारं स भूपतिः।
आदिश्यानाययामास तस्य च्छगलकं वनात् ॥८॥
तं छागं राजसूदेभ्यः समर्प्य स भिषक्ततः।
तन्मांसैः साधयामास राज्ञ्यर्थं रसकोत्तमम् ॥९॥
आदिश्यैकत्र राज्ञीनां मेलकं देवमर्चितुम्।
गते राज्ञि मिलन्ति स्म देव्य एकत्र तत्र ताः ॥१०॥
एका तु मिलिता नासीद्राज्ञो गुणवरात्र सा।
राज्ञो देवार्चनस्थस्य तत्कालं निकटे स्थिता ॥११॥
मिलिताभ्यश्च ताभ्यस्तत्पानार्थं चूर्णमिश्रितम्।
अविभाव्यैव रसकं निःशेषं स ददौ भिषक् ॥१२॥
क्षणात्कृतार्चनः सोऽत्र राजागत्य प्रियायुतः।
वीक्ष्याशेषोपयुक्तं तद्द्रव्यं वैद्यं तमभ्यधात् ॥१३॥
अहो न स्थापितं किञ्चित्त्वया गुणवराकृते।
यत्प्रधानोऽयमारम्भस्तदेव तव विस्मृतम् ॥१४॥

पञ्चम तरंग

राजपुत्र शृंगभुज और रूपशिखा की कथा

इस प्रकार, मरुभूति के कथा सुनाने पर सेनापति हरिशिख ने नरवाहनदत्त के सन्मुख कहा—॥१॥

'यह सत्य है, कुलीन स्त्री के लिए पति ही एकमात्र गति है। इस प्रसंग में एक आश्चर्यमयी कथा सुनें'—॥२॥

इस भूतल पर वर्धमान नामक जो नगर है, उसमें वीरभुज नाम का राजा था। उसकी रानियों में गुणवरा नाम की महारानी उसे प्राणों से भी अधिक प्यारी थी॥३-४॥

उस राजा की एक सौ रानियों में एक को भी पुत्र (सन्तान) नहीं था॥५॥

इस कारण राजाने श्रुतवर्धन नामक वैद्य को बुलाकर पूछा कि क्या ऐसी कोई औषधि है कि जिससे पुत्र की उत्पत्ति हो सके॥६॥

यह सुनकर वैद्य ने कहा—'महाराज! मैं इस कार्य को सिद्ध करता हूँ; किन्तु यदि आप मेरे लिए एक जंगली बकरा मँगा दें'॥७॥

वैद्य की बात सुनकर राजा ने द्वारपाल को आज्ञा देकर जंगली बकरा मँगा दिया॥८॥

उस बकरे को राजा के रसोईदारों को देकर वैद्य ने, रानियों के लिए स्वादिष्ठ रस (शोरबा) बनवाया॥९॥

राजा सब रानियों को एक स्थान पर आने की आज्ञा देकर स्वयं भगवान् की पूजा करने चला गया और सारी रानियाँ एक स्थान पर एकत्र हो गईं॥१०॥

इनमें केवल एक महारानी गुणवरा अनुपस्थित रही; क्योंकि वह उस समय राजा के साथ देव-पूजन में व्यस्त थी॥११॥

सब रानियों के एकत्र होने पर वैद्य ने, उनके पीने के लिए चूर्ण से मिला हुआ संपूर्ण मांस-रस उनमें में बाँट दिया॥१२॥

तुरन्त ही राजा पूजन करके रानी गुणवरा के साथ वहाँ आया और सभी मांस-रस को समाप्त देखकर वैद्य से बोला—'बहुत बुरा हुआ कि तुमने गुणवरा के लिए कुछ भी रस बचाकर नहीं रखा। जिसके लिए यह सब कुछ किया गया, उसे ही तुम भूल गये?'—॥१३—१४॥

इत्युक्त्वा स विलक्षं तं वैद्यं सूदान्नृपोऽब्रवीत्।
किं तस्य च्छगलस्यास्ति मांसशेषोऽत्र कश्चन ॥१५॥
शृङ्गे परे स्त इत्युक्ते सूदैर्वैद्योऽथ सोऽब्रवीत्।
साधु तर्ह्युत्तमं हि स्याद्रसकं शृङ्गगर्भजम् ॥१६॥
इत्युक्त्वा कारयित्वैव तत्तत: शृङ्गमांसत:।
तस्यै गुणवरायै स चूर्णमिश्रं भिषग्ददौ ॥१७॥
ततस्तस्याथ नवतिर्देव्यो राज्ञो नवाधिका:।
आसन्सगर्भा: काले च सर्वा: सुषुविरे सुतान् ॥१८॥
अर्वागुपात्तगर्भा च सा सर्वोत्तमलक्षणम्।
प्रासूत स्म महादेवी पश्चाद् गुणवरा सुतम् ॥१९॥
शृङ्गमांसरसोत्पन्नं नाम्ना शृङ्गभुजं च तम्।
पिता वीरभुजश्चक्रे राजा कृतमहोत्सव: ॥२०॥
वर्धमान: महान्यैस्तैर्भ्रातृभिर्वयसा परम्।
कनिष्ठ: सोऽभवत्तेषां गुणैर्ज्येष्ठतमस्त्वभूत् ॥२१॥
क्रमात्स राजपुत्रश्च रूपे कामसमो भवत्।
धनुर्वेदेऽर्जुनसमो भीमसेनसमो बले ॥२२॥
तत: सपुत्रां सुतरां दृष्ट्वा वीरभुजस्य ताम्।
प्रियां गुणवरां राज्ञो देव्योऽन्या मत्सरं ययु: ॥२३॥
अथ तास्वयशोलेखा नाम राज्ञी दुराशया।
सम्मन्त्र्य ताभिरन्याभि: सह कृत्वा च संविदम् ॥२४॥
समस्ताभि: सपत्नीभिस्तं राजानं गृहागतम्।
मृषाधृतमुखग्लानि: पृच्छन्तं कृच्छ्रतोऽब्रवीत् ॥२५॥
आर्यपुत्र कथं नाम सहसे गृहदूषणम्।
परस्य रक्षितात्रद्यं न रक्षस्यात्मन: कथम् ॥२६॥
य: सुरक्षितनामायमन्त:पुरपतिर्युवा।
तत्सक्ता हि त्वदीयैषा राज्ञी गुणवरा किल ॥२७॥
तदन्यस्य न लाभोऽस्ति सौविदल्ला[1]भिरक्षिते।
अन्त:पुरेऽत्र पुंसो यदतोऽसौ तेन सङ्गता ॥२८॥

---

१. सौविदल्ल: = कञ्चुकी। तल्लक्षणम्, यथा —
अन्त:पुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वित:।
सर्वकार्यार्थकुशल: कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

ऐसा सुनकर वैद्य को लज्जित और स्तब्ध देखकर राजा ने पाचक से कहा—'क्या उस बकरे का कुछ भी मांस शेष है' ? ॥१५॥

'हाँ, केवल दो सींग बचे हैं', पाचकों के ऐसा कहने पर वैद्य बोला—'ठीक है, सींगों के अन्दर का मांस तो बहुत उत्तम होगा, उसे पकाओ।' ऐसा कहकर और सींगों के मांस से रस बनवाकर वैद्य ने चूर्ण मिलाकर रानी गुणवरा को दिया ॥१६—१७॥

उस ओषधि के सेवन से राजा की निन्यानब्बे रानियाँ एक साथ ही गर्भवती हुईं और साथ ही उन्होंने पुत्रों का प्रसव किया ॥१८॥

सबसे अन्त में रस-पान करने के कारण रानी गुणवरा ने सम्पूर्ण शुभलक्षणों से युक्त पुत्र को सबसे पीछे प्रसव किया ॥१९॥

यह बालक शृंग में लगे मांसरस से उत्पन्न हुआ था, इसलिए राजा ने इसका नाम शृंगभुज रख दिया ॥२०॥

क्रमशः भाइयों के साथ बड़ा होता हुआ शृंगभुज, रूप में अवस्था में छोटा होने पर भी गुणों में उनसे बहुत बड़ा मालूम होता था ॥२१॥

क्रमशः वह राजकुमार शृंगभुज, रूप में कामदेव के समान, धनुर्वेद में अर्जुन के समान और बल में भीमसेन के समान हुआ ॥२२॥

इस प्रकार, गुणवाले पुत्र के साथ उसकी माता गुणवरा को सन्तुष्ट देखकर राजा वीरभुज की अन्य रानियाँ उससे डाह करने लगी ॥२३॥

इनमें सबसे दुष्ट रानी अयशोलेखा ने इस स्थिति को देखकर सभी रानियों से मिलकर एक सम्मति की और राजा के घर आने पर झूठे ही मुँह को मलिन बना लिया और राजा के पूछने पर बड़ी ही कठिनाई से बोली—'आर्यपुत्र ! तुम घर के भीतर का कलंक कैसे सहन करते हो ? दूसरों की बुराई की रक्षा करते हो और उस (बुराई) से अपनी रक्षा क्यों नहीं करते हो ? ॥२४—२६॥

यह जो सुरक्षित नाम का रनिवास का जवान रक्षक है, उसपर तुम्हारी रानी गुणवरा आसक्त है ॥२७॥

कंचुकियों द्वारा सुरक्षित रनिवास में अन्य किसी व्यक्ति के आने की तो सम्भावना नहीं है, इसलिए यह रानी उसी सुरक्षित से फँस गई है' ॥२८॥

सर्वत्रान्तःपुरे चैतत्प्रसिद्धमिह गीयते।
इत्युक्तः स तया राजा दध्यौ च विममर्श च ॥२९॥
गत्वा चैकैकशो राज्ञीरन्याः पप्रच्छ ताः क्रमात्।
ताश्च तस्मै तथैवोचुः सर्वा रचितकैतवाः ॥३०॥
ततः स मतिमान् राजा जितक्रोधो व्यचिन्तयत्।
तयोः सम्भाव्यते नैतत्प्रवादश्चायमीदृशः ॥३१॥
तदा निश्चित्य कार्यो मे प्रतिभेदो न कस्यचित्।
युक्त्या तु परिहार्यौ तौ सम्प्रत्यन्तमवेक्षितुम् ॥३२॥
इति निश्चित्य सोऽन्येद्युरास्थानेऽन्तःपुराधिपम्।
सुरक्षितं तमाहूय कृतकोपः समभ्यधात् ॥३३॥
ब्रह्महत्या त्वया पाप कृतेत्यवगतं मया।
तत्त्वामकृतसत्तीर्थयात्रं न द्रष्टुमुत्सहे ॥३४॥
तच्छ्रुत्वा तं समुद्भ्रान्तं ब्रह्महत्या कुतो मया।
कृता देवेति जल्पन्तं स राजा पुनरब्रवीत् ॥३५॥
मा स्म धाष्ट्र्यं कृथा गच्छ काश्मीरान्पापनाशनान्।
यत्र तद्विजयक्षेत्रं नन्दिक्षेत्रं च पावनम् ॥३६॥
वाराहं यत्र च क्षेत्रं ये पूताश्चक्रपाणिना।
धत्ते नाम वितस्तेति वहन्ती यत्र जाह्नवी ॥३७॥
यत्र तन्मडवक्षेत्रं यत्र चोत्तरमानसम्।
तत्तीर्थयात्रापूतो मां पुनर्द्रक्ष्यसि नान्यथा ॥३८॥
एवमुक्त्वा तमवशं विससर्ज सुरक्षितम्।
स युक्त्या तीर्थयात्रायां दूरं वीरभुजो नृपः ॥३९॥
ततो गुणवरादेव्याः पूर्वं तस्या जगाम सः।
सस्नेहश्च सकोपश्च सविमर्शश्च भूपतिः ॥४०॥
तत्र सा खिन्नमनसं तं दृष्ट्वापृच्छदाकुला।
आर्यपुत्र किमद्यैवमकस्माद् दुर्मनायसे ॥४१॥
तच्छ्रुत्वा स महीभृत्तामेवं कृतकमभ्यधात्।
अद्यागत्य महाज्ञानी देवी मां कोऽप्यभाषत ॥४२॥
राजन् गुणवरा देवी कालं कञ्चन भूगृहे।
स्थापनीया त्वया भाव्यं स्वयं च ब्रह्मचारिणा ॥४३॥

यह बात सारे अन्तःपुर में प्रसिद्ध हो गई है, यह सुनकर राजा चिन्तित हुआ और विचार करने लगा ॥२९॥

उसके बाद एक-एक रानी के पास गया और क्रमशः उन सब से पूछा। उन सभी रानियों ने कपट करके एक ही बात कही, जो पहले से निश्चित कर चुकी थी ॥३०॥

तब उस बुद्धिमान् और सहिष्णु राजा ने सोचा—'उन दोनों के सम्बन्ध में ऐसी बात की सम्भावना तो नहीं है, किन्तु प्रवाद ऐसा हो गया है। इसलिए बिना पूर्ण निश्चय के मुझे यह रहस्य नहीं खोलना चाहिए। इस समय अन्तिम स्थिति देखने के लिए दोनों को रोकना चाहिए ॥३१-३२॥

ऐसा निश्चय करके दूसरे दिन, राजा ने रनिवास के अध्यक्ष सुरक्षित को दरबार में बुलाकर क्रोध प्रदर्शित करते हुए कहा—॥३३॥

'रे पापी! मैंने पता लगाया है कि तूने ब्रह्महत्या की है। इसलिए, तीर्थयात्रा किये बिना तुझे मैं देखना नहीं चाहता' ॥३४॥

यह सुनकर घबराये हुए 'महाराज! मैंने ब्रह्महत्या नहीं की?'—ऐसा कहते हुए सुरक्षित से राजा ने फिर कहा—॥३५॥

'धृष्टता न करो। पापों का नाश करनेवाले कश्मीर देश को जाओ। वहाँ विजय-क्षेत्र और पवित्र नन्दिक्षेत्र है ॥३६॥

और वहाँ वराह-क्षेत्र है। इन क्षेत्रों को भगवान् विष्णु ने पवित्र किया है। जिस देश में बहती हुई जाह्नवी (गंगा) वितस्ता नाम-धारण करती है, जहाँ उत्तर-मानस नामक पवित्र स्थल है। इन तीर्थों की यात्रा करके पवित्र होकर मेरे पास आना—ऐसे नहीं' ॥३७-३८॥

ऐसा कहकर उस बेचारे सुरक्षित को राजा वीरभुज ने, तीर्थयात्रा के बहाने युक्तिपूर्वक दूर भेज दिया ॥३९॥

तब स्नेह-क्रोध और चिन्ता से युक्त राजा गुणवरा रानी के समीप गया। वहाँ उसे खिन्नचित्त देखकर व्याकुल रानी ने पूछा कि 'हे आर्यपुत्र! आज अकस्मात् तुम दुःखी क्यों हो? ॥४०-४१॥

यह सुनकर राजा वीरभुज रानी से बनावटी बातें बोला—"हे महारानी! किसी महाज्ञानी विद्वान् (ज्योतिषी) ने आकर मुझे कहा—॥४२॥

'हे राजन्! रानी गुणवरा को तुम कुछ समय के लिए भू-गृह (तहखाने) में रख दो और स्वयं ब्रह्मचारी रहो ॥४३॥

राज्यभ्रंशोऽन्यथा ते स्यान्मृत्युस्तस्याश्च निश्चितम्।
इत्युक्त्वा स गतो ज्ञानी विषादोऽयं ततो मम॥४४॥
एवं तेनोदिते राज्ञा राज्ञी गुणवरा तु सा।
भयानुरागविभ्रान्ता तं जगाद पतिव्रता॥४५॥
तर्ह्यार्यपुत्र नाद्यैव किं मां क्षिपसि भूगृहे।
धन्या ह्यस्मि यदि प्राणैरपि स्यान्मे हितं तव॥४६॥
मम वा मृत्युरस्त्वेव तव माऽभूदनिर्वृतिः।
इहामुत्र च नारीणां परमा हि गतिः पतिः॥४७॥
इति तस्या वचः श्रुत्वा साश्रुः सोऽचिन्तयत्प्रभुः।
शङ्के न पापमेतस्यां न च तस्मिन्सुरक्षिते॥४८॥
स ह्यम्लानमुखच्छायो निराशङ्को मयेक्षितः।
कष्टं तथापि जिज्ञासे प्रवादस्यास्य निश्चयम्॥४९॥
इत्यालोच्य स तां राजा राज्ञीमाह स्म दुःखितः।
तदिहैव वरं देवि भूगृहं क्रियतामिति॥५०॥
तथेति च तया प्रोक्तस्तत्रैवान्तःपुरे सुगम्।
विधाय भूगृहं राजा देवीं तां निदधेऽथ सः॥५१॥
पुत्रं शृङ्गभुजं तस्या विषण्णं पृष्टकारणम्।
आश्वासयत्तदेवोक्त्वा राज्ञी तां स यदुक्तवान्॥५२॥
सापि राज्ञो हितमिति स्वर्गं मेने धरागृहम्।
स्वसुखं नास्ति साध्वीनां तासां भर्तृसुखं सुखम्॥५३॥
एवं कृतेऽयशोलेखा तस्य राज्यपराथ सा।
निर्वासभुजनामानं स्वैरं स्वसुतमभ्यधात्॥५४॥
राज्ञास्मद्विधुरा तावत्खाते गुणवरार्पिता।
एतत्पुत्रश्च देशाच्चेदितो गच्छेत् सुखं भवेत्॥५५॥
तत्स शृङ्गभुजो देशान्निर्वास्येताचिराद्यथा।
तां पुत्र चिन्तयेर्युक्तिं त्वमन्यैर्भ्रातृभिः सह॥५६॥
इति मात्रोदितः सोऽन्यान् भ्रातॄनुक्त्वा समत्सरः।
आस्ते स्म निर्वासभुजस्तत्रोपायं विचिन्तयन्॥५७॥
एकदा ते महास्त्राणि प्रयुञ्जाना नृपात्मजाः।
प्रासादाग्रे महाकायं सर्वेऽपि ददृशुर्बकम्॥५८॥

यदि ऐसा न करोगे, तो तुम्हारा राज्य नष्ट हो जायगा और रानी की मृत्यु हो जायगी। ऐसा कहकर वह ज्ञानी चला गया। उसीसे मुझे खेद हो गया है" ॥४४॥

राजा के इस प्रकार कहने पर पतिव्रता रानी गुणवरा प्रेम और भय से व्याकुल होकर बोली—॥४५॥

'महाराज! यदि ऐसा है, तो आप मुझे आज ही भू-गृह में क्यों नहीं बन्द कर देते। मैं धन्य हूँगी, यदि मेरे प्राणों से भी तुम्हें सुख प्राप्त हो सके ॥४६॥

भले ही मेरी मृत्यु हो जाय, किन्तु आपको दुःख प्राप्त न हो; क्योंकि स्त्रियों को इस लोक और परलोक में, पति ही परम गति है' ॥४७॥

उसके इस प्रकार के वचन सुनकर आँसू बहाता हुआ राजा सोचने लगा कि इस रानी में या उस सुरक्षित में मुझे पाप की शंका नहीं है ॥४८॥

उस सुरक्षित को मैंने शंका-रहित और प्रसन्नमुख देखा। दुःख है। तो भी इस निन्दा के सम्बन्ध में निर्णय करता हूँ ॥४९॥

ऐसा सोचकर अत्यन्त दुःखी राजा ने रानी से कहा—'तब मैं यहीं रनिवास में भू-गृह बनवाता हूँ। रानी की स्वीकृति मिलने पर राजा ने वहीं एक सुगम (आने-जाने में सरल) भू-गृह बनवाया और रानी को उसमें रख दिया ॥५०-५१॥

दुःखी और कारण पूछते हुए पुत्र शृंगभुज को रानी ने राजा से कही गई बात कहकर धीरज बँधाया ॥५२॥

रानी गुणवरा ने राजा का हित समझकर उस भू-गृह को स्वर्ग समान समझा; क्योंकि पतिव्रता स्त्रियों को अपना सुख, सुख नहीं है, पति का सुख ही उनका सुख है ॥५३॥

यह सब होने पर दूसरी रानी अयशोलेखा ने अपने निर्वासभुज नामक पुत्र को एकान्त में कहा—'राजा ने हमारी सौत गुणवरा को तो गड्ढे में डाल दिया। अब इसका लड़का भी निकल कर कहीं चला जाय, तो बहुत आनन्द हो इसलिए, बेटे! तुम अपने भाइयों से मिलकर ऐसी युक्ति सोचो ॥५४-५६॥

माता से इस प्रकार कहा गया निर्वासभुज, ईर्ष्यापूर्वक अन्य भाइयों के साथ उपाय सोचने लगा ॥५७॥

एकबार वे सभी राजपुत्र, अपने अस्त्र-शस्त्रों की परीक्षा के लिए राजभवन के सामने के मैदानमें एकत्र हुए और उन्होंने भवन पर बैठे हुए एक बगुले को देखा ॥५८॥

विकृतं पक्षिणं तं च पश्यतस्तान् सविस्मयान्।
ज्ञानी क्षपणकः कोऽपि पथा तेनागतोऽब्रवीत्॥५९॥
राजपुत्रा बको नाऽयं रूपेणानेन राक्षसः।
भ्रमत्यग्निशिखाख्योऽयं नगराणि विनाशयन्॥६०॥
तद्विध्यतैनं काण्डेन यावद् गच्छत्वितो हतः।
एतत् क्षपणकाच्छ्रुत्वा नवतिस्ते नवाधिकाः॥६१॥
काण्डानि चिक्षिपुर्ज्येष्ठा नेकोऽप्याहतवान् बकम्।
ततो नग्नक्षपणकः पुनस्तानब्रवीच्च सः॥६२॥
अयं कनीयान् युष्माकं भ्राता शृङ्गभुजो बकम्।
शक्नोति हन्तुमेतं तद्गृह्णात्वेष क्षमं धनुः॥६३॥
तच्छ्रुत्वैव स्मरन् मातुस्तल्लब्धावसरं वचः।
स निर्वासभुजो जाल्मस्तत्क्षणं समचिन्तयत्॥६४॥
सोऽयं शृङ्गभुजस्यास्य स्यादुपायः प्रवासने।
तदर्पयामस्तातस्य सम्बन्ध्यस्मै धनुःशरम्॥६५॥
सौवर्णं तच्छरं हृत्वा विद्धो यास्यति चेद् बकः।
पश्चादेषोऽपि गन्तास्य मार्गत्स्वस्मासु तं शरम्॥६६॥
यदा च लप्स्यते नैतं चिन्वन् रक्षो बकं तदा।
स्थास्यतीतस्ततो भ्राम्यन्नैष्यतीह शरं विना॥६७॥
इत्यालोच्य ददौ तस्मै पापः शृङ्गभुजाय सः।
बकघाताय सशरं पितृसम्बन्धि कार्मुकम्॥६८॥
स गृहीत्वा तदाकृष्य तेन स्वर्णशरेण तम्।
रत्नपुङ्खेन विव्याध बकं शृङ्गभुजो बली॥६९॥
स विद्धमात्रस्तं कायलग्नमादाय सायकम्।
बकः स्रवदसृग्धारः पलाय्यैव ततो ययौ॥७०॥
ततः शृङ्गभुजं वीरं स निर्वासभुजः शठः।
तत्संज्ञाप्रेरितास्ते च भ्रातरोऽन्ये तमब्रुवन्॥७१॥
देहि हेममयं तं नस्तातसम्बन्धिनं शरम्।
अन्यथाद्य शरीराणि त्यक्ष्यामः पुरतस्तव॥७२॥
तातस्तेन विना ह्यस्मानितो निर्वासयिष्यति।
न च कर्तुं ग्रहीतुं वा शक्यं तत्प्रतिरूपकम्॥७३॥

उस विकृत पक्षी को देखकर आश्चर्य करते हुए राजकुमारों को देखकर उस मार्ग से जाते हुए किसी ज्ञानी भिक्षु ने कहा—'हे राजकुमारो ! यह बगुला नहीं है। बगले के रूप में, नगरों का नाश करता हुआ यह अग्निशिख नामका राक्षस है ॥५९-६०॥

अतः, इसे बाण से बींध दो, जिससे कि यह यहाँ से भाग जाय।' क्षपणक से ऐसा सुनकर उन निन्यानब्बे राजपुत्रों ने उसपर अपने-अपने तीर चलाये,फिर भी बगुला नहीं मरा। तब वह दिगम्बर (नंगा) साधु बोला—'तुम लोगों का छोटा भाई शृंगभुज, बगुले को मार सकता है, इसलिए यह एक अच्छा धनुष ले ॥६१-६३॥

उसी समय वह क्रूर (जालिम) निर्वासभुज माँ की बातों को यादकर और उस अवसर को उपयुक्त समझकर सोचने लगा—॥६४॥

कि 'यह अवसर है शृंगभुज को यहाँ से निकलवाने का। अतः, इसे पिता का धनुष-बाण देते हैं ॥६५॥

उसके सुनहले बाण से बींधा हुआ बगुला यदि उड़ जायगा, तो यह भी उस बाण को लाने के लिए पीछे-पीछे भागेगा ॥६६॥

और, जब इस राक्षस बगुले को खोजते-खोजते नहीं प्राप्त कर सकेगा, तो लज्जा और-संकोच-वश यहाँ न आकर इधर-उधर घूमता रहेगा ॥६७॥

ऐसा सोचकर उस पापी निर्वासभुज ने बगुले को मारने के लिए शृंगभुज को पिता के धनुष-बाण लाकर दे दिये ॥६८॥

उसे लेकर बलवान् शृंगभुज ने, रत्नों के पंखवाले उस सुनहले बाण से बगुले को बींध दिया ॥६९॥

बाण से बिंधा हुआ बगुला शरीर में घुसे हुए बाण को लिये और रक्त की धार बहाता हुआ वहाँ से उड़कर भागा ॥७०॥

तब वह दुष्ट निर्वासभुज और उससे प्रेरित राजकुमार उस वीर शृंगभुज से बोले—॥७१॥

'हमारे उस पिताजी के सुनहले बाण को दो, नहीं तो हम सब तेरे सामने ही शरीरों का त्याग कर देंगे ॥७२॥

क्योंकि, उसके बिना पिता हम सबको देश से निर्वासित कर देंगे। उसी बाण के जैसा दूसरा नया बाण नहीं बनाया जा सकता' ॥७३॥

तच्छ्रुत्वैव स जिह्मांस्तान् वीरः शृङ्गभुजोऽब्रवीत्।
धीरा भवत मा भूद्वो भयं कार्पण्यमुज्झत ॥७४॥
आनेष्यामि शरं गत्वा हत्वा तं राक्षसाधमम्।
इत्युक्त्वा सशरं चापं निजं शृङ्गभुजोऽग्रहीत् ॥७५॥
ययौ च तां समुद्दिश्य दिशं यां स बको गतः।
पतितां तदसृग्धारां भूमावनुसरञ्जवात् ॥७६॥
हृष्टेषु तेषु चान्येषु मातृपार्श्वं गतेष्वथ।
गच्छन् सः क्रमशः प्राप दूरां शृङ्गभुजोऽटवीम् ॥७७॥
तस्यां ददर्श चिन्वानो वनस्यान्तर्महत्पुरम्।
भोगायोपनतं काले फलं पुण्यतरोरिव ॥७८॥
तत्रोद्यानतरोर्मूले स विश्रान्तः क्षणादिव।
आश्चर्यरूपामायान्तीमत्र कन्यामवैक्षत ॥७९॥
विरहे जीवितहरां सङ्गमे प्राणदायिनीम्।
विचित्रां निर्मितां धात्रा विषामृतमयीमिव ॥८०॥
शनैरुपगतां तां च चक्षुषा प्रेमवर्षिणा।
पश्यन्तीं तद्गतमनाः स पप्रच्छ नृपात्मजः ॥८१॥
किं नामधेयं कस्येदं पुरं हरिणलोचने।
त्वं च का किं तवेहायमागमः कथ्यतामिति ॥८२॥
ततः साचीकृतमुखी न्यस्तदृष्टिर्महीतले।
सा तं जगाद सुदती मधुरस्निग्धया गिरा ॥८३॥
इदं धूमपुरं नाम सर्वसम्पद्गृहं पुरम्।
अस्मिन् वसत्यग्निशिखो नाम राक्षसपुङ्गवः ॥८४॥
तस्य रूपशिखां नाम सदृशीं विद्धि मां सुताम्।
इहागतामसामान्यत्वद्रूपाहृतमानसाम् ॥८५॥
त्वं ब्रूहि मेऽधुना कोऽसि किमिहाभ्यागतोऽसि च।
एवमुक्ते तया तस्यै सर्वं शृङ्गभुजः क्षणम् ॥८६॥
योऽसौ यन्नामधेयश्च यस्य पुत्रो महीपतेः।
यथा शरनिमित्तेन तद्धूमपुरमागतः ॥८७॥
ततो विदितवृत्तान्ता सा तं रूपशिखाभ्यधात्।
न त्वया सुदृगन्योऽस्ति त्रैलोक्येऽपि धनुर्धरः ॥८८॥

यह सुनकर वीर शृंगभुज, उन कपटियों से बोला—'धीरज रखो। घबराओ मत। डरो मत। मैं उस नीच राक्षस को मारकर उस बाण को ला दूँगा।' ऐसा कहकर शृंगभुज अपने धनुष-बाण लेकर जमीन पर गिरती हुई रक्त-धारा का अनुसरण करता हुआ चला ॥७४–७६॥

इस प्रकार, प्रसन्न होकर अन्य राजपुत्रों के अपनी माताओं के समीप चले जाने पर वह शृंगभुज जिस दिशा को बगुला भागा था; उस दिशा की ओर बगुले के पीछे-पीछे जंगल में चला गया ॥७७॥

उसने उस घोर जंगल में बगुले को खोजते हुए उसके भीतर एक महान् नगर को ऐसे देखा जैसे मानों पुण्य-रूपी वृक्ष का भोग के लिए आया हुआ फल हो ॥७८॥

उस नगर के उद्यान में एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए उसने आश्चर्यमय रूपवाली आती हुई कन्या को देखा ॥७९॥

विरह में प्राण हरण करनेवाली और संगम में अमृतमयी वह कन्या विधाता ने विचित्र रूप से, विष और अमृत के सम्मिश्रण से बनाई थी ॥८०॥

धीरे-धीरे समीप आई हुई और अमृत बरसानेवाली आँखों से देखती हुई उससे राजकुमार ने पूछा ॥८१॥

'हे मृगनयनी ! इस नगर का क्या नाम है ? यह नगर किसका है और तू कौन है ? और यहाँ कैसे आई है।' यह सब कहो, ॥८२॥

तब मुख को कुछ टेढ़ी की हुई, भूमि पर आँखें गड़ाई हुई वह सुन्दर दाँतोंवाली कन्या मीठी और स्नेह-भरी भाषा में बोली—॥८३॥

'यह धूमपुर नामक नगर है। यह समस्त सम्पत्तियों का घर है। इस नगर में राक्षसों में श्रेष्ठ अग्निशिख नामक राक्षस रहता है ॥८४॥

मैं उसी के नाम के अनुसार रूपवाली रूपशिखा नाम की कन्या हूँ। तुम्हारे असाधारण रूप से आकृष्ट होकर यहाँ आई हूँ ॥८५॥

अब तुम बताओ कि तुम कौन हो ?' और यहां कैसे आये हो ? उसके ऐसा कहने पर शृंगभुज ने अपना, अपने पिता का और बगुले पर बाण चलाने आदि का सारा वृतान्त कह सुनाया और बताया कि वह पिता का सुनहला बाण लाने के लिए धूमपुर आया है ॥८६-८७॥

तब उसके विचार को जानकर रूपशिखा उससे बोली कि तुम्हारे समान धनुर्धारी तीनों लोक में नहीं है ॥८८॥

यन तातोऽप्यसौ विद्धो बकरूपो महेषुणा।
स च हेममयो बाणः स्वीकृतः क्रीडया मया॥८९॥
तातस्तु निर्व्रणः सद्यो महादंष्ट्रेण मन्त्रिणा।
विशल्यकरणीमुख्यमहौषधिविदा कृतः॥९०॥
तद्यामि तातं सम्बोध्य नयाम्यभ्यन्तरं द्रुतम्।
त्वामार्यपुत्र न्यस्तो हि त्वय्यात्मायं मयाधुना॥९१॥
इत्युक्त्वा तमवस्थाप्य तत्र शृङ्गभुजं क्षणम्।
ययौ रूपशिखा पार्श्वं पितुरग्निशिखस्य सा॥९२॥
तात शृङ्गभुजो नाम राजसूनुरिहागतः।
कोऽप्यनन्यसमो रूपकुलशीलवयोगुणैः॥९३॥
जाने कोऽप्यवतीर्णोऽत्र देवांशो न स मानुषः।
स चेद्भर्त्ता न मे स्यात् तत्त्यजेयं जीवितं ध्रुवम्॥९४॥
इत्युक्तः स तया तत्र पिता तां राक्षसोऽब्रवीत्।
मानुषाः पुत्रि भक्ष्या नस्तथापि यदि ते ग्रहः॥९५॥
तदस्तु राजपुत्रं तमिहैवानाय्य दर्शय।
तच्छ्रुत्वा सा ययौ रूपशिखा शृङ्गभुजान्तिकम्॥९६॥
उक्त्वा यथाकृतं तच्च तं निनायान्तिकं पितुः।
सोऽपि तं नम्रमादृत्य तत्पिताग्निशिखोऽब्रवीत्॥९७॥
ददामि राजपुत्रैतां तुभ्यं रूपशिखामहम्।
यदि मद्वचनं किञ्चिन्नातिक्रामसि जातुचित्॥९८॥
इत्युक्तवन्तं तं सोऽपि प्रह्वः शृङ्गभुजोऽब्रवीत्।
बाढमुल्लङ्घयिष्यामि नैवाज्ञावचनं तव॥९९॥
इति शृङ्गभुजेनोक्तस्तुष्टः सोऽग्निशिखोऽभ्यधात्।
उत्तिष्ठ तर्हि स्नात्वा त्वमागच्छ स्नानवेश्मनः॥१००॥
तमेवमुक्त्वावादीत्तां सुतां रूपशिखां च सः।
त्वं गच्छ सर्वा भगिनीरादायागच्छ सत्वरम्॥१०१॥
एवमग्निशिखेनोक्तौ तेन निर्जग्मतुस्ततः।
तथेति तावुभौ शृङ्गभुजो रूपशिखा च सा॥१०२॥
ततस्तं सा सुधीः शृङ्गभुजं रूपशिखाभ्यधात्।
आर्यपुत्र कुमारीणां स्वसृणामस्ति मे शतम्॥१०३॥

क्योंकि तुमने बगुला बने मेरे पिता को भीषण बाण से बींध दिया। उस सोने के बाण को मैंने खेलने के लिए पिता से ले लिया है ॥८९॥

मेरे पिता को उसके मन्त्री महादंष्ट्र ने विशल्यकरणी आदि ओषधियों से तुरन्त अच्छा कर दिया है ॥९०॥

तो मैं पिता को सूचित करके तुम्हें शीघ्र अन्दर लिवा ले जाती हूँ। हे आर्यपुत्र! मैंने अपने को तुम्हें दे डाला है ॥९१॥

ऐसा कहकर और शृंगभुज को बैठाकर वह रूपशिखा पिता अग्निशिख के पास गई ॥९२॥

'हे पिता! शृंगभुज नाम का एक राजकुमार यहाँ आया है। वह रूप, शील (चरित्र), अवस्था और गुणों में असाधारण व्यक्ति है। मालूम होता है कि वह कोई पृथ्वी पर अवतीर्ण देवता का अंश है, मानव नहीं है। यदि वह मेरा पति न होगा, तो मैं निश्चय ही प्राण त्याग कर दूँगी' ॥९३-९४॥

रूपशिखा से इस प्रकार कहे गये उसके पिता ने कहा—'बेटी! मनुष्य तो हमारे भक्ष्य हैं। तो भी यदि तुम्हारा आग्रह है, तो वही ठीक है। तुम उस राजकुमार को यहीं लाकर दिखाओ।' ऐसा सुनकर रूपशिखा शृंगभुज के समीप गई और जो कुछ किया था, उसे कहकर पिता के समीप ले गई। अग्निशिख ने भी उसे विनयी देखकर सत्कार किया और बोला—॥९५-९७॥

'हे राजकुमार! मैं तुम्हें इस रूपशिखा को देता हूँ, यदि तुम कभी मेरी बात को इधर-उधर न करोगे' ॥९८॥

ऐसा कहते हुए अग्निशिख से विनयी शृंगभुज बोला—ठीक है, तुम्हारी आज्ञा के वचनों का उल्लंघन कभी न करूँगा ॥९९॥

शृंगभुज से इस प्रकार कहा गया प्रसन्न अग्निशिख बोला—'अब उठो और स्नानगृह से स्नान करके आओ' ॥१००॥

उसे ऐसा कहकर रूपशिखा से बोला—'तू भी जा और सब बहनों को लेकर शीघ्र आ' इस प्रकार, अग्निशिख से कहे गये शृंगभुज और रूपशिखा—दोनों, 'जो आज्ञा' कहकर बाहर निकले ॥१०१—१०२॥

बाहर आकर रूपशिखा ने शृंगभुज से कहा—'आर्यपुत्र! मेरी एक सौ कुँआरी बहनें हैं। ॥१०३॥

सर्वा वयं सदृश्यश्च तुल्याभरणवाससः।
सर्वासां सन्ति कण्ठेषु तुल्या हारलताश्च नः ॥१०४॥
तत्तातो मेलयित्वास्मांस्त्वां विमोहयितुं प्रिय।
आसां मध्यादभीष्टां त्वं वृणीष्वेति वदिष्यति ॥१०५॥
जानाम्येतमहं तस्य व्याजाभिप्रायमीदृशम्।
सर्वाः सङ्घटयत्यस्मान्किमर्थमयमन्यथा ॥१०६॥
तदा मूर्ध्नि करिष्ये च कण्ठाद्धारलतामहम्।
तदभिज्ञानलब्धायां वनमालां मयि क्षिपेः ॥१०७॥
भौतप्रायश्च तातोऽयं बुद्धिर्नास्य विवेकिनी।
तथा मय्यपि मार्गोऽस्य जातिमिद्धः क्व गच्छति ॥१०८॥
तदेष वञ्चनार्थं ते यद्यत्किञ्चिद्वदिष्यति।
अङ्गीकृत्य त्वया तत्तद्वाच्यं मे वेद्म्यहं परम् ॥१०९॥
इत्युक्त्वा भगिनीनां सा पार्श्वं रूपशिखा ययौ।
तथेत्युक्त्वा च गतवान्स्नातुं शृङ्गभुजोऽपि सः ॥११०॥
अथागतस्त्वमूभिः साकं पार्श्वं रूपशिखा पितुः।
सोऽपि शृङ्गभुजश्चेटीस्नपितोऽत्रायययौ पुनः ॥१११॥
आसां मध्यान्निजेष्टायाः प्रयच्छैतामिति ब्रुवन्।
वनमालां ददौ शृङ्गभुजायाग्निशिखोऽथ सः ॥११२॥
सोऽप्यादायैव तां रूपशिखायाः क्षिप्तवान्गले।
प्राङ्मूर्धन्यस्तसङ्केतहारयष्टेर्नृपात्मजः ॥११३॥
ततः सोऽग्निशिखो रूपशिखां शृङ्गभुजान्विताम्।
निजगाद विधास्ये वां प्रातरुद्वाहमङ्गलम् ॥११४॥
इत्युक्त्वा तौ च ताश्चान्या विससर्ज सुता गृहम्।
क्षणाच्च तं शृङ्गभुजं समाहूयैवमब्रवीत् ॥११५॥
गच्छेदं दान्तयुगलं समादाय पुराद्बहिः।
राशिस्थं भुवि तत्राद्य तिलखारीशतं वप ॥११६॥
तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा गत्वा शृङ्गभुजोऽब्रवीत्।
विग्नो रूपशिखायास्तत्साप्येवं निजगाद तम् ॥११७॥
आर्यपुत्र न कार्यस्ते विषादोऽत्र मनागपि।
गच्छ त्वं साधयाम्येतदहं क्षिप्रं स्वमायया ॥११८॥

हम सब एक समान रूप और वेश-भूषावाली हैं। हम सब के गले में एक समान हार पड़े हुए हैं ॥१०४॥

इसलिए, मेरा पिता तुमको ठगने के लिए सभी लड़कियों को एकत्र करके ऐसा कहेगा कि इनमें से तुम जिसे चाहते हो, उसे वर लो ॥१०५॥

मैं उसके इस कपट-व्यवहार को जानती हूँ। नहीं तो, यह हम सब को एकत्र क्यों कर रहा है ॥१०६॥

कन्याओं के वरण के समय मैं अपने कण्ठहार को सिरपर रख लूँगी। तब तुम मुझे पहचान-कर मेरे गले में वनमाला डाल देना ॥१०७॥

मेरा पिता मूर्ख है, उसकी बुद्धि विवेकशालिनी नहीं है। इसीलिए, मुझ पुत्री के साथ भी ऐसा व्यवहार करता है। जातिगत स्वभाव कहाँ जायगा ॥१०८॥

अतः, तुम्हें ठगने के लिए यह जो-जो भी कहेगा, उसे स्वीकार कर तुम मुझसे कहना—'आगे जो कर्तव्य है, मैं करूँगी' ॥१०९॥

ऐसा कहकर रूपशिखा अपनी बहनों के पास गई। 'ऐसा ही करूँगा'—यह कहकर शृंगभुज नहाने चला गया ॥११०॥

तदनन्तर रूपशिखा अपनी बहनों के साथ पिता के पास आई। उधर सेविकाओं द्वारा स्नान कराया गया शृंगभुज भी आ गया ॥१११॥

तब अग्निशिख ने 'इन कन्याओं में जिसे तुम चाहते हो, उसे यह माला दे दो', ऐसा कहकर शृंगभुज को एक वनमाला दी ॥११२॥

उस राजकुमार ने भी माला को लेकर, पहले ही सिर पर हार की लड़ियों को रखी हुई रूप शिखा के गले में डाल दिया ॥११३॥

तब अग्निशिख, शृंगभुज और रूपशिखा से बोला—'कल प्रातःकाल तुम दोनों का विवाह-मंगल कर दूँगा' ॥११४॥

ऐसा कहकर उन दोनों को तथा अन्य कन्याओं को उसने अपने-अपने घर जाने की आज्ञा दी और पल-भर में ही शृंगभुज को बुलाकर यों बोला—॥११५॥

'जाओ, इन दो बैलों की जोड़ी लेकर नगर के बाहर ढेर के रूप में रखे हुए तिलों की एक सौ खारी को खेत में बो आओ—॥११६॥

यह सुनकर और 'ठीक है' ऐसा कहकर घबराया हुआ शृंगभुज रूपशिखा के पास आकर सब वृत्तान्त बोला। तब वह भी उससे बोली ॥११७॥

'आर्यपुत्र ! तुम इस सम्बन्ध में जरा भी खेद न करो। तुम खेत की ओर जाओ। मैं अपनी माया से सब सिद्ध कर देती हूँ ॥११८॥

तच्छ्रुत्वा तत्र गत्वा स दृष्ट्वा राजसुतस्तिलान्।
राशिस्थान्विह्वलो यावद्वप्तुं प्रक्रमते कृषन् ॥११९॥
तावद्ददर्श भूमिं तां कृष्टमुप्तांश्च तांस्तिलान्।
प्रियामायाबलात्सर्वान्क्रमेणैव सुविस्मितः ॥१२०॥
गत्वा चाग्निशिखायैतत्कृतं कार्यं न्यवेदयत्।
ततः स वञ्चको भूयस्तमभाषत राक्षसः ॥१२१॥
न ममोप्तैस्तिलैः कार्यं गच्छ राशीकुरुष्व तान्।
तच्छ्रुत्वोपेत्य तद्रूपशिखायै सोऽब्रवीत्पुनः ॥१२२॥
सा तं विसृज्य भूमिं तां सृष्ट्वासंख्याः पिपीलिकाः।
ताभिः सङ्कटयामास तिलांस्तान्निजमायया ॥१२३॥
तदृष्ट्वैव पुनर्गत्वा तस्मै सोऽग्निशिखाय तान्।
न्यवेदयच्छृङ्गभुजस्तिलान्राशीकृतानपि ॥१२४॥
ततः सोऽग्निशिखो मूर्खः शठो भूयोऽप्युवाच तम्।
इतो दक्षिणतो गत्वा योजनद्वयमात्रकम् ॥१२५॥
अस्ति देवकुलं शून्यमरण्ये भद्र शाम्भवम्।
तस्मिन्धूमशिखो नाम भ्राता वसति मे प्रियः ॥१२६॥
तत्रेदानीं व्रजैवं च वेदेर्देवकुलाग्रतः।
भो धूमशिख दूतस्ते सानुगस्य निमन्त्रणे ॥१२७॥
प्रहितोऽग्निशिखेनाह शीघ्रमागम्यतां त्वया।
भावी रूपशिखाया हि प्रातः परिणयोत्सवः ॥१२८॥
एतावदुक्त्वैवात्र त्वमिहायाह्यद्य सत्वरम्।
प्रातः परिणयस्वैतां सुतां रूपशिखां मम ॥१२९॥
इत्युक्तस्तेन पापेन तथेत्युक्त्वा तथैव च।
गत्वा रूपशिखायास्तत्सर्वं शृङ्गभुजोऽब्रवीत् ॥१३०॥
सा साध्वी मृत्तिकां तोयं कण्टकानग्निमेव च।
दत्त्वा तस्मै वराश्वं च निजमेवं जगाद तम् ॥१३१॥
एतमारुह्य तुरगं गत्वा देवकुलं च तत्।
द्रुतं धूमशिखस्योक्त्वा तत्तातोक्तं निमन्त्रणम् ॥१३२॥
आगन्तव्यं त्वया शीघ्रमश्वेनानेन धावता।
पृष्टतो वीक्षितव्यं च मुहुर्वलितकन्धरम् ॥१३३॥

यह सुनकर राजकुमार गया और जबतक तिलों के बोने की तैयारी करता है, तबतक देखता है कि उसकी प्रेयसी की माया के बल से सारी भूमि जुत गई और सारे तिल बो दिये गये हैं ॥११९-१२०॥

राजपुत्र ने जाकर अग्निशिख से खेत जोतने और तिल बोये जाने का समाचार सुना दिया तब वह धूर्त्त और ठग राक्षस फिर बोला—॥१२१॥

'मुझे तिलों के बोने से कोई प्रयोजन नहीं है। तुम जाकर उन्हें एकत्र करके फिर से ढेर लगा दो। यह सुनकर राजकुमार ने फिर सारा हाल रूपशिखा से कहा—'रूपशिखा ने उस भूमि में अनगिनत चीटियाँ उत्पन्न करके उनसे उन तिलों को बिनवाकर अपनी माया से ढेर करा दिया ॥१२२-१२३॥

यह देखकर राजपुत्र ने अग्निशिख से जाकर कहा कि वे तिल फिर ढेर कर दिये गये ॥१२४॥

तब वह मूर्ख ठग फिर बोला—'यहाँ से दक्षिण की ओर आठ कोस पर शिव का एक मन्दिर है। उसमें मेरा प्यारा भाई धूमशिख रहता है ॥१२५-१२६॥

तुम अभी वहाँ जाओ और देव-मन्दिर के सामने खड़े होकर मेरी ओर से कहना कि 'हे धूमशिख ! अपने अनुचरों के साथ तुम्हें निमन्त्रण देने के लिए मुझे अग्निशिख ने भेजा है। तुम शीघ्र आओ। कल प्रातःकाल मेरी कन्या रूपशिखा का विवाहोत्सव है।' इतना कहकर तुम आज ही लौटकर यहाँ आओ, और प्रातःकाल मेरी कन्या रूपशिखा से ब्याह करो ॥१२७—१२९॥

उस पापी अग्निशिख से इसप्रकार कहा गया राजकुमार 'ऐसा ही होगा' कहकर रूपशिखा के पास आया और ये सारी बातें उससे कहीं ॥१३०॥

उस पतिव्रता ने उसे मिट्टी, पानी, काँटे और आग एवं अपना अच्छा घोड़ा देकर कहा—॥१३१॥

'इस अच्छे घोड़े पर चढ़कर, उस देव-मन्दिर को प्रणाम कर तथा धूमशिख को मेरे पिता की ओर से निमंत्रित करके तुम दौड़ते हुए इस घोड़े से शीघ्र आ जाओ। आते हुए गरदन घुमाकर बार-बार पीछे की ओर देखना ॥१३२-१३३॥

पश्चात्तमागतं धूमशिखं द्रक्ष्यसि चेत्ततः।
तन्मार्गे मृत्तिकैषा ते प्रक्षेप्तव्यात्मपृष्ठतः ॥१३४॥
ततोऽपि पश्चादागच्छेत्स ते धूमशिखो यदि।
तथैव पृष्ठतस्त्याज्यं तोयमेवं त्वयान्तरा ॥१३५॥
तदप्येष्यति चेत्क्षेप्यास्तद्वदेतेऽस्य कण्टकाः।
तथापि चेत्सोऽनुपतेत्तन्मध्येऽग्निमिमं क्षिपेः ॥१३६॥
एवं कृते हि निर्दैन्यस्त्वमिहैष्यसि मा च ते।
विकल्पोऽभूद्ध्रुवं द्रक्ष्यस्यद्य विद्याबलं मम ॥१३७॥
इत्युक्तः स तया शृङ्गभुजो धृतमृदादिकः।
तथेति तद्धयारूढोऽरण्ये देवकुलं ययौ ॥१३८॥
तत्र वामस्थगौरीकं दक्षिणस्थविनायकम्।
दृष्ट्वा नत्वा च विश्वेशमुक्त्वैवाग्निशिखोदितम् ॥१३९॥
निमन्त्रणवचस्तस्य तूर्णं धूमशिखस्य तत्।
ततश्चचाल चतुरं प्रधावितुरङ्गमः ॥१४०॥
क्षणाच्च पृष्ठतो यावद्वीक्षते वलिताननः।
तावद्धूमशिखं पश्चादागतं तं ददर्श सः ॥१४१॥
चिक्षेप चाशु मार्गेऽस्य मृत्तिकां तां स्वपृष्ठतः।
क्षिप्तयात्र तया मध्ये सद्योऽभूत्पर्वतो महान् ॥१४२॥
तमुल्लङ्घ्य कथञ्चित्तमागतं वीक्ष्य राक्षसम्।
तथैव पृष्ठतस्तोयं तत्स राजसुतोऽक्षिपत् ॥१४३॥
तेन तत्रान्तरा जज्ञे वेल्लद्वीचिर्महानदी।
तामप्युत्तीर्य कथमप्यागतेऽस्मिन्निशाचरे ॥१४४॥
शीघ्रं शृङ्गभुजः पश्चात्कण्टकांस्तानवाकिरत्।
तैरुद्बभूव गहनं वनं मध्ये सकण्टकम् ॥१४५॥
ततोऽपि निर्गते तस्मिन्रक्षस्यग्निं स्वपृष्ठतः।
जहौ तेन स जज्वाल मार्गः सतृणकाननः ॥१४६॥
तं वीक्ष्य खाण्डवमिव ज्वलितं दुरतिक्रमम्।
ययौ धूमशिखः खिन्नो भीतश्च स यथागतम्॥१४७॥
तदा रूपशिखामायामोहितः स हि राक्षसः।
पद्भ्यामागादगाच्चैव न सस्मार नभोगतिम् ॥१४८॥

यदि तुम्हें पीछा करता हुआ धूमशिख दीख पड़े, तो तुम अपने पीछे उसके मार्ग में मिट्टी फेंक देना ॥१३४॥

उसके अनन्तर भी यदि वह पीछा करता हुआ दीखे, तो तुम अपने पीछे के मार्ग में पानी छोड़ देना। फिर भी आवे, तो उन काँटों को पीछे फेंक देना और फिर भी पीछा करे, तो आग को पीछे की ओर फेंकना ॥१३५-१३६॥

ऐसा करने से तुम विना क्लेश के यहाँ आ जाओगे। सन्देह न करो, जाओ। तुम आज मेरी विद्या का बल देखोगे ॥१३७॥

रूपशिखा से ऐसा कहा हुआ शृंगभुज, मिट्टी, पानी, आग आदि लेकर घोड़े पर सवार होकर जंगल में स्थित मन्दिर में पहुँचा ॥१३८॥

उस मन्दिर में उसने बाईं ओर गौरी एवं दाहिनी ओर गणेश से युक्त विश्वेश्वर शिव को देखा और प्रणाम करके अग्निशिख का सन्देश सुनाया ॥१३९॥

और, धूमशिख को निमन्त्रण की बात कहकर राजकुमार, घोड़ा दौड़ाते हुए लौट चला ॥१४०॥

क्षण-भर में ही जब उसने गरदन घुमाई, तो देखा कि धूमशिख पीछे-पीछे आ रहा है ॥१४१॥

तब उसने अपने पीछे उस राक्षस के मार्ग में मिट्टी फेक दी। फेंकी हुई मिट्टी से मार्ग में बड़ा-सा पहाड़ बन गया ॥१४२॥

उस पहाड़ को लाँघकर आते हुए राक्षस को देखकर राजकुमार ने पीछे पानी फेंक दिया ॥१४३॥

उस पानी के फेंकने से मार्ग में लम्बी-लम्बी लहरों से लहराती हुई एक नदी बहने लगी ॥१४४॥

उस नदी को तैरकर भी उस राक्षस के पुनः आने पर शृंगभुज ने शीघ्र ही काँटों को बिखेर दिया। उन काँटों से मार्ग में काँटों का गहन जंगल बन गया ॥१४५॥

उस राक्षस के वन से भी निकलकर पीछा करने पर, राजकुमार ने आग फेंकी। उससे सारा मार्ग और जंगल जलने लगे ॥१४६॥

खाण्डव-वन के समान जंगल को जलते हुए देखकर डरा हुआ धूमशिख थककर जहाँ से आया था, वहीं लौट गया ॥१४७॥

उस समय रूपशिखा की माया से मोहित धूमशिख पैरों से ही दौड़ रहा था, आकाश-मार्ग से आना भूल गया था ॥१४८॥

अथ प्रशंसन्नन्तस्तत्प्रियामायाविजृम्भितम् ।
गतभीराययौ धूमपुरं शृङ्गभुजः स तत् ॥१४९॥
ततो रूपशिखायै तं समर्प्याशिवं निवेद्य च ।
यथा कृतं स हृष्टायै जगामाग्निशिखान्तिकम् ॥१५०॥
निमन्त्रितो मया गत्वा भ्राता धूमशिखस्तव ।
इत्युक्तवन्तं तं सोऽत्र सभ्रान्तोऽग्निशिखोऽब्रवीत् ॥१५१॥
यदि तत्र गतोऽभूस्त्वमभिज्ञानं तदुच्यताम् ।
इति तेनोदितः शृङ्गभुजो जिह्मं जगाद तम् ॥१५२॥
शृण्विदं वच्म्यभिज्ञानं तत्र देवकुले विभोः ।
वामेऽस्ति पार्वती पार्श्वे दक्षिणे च विनायकः ॥१५३
तच्छ्रुत्वा विस्मितः सोऽग्निशिखः क्षणमचिन्तयत् ।
कथं गतोऽपि मद्भ्रात्रा शकितो नैष खादितुम् ॥१५४॥
तज्जाने मानुषो नायं देवोऽयं कोऽपि निश्चितम् ।
अनुरूपस्तदेषोऽस्तु भर्त्तास्या दुहितुर्मम ॥१५५॥
इति सञ्चिन्त्य तं शृङ्गभुजं रूपशिखान्तिकम् ।
कृतार्थं व्यसृजत्स्वं तु नाङ्गभेदं विवेद सः ॥१५६॥
स च शृङ्गभुजस्तत्र गत्वा परिणयोत्सुकः ।
भुक्तपीतस्तया साकं कथञ्चिदनयन्निशाम् ॥१५७॥
प्रातश्चाग्निशिखस्तस्मै तां स रूपशिखां ददौ ।
ऋद्ध्या स्वसिद्ध्युचितया विधिवद्वह्निसाक्षिकम् ॥१५८॥
क्व राक्षससुता कुत्र राजपुत्रः क्व चैतयोः ।
विवाहो बत चित्रैव गतिः प्राक्तनकर्मणाम् ॥१५९॥
स रेजे राजसूनुस्तां प्राप्य रक्षःसुतां प्रियाम् ।
पेशलां पङ्कसम्भूतां राजहंसोऽब्जिनीमिव ॥१६०॥
तस्थौ च स तया तत्र तदेकमनसा सह ।
भुञ्जानो विविधान् भोगान् रक्षःसिद्ध्युपकल्पितान्॥१६१॥
गतेष्वथ दिनेष्वत्र तां स रूपशिखां रहः ।
अवादीदेहि गच्छावो वर्धमानपुरं प्रिये ॥१६२॥
सा हि स्वा राजधानी नस्तस्याश्चैवं प्रवासनम् ।
परैः सोढुं न शक्नोमि मानप्राणा हि मादृशाः ॥१६३॥

तदनन्तर अपनी पत्नी रूपशिखा के विद्या-वैभव की प्रशंसा करता हुआ राजकुमार निर्भय होकर धूमपुर पहुँच गया ॥१४९॥

उसके बाद रूप शिखा को घोड़ा वापस करते हुए प्रसन्न हृदया उससे जैसी घटना हुई, कह सुनाई। तदनन्तर वह अग्नि शिख के पास गया ॥१५०॥

अब उसने अग्निशिख से कहा कि 'मैंने तुम्हारे भाई धूमशिख को निमन्त्रित कर दिया। ऐसा कहते हुए शृंगभुज को घबराया हुआ अग्निशिख बोला कि यदि तुम वहाँ गये थे, तो वहाँ का कुछ चिह्न (निशानी) बताओ ऐसा कहते हुए उस कुटिल राक्षस से शृंगभुज बोला ॥१५१-१५२॥

'सुनो !' मैं उस मन्दिर का चिह्न बतलाता हूँ। उसमें शिवजी के बायें पार्वती और दाहिने गणेशजी विराजते हैं ॥१५३॥

यह सुनकर विस्मित अग्निशिख सोचने लगा कि आश्चर्य है कि मेरा भाई, इस मनुष्य को क्यों खा न सका ! अतः, मैं समझता हूँ कि यह मनुष्य नहीं, निश्चय ही कोई देवता है। इसलिए, यह मेरी कन्या के लिए उपयुक्त वर है ॥१५४-१५५॥

ऐसा सोचकर उसने उस सकल राजकुमार को रूपशिखा के पास भेज दिया; किन्तु उसे बाण मारकर अपना अंग-भंग करनेवाला नहीं समझ सका ॥१५६॥

विवाह के लिए उत्सुक शृंगभुज ने खा-पीकर रूपशिखा के साथ किसी तरह रात बिताई ॥१५७॥

प्रातःकाल ही अग्निशिख ने, अपने वैभव के अनुसार दान-दहेज आदि देकर अग्नि के साक्ष्य में रूपशिखा का विवाह कर दिया ॥१५८॥

कहाँ राजकुमार और कहाँ राक्षस की बेटी—इन दोनों का विवाह, एक विचित्र दैवी घटना ही है ॥१५९॥

वह राजपुत्र उस प्यारी राक्षस-कन्या को प्राप्त करके इस प्रकार शोभित हुआ, जैसे हंस, कीचड़ से उत्पन्न कमलिनी को पाकर शोभित होता है ॥१६०॥

इस प्रकार राक्षस की सिद्धि द्वारा प्राप्त भोगों को भोगता हुआ राजपुत्र शृंगभुज रूपशिखा के साथ श्वशुर-गृह में रहने लगा ॥१६१॥

कुछ दिनों के व्यतीत होने पर उसने एकबार एकान्तमें रूपशिखा से कहा—'प्रिये ! चलो, वर्धमान नगर को चलें। वह हमारी राजधानी है। उससे इस प्रकार दूर रहना मेरे लिए सहन नहीं किया जा सकता; क्योंकि मेरे ऐसे व्यक्ति का धन मान ही है ॥१६२—१६३॥

तन्मुञ्च जन्मभूमिं त्वमत्याज्यामपि मत्कृते।
आवेदय पितुस्तं च हस्ते हेमशरं कुरु ॥१६४॥
इति शृङ्गभुजेनोक्ता सा तं रूपशिखाब्रवीत्।
यदादिशसि तत्कार्यमार्यपुत्र मयाधुना ॥१६५॥
का जन्मभूः कः स्वजनः सर्वमेतद् भवान् मम।
न पतिव्यतिरेकेण सुस्त्रीणामपरा गतिः ॥१६६॥
तातस्यावेदनीयं तु नैतत्सोऽस्मान्हि न त्यजेत्।
तस्मादविदितं तस्य गन्तव्यं क्रोधनस्य नः ॥१६७॥
आगमिष्यति चेत् पश्चाद् बुद्ध्वा परिजनात्ततः।
मोहयिष्याम्यबुद्धिं तं भौततुल्यं स्वविद्यया ॥१६८॥
इति तस्या वचः श्रुत्वा प्रहृष्टः सोऽपरेऽहनि।
दत्तराज्यार्धयानर्घरत्नपूर्णसमुद्गया ॥१६९॥
तयैवानीततच्चारुसुवर्णशरया सह।
आरुह्य शरवेगाख्यं तदीयं तुरगोत्तमम् ॥१७०॥
वञ्चयित्वा परिजनं स्वैरोद्यानभ्रमच्छलात्।
ततः शृङ्गभुजः प्रायाद्वर्धमानपुरं प्रति ॥१७१॥
गतयोर्दूरमध्वानं बुद्ध्वा सोऽग्निशिखस्तयोः।
दम्पत्योराययौ पश्चान्नभसा राक्षसः क्रुधा ॥१७२॥
तस्यागमनवेगोत्थं शब्दं श्रुत्वा च दूरतः।
मार्गे रूपशिखा साथ तं शृङ्गभुजमब्रवीत् ॥१७३॥
आर्यपुत्रागतस्तातो निवर्तयितुमेष नः।
तत्त्वमास्वेह निःशङ्कः पश्यैनं वञ्चये कथम् ॥१७४॥
नैष द्रक्ष्यति साश्वं त्वां विद्ययाच्छादितं मया।
इत्युक्त्वाश्वावतीर्णा सा पुंरूपं माययाऽकरोत् ॥१७५॥
इहायाति महद्रक्षस्तत्त्वं तूष्णीं क्षणं भव।
इत्युक्त्वा काष्ठिकं चात्र दार्वर्थं वनमागतम् ॥१७६॥
तत्कुठारेण काष्ठानि पाटयन्ती किलास्त सा।
तदा रूपशिखा शृङ्गभुजे पश्यति सस्मिते ॥१७७॥
तावत् सोऽग्निशिखस्तत्र प्राप्यैवं काष्ठिकाकृतिम्।
दृष्ट्वावतीर्य गगनान्मूढः पप्रच्छ राक्षसः ॥१७८॥

इसलिए, न त्यागने के योग्य भी इस अपनी जन्मभूमि को मेरे लिए छोड़ दे। अपने पिता से कह दे और उस सुनहले बाण को अपने हाथ में कर ले' ॥१६४॥

शृंगभुज के यह कहने पर रूपशिखा बोली—'हे प्राणप्रिय! तुम जो आज्ञा देते हो, उसे मैं अभी करती हूँ ॥१६५॥

जन्मभूमि क्या है? और बन्धु-बान्धव क्या हैं? मेरे तो तुम्हीं सब-कुछ हो। सदाचारिणी स्त्रियों के लिए अपने पति के सिवा और क्या गति है ॥१६६॥

यहाँ से प्रस्थान की बात पिता से न कहनी चाहिए। वह हम लोगों को नहीं छोड़ेगा। इसलिए, उस क्रोधी के बिना जाने ही चल देना चाहिए ॥१६७॥

यदि सेवकों से समाचार जानकर पीछे आयेगा भी, तो मैं उस मूर्ख पागल को अपनी माया से ठग लूँगी' ॥१६८॥

रूपशिखा की बातें सुनकर दूसरे दिन शृंगभुज, पिता का आधा राज्य पाई हुई और रत्नों से भरी हुई पिटारी साथ ली हुई एवं राजकुमार के सोने के बाण को अभिकृत की हुई उस रूपशिखा के साथ, उसीके शरवेग[1] नामक घोड़े पर चढ़कर, बागों में घूमने-टहलने के बहाने अपने सेवकों को ठगकर, वर्धमानपुरी की ओर चल पड़ा ॥१६९-१७१॥

उन दोनों के कुछ दूर निकल जाने पर उनके जाने का समाचार जानकर राक्षस अग्निशिख, क्रोध से उनके पीछे आकाश-मार्ग से दौड़ा ॥१७२॥

उसके आने के वेग का शब्द दूर से सुनकर रूपशिखा शृंगभुज से बोली—'प्रिय! मेरा पिता, हम लोगों को लौटाने के लिए आया है। तुम तो यहाँ निःशंक होकर बैठो। देखो मैं कैसे इसे ठगती हूँ ॥१७३-१७४॥

मैं अपनी विद्या से तुझे ऐसा छिपा दूँगी कि वह घोड़े के साथ तुझे नहीं देख सकेगा।' ऐसा कहकर रूपशिखा ने घोड़े से उतरकर पुरुष का रूप बना लिया ॥१७५॥

'यहाँ एक बड़ा राक्षस आ रहा है, तू कुछ देर चुप बैठ'—ऐसा कहकर लकड़ी काटने के लिए वन में आये हुए एक लकड़हारे से कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी काटने लगी। उसे देखकर मूर्ख राक्षस आकाश से उतरा और पूछने लगा—॥१७६-१७८॥

---

१. तीर के समान तेज चलनेवाला।

किं भो दृष्टौ पथानेन यान्तौ स्त्रीपुरुषाविति।
ततः कथञ्चित् खिन्नेव पुंवेषा सा तामब्रवीत्॥१७९॥
न दृष्टौ कौचिदावाभ्यां खिन्नदृग्भ्यां परिश्रमात्।
रक्षःपतेर्मृतस्याद्य दाहायाग्निशिखस्य हि॥१८०॥
आवां काष्ठानि भूयांसि पाटयन्ताविह स्थितौ।
तच्छ्रुत्वा राक्षसः सोऽत्र मूढबुद्धिर्व्यचिन्तयत्॥१८१॥
अहो कथं विपन्नोऽहं तत्किं मे सुतया तया।
गच्छामि तावत् पृच्छामि गृहे परिजनं निजम्॥१८२॥
इति सञ्चिन्त्य स गृहं तूर्णमग्निशिखो ययौ।
भर्त्रा समं हसन्ती सा प्राग्वत् प्रास्थित सा सुता॥१८३॥
क्षणाच्च पुनरप्यागात् सान्तर्हासात् परिच्छदात्।
पृष्टाज्जीवन्तमात्मानं श्रुत्वा हृष्टः स राक्षसः॥१८४॥
बुद्ध्वा घोरेण शब्देन दूरात्तं पुनरागतम्।
हयावतीर्णा प्रच्छाद्य मायया पूर्ववत् पतिम्॥१८५॥
मार्गागतस्य कस्यापि लेखहारस्य हस्ततः।
लेखमादाय पुंरूपं चक्रे रूपशिखा पुनः॥१८६॥
तावच्च पूर्ववत् प्राप्ततद्रूपां तां स राक्षसः।
पप्रच्छ पथि सस्त्रीकस्त्वया दृष्टः पुमानिति॥१८७॥
ततः पुरुषरूपा सा श्वसन्ती निजगाद तम्।
न त्वराहृतचित्तेन तादृक्कोऽपीक्षितो मया॥१८८॥
अहमग्निशिखेनाद्य रणे शत्रुहतेन हि।
किञ्चिच्छेषासुना राज्यं स्वमर्पयितुमिच्छता॥१८९॥
आह्वानाय स्वनगरे स्थितेनोच्छ्रह्वलस्थितेः।
भ्रातुर्धूमशिखस्येह प्रहितो लेखहारकः॥१९०॥
तच्छ्रुत्वाऽग्निशिखः सोऽत्र किं हतोऽहं परैरिति।
सम्भ्रान्तः प्रययौ भूयः स्वगृहं तदवेक्षितुम्॥१९१॥
को हतः स्वस्थ एषोऽहमित्यबोधि तु नैव सः।
कोऽप्यहो तामसश्चित्रो मूढसर्गः प्रजापतेः॥१९२॥
गृहं प्राप्तश्च तद्बुद्ध्वाप्यसत्यं लोकहासनम्।
पुनः स नाययौ मोहश्रान्तो विस्मृत्य तां सुताम्॥१९३॥

'क्यों भाई ! तुमने इस रास्ते से जाते हुए स्त्री और पुरुष को देखा है'? तब पुरुष-वेशधारिणी वह रूपशिखा कुछ खिन्न-सी हो कर बोली—'परिश्रम के पसीने से आँखें बन्द रहने के कारण हम दोनों ने किसी को नहीं देखा। 'हम आज राक्षसराज अग्निशिख को जलाने के लिए अधिक लकड़ियाँ काटने में व्यस्त हैं।' यह सुनकर वह परममूर्ख राक्षस सोचने लगा—ओह ! मैं कैसे मर गया, यदि ऐसा है, तो उस कन्या से क्या करूँगा। जाता हूँ, अपने घर पर अपने आदमियों से पूछता हूँ ॥१८१—१८२॥

ऐसा सोचकर वह अग्निशिख तुरन्त घर को लौटा और उसकी लड़की हँसती हुई पहले के समान स्त्री-वेश में आ गई और पति के साथ आगे चली ॥१८३॥

कुछ ही क्षणों में मुस्कराते हुए अपने कुटुम्बियों से मृत्यु का निश्चय करके राक्षस फिर लौटा वह अपने को जीवित समझकर और सुनकर प्रसन्न था ॥१८४॥

भयंकर शब्द के कारण राक्षस-पिता को फिर आते हुए जानकर घोड़े से उतरी रूपशिखा, पति को अपनी माया से छिपा दिया और रास्ते में आते हुए किसी पत्रवाहक के हाथ से पत्र लेकर फिर पुरुष बन गई ॥१८५-१८६॥

इतने में ही राक्षस ने आकर उससे पूछा कि क्या तुमने स्त्री के साथ जाते हुए किसी पुरुष को देखा है? ॥१८७॥

तब पुरुषरूपा रूपशिखा लम्बी साँस भरती हुई बोली—'शीघ्रता के कारण मैंने किसी को नहीं देखा। आज युद्ध में शत्रु से मारे गये और अन्तिम श्वास लेते हुए राक्षसराज अग्निशिख से उपेक्षित रूप से रहनेवाले अपने भाई धूमशिख के पास राज्य-ग्रहण करने के लिए पत्र लेकर भेजा गया मैं दूत हूँ ॥१८८—१९०॥

यह सुनकर अग्निशिख घबराया और सोचने लगा कि 'क्या मुझे शत्रुओं ने मार डाला?' यह जानने के लिए वह फिर अपने घर को लौटा ॥१९१॥

'कहाँ मारा गया? मैं तो स्वस्थ हूँ'—ऐसा उसने नहीं सोचा। ब्रह्मा की मूर्ख सृष्टि भी एक महान् आश्चर्य है ॥१९२॥

घर पहुँचकर, लोगों को हँसानेवाले समाचार को सुनकर मोह से थका हुआ राक्षस फिर कन्या की खोज में नहीं लौटा ॥१९३॥

सापि संमोह्य पितरं प्राग्वद्रूपशिखा पतिम्।
तमभ्यगात् पतिहितादन्यत् साध्व्यो न जानते ॥१९४॥
ततस्तया समं शृङ्गभुजः पत्न्या स सत्वरम्।
आश्चर्यंतुरगारूढो वर्धमानपुरं ययौ ॥१९५॥
तत्र बुद्ध्वा तमायान्तं युक्तं शृङ्गभुजं तया।
पिता वीरभुजस्तस्य हृष्टोऽग्रे निर्ययौ नृपः ॥१९६॥
स दृष्ट्वा शोभितं बध्वा तं शौरिमिव भामया।
प्राप्तां तदा नवां मेने नरेन्द्रो राज्यसम्पदम् ॥१९७॥
अश्वावतीर्णमेनं च पादलग्नं सवल्लभम्।
उत्थाप्यालिङ्ग्य तनयं हर्षबाष्पाम्बु बिभ्रता ॥१९८॥
चक्षुषेव कृतोदार-निर्विच्छमनमङ्गलः[1]।
प्रावेशयद्राजधानीं स ततो विहितोत्सवः ॥१९९॥
क्व गतोऽभूस्त्वमित्यत्र तेन पृष्टः सुतोऽथ सः।
निजमामूलतः शृङ्गभुजो वृत्तान्तमब्रवीत् ॥२००॥
आहूय तत्समक्षं च भ्रातृभ्यस्तत्समर्पयत्।
स निर्वासभुजादिभ्यस्तेभ्यो हेममयं शरम् ॥२०१॥
तत्स बुद्ध्वा च पृष्ट्वा च तेषु वीरभुजो नृपः।
व्यरज्यदन्येषु सुतेष्वेकं मेने च तं सुतम् ॥२०२॥
ततः स राजा मतिमान् सम्यगेवमचिन्तयत्।
जाने यथैष विद्वेषादभूदेभिः प्रवासितः ॥२०३॥
पापैर्निरपराधोऽपि शत्रुभिर्भ्रातृनामभिः।
तथैव नूनमेतेषां जननीभिर्मम प्रिया ॥२०४॥
मातास्य सा गुणवरा निर्दोषा दूषिता मृषा।
तत्किं चिरेण पश्यामि यावदद्यैव निश्चयम् ॥२०५॥
इत्यालोच्य यथावत्तद्दिनं नीत्वाभ्यगान्निशि।
जिज्ञासुरयशोलेखां राज्ञीं तां स नृपोऽपराम् ॥२०६॥
तदभ्यागमहृष्टा सा मद्यं तेनातिपायिता।
रतान्तसुप्ता व्यलपद्राज्ञि तस्मिन् सजागरे ॥२०७॥
मिथ्या गुणवरायाश्चेन्नावदिष्याम दूषणम्।
तत्किमेवमुपायास्यदयं राजाद्य मामिह ॥२०८॥

---

१. निर्वित् निर्वेदः तस्याः शमनमेव मङ्गलम्।

वह रूपशिखा, इस प्रकार पिता को ठगकर और पति को लेकर चली गई। पतिव्रता स्त्रियाँ, पति के हित को छोड़कर और कुछ नहीं जानतीं ॥१९४॥

तब शृंगभुज भी पत्नी के साथ शीघ्र ही उस आश्चर्यमय घोड़े पर चढ़ा हुआ शीघ्र ही वर्धमानपुर पहुँचा ॥१९५॥

वहाँ रूपशिखा के साथ आते हुए पुत्र शृंगभुज का पता पाकर उसका पिता वीरभुज प्रसन्न होकर उसकी अगवानी करने के लिए नगर से बाहर निकला ॥१९६॥

वहाँ पर सत्यभामा के साथ विष्णु के समान, रूपशिखा के साथ शृंगभुज को देखकर राजा ने मानों नई राज्य-सम्पत्ति प्राप्त की ॥१९७॥

घोड़े से उतरकर पत्नी के साथ पैरों पर गिरते हुए पुत्र को उठाकर, आलिंगन करके आनन्द के आँसुओं से भरे नेत्रों से शोक-शमन, रूपी मंगल करता हुआ राजा हर्ष के साथ राजधानी में प्रविष्ट हुआ ॥१९८-१९९॥

'तू कहाँ चला गया था ?'—राजा से इस प्रकार पूछने पर शृंगभुज ने आरम्भ से सारा वृत्तान्त सुनाया। और अपने भाइयों को बुलाकर निर्वासभुज को वह सोने का बाण लौटा दिया ॥२००-२०१॥

यह सब समाचार जानकर और पूछकर राजा वीरभुज अन्य सभी पुत्रों से विरक्त हो गया और केवल शृंगभुज को ही एकमात्र पुत्र मानने लगा ॥२०२॥

उस बुद्धिमान् राजा ने सोचा कि इसे द्वेष के कारण इन भाइयों ने भगा दिया था ॥२०३॥

इन भाई कहलाने वाले पापी शत्रुओं ने, जैसे इस निरपराध के साथ किया, वैसे ही इसकी माता के साथ इनकी माताओं ने द्वेष के कारण पाप किया है ॥२०४॥

इसकी माता गुणवरा निर्दोष है, उसे झूठा कलंकित किया गया है। तो, देर क्यों करूँ ? आज ही इसका निश्चय करता हूँ ॥२०५॥

ऐसा सोचकर सारे दिन पूर्व दिनों के समान कार्य करके राजा पता लगाने के लिए अयशोलेखा नाम की रानी के पास गया।२०६॥

राजा के आकस्मिक आगमन से अति प्रसन्न अयशोलेखा को राजा ने अधिक शराब पिला दी। इस कारण रतान्त-काल में सोई हुई वह रानी राजा के जागते रहने पर नशे में प्रलाप करने लगी ॥२०७॥

यदि मैं गुणवरा को झूठा कलंक न लगाती, तो क्या आज राजा इस प्रकार स्वयं मेरे पास आता ॥२०८॥

इति तस्या वचः श्रुत्वा सुप्ताया दुष्टचेतसः।
उत्पन्ननिश्चयो राजा क्रोधादुत्थाय निर्ययौ॥२०९॥
गत्वा स्वावासमानाय्य स जगाद महत्तरान्।
उद्धृत्य तां गुणवरां स्नातामानयत द्रुतम्॥२१०॥
अयं क्षणो ह्यद्यतनो ज्ञानिनानिष्टशान्तये।
तस्या भूगृहवासस्य कथितोऽभूत् किलावधिः॥२११॥
तच्छ्रुत्वा तैस्तथेत्युक्त्वा गत्वा स्नाता विभूषिता।
राज्ञी गुणवरा क्षिप्रमानिन्ये सा तदन्तिकम्॥२१२॥
ततस्तौ दम्पती तीर्णविरहार्णवनिर्वृतौ।
अन्योन्यालिङ्गनातृप्तौ निन्यतुस्तां विभावरीम्॥२१३॥
अवर्णयत् स राजात्र देव्यै तस्यै मुदा तदा।
तं शृङ्गभुजवृत्तान्तं तदेव निजसूनवे॥२१४॥
साथ प्रबुद्धा राजानं गतं बुद्ध्वा सवाक्छलम्।
सम्भाव्यैवायशोलेखा विषादमगमत्परम्॥२१५॥
प्रातश्च स नृपो वीरभुजो गुणवरान्तिकम्।
आनाययच्छृङ्गभुजं सुतं रूपशिखायुतम्॥२१६॥
सोऽभ्येत्य मातरं दृष्ट्वा हृष्टो भूगृहनिर्गताम्।
तयोर्ववन्दे चरणौ पित्रोर्नववधूयुतः॥२१७॥
अध्वोत्तीर्णं तमाश्लिष्य पुत्रं गुणवरापि सा।
तां च स्नुषां तथा प्राप्तामुत्सवादुत्सवं ययौ॥२१८॥
ततः पितुर्निदेशात् स तस्यै शृङ्गभुजोऽब्रवीत्।
विस्तरेण स्ववृत्तान्तं यच्च रूपशिखाकृतम्॥२१९॥
ततो गुणवरा राज्ञी सा प्रहृष्टा जगाद तम्।
किं किं न रूपशिखया कृतं पुत्र तवानया॥२२०॥
हित्वा स्वजीवितं बन्धून् देशं चेह यदेतया।
त्रीण्येतानि प्रदत्तानि तुभ्यं चित्रचरित्रया॥२२१॥
त्वदर्थमवतीर्णैषा कापि देवी विधेर्वशात्।
पतिव्रतानां सर्वासां यया मूर्ध्नि पदं कृतम्॥२२२॥
एवमुक्ते तया राज्ञ्या तद्वाक्यमभिनन्दति।
राज्ञि रूपशिखायां च विनयानतमूर्धनि॥२२३॥

इस प्रकार, सोई हुई उस दुष्टा के वचन सुनकर और निर्णय पर पहुँचकर राजा क्रोध से उठकर चला गया ॥२०९॥

जाकर अपने भवन में खवासों को बुलाकर बोला—'अभी गुणवरा को तहखाने से निकाल कर और स्नान करा शीघ्र मेरे पास लिवा लाओ ॥२१०॥

आज का यही ठीक समय है। ज्ञानी विद्वान् ने इसी समय तक की अवधि दी थी' यह सुनकर 'जो आज्ञा' —ऐसा कहते हुए वे खवास स्नान और शृंगार की गई रानी गुणवरा को शीघ्र राजा के पास लिवा लाये ॥२११-२१२॥

तब उन दोनों (राजा-रानी) ने वियोग-समुद्र को तैरते हुए पार कर परस्पर आलिंगन से भी तृप्त न होकर रात बिताई ॥२१३॥

तब राजा ने प्रसन्न होकर रानी से अपने पुत्र शृंगभुज का वृत्तान्त सुनाया। तदनन्तर जगी हुई अयशोलेखा ने वाक्-कपट करते हुए राजा को गया हुआ जानकर अत्यन्त शोक प्राप्त किया ॥२१४-२१५॥

प्रातः काल ही राजा ने रूपशिखा के साथ शृंगभुज को गुणवरा के पास बुलवाया ॥२१६॥

वह भी अपनी माता को भू-गृह (तहखाने) से निकली हुई देखकर प्रसन्न हुआ और अपनी पत्नी के साथ उसने माता के चरणों में प्रणाम किया ॥२१७॥

दूर मार्ग को पार करके आये हुए पुत्र को तथा बहू को पाकर गुणवरा एक हर्ष से दूसरे हर्ष (दूने हर्ष) को प्राप्त हुई ॥२१८॥

तब पिता की आज्ञा से शृंगभुज ने रूपशिखा का किया हुआ सारा वृत्तान्त विस्तार के साथ माता को सुनाया ॥२१९॥

तब अतिप्रसन्न रानी गुणवरा ने कहा—'बेटा! इस तुम्हारी रूपशिखा ने तुम्हारे लिए क्या-क्या नहीं किया? ॥२२०॥

इस आश्चर्यमय चरित्रवाली रूपशिखा ने, अपने जीवन, देश और बन्धुओं को छोड़कर ये तीनों तुम्हारे लिए दे डाले ॥२२१॥

भाग्यवश, यह कोई देवी, तुम्हारे लिए ही अवतीर्ण हुई है, जिसने सभी पतिव्रताओं के मस्तक पर पैर रख दिया' ॥२२२॥

रानी के ऐसा कहने पर और राजा के उसकी बातों का समर्थन करने पर रूपशिखा ने विनय से अपना सिर नीचे झुका लिया ॥२२३॥

आययौ स तथैव प्रागयशोलेखया मृषा।
दूषितोऽन्तःपुराध्यक्षो भ्रान्ततीर्थः सुरक्षितः ॥२२४॥
क्षत्त्रा निवेदितं तं च प्रहृष्टं चरणानतम्।
ज्ञातार्थोऽपूजयद्राजा भृशं वीरभुजोऽथ सः ॥२२५॥
तेनैवानाय्य चान्यास्ता राज्ञीरत्रैव दुर्जनीः।
तमेवोवाच गच्छैता भूगृहे निखिलाः क्षिप ॥२२६॥
तच्छ्रुत्वा तासु भीतासु क्षिप्तासु कृपया नृपम्।
तं सा गुणवरा देवी पादलग्ना व्यजिज्ञपत् ॥२२७॥
देव मामेव भूयोऽपि चिरं स्थापय भूगृहे।
प्रसीद नैवमेता हि भीताः शक्नोमि वीक्षितुम् ॥२२८॥
इति प्रार्थ्य नृपं तासां बन्धनं सा न्यवारयत्।
महतामनुकम्पा हि विरुद्धेषु प्रतिक्रिया ॥२२९॥
ततस्ताः प्रेषिता राज्ञा लज्जिताः स्वगृहान् ययुः।
अनिष्टमपि वाञ्छन्त्यो दीयमानं भुजान्तरम् ॥२३०॥
तां च राजा गुणवरां बहु मेने महाशयाम्।
आत्मानं च तया पत्न्या कृतपुण्यममन्यत ॥२३१॥
अथानाय्य सुतानन्यान् स निर्वासभुजादिकान्।
निर्वासयिष्यन् युक्त्या तान् राजा कृतकमभ्यधात् ॥२३२॥
श्रुतं मया वणिक् पापैर्भवद्भिः पथिको हतः।
तद्भ्रान्तुं सर्वतीर्थानि यात मा स्मेह तिष्ठत ॥२३३॥
तच्छ्रुत्वा तं न शेकुस्ते नृपं बोधयितुं नृपाः।
प्रभौ हठप्रवृत्ते हि कस्य प्रत्यायना भवेत् ॥२३४॥
ततस्तान् गच्छतो दृष्ट्वा भ्रातॄन् शृङ्गभुजोऽथ सः।
कृपोद्भूताश्रुपूर्णाक्षः पितरं तं व्यजिज्ञपत् ॥२३५॥
तातापराधमेकं त्वं क्षमस्वैषां कृपां कुरु।
इत्युक्त्वा पादयोस्तस्य निपपात स भूपतेः ॥२३६॥
सोऽपि मत्वा नरेन्द्रस्तं भूभृद्भारसहं सुतम्।
यशोदयाश्रितं बाल्येऽप्यवतारं हरेरिव ॥२३७॥
गूढाशयो वैररक्षी वचस्तस्य तथाकरोत्।
तेऽपि तं भ्रातरं सर्वे प्राणदं मेनिरे निजम् ॥२३८॥

इतने में ही अयशोलेखा रानी के द्वारा झूठा कलंकित किया गया रनिवास का अध्यक्ष सुरक्षित तीर्थयात्रा करके आ पहुँचा ॥२२४॥

प्रतिहार से सूचित और पैरों पर गिरे हुए उस प्रसन्नचित्त सुरक्षित को सच्ची बात जानते हुए राजा वीरभुज ने बहुत सम्मानित किया ॥२२५॥

सारी दुष्ट रानियों को बुलाकर वहीं पर राजा ने उस सुरक्षित से कहा—'जाओ, इन सब को भू-गृह में डाल दो।' यह सुनकर उन सब को ले जाकर भू-गृह (तहखाने) में डाल देने पर दयावती रानी गुणवरा राजा के चरणों में गिरकर प्रार्थना करने लगी—'हे आर्यपुत्र! तुम फिर मुझे ही भू-गृह में डाल दो, प्रसन्न हो जाओ! मैं इन डरी हुई सौतों को नहीं देख सकती' ॥२२६–२२८॥

इस प्रकार, प्रार्थना करके महारानी ने उन्हें बन्धन से छुड़ा लिया। उच्च कोटि के व्यक्तियों की विरोधियों पर कृपा ही बदला लेने के रूप में होती है ॥२२९॥

रानी गुणवरा का अनिष्ट चाहती हुई भी उसके द्वारा बचाई गई सभी रानियाँ लज्जित होकर अपने-अपने भवन को लौट गईं ॥२३०॥

राजा उदारहृदया उस गुणवरा रानी को भी बहुत मानने लगा और उस पत्नी के कारण अपने-आपको पुण्यवान् समझने लगा ॥२३१॥

तब युक्तिपूर्वक निर्वासित करने के निमित्त निर्वासभुज आदि दूसरे पुत्रों को बुलाकर उस राजा ने यह बनावटी बात कही—॥२३२॥

'मैंने सुना है कि आप अधम वणिकों ने एक पथिक को मार डाला है। इसलिए, आप सभी तीर्थ में घूमने के लिए चले जायँ, यहाँ न रहें' ॥२३३॥

यह सुनकर वे राजकुमार राजा को (निर्दोष होने का) विश्वास नहीं दिला पाये। क्योंकि, प्रभु के हठ पकड़ लेने पर किसको विश्वास दिलाया जा सकता है? २३४॥

तत्पश्चात् शृंगभुज ने भाइयों को जाते हुए देखा और उसकी आँखें दया से भर आईं। तब उसने अपने पिता से प्रार्थना की—॥२३५॥

'पिता जी, मेरे एक अपराध को आप क्षमा कर दें। इनपर कृपा करें।' यह कहकर वह उस राजा के चरणों पर गिर पड़ा ॥२३६॥

वह राजा भी उस पुत्र को राज्य-भार के उठाने में समर्थ और बचपन में भी यश और दया का आश्रय जानकर समझने लगा कि यह बचपन में गोवर्धन पर्वत के भार को उठानेवाले यशोदा माता से आश्रित भगवान् कृष्ण का अवतार है ॥२३७॥

गंभीर हृदयवाले उस राजा ने बेटे को बचाने के लिए उसकी प्रार्थना मान ली। उन सभी भाइयों ने भी उस भाई को अपना प्राणदाता मान लिया ॥२३८॥

सर्वाः प्रकृतयोऽप्यत्र तस्य शृङ्गभुजस्य तम्।
गुणातिशयमालोक्य दधुस्तदनुरागिताम् ॥२३९॥
ततोऽन्येद्युर्गुणज्येष्ठं तज्ज्येष्ठेष्वपि सत्सु सः।
पिता वीरभुजो राजा यौवराज्येऽभिषिक्तवान् ॥२४०॥
स च प्राप्ताभिषेकः सन् दिग्जयाय ययौ ततः।
विज्ञप्य पितरं सर्वबलैः शृङ्गभुजः सह ॥२४१॥
बाहुवीर्यजिताशेषवसुधाधिपमण्डलम् ।
आदाय चाययौ दिक्षु प्रविकीर्य यशःश्रियम् ॥२४२॥
ततो वहन् राज्यभारं प्रणतैर्भ्रातृभिः सह।
निश्चिन्तभोगसुखितौ रञ्जयन् पितरौ कृती ॥२४३॥
दानं ददद् ब्राह्मणेभ्यस्तस्थौ शृङ्गभुजः सुखी।
रूपवत्यार्थसिद्धयेव स रूपशिखया सह ॥२४४॥
इत्यनन्याः पतिं साध्व्यः सर्वाकारमुपासते।
एते गुणवरारूपशिखे श्वश्रूस्नुषे यथा ॥२४५॥
इति नरवाहनदत्तो हरिशिखमुखतः कथामिमां श्रुत्वा।
रत्नप्रभासमेतः साध्विति जल्पंस्तुतोष परम् ॥२४६॥
उत्थाय चाह्निकमथाशु विधाय गत्वा
वत्सेश्वरस्य निकटं स पितुः सभार्यः।
भुक्त्वापराह्णमतिवाह्य च गीतवाद्यैः
स्वान्तःपुरे सदयितो रजनीं निनाय ॥२४७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे रत्नप्रभालम्बके पञ्चमस्तरङ्गः।

षष्ठस्तरङ्गः

मरुभूतिगोमुखयोः परस्पर वाक्कलहः

ततः प्रातः पुना रत्नप्रभासद्मनि तं स्थितम्।
नरवाहनदत्तं ते गोमुखाद्या उपागमन् ॥१॥

इस स्थिति में सभी प्रजाओं ने भी उस शृंगभुज के ऐसे विशिष्ट गुण को देखा और उसके प्रति उनका अनुराग दृढ़मूल हो गया ॥२३९॥

तब दूसरे दिन उस पिता राजा वीरभुज ने उसके दूसरे जेठे भाइयों के रहने पर भी गुणों से ज्येष्ठ उस शृंगभुज को ही युवराज-पद पर अभिषिक्त किया ॥२४०॥

और तब, वह शृंगराज युवराज-पद पर अभिषिक्त होकर पिता की आज्ञा लेकर सभी प्रकार की सेना के साथ दिग्विजय के लिए चला गया ॥२४१॥

वह अपने बाहु-बल से समग्र पृथ्वी के राजमण्डल को जीत कर वापस चला आया, साथ ही अपनी कीर्तिश्री को भी दिग्दिगन्त में बिखेर आया ॥२४२॥

तत्पश्चात् कृतकृत्य वह शृंगभुज अपने विनम्र भाइयों के साथ राज्य-भार को सँभालता हुआ निश्चिन्त होकर भोग-सुख में लगे हुए माता-पिता को अनुरंजित करता रहा, ब्राह्मणों को दान देता रहा और अर्थसिद्धि के समान रूपवती रूपशिखा के साथ दिन बिताने लगा ॥२४३-२४४॥

इस प्रकार, पतिव्रता स्त्रियाँ सभी अवस्थाओं में अपने पतियों की अनन्य भक्ति से उपासना करती हैं, जैसे ये दोनों सास-पतोहू गुणवरा और रूपशिखा करती थीं ॥२४५॥

इस प्रकार, नराहनदत्त हरिमुख के मुख से इस कथा को सुनकर रत्नप्रभा के साथ मिलकर 'साधु-साधु' कहता हुआ अत्यन्त संतुष्ट हुआ ॥२४६॥

तब वह उठकर और शीघ्र दैनिक कृत्य करके अपनी पत्नी के साथ पिता वत्सराज के पास गया। खा-पीकर अपराह्न में संगीत से दिन बिताकर उसने प्रियतमा के साथ अपने अन्तःपुर में रात बिताई ॥२४७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के रत्नप्रभालम्बक का
पंचम तरंग समाप्त

षष्ठ तरंग

मरुभूति और गोमुख का पारस्परिक वाक्कलह

तदनन्तर प्रातः काल रत्नप्रभा के महल में बैठे हुए नरवाहनदत्त के पास गोमुख आदि मन्त्री पुनः आये ॥१॥

मरुभूतिः स तु मनाक्पीतासवमदालसः।
बद्धपुष्पोऽनुलिप्तश्च विलम्बित उपाययौ ॥२॥
प्रस्खलत्पदया गत्या हासयंस्तं गिरा तदा।
तन्नीतिरञ्जितमुखो नर्मणोवाच गोमुखः ॥३॥
यौगन्धरायणसुतो भूत्वा नीतिं न वेत्सि किम्।
प्रातः पिबसि मद्यं यन्मत्तः प्रभुमुपैषि च ॥४॥
तच्छ्रुत्वा तं क्रुधा क्षीबो मरुभूतिर्जगाद सः।
एतन्मे प्रभुणा वाच्यममुना गुरुणापि वा ॥५॥
त्वं तु कः शिक्षयसि मामित्यकात्मज रे वद।
इत्युक्तवन्तं तं भूयो हसन्नाह स्म गोमुखः ॥६॥
भर्त्संयन्त्यविनीतं किं स्ववाचा प्रभविष्णवः।
अवश्यं तस्य वक्तव्यं तत्पार्श्वस्थैर्यथोचितम् ॥७॥
सत्यं चेत्यकपुत्रोऽहं त्वं मन्त्रिवृषभः पुनः।
वक्ति ते जाड्यमेवैतद्विषाणे स्तः परं न ते ॥८॥
इत्युक्तो गोमुखेनात्र मरुभूतिरभाषत।
तवैव वृषभत्वं हि गोमुखस्योपपद्यते ॥९॥
तथापि यददान्तोऽसि सोऽयं ते जातिसङ्करः।
एतच्छ्रुत्वा च सर्वेषु हसत्सूवाच गोमुखः ॥१०॥
मरुभूतिरयं रत्नं जातु यत्नशतैरपि।
अवेध्यं वज्रमेतस्मिन्गुणं को हि प्रवेशयेत् ॥११॥

सिकतासेतुवृत्तान्तः

अन्यत्पुरुषरत्नं तद्यदयत्नेन वेध्यते।
सिकतासेतुवृत्तान्तं शृणु चात्र निदर्शनम् ॥१२॥
आसीत्कोऽपि प्रतिष्ठाने तपोदत्त इति द्विजः।
स पित्रा क्लेश्यमानोऽपि विद्यां नाध्यैत शैशवे ॥१३॥
अनन्तरं गर्ह्यमाणः सर्वैरनुशयान्वितः।
स विद्यासिद्धये तप्तुं तपो गङ्गातटं ययौ ॥१४॥
तत्राश्रितोग्रतपसस्तस्य तं वीक्ष्य विस्मितः।
वारयिष्यन्द्विजच्छद्मा शक्रो निकटमाययौ ॥१५॥
आगत्य च स गङ्गायास्तटाच्चिक्षेप वारिणि।
उद्धृत्योद्धृत्य सिकताः पश्यतस्तस्य सोर्मिणि ॥१६॥

किन्तु, मरुभूति मन्त्री मद्य के नशे में कुछ अलसाता हुआ फूलों का गजरा डाले और इत्र आदि लगाये हुए लड़खड़ाती हुई गति और जबान से अन्य मित्रों को हँसाता हुआ कुछ देर से आया, उसकी इस दशा से मुस्कराते हुए गोमुख ने मजाक करते हुए कहा— ॥२-३॥

'तुम यौगन्धरायण के पुत्र होकर भी नीति नहीं जानते । प्रातःकाल शराब पीते हो और नशे की बेहोशी में राजा के पास आते हो ?' ॥४॥

यह सुनकर क्रोध से बेहोश मरुभूति गोमुख से बोला—'यह बात तो ये मेरे स्वामी (राजा) या मेरे पिता कह सकते हैं' ॥५॥

अरे 'इत्यक' ('द्वारपाल)'के बेटे ! बोलो तो सही । तुम मुझे शिक्षा देते हो?' ऐसा कहते हुए मरुभूति से गोमुख ने फिर कहा—'क्या प्रभुजन अविनीत (उद्दण्ड) को अपनी बातों से फटकारते हैं। ऐसी बातें तो राजा के पार्श्ववर्त्ती व्यक्ति ही कह देते हैं। यह सच है कि मैं इत्यक (द्वारपाल) का पुत्र हूँ और तुम मन्त्रिवृषभ (बैल और श्रेष्ठ) हो। तुम्हारी यह स्थिति ही तुम्हारी मूर्खता (बैलपन) बता रही है। केवल दो सींग ही तो नहीं हैं।' ॥६-८॥

गोमुख से ऐसा कहा गया मरुभूति बोला—'बैलपन तो तुम्हें ही अधिक सजता है, तुम्हारा नाम ही गो-मुख है। फिर भी, जो तुम्हारी उद्दण्डता है, उसका कारण तुम्हारी वर्णसंकरता ही है' यह सुनकर सब लोगों के हँस देने पर गोमुख फिर बोला—॥९–१०॥

'यह मरुभूति, वह रत्न है, जिसमें सैकड़ों यत्न करने पर भी इस अवेध्य रत्न में गुण (सूत) का प्रवेश कौन करा सकता है ॥ ११॥

दूसरा कोई पुरुष-रत्न हो, तो उसका वेधन बिना प्रयत्न से ही हो जाता है। इस प्रसंग में सिकता-सेतु का उदाहरण सुनाता हूँ।'—॥१२॥

सिकता-सेतु की कथा

प्रतिष्ठान नामक नगर में तपोदत्त नाम का कोई ब्राह्मण था, वह पिता के अनेक कष्ट देने पर भी बाल्यावस्था में अध्ययन नहीं कर सका ॥१३॥

पिता के मरने पर सभी लोगों से तिरस्कृत किया जाता हुआ वह अत्यन्त विरक्त होकर विद्या की सिद्धि के लिए गंगातट पर तप करने गया ॥१४॥

वहाँ पर अत्यन्त उग्र तपस्या में लगे हुए उसे देखकर आश्चर्य-चकित इन्द्र, ब्राह्मण के कपट-वेश में वहाँ गया ॥१५॥

वहाँ पर बैठकर इन्द्र लहरोंवाले गंगा के जल में बालू उठा-उठाकर फेंकने लगा और वह ब्राह्मण उसे देखता रहा ॥१६॥

तदृष्ट्वा मुक्तमौनस्तं तपोदत्तः स पृष्टवान्।
अश्रान्तः किमिदं ब्रह्मन्करोषीति सकौतुकम्॥१७॥
निर्बन्धपृष्टः स च तं शक्रोऽवादीद् द्विजाकृतिः।
सेतुं बध्नामि गङ्गायां ताराय प्राणिनामिति॥१८॥
ततोऽब्रवीत्तपोदत्तः सेतुः किं मूर्ख बध्यते।
गङ्गायामोघहार्याभिः सिकताभिः कदाचन॥१९॥
तच्छ्रुत्वा तमुवाचैवं शक्रोऽथ द्विजरूपधृक्।
यद्येवं वेत्सि तद्विद्यां विना पाठं विना श्रुतम्॥२०॥
कस्माद्व्रतोपवासाद्यैस्त्वं साधयितुमुद्यतः।
इयं शशविषाणेच्छा व्योम्नि वा चित्रकल्पना॥२१॥
अनक्षरो लिपिन्यासो यद्विद्याध्ययनं विना।
एवं यदि भवेदेतन्न ह्यधीयीत कश्चन॥२२॥
इत्युक्तः स तपोदत्तः शक्रेण द्विजरूपिणा।
विचार्य तत्तथा मत्वा तपस्त्यक्त्वा गृहं ययौ॥२३॥
एवं सुधीः सुखं बोध्यो मरुभूतिस्तु दुर्मतिः।
न शक्यते बोधयितुं बोध्यमानश्च कुप्यति॥२४॥
इत्युक्ते गोमुखेनाऽत्र मध्ये हरिशिखोऽभ्यधात्।
भवन्ति सुखसम्बोध्याः सत्यं देव सुमेधसः॥२५॥

विरूपशर्मणो ब्राह्मणस्य कथा

तथा च पूर्वमभवद् वाराणस्यां द्विजोत्तमः।
कश्चिद् विरूपशर्माख्यो विरूपो निर्धनस्तथा॥२६॥
सच वैरूप्यदौर्गत्यनिर्विण्णस्तत्तपोवनम्।
गत्वा तीव्रं तपश्चक्रे रूपद्रविणकाङ्क्षया॥२७॥
ततः सुरपतिः कृत्वा विकृतव्याधिताकृतेः।
जम्बुकस्याधमं रूपमेत्याग्रे तस्य तस्थिवान्॥२८॥
तं विलोक्य परीताङ्गमक्षिकाभिरलक्षणम्।
विरूपशर्मा शनकैर्मनसा विममर्श सः॥२९॥
ईदृशा अपि जायन्ते संसारे पूर्वकर्मभिः।
तन्ममाल्पमिदं धात्रा कृतं यन्नेदृशः कृतः॥३०॥
को दैवलिखितं भोगं लङ्घयेदित्यवेत्य सः।
विरूपशर्मा शनकैस्तपःस्थानाद्ययौ गृहम्॥३१॥

उसके इस खेल को देखकर वह ब्राह्मण अपना मौन भंग करके बोला—'हे ब्राह्मण ! विना थकावट के यह तुम क्या कर रहे हो ?'॥१७॥

आग्रहपूर्वक पूछने पर ब्राह्मण बना हुआ इन्द्र बोला—'जीवों को गंगा पार जाने के लिए पुल बाँध रहा हूँ' ॥ १८॥

यह सुनकर तपोदत्त बोला—'हे मूर्ख ! लहरों से इधर-उधर बिखरनेवाली बालू से भला कहीं पुल बँधता है ?' ॥१९॥

यह सुनकर ब्राह्मण-रूपी इन्द्र बोला—'यदि तुम यह समझते हो, तो तुम विना पढ़े-सुने विद्या कैसे प्राप्त करोगे ? ॥२०॥

व्रत और उपवास आदि से तुम विद्या प्राप्त करने के लिए क्यों उत्सुक हो रहे हो। यह तो खरगोश के सींग के समान या आकाश में चित्र-रचना के समान व्यर्थ बात है ॥२१॥

विना अक्षर जाने लिखना और विना अध्ययन के विद्या-प्राप्ति हो जाये, तो कोई भी कभी अध्ययन न करे' ॥२२॥

ब्राह्मण-रूपी इन्द्र से इस प्रकार कहा गया तपोदत्त ब्राह्मण उसकी बात पर विचार कर और उसे ठीक मानकर तप करना छोड़कर घर चला गया ॥२३॥

इस प्रकार, बुद्धिमान् व्यक्ति को सरलता से ज्ञान कराया जा सकता है, किन्तु मरुभूति तो दुष्टबुद्धि है। इसे जनाया नहीं जा सकता। कुछ बताने या ज्ञान देने पर क्रुद्ध हो जाता है ॥२४॥

गोमुख के ऐसा कहने पर हरिशिख ने बीच में ही कहा—'राजन् ! यह सच है, बुद्धिमान् व्यक्ति को सरलता से ही समझाया जा सकता है' ॥२५॥

इस प्रसंग में कथा सुनें—

विरूपशर्मा ब्राह्मण की कथा

पूर्वकाल में वाराणसी नगरी में विरूपशर्मा नाम का एक दरिद्र ब्राह्मण था ॥२६॥

वह अपनी कुरूपता और दरिद्रता से अत्यन्त विरक्त होकर जंगल में जाकर रूप और धन की प्राप्ति के लिए कठोर तपस्या करने लगा ॥२७॥

तब देवराज इन्द्र, बिगड़े और बीमार सियार का रूप धारण करके उसके आश्रम में आकर उसके समीप खड़े हुए। सड़े-गले और मक्खियों से भरे शरीरवाले उस सियार को देखकर विरूपशर्मा अपने मन में सोचने लगा ॥२८-२९॥

संसार में, अपने पूर्व कर्मों के कारण ऐसे प्राणी भी होते हैं। इस दृष्टि से दैव ने मुझे बहुत अल्प मात्रा में कुरूप और घृणित बनाया है। दैव के लिखे हुए भोगों का कौन उल्लंघन कर सकता है ? ऐसा समझकर विरूपशर्मा तपस्या के स्थान से अपने घर वापस आ गया ॥३०-३१॥

इत्थं सुबुद्धिरल्पेन देव यत्नेन बोध्यते।
न कृच्छ्रेणापि महता निर्विचारमतिः पुनः ॥३२॥
एवं हरिशिखेनोक्ते श्रद्धधाने च गोमुखे।
मरुभूतिरनात्मज्ञः क्षीबोऽतिकुपितोऽब्रवीत् ॥३३॥
बलं गोमुख वाच्येव न तु बाह्वोर्भवादृशाम्।
वाचालैः कलहः क्लीबैस्त्रपाकृद्बाहुशालिनाम् ॥३४॥
इति ब्रुवाणं युद्धेच्छुं मरुभूतिं स्मिताननः।
नरवाहनदत्तोऽथ प्रभुः स्वयमसान्त्वयत् ॥३५॥
विसृज्य तं च स्वगृहं तं बालसखिवत्सलः।
कुर्वन् दिवसकार्याणि निनाय तदहः सुखम् ॥३६॥
प्रातश्च सर्वेष्वायातेष्वेषु मन्त्रिषु तं प्रिया।
रत्नप्रभा जगादैवं मरुभूतौ त्रपानते ॥३७॥
त्वमार्यपुत्र सुकृती यस्य ते सचिवा इमे।
आबाल्यस्नेहनिगडबद्धाः शुद्धचेतसः ॥३८॥
एते च धन्या येषां त्वमीदृक् स्नेहपरः प्रभुः।
प्राक्कर्मोपार्जिता यूयमन्योन्यस्य न संशयः ॥३९॥
एवमुक्ते तया राज्ञ्या वसन्तकसुतोऽब्रवीत्।
नरवाहनदत्तस्य नर्ममित्रं तपन्तकः ॥४०॥
सत्यं पूर्वार्जितोऽयं नः स्वामी सर्वं हि तिष्ठति।
पूर्वकर्मवशादेव तथा च श्रूयतां कथा ॥४१॥

तरुणचन्द्रवैद्यस्य राज्ञ अजरस्य च कथा

अभूच्छ्रीकण्ठनिलये विलासपुरनामनि।
पुरे विनयशीलाख्यो नाम्नाऽन्वर्थेन भूपतिः ॥४२॥
तस्य प्राणसमा देवी बभूव कमलप्रभा।
तया साकं च भोगैकसक्तस्तस्थौ चिराय सः ॥४३॥
अथ कालेन भूपस्य जरा सौन्दर्यहारिणी।
तस्याविरासीत् तां दृष्ट्वा स चासीदतिदुःखितः ॥४४॥
हिमाहतमिवाम्भोजं पलितं म्लानमाननम्।
दर्शयामि कथं देव्यै हा धिङ्मे मरणं वरम् ॥४५॥
इत्यादि चिन्तयन्सोऽथ सदस्याहूय भूपतिः।
वैद्यं तरुणचन्द्राख्यं विजगाद कृतादरः ॥४६॥

'हे राजन् ! इस प्रकार अच्छी बुद्धिवाले व्यक्ति साधारण प्रयत्न से ही समझाये जा सकते हैं। अविवेकी और कुबुद्धि व्यक्ति अत्यन्त कठिनाई से भी नहीं समझाये जा सकते ॥३२॥

हरिशिख के ऐसा कहने पर और गोमुख के समर्थन करने पर अनात्मज्ञ मरुभूति अत्यन्त क्रोध करके बोला—'हे गोमुख ! तुम्हारे ऐसे व्यक्तियों की वाणी में ही बल होता है, भुजाओं में नहीं। इसलिए बकवादी नपुंसकों के साथ झगड़ा करना भुजबलशाली वीरों के लिए उचित नहीं है' ऐसा कहते हुए और युद्ध के लिए उद्यत मरुभूति को मुस्कराते हुए स्वामी नरवाहनदत्त ने स्वयं शान्त किया ॥३३-३५॥

और, बालमित्रों पर प्रेम करनेवाले राजा नरवाहनदत्त ने उसे अपने घर वापस भेजकर दैनिक कार्यों में अपना दिन सुख से व्यतीत किया ॥३६॥

दूसरे दिन, प्रातःकाल पुनः मित्रों के आने पर और मरुभूति के सिर नीचा किये रहने पर रत्नप्रभा युवराज से बोली—'हे आर्यपुत्र ! तुम धन्य हो, तुम्हारे ये सभी मन्त्री बाल्यकाल से स्नेह-सूत्र में बँधे और शुद्धचित्त हैं' ॥३७-३८॥

और ये भी धन्य है, जिनके तुम ऐसे स्नेहमय स्वामी हो। तुम लोग पूर्वजन्म के संस्कारों से परस्पर मिले हो, इसमें सन्देह नहीं, ॥३९॥

उस रानी रत्नप्रभा के ऐसा कहने पर वसन्तक का पुत्र एवं नरवाहनदत्त का नर्म-सचिव तपन्तक बोला—'यह सत्य है कि हमारे स्वामी पूर्वजन्म के अर्जित हैं। यह सब कुछ पूर्वजन्म के संस्कार-वश ही होता है'। इस प्रसंग में एक कथा सुनें—॥४०-४१॥

तरुणचन्द्र वैद्य और राजा अजर की कथा

पूर्वकाल, में हिमालय में, विलासपुर नामक नगर में यथार्थ नामवाला विनयशील नामक राजा था ॥४२॥

उसकी प्राणों के समान प्यारी कमलप्रभा नाम की रानी थी। राजा उसके साथ सांसारिक सुखों के भोग में चिरकाल तक रहा ॥४३॥

कुछ समय के अनन्तर राजा अपने शरीर में सौन्दर्य का नाश करनेवाली वृद्धावस्था को आई देख अत्यन्त दुःखी हुआ ॥४४॥

हिम (बरफ) से जलाये हुए कमल के समान सफेदी से मलिन अपने मुख को देखकर—'हाय ! धिक्कार है ! मैं ऐसा मुँह अपनी रानी को कैसे दिखाऊं? इससे तो मर जाना अच्छा है'—ऐसा सोचते हुए, राजा ने तरुणचन्द्र नामक वैद्य को दरबार में बुलाकर आदर के साथ कहा ॥४५-४६॥

भद्र भक्तस्त्वमस्मासु कुशलश्चेति पृच्छ्यसे।
अप्यस्ति काचिद्युक्तिः सा ययेयं वार्यते जरा ॥४७॥
तच्छ्रुत्वैव कलामात्रसारो वाञ्छन् स पूर्णताम्।
वक्रस्तरुणचन्द्रोऽन्तः सत्यनामा व्यचिन्तयत् ॥४८॥
मूर्खोऽयं नृपतिर्भोज्यो मया वेत्स्यामि च क्रमात्।
इति सञ्चिन्त्य स भिषक् तमेवमवदन्नृपम् ॥४९॥
एकस्त्वं भूगृहे मासानष्टौ यदिदमौषधम्।
उपयुङ्क्षे ततो देव जरामपनयामि ते ॥५०॥
एतच्छ्रुत्वैव स नृपस्तद्भूगृहमकारयत्।
क्षमन्ते न विचारं हि मूर्खा विषयलोलुपाः ॥५१॥
राजन् सत्त्वेन पूर्वेषां तपसा च दमेन च।
रसायनानि सिद्धानि प्रभावेण युगस्य च ॥५२॥
अद्यत्वे च श्रुतान्येव रसान्येतानि भूपते।
सामग्र्यभावात् कुर्वन्ति यत्प्रत्युत विपर्ययम् ॥५३॥
तन्न युक्तमिदं धूर्ताः क्रीडन्त्येव हि बालिशैः।
किं देव समतिक्रान्तमागच्छति पुनर्वयः ॥५४॥
इत्यादि मन्त्रिणां वाक्यं न लेभे तस्य चान्तरम्।
आवृते हृदये राज्ञो गाढया भोगतृष्णया ॥५५॥
विवेश च गिरा तस्य भिषजस्तत् स भूगृहम्।
एकाकी वारिताशेषराजोचितपरिच्छदः ॥५६॥
एको वैद्यः स्वभृत्येन सहैकेनैव तस्य सः।
तत्रौषधादिचर्यायां बभूव परिचारकः ॥५७॥
तस्थौ च तत्र स नृपो भूमिगर्भे तमोमये।
अज्ञान इव भूयस्त्वात् प्रसृते हृदयाद्बहिः ॥५८॥
गतेषु चात्र मासेषु षण्मासेष्वस्य भूपतेः।
विलोक्याभ्यधिकीभूतां तां जरां स शठो भिषक् ॥५९॥
आजहार कमप्येकं पुरुषं तादृशाकृतिम्।
राजानं त्वां करोमीति युवानं कृतसंविदम् ॥६०॥
ततः सुरङ्गां भूगेहे दूराद्दत्त्वाऽत्र तं नृपम्।
सुप्तं हत्वा तया नीत्वा सोऽन्धकूपेऽक्षिपन्निशि ॥६१॥

'हे भले आदमी ! तू हमारा हितैषी है और कुशल वैद्य है, इसलिए पूछता हूँ कि क्या कोई ऐसी युक्ति भी है कि बुढ़ापे को रोका जा सके' ॥४७॥

यह सुनकर केवल कलाबाजी जाननेवाला एवं यथार्थ नामवाला वह कुटिल तरुणचन्द्र सोचने लगा ॥४८॥

'यह राजा मूर्ख है और मेरा भोज्य भी। धीरे-धीरे समझूँगा', ऐसा सोचकर राजा से बोला—॥४९॥

'महाराज ! यदि तुम भूमि के नीचे (तहखाने) में आठ महीनों तक रहकर मेरी ओशधि खाओ, तो मैं तुम्हारा बुढ़ापा दूर कर दूँ' ॥५०॥

ऐसा सुनते ही राजा ने तुरन्त भू-गृह [तहखाना] बनवाया। विषय-लम्पट मूर्ख विचार करने की शक्ति नहीं रखते ॥५१॥

'हे राजन् ! पूर्वजों के तप, दम और युग के प्रभाव से बड़े-बड़े रसायन सिद्ध हो चुके हैं। किन्तु, आजकल समय के प्रभाव से उनका नाम ही रह गया है। बल्कि, ये विपरीत फल देते हैं ॥५२-५३॥

अतः, यह उचित नहीं है। धूर्त्त वैद्य मूर्खों के साथ ठगी करते हैं। महाराज ! क्या गई अवस्था फिर लौटकर आती है?' ॥५४॥

इस प्रकार मन्त्रियों की बातें राजा के हृदय में पैठ न सकी; क्योंकि राजा का हृदय भोग की प्रबल तृष्णा से भरा हुआ था ॥५५॥

अतः, वह राजा, वैद्य के वचन पर विश्वास करके और राजसी ठाट-बाट छोड़ भू-गृह में अकेला घुसा ॥५६॥

अपने एक भृत्य के साथ वैद्य, उस राजा की ओषधि आदि से परिचर्या करने लगा। राजा उस अन्धकारमय भू-गृह में इस प्रकार रहने लगा, मानों उसका अत्यन्त बढ़ा हुआ अज्ञान, हृदय से बाहर निकल पड़ा हो ॥५७-५८॥

इस प्रकार, छह महीने बीतने पर और राजा की वृद्धावस्था को बढ़ी देखकर वह दुष्ट वैद्य, राजा से मिलती-जुलती आकृतिवाले एक पुरुष को लाया और उस युवा से बोला कि 'मैं तुम्हें राजा बनाता हूँ।' उससे इस प्रकार सम्मति करके उसने दूर से ही भूगृह तक एक लम्बी सुरंग बनवाई और उसके द्वारा भू-गृह में जाकर राजा को मार डाला और रात को अँधेरे कुएँ में उसकी लाश फेंक दी ॥५९—६१॥

तथैव पुरुषं तं च तरुणं तत्र भूगृहे।
प्रवेश्य स्थापयामास सुरङ्गां पिदधे च ताम् ॥६२॥
सम्प्राप्य मूढबुद्धीनामवकाशं निरर्गलम्।
उच्छृङ्खलमतिः कुर्यात् प्राकृतः किं न साहसम् ॥६३॥
ततः स सर्वाः प्रकृतीर्वैद्योऽन्येद्युरभाषत।
अजरोऽयं कृतस्तावत् षड्भिर्मासैर्मया नृपः ॥६४॥
मासद्वयेन चैतस्य रूपमन्यद् भविष्यति।
तद्दूरात् किञ्चिदात्मानमस्मै दर्शयताधुना ॥६५॥
इत्युक्त्वा भूगृहद्वारि सर्वानानीय दर्शयन्।
तस्मै न्यवेदयद् यूने स तेषां नामकर्मणी ॥६६॥
इत्यन्तःपुरपर्यन्तं मासद्वितयमन्वहम्।
भूगृहेऽबोधयद्युक्त्या युवानं पुरुषं स तम् ॥६७॥
प्राप्ते च समये तं स भोगपुष्टं धरागृहात्।
उज्जहाराजरः सोऽयं जातो राजेत्युदाहरन् ॥६८॥
ततश्चौषधिसंसिद्धः सैष राजेति तत्र सः।
पर्यवार्यत हृष्टाभिः पुमान् प्रकृतिभिर्युवा ॥६९॥
अथ स्नातस्तथा लब्धराज्यो राजोचिताः क्रियाः।
चकार स सहामात्यैः सोत्सवस्तरुणः पुमान् ॥७०॥
तदाप्रभृति तस्थौ च कुर्वन् राज्यं सुखेन सः।
नामाजर इति प्राप्य क्रीडन्नन्तःपुरैः सह ॥७१॥
सर्वे चैतमसम्भाव्यवैद्यवृत्ताविशङ्किनः।
रसायनपरावृत्तरूपं स्वं मेनिरे प्रभुम् ॥७२॥
प्रीत्यानुरञ्ज्य प्रकृतीर्देवीं च कमलप्रभाम्।
सोऽथ स्वमित्रैरजरो राजाभुङक्त सह श्रियम् ॥७३॥
मित्रं भेषजचन्द्राख्यं तथान्यं पद्मदर्शनम्।
उभे आत्मसमे चक्रे हस्त्यश्वग्रामपूरिते ॥७४॥
वैद्यं तरुणचन्द्रं तु प्रक्रियार्थममानयत्।
न तु तस्मिन् विशश्वास सत्यधर्मच्युतात्मनि ॥७५॥
एकदा च स वैद्यस्तं स्वैरं राजानमब्रवीत्।
किं मामगणयित्वैव स्वातन्त्र्येण विचेष्टसे ॥७६॥

और, उसी सुरंग के रास्ते उस युवा पुरुष को भू-गृह में लेजाकर रख दिया और सुरंग को बन्द कर दिया ॥६२॥

बेरोक-टोक मौका पाकर दुष्ट बुद्धिवाले नीच पुरुष, मूर्ख व्यक्तियों पर कौन-सा साहसिक कुकर्म नहीं कर डालते ? ॥६३॥

ऐसा प्रबन्ध करके, दूसरे दिन, प्रातःकाल, वैद्य ने सभी राज-कर्मचारियों से कहा कि मैंने राजा का बुढ़ापा छह महीनों में दूर कर दिया। अब वह जवान हो गया है। शेष दो महीनों में उसका दूसरा ही रूप हो जायगा। इसलिए, आप लोग दूर से ही अब उसे अपने को दिखाओ ॥६४-६५॥

ऐसा कहकर वह एक-एक राज-कर्मचारी को भू-गृह के दरवाजे पर ले जाकर उनका नाम और पद बतलाकर दिखाने लगा ॥६६॥

इस प्रकार, दो महीनों तक उसने रानियों तक को ले जाकर उस युवा पुरुष का परिचय कराया ॥६७॥

आठ मास पूरे होनेपर खा-पीकर मुटाये हुए उस पुरुष को भू-गृह से निकालकर उसने घोषणा कर दी कि यह वही राजा औषधि के प्रभाव से युवा और बुढ़ापे से रहित हो गया है इस घोषणा से प्रसन्न प्रजाओं ने भी उस युवा को ही राजा मान लिया। तदनन्तर उस युवा पुरुष को स्नान कराके मन्त्रियों के साथ उसका राज्याभिषेक उत्सव किया ॥६८-७०॥

तब से वह युवा राजा अजर इस नाम मे विख्यात होकर रानियों के साथ क्रीड़ा करता और राज्य का भोग करता हुआ सुख से रहने लगा ॥७१॥

राजभवन के सभी व्यक्ति, इस असम्भव कार्य करने वाले वैद्य की विद्या के चमत्कार पर विश्वास करके उसे ही पुराना राजा मानकर और अपना स्वामी समझकर उसकी सेवा करने लगे ॥७२॥

वह युवक भी अपने प्रेम से प्रजा और राज-कर्मचारियों को तथा महारानी कमलप्रभा को प्रसन्न करके राजोचित व्यवहार करता हुआ मन्त्रियों के साथ प्रसन्नता से राज-कार्य करने लगा ॥७३॥

और अपने अनन्य एवं प्राचीन मित्र भेजजचन्द्र और पद्मदर्शन को हाथी, घोड़े एवं ग्राम आदि प्रदान कर उनके साथ विशेष प्रीति रखने लगा ॥७४॥

किन्तु तरुणचन्द्र वैद्य को केवल व्यावहारिक दृष्टि से मानता था। किन्तु, सत्यधर्म से गिरी हुई आत्मावाले उस पर विश्वास नहीं करता था ॥७५॥

एकबार उस वैद्य तरुणचन्द्र ने एकान्त में राजासे कहा कि तू मुझे कुछ न समझकर स्वतन्त्र रूप से काम क्यों करता है ? ॥७६॥

तद्विस्मृतं यदा राजा भवानिह मया कृतः।
तच्छ्रुत्वैव स राजा तमजरो वैद्यमभ्यधात् ॥७७॥
अहो मूर्खोऽसि कः कस्य कर्ता दातापि वा पुमान्।
प्राक्तनं कर्म हि सखे करोति च ददाति च ॥७८॥
अतस्त्वं मा कृथा दर्पं तपःसिद्धमिदं हि मे।
एतच्च दर्शयिष्यामि प्रत्यक्षमचिरेण ते ॥७९॥
इत्युक्तस्तेन स त्रस्त इव वैद्यो व्यचिन्तयत्।
अहो किमप्यधृष्टोऽयं धीरो ज्ञानीव भाषते ॥८०॥
यद्रहस्यान्तरज्ञत्वं स्वामिसंवननं परम्।
तदपि क्षमते नास्मिन्ननुवर्त्यस्तदेष मे ॥८१॥
पश्यामि तावत् किमयं साक्षान्मे दर्शयिष्यति।
इत्यालोच्य तथेत्येवं भिषक् तूष्णीं बभूव सः ॥८२॥
अन्येद्युश्चाजरो राजा परिभ्रान्तुं स निर्ययौ।
क्रीडंस्तरुणचन्द्राद्यैः सेव्यमानः सुहृत्सखः ॥८३॥
भ्राम्यन् प्राप्तो नदीतीरं यस्या मध्ये ददर्श सः।
प्रवाहे वहदायातं सौवर्णं पद्मपञ्चकम् ॥८४॥
आनाययच्च भृत्यैस्तद् गृहीत्वा प्रविलोक्य च।
वैद्यं तरुणचन्द्रं तं जगाद निकटस्थितम् ॥८५॥
नदीतीरेण गच्छ त्वमुपरिष्टादितोऽमुना।
उत्पत्तिस्थानमेतेषां पङ्कजानां गवेषय ॥८६॥
तच्च दृष्ट्वा त्वमागच्छेः सुमहत्कौतुकं हि मे।
अद्भुतेष्वेषु पङ्केषु त्वं च दक्षः सुहृन्मम ॥८७॥
इत्युक्त्वा प्रेषितस्तेन राज्ञा स विवशो भिषक्।
यथादिष्टेन मार्गेण तथेति प्रययौ ततः ॥८८॥
राजाप्ययासीत् स्वपुरं स च गच्छन् भिषक् क्रमात्।
प्रापदायतनं शैवं नद्यास्तस्यास्तटस्थितम् ॥८९॥
तदग्रे तत्सरित्तीर्थे तटे [illegible]महातरुम्।
अपश्यल्लम्बमानं च तस्मिन् नरकरङ्ककम् ॥९०॥
ततः श्रान्तः कृतस्नानो देवमभ्यर्च्य तत्र सः।
यावत्तिष्ठति मेघोऽत्र तावदागत्य वृष्टवान् ॥९१॥

क्या तुम यह भूल गये कि उस समय मैंने ही तुझे राजा बनाया था। यह सुनकर वह राजा अजर उस वैद्य से बोला ॥७७॥

'अरे! तू बड़ा ही मूर्ख है। कौन किसका बनाने या देनेवाला है? पूर्वजन्म के कर्म ही देते और बनाते हैं। इसलिए तू घमण्ड न कर। यह राज्य तो मेरे तप से प्राप्त हुआ है। यह मैं शीघ्र ही तुझे प्रत्यक्ष दिखलाऊँगा' ॥७८-७९॥

राजा से इस प्रकार फटकारा गया वैद्य तरुणचन्द्र सोचने लगा कि 'यह मेरे साथ ढिठाई नहीं कर रहा है और धीरता के साथ ज्ञानी के समान बातें कर रहा है ॥८०॥

रहस्य की बातों में अन्तरंग बनना और वह भी इसमें सम्भव नहीं है, तो भी मुझे इसके पीछे-पीछे ही चलना चाहिए। यह भी देखता हूँ कि यह मुझे प्रत्यक्ष क्या दिखलायेगा?' ऐसा सोचकर वैद्य उसकी बात मानकर चुप हो गया ॥८१-८२॥

किसी दूसरे दिन राजा अजर, टहलने के लिए तरुणचन्द्र आदि मित्रों के साथ बाहर निकला ॥८३॥

टहलते-टहलते वह नदी के किनारे पहुँचा और उसने नदी के बीच धारा में बहते हुए सोने के पाँच कमल देखे ॥८४॥

राजा ने नौकरों से उन कमलों को मँगवाकर हाथ में लेकर और देखकर पास में खड़े तरुणचन्द्र वैद्य से कहा —'तुम अभी नदी के किनारे-किनारे ऊपर की ओर जाओ और इन सोने के कमलों का उत्पत्ति-स्थान खोजो ॥८५-८६॥

उसे देखकर तुम मेरे पास आओ मुझे उन सोने के कमलों के लिए बहुत उत्सुकता हो रही है। और, तुम मेरे चतुर मित्र हो' ॥८७॥

ऐसा कहकर राजा से भेजा गया वह विवश वैद्य, 'जो आज्ञा', ऐसा कहकर राजा के बताये मार्ग से चला गया और राजा अपने महल में लौट आया। क्रमशः चलता हुआ वह वैद्य नदी के तट पर स्थित एक शिव-मंदिर में पहुँचा ॥८८-८९॥

वैद्य ने नदी के उद्‌गम-स्थान पर सरोवर के किनारे एक घने बरगद के पेड़ को देखा और उसमें लटकते हुए एक नर-कंकाल को भी देखा ॥९०॥

वैद्य, उस सरोवर में स्नान करके देवता का पूजन करके जैसे ही बैठा, इतने में एक मेघ का टुकड़ा वहाँ बरस गया ॥९१॥

मेघाभिवृष्टात्तस्माच्च वटशाखावलम्बिनः।
मानुषास्थिकरङ्काद्ये न्यपतंस्तोयबिन्दवः ॥९२॥
नद्यास्तीर्थजले तस्यास्तेभ्यस्तानि ददर्श सः।
जायमानानि पद्मानि सौवर्णानि क्षणाद् भिषक् ॥९३॥
अहो किमिदमाश्चर्यं कं पृच्छाम्यजने वने।
यदि वा वेद कः सर्गं बह्वाश्चर्यमयं विधेः ॥९४॥
दृष्टस्तावन्मया सोऽयं कनकाम्भोरुहाकरः।
तदेतत् प्रक्षिपाम्यत्र तीर्थे नरकलेवरम् ॥९५॥
धर्मोऽस्तु वैतत्पृष्ठे च जायन्तामम्बुजानि वा।
इत्यालोच्य स वृक्षाग्रात् ततः कङ्कालमाक्षिपत् ॥९६॥
नीत्वा च तद्दिनं तत्र सिद्धकार्योऽपरेऽहनि।
प्रत्यावर्त्तिष्ट स ततो भिषग्देशं निजं प्रति ॥९७॥
दिनैः कतिपयैः प्राप तद्विलासपुरं च सः।
तस्याजरस्य निकटं राज्ञोऽध्वकृशधूसरः ॥९८॥
द्वाःस्थेनावेदितो यावत्प्रविश्य चरणानतः।
स पृष्टकुशलो राज्ञा वृत्तान्तं वक्ति तं भिषक् ॥९९॥
तावत्स विजनं कृत्वा राजा तं स्वयमभ्यधात्।
दृष्टं हेमाम्बुजोत्पत्तिस्थानं तद्भवता सखे ॥१००॥
तत्क्षेत्रमुत्तमं चैवं तत्र दृष्टस्त्वया च सः।
करङ्को वटवृक्षे तां प्राक्तनीं विद्धि मे तनुम् ॥१०१॥
तदूर्ध्वपादेन मया लम्बमानेन कुर्वता।
तपस्तत्र पुरा त्यक्तमुपशोष्य कलेवरम् ॥१०२॥
तपसस्तस्य माहात्म्यात्करङ्कात् प्रच्युतैस्ततः।
मेघाम्बुभिस्ते जायन्ते पद्मास्तत्र हिरण्मयाः ॥१०३॥
स करङ्कश्च यत्क्षिप्तस्तीर्थे तत्र मम त्वया।
युक्तं तद्विहितं त्वं हि मित्रं मे पूर्वजन्मनि ॥१०४॥
एष भेषजचन्द्रश्च तथाऽसौ पद्मदर्शनः।
एतावपि च तज्जन्मसङ्गतौ सुहृदौ मम ॥१०५॥
तत्तस्य तपसो मित्र प्राक्तनस्य प्रभावतः।
जातिस्मरत्वं ज्ञानं च राज्यं चोपनतं मम ॥१०६॥

बादल के बरसने के कारण उस वटवृक्ष के लटकते हुए नर-कंकाल पर से जो बूँदें गिरीं, उनको उसने नदी के सरोवर में आकर सोने के कमल रूप में परिवर्तित होते देखा ॥९२-९३॥

वैद्य सोचने लगा—'ओह! यह क्या आश्चर्य है! इस निर्जन वन में किससे पूछूँ? विधाता की आश्चर्य-भरी सृष्टि का रहस्य कौन जानता है? ॥९४॥

मैंने सोने के कमलों का यह उत्पत्ति-स्थान तो देख लिया, अब इस नर-कंकाल को काटकर इस तीर्थ-जल में फेंक देता हूँ। या तो मुझे इसकी सद्गति करने का पुण्य मिलेगा अथवा धर्म होगा'। ऐसा सोचकर उसने उसके बन्धन काटकर उसी सरोवर में फेंक दिया ॥९५-९६॥

इस प्रकार, उस दिन को वहीं व्यतीत कर कार्य सिद्ध करके वह वैद्य दूसरे दिन, अपने घर की ओर लौटा। और, कुछ ही दिनों में विलासपुर में उस राजा अजर के समीप आया। उस समय वह मार्ग की धूल से भरा हुआ था ॥९७-९८॥

द्वारपाल से सूचित किये गये राजा के चरणों पर गिरे हुए राजा से कुशल पूछे जाने पर वैद्य ने, सारा समाचार जैसा-का-तैसा उसे सुना दिया ॥९९॥

तब राजा ने वहाँ से अन्य लोगों को हटाकर एकान्त में स्वयं कहा—'मित्र! तुमने सोने के कमलों का वह उत्पत्ति-स्थान देखा? ॥१००॥

वह अत्यन्त उत्तम क्षेत्र है। वहाँ पर बड़ के पेड़ में लटकता हुआ जो नरकंकाल तुमने देखा, वह मेरा पूर्व शरीर था। वहाँ पर पैर ऊपर करके लटकते हुए मैंने तपस्या से शरीर को सुखाकर प्राण-त्याग किया था ॥१०१-१०२॥

उसी तप के माहात्म्य से मेरे मृत कंकाल से टपकती हुई वर्षा के जल की बूँदें, सोने का कमल बन जाती थीं। तुमने जो उस मेरे कंकाल को उस तीर्थ में फेंक दिया, यह बहुत उचित किया; क्योंकि तुम मेरे पूर्वजन्म के मित्र हो। यह भेषजचन्द्र और पद्मदर्शन भी उसी जन्म के मेरे मित्र हैं। इसलिए, हे मित्र! उसी पूर्व जन्म के तपःप्रभाव से मैं जातिस्मर, ज्ञानी और राजा हुआ ॥१०३-१०६॥

तदेतद्दर्शितं तुभ्यं युक्त्या प्रत्यक्षतो मया ।
भवत्क्षिप्तास्थिसङ्घातं साभिज्ञानं च वर्णितम् ॥१०७॥
तस्मात्तुभ्यं मया राज्यमदायीति मम त्वया ।
अहङ्कारो न कर्त्तव्यः स्थाप्यं चेतो न दुःस्थितम् ॥१०८॥
विना हि प्राक्तनं कर्म न दाता कोऽपि कस्यचित् ।
आगर्भाज्जन्तुरश्नाति पूर्वकर्मतरोः फलम् ॥१०९॥
इत्युक्तः स भिषक् तेन राज्ञा दृष्ट्वा तथैव तत् ।
असन्तोषं पुनर्नैव तत्सेवासुखितोऽभ्यगात् ॥११०॥
सोऽपि राजाजरो जातिस्मरस्तं भिषजं ततः ।
सम्मान्यार्थप्रदानेन यथोचितमुदारधीः ॥१११॥
अन्तःपुरैः सुहृद्भिश्च साकं नयजितां महीम् ।
भुञ्जानः सुकृतप्राप्तां सुखमास्तापकण्टकाम् ॥११२॥
एवं भवति लोकेऽस्मिन् देव सर्वस्य सर्वदा ।
प्राक्कर्मोपार्जितं जन्तोः सर्वमेव शुभाशुभम् ॥११३॥
तस्मात्त्वमपि नः स्वामी मन्ये जन्मान्तरार्जितः ।
सत्स्वन्येष्वेवमस्माकं प्रसन्नोऽस्यन्यथा कथम् ॥११४॥
इत्यपूर्वरमणीयविचित्रां कान्तया सह तपन्तकवक्त्रात् ।
संनिशम्य स कथामुदतिष्ठत् स्नातुमत्र नरवाहनदत्तः ॥११५॥
कृतस्नानो गत्वा निकटमथ वत्सेशनृपतेः
पितुर्मुञ्चन् मातुर्मुहुरमृतवर्षं नयनयोः ।
कृताहारस्ताभ्यां सह सदयितो मन्त्रिसहितः
सुखैरापानाद्यैर्दिनमनयदेतां च रजनीम् ॥११६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे रत्नप्रभालम्बके षष्ठस्तरङ्गः ।

सप्तमस्तरङ्गः

नरवाहनदत्तकथा (पूर्वानुवृत्ता)

ततः स रत्नप्रभया समं तद्वासवेश्मनि ।
स्थितोऽन्येद्युः कथाः कुर्वंस्तास्ताः स सचिवैः सह ॥१॥
नरवाहनदत्तोऽत्र मन्दिरप्राङ्गणे बहिः ।
अकस्मात्पुरुषस्येव शुश्रावाक्रन्दितध्वनिम् ॥२॥

यह सब मैंने युक्तिपूर्वक प्रत्यक्ष दिखा दिया। और तुम्हारे द्वारा फेंके गये नरकंकाल के बारे में भी अभिज्ञान के साथ वर्णन कर दिया। इसलिए, यह राज्य मैंने तुम्हें दिया था, वही अब तुमने मुझे दिया। अतः, तुम्हें अहंकार न करना चाहिए और मन को भी दुःखी नहीं करना चाहिए ॥१०७-१०८॥

पूर्वजन्म के कर्मों के सिवा कोई किसी को कुछ देनेवाला नहीं है। प्रत्येक प्राणी गर्भ में प्रवेश के समय से पूर्वजन्म के कर्मों का भोग करता है' ॥१०९॥

उस राजासे इस प्रकार कहा गया वैद्य तरुणचन्द्र, असन्तोष छोड़कर आनन्द से राजा की सेवा में तत्पर होगया ॥११०॥

उस जातिस्मर राजा अजर ने भी उस वैद्य को समुचित धन, मान आदि देकर अनुगृहीत किया ॥१११॥

और, स्वयं मित्रों एवं रानियों के साथ पृथ्वी का भोग करता हुआ निष्कण्टक राज्य करने लगा ॥११२॥

इतनी कथा सुनकर तपन्तक ने युवराज नरवाहनदत्त से कहा-'स्वामी ! इसी प्रकार इस लोक में सभी प्राणियों का शुभ और अशुभ फल अपने-अपने पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार होता है। मैं समझता हूँ कि आप हमारे पूर्वजन्म के स्वामी हैं। नहीं तो अन्य बहुतेरों के होते हुए भी आप हम पर इतने प्रसन्न कैसे होते ? ॥११३-११४॥

इस प्रकार, अपूर्व रोचक एवं विचित्र कथा को अपनी नवीन पत्नी रत्नप्रभा के साथ तपन्तक के मुँह से सुनकर, नरवाहनदत्त स्नान करने के लिए चला गया ॥११५॥

स्नान करके पिता और माता की आँखों में अमृत की वर्षा करते हुए नरवाहनदत्त ने, पत्नी और मित्रों के साथ मद्यपान आदि में वह दिन और रात व्यतीत की ॥११६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के रत्नप्रभालम्बक का
षष्ठ तरंग समाप्त

सप्तम तरंग

नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत)

तदनन्तर, किसी एक दिन रत्नप्रभा के साथ मन्त्रियों से विविध बातें करते हुए नरवाहनदत्त ने, बाहर भवन के चौक में अकस्मात् किसी पुरुष का रोना-चिल्लाना सुना ॥१-२॥

किमेवमिति कस्मिंश्चित्पृच्छत्यागत्य चेटिकाः।
अब्रुवन् कञ्चुकी क्रन्दत्येष धर्मगिरिः प्रभो ॥३॥
इहागत्य हि मूर्खेण मित्रेण कथितोऽधुना।
तीर्थयात्रागतोऽमुष्य भ्राता देशान्तरे मृतः ॥४॥
तेन राजकुलस्थोऽस्मीत्यस्मरञ्शोकमोहितः।
साक्रन्दः सन्गृहं नीतः सम्प्रत्येष बहिर्जनैः ॥५॥
तच्छ्रुत्वा युवराजेऽस्मिञ्जातदुःखेऽनुकम्पया।
राज्ञी रत्नप्रभा तत्र विषण्णेव जगाद सा ॥६॥
प्रियबन्धुवियोगोत्थमहो दुःखं दुरुत्सहम्।
कष्टं किं न कृतो धात्रा जनोऽयमजरामरः ॥७॥
इति राज्ञीवचः श्रुत्वा मरुभूतिरुवाच ताम्।
मर्त्येष्वेतत्कुतो देवि तथाहीमां कथां शृणु ॥८॥

नागार्जुनकथा

चिरायुर्नाम्नि नगरे चिरायुर्नाम भूपतिः।
पूर्वं चिरायुरेवासीत्केतनं सर्वसम्पदाम् ॥९॥
तस्य नागार्जुनो नाम बोधिसत्त्वांशसम्भवः।
दयालुर्दानशीलश्च मन्त्री विज्ञानवानभूत् ॥१०॥
यः सर्वौषधियुक्तिज्ञश्चक्रे सिद्धरसायनः।
आत्मानं तं च राजानं विजरं चिरजीवितम् ॥११॥
कदाचिन्मन्त्रिणस्तस्य बालः पञ्चत्वमाययौ।
नागार्जुनस्य पुत्रेषु सर्वेषु दयितः सुतः ॥१२॥
स तेन दृष्टसन्तापो मर्त्यानां मृत्युशान्तये।
अमृतं सन्दधे द्रव्यैस्तपोदानप्रभावतः ॥१३॥
शेषौषधस्य त्वेकस्य कालयोगं स मेलने।
यावत्प्रतीक्षते तावदिन्द्रेण तदबुध्यत ॥१४॥
इन्द्रः समामन्त्र्य सुरैरश्विनावेवमादिशत्।
गत्वा नागार्जुनं ब्रूतमिदं मद्वचनाद् भुवि ॥१५॥
कोऽयं कर्तुमिहारब्धो मन्त्रिणाप्यनयस्त्वया।
किं त्वं प्रजापतिं जेतुमुद्यतो बत साम्प्रतम् ॥१६॥

'यह क्या है' ?—इस प्रकार आकर किसी के सेविकाओं से पूछने पर ये बोलीं—'महाराज! यह धर्मगिरि नामक कंचुकी चिल्ला रहा है। उसे किसी मूर्ख मित्र ने यहाँ आकर कह दिया कि तुम्हारा भाई तीर्थयात्रा के लिए गया था। वह किसी देश में मर गया ॥३-४॥

यह सुनते ही 'मैं राजभवन में हूँ'—इस बात का ध्यान न रखकर शोक से विह्वल वह चिल्लाने लगा। अब उसे कुछ लोग उसके घर पर ले गये हैं ॥५॥

यह सुनकर युवराज, उसके दुःख से दुःखी हुए और रानी रत्नप्रभा भी खिन्न-सी होकर बोली—'प्रिय भाई के मरने का दुःख सचमुच असह्य होता है। खेद है, विधाता ने उस व्यक्ति को अजर और अमर क्यों नहीं बना दिया?' ॥६-७॥

रानी के इस प्रकार वचन सुनकर मरुभूति बोला—'महारानी! मनुष्यों में अजर और अमर होना कैसे सम्भव है। इस प्रसंगमें यह कथा सुनो,—॥८॥

नागार्जुन की कथा

चिरायु नाम के नगर में चिरायु नाम का राजा था। वह चिरायु समस्त सम्पत्तियों का घर था ॥९॥

उस राजा का मन्त्री नागार्जुन बोधिसत्त्व के अंश से उत्पन्न, परम दयालु, दानी और विज्ञानवेत्ता था ॥१०॥

अनेक ओषधियों की युक्तियों को जाननेवाले रसायनों के निर्माण में सिद्धहस्त उस मन्त्री ने, अपने विज्ञान-बल से, अपने को तथा राजा को, वृद्धावस्था-रहित और चिरंजीवी बना दिया था ॥११॥

किसी समय मन्त्री नागार्जुन के पुत्रों में सबसे प्यारा पुत्र कालवश होकर मर गया ॥१२॥

नागार्जुन को उसका ऐसा सन्ताप हुआ कि उसने मनुष्यों की मृत्यु को सदा के लिए समाप्त करने के लिए (उन्हें अमर बनाने के लिए) अपने तप और दान के प्रभाव से अमृतमय ओषधियों से अमृत बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया ॥१३॥

अन्य सभी ओषधियों का उसने संग्रह कर लिया। केवल एक ओषधि मिलाना बाकी बच रहा था। नागार्जुन जब उस ओषधि की प्रतीक्षा कर ही रहा था कि तबतक इन्द्र को इस बात का पता लग गया ॥१४॥

इन्द्र ने देवताओं से सम्मति करके देव-वैद्य अश्विनीकुमार को इस प्रकार आदेश दिया कि तुम पृथ्वी पर जाकर मेरी ओर से नागार्जुन से कहो—॥१५॥

कि 'तुमने मन्त्री होकर भी यह कौन-सी अनीति अपनाई है कि अब तुम प्रजापति (ब्रह्मा) को भी जीतना चाहते हो? ॥१६॥

मर्त्या मरणधर्माणस्तेन ये किल निर्मिताः ।
साधयित्वामृतं यत्तानमरान्कर्त्तुमिच्छसि ॥१७॥
एवं कृते विशेषो हि कः स्याद् देवमनुष्ययोः ।
यष्टव्ययाजकाभावाद् भज्यते च जगत्स्थितिः ॥१८॥
तदस्मद्वचनादेतत्संहरामृतसाधनम् ।
अन्यथा कुपिता देवाः शापं दास्यन्ति ते ध्रुवम् ॥१९॥
यच्छोकादेष यत्नस्ते स स्वर्गे त्वत्सुतः स्थितः ।
इति सन्दिश्य शक्रस्तौ प्रजिघायाश्विनावुभौ ॥२०॥
तौ चागत्य गृहीतार्घो तदागमनतोषिणे ।
ऊचतुः शक्रसन्देशं तस्मै नागार्जुनाय तम् ॥२१॥
पुत्रं जगदतुश्चास्य दिवि देवैः समं स्थितम् ।
ततो नागार्जुनः सोऽत्र विषण्णः सन्नचिन्तयत् ॥२२॥
न करोमीन्द्रवाक्यं चेद्देवास्तत्तावदासताम् ।
इमावेव न किं शापमश्विनौ मे प्रयच्छतः ॥२३॥
तदेतदास्ताममृतं न सिद्धो मे मनोरथः ।
पुत्रश्च मे प्राक्सुकृतैरशोच्यां स गतो गतिम् ॥२४॥
इत्यालोच्याश्विनौ देवो सोऽत्र नागार्जुनोऽब्रवीत् ।
अनुष्ठिता मयेन्द्राज्ञा संहराम्यमृतक्रियाम् ॥२५॥
पञ्चाहेनामृते सिद्धे कृतैवैषाजरामरा ।
मयाऽभविष्यत्पृथिवी युवां चेन्नागमिष्यतम् ॥२६॥
इत्युक्त्वा तत्समक्षं तत्तद्वाक्यान्निचखान सः ।
धरण्याममृतं सिद्धप्रायं नागार्जुनस्तदा ॥२७॥
ततोऽश्विनौ तमापृच्छ्य गत्वा शक्राय तद्दिवि ।
आचख्यतुः कृतं कार्यं ननन्दाथ च देवराट् ॥२८॥
तावच्चात्र चिरायुः स राजा नागार्जुनप्रभुः ।
पुत्रं जीवहरं नाम यौवराज्येऽभिषिक्तवान् ॥२९॥
अभिषिक्तं च तं माता प्रणामार्थमुपागतम् ।
राज्ञी धनपरा नाम हृष्टं दृष्ट्वाब्रवीत्सुतम् ॥३०॥
यौवराज्यमिदं प्राप्य पुत्र हृष्यसि किं मृषा ।
राज्यप्राप्त्यै क्रमो ह्येष तपसा च न विद्यते ॥३१॥

उसने मरण-धर्मवाले मानवों की सृष्टि की थी। अब तुम अमृत बनाकर उन्हें अमर (देवता) बनाना चाहते हो ? ॥१७॥

ऐसा करने पर देवता और मानव में क्या अन्तर रह जायगा। यज्ञ करनेवाले और यज्ञ में भाग लेनेवालों के अभाव में संसार की स्थिति (मर्यादा) भंग हो जायगी ॥१८॥

इसलिए, हमारे कहने से इस अमृत-साधना को बन्द करो। नहीं तो क्रुद्ध देवता तुम्हें अवश्य ही शाप देंगे ॥१९॥

जिस पुत्र के शोक के कारण तुम यह प्रयत्न करते हो, वह तुम्हारा पुत्र तो यहाँ स्वर्ग में है।' इन्द्र के ऐसा कहने पर वे दोनों ही उनके आगमन से प्रसन्न नागार्जुन के पास आये और उसे इन्द्र का सन्देश सुनाया ॥२०-२१॥

और, यह भी कहा कि तुम्हारा पुत्र स्वर्ग में देवताओं के साथ आनन्दपूर्वक रह रहा है। तब नागार्जुन खिन्न होकर सोचने लगा—॥२२॥

यदि मैं इन्द्र की बात न मानूँ, तो देवताओं के शाप की बात तो दूर रहे, क्या ये अश्विनी-कुमार ही अभी शाप नहीं दे सकते हैं ? ॥२३॥

इसलिए, अमृत-निर्माण की योजना जाने दी जाय। मेरा पुत्र तो अपने पूर्व पुण्यों के प्रभाव से अशोचनीय गति को प्राप्त हो गया है ॥२४॥

ऐसा सोचकर नागार्जुन अश्विनीकुमारों से बोला—'मैंने इन्द्रकी आज्ञा शिरोधार्य की। अब अमृत बनाने की क्रिया समाप्त करता हूँ। यदि आप दोनों न आते, तो पाँच दिनों में ही अमृत-निर्माण होने पर सारी पृथ्वी अजर-अमर हो जाती' ॥२५-२६॥

ऐसा कहकर नागार्जुन ने उनके सामने ही लगभग तैयार हुए अमृत को पृथ्वी में गाड़ दिया ॥२७॥

तब प्रसन्न होकर अश्विनीदेव ने नागार्जुन से पूछकर और स्वर्ग में जाकर इन्द्र को सारा वृत्तान्त सुनाया और देवराज इन्द्र भी प्रसन्न हुआ ॥२८॥

इधर नागार्जुन के स्वामी राजा चिरायु ने अपने जीवहर नामक पुत्र को युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिया। अभिषेक किये हुए प्रसन्नचित्त और प्रणाम करने के लिए आये हुए पुत्र को प्रसन्न देखकर उसकी माता धनपरा बोली—॥२९-३०॥

'बेटा ! इस यौवराज्य को प्राप्तकर क्या झूठे ही प्रसन्न हो रहे हो। यह राज्य का क्रम तो तपस्या से भी नहीं चल सकता ॥३१॥

२०

युवराजा हि बहवो गताः पुत्राः पितुस्तव।
न राज्यं केनचित्प्राप्तं प्राप्तं सर्वैर्विडम्बनम् ॥३२॥
नागार्जुनेन दत्तं हि तद्राज्ञेऽस्मै रसायनम्।
वयो वर्षशतं येन प्राप्तमस्येदमष्टमम् ॥३३॥
को जानाति कियन्त्यन्यान्यपि प्राप्स्यन्ति च क्रमात्।
युवराजान्नृपस्यास्य कुर्वतोऽल्पायुषः सुतान् ॥३४॥
एतच्छ्रुत्वा विषण्णं तं पुत्रं सा पुनरब्रवीत्।
यदि राज्येन ते कृत्यं तदुपायमिमं कुरु ॥३५॥
एष नागार्जुनो मन्त्री प्रत्यहं विहिताह्निकः।
आहारसमये दाता करोत्युद्घोषणामिमाम् ॥३६॥
कोऽर्थी प्रार्थयते कः किं तस्मै किं दीयतामिति।
स्वशिरो मे प्रयच्छेति तत्काले ब्रूहि गच्छ तम् ॥३७॥
सत्यवाचि ततस्तस्मिंश्छिन्नमूर्ध्नि मृते नृपः।
तच्छोकात्पञ्चतां यायाद्वनं वैष समाश्रयेत् ॥३८॥
ततः प्राप्स्यसि राज्यं त्वमुपायोऽन्योऽत्र नास्ति ते।
इति मातुर्वचः श्रुत्वा राजपुत्रस्तुतोष सः ॥३९॥
तथेति तद्विधातुं च चकारैव स निश्चयम्।
कष्टो हि बान्धवस्नेहं राज्यलोभोऽनिवर्त्तते ॥४०॥
अथ राजसुतोऽन्येद्युः स्वैरं जीवहरो ययौ।
तस्य भोजनवेलायां गृहं नागार्जुनस्य सः ॥४१॥
कः किं याचत इत्यादि तदा तत्र च मन्त्रिणम्।
वदन्तं तं प्रविश्यैव स मूर्धानमयाचत ॥४२॥
आश्चर्यं वत्स शिरसा किं करोषि ममामुना।
मांसास्थिकेशसङ्घो हि क्वोपयुज्यत एष ते ॥४३॥
तथाप्यर्थस्तवानेन यदि छित्त्वा गृहाण तत्।
इत्युक्त्वोपानयत्तस्मै स च मन्त्री शिरोधराम् ॥४४॥
रसायनदृढायां च तस्यां प्रहरतश्चिरम्।
राजसूनोर्ययुः खड्गा बहवस्तस्य खण्डशः ॥४५॥
तावद् बुद्ध्वैतदायान्तं राजानं तं चिरायुषम्।
वारयन्तं शिरोदानात्सोऽत्र नागार्जुनोऽब्रवीत् ॥४६॥

बेटा ! तुम्हारे पिता के अनेक पुत्र युवराज होकर चले गये। किसी ने भी राज्य नहीं पाया। सब ने केवल दुर्दशा ही पाई ॥३२॥

नागार्जुन ने इस राजा को ऐसा रसायन दिया है कि उसे अपनी अवस्था का यह आठवाँ सैकड़ा चल रहा है। अभी जाने कितने ही युवराजों को अपने से अल्पायु करते हुए इस राजा की उम्र के कितने सैकड़े व्यतीत होंगे' ॥३३॥

यह सुन दुःखित पुत्र को देखकर माता फिर बोली—'यदि तुम्हें राज्य करना है, तो एक उपाय यह करो। यह दाता मन्त्री नागार्जुन, प्रतिदिन प्रातः स्नान, सन्ध्या, पूजन आदि से निवृत्त होकर भोजन के समय यह घोषणा करता है कि कौन याचक क्या-क्या चाहता है ? किसे क्या दिया जाय ? तुम उस समय उससे जाकर कहो कि 'तुम अपना सिर मुझे दो।' वह सत्यवक्ता के सिर कटकर मर जाने पर उस के शोकसे राजा भी मर जायगा या जंगल में चला जायगा। तब तुम राज्य प्राप्त कर सकोगे और दूसरा कोई उपाय नहीं है।' माता का यह सुझाव सुनकर युवराज सन्तुष्ट हुआ ॥३४—३९॥

'ऐसा ही करूँगा'—इस प्रकार कहकर उसने यही निश्चय किया। दुःख है कि राज्य का लोभ अपने आत्मीय बन्धु-बान्धवों के स्नेह का अतिक्रमण कर जाता है ॥४०॥

तदनन्तर दूसरे दिन राजकुमार जीवहर, भोजन के समय नागार्जुन के घर गया ॥४१॥

'कौन क्या चाहता है ?' मन्त्री के इस प्रकार कहते ही राजकुमार ने उसका सिर माँगा ॥४२॥

'बेटे ! आश्चर्य है कि मेरे इस सिर से तुम क्या करोगे ? यह तो मांस, हड्डी और बालों का ढेर है। इसका तुम्हारे लिए क्या उपयोग है ? तो भी यदि तुम्हें इससे प्रयोजन है, तो इसे ले लो।' ऐसा कहकर मन्त्री ने उसके आगे अपनी गरदन झुका दी ॥४३-४४॥

रसायनों से सुदृढ़ (मजबूत) उसके गले पर प्रहार करते हुए युवराज की कितनी ही तलवारें टुकड़े-टुकड़े हो गईं। तबतक इस समाचार को सुनकर आते हुए और शिरोदान के लिए रोकते हुए राजा चिरायु से नागार्जुन ने कहा—॥४५-४६॥

जातिस्मरोऽहं नृपते नवतिं च नवाधिकाम्।
जन्मानि स्वशिरो दत्तं मया जन्मनि जन्मनि ॥४७॥
इदं शततमं जन्म शिरोदानाय मे प्रभो।
तन्मा स्म वोचः किञ्चित्त्वं विमुखोऽर्थी न याति मे ॥४८॥
तदिदानीं ददाम्यस्मै त्वत्पुत्राय निजं शिरः।
त्वन्मुखालोकनायैष विलम्बो हि कृतो मया ॥४९॥
इत्युक्त्वाश्लिष्य तं भूपं चूर्णमानाय्य कोषतः।
अलिपद्राजपुत्रस्य कृपाणं तेन तस्य सः ॥५०॥
तत्कृपाणप्रहारेण सोऽथ तस्य नृपात्मजः।
नागार्जुनस्य चिच्छेद शिरो नालादिवाम्बुजम् ॥५१॥
अथोत्थिते महाक्रन्दे प्राणत्यागोन्मुखे नृपे।
इत्युच्चचार गगनादशरीरात्र भारती ॥५२॥
अकार्यं मा कृथा राजन्नशोच्यो ह्येष ते सखा।
नागार्जुनोऽपुनर्जन्मा गतो बुद्धसमां गतिम् ॥५३॥
एतच्छ्रुत्वा स विरतश्चिरायुर्मरणान्नृपः।
दत्तदानः शुचा त्यक्तराज्यो वनमशिश्रियत् ॥५४॥
तत्र कालेन तपसा स प्राप परमां गतिम्।
तत्पुत्रोऽप्यधितस्थौ तद्राज्यं जीवहरोऽत्र सः ॥५५॥
प्राप्तराज्यश्च नचिराद्राष्ट्रभेदं विधाय सः।
हतो नागार्जुनसुतैः स्मरद्भिस्तद्वधं पितुः ॥५६॥
तच्छोकादथ तन्मातुस्तस्या हृदयमस्फुटत्।
अनार्यजुष्टेन पथा प्रवृत्तानां शिवं कुतः ॥५७॥
राज्ये च राज्ञ्यामन्यस्यां जातस्तस्य चिरायुषः।
शतायुर्नाम पुत्रस्तैर्मन्त्रिमुख्यैर्न्यवेश्यत ॥५८॥
एवं नागार्जुनारब्धं मर्त्यानां मृत्युनाशनम्।
न सोढुं दैवतैर्यावत्सोऽपि मृत्युवशं गतः ॥५९॥
तस्माद्विधातृविहितोऽयमनित्य एव
दुर्वारदुःखबहुलो ननु जीवलोकः।
शक्यं न कर्तुमपि यत्नशतैस्तदत्र
केनापि किञ्चिदपि नेच्छति यद्विधाता ॥६०॥

हे राजन् ! मैं पूर्वजन्म का स्मरण करने वाला हूँ। मैंने निन्यानब्बे बार प्रत्येक जन्म में अपना सिर दान किया है। यह सौवाँ मेरा जन्म भी सिर देने के लिए ही हुआ है। इसलिए, तुम कुछ न बोलो। मेरे याचक को विमुख न होना चाहिए ।।४७—४८।।

तो अब मैं तुम्हारे पुत्र को अपना सिर देता हूँ। केवल तुम्हारा मुँह देखने के लिए ही मैंने इतना विलम्ब किया है ।।४९।।

ऐसा कहकर राजा से आलिंगन कर और औषधालय से एक चूर्ण मँगाकर राजकुमार की तलवार पर उसने लेप कर दिया ।।५०।।

तब उस तलवार के प्रहार से मन्त्री की गरदन इस प्रकार कट गई, जैसे नाल से कमल कटकर अलग हो जाता है ।।५१।।

तदनन्तर रोने और चिल्लाने का बड़ा कोलाहल उठने पर और राजा के प्राण-त्याग के लिए उद्यत होने पर आकाश से अशरीरी वाणी हुई—।।५२।।

'राजन् ! आत्महत्या का यह अकार्य न करो। यह तुम्हारा मित्र नागार्जुन शोचनीय नहीं है। उसका जन्म अब न होगा ! वह बुद्ध के समान गति को प्राप्त हो गया' ।।५३।।

यह सुनकर राजा चिरायु मरने से विमुख हुआ और शोक में सब कुछ दान देकर और राज्य का त्याग करके वन में चला गया ।।५४।।

वन में रहता हुआ वह कुछ समय बाद तप से परमगति को प्राप्त हुआ और उसका पुत्र जीवहर राज्य पर बैठा ।।५५।।

उसके राज्य प्राप्त करने पर पिता के वध से असन्तुष्ट नागार्जुन के पुत्रों ने राष्ट्र-विप्लव कराकर शीघ्र ही उसका नाश करा दिया ।।५६।।

उसके शोक से उसकी माता धनपरा का हृदय फट गया और वह भी मर गई। सच है, अनार्य (अनुचित) पथ से चलनेवालों का कल्याण कैसे हो सकता है ? ।।५७।।

तब राजा के मुख्यमन्त्रियों ने दूसरी रानी के गर्भ से उत्पन्न शतायु नामक पुत्र को राजगद्दी पर बैठाकर राज-कार्य का संचालन किया ।।५८।।

इस प्रकार नागार्जुन के द्वारा मनुष्यों की मृत्यु को दूर करनेवाले प्रयत्न का देवताओं ने सहन नहीं किया और वह नागार्जुन भी मर गया ।।५९।।

इस प्रकार, अनिवार्य दुःखों से भरा हुआ यह संसार अनित्य है। इसमें जो कुछ विधाता को इच्छित नहीं है, उसे सैकड़ों यत्नों से भी नहीं किया जा सकता ।।६०।।

इत्याख्याय कथां किल विरते मरुभूतिके समं सचिवैः।
नरवाहनदत्तो निजमुत्थाय चकार दिवसकर्तव्यम् ॥६१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे रत्नप्रभालम्बके सप्तमस्तरङ्गः।

अष्टमस्तरङ्गः

कर्पूरिकाकथा

ततोऽह्नि परे प्राप्तः सोत्कां रत्नप्रभां प्रियाम्।
शीघ्रं प्रत्यागमिष्यामीत्याश्वास्याखेटकाय सः ॥१॥
वत्सेशेन समं पित्रा वयस्यैश्चाटवीं ययौ।
नरवाहनदत्तोऽश्वैर्गजैश्च परिवारितः ॥२॥
तत्र भिन्नेभकुम्भानां नखोदरपरिच्युतैः।
सिंहानां हतसुप्तानामुप्तबीजेव मौक्तिकैः ॥३॥
व्याघ्राणां भल्ललूनानां दंष्ट्राभिः साङ्कुरेव च।
सपल्लवेव क्षतजैर्हरिणानां परिस्रुतैः ॥४॥
निमग्नकङ्कपत्राङ्कैः क्रोडैः स्तबकितेव च।
शरीरैः शरभाणां च पतितैः फलितेव च ॥५॥
बभूव तस्य निर्गतद्घनशब्दशिलीमुखा।
प्रीतये मृगयाल्लीलालता शोभितकानना ॥६॥
शनैः श्रान्तः स विश्रम्य प्रविवेश वनान्तरम्।
हयारूढः सहैकेन गोमुखेनाश्वसादिना ॥७॥
तत्रारेभे च गुलिकाक्रीडां कामपि तत्क्षणम्।
तावच्च तापसी कापि पथा तेन किलाययौ ॥८॥
तस्यास्तस्य कराद् भ्रष्टा गुलिका मूर्ध्नि चापतत्।
ततो विहस्य किञ्चित्सा तापसी तमभाषत ॥९॥
एवमेव मदोऽयं चेत्तव तद्यद्यवाप्स्यसि।
जातु कर्पूरिकां भार्यां ततः कीदृग्भविष्यति ॥१०॥
एतच्छ्रुत्वावरुह्यैव तुरगाच्चरणानतः।
नरवाहनदत्तस्तां तापसीं निजगाद सः ॥११॥

इस प्रकार, कथा कहकर मरुभूति के मौन हो जाने पर नरवाहनदत्त अपने मन्त्रियों के साथ उठकर दैनिक कार्यों में लग गया ॥६१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के रत्नप्रभालम्बक का
सप्तम तरंग समाप्त

अष्टम तरंग

कर्पूरिका की कथा

किसी एक दिन, नरवाहनदत्त, अपनी उत्कण्ठिता प्यारी रत्नप्रभा को 'शीघ्र ही आऊँगा'—ऐसा आश्वासन देकर, पिता वत्सराज तथा अन्य मित्रों के साथ हाथी-घोड़ों की सेना लेकर शिकार खेलने के लिए जंगलों में गया ॥१—२॥

वह मृगया-क्रीडा-रूप लता नरवाहनदत्त के लिए प्रसन्नता का कारण बन गई। वह मृगया-भूमि बड़े-बड़े हाथियों के कुम्भस्थलों को फाड़नेवाले मारे हुए सिंहों के नखों से गिरे हुए मोतियों से, ऐसी मालूम हो रही थी, मानों उसमें बीज बोये गये हैं। भालों से मारे गये बाघों के बिखरे हुए दाढ़ों से, अंकुरित हुई के समान मालूम होती थी। मारे हुए हरिणों के शरीर से निकलकर फैले हुए रक्त से, मानों लाल पल्लवों से युक्त मालूम हो रही थी। बाणों से बींधे गये सूअरों से, मानों गुच्छों से भरी हुई और शरभों[1] के गिरे हुए शरीरों से, मानों फलवाली मालूम हो रही थी। उस भूमिमें भयंकर सनसनाहट के साथ बाण छूट रहे थे। ऐसी वह जंगली मृगया-भूमि (शिकारगाह) विचित्र शोभा धारण कर रही थी ॥३—६॥

कुछ देर बाद थककर विश्राम करके नरवाहनदत्त घोड़े पर सवार एकमात्र गोमुख के साथ दूसरे जंगल में प्रवेश कर गया ॥७॥

वहाँ आकर उसने गोफण से गोली फेंकने का खेल प्रारम्भ किया। इतने में ही उस मार्ग में कोई तपस्विनी आ पड़ी। नरवाहनदत्त के हाथ से छूटी हुई एक गोली उस तपस्विनी के सिर में जा लगी। तब वह तपस्विनी कुछ रोष करके बोली—॥८–९॥

'अभी तुम्हें ऐसी मस्ती है, तो जब कर्पूरिका को पत्नी बना लोगे, तब न जाने कितना अधिक मद बढ़ जायगा' ॥१०॥

यह सुनकर और घोड़े से उतरकर नरवाहनदत्त तपस्विनी के पैरों पर गिरकर बोला—॥११॥

---

१. यह पशु (मृग विशेष) आठ फुट लम्बा होता है। आजकल यह नहीं मिलता।—अनु०

त्वं न दृष्टा मया दैवाद् गुलिका चात्र मे गता।
प्रसीद तद्भगवति क्षमस्व स्खलितं मम ॥१२॥
तच्छ्रुत्वा नास्ति मे पुत्र कोप इत्यभिधाय च।
तापसी सा जितक्रोधा तमाशीर्भिरसान्त्वयत् ॥१३॥
ततश्च वशिनीं मत्वा प्रबुद्धां सत्यतापसीम्।
नरवाहनदत्तस्तां पप्रच्छ विनयेन सः ॥१४॥
कैषा कर्पूरिका नाम भगवत्युदिता त्वया।
एतदादिश तुष्टासि मयि चेत्कौतुकं हि मे ॥१५॥
इत्युक्तवन्तं प्रणतं तापसी तं जगाद सा।
अस्ति पारेऽम्बुधि परं नाम्ना कर्पूरसम्भवम् ॥१६॥
अन्वर्थस्तत्र राजास्ति कर्पूरक इति श्रुतः।
तस्य कर्पूरिका नाम सुतास्ति वरकन्यका ॥१७॥
एकां विलोक्य कमलां निर्मथ्यापहृतां सुरैः।
या द्वितीयेव निक्षिप्य तत्र गोपायिताब्धिना ॥१८॥
पुरुषद्वेषिणी सा च विवाहे नाभिवाञ्छति।
त्वय्युपेते यदि परं भविष्यति त्वदर्थिनी ॥१९॥
तत्तत्र गच्छ पुत्र त्वं तां च प्राप्स्यसि सुन्दरीम्।
गच्छतश्चात्र तेऽटव्यां महाक्लेशो भविष्यति ॥२०॥
मोहस्तत्र न कार्यस्ते सर्वं स्वन्तं हि भावि तत्।
इत्युक्त्वैव समुत्पत्य तापसी सा तिरोदधे ॥२१॥
नरवाहनदत्तोऽथ तद्वाणीमदनाज्ञया।
आकृष्टः स तमाह स्म गोमुखं पार्श्ववर्त्तिनम् ॥२२॥
एहि कर्पूरिकापार्श्वं पुरं कर्पूरसम्भवम्।
गच्छावस्तामदृष्ट्वा हि न क्षणं स्थातुमुत्सहे ॥२३॥
तच्छ्रुत्वा गोमुखोऽवादीत् देवालं साहसेन ते।
क्व त्वं क्वाब्धिः पुरं तत् क्व क्व सोऽध्वा कन्यका क्व सा ॥२४॥
नाम्नि श्रुते किमेकाकी त्यक्तदिव्याङ्गनाजनः।
निरभिप्रायसन्दिग्धामभिधावसि मानुषीम् ॥२५॥
एवं स गोमुखेनोक्तो वत्सराजसुतस्तदा।
अब्रवीत् सिद्धतापस्या न तस्या वचनं मृषा ॥२६॥

'हे माता ! मैंने तुमको देखा नहीं। दैवसंयोग से ही गोली तुम्हें लगी। दया करो। मेरी उद्दण्डता को क्षमा करो' ॥१२॥

यह सुनकर तपस्विनी बोली—'बेटा ! मुझे क्रोध नहीं है।' ऐसा कहकर वह नरवाहनदत्त को आशीर्वाद देकर सान्त्वना देने लगी ॥१३॥

तब नरवाहनदत्त ने उस तपस्विनी को सत्यवादिनी, ज्ञानवती और सच्ची तपस्विनी समझकर नम्रता से पूछा—॥१४॥

'हे भगवती ! तुमने यह कर्पूरिका नाम किसका कहा। यदि मुझ पर प्रसन्न हो, तो उसे बताओ। उसे जानने के लिए मुझे बहुत कौतुक है' ॥१५॥

ऐसा कहते हुए और प्रणाम करते हुए उससे तापसी ने कहा—'समुद्र के पार कर्पूर-संभव[1] नाम का द्वीप है ॥१६॥

वहाँ नाम के समान गुणोंवाला कर्पूरक नाम का राजा है। उसकी कर्पूरिका नाम की सुन्दरी कन्या है ॥ १७॥

वह कन्या इतनी सुन्दरी है कि समुद्र ने अपनी पहली कन्या (लक्ष्मी) के देवताओं द्वारा अपहरण कर लिये जाने के कारण उसकी इस दूसरी बहन को मानों इस द्वीप में छिपाकर रखा है ॥१८॥

पुरुषों से द्वेष रखनेवाली वह कन्या विवाह करना नही चाहती; किन्तु तुम्हारे जाने पर वह तुम्हारी कामना पूरी करेगी ॥१९॥

इसलिए, बेटा ! तुम वहाँ जाओ, तो इस सुन्दरी को प्राप्त करोगे; किन्तु जाते हुए तुम्हें मार्ग में अनेक असह्य कष्ट होंगे ॥२०॥

किन्तु तुम उन कष्टों से घबराना नहीं। उनका परिणाम अच्छा ही होगा। ऐसा कहकर वह तपस्विनी अदृश्य हो गई ॥२१॥

तदनन्तर नरवाहनदत्त उसकी वाणी से उत्पन्न मदन की आज्ञा से आकृष्ट होकर अपने साथी गोमुख से बोला—'आओ, कर्पूरसम्भव नगर में कर्पूरिका के पास चलें। उसे बिना देखे मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता' ॥२२-२३॥

यह सुनकर गोमुख बोला—'स्वामी ! अधिक साहस न करो। कहाँ समुद्र ! कहाँ वह नगर ! कहाँ इतना लम्बा रास्ता और कहाँ वह कन्या ! ॥२४॥

एकमात्र नाम सुनकर ही दिव्य स्त्रीजनों को छोड़कर बिना प्रयोजन से सन्देहजनक उस मनुष्य-कन्या के पीछे दौड़ रहे हो ? ॥२५॥

गोमुख से इस प्रकार कहा गया वह वत्सराज का पुत्र बोला—'उस तपस्विनी का वचन झूठा नहीं हो सकता ॥२६॥

---

१. अरेबियन नाइट्स : सिन्दबाद जहाजी की कहानी में कपूर के टापू का नाम आया है।—अनु०

तन्मयावश्यगन्तव्यं प्राप्तुं तां राजकन्यकाम्।
इत्युक्त्वा स हयारूढः प्रतस्थे तत्क्षणं ततः॥२७॥
अन्वगात् स च तं तूष्णीमनिच्छन्नपि गोमुखः।
अकुर्वन् वचनं भृत्यैरनुगम्यः परं प्रभुः॥२८॥
तावद्वत्सेश्वरोऽप्यागात् कृताखेटो निजां पुरीम्।
मन्वानः स तमायान्तं सुतं स्वबलमध्यगम्॥२९॥
स्वबलं तच्च तस्यागान् मरुभूत्यादिभिः सह।
पुरीं तामेव मत्वा तं सैन्यमध्यस्थितं प्रभुम्॥३०॥
तत्र प्राप्ता विचिन्वन्तस्ते बुद्ध्वा तमनागतम्।
वत्सेश्वरादयो जग्मुः सर्वे रत्नप्रभान्तिकम्॥३१॥
सा चादौ तच्छ्रुतेनार्त्ता ध्यातया निजविद्यया।
आख्यातदयितोदन्ता विघ्नं श्वशुरमब्रवीत्॥३२॥
कर्पूरिकां राजसुतां तापस्या कथितां वने।
आर्यपुत्रो गतः प्राप्तुं पुरं कर्पूरसम्भवम्॥३३॥
शीघ्रं च कृतकार्यः सन्निहैष्यति सगोमुखः।
तदलं चिन्तयैतद्धि विद्यातोऽधिगतं मया॥३४॥
इत्युक्त्वाऽश्वासयत्सा तं वत्सेशं सपरिच्छदम्।
रत्नप्रभान्यां विद्यां च भर्त्तुः प्रायुङ्क्त तस्य सा॥३५॥
नरवाहनदत्तस्य पथि क्लेशोपशान्तये।
नेर्ष्यां भर्त्तृहितैषिण्यो गणयन्ति हि सुस्त्रियः॥३६॥
तावच्च दूरमध्वानं स ययौ वाजिपृष्ठगः।
नरवाहनदत्तोऽस्यामटव्यां गोमुखान्वितः॥३७॥
अथाकस्मादुपेत्यात्र कुमारी पथ्युवाच तम्।
अहं मायावती नाम विद्या रत्नप्रभेरिता॥३८॥
रक्षाम्यदृश्या मार्गे त्वां निश्चिन्तस्तद्व्रजाधुना।
इत्युक्त्वा रूपिणी विद्या तिरोऽभूत् साऽस्य पश्यतः॥३९॥
तत्प्रभावात् ततः शान्तक्षुत्तृष्णः पथि स व्रजन्।
नरवाहनदत्तस्तां स्तुवन् रत्नप्रभां प्रियाम्॥४०॥
सायं स्वच्छसरः प्राप्य वनं स्वादुतरैः फलैः।
जलैश्चाहारपानादि स्नातश्चक्रे सगोमुखः॥४१॥

इसलिए, मुझे उसे प्राप्त करने के लिए अवश्य जाना पड़ेगा।' ऐसा कहकर घोड़े पर चढ़कर युवराज आगे चल पड़ा ॥२७॥

वह गोमुख, न चाहता हुआ भी उसके पीछे चल पड़ा। कहना न माननेवाले स्वामी का भी सेवकों को विवश होकर अनुगमन करना ही चाहिए ॥२८॥

उधर वत्सराज भी शिकार खेलकर अपनी नगरी को लौटा। वह समझ रहा था कि सेना आदि के मध्य युवराज भी आया होगा। नगरी में पहुँचकर खोजने पर जब युवराज का पता नहीं चला। तब वे उदयन आदि सब रत्नप्रभा के समीप गये ॥२९-३१॥

पहले तो रत्नप्रभा भी व्याकुल हुई, किन्तु अपनी विद्या से ध्यान करके उसके द्वारा अपने प्रिय का समाचार जानकर व्याकुल श्वशुर से बोली ॥३२॥

वन में किसी तपस्विनी द्वारा कर्पूरिका नाम की राजकुमारी का पता पाकर आर्यपुत्र उसे प्राप्त करने के लिए कर्पूरसम्भव नामक नगर में गये हैं, इसलिए आप लोग चिन्ता न करें। यह मैंने अपनी विद्या के प्रभाव से जाना है' ॥३३-३४॥

ऐसा कहकर रत्नप्रभा ने परिवार-सहित वत्सराज को शान्ति प्रदान की ॥३५॥

और फिर, रत्नप्रभा ने दूसरी विद्या का प्रयोग किया कि मार्ग में नरवाहनदत्त को किसी प्रकार का क्लेश न हो। पति का हित चाहनेवाली अच्छी स्त्रियाँ, ईर्ष्या को हृदय में स्थान नहीं देती ॥३६॥

इधर घोड़े की पीठ पर बैठा हुआ नरवाहनदत्त, गोमुख के साथ जंगल का बहुत-सा मार्ग पार कर गया ॥३७॥

उसे अकस्मात् ही मार्ग में एक कुमारी ने आकर कहा—'मैं मायावती नाम की विद्या हूँ। रत्नप्रभा द्वारा प्रेरित हूँ। मार्ग में अदृश्य रूप से तुम्हारी रक्षा करती हूँ। तुम निश्चिन्त होकर जाओ।' ऐसा कहकर वह विद्या उसके देखते-देखते ही अदृश्य हो गई ॥३८-३९॥

तब उस विद्या के प्रभाव से भूख-प्यास से रहित रास्ते को पार करता और रत्नप्रभा की प्रशंसा करता हुआ नरवाहनदत्त आगे चला ॥४०॥

सांयकाल वन में एक निर्मल तालाब मिला। वहाँ नरवाहनदत्त ने, गोमुख के साथ स्नान करके अत्यन्त मीठे फलों का आहार कर जल-पान किया ॥४१॥

नक्तं च तत्र संयम्य दत्तघासौ हयावधः।
मन्त्रिद्वितीयो वासार्थमारुरोह महातरुम् ॥४२॥
तस्योरुशाखासंविष्टो वित्रस्तहयह्रेषितैः।
प्रबुद्धः सोऽन्तराधस्तादपश्यत् सिंहमागतम् ॥४३॥
दृष्ट्वा चावतितीर्षुं तमश्वार्थे गोमुखोऽब्रवीत्।
अहो देहानपेक्षः सन्नमन्त्रेणैव चेष्टसे ॥४४॥
शरीरमूला हि नृपा मन्त्रमूला च राजता।
युयुत्ससे तत्तिर्यग्भिर्नखदंष्ट्रायुधैः कथम् ॥४५॥
एतद्रक्षार्थमेवावामिहारूढौ हि सम्प्रति।
इति गोमुखवाग्रुद्धो युवराजः स तत्क्षणम् ॥४६॥
सिंहं तं तुरगं घ्नन्तं दृष्ट्वा छुरिकया द्रुतम्।
आजघान तरोः पृष्ठात् क्षिप्तया स निमग्नया ॥४७॥
स तथा तेन विद्धोऽपि तं हत्वैव हयं बली।
सिंहो व्यापादयामास द्वितीयमपि वाजिनम् ॥४८॥
ततो वत्सेश्वरसुतः खड्गमादाय गोमुखात्।
तेन क्षिप्तेन मध्ये तं सिंहं द्वेधा चकार सः ॥४९॥
अवतीर्य च संगृह्य कृपाणीं सिंहदेहतः।
खड्गं चारुह्य सोऽत्रैव वृक्षे रात्रिमुवास ताम् ॥५०॥
प्रातस्ततोऽवतीर्णश्च प्रतस्थे गोमुखान्वितः।
नरवाहनदत्तोऽत्रस्तां स कर्पूरिकां प्रति ॥५१॥
अथ पद्भ्यां प्रयान्तं तं सिंहेन हतवाहनम्।
दृष्ट्वा विनोदयन्नेवमुवाच पथि गोमुखः ॥५२॥

इन्दीवरसेनानिष्टुरसेनयोः कथा।

देव प्रासङ्गिकीमेतां कथामाख्यामि ते शृणु।
अस्तीहैरावती नाम नगरी विजितालका ॥५३॥
तस्यामभूत् परित्यागसेनो नाम महीपतिः।
बभूवतुश्च तस्य द्वे देव्यौ प्राणसमे प्रिये ॥५४॥
एका स्वमन्त्रितनया नामतोऽधिकसङ्गमा।
नाम्ना तु काव्यालङ्कारा द्वितीया राजवंशजा ॥५५॥

रात को वहाँ घोड़ों को घास देकर और वृक्ष के नीचे बाँधकर गोमुख के साथ सोने के लिए बड़े पेड़ पर चढ़ा ॥४२॥

उसकी विशाल शाखा पर सोये हुए उसने डरे हुए घोड़ों की हिनहिनाहट से जागकर नीचे आये हुए एक सिंह को देखा ॥४३॥

उसे देखकर घोड़ों की रक्षा के लिए नीचे उतरने को उद्यत युवराज को देखकर गोमुख बोला—'शरीर का ध्यान न करके और मुझसे सम्मति भी न करके तुम उतरने की चेष्टा कर रहे हो। राजा का मूल शरीर है और वही राज्य का मूल मन्त्र है। तुम मनुष्य होकर नख और दाँतोंवाले पशुओं से युद्ध करने के लिए क्यों तैयार हो रहे हो? इसी शरीर की रक्षा के लिए हम दोनों इस समय वृक्ष पर चढ़े हुए हैं।' गोमुख की इन बातों से युवराज रुक गया ॥४४—४६॥

घोड़े को मारते हुए शेर पर उसने ऊपर से ही छुरी मारी और वह छुरी सिंह के शरीर में धँस गई ॥४७॥

छुरी से मारे जाने पर भी सिंह ने उस घोड़े को मारकर दूसरे घोड़े को भी मार डाला ॥४८॥

तब वत्सेश्वर-पुत्र युवराज ने गोमुख से तलवार लेकर उसे ऊपर से ही फेंककर शेर के दो टुकड़े कर दिये। और नीचे उतरकर सिंह के शरीर से तलवार खींचकर और फिर वृक्ष पर चढ़कर उसने वह रात बिताई ॥४९-५०॥

प्रातःकाल वृक्ष से उतरकर नरवाहनदत्त, गोमुख के साथ कर्पूरिका की ओर चल पड़ा ॥५१॥

शेर के द्वारा वाहनों के मारे जाने के कारण पैरों से ही चलते हुए नरवाहनदत्त का मनोरंजन करने के लिए गोमुख ने मार्ग में कहा—॥५२॥

इन्दीवरसेन और अनिच्छासेन की कथा

'स्वामी! मैं इस समय के प्रसंग में तुम्हें एक कथा सुनाता हूँ। उसे सुनो इस पृथ्वी पर अपने सौन्दर्य से अलका (कुबेरनगरी) को जीतनेवाली ऐरावती नाम की एक नगरी है। उस नगरी में परित्यागसेन नाम का राजा था, उसकी प्राणों के समान प्यारी दो रानियाँ थीं ॥५३—५४॥

उनमें से एक अधिकसंगमा नाम की राजा के मन्त्री की कन्या थी और दूसरी, काव्यालंकारा किसी राजवंश की कुमारी थी ॥५५॥

ताभ्यां समं च सोऽपुत्रो राजा पुत्रार्थमम्बिकाम्।
आराधयन्निराहारो दर्भशायी व्यधात्तपः ॥५६॥
ततः सा तं तपस्तुष्टा स्वप्ने दत्त्वा फलद्वयम्।
दिव्यं समादिशत् साक्षाद् भवानी भक्तवत्सला ॥५७॥
उत्तिष्ठ देहि दारेभ्यो भक्ष्यमेतत्फलद्वयम्।
ततो राजन् प्रवीरो ते जनिष्येते सुतावुभौ ॥५८॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे गौरी प्रबुद्धः स च भूपतिः।
ननन्द प्रातरुत्थाय हस्ते पश्यन्नुभे फले ॥५९॥
स्वप्नेन तेन चानन्द्य वर्णितेन परिग्रहम्।
स्नातो मृडानीमभ्यर्च्य चकार व्रतपारणम् ॥६०॥
नक्तं चोपेत्य तां पूर्वं राज्ञीमधिकसङ्गमाम्।
फलमेकं ददौ तस्यै सा च तद् बुभुजे तदा ॥६१॥
ततस्तन्मन्दिरे तस्यामुवास स नृपो निशि।
तत्पितुर्मन्त्रिमुख्यस्य निजस्य किल गौरवात् ॥६२॥
तच्चात्र निदधे सम्प्रत्यात्मशय्याशिरोऽन्तिके।
द्वितीयस्याः कृते देव्याः द्वितीयं कल्पितं फलम् ॥६३॥
सुप्तस्याथ नृपस्याथ राज्ञी साधिकसङ्गमा।
उत्थायात्मन एव द्वाविच्छन्ती सदृशौ सुतौ ॥६४॥
शीर्षान्ताद् भक्षयामास द्वितीयमपि तत्फलम्।
निसर्गसिद्धो नारीणां सपत्नीषु हि मत्सरः ॥६५॥
प्रातश्चोत्थाय चिन्वानं तत्फलं तं महीपतिम्।
मयैव तत्फलं भुक्तं द्वितीयमिति साऽब्रवीत् ॥६६॥
ततः स राजा विमना निर्गत्यातीत्य वासरम्।
नक्तं तस्या द्वितीयस्या देव्या वासगृहं ययौ ॥६७॥
तत्र तत्फलमेकां तां याचमानां च सोऽब्रवीत्।
सुप्तस्य मे तदप्यश्नात् सपत्नी ते छलादिति ॥६८॥
ततः सा तनयोत्पत्तिहेतुमप्राप्य तत्फलम्।
बभूव काव्यालङ्कारा राज्ञी तूष्णीं सुदुःखिता ॥६९॥
गच्छत्स्वथ दिनेष्वत्र राज्ञी साऽधिकसङ्गमा।
सगर्भाभूदसूताथ काले द्वौ युगपत् सुतौ ॥७०॥

वह राजा, उन दोनों रानियों के साथ पुत्र-प्राप्ति की कामना से पार्वती अम्बिका की आराधना करता हुआ निराहार रहकर और कुशा पर सोकर तपस्या करने लगा ॥५६॥

उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भक्तवत्सला भवानी ने उसे स्वप्न में स्वयं दर्शन देकर और दो फल देकर आज्ञा दी—'उठो ! अपनी स्त्रियों को ये दो फल खाने के लिए दो। इसके प्रभाव से हे राजन् ! उन दोनों के दो पुत्र उत्पन्न होंगे' ॥५७-५८॥

ऐसा कहकर गौरी अन्तर्हित हो गई। राजा उठा और प्रातःकाल दोनों हाथों में दो फल देखकर प्रसन्न हुआ। राजा ने स्वप्न के समाचार से उन दोनों रानियों को आनन्दित किया और स्नान, पूजन आदि करके व्रत का पारण किया ॥५९-६०॥

रात को राजा ने अधिकसंगमा रानी के महल में जाकर उसे फल दिया और उसने उसे खा लिया ॥६१॥

राजा के मुख्य मन्त्री की कन्या होने के गौरव के कारण राजा उस रात को उसी रानी के पास रह गया और दूसरी रानी के लिए रखे हुए फल को सिरहाने रख दिया। राजा के सोये रहने पर रानी अधिकसंगमा ने उठकर एक साथ दो समान पुत्रों की इच्छा से उस दूसरे फल को भी ऊपर के भाग के पास से खा लिया। स्त्रियों का सौतों के प्रति द्वेष स्वाभाविक ही होता है ॥६२-६५॥

सबेरे उठकर उस फल को खोजते हुए राजा से उसने कहा कि 'वह दूसरा फल भी मैंने ही खा लिया' ॥६६॥

तब दुःखित मनवाला राजा उसके भवन से निकलकर और राजकार्यों में दिन बिताकर रात को दूसरी रानी के भवन में गया ॥६७॥

वहाँ उस रानी के फल माँगने पर राजा ने कहा कि 'मेरे सोये रहने पर तुम्हारी सौत ने छल से उस फल को भी खा लिया' ॥६८॥

तब वह रानी काव्यालंकारा पुत्र की उत्पत्ति के कारणभूत उस फलको न पाकर अत्यन्त दुःखी होकर चुप रही ॥६९॥

कुछ समय व्यतीत होने पर वह रानी अधिकसंगमा गर्भवती हुई और दसवें महीने उसने एक साथ दो बालक उत्पन्न किये ॥७०॥

राजापि स तदुत्पत्तिफलितस्वमनोरथः।
नन्दति स्म परित्यागसेनः कृतमहोत्सवः ॥७१॥
तयोश्च सुतयोर्ज्येष्ठमिन्दीवरनिभेक्षणम्।
नाम्नेन्दीवरसेनं स नृपश्चक्रेऽद्भुताकृतिम् ॥७२॥
विदधे च कनीयांसमनिच्छासेनमाख्यया।
तज्जनन्या यतो भुक्तं फलं तत्तदनिच्छया ॥७३॥
अथात्र तस्य राज्ञी सा द्वितीया भूमिपस्य तत्।
आलोक्य काव्यालङ्कारा सामर्षा समचिन्तयत् ॥७४॥
अहो अहं सुतप्राप्तेः सपत्न्या वञ्चिततया।
तदेतस्या मयाऽवश्यं कार्या मन्युप्रतिक्रिया ॥७५॥
विनाश्यौ तनयावेतावेतदीयौ स्वयुक्तितः।
इति सञ्चिन्त्य सा तस्थौ तदुपायं विचिन्वती ॥७६॥
यथा यथा च तौ तत्र ववृधाते नृपात्मजौ।
तथा तथास्या ववृधे हृदये वैरपादपः ॥७७॥
क्रमेण यौवनस्थौ च तौ विज्ञापयतः स्म तम्।
राजपुत्रौ स्वपितरं जिगीषू भुजशालिनौ ॥७८॥
अस्त्रेषु शिक्षितौ तावदावां सम्प्राप्तयौवनौ।
तद्भुजान् विफलानेतान् बिभ्रतौ कथमास्वहे ॥७९॥
क्षत्रियस्याजिगीषस्य धिग्बाहू धिक् च यौवनम्।
अतोऽनुजानीह्यधुना तात दिग्विजयाय नौ ॥८०॥
इति सून्वोर्वचः श्रुत्वा राजा हृष्टोऽनुमन्य सः।
यात्रारम्भं परित्यागसेनः संविदधे तयोः ॥८१॥
यद्यत्र सङ्कटं जातु युवयोः स्यात्तदाम्बिका।
स्मर्त्तव्यार्त्तिहरा देवी तया दत्तौ हि मे युवाम् ॥८२॥
इत्युक्त्वा च स तौ राजा यात्रायै प्राहिणोत्सुतौ।
युक्तौ सैन्यैः ससामन्तैर्जनन्या कृतमङ्गलौ ॥८३॥
निजं मन्त्रिप्रधानं च पश्चान्मानामहं तयोः।
प्रज्ञासहायं व्यसृजन्नाम्ना प्रथमसङ्गमम् ॥८४॥
अथ तौ राजपुत्रौ द्वौ सबलौ भ्रातरौ क्रमात्।
गत्वा प्राचीं दिशं पूर्वं जिग्यतुः प्राज्यविक्रमौ ॥८५॥

राजा भी उनकी उत्पत्ति से सफलमनोरथ होकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने महान् उत्सव किया ॥७१॥

राजा ने उन दोनों में से कमल के समान नेत्रवाले तथा अद्‌भुत आकृतिवाले बड़े पुत्र का नाम इन्दीवरसेन रखा ॥७२॥

और, दूसरे छोटे पुत्र का नाम अनिच्छासे न रखा; क्योंकि उसके लिए उसकी माता ने राजा की इच्छा के विरुद्ध फल खा लिया था ॥७३॥

तदनन्तर राजा की दूसरी रानी काव्यालंकारा यह देखकर क्रोध से भरी हुई सोचने लगी—॥७४॥

'ओह ! मेरी इस सौत ने मुझे पुत्र-प्राप्ति से वंचित कर दिया है। इसलिए, इस क्रोध का बदला मुझे अवश्य लेना चाहिए ॥७५॥

अपनी युक्ति से इसके दोनों लड़कों का विनाश करना चाहिए।' ऐसा सोचकर वह अवसर की प्रतीक्षा में उपाय सोचती हुई चुप बैठी रही ॥७६॥

जैसे-जैसे राजा के वे दोनों बालक बढ़ते गए, वैसे ही वैसे उसका क्रोध-रूपी वृक्ष भी बढ़ता रहा ॥७७॥

क्रमशः यौवन अवस्था में आये हुए बलशाली वे दोनों राजकुमार, दिग्विजय की इच्छा से अपने पिता के पास आकर बोले—॥७८॥

'महाराज। हम लोग अस्त्र-शस्त्र विद्या में शिक्षित हो गये और युवावस्था में प्राप्त हो गये, तो हम इन निष्फल भुजाओं को लेकर व्यर्थ क्यों बैठें ? विजय की इच्छा न रखनेवाले क्षत्रिय की भुजाओं को और उनके यौवन को धिक्कार है ! इसलिए, पिताजी ! हम दोनों को दिग्विजय-यात्रा के लिए आज्ञा प्रदान करें' ॥७९-८०॥

कुमारों की बातों को सुनकर राजा प्रसन्न हुआ, उसे स्वीकार किया और उनकी दिग्विजय-यात्रा की तैयारी की और उनसे कहा कि 'तुम्हें जब कभी संकट का सामना करना पड़े, तब कष्टहारिणी माता अम्बिका का स्मरण करना। तुम दोनों उसी अम्बिका के दिये हुए हो' ॥८१–८२॥

ऐसा कहकर राजा ने सेना, सामन्त आदि के साथ उन दोनों को विजय-यात्रा के लिए भेज दिया। अपने वृद्ध प्रधान मन्त्री और उन कुमारों के नाना प्रथमसंगम को भी परामर्श आदि देने के लिए साथ भेज दिया। उनकी माता ने प्रस्थान के समय मंगलाचरण किया ॥८३–८४॥

उन दोनों बलवान् भाइयों ने पहले पूर्व दिशा में जाकर दिग्विजय किया ॥८५॥

ततोऽप्रतिहतौ वीरौ मिलितानेकपार्थिवौ ।
जेतुं सिद्धप्रतापौ तौ जग्मतुर्दक्षिणां दिशम् ॥८६॥
तां च वार्तां तयोः श्रुत्वा पितरौ तौ ननन्दतुः ।
जज्वालापरमाता तु सान्तर्विद्वेषवह्निना ॥८७॥
एताभ्यां भुजदर्पेण पृथ्वीं जित्वा निहत्य माम् ।
राज्यं मदीयं स्वीकर्तुं मत्पुत्राभ्यां विचिन्तितम् ॥८८॥
तद्यूयं मयि भक्ताश्चेत्तदेतावत्र मत्सुतौ ।
अविचार्यैव युष्माभिर्निहन्तव्यावुभावपि ॥८९॥
इति तत्कटकस्थेभ्यः सामन्तेभ्यस्ततः शठा ।
राजादेशं तदा राज्ञी तन्नाम्नैवाभिलिख्य सा ॥९०॥
सन्धिविग्रहकायस्थेनाहृतेनार्थसञ्चयैः ।
उपांशु काव्यालङ्कारा व्यसृजल्लेखहारकम् ॥९१॥
स च गुप्तं तयोर्गत्वा कटकं राजपुत्रयोः ।
सामन्तेभ्यो ददौ तेभ्यस्तांल्लेखांल्लेखहारकः ॥९२॥
ते वाचयित्वा तान् सर्वे राजनीतिं सुकर्कशाम् ।
विचिन्त्य तां प्रभोराज्ञामनुल्लङ्घ्यामवेत्य च ॥९३॥
रात्रौ मिलित्वा सम्मन्त्र्य निहन्तुं तौ नृपात्मजौ ।
विवशा निश्चयं चक्रुस्तद्गुणावर्जिता अपि ॥९४॥
तच्च बुद्ध्वैव तन्मध्यादेकस्य सुहृदो मुखात् ।
तौ स मातामहो मन्त्री राजपुत्रौ सह स्थितः ॥९५॥
बोधयित्वा यथातत्त्वमारोप्य वरवाजिनोः ।
अपसारितवान् गुप्तं तत्कालं कटकात्ततः ॥९६॥
तेनापसारितौ तौ च व्रजन्तौ निशि तद्युतौ ।
विन्ध्याटवीं विविशतुर्मार्गाज्ञानान्नृपात्मजौ ॥९७॥
तत्र रात्रावतीतायां क्रमात् प्रक्राम्यतोस्तयोः ।
मध्याह्ने वितृषाक्रान्तौ हयौ पञ्चत्वमापतुः ॥९८॥
स च मातामहो वृद्धः क्षुत्तृष्णाशुष्कतालुकः ।
व्यपद्यतातपक्लान्तः श्रान्तयोः पश्यतस्तयोः ॥९९॥
अनागसौ कथं पित्रा गमितौ स्वो दशामिमाम् ।
सकामां कुर्वता तां नौ दुष्टामपरमातरम् ॥१००॥

तब अप्रतिहत शक्तिवाले दोनों वीर अनेक राजाओं को मिलाकर अपने प्रताप और अधिकार जमाकर दक्षिण दिशा को गये ॥८६॥

उनका विजय-समाचार सुनकर उनके माता-पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए; किन्तु दूसरी माता काव्यालंकारा द्वेषाग्नि की ज्वाला से भीतर-ही-भीतर जल-भुन गई ॥८७॥

'इन मेरे दोनों लड़कों ने पृथ्वी को जीतकर और मुझे मारकर मेरे राज्य पर अधिकार कर लेने का निश्चय किया है। इसलिए, यदि तुम लोग मेरे सच्चे स्नेही और भक्त हो, तो बिना विचारे इन दोनों को मार डालो।'—इस प्रकार, सेना-अधिकारियों के नाम राजा का आज्ञापत्र कायस्थ (मुन्शी) से (घूस देकर) लिखवा लिया और धन देकर सन्देश ले जानेवाले दूत के हाथ काव्यालंकारा ने गुप्त रूप से सेना के शिविर में भेज दिया। दूत ने शिविर में आकर पत्र दे दिया ॥८८–९२॥

सेनाधिकारियों ने पत्र लेकर और उसे बाँचकर राजनीति को अत्यन्त कठोर जानकर और राजा की आज्ञा को अनुल्लंघनीय समझकर दोनों राजकुमारों को मार डालने के लिए रात्रि के समय सम्मति की और विवश होकर मारने का निश्चय किया ॥९३–९४॥

उन अधिकारियों में एक ने, जो उन बालकों के नाना बूढ़े प्रधान मन्त्री का मित्र था, इस बात की सूचना उसे दी। सूचना पाकर बूढ़े प्रधान मन्त्री, उन दोनों नातियों को सावधान करके और अच्छे घोड़ों पर बैठकर उनके साथ रात में ही सेना-शिविर से भाग गया। जंगली मार्ग न जानने के कारण भटकते हुए दोनों राजकुमार और उनका बूढ़ा नाना मध्याह्न की धूप में विन्ध्य पर्वत के जंगल में भूख-प्यास से व्याकुल हो गये। उनके दोनों घोड़े प्यास से मर गये और भूख-प्यास के क्लेश से बूढ़ा उनका नाना मन्त्री भी उनके देखते-देखते ही मर गया ॥९५—९९॥

'पिता ने दुष्टा दूसरी माता को प्रसन्न करने के लिए निरपराध हम लोगों को कैसी दशा में पहुँचा दिया'—॥१००॥

इति तौ तत्र शोचन्तौ दुःखितौ भ्रातरौ ततः।
प्राक् पित्रैवोपदिष्टां तां देवीं दध्यतुरम्बिकाम् ॥१०१॥
तस्या ध्यानप्रभावेण शरण्यायास्तदैव तौ।
विगतक्षुत्क्लमतृषौ बलिनौ च बभूवतुः ॥१०२॥
ततस्तत्प्रत्ययाश्वस्तावविज्ञातपथश्रमौ ।
तामेव ययतुर्द्रष्टुं विन्ध्यकान्तारवासिनीम् ॥१०३॥
तत्र प्राप्तौ तदग्रे च भ्रातरौ तावुभावपि।
प्रारभेतां निराहारौ तामाराधयितुं तपः ॥१०४॥
अत्रान्तरे च ते तत्र सामन्ताः कटके स्थिताः।
सम्भूय यावदायान्ति तयोः पापं चिकीर्षवः ॥१०५॥
तावत् क्वचिन्न ददृशुर्विचिन्वन्तोऽपि सर्वतः।
तौ समातामहो क्वापि राजपुत्रौ पलायितौ ॥१०६॥
ततश्चाशङ्क्य तं मन्त्रभेदं सर्वेऽपि ते भयात्।
राज्ञस्तस्य परित्यागसेनस्यान्तिकमाययुः ॥१०७॥
प्रदर्श्य तस्मै लेखांश्च यथावृत्तं तमब्रुवन्।
सोऽथ बुद्ध्वा तदुद्भ्रान्तः क्रुद्धस्तानेवमब्रवीत् ॥१०८॥
नैते मत्प्रहिता लेखा इन्द्रजालं किमप्यदः।
यूयं च न किमेतावदपि जानीथ बालिशाः ॥१०९॥
यदनल्पतपःप्राप्तावहं हन्मि कथं सुतौ।
युष्माभिस्तौ हतावेव सुकृतैः स्वैस्तु रक्षितौ ॥११०॥
मातामहेन च तयोर्दर्शितं मन्त्रिताफलम्।
इत्युक्त्वा तान् स सामन्तान् कायस्थं कूटलेखकम् ॥१११॥
तं पलायितमप्याशु स्वशक्त्यानाय्य भूपतिः।
सम्यक् पृष्ट्वा यथावृत्तं यथावन्निगृहीतवान् ॥११२॥
भार्यां च काव्यालङ्कारां तादृक् कार्यविधायिनीम्।
भूगृहे स निचिक्षेप पापां तां पुत्रघातिनीम् ॥११३॥
अविचार्य तु पर्यन्तमतिद्वेषान्धया धिया।
सहसा हि कृतं पापं कथं मा भूद्विपत्तये ॥११४॥
ये च ते राजपुत्राभ्यां सह गत्वाभ्युपागताः।
सामन्तास्तान्निवार्यान्यांस्तत्पदे स नृपो व्यधात् ॥११५॥

ऐसा सोचते हुए उन दोनों दुःखित भाइयों ने पिता के पूर्व उपदेश का स्मरण करके माता अम्बिका का ध्यान किया ॥१०१॥

भक्तों को शरण देनेवाली माता के स्मरण से वे दोनों भूख-प्यास से रहित और बलवान् हो गये ॥१०२॥

इस प्रकार, माता के चमत्कार से कुछ आशा प्राप्त करके मार्ग न जानते हुए भी वे दोनों विन्ध्यवासिनी देवी की ओर चल पड़े ॥१०३॥

वहाँ पहुँचकर वे दोनों विन्ध्यवासिनी देवी को प्रसन्न करने के लिए उसके सन्मुख निराहार रहकर कठोर तप करने लगे। उधर सेना के अधिकारी जब राजा के आज्ञानुसार राजकुमारों को मारने के लिए एकत्र होकर आये, तब उन्होंने बहुत खोजने पर भी उन राजकुमारों को नहीं देखा और समझ गये कि वे दोनों अपने बूढ़े नाना के साथ शिविर से कहीं भाग गये ॥१०४–१०६॥

वे सब गुप्त वार्त्ता के प्रकट हो जाने के कारण घबराये हुए राजा परित्यागसेन के समीप डरते-डरते आये ॥१०७॥

और, राजा को उसके लेख दिखाकर सब समाचार सुना दिया। राजा यह सब सुनकर और समझकर क्रोध करके उनसे बोला—'ये लेखपत्र आदि मेरे भेजे हुए नहीं हैं। यह क्या इन्द्रजाल है? मूर्ख, तुम क्या यह नहीं जानते थे कि कठोर तपस्या के प्रभाव से प्राप्त किये हुए बच्चों को मैं स्वयं कैसे मारता? तुम लोगों ने तो उन्हें मार ही डाला था। केवल अपने पुण्य से वे बच गये हैं। उनके नाना ने भी मन्त्री होने का फल दिखा दिया।' ऐसा कहकर उसने उन सब अधिकारियों तथा भागे हुए भी उस मिथ्याचारी लेखक को पकड़वाकर बुलाया और सब को मरवा डाला और ऐसे नीच कार्य करनेवाली पुत्रघातिनी पत्नी काव्यालंकारा को भी गड्ढे में डलवा दिया ॥१०८–११३॥

अत्यन्त द्वेष के कारण अन्धी बुद्धि से बिना विचारे जो पाप किया जाता है, उससे विपत्ति क्यों न आयेगी? ॥११४॥

राजा ने, राजकुमारों के साथ गये हुए सभी अधिकारियों और नौकरों को हटाकर उनके स्थान पर दूसरे व्यक्तियों की नियुक्ति की ॥११५॥

*

तस्थौ च वार्त्तामन्विष्यन् सततं पुत्रयोस्तयोः।
तन्मात्रा सह दुःखार्त्तो धर्मासक्तोऽम्बिकां स्मरन् ॥११६॥
तावच्च राजपुत्रस्य तपसा सानुजस्य सा।
तस्येन्दीवरसेनस्य तुष्टाऽभूद्विन्ध्यवासिनी ॥११७॥
दत्वा च खड्गं स्वप्ने सा साक्षादेवं तमादिशत्।
अस्य प्रभावात् खड्गस्य शत्रूञ्जेष्यसि दुर्जयान् ॥११८॥
चिन्तयिष्यसि यत्किञ्चित् तच्च सम्पत्स्यते तव।
द्वावप्येतेन च युवामिष्टसिद्धिमवाप्स्यथः ॥११९॥
इत्युक्त्वान्तर्हितायां च देव्यां तस्यां प्रबुध्य सः।
तत्रेन्दीवरसेनस्तं हस्तस्थं खड्गमैक्षत ॥१२०॥
अथ खड्गेन तत्स्वप्नवर्णनेन च सोऽनुजम्।
आश्वास्य चक्रे तद्युक्तः प्रातर्वन्येन पारणम् ॥१२१॥
ततः प्रणम्य देवीं तां तत्प्रसादहृतक्लमः।
हृष्टस्तत्खड्गहस्तश्च समं भ्रात्रा ययौ ततः ॥१२२॥
गत्वा च दूरं स प्रापदेकं पुरवरं महत्।
कुर्वाणं मेरुशिखरभ्रान्तिं हेममयैर्गृहैः ॥१२३॥
तत्र रौद्रं ददर्शैकं प्रतोलीद्वारि राक्षसम्।
पप्रच्छ तं च वीरोऽस्य पुरस्याख्यां पतिं च सः ॥१२४॥
इदं शैलपुरं नाम नगरं राक्षसाधिपः।
अध्यास्ते यमदंष्ट्राख्यः स्वामी नः शत्रुमर्दनः ॥१२५॥
इत्युक्ते रक्षसा तेन यमदंष्ट्रजिघांसया।
तत्रेन्दीवरसेनोऽथ स प्रवेष्टुं प्रवृत्तवान् ॥१२६॥
निरुन्धन्तं च तं द्वाःस्थं राक्षसं स महाभुजः।
एकखड्गप्रहारेण शिरश्छित्त्वा न्यपातयत् ॥१२७॥
तं हत्वा राजभवनं प्रविश्यान्तर्ददर्श सः।
शूरः सिंहासनस्थं तं यमदंष्ट्रं निशाचरम् ॥१२८॥
दंष्ट्राघोरमुखं वामपार्श्वस्थितवराङ्गनम्।
आश्रितेतरपार्श्वं च कुमार्या दिव्यरूपया ॥१२९॥
दृष्ट्वा च सोऽम्बिकादत्तखड्गहस्तो रणाय तम्।
आहूतवान् स चोत्तस्थौ खड्गमाकृष्य राक्षसः ॥१३०॥

यह सब करके राजा अपनी पत्नी के साथ भगवती अम्बिका का स्मरण करता हुआ और राजकुमारों की खोज कराता हुआ दुःख से पीड़ित रहता था ॥११६॥

उधर, राजकुमार इन्दीवरसेन, अपने छोटे भाई के साथ विन्ध्यवासिनी की आराधना करता रहा। देवी उसकी कठोर तपस्या से संतुष्ट हुई ॥११७॥

और, स्वप्न में उसे एक खड्ग (तलवार) देकर यह आदेश दिया कि इस खड्ग के प्रभाव से तुम दुर्जय शत्रु का विजय करोगे ॥११८॥

तुम जो कुछ चाहोगे, वह होगा। तुम दोनों इस खड्ग से इष्टसिद्धि प्राप्त करोगे ॥११९॥

ऐसा कहकर देवी के अन्तर्धान होने पर जगकर उठे हुए इन्दीवरसेन ने हाथ में खड्ग को देखा ॥१२०॥

तदनन्तर, उस खड्ग से और स्वप्न के समाचार से छोटे भाई को प्रसन्न करके उसने प्रातःकाल जंगली फल आदि से व्रत का पारण (समाप्ति) किया ॥१२१॥

तदनन्तर, देवी को प्रणाम करके देवी की कृपा से स्वस्थ शरीर और मनवाला इन्दीवरसेन, उस खड्ग के साथ भाई को लेकर वहाँ से आगे चला ॥१२२॥

बहुत दूर जाने पर, उसने एक बड़े नगर को देखा, जो सोने के घरों से सुमेरु-शिखर का भ्रम उत्पन्न कर रहा था। उस नगर की गली के द्वार पर उसने एक राक्षस को बैठा हुआ देखा और उससे उस नगर का तथा उसके राजा का नाम पूछा ॥१२३-१२४॥

'यह शैलपुर नाम का नगर है। इसमें यमदंष्ट्र नाम का शत्रुओं का मर्दन करनेवाला हमारा राजा राज्य करता है' ॥१२५॥

उस राक्षस के ऐसा कहने पर यमदंष्ट्र को मारने की इच्छा से इन्दीवरसेन नगर में घुसने के लिए तैयार हुआ ॥१२६॥

द्वार पर पहरा देते हुए और अन्दर आने से रोकते हुए उस राक्षस को उसने खड्ग के एक ही प्रहार से सिर काटकर मार गिराया ॥१२७॥

द्वारपाल को मारकर और राजभवन में जाकर उस शूर ने सिंहासन पर बैठे हुए यमदंष्ट्र राक्षस को देखा ॥१२८॥

बड़े-बड़े दाँतों से उस का मुँह भयावना था, बाईं ओर एक सुन्दरी स्त्री बैठी थी और दाहिनी ओर दिव्य स्वरूपवाली एक कुमारी बैठी थी ॥१२९॥

उस राक्षस को देखकर अम्बिका से पाये हुए खड्ग को खींचकर इन्दीवरसेन ने उसे ललकारा और वह राक्षस भी तलवार लेकर उठ खड़ा हुआ ॥१३०॥

प्रवृत्ते च तयोर्युद्धे छिन्नश्छिन्नोऽथ राक्षसः।
तस्येन्दीवरसेनेन मूर्धा मुहुरजायत ॥१३१॥
तां तस्य मायामालोक्य तत्पार्श्वस्थितया तया।
कुमार्या कृतसंज्ञः सन्दर्शनेनानुरक्तया ॥१३२॥
स राजपुत्रश्छित्त्वैव रक्षसस्तस्य तच्छिरः।
भूयः खड्गप्रहारेण लघुहस्तो द्विधाकरोत् ॥१३३॥
तयास्य नष्टमायस्य रक्षसः प्रतिमायया।
नाजायत पुनर्मूर्धा तेन रक्षो व्यपादि तत् ॥१३४॥
हते तस्मिन् प्रहृष्टे ते तद्वरस्त्रीकुमारिके।
सानुजो राजपुत्रोऽसावुपविश्याथ पृष्टवान् ॥१३५॥
आसीत् किमीदृशेऽमुष्मिन् पुरे द्वाःस्थैकरक्षितः।
राक्षसोऽयं युवां के च हतेऽस्मिन् किं च हृष्यथः ॥१३६॥
एतच्छ्रुत्वा तयोर्मध्यात् कुमारी सा जगाद तम्।
अस्मिञ्शैलपुरे वीरभुजो नामाभवन्नृपः ॥१३७॥
एषा मदनदंष्ट्रेति भार्या तस्य स चामुना।
मायया राक्षसेनैत्य यमदंष्ट्रेण भक्षितः ॥१३८॥
ग्रस्तः परिच्छदश्चास्य सुरूपेति न भक्षिता।
एका मदनदंष्ट्रेषा भार्या च विहितात्मनः ॥१३९॥
ततो विविक्ते रम्येऽस्मिन्पुरे निर्माय काञ्चनात्।
गृहानेषोऽनया क्रीडन्नास्तापास्तपरिच्छदः ॥१४०॥
अहं च खड्गदंष्ट्राख्या कनीयस्यस्य रक्षसः।
भगिनी कन्यका दृष्टे त्वयि सद्योऽनुरागिणी ॥१४१॥
अतो हतेऽस्मिन्हृष्टेयमहं च तदिहाधुना।
उपयच्छस्व मामार्यपुत्र प्रेमसमर्पिताम् ॥१४२॥
एवमुक्तवतीं खड्गदंष्ट्रां स परिणीतवान्।
तामिन्दीवरसेनोऽथ गान्धर्वविधिना तदा ॥१४३॥
तस्थौ चात्रैव नगरे देवी खड्गप्रभावतः।
चिन्तितोपनमद्भोगः कृतदारोऽनुजान्वितः ॥१४४॥
एकदा च कनीयांसं भ्रातरं व्योमगामिनि।
स्वखड्गचिन्तारत्नस्य प्रभावाद्यानर्निर्मिते ॥१४५॥

तब दोनों का द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ होने पर इन्दीवरसेन के द्वारा बार-बार काटा जाता हुआ भी उसका सिर फिर-फिर जुट जाता था ॥१३१॥

उस राक्षस की इस माया को देखकर उसके पास बैठी हुई और राजपुत्र पर आसक्त हुई कुमारी द्वारा इशारे से सूचित किये गये राजकुमार ने, उसके सिर को काटकर तुरन्त ही एक खड्ग प्रहार से उसके दो टुकड़े कर डाले ॥१३२-१३३॥

कुमारी के द्वारा ज्ञात राक्षसी माया के नष्ट हो जाने पर उसका सिर फिर नहीं जुटा और वह मर गया ॥१३४॥

उस राक्षस के मरने पर वह सुन्दरी स्त्री और कुमारी दोनों प्रसन्न हो गईं। तब छोटे भाई के साथ इन्दीवरसेन ने स्वस्थता से बैठकर पूछा—॥१३५॥

'इस एकमात्र द्वारपाल से रक्षित नगर में यह कैसा राक्षस था और तुम दोनों कौन हो, जो उसके मारे जाने पर प्रसन्न हो रही हो?'॥१३६॥

यह सुनकर उन दोनों में से कुमारी बोली—'इस शैलपुर में वीरभुज नाम का राजा था। यह उस राजा की मदनदंष्ट्रा नामकी पत्नी (रानी) है। इस राक्षस ने नगर में आकर राजा वीरभुज को खा डाला, उसके अन्य कुटुम्बियों और सेवकों को भी खा लिया; किन्तु यह सुन्दरी है, इसलिए इसे नहीं खाया और अपनी पत्नी बना लिया ॥१३७-१३९॥

तब इस निर्जन नगर में सोने के भवन बनाकर बिना नौकर-चाकरों के ही वह इसके साथ आनन्द-विहार करता हुआ रहता था ॥१४०॥

और, मैं इस राक्षस की खड्गदंष्ट्रा नाम की छोटी बहन हूँ। मैं तुम्हें देखकर तुमसे प्रेम करने लगी हूँ ॥१४१॥

इसलिए, इसके मरने पर यह और मैं दोनों प्रसन्न हुए। अब तुम मेरे ही मन के द्वारा अर्पण की गई मुझसे विवाह करो' ॥१४२॥

ऐसा कहती हुई खड्गदंष्ट्रा को इन्दीवरसेन ने गान्धर्व विधि से विवाहित कर लिया ॥१४३॥

और, खड्ग के प्रभाव से इच्छा करते ही अभिलषित भोगों को प्राप्त करता हुआ राजकुमार, अपने छोटे भाई के साथ वहीं रहने लगा ॥१४४॥

एक बार उसने अपने खड्ग के प्रभाव से आकाश-यान का ध्यान किया, जिससे विमान बन कर आ गया ॥१४५॥

विमाने वीरमारोप्य सोऽनिच्छासेनमश्रमात् ।
प्रहिणोदन्तिकं पित्रोः स्वोदन्तावेदनाय तम् ॥१४६॥
सोऽपि गत्वा विमानेन तेन क्षिप्राद्विहायसा ।
पुरीमनिच्छासेनस्तां पितुः प्रापदिरावतीम् ॥१४७॥
तत्र तौ नन्दयामास पितरौ दर्शनेन सः ।
तीव्रदुःखातपक्लान्तौ चकोराविव चन्द्रमाः ॥१४८॥
उपेत्य चाङ्घ्रिपतितः पर्यायालिङ्गितस्तयोः ।
निरास पृच्छतोः शङ्कां भ्रातृकल्याणवार्त्तया ॥१४९॥
शशंस तं च वृत्तान्तमेतयोः पुरतोऽखिलम् ।
आपातदुःखं सौख्यान्तं भ्रातुरात्मन एव च ॥१५०॥
शुश्राव चात्र विहितं तादृशं पापया तया ।
द्वेषेणापरमात्रा तदात्मनाशाय कैतवम् ॥१५१॥
ततः पित्रोत्सववता युक्तो मात्रा च निर्वृतः ।
तस्थावनिच्छासेनोऽत्र पूज्यमानो जनेन सः ॥१५२॥
याते कतिपयाहे च दृष्ट दुःस्वप्नशङ्कितः ।
भ्रातरं प्रति सोत्कश्च पितरं स व्यजिज्ञपत् ॥१५३॥
गच्छामि युष्मदुत्कण्ठामभिधायानयाम्यहम् ।
आर्येन्दीवरसेनं तमनुजानीहि तात माम् ॥१५४॥
तच्छ्रुत्वानुमतस्तेन पित्रा पुत्रोत्सुकेन सः ।
जनन्या च विमानं स्वं तदेवारुह्य सत्वरः ॥१५५॥
प्रायादनिच्छासेनस्तद्व्योम्ना शैलपुरं पुरम् ।
प्रातश्च तत्र प्राविक्षत्स्वभ्रातुस्तस्य मन्दिरम् ॥१५६॥
ददर्श तत्र निःसंज्ञं पतितस्थितमग्रजम् ।
रुदत्योरन्तिके खड्गदंष्ट्रामदनदंष्ट्रयोः ॥१५७॥
किमेतदिति सम्भ्रान्तं पृच्छन्तं तमधोमुखी ।
जगाद खड्गदंष्ट्रा सा निन्दितापरया तया ॥१५८॥
त्वय्यस्थिते मयि स्नातुं गतायामेकदानया ।
त्वद्भ्रातायं सहारंस्त रहो मदनदंष्ट्रया ॥१५९॥
क्षणात्स्नात्वागता चाहं साक्षादेनं तथा स्थितम् ।
एतया युक्तमद्राक्षं वाचा च निरभत्सर्यम् ॥१६०॥

तब उसपर छोटे भाई अनिच्छासेन को बिठाकर उसने अपना समाचार माता-पिता को कहने के लिए बिना श्रम के भेज दिया ॥१४६॥

वह अनिच्छासेन उस विमान के द्वारा आकाश-मार्ग से इरावती नगरी में पिता के समीप जा पहुँचा ॥१४७॥

वहाँ जाकर उसने अत्यन्त उग्र कष्ट से व्याकुल माता-पिता को अपने दर्शन से ऐसा प्रसन्न किया, जैसे चन्द्रमा, चकवा-चकई को प्रसन्न करता है ॥१४८॥

जाते ही माता और पिता को प्रणाम करके उनके द्वारा गले लगाये गये अनिच्छासेन ने अपने बड़े भाई की कुशल-वार्त्ता सुनकर उनकी शंका दूर कर दी ॥१४९॥

और, अपना तथा बड़े भाई का प्रारम्भ के कष्ट से लेकर अन्त में सुख की प्राप्ति तक का सारा समाचार सुना दिया ॥१५०॥

और, यहाँ पर दुष्ट विमाता के द्वारा किये गये सारे पापकर्म की सारी कथा भी उसने सुनी, जो विमाता ने उनके नाश के लिए की थी ॥१५१॥

तदनन्तर, अत्यन्त प्रसन्नता और उत्सव मानते हुए माता-पिता और जनता से प्रशंसित अनिच्छासेन वहीं रहने लगा ॥१५२॥

कुछ दिनों के बीतने पर बुरे सपने के कारण भाई के अनिष्ट की आशंका से दुःखित अनिच्छासेन ने भाई से मिलने की उत्कण्ठा अपने पिता से प्रकट की ॥१५३॥

और, कहा—'आपके मिलने की उत्कण्ठा बताकर मैं आर्य इन्दीवरसेन को यहाँ लाता हूँ।' अतः, पिताजी आप मुझे उसके पास जाने की आज्ञा दें, ॥१५४॥

यह सुनकर बड़े पुत्र को देखने के लिए उत्सुक पिता और माता से आज्ञा प्राप्त कर अनिच्छासेन, उसी विमानपर चढ़कर शीघ्र ही शैलपुर नगर को आया और प्रातःकाल ही अपने भाई के घर प्रविष्ट हुआ ॥१५५–१५६॥

उसने भीतर जाते ही बेहोश और भूमि पर गिरे हुए अपने बड़े भाई को देखा और उसके समीप ही यमदंष्ट्रा और मदनदंष्ट्रा—दोनों ही रो रही थीं ॥१५७॥

उनसे पूछने पर कि 'यह क्या हुआ?' नीचे मुँह किये हुई और मदनदंष्ट्रा से निन्दा की जाती हुई यमदंष्ट्रा बोली—॥१५८॥

'तुम्हारी अनुपस्थिति में एक बार मेरे स्नान के लिए चले जाने पर तुम्हारा भाई इस मदनदंष्ट्रा के साथ एकान्त में रमण कर रहा था। मैंने तुरन्त स्नान करके आने पर उसे इसके साथ देखा और वचनों से फटकारा ॥१५९-१६०॥

ततोऽनुनीताप्येतेन नियत्येवाविलङ्घ्यया ।
ईर्ष्यया मोहितात्यर्थमहमेवमचिन्तयम् ॥१६१॥
अहो अगणयित्वैव मामयं भजतेऽपराम् ।
जानेऽस्य खड्गमाहात्म्यकृतो दर्पोऽयमीदृशः ॥१६२॥
तदस्य गोपयाम्येनमिति सञ्चिन्त्य मूढया ।
एतत्खड्गो निशि क्षिप्तः सुप्तेऽस्मिन्दहने मया ॥१६३॥
कलङ्कितश्च खड्गोऽसो गतश्चैष दशामिमाम् ।
अनुतप्तास्मि चाक्रुष्टा ततो मदनदंष्ट्रया ॥१६४॥
अथैतस्यां च मयि च द्वयोः शोकान्धचेतसोः ।
मरणाध्यवसायिन्योरागतस्त्वमिहाधुना ॥१६५॥
तद्गृहाण त्वमेवैतत्खड्गं निस्त्रिंशकर्मिकाम् ।
अत्यक्तजातिधर्मां मामेतेनैव निपातय ॥१६६॥
इत्युक्तः सः तयानिच्छासेनोऽत्र भ्रातृजायया ।
तापादवध्यां मत्वा तां छेत्तुमैच्छन्निजं शिरः ॥१६७॥
मैवं कार्षीर्मृतो नायं राजपुत्र तवाग्रजः ।
खड्गप्रमादकोपेन देव्या त्वेष विमोहितः ॥१६८॥
अस्यां च खड्गदंष्ट्रायां मन्तव्या नापराधिता ।
यतः शापावतीर्णानामेतद्धस्तविजृम्भितम् ॥१६९॥
एते चास्य तव भ्रातुः पूर्वभार्ये उभे अपि ।
तत्प्रसादय तामेव देवीमभिमताप्तये ॥१७०॥
इति तत्कालमुद्भूतामन्तरिक्षात्सरस्वतीम् ।
श्रुत्वा निववृतेऽनिच्छासेनः स मरणोद्यमात् ॥१७१॥
आरुह्येव विमानं तद्गृहीत्वाग्निकलङ्कितम् ।
खड्गं तं विन्ध्यवासिन्याः पादमूलं जगाम सः ॥१७२॥
तत्र मूर्धोपहारेण तोषयिष्यन्नुपोषितः ।
देवीं तामुद्गतामेतां गगनादशृणोद् गिरम् ॥१७३॥
मा पुत्र साहसं कार्षीर्गच्छ जीवतु तेऽग्रजः ।
जायतां निर्मलः खड्गो भक्त्या तुष्टा ह्यहं तव ॥१७४॥
एतद्दिव्यं वचः श्रुत्वा तत्क्षणं निष्कलङ्कताम् ।
प्राप्तं दृष्ट्वा करे खड्गं कृत्वा तस्याः प्रदक्षिणम् ॥१७५॥

उसके बहुत मनाने पर भी अलंघनीय दैव-गति के कारण ईर्ष्या से मोहित होकर मैंने सोचा कि आश्चर्य है कि यह मुझे कुछ न समझकर दूसरी स्त्री का सेवन करता है—यह सारा घमण्ड इसे इस खड्ग के कारण है, इसलिए इस खड्ग को ही छिपा देती हूँ, ऐसा सोचकर मूर्खता के कारण मैंने रात में उसके सो जाने पर तलवार को आग में फेंक दिया ॥१६१–१६३॥

इस कारण यह खड्ग भी कलंकित (काला) हो गया और यह इस दशा (बेहोशी) को प्राप्त हो गया ॥१६४॥

तदनन्तर प्रेम से अंधी यह और मैं—दोनों मरने का प्रयत्न कर रही थीं कि तुम आ गये ॥१६५॥

तो, अब तुम ऐसे नृशंस-कर्म करनेवाली और अपनी जाति के धर्म को न छोड़नेवाली मुझे इसी तलवार से काट दो।' इस प्रकार, भौजाई के कहने पर अनिच्छासेन ने सोचा कि यह तो शोक और सन्ताप के कारण ऐसा कह रही है, इसे न मारना चाहिए। मैं ही भाई के शोक में आत्महत्या क्यों न कर लूं ? ऐसा सोचकर उसने अपना गला काटना चाहा ॥१६६-१६७॥

'हे राजकुमार ! ऐसा न करो यह तुम्हारा भाई मरा नहीं है। देवी के खड्ग का अपमान होने के कारण उसी के कोप से यह बेहोश हो गया है ॥१६८॥

इस विषय में यमदंष्ट्रा को भी अपराधिनी न समझो। क्योंकि, यह सब शाप के कारण लोगों का हस्तकौशल है। ये दोनों ही तुम्हारे भाई की पहले जन्म की पत्नियाँ हैं। इसलिए, अपनी इच्छा-सिद्धि के लिए उसी भगवती विन्ध्यवासिनी की आराधना करो' ॥१६९-१७०॥

इस प्रकार, आकाशवाणी सुनकर अनिच्छासेन ने मरने का प्रयत्न रोक लिया। विमान पर चढ़कर और उस काले खड्ग को लेकर वह विन्ध्यवासिनी के चरणों की शरण में गया ॥१७१-१७२॥

वहाँ जाकर देवी को अपने सिर का बलिदान देने के लिए उद्यत हुए उसने आकाशवाणी सुनी कि 'बेटा ! साहस न करो। जाओ । तुम्हारा भाई जीवित हो जाये और खड्ग भी निर्मल हो जाये। मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ।' ॥१७३-१७४ ॥

ऐसी दिव्य वाणी सुनकर हाथ में लिये खड्ग को निष्कलंक (चमचमाता) देखकर देवी को प्रणाम किया तथा उसकी प्रदक्षिणा की ॥१७५॥

मनोरथमिवारुह्य विमानं सिद्धमाशुगम्।
आजगामोत्सुकोऽनिच्छासेनः शैलपुरं स तत्॥१७६॥
तत्र दृष्ट्वोत्थितं सद्यो लब्धसंज्ञं तमग्रजम्।
जग्राह पादयोः साश्रुः कण्ठे सोऽप्येनमग्रहीत्॥१७७॥
त्वया नौ रक्षितो भर्तेत्युभे ते पादयोस्ततः।
निपत्य भ्रातृजाये तमनिच्छासेनमूचतुः॥१७८॥
अथेन्दीवरसेनाय पृच्छते सोऽग्रजाय तत्।
................................॥१७९॥
................................।
नाकुप्यत्खड्गदंष्ट्रायै भ्रातर्यस्मिंस्तुतोष च॥१८०॥
शुश्राव चैतस्य मुखात्पितरौ दर्शनोत्सुकौ।
मायामपरमात्रा च कृतां तां तद्वियोगदाम्॥१८१॥
ततो भ्रात्रार्पितं खड्गं गृहीत्वा तत्प्रभावतः।
ध्यानोपनतमारुह्य विमानं सुमहच्च सः॥१८२॥
सहेममन्दिरो भार्याद्वयेन सह सानुजः।
तामिन्दीवरसेनः स्वां पुरीमागादिरावतीम्॥१८३॥
तत्रावतीर्य नभसो विस्मयालोकितो जनैः।
राजवेश्म पितुः पार्श्वं विवेश सपरिच्छदः॥१८४॥
तथाभूतश्च पितरं तं दृष्ट्वा मातरं च सः।
पपात पादयोश्चाश्रुधाराधौतमुखस्तयोः॥१८५॥
तौ च तं सहसा दृष्टं पुत्रमाश्लिष्य सानुजम्।
अमृतेनेव सिक्ताङ्गौ तापनिर्वाणमीयतुः॥१८६॥
दिव्यरूपे च तद्भार्ये कृतपादाभिवन्दने।
स्नुषे उभे ते पश्यन्तौ हृष्टावभिननन्दतुः॥१८७॥
कथाप्रसङ्गाद् बुद्ध्वा च तस्य ते पूर्वनिर्मिते।
दिव्यवाक्कथिते भार्ये ययतुस्तौ परां मुदम्॥१८८॥
विमानगतिसौवर्णमन्दिरानयनादिना।
प्रभावेण सुतस्यास्य विस्मयेन ननन्दतुः॥१८९॥
ततस्ताभ्यां स सहितः पितृभ्यां सपरिग्रहः।
आस्तेन्दीवरसेनोऽत्र प्रदत्तजनतोत्सवः॥१९०॥

इसके बाद अपने सफल मनोरथ के समान उस विमान पर चढ़कर उत्सुकता के साथ शैलपुर को आया ॥१७६॥

वहाँ पर होश में आये हुए बड़े भाई को देखकर उसके चरणों पर गिर पड़ा। उसने भी उसे उठाकर गले लगा लिया ॥१७७॥

'तुमने हम दोनों के पति की और हमारी रक्षा की'–ऐसा कहकर दोनों भौजाइयाँ उसके चरणों पर गिर पड़ीं ॥१७८॥

तदनन्तर, सब समाचार पूछते हुए बड़े भाई इन्दीवरसेन से अनिच्छासेन ने सारा वृत्तान्त सुना दिया ॥१७९॥

सब समाचार सुनकर इन्दीवरसेन ने यमदंष्ट्रा पर क्रोध नहीं किया और भाई के कार्यों पर सन्तोष प्रकट किया ॥१८०॥

और, उसके मुँह से सुना कि उसके माता-पिता उसे देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहे हैं। दूसरी विमाता के किये हुए छल-कपट को भी उसने सुना ॥१८१॥

तब छोटे भाई अनिच्छासेन से दिये गये खड्ग को लेकर उसके प्रभाव से ध्यान करते ही उपस्थित महान् विमान पर चढ़कर सोने के महलों तथा दोनो पत्नियों और छोटे भाई के साथ इन्दीवरसेन, अपनी इरावती नगरी को आ गया ॥१८२-१८३॥

वहाँ पर जनता से आश्चर्य के साथ देखा गया इन्दीवरसेन अपने साथियों के साथ पिता के घर में गया ॥१८४॥

वियोग से दुर्बल और दुःखी पिता और माता को देखकर आँसुओं से मुँह को धोता हुआ वह उनके चरणों पर गिर पड़ा ॥१८५ ॥

वे दोनों (राजा-रानी) छोटे भाई के साथ ज्येष्ठ पुत्र को देखकर उसका आलिंगन करते हुए अत्यन्त सन्ताप को भूलकर शान्ति और सुख में मग्न हो गये ॥१८६॥

दिव्य रूपवाली पाद-वन्दन करती हुई उन दोनों बहुओं को देखकर उन लोगों ने प्रसन्न होकर उन्हे आशीर्वाद दिया ॥१८७॥

इस प्रकार, माता-पिता को प्रसन्न करता हुआ और जनता को उत्साह देता हुआ इन्दीवरसेन पिता के समीप ही रहने लगा ॥१८८॥

आकाश-यान, सोने का महल आदि लाने के कारण और उसके प्रभाव से इन्दीवरसेन के माता-पिता आश्चर्य से प्रसन्न होते थे। इन्दीवरसेन भी दोनों पत्नियों के साथ तथा अपने कुटुम्ब के साथ जनता की आँखों को तृप्त करता हुआ वहाँ रहने लगा ॥१८९-१९०॥

एकदा च परित्यागसेनं तं जनकं नृपम्।
विज्ञप्य सानुजः प्रायात्पुनर्दिग्विजयाय सः॥१९१॥
खड्गप्रभावाज्जित्वा च पृथ्वीं कृत्स्नां महाभुजः।
आययौ हेमहस्त्यश्वरत्नान्याहृत्य भूभुजाम्॥१९२॥
अवाप नगरीं तां च निजां विजितया भयात्।
अनुयात इवोद्भूतसैन्यधूलिनिभाद् भुवा॥१९३॥
प्रविश्य राजधानीं च पित्रा प्रत्युद्गतोऽथ सः।
जननीं नन्दयामास सानुजोऽधिकसङ्गमाम्॥१९४॥
सम्मान्य राजलोकं च स्वभार्यास्वजनान्वितः।
तत्रेन्दीवरसेनस्तत्प्रमोदेनानयद्दिनम् ॥१९५॥
अन्येद्युस्तत्करद्वारेणार्पयित्वा च मेदिनीम्।
पित्रे स राजपुत्रः स्वामकस्माज्जातिमस्मरत्॥१९६॥
ततः सुप्तप्रबुद्धाभो जनकं तमुवाच च।
मया जातिः स्मृता तात तदिदं शृणु वच्मि ते॥१९७॥
अस्ति मुक्तापुरं नाम सानौ हिमवतः पुरम्।
तत्रास्ति मुक्तसेनाख्यो राजा विद्याधरेश्वरः॥१९८॥
कम्बुवत्यभिधानायां देव्यां तस्य सुतौ क्रमात्॥
जातौ द्वौ पद्मसेनश्च रूपसेनश्च सद्गुणौ॥१९९॥
पद्मसेनं तयोः प्रेम्णा स्वयं वृतवती पतिम्।
कन्यादित्यप्रभा नाम विद्याधरवरात्मजा॥२००॥
तद्बुद्ध्वा तद्वयस्यापि नाम्ना चन्द्रवती स्वयम्।
एत्यावृणीत कामार्त्ता तं विद्याधरकन्यका॥२०१॥
द्विभार्यः स तदा पद्मसेनो नित्यमखिद्यत।
सपत्नीसेर्ष्ययादित्यप्रभया भार्यया तया॥२०२॥
ईर्ष्यान्धभार्याकलहं सोढुं शक्नोमि नान्वहम्।
तपोवनाय गच्छामि निर्वेदस्यास्य शान्तये॥२०३॥
तत्तात देहि मेऽनुज्ञामिति निर्बन्धतो मुहुः।
जनकं पद्मसेनः स्वं मुक्तासेनं जगाद सः॥२०४॥
सोऽपि तं तद्ग्रहक्रुद्धः सभार्यमशपत्पिता।
किं ते तपोवनं गत्वा मर्त्यलोकमवाप्नुहि॥२०५॥

एक बार पिता परित्यागसेन को निवेदन करके इन्दीवरसेन अपने छोटे भाई के साथ पुनः दिग्विजय के लिए चला ॥१९१॥

उस महाबली इन्दीवरसेन ने, देवी के खड्ग के प्रभाव से सारी पृथ्वी का विजय करके और भाई के साथ पुनः राजधानी में आकर अपने पिता और माता अधिकसंगमा को आनन्दित किया ॥१९२–१९३॥

राजधानी में आकर अनुजीवी राजाओं का सम्मान-सत्कार आदि करके अपनी पत्नियों के साथ उसने वह दिन आनन्द से व्यतीत किया ॥१९४॥

एक दिन उस राजपुत्र ने कर के द्वारा सारी पृथ्वी का राज्य पिता को सौंपकर अकस्मात् अपने पूर्व जन्म का स्मरण किया ॥१९५-१९६॥

तब सहसा सोकर उठा हुआ वह राजकुमार इन्दीवरसेन अपने पिता से बोला—'हे पिता ! मैंने अपने पूर्वजन्म का स्मरण कर लिया है। कहता हूँ, सुनें—॥१९७॥

हिमालय के शिखर पर मुक्ता पुर नाम का एक नगर है। वहाँ पर मुक्तसेन नाम का विद्याधरों का राजा है। कम्बुवती नाम की उसकी रानी के पद्मसेन और रूपसेन नाम के दो गुणवान् पुत्र हुए। उन दोनों में से पद्मसेन नामक बड़े कुमार को आदित्यप्रभा नाम की विद्याधर-कन्या ने स्वयं वरण कर लिया ॥१९८-२००॥

यह जानकर आदित्यप्रभा की सहेली चन्द्रावती नाम की विद्याधर-कन्या ने भी काम-पीड़ित होकर पद्मसेन को वर लिया ॥२०१॥

इस प्रकार, दो पत्नियोंवाला पद्मसेन सौत से डाह करनेवाली उस आदित्यप्रभा से सदा दुःखित रहने लगा ॥२०२॥

उस पत्नी के कलह से दुःखी होकर पद्मसेन ने पिता मुक्तसेन से आग्रहपूर्वक कहा कि पिताजी ! मैं इस कलह की शान्ति के लिए तपोवन में जाता हूँ। इस भीषण कष्ट का सहन नहीं कर सकता। आप आज्ञा दीजिए ॥२०३-२०४॥

पद्मसेन के आग्रह से क्रुद्ध होकर पिता ने भार्यां-सहित पुत्र को क्रोध से शाप दिया कि 'तुम तपोवन जाकर क्या करोगे ? मर्त्यलोक में जाओ' ॥२०५॥

तत्रैषा कलहासक्ता भार्यादित्यप्रभा तव।
राक्षसीं योनिमासाद्य त्वद्भार्यैव भविष्यति ॥२०६॥
द्वितीया चन्द्रवत्येषा त्वयि रक्तातिवल्लभा।
राजस्त्री राक्षसी भूत्वा भूमौ त्वां प्राप्स्यति प्रियम् ॥२०७॥
साभिलाषोऽनुसर्तुं त्वां ज्येष्ठं यल्लक्षितो मया।
तदेष रूपसेनोऽपि भावी भ्रातैव तत्र ते ॥२०८॥
द्विभार्यत्वकृतं किञ्चिद्दुःखं तत्राप्यवाप्स्यसि।
एवमुक्त्वा विरम्येत्थं शापान्तमकरोत्स नः ॥२०९॥
राजपुत्रो भुवं जित्वा पृथ्वीं पित्रोः प्रदास्यसि।
यदा तदा महामीभिर्जातिं स्मृत्वा विमोक्ष्यसे ॥२१०॥
इति पित्रोदितस्तेन पद्मसेनो निजेन सः।
तत्कालं सह तैरन्यै मर्त्यलोकमवातरत् ॥२११॥
स पद्मसेनस्तातायमहं जातः सुतस्तव।
नाम्नेन्दीवरसेनोऽत्र कर्त्तव्यं च कृतं मया ॥२१२॥
योऽपरो रूपसेनश्च विद्याधरकुमारकः।
अनिच्छासेन इत्येव जातः सोऽनुज एव मे ॥२१३॥
या सादित्यप्रभा भार्या या च चन्द्रावतीति मे।
विद्धि ते द्वे इमे खड्गदंष्ट्रामदनदंष्ट्रिके ॥२१४॥
इदानीं चायमवधिः प्राप्तः शापस्य सोऽस्य नः।
तद्व्रजामो वयं तात निजं वैद्याधरं पदम् ॥२१५॥
इत्युक्त्वा स समं भार्याभ्रातृभिः स्मृतजातिभिः।
त्यक्त्वैव मानुषीं मूर्तिं भूत्वा विद्याधराकृतिः ॥२१६॥
प्रणम्य पित्रोश्चरणौ कृत्वाङ्के दयिताद्वयम्।
सानुजः प्रययौ व्योम्ना निजं वैद्याधरं पुरम् ॥२१७॥
तत्राभिनन्दितः पित्रा मुक्तसेनेन सन्मतिः।
मातृनेत्रोत्सवो भ्रात्रा रूपसेनेन सङ्गतः ॥२१८॥
उवास पद्मसेनोऽसौ भूयो नाविष्कृतेर्ष्यया।
आदित्यप्रभया चन्द्रवत्या च सह निर्वृतः ॥२१९॥

वहाँ मर्त्यलोक में भी यह कलहकारिणी तुम्हारी भार्या आदित्यप्रभा राक्षस-योनि में उत्पन्न होकर तुम्हारी ही पत्नी होगी। यह दूसरी तुम्हारी प्यारी चन्द्रावती भी राक्षसी और राजा की रानी होकर तुम्हें ही पति के रूप में प्राप्त करेगी ॥२०६-२०७॥

तुम्हारा साथ देने की इच्छा करनेवाला यह तुम्हारा भाई रूपसेन भी, मर्त्यलोक में तुम्हारा भाई ही बनेगा ॥२०८॥

मर्त्यलोक में भी दो पत्नियों के होने का कुछ कष्ट भी प्राप्त करोगे।' ऐसा कहकर और कुछ क्षण रुककर हमारे पिता ने शाप का अन्त इस प्रकार किया—॥२०९॥

'तुम राजपुत्र होकर, पृथ्वी को जीतकर जब पिता को पृथ्वी प्रदान करोगे, तब इन सब (पत्नियों और भाई) के साथ पूर्वजन्म का स्मरण करके शाप से छूट जाओगे' ॥२१०॥

अपने पिता से इस प्रकार कहा गया पद्मसेन, उन पत्नियों और भाई के साथ उसी समय पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ ॥२११॥

अतः, 'हे पिता ! वह पद्मसेन मैं इन्दीवरसेन नाम से तुम्हारा पुत्र हुआ और जो करना था, किया। यह दूसरा विद्याधर-कुमार रूपसेन है; जो यह अनिच्छासेन के नाम से तुम्हारा दूसरा पुत्र, हुआ, जो मेरा पूर्वजन्म का छोटा भाई ही है। आदित्यप्रभा और चन्द्रावती नामवाली ये दोनों मेरी पत्नियाँ ही यमदंष्ट्रा और मदनदंष्ट्रा है। अब हम सब लोगों के शाप की अवधि समाप्त हो गई है। अब हम अपने विद्याधर-नगर को जाते हैं ॥२१२-२१५॥

ऐसा कहकर वह इन्दीवरसेन, अपने पूर्वजन्म का स्मरण करती हुई पत्नियों और छोटे भाई के साथ मानव-शरीर को छोड़कर और विद्याधर-शरीर धारण कर, माता-पिता के चरणों में प्रणाम करके और दोनों पत्नियों को गोद में उठाकर छोटे भाई के साथ अपने विद्याधर-स्थान को चला गया ॥२१६-२१७॥

वहाँ विद्याधर-नगर में पिता मुक्तसेन से अभिनन्दन किया गया माता की आँखों का तारा रूपसेन से युक्त वह पद्मसेन ईर्ष्या-रहित आदित्यप्रभा और चन्द्रावती के साथ सुख से रहने लगा ॥२१८-२१९॥

इत्येतां गोमुखो रम्यां कथयित्वा कथां पथि ।
नरवाहनदत्तं तमुवाच सचिवः पुनः ॥२२०॥
इत्थं स्यान्महतामेव महाक्लेशस्तथोदयः ।
अन्येषां तु कियान्देव क्लेशो वाप्युदयोऽपि वा ॥२२१॥
त्वं तु रत्नप्रभादेवीविद्याशक्त्यानुपालितः ।
कर्पूरिकां राजसुतामक्लेशात्तामवाप्स्यसि ॥२२२॥
इति नरवाहनदत्तः श्रुत्वा सुमुखस्य गोमुखस्य मुखात् ।
प्राक्रामत्पथि तस्मिन्नज्ञातपरिश्रमः स तत्सहितः ॥२२३॥
गच्छंश्च तत्र कलकूजितराजहंसमच्छं सुधासरसशीतलभूरिवारि ।
आम्रावलीपनसदाडिमरम्यरोधः सायं सरो विकचवारिजमाससाद ॥२२४॥
तस्मिन्स्नात्वा हिमगिरिसुताकान्तमभ्यर्च्य भक्त्या ।
कृत्वाहारं सुरभिमधुरास्वादहृद्यैः फलैस्तैः ।
सख्या सार्धं मृदुकिसलयास्तीर्णशय्याप्रसुप्त-
स्तत्तीरे तां रजनिमनयत्सोऽत्र वत्सेशसूनुः ॥२२५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे रत्नप्रभालम्बके अष्टमस्तरङ्गः ।

नवमस्तरङ्गः

नरवाहनदत्तस्य साहसम्

ततः प्रातः सरस्तीरात्तस्मादुत्थाय मन्त्रिणम् ।
नरवाहनदत्तस्तं गोमुखं प्रस्थितोऽब्रवीत् ॥१॥
वयस्य जाने काप्यद्य रात्र्यन्ते धवलाम्बरा ।
कुमारी दिव्यरूपा मामेत्य स्वप्नेऽभ्यधादिदम् ॥२॥
निश्चिन्तो भव वत्स त्वमितः शीघ्रमवाप्स्यसि ।
अब्धेस्तीरे वनान्तःस्थमाश्चर्यं नगरं महत् ॥३॥
विश्रान्तस्तत्र चाक्लेशात्प्राप्य कर्पूरसम्भवम् ।
पुरं कर्पूरिकां प्राप्स्यस्यत्र तां राजकन्यकाम् ॥४॥
इत्युक्त्वा मां तिरोऽभूत्सा प्रबुद्धश्चास्मि तत्क्षणम् ।
एवं तमुक्तवन्तं च प्रीतः प्रोवाच गोमुखः ॥५॥
देवैरनुगृहीतस्त्वं देव किं तेऽस्ति दुष्करम् ।
तन्निश्चितमकृच्छ्रेण तव सेत्स्यत्यभीप्सितम् ॥६॥

मार्ग में जाते हुए मन्त्री गोमुख ने नरवाहनदत्त से यह कथा सुनाई और कहा- –'इसप्रकार महान् व्यक्तियों को महान् कष्ट प्राप्त होते हैं। दूसरे साधारण व्यक्तियों का तो कितने ही बार उत्थान और पतन होते हैं ॥२२०-२२१॥

तुम तो रानी रत्नप्रभा की विद्या-शक्ति से रक्षित हो, इसलिए राजकुमारी कर्पूरिका को विना कष्ट ही प्राप्त करोगे ॥२२२॥

इस प्रकार, नरवाहनदत्त ने सुमुख गोमुख के मुँह से कथा सुनकर रास्ते की थकावट का अनुभव नहीं किया ॥२२३॥

जाते हुए उसने सायंकाल एक सुन्दर सरोवर को देखा, जो सुन्दर शब्द करते हुए हंसों के स्वर से मुखरित हो रहा था, जिसका जल, अमृत के समान मधुर और तृप्तिकारक था और आम अनार एवं कटहल के वृक्षों से उसके किनारे रमणीय हो रहे थे ॥२२४॥

उस सरोवर में स्नान करके, भक्ति-भाव से शिव की पूजा करके सुगन्धित मीठे और तृप्तिकारक फलों से आहार करके उस नरवाहनदत्त ने कोमल पत्तों की शय्या पर अपने मित्र के साथ उसके किनारे पर सोकर उस रात को बिताया ॥२२५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के रत्नप्रभालम्बक का
अष्टम तरंग समाप्त

नवम तरंग

नरवाहनदत्त का साहस

तब प्रातःकाल, उस तालाब के किनारे से उठकर आगे के लिए प्रस्थान करते हुए नरवाहनदत्त ने मन्त्री गोमुख से कहा—॥१॥

"मित्र! आज रात को स्वप्न में श्वेत वस्त्र धारण किये हुई, कोई दिव्यरूपा एक कुमारी ने मुझसे कहा—॥२॥

'बेटा! निश्चिन्त रहो। यहाँ से शीघ्र ही तुम समुद्र-तट के जंगलों में स्थित आश्चर्यमय बड़े नगर को जाओगे ॥३॥

वहाँ विश्राम करके विना कष्ट के ही कर्पूरसम्भव द्वीप (टापू) में पहुँचोगे और वहाँ कर्पूरिका नाम की राजकुमारी को प्राप्त करोगे' ॥४॥

ऐसा कहकर वह अन्तर्धान हो गई और मैं भी उसी क्षण जग उठा" ॥५॥

ऐसा कहते हुए युवराज से प्रसन्न गोमुख ने कहा—'महाराज! तुम्हारे ऊपर देवताओं की कृपा है। अतः, अवश्य ही तुम्हारा मनोरथ शीघ्र सफल होगा' ॥६॥

एवमुक्तवता तेन गोमुखेन समं पथि।
नरवाहनदत्तोऽत्र स प्रायात्सत्वरस्ततः ॥७॥
क्रमात्प्रापच्च जलधेरुपकण्ठगतं स तत्।
अद्रिकूटनिभाट्टालप्रतोलीगोपुरान्वितम् ॥८॥
मेर्वाभसर्वसौवर्णराजमन्दिरराजितम् ।
नगरं विपुलाभोगं भूमण्डलमिवापरम् ॥९॥
प्रविश्य तत्र विपणीमार्गेण स ददर्श च।
काष्ठयन्त्रमयं सर्वं चेष्टमानं सजीववत् ॥१०॥
वणिग्विलासिनीपौरजनं जनितविस्मयम्।
विज्ञायमानं निर्जीव इति वाग्विरहात्परम् ॥११॥
क्रमाच्च गोमुखसखः सोऽन्तिकं राजवेश्मनः।
प्राप तादृशमेवात्र हस्त्यश्वादि विलोकयन् ॥१२॥
विवेश चास्य सौवर्णपुरमस्तकशोभिनः।
अभ्यन्तरं ससचिवः साश्चर्यो राजसद्मनः ॥१३॥
तत्र यन्त्रप्रतीहारवारनारीपरिश्रितम्।
जडानां स्पन्दने हेतुं तेषां चेतनमेककम् ॥१४॥
इन्द्रियाणामिवात्मानमधिष्ठातृतया स्थितम्।
रत्नसिंहासनासीनं भव्यं पुरुषमैक्षत ॥१५॥
सोऽपि तं पुरुषो दृष्ट्वा चोत्तमाकृतिमुत्थितः।
विधाय स्वागतं स्वस्मिन्नुपावेशयदासने ॥१६॥
पप्रच्छ चोपविश्याग्रे कः कथं किममानुषाम्।
क्षमामात्मना द्वितीयः सन्निमां प्राप्तो भवानिति ॥१७॥
ततः सोऽपि स्ववृत्तान्तं निवेद्य नमशेषतः।
नरवाहनदत्तस्तं प्रह्वं पप्रच्छ पूरुषम् ॥१८॥
कस्त्वं किं चेदमाश्चर्यं पुरं ते भद्र कथ्यताम्।
तच्छ्रुत्वा स पुमान्वक्तुं स्वोदन्तमुपचक्रमे ॥१९॥

राज्यधररथकारस्य कथा

अस्ति काञ्चीति नगरी गरीयोगुणगुम्फिता।
काञ्चीव वसुधावध्वाः सदलङ्कृतितां गता ॥२०॥

गोमुख से इस प्रकार प्रोत्साहित नरवाहनदत्त, गोमुख के साथ जल्दी-जल्दी रास्ता चलने लगा ॥७॥

और, चलते-चलते क्रमशः समुद्र तट पर स्थित पर्वताकार अट्टालिकाओं, गलियों एवं नगर-द्वारों तथा सुमेरु के समान सोने के राजभवनों से युक्त, विशाल विस्तारवाले नये भू-मण्डल के समान नगर में पहुँचा ॥८-९॥

उस नगर में बाजार के रास्ते से घुसकर जाते हुए उसने सब कुछ लकड़ी का बना हुआ और सजीव प्राणी के समान चेष्टा करता हुआ देखा ॥१०॥

बनिया, वेश्याएँ, नागरिक आदि सभी आश्चर्यकारक थे। वे करते सब कुछ थे, किन्तु बोल न सकने के कारण निर्जीव मालूम पड़ते थे ॥११॥

नरवाहनदत्त, गोमुख के साथ हाथी घोड़े आदि देखता हुआ क्रमशः उस नगर के राजभवन के समीप जा पहुँचा ॥१२॥

और, उस सुवर्णमय नगर के मस्तक के समान शोभित उस राजभवन में अत्यधिक आश्चर्य के साथ अन्दर गया ॥१३॥

जिसमें यन्त्र के बने हुए पहरेदार, वेश्याएँ आदि यथावश्यक भरे हुए थे और उनके मध्य इन्द्रियों का संचालन करनेवाले, आत्मा के समान उन सभी जड़ पदार्थों का संचालन करनेवाले सबके अधिष्ठाता के रूप में रत्न-सिंहासन पर बैठे हुए भव्य पुरुष को देखा ॥१४-१५॥

उस पुरुष ने भी अच्छी आकृति देखकर नरवाहन दत्त उच्चकोटि का पुरुष समझा और स्वागत करके आसन पर बिठाया ॥१६॥

और सामने बैठकर पूछा कि 'तुम कौन हो और एक व्यक्ति के साथ मनुष्यों से अगम्य इस भूमि में कैसे पहुँचे?' ॥१७॥

तब नरवाहनदत्त ने भी अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त कहकर उस पुरुष से नम्रतापूर्वक पूछा—॥१८॥

'तुम कौन हो? और यह आश्चर्यमय तुम्हारा नगर कैसा है?' यह सुनकर उस व्यक्ति ने अपना वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया ॥१९॥

राज्यधर बढ़ई की कथा

बड़े अच्छे गुणों से गुथी गई और वसुधा-वधू की कांची (करधनी) के समान अलंकार-रूप कांची नाम की एक नगरी है ॥२०॥

तस्यां बाहुबलाख्योऽस्ति काञ्च्यां ख्यातो महीपतिः ।
कोषे बद्धा कृता येन चलापि श्रीर्भुजार्जिता ॥२१॥
तस्य राष्ट्रे नृपस्यावां तक्षाणौ भ्रातरावुभौ ।
मयप्रणीतदार्वादिमायायन्त्रविचक्षणौ ॥२२॥
ज्येष्ठः प्राणधरो नाम वेश्याव्यसनविप्लुतः ।
अहं कनिष्ठस्तद्भक्तो नाम्ना राज्यधरः प्रभो ॥२३॥
तेन भुक्त्वा धनं पित्र्यं मद्भर्त्रा स्वं च किञ्चन ।
भुक्तं मदर्पितमपि स्नेहार्द्रेणार्पितं मया ॥२४॥
ततोऽपि सोऽतिव्यसनो वेश्यार्थार्थजिहीर्षया ।
रज्जुयन्त्रवहं दारुमयं हंसयुगं व्यधात् ॥२५॥
तद्धंसयुगलं रज्जुघट्टनप्रेरितं निशि ।
राज्ञो बाहुबलस्यात्र कोशाद्यन्त्रप्रयोगतः ॥२६॥
गवाक्षेण प्रविश्यान्तश्चञ्च्वा पटल्कं स्थितम् ।
आदायाभरणं तस्य मद्भ्रातुर्गृहमागमत् ॥२७॥
तच्च विक्रीय सोऽभुङ्क्त मज्ज्येष्ठः सह वेश्यया ।
तथैवाहर्निशं कोषममुष्णात् स च भूपतेः ॥२८॥
वार्यमाणोऽपि च मया नाकार्याद्व्यरमत्ततः ।
को हि मार्गममार्गं वा व्यसनान्धो निरीक्षते ॥२९॥
तथा च मुष्यमाणेऽपि रात्रिष्वचलितार्गले ।
निर्मूषके राजगञ्जे दिनानि कतिचिद् भयात् ॥३०॥
विचिन्वन् प्रत्यहं तूष्णीं परितप्तोऽधिकाधिकम् ।
तद्भाण्डागारिको गत्वा स्फुटं राज्ञे न्यवेदयत् ॥३१॥
राजापि तं तथान्यांश्च रक्षकान् जाग्रतो निशि ।
कोषान्तः स्थापयामास तत्र तत्त्वमवेक्षितुम् ॥३२॥
ते निशीथे प्रविष्टौ तौ गवाक्षेणात्र रक्षकाः ।
मद्भ्रातृयन्त्रहंसौ द्वावपश्यन् रज्जुघट्टितौ ॥३३॥
यन्त्रयुक्तिपरिभ्रान्तौ चञ्चूपात्तविभूषणौ ।
छिन्नरज्जू अगृह्णंश्च राज्ञे दर्शयितुं प्रगे ॥३४॥
तत्कालं च स मद्भ्राता ज्येष्ठोऽवादीत्ससंभ्रमः ।
भ्रातर्गृहीतौ हंसौ द्वौ मदीयौ गञ्जरक्षिभिः ॥३५॥

उस कांची में बाहुबल नाम का प्रसिद्ध राजा है, जिसने अपनी भुजाओं के बल से उपार्जित चंचला लक्ष्मी को भी अपने कोष (खजाने) में बाँध रखा है ।।२१।।

उस राजा के राज्य में मयदानव से आविष्कृत यन्त्रों के निर्माण में कुशल हम दो बढ़ई भाई रहते थे ।।२२।।

प्राणधर नाम का बड़ा भाई वेश्या-व्यसन में प्रसिद्ध था। उसका भक्त छोटा भाई मैं राज्यधर नाम से प्रसिद्ध हूँ ।।२३।।

मेरे बड़े भाई ने अपनी कमाई के तथा पिता के धन को खा डाला और कुछ मेरे द्वारा स्नेह से दिये गये धन को भी उड़ा दिया ।।२४।।

तो भी अत्यन्त व्यसनी उसने, वेश्या के लिए धन हरण करने के लिए रस्सी से बंधे हुए काठ के हंसों की जोड़ी बनाई ।।२५।।

वे हंस रस्सी के हिलाने से रात को राजा के खजाने में रोशनदान से अन्दर घुसकर अपनी चोंच से पेटियों में रखे हुए आभूषणों को यन्त्र के द्वारा अपने मालिक (मेरे भाई) के पास ले आते थे ।।२६-२७।।

मेरा बड़ा भाई उन आभूषणों को बेचकर उस धन को वेश्या के साथ भोगता था ।।२८।।

मेरे बहुत मना करने पर भी वह इस अनुचित कार्य से रुका नहीं। व्यसनों में अन्धा कौन भले या बुरे मार्ग को देखता है ।।२९।।

इस प्रकार रात में दृढ़ता से बन्द किये गये और चूहों से रहित उस गोदाम में चोरी होने के कारण कुछ दिनों के अनन्तर भाण्डार का अधिकारी, भय से सर्वदा इस चोरी का पता लगाने की चिन्ता में अत्यन्त सन्तप्त और दुःखी हो गया, और उसने राजा के समीप जाकर स्पष्ट रूप से निवेदन कर दिया ।।३०-३१।।

राजा ने भाण्डारी तथा अन्यान्य सिपाहियों को रात में चोरी का पता लगाने के लिए नियुक्त कर दिया। उन रखवालों ने रात को यन्त्र से बने हुए और रस्सी से बँधे हंसों को रोशनदान से घुसते हुए और माल उठाते हुए देख लिया और उन्हें पकड़ लिया। रखवाले ने यन्त्र की युक्ति से घूमनेवाली चोंचों में गहना लटकाये हुए और टूटी हुई रस्सीवाले उन हंसों को प्रातः काल राजा को दिखाने के लिए पकड़ रखा ।।३२-३४।।

उसी समय मेरे भाई ने घबराये हुए आकर मुझसे कहा कि गोदाम के रखवालों ने मेरे हंसों को पकड़ लिया है ।।३५।।

रज्जुर्हि शिथिलीभूता यन्त्रे स्रस्ता च कीलिका।
तस्मादितोपसर्त्तव्यमधुनैवावयोर्द्वयोः ॥३६॥
चौराविति निगृह्णीयात् प्रातर्बुद्ध्वा नृपो हि नौ।
आवामेव हि विख्यातौ मायायन्त्रविदावुभौ ॥३७॥
वातयन्त्रविमानं च तन्ममास्तीह मङ्क्षु यत्।
योजनाष्टशतो याति सकृत् प्रहृतकीलिकम् ॥३८॥
तेन दूरं व्रजावोऽद्य विदेशमपि दुःखदम्।
पापे कर्मण्यवज्ञाते हितवाक्ये कुतः सुखम् ॥३९॥
यन्मया न कृतं वाक्यं तव दुष्कृतबुद्धिना।
तस्यैष पाकः प्रसृतो योऽयं त्वय्यप्यपापिनि ॥४०॥
एवमुक्त्वा समारोहद्विमानं व्योमगामि तत्।
स मे प्राणधरो भ्राता तदैव सकुटुम्बकः ॥४१॥
अहं तूक्तोऽपि तेनात्र नारोहं वहृभिर्वृते।
ततस्तेन खमुत्पत्य स प्रायात् क्वापि दूरतः ॥४२॥
गते प्राणधरे तस्मिन्नहमन्वर्थनामनि।
प्रभाते भावि सम्भाव्य राजतो भयमेककः ॥४३॥
आरुह्य स्वकृतेऽन्यस्मिन् वातयन्त्रविमानके।
द्रुतं ततो गतोऽभूवं योजनानां शतद्वयम् ॥४४॥
प्रेरितेन पुनस्तेन विमानेन खगामिना।
ततोऽपि योजनशतद्वयमन्यदगामहम् ॥४५॥
ततः समुद्रनैकट्यशङ्कात्यक्तविमानकः।
पद्भ्यां व्रजन्निह प्राप्तः शून्यं पुरमिदं क्रमात् ॥४६॥
कौतुकाच्च प्रविष्टोऽहं देवेदं राजमन्दिरम्।
वस्त्राभरणशय्यादिराजोपकरणान्वितम् ॥४७॥
सायं चोद्यानवाप्यम्भः स्नातो भुक्त्वा फलान्यहम्।
राजशय्यागतो रात्रावेकाकी समचिन्तयन् ॥४८॥
निर्जने किं करोमीह तत् प्रातर्यत्र कुत्रचित्।
व्रजामीतो गतं मे हि भयं वाहुबलान्नृपात् ॥४९॥
इति सञ्चिन्त्य संसुप्तं निशान्ते दिव्यरूपधृत्।
पुरुषो बर्हिणारूढः स्वप्ने मामेवमभ्यधात् ॥५०॥

क्योंकि रस्सी ढीली हो गई है और यन्त्र की कील भी खिसक गई, इसलिए अब हम दोनों को अभी ही यहाँ से हट जाना चाहिए ॥३६॥

क्योंकि, प्रातःकाल राजा हम दोनों को चोर समझकर मरवा डालेगा, इसलिए कि हम दोनों ही यहाँ ऐसे कूटयन्त्रों को बनानेवाले और जाननेवाले प्रसिद्ध कारीगर हैं ॥३७॥

मेरे पास जो मायामय यन्त्रोंवाला विमान (आकाश-यान) है, वह एक बार चाभी देने से बत्तीस कोस तक जाता है ॥३८॥

उसके द्वारा हम लोग दुःखदायी विदेश में भी जा सकते हैं। बुरे काम में हितैषी के हित वाक्य न मानने से सुख कहाँ मिल सकता है? उस मेरा हित चाहनेवाले तुम्हारे बहुत मना करने पर भी पापबुद्धि मैंने तुम्हारी बात नहीं मानी, उसी पाप का यह फल, निष्पाप तुम्हें भी भोगना पड़ा ॥३९-४०॥

ऐसा कहकर मेरा बड़ा भाई प्राणधर अपने कुटुम्ब के साथ दूर जानेवाले विमान पर चढ़ गया ॥४१॥

उसके कहने पर भी बहुत लोगों से भरे हुए उस विमान पर मैं नहीं बैठा। इस आशंका से कि वह विमान आकाश में उड़कर कहीं दूर न चला जाय ॥४२॥

यथार्थ नामवाले उस प्राणधर के चले जाने पर एकाकी मैं भी प्रातःकाल ही से अपने बनाये हुए वायुयन्त्रवाले विमान से शीघ्र ही आठ सौ कोस दूर राजा के भय आगा ॥४३-४४॥

उस आकाश-यान में पुनः चाभी भरकर मैं और भी दो कोस दूर चला आया ॥४५॥

तब समुद्र की समीपता की शंका से विमान को छोड़कर पैरों से चलता-चलता इस सूने नगर मे आ गया ॥४६॥

देखते-देखते मैं वस्त्र, आभूषण, शय्या आदि साज-सामान से सजे हुए उस राजमन्दिर में आया। सायंकाल बाग की बावलीमें नहाकर और फलों को खाकर राजा के पलंग पर सोया हुआ अकेला मैं सोचने लगा—॥४७-४८॥

कि मैं इस निर्जन नगर में क्या करूँगा। प्रातःकाल उठकर कहीं इधर-उधर देखूँगा। अब राजा के बाहुबल से तो मुझे भय नहीं रहा ॥४९॥

ऐसा सोचकर सोये हुए मुझसे प्रातःकाल के समय मोर पर चढ़े हुए किसी पुरुष ने इस प्रकार कहा—॥५०॥

इहैव भद्र वस्तव्यं गन्तव्यं नान्यतस्त्वया।
आहारकाले चारुह्य स्थातव्यं मध्यमे पुरे॥५१॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन् प्रबुद्धोऽहमचिन्तयम्।
कुमारनिर्मितमिदं दिव्यस्थानं सुनिश्चितम्॥५२॥
कृतश्च तेन मे स्वप्ने पूर्वपुण्यैरनुग्रहः।
उत्थितोऽस्मीह नूनं हि श्रेयोऽस्ति वसतोऽत्र मे॥५३॥
इति बद्धास्थमुत्थाय कृत्वाह्निकमहं स्थितः।
आरुह्य यावदाहारकालेऽस्मिन् मध्यमे पुरे॥५४॥
तावद्धिरण्मयेष्वग्रेपात्रेषूपनतेषु मे।
अपतत् स्वादघृतक्षीरशालिभक्तादिभोजनम्॥५५॥
चिन्तितं चिन्तितं चान्यन्मम भोज्यमुपागमत्।
तद्भुक्त्वा चाहमभवं देवातीवेह निर्वृतः॥५६॥
ततो गृहीतैव मया स्थितिरस्मिन् पुरे प्रभो।
चिन्तितोपनमद्राजभोगेन प्रतिवासरम्॥५७॥
भार्या परिच्छदो वा मे चिन्तितस्तु न तिष्ठति।
तेन यन्त्रमयोऽत्राऽयं जनः सर्वः कृतो मया॥५८॥
इतीहागत्य तक्षापि देवैकार्का करोम्यहम्।
राज्ञो लीलायितुं राज्यधरो नाम विधेर्वशात्॥५९॥
तद्दैवनिर्मितेऽमुष्मिन् भवन्तोऽद्य पुरे दिनम्।
विश्राम्यन्तु यथाशक्ति परिचर्यापरे मयि॥६०॥
इत्युक्त्वा तत्पुरोद्यानं तेन राज्यधरेण सः।
नरवाहनदत्तोऽत्र नीयते स्म स गोमुखः॥६१॥
तत्र वापीजलस्नातो वारिजार्चितधूर्जटिः।
तां मध्यमपुराहारभूमिं च प्रापितोऽभवत्॥६२॥
बुभुजे तत्र चाहारान् ध्यातोपस्थापिताञ्शुभान्।
तेन राज्यधरेणाग्रस्थितेन स समन्त्रिकः॥६३॥
ततः केनाप्यदृष्टेन प्रमृष्टाहारभूमिकः।
अनु ताम्बूलभोगं स तस्थौ पीतासवः सुखम्॥६४॥
अथ चिन्तामणिप्रख्यपुरमाहात्म्यविस्मितः।
भुक्ते राज्यधरे नक्तं स भेजे शयनोत्तमम्॥६५॥

'हे भद्र ! तुम्हें यहीं रहना चाहिए और भोजन के समय राजभवन के मध्यम (बिचले) खंड में जाना चाहिए' ॥५१॥

ऐसा कहकर उसके अन्तर्धान होने पर मैंने सोचा कि निश्चय ही यह दिव्य स्थान कात्तिकेय स्वामी का बनाया हुआ है ॥५२॥

मेरे पूर्वजन्म के पुण्य प्रभाव से उन्होंने स्वप्न में मुझ पर कृपा की है। अतः, यहाँ रहने से अवश्य ही मेरा कल्याण है ॥५३॥

ऐसा विश्वास रखकर मैं उठा और दैनिक कृत्यों से निबटकर बैठा और भोजन के समय गिर गया ॥५४॥

इसी प्रकार, मैं बिचले खंड में चढ़ा। वहाँ जाते ही सोने के बरतनों में आकाश से दूध-भात आदि दिव्य जो-जो भी भोजन सोचता था, वह-वह भोजन मुझे प्राप्त हो जाता था। महाराज ! मैं उस भोजन को खाकर अत्यन्त सुखी हो गया ॥५५-५६॥

हे प्रभु ! तभी से मैं इस नगर में इच्छा करते ही प्राप्त होनेवाले स्त्री, नौकर-चाकर और राजकीय भोगों से सुखी रहकर निवास करने लगा ॥५७-५८॥

हे महाराज ! इस प्रकार मैं बढ़ई होकर भी दैववश राज्यधर नाम धारण करके राजाओं की-सी लीला कर रहा हूँ ॥५९॥

इसलिए हे महाराज ! आज दिन आप लोग मेरे निर्मित इस नगर में विश्राम करें मैं यथाशक्ति आपकी सेवामें तत्पर हूँ ॥६०॥

ऐसा कहकर वह राज्यधर, गोमुख मन्त्री के साथ नरवाहनदत्त को उस नगर के उद्यान में ले गया ॥६१॥

वहाँ पर बावली के जल में स्नान करके और शिव की पूजा करके उस नरवाहनदत्त को उस भवन के बिचले खण्ड में पहुँचा दिया गया और वहाँ बैठकर नरवाहनदत्त ने मन्त्री गोमुख के साथ ध्यान करते ही तुरन्त उपस्थित होनेवाले आहार से तृप्ति प्राप्त की। राज्यधर भी साथ ही उपस्थित था ॥६२॥

तदनन्तर, किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा उस स्थान के स्वच्छ किये जाने पर नरवाहनदत्त मद्य-पान करके और पान चबाकर आराम करने लगा ॥६३॥

तदनन्तर, राज्यधर के भोजन कर लेने पर उस चिन्तामणिनगर की महिमा से चकित नरवाहनदत्त ने निद्रा ली ॥६४॥

कर्पूरिका की प्राप्ति की उत्सुकता के कारण निद्रा न आने से उनींदे नरवाहनदत्त को लेटे-लेटे राज्यधर ने कहना प्रारम्भ किया—॥६५॥

कर्पूरिकानवौत्सुक्यविनिद्रं चात्र तत्कथाम्।
पृच्छन्तमब्रवीद्राज्यधरोऽथ शयनस्थितः ॥६६॥
किं न निद्रासि कल्याणिन्प्राप्स्यस्येवेप्सितां प्रियाम्।
उदारसत्त्वं वृणुते स्वयं हि श्रीरिवाङ्गना ॥६७॥
प्रत्यक्षदृष्टमत्रेदं तथा च शृणु वच्मि ते।
यः स काञ्चीपतिर्बाहुबलो राजा मयोदितः ॥६८॥

अर्थलोभस्य मानपरायाश्च कथा

तस्यान्वर्थोऽर्थलोभाख्यः प्रतीहारोऽर्थवानभूत्।
तस्य मानपरा नाम भार्याभूद्रूपशालिनी ॥६९॥
सोऽर्थलोभो वणिग्धर्मात्लोभाद् भृत्येष्वविश्वसन्।
वणिज्याव्यवहारेषु मध्ये भार्यां न्ययुङ्क्त ताम् ॥७०॥
सानिच्छन्त्यपि तद्वश्या वणिग्भिः संव्यवाहरत्।
मधुरेणाहृतजना रूपेण वचनेन च ॥७१॥
गजाश्वरत्नवस्त्रादिविक्रयं यं व्यधत्त सा।
तं तं सोपचयं दृष्ट्वा सोऽर्थलोभोऽन्वमोदत ॥७२॥
एकदा चात्र कोऽप्यागाद् दूराद्देशान्तराद्वणिक्।
महान्सुखधनो नाम प्रभूताश्वादिभाण्डभृत् ॥७३॥
तं बुद्ध्वैवागतं भार्यामर्थलोभोऽब्रवीत्स ताम्।
वणिक्सुखधनो नाम प्राप्तो देशान्तरादिह ॥७४॥
प्रिये वाजिसहस्राणि तेनानीतानि विंशतिः।
चीनदेशजसद्वस्त्रयुग्मान्यगणितानि च ॥७५॥
तद्गत्वाश्वसहस्राणि पञ्च तस्मात्त्वमानय।
क्रीत्वा सद्वस्त्रयुग्मानां सहस्राणि तथा दश ॥७६॥
यावदश्वसहस्रैः स्वैस्तथा तैश्चापि पञ्चभिः।
करोमि दर्शनं राज्ञो वणिज्यां विदधामि च ॥७७॥
एवमुक्त्वार्थलोभेन प्रेषिता तेन पाप्मना।
आगान्मानपरा तस्य पार्श्वं सुखधनस्य सा ॥७८॥
मार्गति स्म च मूल्येन तान्वस्त्रसहितान्हयान्।
रचितस्वागतात्तस्मात्तद्रूपाहृतचक्षुषः ॥७९॥
स च तां कामविवशो नीत्वैकान्तेऽब्रवीद्वणिक्।
मूल्येन वस्त्रमेकं ते हयं वा न ददाम्यहम् ॥८०॥

'राजन् ! सोते क्यों नहीं ? आप अपनी ईप्सित प्रियतमा कर्पूरिका को अवश्य प्राप्त करोगे। क्योंकि, लक्ष्मी के समान स्त्री भी उदार हृदयवाले का वरण करती है ॥६६-६७॥

यह बात हमने स्वयं ही प्रत्यक्ष रूप से देखी है। जिसे मैं कहता हूँ सुनो—

मानपरा और अर्थलोभ की कथा

कांची नगरी के बाहुबल नामक राजा जिसके विषय में मैंने तुमसे कहा है, का अर्थलोभ नाम का एक धनी दरबारी था। उसकी मानपरा नामकी सुन्दरी रूपवती स्त्री थी ॥६८-६९॥

वह लोभी बनिया, मुनीम या अन्य नौकरों को बीच में न रखकर व्यापार-वाणिज्य के कार्यों में अपनी स्त्री को ही रखता था ॥७०॥

उसकी पत्नी, इस कार्य को न चाहती हुई भी उसकी इच्छा से विवश होकर अपने मधुर रूप, भाषण और व्यवहार से मनुष्यों को आकृष्ट कर उसका व्यापार चलाती थी ॥७१॥

वह सुन्दरी हाथी, घोड़े, रत्न आदि के विक्रय से प्रचुर धन कमाती थी और उसका पति उसकी प्रशंसा करता था ॥७२॥

एक बार, किसी दूर देश से सुखधन नाम का एक बड़ा धनी व्यापारी घोड़े आदि माल लेकर कांची में बेचने के लिए आया ॥७३॥

उसे आया हुआ देखकर उस लोभी अर्थलोभ ने कमाई के लोभ से अपनी पत्नी से कहा—'सुखधन नाम का बनिया दूर देश से यहाँ आया है ॥७४॥

हे प्यारी ! वह बीस हजार चीनी घोड़े और तरह-तरह के अनगिनत चीनी कपड़े लाया है ॥७५॥

इसलिए, तू उसके पास जाकर पाँच हजार घोड़े और दस हजार कपड़ों के जोड़े खरीद ले ॥७६॥

तब मैं उन हजारों घोड़ों और कपड़ों को लेकर राजा का दर्शन करके उससे व्यापार करूँ' ॥७७॥

ऐसा कहकर उस पापी अर्थलोभ के द्वारा भेजी गई मानपरा सुखधन के पास पहुँची और उसने बीस हजार घोड़ों और कपड़ों की माँग की ॥७८॥

उसे सुन्दरी देखकर कामातुर बनिया सुखधन एकान्त में ले जाकर बोला—'दाम लेकर तो मैं तुम्हें एक भी घोड़ा या एक भी वस्त्र न दूँगा ॥७९-८०॥

वत्स्यस्येकां निशां साकं मया चेत्तद्ददामि ते।
शतानि वाजिनां पञ्च सहस्राणि च वाससाम् ॥८१॥
इत्युक्त्वा सोऽधिकेनापि तां प्रार्थयत सुन्दरीम्।
स्त्रीष्वनर्गलचेष्टासु कस्येच्छा नोपजायते ॥८२॥
ततः सा प्रत्यवोचत्तमेवं पृच्छाम्यहं पतिम्।
अत्रापि हि स जाने मां प्रेरयेदतिलोभतः ॥८३॥
इत्युक्त्वा स्वगृहं गत्वा पत्यै तस्मै तदब्रवीत्।
यदुक्ता तेन वणिजा रहः सुखधनेन सा ॥८४॥
सोऽथ पापोऽर्थलोभस्तां कीनाशः पतिरब्रवीत्।
प्रिये वस्त्रसहस्राणि पञ्च वाजिशतानि च ॥८५॥
एकया यदि लभ्यन्ते रात्र्या दोषस्तदत्र कः।
तद्गच्छ पार्श्वं तस्याद्य प्रभाते द्रुतमेष्यसि ॥८६॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य भर्तुः कापुरुषस्य सा।
हृदि मानपरा जातविचिकित्सा व्यचिन्तयत् ॥८७॥
दारविक्रयिणं पापं हीनसत्त्वं धिगस्त्विमम्।
लोभभावनया नित्यं बत तन्मयतां गतम् ॥८८॥
वरं स एव भर्ता मे यो मामश्वशतैर्निशाम्।
चीनपट्टसहस्रैश्च क्रीणात्येकामुदारधीः ॥८९॥
इत्यालोच्य न मे दोष इत्यनुज्ञाप्य तं ततः।
कुभर्तारमगात्तस्य गृहं सुखधनस्य सा ॥९०॥
स च तामागतां दृष्ट्वा पृष्ट्वा बुद्ध्वा च तत्तथा।
चित्रीयमाणस्तत्प्राप्तेरमंस्तात्मनि धन्यताम् ॥९१॥
प्राहिणोच्चार्थलोभाय तस्मै तत्पतये द्रुतम्।
तच्छुल्कभूतानश्वांश्च वस्त्राणि च यथोदितम् ॥९२॥
उवास च तया साकं पूर्णकामः स तां निशाम्।
मूर्तयेव चिरप्राप्तनिजसम्पत्फलश्रिया ॥९३॥
प्रातश्चाह्वायकान्भृत्यानर्थलोभेन निस्त्रपम्।
क्लीबेन तेन प्रहितान्साथ मानपराऽब्रवीत् ॥९४॥

यदि तू एक रात मेरे साथ रहे, तो एक सौ घोड़े और पाँच हजार कपड़े बिना मूल्य भेंट कर दूँगा' ॥८१॥

ऐसा कहकर उसे सकुचाती देखकर उसने और अधिक भी देने का आश्वासन दिया। क्योंकि, स्वतन्त्र स्त्री की चेष्टा की ओर किसका आकर्षण नहीं होता ॥८२॥

तब वह सुन्दरी उससे बोली कि 'मैं अपने पति से पूछती हूँ। मैं समझती हूँ कि वह अत्यन्त लोभ के कारण यह मुझे इस कार्य के लिए भी प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करेगा'। ॥८३॥

ऐसा कहकर और अपने घर जाकर उसने अपने पति से वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया, जो सुखधन नामक बनिया ने उससे एकान्त में कहा था ॥८४॥

यह सुनकर अर्थलोभी पिशाच बोला—'प्रिये ! यदि एक रात में पाँच हजार वस्त्र और पाँच सौ चीनी घोड़े मिलते हैं, तो क्या दोष है ? तू उसके पास जा और सबेरे जल्दी ही आ जाना ॥८५-८६॥

अर्थपिशाच पुरुष पति के वचन सुनकर मानपरा सन्देह-मग्न होकर सोचने लगी—'स्त्री को बेचनेवाले इस पापी नीच पति को धिक्कार है, जो लोभ की भावना से तन्मय हो गया ॥८७-८८॥

इससे तो वही मेरा समुचित पति है, जो पाँच सौ घोड़ों और पाँच हजार वस्त्र के जोड़ों से मुझे एक रात के लिए खरीद रहा है। इस कारण मेरा वास्तविक पति वही ठीक है'—ऐसा सोचकर और नीच पति की आज्ञा लेकर वह सुखधन के पास चली गई ॥८९-९०॥

सुखधन भी उसे आई हुई देखकर और पूछकर चकित हुआ और उसके आगमन से उसने अपने-आप को धन्य माना ॥९१॥

सुखधन ने उसके आगमन से प्रसन्न होकर उसके पति के पास तुरन्त उस रमणी के शुल्क के रूप में बहुत-से घोड़े और वस्त्र भेज दिये, जो देने के लिए कहे थे ॥९२॥

और, सारी रात सुख से उस स्त्री के साथ रहा, मानों वह सुन्दरी उसकी सम्पत्ति के फल-रूप में मिली थी ॥९३॥

प्रातःकाल ही उस नपुंसक अर्थलोभ से उसे बुलाने के लिए भेजे गये नौकरों से मानपरा ने कहा—॥९४॥

विक्रीता सङ्गतान्येन भूत्वा तस्य कथं पुनः।
भार्या भवामि निर्लज्जः स यथा किमहं तथा ॥९५॥
यूयमेव मम ब्रूत यद्येतच्छोभतेऽधुना।
तद्यात येन क्रीतास्मि स एव हि पतिर्मम ॥९६॥
इत्युक्तास्ते तया भृत्यास्ततो गत्वा तथैव तत्।
अब्रुवन्नर्थलोभाय वाक्यं तस्या अधोमुखाः ॥९७॥
स तच्छ्रुत्वा बलादैच्छादानेतुं तां नराधमः।
ततो हरबलो नाम वयस्यस्तमभाषत ॥९८॥
न सा सुखधनात्तस्मादानेतुं शक्यते त्वया।
प्रवीरस्य न तस्याग्रे तव पश्यामि धीरताम् ॥९९॥
स हि त्यागानुरागिण्या नार्या शूरीकृतस्तया।
बली च बलिभिश्चान्यैर्युक्तो मित्रैः महागतः ॥१००॥
त्वं तु कार्पण्यविक्रीतविविक्तदयितोज्झितः।
अवमाननिरुत्साहो गर्हितः क्लीवतां गतः ॥१०१॥
न च स्वतो बली तादृङ न च मित्रबलान्वितः।
तत्कथं त्वं समर्थः स्यास्तस्य प्रत्यर्थिनो जये ॥१०२॥
राजा च कुप्येद् बुद्ध्वा ते दारविक्रयदुष्कृतम्।
तत्तूष्णीं भव भूयोऽपि मा कृथा हास्यविभ्रमम् ॥१०३॥
इति सख्या निषिद्धोऽपि क्रोधाद् गत्वा ससैनिकः।
यावद् रुणद्ध्यर्थलोभो गृहं सुखधनस्य सः ॥१०४॥
तावत्तस्य समित्रस्य सैन्यैः सुखधनस्य तत्।
सैन्यं तदीयं निर्गत्य कृत्स्नं भग्नमभूत्क्षणात् ॥१०५॥
ततः पलायितः प्रायात्सोऽर्थलोभो नृपान्तिकम्।
दाराः सुखधनाख्येन वणिजा देव मे हृता ॥१०६॥
इति व्यजिज्ञपच्चात्र नृपं निह्नुतदुर्नयः।
नृपोऽप्यैच्छदवष्टब्धुं स तं सुखधनं रुषा ॥१०७॥
ततः सन्धाननामा तं मन्त्री राजानमब्रवीत्।
यथा तथा न शक्योऽसाववष्टब्धुं वणिक्प्रभो ॥१०८॥
तस्यैकादशभिर्मित्रैः सहायातैर्युतस्य हि।
लक्षमभ्यधिकं देव वर्त्तते वरवाजिनाम् ॥१०९॥

'जब अर्थलोभ ने मुझे दूसरे के हाथ बेच दिया, मूल्य देकर मुझे खरीद लिया गया, तब मैं अब उस अर्थलोभ की भार्या कैसे हूँ? जैसा वह निर्लज्ज है, क्या मैं भी वैसी ही निर्लज्ज हूँ? ॥९५॥

आपलोग ही मुझे कहिए कि क्या यह कोई अच्छी बात है? तो अब आप लोग जाइए। जिसने मुझे खरीदा है, वही मेरा पति है' ॥९६॥

मानपरा से इस प्रकार कहे गये दूतों ने लौटकर अर्थलोभ से नीचा मुँह किये हुए सभी सन्देश उसी प्रकार सुना दिया ॥९७॥

यह सुनकर उस नराधम अर्थलोभ ने बलपूर्वक अपनी पत्नी को सुखधन के घर से लाने की इच्छा प्रकट की, तब हरबल नामक उसके मित्र ने कहा—॥९८॥

'सुखधन से छीनकर तुम अपनी स्त्री को नहीं ला सकते। उस वीर के आगे तुम्हारी धीरता मैं नहीं देखता ॥९९॥

उसे त्याग की अनुरागिणी तुम्हारी भार्या ने शूरवीर बना दिया है, वह बलवान् है और अनेक बलवान् मित्रों के साथ है। और, तू तो कंजूसी के कारण बेच दी गई पत्नी से विरहित और अपमान से निरुत्साह होकर नपुंसक बन चुका है। न स्वयं उसके समान बलवान् है। और न तेरे मित्र ही बलवान् है। इसलिए उस शत्रु को जीतने में तू कैसे समर्थ हो सकता है?॥१००-१०२॥

स्त्री-विक्रय-रूप तुम्हारे कुकृत्य को सुनकर राजा भी क्रोध करेगा। इसलिए चुप रहो। व्यर्थ हँसी के पात्र बनने का यत्न न करो' ॥१०३॥

इस प्रकार, मित्र से रोका गया भी अर्थलोभ, क्रोध से भरकर अपने सिपाहियों को लेकर सुखधन पर चढ़ाई कर दी और उसे घेर लिया॥१०४॥

तब मित्रों के साथ सुखधन की सेना के सामने अर्थलोभ की सेना क्षण-भर में भाग खड़ी हुई ॥१०५॥

तब वह अर्थलोभ भागकर तुरन्त राजा के समीप जा पहुँचा और बोला—'महाराज! सुखधन नामक बनिया ने मेरी स्त्री का अपहरण कर लिया' ॥१०६॥

इस प्रकार, अपने कुकृत्यों को छिपाकर उसने राजा से निवेदन किया, तो राजा ने क्रोध से सुखधन को पकड़वाने की इच्छा की ॥१०७॥

तब राजा का संधान नामक मन्त्री बोला—'स्वामी! उस बनिया को वैसे ही पकड़ा नहीं जा सकता। ग्यारह मित्रों के साथ आये हुए उसके पास एक लाख से अधिक अच्छे-अच्छे घोड़े हैं। और, इस विषय का वास्तविक तत्त्व भी आपने नहीं जाना ॥१०८-१०९॥

तत्त्वं च नात्र विज्ञातं नह्येतत्स्यादकारणम्।
तत्प्रेष्य दूतं प्रष्टव्यः किं तावत्सोऽत्र जल्पति ॥११०॥
इति मन्त्रिवचः श्रुत्वा राजा बाहुबलस्ततः।
प्रष्टुं तत्प्राहिणोद्दूतं तस्मै सुखधनाय सः ॥१११॥
स दूतस्तं तदादेशाद् गत्वा यावच्च पृच्छति।
तावन्मानपरा सास्मै स्ववृत्तान्तं तमभ्यधात् ॥११२॥
श्रुत्वैव च तदाश्चर्यं रूपं तस्याश्च वीक्षितुम्।
गृहं सुखधनस्यागात्सार्थलोभो महीपतिः ॥११३॥
तत्रापश्यत्सुखधने प्रह्वे मानपरां स ताम्।
विधातुरपि लावण्यलक्ष्म्या विस्मयदायिनीम् ॥११४॥
पादानतायाः सोऽस्याश्च पृष्टायाश्च स्वयं मुखात्।
अशृणोत्तद्यथावृत्तमर्थलोभस्य शृण्वतः ॥११५॥
श्रुत्वा च मत्वा सत्यं तदर्थलोभे निरुत्तरे।
तामपृच्छत्स सुमुखीं किमिदानीं भवत्विति ॥११६॥
ततः सा निश्चितावादीद्देव येनास्म्यनापदि।
विक्रीतान्यस्य निःसत्त्वं लुब्धं कथमुपैमि तम् ॥११७॥
एतच्छ्रुत्वा नृपे तस्मिन्साधूक्तमिति वादिनि।
अवोचत्सोऽर्थलोभोऽत्र कामक्रोधत्रपाकुलः ॥११८॥
अयं सुखधनो राजन्नहं चानुबलं विना।
युध्यावहे स्वसैन्याभ्यां सत्त्वासत्त्वमवेक्ष्यताम् ॥११९॥
इत्यर्थलोभस्य वचः श्रुत्वा सुखधनोऽभ्यधात्।
तर्हि युध्यावहे ह्यावां द्वावेव किमु सैनिकैः ॥१२०॥
यः प्राप्स्यति जयं मानपरा तस्य भविष्यति।
श्रुत्वैतद् बाढमस्त्वेवमिति राजाऽप्यभाषत ॥१२१॥
ततो मानपरायां च राज्ञि चावेक्षमाणयोः।
युद्धभूमिं हयारूढौ ताववातरतामुभौ ॥१२२॥
प्रवृत्ते चाहवे तत्र कुन्ताघातोत्पतद्धयम्।
अर्थलोभं सुखधनः पर्यास्थद्वसुधातले ॥१२३॥
तथैव वारांस्त्रीनन्यान्हताश्वं पतितं क्षितौ।
धीरयन्धर्मयोधी स न तं सुखधनोऽवधीत् ॥१२४॥

बिना कारण यह घटना कैसे हुई। इसलिए दूत भेजकर सुखधन को बुलवाना चाहिए। देखिए, वह इस विषय में क्या कहता है ?'॥११०॥

मन्त्री की सम्मति मानकर राजा बाहुबल ने सुखधन के पास पूछने के लिए दूत भेज दिया। जब राजा की आज्ञा से दूत ने जाकर उससे पूछा, तब अर्थलोभ की पत्नी मानपरा ने स्वयं सारा समाचार उसे सुनाया॥१११-११२॥

इस आश्चर्यमय वृत्तान्त को सुनकर और मानपरा के रूप को देखने के लिए राजा, अर्थलोभ को साथ लेकर सुखधन के घर पर आया॥११३॥

वहाँ सुखधन के प्रणाम स्वीकार करते हुए उसने मानपरा को देखा, जो अपने लावण्य से ब्रह्मा को भी चकित करनेवाली थी॥११४॥

पैरों पर पड़ी हुई मानपरा ने राजा के पूछने पर, अर्थलोभ के सामने ही, अपना वृत्तान्त स्वयं कहने लगी। उसका कथन सुनकर, उसे सत्य समझकर और अर्थलोभ के चुप हो जाने पर, राजा ने मानपरा से पूछा कि 'हे सुन्दरी ! अब क्या होना चाहिए ? ॥११५-११६॥

तब वह बोली—'महाराज ! जिस लोभी ने बिना किसी आपत्ति या संकट के आये ही मुझे सिर्फ लोभ से बेच डाला, ऐसे लोभी पिशाच के पास फिर कैसे जाऊँ' ? ॥११७॥

यह सुनकर जब राजा ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार किया, तब काम, क्रोध और लज्जा से भरा हुआ अर्थलोभ बोला—॥११८॥

'महाराज ! मैं और सुखधन दोनों किसी अन्य की सहायता के बिना अपनी-अपनी सेना से युद्ध करें। आप दोनों के बलाबल का निरीक्षण करें'॥११९॥

अर्थलोभ की बातों को सुनकर सुखधन बोला—'यदि ऐसा हो, तो सेना की क्या आवश्यकता है। हमी दोनों परस्पर द्वन्द्व-युद्ध करके निपटारा कर लें॥१२०॥

इस द्वन्द्व-युद्ध में जो विजयी होगा, मानपरा उसी की होगी।' यह सुनकर राजा ने भी कहा कि 'ठीक है। यही हो'॥१२१॥

तदनन्तर, राजा और मानपरा के समक्ष, दोनो घोड़े पर चढ़कर युद्ध-भूमि में उतरे। युद्ध में भालों से लड़ते हुए उन दोनों में सुखधन ने अर्थलोभ को भाले की मार से पृथ्वी पर गिरा दिया॥१२२-१२३॥

इसी प्रकार, उसने अर्थलोभ को तीन बार गिराया और उसके घोड़े को मार डाला, किन्तु धार्मिक सुखधन ने अर्थलोभ को प्राणों से वियुक्त नहीं किया॥१२४॥

वारे तु पञ्चमेऽश्वेन पतित्वोपरि ताडितः।
अर्थलोभः स निश्चेष्टस्ततो भृत्यैरनीयत ॥१२५॥
ततः सुखधनं सर्वैः साधुवादाभिपूजितम्।
स तं बाहुबलो राजा यथोचितममानयत् ॥१२६॥
प्राभृतं च तदानीतं तस्मा एव समर्पयत्।
अहरच्चार्थलोभस्य सर्वस्वमशुभार्जितम् ॥१२७॥
तत्पदे चापरं कृत्वा तुष्टः प्रायात्स्वमन्दिरम्।
निवृत्तपापसम्पर्काः सन्तो यान्ति हि निर्वृतिम् ॥१२८॥
सोऽपि प्रसह्य विहरन्नासीत्सुखधनः सुखम्।
सहितो मानपरया भार्यया चानुरक्तया ॥१२९॥
एवं दाराः पलायन्ते हीनसत्त्वाद्धनानि च।
ससत्त्वस्योपतिष्ठन्ते स्वयमेत्य यतस्ततः ॥१३०॥
तदलं चिन्तया निद्रां भजस्व नचिरेण हि।
राजपुत्रीमवाप्तासि त्वं तां कर्पूरिकां प्रभो ॥१३१॥
इति राज्यधराच्छ्रुत्वा रात्रौ तत्रार्थवद्वचः।
नरवाहनदत्तः स भेजे निद्रां सगोमुखः ॥१३२॥
प्रातश्चात्र कृताहारः क्षणं यावत्स तिष्ठति।
तावत्स गोमुखो धीमांस्तं राज्यधरमभ्यधात् ॥१३३॥
कुरु यन्त्रविमानं तन्मत्प्रभोरस्य येन तत्।
कर्पूरसम्भवपुरं प्राप्य प्राप्नोत्यसौ प्रियाम् ॥१३४॥

नरवाहनदत्तस्य कर्पूरसम्भवद्वीपं प्रस्थितिः

एतच्छ्रुत्वा स तक्षास्मै वातयन्त्रविमानकम्।
नरवाहनदत्ताय पूर्वक्लृप्तमढौकयत् ॥१३५॥
तत्रारुह्य मनःशीघ्रे खगामिनि सगोमुखः।
तद्धैर्यालोकसोल्लासमिवोच्छलितवीचिकम् ॥१३६॥
मकराकरमुल्लङ्घ्य प्राप तत्तीरवर्त्ति सः।
नरवाहनदत्तस्तत्पुरं कर्पूरसम्भवम् ॥१३७॥
तत्रावतीर्णस्त्रिभसो विमानादवरुह्य सः।
पुरान्तः परिबभ्राम कौतुकेन सगोमुखः ॥१३८॥
पृष्टाच्च लोकतो बुद्ध्वा तदेवाभीप्सितं पुरम्।
प्राप्तं निःसंशयं हृष्टो ययौ राजकुलान्तिकम् ॥१३९॥

पाँचवी बार में घोड़े के पैरों से भूमिपर रौंदे गये प्राणहीन अर्थलोभ के शरीर को, उसके दास, युद्धभूमि से उठाकर ले गये ॥१२५॥

तब दर्शकों द्वारा प्रशंसा किये जाते हुए सुखधन का राजा ने भी समुचित सत्कार-सन्मान आदि किया, उसे उपहार प्रदान किया एवं अर्थलोभ की पाप से कमाई हुई सारी सम्पत्ति अधिकृत कर ली ॥१२६-१२७॥

और, उसके स्थान पर दूसरे प्रतिहार की नियुक्ति करके राजा राजभवन को गया। सज्जन व्यक्ति दुष्टजनों के सम्पर्क से दूर रहकर ही सुखी रहते हैं॥१२८॥

वह सुखधन भी प्रेम करनेवाली पत्नी मानपरा के साथ सुखभोग करता हुआ आनन्द से विहार करने लगा ॥१२९॥

इस प्रकार, दुर्बल और नीच हृदयवाले कुत्सित पुरुषों से स्त्रियाँ और धन दूर हो जाते हैं और उदारचेता पुरुषों को इधर-उधर से स्वयं आकर मिलते हैं॥१३०॥

इसलिए, तुम चिन्ता न करो। आनन्द से नींद लो। महाराज! तुम राजकुमारी कर्पूरिका को अवश्य प्राप्त करोगे' ॥१३१॥

नरवाहनदत्त ने राज्यधर से, इस प्रकार रहस्य-युक्त वचन सुनकर गोमुख के साथ नींद ली। प्रातःकाल, जब नरवाहनदत्त, भोजन करके विश्राम कर ही रहा था कि इतने में बुद्धिमान् गोमुख ने राज्यधर से कहा—'तुम मेरे स्वामी के लिए ऐसा यन्त्रमय विमान बनाओ कि वह कर्पूरसंभव द्वीप में पहुँचकर अपनी प्राणप्यारी को पा सके' ॥१३२—१३४॥

नरवाहनदत्त का कर्पूरसंभव द्वीप के प्रति प्रस्थान

तब उस कुशल शिल्पकार ने पहले से ही तैयार किये हुए वायुयन्त्र-विमान को नरवाहनदत्त के लिए तैयार कर दिया ॥१३५॥

मनके समान शीघ्र चलनेवाले उस विमान पर बैठकर गोमुख के साथ नरवाहनदत्त, अपने धैर्य को देखकर प्रसन्नता से उछलते हुए समुद्र को लाँघकर उसके किनारे पर स्थित कर्पूरसंभव द्वीप में पहुँचा और आकाश से उतरकर कौतुकवश नगर के भीतर भ्रमण करने लगा ॥१३६-१३८॥

लोगों से पूछने पर उसे ठीक कर्पूरद्वीप समझकर और संशय-रहित होकर वह राजभवन समीप पहुँचा ॥१३९॥

तत्रैकं रुचिरं वेश्म वृद्धयाधिष्ठितं स्त्रिया।
स विवेश निवासाय तत्प्रयानुमतस्तया ॥१४०॥
युक्तिं जिज्ञासमानश्च क्षणात्प्रपच्छ तां स्त्रियम्।
आर्ये किमभिधानोऽत्र राजापत्यं च तस्य किम् ॥१४१॥
रूपं च तस्य नः शंस यतो वैदेशिका वयम्।
इत्युक्ता तेन वृद्धा सा तं विलोक्योत्तमाकृतिम् ॥१४२॥
प्रत्युवाच महाभाग शृणु सर्वं वदामि ते।
इह कर्पूरको नाम राजा कर्पूरसम्भवे ॥१४३॥
स चानपत्यः सन्तानहेतोरुद्दिश्य शङ्करम्।
बुद्धिकार्या समं देव्या निराहारोऽकरोत्तपः ॥१४४॥
त्रिरात्रोपोषितं देवो हरः स्वप्ने तमादिशत्।
उत्तिष्ठ पुत्राभ्यधिका सा ते कन्या जनिष्यते ॥१४५॥
विद्याधराणां साम्राज्यं यस्याः पतिरवाप्स्यति।
इत्यादिष्टो हरेणासौ प्रातः प्राबुद्ध भूपतिः ॥१४६॥
निवेद्य बुद्धिकार्यै च देव्यै स्वप्नं तदोत्थितः।
प्रहृष्टोऽथ तया साकं चकार व्रतपारणम् ॥१४७॥
ततस्तस्याचिराद्राज्ञो राज्ञी गर्भमधत्त सा।
काले चासूत सम्पूर्णे कन्यां सर्वाङ्गसुन्दरीम् ॥१४८॥
यया प्रभाजितास्तत्र जातवेश्मनि दीपकाः।
कज्जलोद्गारमिषतो निःश्वासानमुचन्निव ॥१४९॥
कर्पूरकेति तस्याश्च निजं नाम ततः पिता।
एष कर्पूरको राजा व्यधत्त विहितोत्सवः ॥१५०॥
क्रमाच्च वृद्धिं प्राप्ता सा लोकलोचनचन्द्रिका।
कर्पूरिका राजपुत्री यौवनस्याद्य वर्त्तते ॥१५१॥
पिता चेह नृपस्तस्या विवाहमभिकाङ्क्षति।
पुरुषद्वेषिणी सा तु तं नेच्छति मनस्विनी ॥१५२॥
कन्याजन्मफलं कस्माद्विवाहं सखि नेच्छसि।
इति मत्सुतया सा च सख्या पृष्टेदमब्रवीत् ॥१५३॥
सखि जातिस्मराया मे प्राग्वृत्तं शृणु कारणम्।
अस्ति तीरे महाम्भोधेर्महांश्चन्दनपादपः ॥१५४॥

राजभवन के समीप ही एक बूढ़ी औरत के मनोरम मकान को देखकर, उस विनम्र बूढ़ी से अनुमति प्राप्त कर वह निवास के लिए उस घर में घुसा ॥१४०॥

अब राजकुमारी से मिलने की युक्ति खोजते हुए उसने उस स्त्री से कुछ ही देर बाद पूछा कि हे आर्ये ! यहाँ के राजा का क्या नाम है और उसकी सन्तान क्या है ? और, उसका रूप कैसा है ? यह हमें बताओ। क्योंकि, हम विदेशी हैं।' राजा नरवाहनदत्त से इस प्रकार कही गई वह बूढ़ी उसकी उत्तम आकृति देखकर बोली— ॥१४१-१४२॥

'हे भाग्यशालिन् ! सुनो, मैं सब तुमसे कहती हूँ। इस कर्पूरसंभव द्वीप में कर्पूरक नाम का राजा है। सन्तान-हीन उस राजा ने सन्तान के लिए, अपनी महारानी बुद्धिकार्या के साथ शंकर की उपासना की। तीन रातों तक उपवास किये राजा को शिवजी ने स्वप्न में आदेश दिया कि उठो, तुम्हें पुत्र से भी अधिक प्यारी कन्या उत्पन्न होगी, जिसका पति विद्याधरों का राजा होकर साम्राज्य प्राप्त करेगा।' शिवजी से इस प्रकार आदेश दिया गया राजा प्रातःकाल उठा ॥१४३—१४६॥

उसने प्रसन्नचित्त होकर रानी बुद्धिकार्या को अपना सपना कह सुनाया और उसके साथ ही व्रत का पारण किया ॥१४७॥

कुछ दिनों बाद उसकी रानी ने गर्भ धारण किया और सम्पूर्ण अच्छे लक्षणोंवाली सर्वांगसुन्दरी कन्या उत्पन्न की ॥१४८॥

उस कन्या की शरीर-ज्योति से प्रसूति-गृह के सारे दीपक निष्प्रभ-से हो गये। काजल उगलने के बहाने मानों वे अपनी पराजय के कारण लम्बी साँसें ले रहे थे ॥१४९॥

तब राजा कर्पूरक ने उत्सव करके और उसका नामकरण-संस्कार करके उसका नाम कर्पूरिका रखा ॥१५०॥

जनता के लोचनों को चाँद-सा आनन्द देनेवाली वह कर्पूरिका क्रमशः बढ़ती हुई अब पूर्ण युवावस्था में है ॥१५१॥

उसका पिता उसका विवाह करना चाहता है; किन्तु वह पुरुषों से द्वेष रखनेवाली मनस्विनी, विवाह करना नहीं चाहती ॥१५२॥

उसकी सहेली मेरी कन्या के यह पूछने पर कि 'सखि ! कन्या के जन्म का फल विवाह है। तू उसे क्यों नहीं चाहती?'—ऐसा पूछने पर वह इस प्रकार बोली— ॥१५३॥

"सखि ! मैं अपने पूर्व जन्म का हाल जानती हूँ। तू मेरी बात सुन। मैं विवाह न करने का कारण बताती हूँ। समुद्र के किनारे एक बड़ा चन्दन का पेड़ है ॥१५४॥

तस्यास्ति निकटे फुल्लनलिनालङ्कृतं सरः।
तत्राहमभवं हंसी पूर्वजन्मनि कर्मतः ॥१५५॥
साहमब्धितटाज्जातु तस्मिंश्चन्दनपादपे।
अकार्षं राजहंसेन स्वेन भर्त्रा सहालयम् ॥१५६॥
तत्रालये वसन्त्या मे प्रजातान्पोतकान्सुतान्।
अकस्मादेत्य बलवान्समुद्रोर्मिरपाहरत् ॥१५७॥
हृतेष्वपत्येष्वोघेन क्रन्दन्त्यहमनश्नती।
आसं शुचाब्धितीरस्थशिवलिङ्गाग्रवर्तिनी ॥१५८॥
ततः स राजहंसो मामुपेत्य पतिरभ्यधात्।
उत्तिष्ठ किमपत्यानि व्यतीतान्यनुशोचसि ॥१५९॥
अन्यानि नौ भविष्यन्ति सर्वं जीवद्भिराप्यते।
इति तद्वाक्शरेणाहं हृदि विद्धा व्यचिन्तयम् ॥१६०॥
धिगहो पुरुषाः पापा बालापत्येष्वपीदृशाः।
निःस्नेहा निष्कृपाश्चैव स्त्रीषु भक्तिमतीष्वपि ॥१६१॥
तन्मे किममुना पत्या किं वा देहेन दुःखिना।
इत्यालोच्य हरं नत्वा कृत्वा भक्त्या च तं हृदि ॥१६२॥
तत्रैव पुरतस्तस्य पत्युर्हंसस्य पश्यतः।
'जातिस्मरा राजपुत्री भूयासं जननान्तरे' ॥१६३॥
इति सङ्कल्प्य तत्क्षिप्तं शरीरं जलधौ मया।
ततोऽहं सखि जाताद्य तथाभूतेह जन्मनि ॥१६४॥
पूर्वजातौ च तस्यां तां भर्तुस्तस्य नृशंसताम्।
संस्मरन्त्या न कस्मिंश्चिद्वरे रज्यति मे मनः ॥१६५॥
अतो विवाहं नेच्छामि दैवायत्तमतः परम्।
इत्युक्तं राजसुतया मत्सुतायै तया रहः ॥१६६॥
तया मत्सुतयाप्येतन्मह्यमागत्य वर्णितम्।
तदेवं ते मया ख्यातं पुत्र यत्पृष्टवानसि ॥१६७॥
तवैव भाविनी भार्या नूनं चैषा नृपात्मजा।
सर्वविद्याधराणां हि भविष्यच्चक्रवर्तिनः ॥१६८॥
महिषीयं समादिष्टा पूर्वं देवेन शम्भुना।
तल्लक्षणैश्च युक्तं त्वां पश्यामि तिलकादिभिः ॥१६९॥

उसी समुद्र के किनारे खिले हुए कमलोंवाला एक सुन्दर सरोवर है। मैं उसी सरोवर में पूर्व जन्म के कर्मानुसार हंसिनी हुई ॥१५५॥

मैं किसी समय समुद्र के तट से दूर चन्दन के वृक्ष के पास पति के साथ अपना घर बना कर रहती थी ॥१५६॥

उस घर में रहते हुए मुझे बच्चे उत्पन्न हुए, जिन्हें समुद्र की लहरों ने, अपहृत कर (छीन) लिया ॥१५७॥

बच्चों के अपहरण हो जाने पर रोती, चिल्लाती एवं अनशन करती हुई मैं समुद्र-तट पर स्थित शिवलिंग के सामने शोक से बैठी रही ॥१५८॥

तब मेरे पति राजहंस ने आकर कहा—'उठ, मरे हुए बच्चों के लिए क्या शोक कर रही है ॥१५९॥

हम दोनों रहेंगे, तो और बच्चे उत्पन्न हो जायेंगे। जीते रहने पर सब कुछ प्राप्त होता है। इस प्रकार, उसके वाक्यों के बाणों से हृदय में बिंधी हुई मैंने सोचा—॥१६०॥

'इन पापी पुरुषों को धिक्कार है, जो अपने बच्चों के सम्बन्ध में भी ऐसे स्नेह-हीन और दया-रहित होते है, जब कि स्त्रियां अत्यन्त भक्तिमती होती हैं। इसलिए, ऐसे क्रूर पति से क्या प्रयोजन और इस देह से भी क्या लाभ?' ऐसा सोचकर शिवजी को प्रणाम करके और उन्हें भक्तिपूर्वक हृदय में धारण करके सामने देखते हुए पति के समक्ष ही मैंने अपने को समुद्र में डाल दिया। और, मरने के समय यह संकल्प किया कि मैं अगले जन्म में राजपुत्री बनूं। तभी मै आज इस राजा की राजकुमारी हुई। ॥१६१-१६४॥

पूर्वजन्म में अपने पति की क्रूरता को सोचकर मेरा मन पुरुषों के प्रति आकृष्ट नहीं होता। इसीलिए, विवाह करना नही चाहती हूँ। आगे भविष्य तो दैव के अधीन है।" मेरी कन्या से राजकुमारी ने एकान्त में यह बात कही थी ॥१६५-१६६॥

उस मेरी कन्या ने मेरे पास आकर यह वृत्तान्त कह सुनाया—'बेटा! तुमने जो मुझसे पूछा वह सब मैंने कह दिया। तभी विद्याधरों के चक्रवर्ती होनेवाले तुम्हारी ही वह महारानी (पत्नी) बनेगी' —ऐसा महादेव ने पहले ही आदेश दिया है। विद्याधर-चक्रवर्ती के उन तिलक आदि लक्षणोंवाले तुम्हें मैं देख रही हूँ ॥१६७-१६९॥

किंस्वित्तदर्थमानीतः कोऽपि त्वमिह वेधसा।
उत्तिष्ठ तावन्मद्गेहे द्रक्ष्यामः किं भविष्यति॥१७०॥
इत्युक्त्वोपहृताहारो वृद्धयात्र तया निशाम्।
नरवाहनदत्तस्तामनैषीद् गोमुखान्वितः॥१७१॥
प्रातः सम्मन्त्र्य कार्यं च गोमुखेन समं रहः।
महाव्रतिकवेषं च कृत्वा वत्सेश्वरात्मजः॥१७२॥
तद्द्वितीयोऽत्र हा हंसि हा हंसीति वदन्मुहुः।
गत्वा राजकुलद्वारि बभ्राम जनतेक्षितः॥१७३॥
तथाभूतं च तं दृष्ट्वा तत्र गत्वैव चेटिकाः।
कर्पूरिकां राजसुतां तामवोचन्सविस्मयाः॥१७४॥
सिंहद्वारे युवा देवि दृष्टोऽस्माभिर्महाव्रती।
सद्वितीयोपि यो धत्ते सौन्दर्येणाद्वितीयताम्॥१७५॥
नारीजनमहामोहदायिनं मन्त्रमद्भुतम्।
उच्चारयति हां हंसि हा हंसीति दिवानिशम्॥१७६॥
तच्छ्रुत्वा पूर्वहंसी सा राजपुत्री सकौतुका।
आनाययत्तमेताभिस्तद्रूपं पार्श्वमात्मनः॥१७७॥
ददर्श चैतमुद्दामरूपालङ्कृतभूमिकम्।
शङ्कराराधनोपात्तनवमिव स्मरम्॥१७८॥
निजगाद च पश्यन्ती विस्मयोत्फुल्लया दृशा।
किमेतदेव हा हंसि हा हंसीत्युच्यते त्वया॥१७९॥
एवं तयोक्तेऽपि तदा हा हंसीत्येव सोऽब्रवीत्।
ततः सहस्थितस्तस्य गोमुखः प्रत्युवाच ताम्॥१८०॥
अहं ते कथयाम्येतच्छृणु देवि समासतः।
पूर्वजन्मनि हंसोऽयमभवत्कर्मयोगतः॥१८१॥
तत्रैष जलधेस्तीरे महतः सरसस्तटे।
कृतालयः समं हंस्या तस्थौ चन्दनपादपे॥१८२॥
तस्मिन्दैवादपत्येषु समुद्रोर्मिहृतेषु सा।
एतस्य हंसी शोकार्त्ता तत्रैवात्मानमक्षिपत्॥१८३॥
ततोऽसौ तद्वियोगार्त्तः पक्षिजातौ विरक्तिमान्।
त्यक्तुकामः शरीरं तत्सङ्कल्पमकरोद्धृदि॥१८४॥

क्या दैव ने उसी के लिए तुम्हें यहाँ ला दिया है ? तुम मेरे ही घर पर तबतक ठहरो। फिर देखेंगे, आगे क्या होता है' ? ॥१७०॥

ऐसा कहकर वृद्धा के द्वारा भोजन कराया गया गोमुख के साथ नरवाहनदत्त ने वह रात्रि वहीं व्यतीत की ॥१७१॥

प्रातः काल गोमुख के साथ एकान्त में अपना कर्तव्य-निर्धारण करके वत्सेश्वर के पुत्र ने महाव्रती का वेश धारण किया ॥१७२॥

इस प्रकार का वेश बनाकर गोमुख को साथ लिये हुए 'हा हंसिनी! 'हा हंसिनी !'—इस प्रकार बकता-झकता राजभवन के आस-पास घूमने लगा। जनता उसका तमाशा देखने लगी ॥१७३॥

इस प्रकार, उसे देखकर राजभवन की दासियाँ आश्चर्यचकित होकर राजकुमारी कर्पूरिका से बोलीं—॥१७४॥

'राजभवन के सिंहद्वार पर किसी महाव्रती युवा को हम लोगों ने देखा, जो द्वितीय मित्र के साथ रहने पर भी सौन्दर्य में अद्वितीय है ॥१७५॥

वह स्त्रियों के लिए महामोहन मन्त्र के समान दिन-रात 'हा हंसिनी! हा हंसिनी!'—इस प्रकार की रट लगाये हुए है ॥१७६॥

यह सुनकर पूर्वजन्म की हंसिनी उस राजकुमारी ने बड़े ही कौतुक से दासियों द्वारा उसे अपने समीप बुलाया ॥१७७॥

और, अत्यन्त सुन्दर रूप से शोभित शंकर की आराधना से पुनर्जीवित नये कामदेव के समान उसे (नरवाहनदत्त को) देखा ॥१७८॥

और, विस्मय से विस्फारित नेत्रों से उसे देखते हुए राजकुमारी बोली कि तुम 'हा हंसिनी ! हा हंसिनी !' यह क्यों बार-बार बक रहे हो?'॥१७९॥

राजकुमारी के ऐसा पूछने पर भी उसने उत्तर में भी 'हा हंसिनी !'—यही कहा। तब उसके साथ खड़े हुए गोमुख ने कहा—'हे देवि ! मैं संक्षेप से कहता हूँ, सुनो। यह अपने कर्म योग से पहले जन्म में हंस था ॥१८०-१८१॥

उस जन्म में यह समुद्र-तटवर्ती किसी बड़े सरोवर के किनारे चन्दन-वृक्ष में अपना घोंसला बनाकर हंसिनी के साथ रहता था। वहाँ पर दैवयोग से समुद्र की लहरों से बच्चों का विनाश होने से शोक-पीड़ित इसकी हंसिनी ने समुद्र में कूदकर अपने प्राण दे दिये ॥१८२-१८३॥

तब हंसिनी के वियोग से दुःखी इसने पक्षी-जाति से विरक्त होकर हृदय में संकल्प किया—॥१८४॥

जातिस्मरोऽहं भूयासं राजपुत्रोऽन्यजन्मनि।
एषा च तत्र मे भार्या भूयाज्जातिस्मरा सती॥१८५॥
इति सङ्कल्प्य तं देहं तदा संस्मृत्य शङ्करम्।
विरहानलसन्तप्तः समुद्राम्भस्यपातयत्॥१८६॥
ततोऽयं वत्सराजस्य कौशाम्ब्यां तनयोऽधुना।
नरवाहनदत्ताख्यो जातो जातिस्मरः शुभे॥१८७॥
असौ विद्याधरेन्द्राणां चक्रवर्त्ती भविष्यति।
इति वागुदभूद्दिव्या जातस्यास्य स्फुटं तदा॥१८८॥
क्रमेण यौवराज्यस्थः पित्रायं परिणायितः।
दिव्यां कारणसम्भूतां देवीं मदनमञ्चुकाम्॥१८९॥
ततो हेमप्रभाख्यस्य विद्याधरपतेः सुता।
एत्य स्वयं वृतवती कन्या रत्नप्रभेत्यमुम्॥१९०॥
तथापि तां स्मरन्हंसीं नायं भजति निर्वृतिम्।
एतच्च बालभृत्याय मह्यमेतेन वर्णितम्॥१९१॥
अथास्य मृगयायातस्यासीत्सन्दर्शनं वने।
कयापि सिद्धतापस्या मद्द्वितीयस्य दैवतः॥१९२॥
कथाप्रसङ्गात्सा चैतमेवं सानुग्रहाब्रवीत्।
कर्मयोगात्पुरा पुत्र कामो हंसत्वमागतः॥१९३॥
तस्य चाम्बुधितीरस्थचन्दनद्रुमवासिनः।
प्रिया भार्याभवद्धंसी दिव्यस्त्री शापतश्च्युता॥१९४॥
वेलाजलहृतापत्यशोकात्तस्यां च वारिधौ।
क्षिप्तात्मनि स हंसोऽपि तत्रैवात्मानमक्षिपत्॥१९५॥
सोऽद्य शम्भोः प्रसादात्त्वं जातो वत्सेश्वरात्मजः।
पूर्वजातिं च तां वत्स वेत्सि जातिस्मरो ह्यसि॥१९६॥
सा हंस्यप्येवमेवाब्धेः पारे कर्पूरसम्भवे।
पुरे कर्पूरिका नाम जाता राजसुताधुना॥१९७॥
तद्गच्छ तत्र पुत्र त्वं प्रियां भार्यामवाप्स्यसि।
इत्युक्त्वा सा खमुत्पत्य तिरोभूत्सिद्धतापसी॥१९८॥
अयं चास्मत्प्रभुर्ज्ञातप्रवृत्तिस्तत्क्षणं ततः।
इतोऽभिमुखमागन्तुं प्रावर्त्तत मया सह॥१९९॥

कि मैं अगले जन्म में पूर्व जन्म का स्मरण करनेवाला राजपुत्र बनूँ और यह मेरी सती पत्नी भी पूर्वजन्म का स्मरण करनेवाली राजकुमारी बने'। ऐसा संकल्प करके और मन में शंकर का ध्यान कर इसने भी समुद्र में कूदकर प्राण दे दिये। तदनन्तर वह हंस इस जन्म में कौशाम्बी नगरी में वत्सराज उदयन के यहाँ नरवाहनदत्त नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ और यह पूर्व-जन्म का स्मरण करता है ॥१८५–१८७॥

'यह विद्याधर-राजाओं का चक्रवर्ती सम्राट् होगा'—ऐसी दिव्य वाणी उसके उत्पन्न होने पर स्पष्ट रूप से हुई थी ॥१८८॥

क्रमशः युवराज-पद पर अभिषिक्त इसका विवाह पिता ने किसी कारण-वश मनुष्य जाति में उत्पन्न दिव्य कन्या मदनमंचुका के साथ करा दिया ॥१८९॥

तदनन्तर हेमप्रभ नामक विद्याधर-राज की कन्या रत्नप्रभा ने स्वयं आकर इसका वरण किया है ॥१९०॥

तो भी यह अपने पूर्वजन्म की प्राणप्यारी पत्नी हंसिनी को याद करके क्षण-भर भी सुख या शान्ति नहीं प्राप्त करता है। यह बात इसने अपने बालमित्र मुझसे पहले कही थी ॥१९१॥

तदनंतर, एक बार मेरे साथ जंगल में शिकार खेलते हुए उसे किसी सिद्ध तपस्विनी के दर्शन हुए। वार्त्तालाप के सिलसिले में तपस्विनी ने कहा कि पुत्र! तुम कामदेव किसी कर्मवश पूर्वजन्म में हंस के रूप में अवतीर्ण हुए थे और वह तुम्हारी हंसी भी शाप से च्युत कोई दिव्य रमणी थी, जो चन्दन-वृक्ष में घोंसला बनाकर तुम्हारे साथ रहती थी ॥१९२—१९४॥

समुद्र की लहरों द्वारा बच्चों के बहा ले जाने पर उनके शोक से हंसिनी ने समुद्र में कूदकर आत्महत्या कर ली और उसके शोक से तुमने भी ऐसा ही किया ॥१९५॥

अतः, शिवजी की कृपा से तुम वत्सराज उदयन के पुत्र हुए और हे पुत्र! तुम अपने पूर्वजन्म को जाननेवाले जातिस्मर हो ॥१९६॥

वह हंसिनी भी समुद्र के पार कर्पूरसंभव द्वीप में कर्पूरिका नाम से राजकुमारी के रूप में अवतीर्ण हुई है ॥१९७॥

तो हे पुत्र! तुम जाओ। वहाँ तुम अपनी प्यारी पूर्वपत्नी को प्राप्त करोगे।—ऐसा कहकर वह सिद्ध तपस्विनी अन्तर्धान हो गई ॥१९८–१९९॥

त्वत्स्नेहाकृष्यमाणश्च पणीकृत्य स्वजीवितम्।
उत्तीर्य कान्तारशतं प्राप देशोऽम्बुधेस्तटम् ॥२००॥
तत्र हेमपुरस्थोऽस्मै तक्षा राज्यधराभिधः।
मद्द्वितीयाय मिलितः प्रादाद्यन्त्रविमानकम् ॥२०१॥
तस्मिन्नारुह्य भयदे हा मूर्त्त इव साहसे।
अब्धिकान्तारमुल्लङ्घ्य प्राप्तावावामिदं पुरम् ॥२०२॥
एतदर्थमसावेवं हा हंसीति वदन्निह।
भ्रान्तो देवि मम स्वामी यावत्प्राप्तस्त्वदन्तिके ॥२०३॥
इदानीं त्वन्मुखोदारराकारमणदर्शनात्।
असंख्यदुःखसांन्निध्यतमोपक्लृ तिमश्नुते ॥२०४॥

. . . .

तद्दृष्टिनीलनलिनस्रजार्चय महानिधिम् ॥२०५॥
एवं वचो विरचितं गोमुखस्य निशम्य सा।
संवादप्रत्ययात् सत्यं मेने कर्पूरिका तदा ॥२०६॥
अहो मय्यार्यपुत्रस्य स्नेहोऽमुष्य मुधैव मे।
विरक्तताभूदित्यन्तः प्रेमार्द्रा विममर्श च ॥२०७॥
उवाच चाहं सत्यं सा हंसी धन्या च यत्कृते।
एवं जन्मद्वये क्लेशमार्यपुत्रोऽनुभूतवान् ॥२०८॥
तदहं वोऽधुना दासी प्रेमक्रीतेति वादिनी।
नरवाहनदत्तं तं स्नानाद्यैः सममानयत् ॥२०९॥
ततः परीवारमुखेनैतत् सर्वमबोधयत्।
पितरं स्वं स चोपागात्तद् बुद्ध्वैव तदन्तिकम् ॥२१०॥
तत्रोत्पन्नविवाहेच्छां सुतां तां तद्वरं तथा।
नरवाहनदत्तं तं सम्प्राप्तमुचितं चिरात् ॥२११॥
विद्याधरमहाचक्रवर्त्तिलक्षणलाञ्छितम् ।
दृष्ट्वा कृतार्थमात्मानं यसोऽमन्यत तदा नृपः ॥२१२॥
प्रददौ चात्मजामेतां तस्मै कर्पूरिकां ततः।
नरवाहनदत्ताय यथाविधि स सादरम् ॥२१३॥
प्रादादरौ च जामात्रे प्रतिवह्निप्रदक्षिणम्।
कोटीस्तिस्रः सुवर्णस्य कर्पूरस्य च तावतीः ॥२१४॥

उसी समय से यह समाचार जानकर हमारा स्वामी यह राजकुमार तुम्हारे स्नेह से खिंचकर अपने जीवन की बाजी लगाकर और सैकड़ों देशों को पार कर समुद्र के किनारे पहुँचा ॥२००॥

वहाँ पर हेमपुर के राजा शिल्पकार राज्यधर ने यन्त्र से चलनेवाला विमान दिया ॥२०१॥

मूर्तिमान् साहस के समान उस भयंकर विमान पर चढ़कर समुद्र के दुर्गम मार्ग को पार कर हम दोनों यहाँ पहुँचे हैं ॥२०२॥

इसीलिए, यह मेरा मालिक तुम्हारे लिए 'हा हंसिनी ! हा हंसिनी !'—इस प्रकार बकता-झकता व्याकुल हो गया है और तुम्हारे पास तक यहाँ आया है ॥२०३॥

अब यह तुम्हारे आनन्द-दायक मुख-चन्द्र के दर्शन से असंख्य दुःख-रूपी अन्धकार से इसका छुटकारा हो रहा है। इसलिए, अत्यन्त कष्ट और उत्कण्ठा से आये हुए इस अतिथि को दृष्टिरूपी नील कुमुदों की माला से सत्कृत करो' ॥२०४-२०५॥

राजकुमारी कर्पूरिका ने भी गोमुख की बनावटी बातों को अपने पूर्वजन्म के घटना-क्रम से मिलाकर सत्य समझा ॥२०६॥

और सोचने लगी कि 'ओह ! मेरे पति का मुझ पर इतना स्नेह है। इस पर मेरा क्रोध व्यर्थ ही था। मुझे इससे विरक्तता भी भ्रम के कारण हुई'—ऐसा सोचकर वह स्नेह से पिघल गई और बोली—॥२०७॥

'वह हंसिनी मैं ही हूँ। और धन्य हूँ कि मेरे लिए आर्यपुत्र को दो जन्म तक कष्ट उठाना पड़ा। तो अब मैं प्रेम से खरीदी गई आप लोगों की दासी हूँ।' ऐसा कहकर उसने नरवाहनदत्त को स्नान भोजन आदि से सम्मानित किया ॥२०८-२०९॥

तब अपने दास-दासियों के द्वारा यह बात उसने अपने पिता को कहलवा दिया और स्वयं भी पिता के पास गई ॥२१०॥

विवाह की इच्छा प्रकट करती हुई कन्या और उसके योग्य वर नरवाहनदत्त को आया हुआ जानकर तथा उसे विद्याधर-चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त जानकर राजा ने अपने को धन्य-धन्य माना ॥२११-२१२॥

और, उसने कन्या कर्पूरिका को बड़े आदर के साथ विधिपूर्वक नरवाहनदत्त को दे दिया ॥२१३॥

राजा कर्पूरक ने जामाता को प्रत्येक अग्नि-प्रदक्षिणा के अवसर पर तीन-तीन करोड़ सोना और उतना ही कपूर प्रदान किया ॥२१४॥

यद्राशयो बभुस्तत्र शोभां द्रष्टुमिवागताः।
गिरिजोद्वाहदृश्वानो मेरुकैलाससानवः ॥२१५॥
पुनस्तद्वस्त्रकोटीश्च दश दासीशतत्रयम्।
स्वलङ्कृतं ददौ सोऽस्मै कृती कर्पूरको नृपः ॥२१६॥
ततस्तस्थौ कृतोद्वाहः स कर्पूरिकया तया।
नरवाहनदत्तोऽत्र समं प्रीत्येव मूर्त्तया ॥२१७॥
कस्य नाभून्मनः प्रीत्यै स वधूवरयोस्तयोः।
सङ्गमो माधवीवल्लीवसन्तोत्सवयोरिव ॥२१८॥
एहि व्रजावः कौशाम्बीमित्यन्येद्युश्च सोऽब्रवीत्।
नरवाहनदत्तस्तां कृती कर्पूरिकां प्रियाम् ॥२१९॥
ततः प्रत्यब्रवीत् सा तं यद्येवं तत्खगामिना।
तेनैव त्वद्विमानेन व्रजामस्त्वरितं न किम् ॥२२०॥
तच्चेत् स्वल्पं तदपरं विस्तीर्णं ढौकयाम्यहम्।
इह प्राणधराख्यो हि तक्षा यन्त्रविमानकृत् ॥२२१॥
आस्ते देशान्तरायातस्तच्छीघ्रं कारयाम्यदः।
इत्युक्त्वा सा प्रतीहारमानाय्य क्षत्तुरादिशत् ॥२२२॥
गत्वा तं यन्त्रतक्षाणं वद प्राणधरं महत्।
व्योमगामि विमानं नः प्रस्थानायोपकल्पय ॥२२३॥
एवं विसृज्य क्षत्तारं राज्ञे कर्पूरिकाथ सा।
चेटीमुखेन पित्रे तां प्रस्थानेच्छां न्यवेदयत् ॥२२४॥
स च बुद्ध्वैव तद्यावदायात्यत्रैव भूपतिः।
नरवाहनदत्तोऽन्तस्तावदेवमचिन्तयत् ॥२२५॥
तक्षा राज्यधरभ्राता सोऽयं प्राणधरो ध्रुवम्।
राजभीत्या स्वदेशाद्यो विद्रुतस्तेन वर्णितः ॥२२६॥
इत्यस्मिंश्चिन्तयत्येव राज्ञि च क्षिप्रमागते।
आगात् प्रतीहारयुतस्तक्षा प्राणधरोऽत्र सः ॥२२७॥
व्यजिज्ञपच्च सुमहद् विमानं कृतमस्ति मे।
यन्मानुषसहस्राणि वहत्यद्यावहेलया ॥२२८॥
इत्युक्तवन्तं तक्षाणं साध्विवत्युक्त्वाभिपूज्य च।
नरवाहनदत्तोऽथ तं पप्रच्छ स सादरम् ॥२२९॥

राजा द्वारा दिये गये सोने आदि दहेज के ढेर, ऐसे मालूम होते थे, मानो पार्वती का विवाह देखने के लिए सुमेरु और कैलाश शिखर आकर बैठे हों ॥२१५॥

इस पर करोड़ों वस्त्र और आभूषणों से लदी हुई तीन सौ दासियाँ राजा कर्पूरक ने दहेज में दीं। तदनन्तर, शरीरधारिणी प्रीति के समान कर्पूरिका से विवाहित नरवाहनदत्त उस नगर में रहने लगा ॥२१६-२१७॥

माधवीलता और वसंत के संयोग के समान उन दोनों का समागम किसके आनन्द के लिए नहीं हुआ?' ॥२१८॥

किसी एक दिन सफलमनोरथ नरवाहनदत्त ने, कर्पूरिका से कहा कि 'चलो, कौशाम्बी नगरी को चलें।' तब वह बोली कि 'यदि चलना है, तो उसी आकाशगामी यान से क्यों न चलें?' ॥२१९-२२०॥

यदि वह छोटा हो, तो उससे मैं दूसरा बड़ा विमान मँगाती हूँ। यहाँ पर (कर्पूरसंभव द्वीप में) प्राणधर नामका शिल्पी (बढ़ई) यन्त्रवाले विमानों का बनानेवाला रहता है ॥२२१॥

वह किसी दूसरे देश से आया है। तो मैं उससे दूसरा विमान बनवाती हूँ।' ऐसा कहकर द्वारपाल को बुलाकर उसने प्रबन्धक को विमान बनवाने की आज्ञा प्रदान की—॥२२२॥

कि जाकर प्राणधर नामक शिल्पी से कहो कि हम लोगों के जाने के लिए आकाश में उड़नेवाला विमान बना दो ॥२२३॥

इस प्रकार क्षत्ता[1] को आज्ञा देकर कर्पूरिका ने दासी के मुंह से अपने जाने की बात राजा के लिए कहलवाई ॥२२४॥

यह समाचार जानकर जैसे ही राजा वहाँ आता है, नरवाहनदत्त अपने मन में सोचता है ॥२२५॥

यह प्राणधर नामक शिल्पी वही है, जो राज्यधर का भाई है। जो कांची-नरेश के भय से भागा था ॥२२६॥

ऐसा सोचते ही द्वारपाल से निवेदित राजा वहाँ आया और उसी समय वह प्राणधर शिल्पी भी वहाँ उपस्थित हुआ ॥२२७॥

और बोला—'मैंने एक बड़ा वायुयान बनाकर रखा है, जो अभी एक हजार व्यक्तियों को सहज ही ले जा सकता है ॥२२८॥

ऐसा कहते हुए शिल्पी प्राणधर का अभिनन्दन करते हुए नरवाहनदत्त ने आदर के साथ उससे पूछा—२२९॥

---

१. पार्श्ववर्ती सेवक।

कच्चिद्राजधरस्य त्वं भ्राता प्राणधरोऽग्रजः।
नानायन्त्रप्रयोगाणां वेत्ता सुमहतामपि ॥२३०॥
स एव तस्य भ्राताऽहं देवो वेत्ति तु नौ कुतः।
इति प्राणधरः सोऽपि प्रणतः प्रत्युवाच तम् ॥२३१॥
ततो यथा राज्यधरेणोक्तं दृष्टो यथा च सः।
नरवाहनदत्तस्तत्तथा तस्मै शशंस सः ॥२३२॥
अथ तेन मुदा प्राणधरेण समुपाहृते।
महाविमानेऽनुमतः श्वशुरेणात्र भूभुजा ॥२३३॥
तमामन्त्र्य समारोप्य दासीकर्पूरकाञ्चनम्।
तेन राजविसृष्टेन सह प्राणधरेण सः ॥२३४॥
तेन च क्षत्तृमुख्येन श्वश्रूरचितमङ्गलः।
कर्पूरिकां राजपुत्रीं नवामादाय तां वधूम् ॥२३५॥
दत्तदानो द्विजातिभ्यः सद्वस्त्रनिचयैश्च तैः।
नरवाहनदत्तोऽसावारुरोह सगोमुखः ॥२३६॥
पूर्वमब्धेस्तटं तावद्यामो राज्यधरान्तिकम्।
ततो गृहमिति प्राणधरं तं निजगाद सः ॥२३७॥
ततस्तेनाहतेनाशु विमाने नोत्पपात सः।
नभो मनोरथेनैव पूर्णेन सपरिग्रहः ॥२३८॥
क्षणादुत्तीर्य जलधिं पुनस्तत्तीरवर्ति च।
प्राप हेमपुरं धाम तस्य राज्यधरस्य तत् ॥२३९॥
तत्र राज्यधरं प्रह्वं प्रहृष्टं भ्रातृदर्शनात्।
दासीभिस्तमदासीकं संविभेजे च सोत्सवम् ॥२४०॥
आपृच्छ्य च तमुद्बाष्पं कथमप्युज्झिताग्रजम्।
ययौ तेनैव कौशाम्बीं विमानेन तदैव सः ॥२४१॥
तत्राम्बरादशङ्कितमवतीर्णं वरविमानवहनं तम्।
सानुचरं नववध्वा युक्तं दृष्ट्वा विसिस्मये जनता ॥२४२॥
पौरोत्साहैः प्रकटं पुत्रं बुद्ध्वा पितास्य वत्सेशः।
प्रीतो निरगादग्रे देवीसचिवस्नुषादिभिः सहितः ॥२४३॥
दृष्ट्वा विमानवाहनसूचितभवितव्यखचरसाम्राज्यम्।
तं सोऽभिनन्दत सुतं राजा चरणानतं वधूसहितम् ॥२४४॥

'क्या तुम राज्यधर के बड़े भाई हो, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के महान् यन्त्रों का जानकार है?' ॥२३०॥

'हाँ, मैं वही उसका भाई प्राणधर हूँ। आप हम दोनों को कैसे जानते हैं स्वामी!'—प्राणधर ने नम्र होकर यह कहा ॥२३१॥

तब नरवाहनदत्त ने उसे जिस प्रकार देखा था और राज्यधर ने जैसा कहा था, वह सब प्राणधर को सुना दिया ॥२३२॥

तदनन्तर, प्राणधर द्वारा लाये गये महाविमान पर अपने श्वशुर राजा कर्पूरक से आज्ञा प्राप्त करके नरवाहनदत्त दहेज में प्राप्त दासियाँ, सोना, कपूर के ढेर राजा से प्राप्त प्रतीहार[1] और विमानचालक (प्राणधर) के साथ बैठा ॥२३३-२३४॥

उसकी सास ने प्रास्थानिक मंगलाचार किया और नरवाहनदत्त ने नववधू कर्पूरिका को साथ बिठा लिया। इस प्रकार, अपने मित्र गोमुख के साथ नरवाहनदत्त ने ब्राह्मणों को वस्त्र आदि दान देकर प्रस्थान किया ॥२३५-२३६॥

और, प्राणधर ने कहा कि 'चलो, समुद्र के पूर्वतट पर राज्यधर के समीप तक चलें। तब अपने घर की ओर चलेंगे' ॥२३७॥

तदनन्तर चालक द्वारा चलाये गये उस विमान में वह अपने साथियों और सामान के साथ आकाश में उड़ा और कुछ ही क्षणों में समुद्र के पार बसे हुए राज्यधर के हेमपुर नगर में पहुँचा ॥२३८-२३९॥

नरवाहनदत्त ने, वहाँ पर नमस्कार करते हुए और भाई को देखने से प्रसन्न तथा दासी-हीन उस राज्यधर का दासियों द्वारा सत्कार किया और आँसू बहाते हुए तथा किसी प्रकार छोटे भाई (राज्यधर) से विदा लिये हुए प्राणधर के साथ उसी विमान द्वारा नरवाहनदत्त कौशाम्बी पहुँचा ॥२४०-२४१॥

बिना किसी शंका के निर्भय होकर आकाश से उतरते हुए और पत्नी एवं दासियों आदि के साथ आये हुए नरवाहनदत्त को देखकर कौशाम्बी की जनता आश्चर्य-चकित हो गई ॥२४२॥

नागरिकों के उत्साह को देखकर और अपने पुत्र को आया हुआ समझकर उसका पिता वत्सराज, अपनी महारानियों, मन्त्रियों और बहुओं के साथ प्रसन्न होकर उसे लेने के लिये आगे आया ॥२४३॥

विमान पर चढ़ने के कारण विद्याधर-चक्रवर्ती होने की सूचना देते हुए राजा उदयन ने चरणों में झुके वधू-सहित पुत्र नरवाहनदत्त का अभिनन्दन किया ॥२४४॥

---

१. द्वारपाल

माता वासवदत्ता पद्मावत्या समं तमाश्लिष्य।
विगलितमिव तददर्शनदुःखग्रन्थिं जहौ बाष्पम् ॥२४५॥
रत्नप्रभा च भार्या सानन्दा मदनमञ्चुका च तदा।
तस्य प्रेमहृतेर्ष्ये चरणौ हृदयं च जगृहतुस्तुल्यम् ॥२४६॥
यौगन्धरायणादीन् पितृसचिवान् स्वांश्च सोऽथ नृपसूनुः।
मरुभूतिमुखान् प्रणताननन्दयत् कृतयथार्थसत्कारः॥२४७॥
सर्वे च ते विभूषितसुदशार्हकुलेन जलधिमाक्रम्य।
समुपाहृतां स्वपतिना व्यक्तं सोदर्यमूर्त्तिममृतस्य ॥२४८॥
अजराङ्गनाशतयुतामायातां श्रियमिवाभ्यनन्दंस्ताम्।
कर्पूरिकां नववधूं वत्सेशाद्या यथोचितावनताम् ॥२४९॥
तस्याश्च पैतृकं तं वत्सेशोऽपूजयत् प्रतीहारम्।
अर्पितविमानवाहितकाञ्चनकर्पूरवस्त्रकोटिचयम् ॥२५०॥
आख्यातं नरवाहनदत्तेन ततो विमानकर्त्तारम्।
उपकारिणं स राजा प्राणधरं तमपि मानयामास ॥२५१॥
कथमेषा राजसुता सम्प्राप्ता कथमितश्च यातौ स्वः।
इति पप्रच्छ सहर्षः सम्मान्य स गोमुखं नृपतिः ॥२५२॥
अथ मृगयावनगमनात् प्रभृति यथा दर्शनं तपस्विन्याः।
राज्यधरसमासादितविमानयुक्त्या यथा च तीर्णोऽब्धिः ॥२५३॥
कर्पूरिका विवाहे विमुखापि च सम्मुखी यथा विहिता।
प्राणधरलाभलब्धेनागमनं प्राग्यथा विमानेन ॥२५४॥
युक्त्यैकान्ते स तथा तदशेषं गोमुखो यथावृत्तम्।
कथयाञ्चकार तस्मै सदारसचिवाय वत्सराजाय ॥२५५॥
क्वाखेटः क्व च तापसी क्व च तथोदन्वत्तटे यन्त्रवि-
त्तक्षा राज्यधरस्तदीयवहनेनोल्लङ्घनं क्वाम्बुधेः।
तत्पारे च विमानकर्त्तुरपरस्यास्य क्व पूर्वं गति-
र्भव्यानां शुभसिद्ध्युपायरचनाचिन्तां विधत्ते विधिः ॥२५६॥
इति तैर्निखिलैः सविस्मयप्रमदाकम्पितमस्तकैस्ततः।
जगदे विदधे च गोमुखे प्रभुभक्तिस्तुतिरत्र सादरैः ॥२५७॥
रत्नप्रभां च राज्ञीं पतिव्रताधर्मजनितपरितोषाम्।
प्रशशंसुस्ते भर्त्तुर्निजविद्याविहितपथरक्षाम् ॥२५८॥

पद्मावती के साथ उसकी माता वासवदत्ता ने पुत्र को लिपटाकर आँसू बहाये। चिरकाल से उसे न देखने के कारण हृदय में बनी हुई दुःख की गाँठ मानों बह निकली ॥२४५॥

आनन्द से भरी हुई उसकी दोनों पत्नियों—मदनमंचुका और रत्नप्रभा—ने उसके प्रेम से ईर्ष्या को छोड़कर उसके चरणों और हृदयों को साथ ही ग्रहण किया ॥२४६॥

तदनन्तर यौगन्धरायण आदि पिता के मन्त्रियों तथा मरुभूति आदि अपने मन्त्रियों को नरवाहनदत्त ने यथायोग्य प्रणाम, नमस्कार आदि से सत्कार-सन्मान किया ॥२४७॥

अपने उच्च कुल को अपनी परिस्थिति से अलंकृत करनेवाले पति के साथ समुद्र को पार करके आई हुई अमृत की सहोदरा भगिनी के समान और सैकड़ों युवती स्त्रियों से लक्ष्मी के समान घिरी हुई और नम्र भाव से स्थित उस नववधू कर्पूरिका का वत्सराज आदि ने समुचित अभिनन्दन आदि किया। और, वत्सराज ने उसके साथ आये हुए उसके पिता के प्रतीहार को पुरस्कार आदि से सम्मानित किया। उस प्रतीहार ने भी विमान पर लदे हुए सोना, वस्त्र, कपूर आदि दहेज की सामग्री समधी उदयन को समर्पित की ॥२४८-२५०॥

उदयन ने नरवाहनदत्त द्वारा परिचित कराये गये विमान-निर्माता शिल्पी प्राणधर का भी समुचित सत्कार किया ॥२५१॥

तदनन्तर राजा उदयन ने गोमुख का अभिनन्दन करके पूछा कि 'यह राजकुमारी कैसे प्राप्त हुई और तुम लोग यहाँ से वहाँ कैसे पहुँचे?' ॥२५२॥

तदनन्तर गोमुख ने, महारानियों और मन्त्रियों के साथ बैठे हुए महाराज उदयन को शिकारवाले वन से भटक जाने और तपस्विनी का दर्शन होने से लेकर राज्यधर के विमान द्वारा द्वीप में पहुँचने, विवाह से विमुख कर्पूरिका को अपनी ओर लाने तथा प्राणधर द्वारा निर्मित विमान से पुनः लौट आने आदि का सारा वृत्तान्त सबको क्रमशः सुना दिया ॥२५३—२५५॥

कहाँ शिकार! कहाँ वह बूढ़ी तपस्विनी! कहाँ समुद्र के किनारे वह शिल्पी कारीगर राज्यधर! कहाँ समुद्र पार करना! समुद्र के पार भी दूसरे विमान-निर्माता का मिलना और फिर उसका पहले स्थान पर आना—यह सब असम्भव और अघटित घटनाएँ है। यह सत्य है कि भाग्यवान् व्यक्ति के कल्याण-कार्यों को सफल करने के उपाय, दैव स्वयं ही घटित कर देता है ॥२५६॥

इस प्रकार, इस घटना को सुनकर अत्यन्त आनन्द से सिर हिलाते हुए उन सभी ने, गोमुख की स्वामी-भक्ति की अत्यन्त प्रशंसा की ॥२५७॥

अपनी विद्या के प्रभाव से अपने पति की मार्ग में रक्षा करनेवाली पतिपरायणा रत्नप्रभा की भी सबने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥२५८॥

अथ नरवाहनदत्तो विनीतगगनाङ्गणागमनखेदः।
स विवेश राजधानीं पितृभिर्भार्यादिभिश्च समम् ॥२५९॥
तत्रोपागतमानितबन्धुसुहृत्स्वर्णकूटभृतकोषः ।
वसुभिस्तौ पूरितवान् प्राणधरश्वाशुरप्रतीहारौ ॥२६०॥
भुक्तोत्तरं च सपदि प्राणधरस्तं व्यजिज्ञपत् प्रणतः।
देवावयोः किलैवं कर्पूरकभूभृता समादिष्टम् ॥२६१॥
आगन्तव्यं त्वरितं मद्दुहितरि भर्तृभवनमाप्तायाम्।
येनाहं जानीयां सम्प्राप्तामत्र शीघ्रमिति ॥२६२॥
तद्गन्तव्यं निश्चितमावाभ्यां देव चतुरमधुनैव।
दापय कर्पूरिकया राज्ञो लेखं स्वहस्तलिखितं नौ ॥२६३॥
नहि तस्य सुतास्निग्धं हृदयं राज्ञोऽन्यथा समाश्वसिति।
स ह्यारूढविमानो न जातुचिच्छङ्कते प्रपातमतः ॥२६४॥
तल्लेखदानपूर्वं सम्प्रति महितं मया प्रधानमिमम्।
अनुजानीहि विमानप्रस्थानप्रोन्मुखं प्रतीहारम् ॥२६५॥
अहमादाय कुटुम्बकमेष्यामि पुनस्त्विहैव युवराज।
शक्ष्यामि नामृतमयं चरणाम्भोजद्वयं तव त्यक्तुम् ॥२६६॥
इति तेन सुदृढमुक्ते प्राणधरेणैष वत्सराजसुतः।
लेखस्य लेखने तां न्ययुङ्क्त कर्पूरिकां तदैव वधूम् ॥२६७॥
तात न चिन्ता मयि ते कार्या मद्भर्तृसौख्यमदनजुषि।
किं हि महाब्धेः कमला चिन्तास्पदमाश्रितोत्तमं पुरुषम् ॥२६८॥
इति च स्वहस्तलिखिते कर्पूरिकया तयार्पिते लेखे।
क्षत्तृप्राणधरौ तौ वत्सेशसुतार्चितौ स विससर्ज ॥२६९॥
तौ चारुह्य विमानं गगनगती जातविस्मयैः सर्वैः।
दृष्टौ तीर्त्वा जलधिं ययतुः कर्पूरसम्भवं नगरम् ॥२७०॥
तत्र सुतां पतिसदनप्राप्तां संश्राव्य दत्तलेखौ तौ।
आनन्दयाम्बभूवतुरथ तं कर्पूरकं नराधिपतिम् ॥२७१॥
अन्येद्युरनुज्ञाप्य प्राणधरस्तं नृपं स सकुटुम्बः।
सम्भावितराज्यधरो नरवाहनदत्तपार्श्वमेवागात् ॥२७२॥
सोऽभ्यागताय सद्यः कृतकार्यायात्ममन्दिरसमीपे।
नरवाहनदत्तोऽस्मै प्रददौ वसतिं च जीवनं च महत् ॥२७३॥

तदनन्तर आकाश-यान की थकावट दूर करके नरवाहनदत्त, माता-पिता एवं पत्नियों के साथ अपने नगर के भवन में आया ॥२५९॥

घर पर आकर उसने अपने आश्रितों (सेवकों), बन्धुओं तथा मित्रों को जी खोलकर पुरस्कार प्रदान किया और श्वशुर के द्वारपाल तथा विमान-चालक प्राणधर को धन, रत्न आदि से भर दिया ॥२६०॥

भोजन करने के बाद प्रणाम करते हुए प्राणधर ने नरवाहनदत्त से निवेदन किया कि 'महाराज ! राजा कर्पूरक ने हम दोनों (मुझे और प्रतीहार) को ऐसी आज्ञा दी है कि मेरी कन्या के उसके पति के घर पहुँच जाने पर तुरन्त लौट आना, जिससे मैं शीघ्र उसे सकुशल वहाँ पहुँची हुई जान सकूँ ॥२६१-२६२॥

इसलिए, हम दोनों को निश्चय ही वहाँ अभी जाना चाहिए। आप हम दोनों को कर्पूरिका से अपने हाथ का लिखा हुआ पत्र दिलाइए ॥२६३॥

बिना हस्तलिखित पत्र के कन्या के प्रति स्नेही राजा का हृदय आश्वस्त न होगा। उसे विमान पर चढ़ने के कारण कर्पूरिका के उससे गिर जाने की शंका बनी होगी ॥२६४॥

इसलिए, आप पत्र-प्रदानपूर्वक मेरे साथ ही विमान चलाने की प्रतीक्षा करते हुए उस प्रधान प्रतीहार को प्रस्थान करने की आज्ञा प्रदान करें ॥२६५॥

हे युवराज ! मैं तो अपने कुटुम्ब को साथ लेकर फिर यहीं आऊँगा। मैं आपके इन अमृतमय चरण-कमलों को नहीं छोड़ूँगा' ॥२६६॥

इस प्रकार, प्राणधर के कहने पर नरवाहनदत्त ने कर्पूरिका को पत्र लिखने को निर्देश किया ॥२६७॥

'पिताजी ! अच्छे पति के सुख को पानेवाली मेरे लिए आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। क्या उत्तमपुरुष (विष्णु) को प्रदान की गई लक्ष्मी के लिए चिन्ता करना योग्य है ?' ॥२६८॥

इस प्रकार कर्पूरिका के हस्तलिखित पत्र के देने पर धन-मान आदि से सत्कृत प्राणधर और प्रतीहार को वत्सराजपुत्र नरवाहनदत्त ने बिदा किया ॥२६९॥

आश्चर्य-चकित जनता द्वारा देखे गये वे दोनों विमान पर चढ़कर आकाश-मार्ग से समुद्र को पार कर कर्पूरसम्भव द्वीप को पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने कन्या को पति-गृह में पहुँचने का समाचार सुनाकर और कर्पूरिका का पत्र देकर राजा कर्पूरक को आनन्दित किया ॥२७०-२७१॥

दूसरे दिन, प्राणधर कर्पूरक राजा से आज्ञा लेकर, अपने कुटम्ब के साथ, छोटे भाई राज्यधर का सम्मान करता हुआ पुनः नरवाहनदत्त के पास ही आ गया ॥२७२॥

नरवाहनदत्त ने भी आये हुए अपने उपकारी प्राणधर को, अपने भवन के समीप ही निवास-स्थान और बड़ी वृत्ति (जीविका) प्रदान की ॥२७३॥

चिक्रीड च तद्विहितैरवरोधसखो विमानकैर्विचरन्।
अभ्यस्यदिव भविष्यद्विद्याधरचक्रवर्तिगगनगतिम् ॥२७४॥
इत्यत्र नन्दितसुहृत्स्वजनावरोधो वत्सेश्वरस्य तनयोऽथ स तान्यहानि।
रत्नप्रभामदनमञ्चुकयोस्तृतीयां कर्पूरिकां समधिगम्य सुखं निनाय॥२७५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे रत्नप्रभालम्बके
नवमस्तरङ्गः।

समाप्तश्चायं रत्नप्रभालम्बकः सप्तमः।

और, अपनी रानियों के साथ उसके बनाये हुए विमानों के द्वारा व्योम-विहार करता हुआ मानों विद्याधर-चक्रवर्ती होने की शिक्षा प्राप्त करने लगा ॥२७४॥

इस प्रकार, अपने बन्धु-बान्धवों एवं मित्रों को आनन्दित करता हुआ नरवाहनदत्त, मदनमंचुका और रत्नप्रभा में तीसरी कर्पूरिका के साथ सुख से दिन बिताने लगा ॥२७५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्टविरचित कथासरित्सागर के रत्नप्रभा लम्बक का
नवम तरंग समाप्त

रत्नप्रभा नामक सप्तम लम्बक समाप्त

सूर्यप्रभो नामाष्टमो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

प्रथमस्तरङ्गः

मङ्गलाचरणम्

चलत्कर्णानिलोद्धूतसिन्दूरारुणिताम्बरः।
जयत्यकालेऽपि सृजन् सन्ध्यामिव गजाननः॥१॥

नरवाहनदत्तकथा (पूर्वानुसृता)

एवं वत्सेश्वरसुतः कौशाम्ब्यां स पितुर्गृहे।
नरवाहनदत्तस्ता भार्याः प्राप्यावसत्सुखम्॥२॥
एकदा पितुरास्थाने स्थितश्च पुरुषं दिवः।
अवतीर्यागतं तत्र दिव्यरूपं ददर्श सः॥३॥
प्रणतं तं च सत्कृत्य पित्रा साकं क्षणान्तरे।
कस्त्वं किमागतोऽसीति पृष्टवान्सोऽप्यथाब्रवीत्॥४॥

वज्रप्रभवर्णिता आत्मकथा

अस्तीह वज्रकूटाख्यं पृष्ठे हिमवतः पुरम्।
वज्रसारमयत्वाद्यत्ख्यातमन्वर्थनामकम्॥५॥

सूर्यप्रभ नामक अष्टम लम्बक

नगेन्द्र-नन्दिनी पार्वती के प्रबल प्रणय-मन्दराचल के मन्थन द्वारा शिवजी के मुख-रूपी समुद्र से निकले हुए इस कथा-रूपी अमृत का जो लोग आदर और आग्रह-पूर्वक पान करते हैं, वे शिवजी की कृपा से निर्विघ्न सिद्धियों को प्राप्त कर, दिव्य पद लाभ करते हैं।

प्रथम तरंग

मंगलाचरण

हिलते हुए कानों की वायु द्वारा उड़े हुए सिन्दूर से, आकाश को लाल करते हुए, अतएव मानों असमय में ही सन्ध्या की सृष्टि करते हुए गजानन की जय हो ॥१॥

नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत)

तदनन्तर, वत्सेश्वर (उदयन) का पुत्र नरवाहनदत्त, कौशाम्बी नगरी में पिता के घर पर उन पत्नियों को पाकर आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥२॥

एक बार पिता के दरबार में बैठे हुए उसने (नरवाहनदत्त ने) आकाश से उतरे हुए किसी दिव्य पुरुष को देखा ॥३॥

प्रणाम करते हुए उस पुरुष को पिता के साथ सत्कार करके 'आप कौन हैं? कैसे आये हैं?' नरवाहनदत्त के ऐसा प्रश्न करने पर उसने कहा—॥४॥

वज्रप्रभ से वर्णित आत्मवृत्तान्त

इस धरातल में हिमालय के शिखर पर वज्रकूट नाम का नगर है, जो वज्र के सार से निर्मित होने के कारण नाम के समान ही गुणवाला भी है ॥५॥

तत्र वज्रप्रभाख्योऽहमासं विद्याधराधिपः।
वज्रनिर्मितदेहत्वान्नामान्वर्थं तथैव मे ॥६॥
'मन्निर्मिते यथाकालं भक्तः संश्चक्रवर्त्तिनि।
अजेयस्त्वं विपक्षाणां मत्प्रसादाद् भविष्यसि' ॥७॥
इति चाहं तपस्तुष्टेनादिष्टः शम्भुना यदा।
तदा प्रभोः प्रणामार्थमागतोऽस्मीह साम्प्रतम् ॥८॥
वत्सराजसुतो दिव्यं कल्पं कामांशसम्भवः।
नरवाहनदत्तो नः शशिशेखरनिर्मितः ॥९॥
मर्त्योऽप्युभयवेद्यर्धचक्रवर्त्ती[1] भविष्यति।
इति विद्याप्रभावेण विज्ञातं ह्यधुना मया ॥१०॥
आसीच्च दिव्यं कल्पं नः पुरा मर्त्योऽप्यनुग्रहात्।
शार्वात्सूर्यप्रभो नाम चक्रवर्तीह यद्यपि ॥११॥
तथाप्यभूत् स एकस्मिन्वेद्यर्धे दक्षिणे प्रभुः।
उत्तरे श्रुतशर्माख्यश्चक्रवर्त्ती त्वभूत्तदा ॥१२॥
उभयोस्तु तयोरेकः कल्पस्थायी द्युचारिणाम्।
चक्रवर्त्यत्र भविता देव एवातिपुण्यवान् ॥१३॥
इत्युक्तवन्तं वत्सेशसहितस्तं कुतूहलात्।
नरवाहनदत्तः स प्राह विद्याधरं पुनः ॥१४॥
कथं विद्याधरैश्वर्यं मानुषेण सता पुरा।
प्राप्तं सूर्यप्रभेणेति त्वया नः कथ्यतामिति ॥१५॥
ततो विविक्ते देवीनां मन्त्रिणां सन्निधौ च सः।
राजा वज्रप्रभो वक्तुं कथां तामुपचक्रमे ॥१६॥

सूर्यप्रभचरितम्

शाकलं[2] नाम मद्रेषु बभूव नगरं पुरा।
चन्द्रप्रभाख्यस्तत्रासीद्राजाङ्गारप्रभात्मजः ॥१७॥

---

१. उत्तरध्रुव-दक्षिणध्रुवौ,देवस्थानत्वेन वर्ण्येते, दक्षिणध्रुवदेवस्थानं पितृयाण-मार्गत्वेन, उत्तरध्रुवदेवस्थानं च देवयानमार्गत्वेन कथ्यते। अत्र द्वयोरपि स्थानयोर्विद्याधराणां राज्यमासीत्।

२. साम्प्रतं 'स्यालकोट' इति प्रसिद्धं नगरं पाकिस्ताने सम्मिलितम्।

मैं उस नगर में वज्रप्रभ नाम का विद्याधरों का राजा था और मेरा शरीर वज्र-निर्मित होने के कारण मेरा नाम सार्थक था ॥६॥

'यथासमय मेरे बनाये हुए विद्याधर-चक्रवर्ती का तू भक्त बनकर मेरी कृपा से शत्रुओं के लिए अजेय होगा', मेरी तपस्या से सन्तुष्ट शिवजी के इस आदेशानुसार, हे स्वामिन् ! इस समय मैं आपको प्रणाम करने आया हूँ ॥७—८॥

कामदेव के अंश से उत्पन्न वत्सराज का पुत्र नरवाहनदत्त ही मनुष्य होने पर भी विद्याधरों की दोनों वेदियों[1] का एक दिव्य कल्प तक शिवजी के द्वारा आधा चक्रवर्ती बनाया गया है। मैंने अपनी विद्या के प्रभाव से यह जाना और इसीलिए अभी आपके समीप आया हूँ ॥९—१०॥

शिवजी की कृपा से पहले भी मनुष्य होकर एक दिव्य कल्प तक दक्षिण ओर की आधी वेदी का स्वामी सूर्यप्रभ हुआ था, और उत्तर में श्रुतशर्मा नामका चक्रवर्ती हुआ था, किन्तु दोनों वेदियों के आकाशचारियों के एक चक्रवर्ती होनेवाले आप अत्यन्त पुण्यवान् हैं ॥११—१३॥

वज्रप्रभ के इस प्रकार कहने पर वत्सराज और नरवाहनदत्त दोनों ने अत्यन्त कौतूहल के साथ उस विद्याधर से फिर कहा—॥१४॥

'मनुष्य होकर भी, सूर्यप्रभ ने, विद्याधरों के चक्रवर्ती का पद पहले समय में कैसे प्राप्त किया, यह तुम हमें बताओ' ॥१५॥

तब एकान्त में महारानियों और मन्त्रियों की उपस्थिति में राजा वज्रप्रभ ने उनसे कहना प्रारम्भ किया—॥१६॥

सूर्यप्रभ का चरित

'प्राचीन समय में मद्र देश में शाकल[2] नाम का एक नगर था। वहाँ अग्नि के समान तेजस्वी अंगारप्रभ का पुत्र चन्द्रप्रभ नाम का राजा था ॥१७॥

---

१. उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के दो देव-स्थान। आर्य धर्मशास्त्रों में दक्षिणी ध्रुव के देव-स्थान को पितृयान-मार्ग और उत्तरी ध्रुव के देव-स्थान को देवयान-मार्ग कहा गया है। इन दोनों स्थानों पर विद्याधरों का निवास और राज्य था। दोनों वेदियों का शासक चक्रवर्ती कहा जाता था।—अनु०

२. शाकल। वर्तमान समय का स्यालकोट नगर, जो अब पाकिस्तान में है। —अनु०

आह्लादकारी विश्वस्य नाम्नान्वर्थोऽपि यो भवन्।
सन्तापकारी शत्रूणां बभूव ज्वलनप्रभः ॥१८॥
कीर्त्तिमत्यभिधानायां तस्य देव्यामजायत।
पुत्रो नृपस्यातिशुभैर्लक्षणैः सूचितोदयः ॥१९॥
एष सूर्यप्रभो नाम राजा जातः पुरारिणा।
भावी विद्याधराधीशश्चक्रवर्त्ती विनिर्मितः ॥२०॥
इत्युच्चचार गगनात्तस्मिञ्जाते स्फुटं वचः।
सुधावर्षं श्रवणयोश्चन्द्रप्रभमहीभृतः ॥२१॥
ततस्तस्य पुरारातिप्रसादोत्सवशालिनः।
सूर्यप्रभः स ववृधे राजपुत्रः पितुर्गृहे ॥२२॥
बाल एव च विद्यानां कलानां च क्रमेण सः।
सर्वासां सुमतिः पारमुपामितगुर्व्ययौ ॥२३॥
पूर्णषोडशवर्षं च गुणैरावर्जितप्रजम्।
यौवराज्येऽभ्यषिञ्चत्तं पिता चन्द्रप्रभोऽथ सः ॥२४॥
स एव मन्त्रिपुत्रांश्च निजांस्तस्मै समर्पयत्।
भासप्रभाससिद्धार्थप्रहस्तप्रभृतीन्बहून् ॥२५॥
तैः समं युवराजत्वधुरं तस्मिंश्च बिभ्रति।
आजगामैकदा तत्र मयो नाम महासुरः ॥२६॥
आस्थाने च स तं चन्द्रप्रभं सूर्यप्रभे स्थिते।
उपेत्य रचितातिथ्यं जगादैवं मयो नृपम् ॥२७॥
राजन् विद्याधरेशानां चक्रवर्ती त्रिशूलिना।
अयं विनिर्मितो भावी पुत्रः सूर्यप्रभस्तव ॥२८॥
तत्किं न साधयत्येष विद्यास्तत्प्राप्तिदायिनीः।
एतदर्थं विसृष्टोऽहमिह देवेन शम्भुना ॥२९॥
अनुजानीहि तद्यावन्नीत्वैनं शिक्षयाम्यहम्।
विद्याधरेन्द्रताहेतुं विद्यासाधनसत्क्रियाम् ॥३०॥
एतस्य परिपन्थी[1] हि कार्येऽस्मिन्खेचरेश्वरः।
विद्यते श्रुतशर्माख्यः सोऽपि शक्रेण निर्मितः ॥३१॥

---

१. परिपन्थी=विरोधी, शत्रुः।

चन्द्रप्रभ नाम का वह राजा विश्व को आह्लाद देनेवाला अतएव समुचित नामवाला होने पर भी शत्रुओं के लिए अग्नि के समान सन्तापदायक था ॥१८॥

उस राजा की कीर्त्तिमती नाम की महारानी से अत्यन्त शुभ लक्षणों से सूचित उत्कर्षवाला प्रभावशाली पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१९॥

'यह सूर्यप्रभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है, जिसे शंकर भगवान् ने पहले से ही विद्याधरों का भावी चक्रवर्त्ती बनाया है' ॥२०॥

उसके उत्पन्न होने पर राजा चन्द्रप्रभ के कानों के लिए अमृत-वर्षा के समान इस प्रकार स्पष्ट आकाशवाणी हुई ॥२१॥

तदनन्तर, शिवजी की कृपा से अत्यन्त उत्सव-युक्त चन्द्रप्रभ के राजगृह में, वह सूर्यप्रभ, क्रमशः बड़ा होने लगा ॥२२॥

तीव्रबुद्धि वह सूर्यप्रभ, बालकपन में ही क्रमशः गुरुओं की उपासना से, सभी विद्याओं और कलाओं में पारंगत होगया ॥२३॥

अपने गुणों से प्रजा को आकृष्ट करनेवाले सोलह वर्ष के उस कुमार सूर्यप्रभ को पिता चन्द्रप्रभ ने युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिया ॥२४॥

और, अपने मन्त्रियों के पुत्र भास, प्रभास, सिद्धार्थ, प्रहस्त आदि को कुमार के लिए मन्त्री नियुक्त कर दिया ॥२५॥

जब सूर्यप्रभ, उन मन्त्रिपुत्रों के साथ, युवराज का कार्य कर रहा था, इसी बीच एक बार मय नामक असुर वहाँ आया ॥२६॥

आतिथ्य-सत्कार कर लेने के उपरान्त, मयासुर ने सूर्यप्रभ के साथ दरबार में बैठे हुए चन्द्रप्रभ से कहा—॥२७॥

'राजन्, शिवजी ने तुम्हारे इस पुत्र सूर्यप्रभ को विद्याधर-राजाओं का भावी चक्रवर्त्ती नियुक्त किया है ॥२८॥

तो यह सूर्यप्रभ, उस विद्याधर-चक्रवर्त्ती के पद को प्राप्त करानेवाली विद्याओं को क्यों नहीं सिद्ध करता', इसीलिए शिवजी ने मुझे भेजा है ॥२९॥

आप आज्ञा दीजिए कि मैं उसे ले जाकर विद्याधर-चक्रवर्त्ती के पद की साधक विद्याओं को सिद्ध करने की क्रिया उसे सिखा देता हूँ ॥३०॥

इस सूर्यप्रभ का विरोधी विद्याधरों का सम्राट् श्रुतशर्मा है, जिसे इन्द्र ने बनाया है ॥३१॥

सिद्धविद्याप्रभावस्तु सहास्माभिर्विजित्य तम्।
एष विद्याधराधीशचक्रवर्त्तित्वमाप्स्यति ॥३२॥
एवं मयेनाभिहिते राजा चन्द्रप्रभोऽब्रवीत्।
धन्याः स्मः पुण्यवानेष यथेच्छं नीयतामिति ॥३३॥
ततस्तमामन्त्र्य नृपं तदनुज्ञानमाशु तम्।
सूर्यप्रभं स सामात्यं पातालं नीतवान्मयः ॥३४॥
तत्रोपदिष्टवांस्तस्मै स तपांसि तथा यथा।
राजपुत्रः स सामात्यो विद्याः शीघ्रमसाधयत् ॥३५॥
विमानसाधनं तस्मै तथैवोपदिदेश सः।
तेन भूतासनं नाम स विमानमुपार्जयत् ॥३६॥
तद्विमानाधिरूढं तं सिद्धविद्यं समन्त्रिकम्।
सूर्यप्रभं स पातालान्मयः स्वपुरमानयत् ॥३७॥
प्रापय्य पित्रोः पार्श्वं च तं जगाद व्रजाम्यहम्।
त्वं 'सिद्धिभोगान्भुंङ्क्ष्वेह यावदेष्याम्यहं पुनः' ॥३८॥
इत्यूचिवानात्तपूजो जगाम स मयासुरः।
ननन्द विद्यासिद्ध्या च सूनोश्चन्द्रप्रभो नृपः ॥३९॥
सोऽथ सूर्यप्रभो विद्याप्रभावान्सचिवैः सह।
नानादेशान् विमानेन सदा बभ्राम लीलया ॥४०॥
यत्र यत्र च या या तमपश्यद्राजकन्यका।
तत्र तत्र स्वयं वव्रे सा सा तं काममोहिता ॥४१॥
एका मदनसेनाख्या ताम्रलिप्त्यां[1] महीपतेः।
सुता वीरभटाख्यस्य कन्या लोकैकसुन्दरी ॥४२॥
द्वितीया सुभटाख्यस्य तनया चन्द्रिकावती।
अपरान्ता[2]धिराजस्य सिद्धैर्नीत्वोज्झितान्यतः ॥४३॥
काञ्चीनगर्या नृपतेः कुम्भीराख्यस्य चात्मजा।
ख्याता वरुणसेनाख्या तृतीया रूपशालिनी ॥४४॥

---

१. साम्प्रतं 'तामलुक' इति बंगदेशे प्रसिद्धम्।
२. 'गोवा' प्रान्तः साम्प्रतं पुर्तगाल साम्राज्येनाधिकृतः।

'यह सूर्यप्रभ, विद्याओं की सिद्धि से प्रभावशाली होकर, हम लोगों के साथ उसे जीत कर, विद्याधर-चक्रवर्ती का पद प्राप्त करेगा' ॥३२॥

मय के ऐसा कहने पर राजा चन्द्रप्रभ ने कहा—'मैं धन्य हूँ और यह सूर्यप्रभ भी पुण्यवान् है, आप अपनी इच्छानुसार इसे ले जायँ' ॥३३॥

तदनन्तर चन्द्रप्रभ से परामर्श कर और उससे आज्ञा प्राप्त सूर्यप्रभ को उसके मित्र मन्त्रियों के साथ मयासुर पाताल ले गया ॥३४॥

पाताल ले जाकर मयासुर ने, सूर्यप्रभ को जैसे-जैसे उपदेश किया, उसने भी मन्त्रियों के साथ वैसे ही वैसे तपस्याओं द्वारा विद्याओं की सिद्धि प्राप्त की ॥३५॥

अन्य विद्याओं के अतिरिक्त मय ने उसे विमान की साधना का भी उपदेश दिया, जिससे उसने भूतासन नाम के विमान का निर्माण किया ॥३६॥

तदनन्तर मय, उसी विमान पर आरूढ़ विद्याओं को सिद्ध किये हुए सूर्यप्रभ को उसके मित्र मन्त्रियों के साथ उसके पिता राजा चन्द्रप्रभ के समीप ले आया ॥३७॥

उसे माता-पिता के समीप पहुँचाकर मय ने कहा—'मैं जाता हूँ, तुम अपनी सिद्धि से सांसारिक भोगों को भोगो, तबतक मैं फिर आऊँगा' ॥३८॥

ऐसा कहकर और सूर्यप्रभ से सत्कृत मयासुर चला गया और राजा चन्द्रप्रभ पुत्र की विद्या-सिद्धि से बहुत प्रसन्न हुआ ॥३९॥

तदनन्तर सूर्यप्रभ, विद्याओं की सिद्धि के प्रभाव से, अपने मन्त्रियों के साथ, विमान के द्वारा भिन्न-भिन्न देशों में सरलतापूर्वक घूमने लगा ॥४०॥

जहाँ-जहाँ जो-जो राजकुमारी उसे देखती थी, वह-वह उस पर मोहित होकर उसका वरण कर लेती थी ॥४१॥

उनमें ताम्रलिप्ती के राजा वीरभट की अद्वितीय सुन्दरी पुत्री मदनसेना पहली राजकुमारी थी ॥४२॥

दूसरी, अपरांत (कोंकण[1]) के राजा सुभट की चन्द्रिकावती कन्या थी; जिसे सिद्ध लोग कहीं से लाकर सुभट के पास छोड़ गये थे ॥४३॥

तीसरी अत्यन्त सुन्दरी कन्या[2] कांची नगरी के राजा कुम्भीर की, वरुणसेना नाम की थी ॥४४॥

---

१. यह प्रदेश आजकल गोवा में सम्मिलित है।—अनु०

२. कांची, मद्रास के पास प्रसिद्ध पुण्यपुरी है। यहाँ के पल्लव राजा प्रसिद्ध थे।—अनु०

लावाणकाधिराजस्य पौरवाख्यस्य भूपतेः।
सुता सुलोचना नाम चतुर्थी चारुलोचना ॥४५॥
चीनदेशपते राज्ञः सुरोहस्यात्मसम्भवा।
हारिहेमावदाताङ्गी[1] विद्युन्मालेति पञ्चमी ॥४६॥
कान्तिसेनस्य नृपतेः श्रीकण्ठविषयप्रभोः।
सुता कान्तिमती नाम षष्ठी कान्तिजिताप्सराः ॥४७॥
जनमेजयभूपस्य कौशाम्बीनगरीपतेः।
तनया परपुष्टाख्या सप्तमी मञ्जुभाषिणी ॥४८॥
अविज्ञातहृतानां च तासां बुद्ध्वापि बान्धवाः।
विद्याबलोद्धते तस्मिन्नासन्वेतसवृत्तयः[2] ॥४९॥
ताभिश्चोपात्तविद्याभिः समं युगपदागमन्।
विद्याविरचितानेकदेहः सूर्यप्रभोऽत्र सः ॥५०॥
नभोविहारसङ्गीतपानगोष्ठ्यादिभिस्तथा।
चिक्रीड सहितस्ताभिः प्रहस्ताद्यैश्च मन्त्रिभिः ॥५१॥
दिव्यचित्रकलाभिज्ञो लिखन्विद्याधराङ्गनाः।
कुर्वंश्च नर्मवक्रोक्तीः कोपयामास ताः प्रियाः ॥५२॥
रेमे च तासां वदनैः सभ्रूभङ्गारुणेक्षणैः।
वचनैश्च सकम्पौष्ठपुटविस्खलिताक्षरैः ॥५३॥
सदारस्ताम्रलिप्तीं च गत्वोद्यानेषु खेचरः।
स राजसूनुर्व्यहरत् समं मदनसेनया ॥५४॥
स्थापयित्वा प्रियाश्चात्र भूतासनविमानगः।
जगाम वज्रसाराख्यं प्रहस्तैकसखः पुरम् ॥५५॥
जग्राह तत्र तनयां राज्ञो रम्भस्य पश्यतः।
रक्तां तारावलीं नाम दह्यमानां स्मराग्निना ॥५६॥
आययौ ताम्रलिप्तीं च पुनस्तत्राप्युपाहरत्।
अपरां राजतनयां कन्यां नाम्ना विलासिनीम् ॥५७॥
तदर्थं कुपितायातं तस्या भ्रातरमुद्धतम्।
स सहस्रायुधं नाम विद्यया स्तम्भितं व्यधात् ॥५८॥

---

१. सुन्दरसुवर्णवर्णा। २. जलप्रवाहे वेतसवत्प्रणताः।

चौथी, लावाणक के राजा पौरव की सुनयनी सुलोचना नाम की कन्या थी ॥४५॥

पाँचवीं, चीन के राजा सुरोह की सोने के रंगवाली विद्युन्माला नाम की सुन्दरी कन्या थी ॥४६॥

छठी श्रीकंठ देश के राजा कान्तिसेन की कुमारी कान्तिमती थी, जो अपने सौन्दर्य से अप्सराओं को जीतती थी ॥४७॥

कौशाम्बी नगरी के राजा जनमेजय की मधुरभाषिणी परपुष्टा नाम की कन्या सातवीं थी ॥४८॥

अनजान में अपहरण की गई उन कन्याओं के बन्धुगण, सूर्यप्रभ को जान लेने पर भी, उसकी विद्याओं के प्रभाव से बेंत के समान काँपते थे ॥४९॥

सूर्यप्रभ ने, उन कन्याओं को भी विद्याओं का उपदेश कर दिया था और स्वयं विद्या के प्रभाव से अनेक देह धारण करके एक साथ ही सबके साथ रमण करता था ॥५०॥

राजा सूर्यप्रभ, आकाश-विहार, संगीत, पान-गोष्ठी आदि से उनके तथा प्रहस्त आदि मन्त्रियों के साथ, आनन्द-भोग में समय व्यतीत करता था ॥५१॥

और, दिव्य चित्रकला का जानकार वह सूर्यप्रभ, दिव्य विद्याधरियों के चित्र बनाकर अपनी प्रियतमाओं को प्रणय-क्रुद्ध करता था ॥५२॥

टेढ़ी भौहों और क्रोध से लाल नेत्रोंवाली तथा क्रोध से काँपते हुए ओठों से लड़खड़ाकर अस्फुट बोलती हुई उन पत्नियों के साथ हास्य-विनोद करता हुआ वह आनन्द का अनुभव करता था ॥५३॥

वह राजपुत्र, आकाश-मार्ग से ताम्रलिप्ती नगरी में जाकर उसके उद्यानों में, मदनसेना के साथ विहार करता था ॥५४॥

एक बार वह, अपनी सभी पत्नियों को भूतासन नामक विमान में बैठाकर, प्रहस्त नामक मन्त्री को साथ लेकर, वज्रसार नामक नगरी में गया ॥५५॥

वहाँ राजा रम्भ के देखते-देखते कामाग्नि से सन्तप्त उसकी तारावली नाम की कन्या को उठा लाया ॥५६॥

वह वहाँ से फिर ताम्रलिप्ती आया और वहाँ से विलासिनी नाम की दूसरी राजकन्या का भी अपहरण कर लिया ॥५७॥

इस बात से क्रुध और युद्ध के लिए आये हुए सहस्रायुध नामक उसके भाई को सूर्यप्रभ ने, अपनी विद्या के प्रभाव से बाँधकर स्तब्ध और विवश कर दिया ॥५८॥

मातुलं च सहायातं तस्य संस्तम्य सानुगम् ।
चक्रे मुण्डितमूर्धानं तत्कान्ताहरणैषिणम् ॥५९॥
भार्याबन्धू इति क्रुद्धोऽप्यवधीन्न स तावुभौ ।
दर्पभङ्गवलक्षौ तु विहस्य प्रतिमुक्तवान् ॥६०॥
ततः स नवभिः सूर्यप्रभः कान्ताभिरन्वितः ।
पित्राहूतो विमानेन स्वपुरं शाकलं ययौ ॥६१॥
ततश्चास्य पितुश्चन्द्रप्रभभूमिभृतोऽन्तिकम् ।
प्राहिणोत्ताम्रलिप्तीतो दूतं वीरभटो नृपः ॥६२॥
सन्दिदेश च पुत्रेण तव मेऽपहृते सुते ।
तदस्तु विद्यासिद्धो हि श्लाघ्य एव पतिस्तयोः ॥६३॥
स्नेहश्च यदि वोऽस्मासु तदिहागच्छताधुना ।
विवाहाचारसत्कारसम्यं यावद्विदध्महे ॥६४॥
एतच्छ्रुत्वा स सत्कृत्य दूतं निश्चितवांस्तदा ।
श्व एव तत्र गमनं राजा चन्द्रप्रभो द्रुतम् ॥६५॥
सत्यत्वनिश्चयं ज्ञातु राज्ञो वीरभटस्य तु ।
प्रहस्तं प्राहिणोन्मत्वा दूरं दूतगमागमौ ॥६६॥
स प्रहस्तो जवाद् गत्वा दृष्ट्वा वीरभटं च तम् ।
नृपं दृष्ट्वा च तत्कार्यं तच्छ्रद्धितमपूजितः ॥६७॥
तस्मै सविस्मयायोक्त्वा प्रभुणा प्रातरागमम् ।
मुहूर्तेनाययौ चन्द्रप्रभपार्श्वं विहायसा ॥६८॥
शशंस तस्मै राज्ञे च सज्जं वीरभटं स्थितम् ।
सोऽपि तं सचिवं सूनोस्तुष्टो राजाभ्यपूजयत् ॥६९॥
ततः कीर्तिमतीदेव्या सह चन्द्रप्रभः प्रभुः ।
सूर्यप्रभो विलासिन्या तथा मदनसेनया ॥७०॥
भूतासनमानं तदारुह्य सपरिच्छदौ ।
सामात्यौ चापरेद्युस्तौ प्रातः प्रययतुस्ततः ॥७१॥
अह्नः प्रहरमात्रेण ताम्रलिप्तीमवापतुः ।
दृश्यमानौ जनैर्व्योम्नि कौतुकोत्क्षिप्तलोचनैः ॥७२॥
नभस्तलावतीर्णौ च कृतप्रत्युद्गमेन तौ ।
राज्ञा वीरभटेनैतां समं विविशतुः पुरीम् ॥७३॥

सेना के साथ आये हुए उसके मामा को भी बाँधकर उसका सिर मुँड़वा दिया। दर्पभंग और विलक्ष नाम के सालों का उसने क्रुद्ध होकर भी वध नहीं किया, प्रत्युत हँसकर उन्हें छोड़ दिया ॥५९-६०॥

तदनन्तर पिता के बुलाने पर वह सूर्यप्रभ, अपनी उन नव पत्नियां के साथ अपने घर शाकलपुर (स्यालकोट) चला गया ॥६१॥

तब उसके पिता चन्द्रप्रभ के समीप ताम्रलिप्ती से राजा वीरभट ने दूत भेजा और सन्देश दिया कि तुम्हारे पुत्र ने मेरी दो कन्याओं का अपहरण किया है, वह विद्याओं की सिद्धिवाला योग्य पति है, इसलिए ठीक है॥६२-६३॥

यदि आपको हम पर स्नेह है, तो आप यहाँ आयें, जिससे विवाह-संस्कार द्वारा हम मित्रता स्थापित कर सकें ॥६४॥

दूत का यह वाक्य सुनकर राजा चन्द्रप्रभ ने, उसका सत्कार करके, दूसरे ही दिन, ताम्रलिप्ती जाने का निश्चय किया ॥६५॥

राजा चन्द्रप्रभ ने राजा वीरभट की सचाई परखने के लिए दूत का आना-जाना दूर होने से कठिन समझकर प्रहस्त को पहले वहाँ भेज दिया ॥६६॥

प्रहस्त शीघ्र ही जाकर वीरभट से मिला और वीरभट द्वारा उसका श्रद्धापूर्वक स्वागत-सत्कार किया गया ॥६७॥

प्रहस्त ने आश्चर्य-चकित वीरभट को प्रातःकाल ही स्वामी के आने की सूचना दी और घड़ी-भर में ही आकाश-मार्ग से वह चन्द्रप्रभ के समीप लौट आया ॥६८॥

और कहा कि राजा वीरभट कन्यादान के लिए तैयार बैठे हैं। चन्द्रप्रभ ने भी प्रसन्न होकर मन्त्री प्रहस्त का समुचित स्वागत-सम्मान किया ॥६९॥

तदनन्तर, प्रातःकाल ही राजा चन्द्रप्रभ, महारानी कीर्त्तिमती के साथ था तथा सूर्यप्रभ, विलासिनी और मदनसेना के साथ अपने सेवक आदि को संग लेकर भूतासन नामक विमान में बैठकर मन्त्रियों-सहित बरात लेकर चल दिये ॥७०-७१॥

प्रातःकाल दिन के पहले प्रहर में ये लोग ताम्रलिप्ती नगरी जा पहुँचे, जब कि नागरिक जन कौतुक के साथ आँखें ऊपर करके उन्हें देख रहे थे ॥७२॥

आकाश-मार्ग से उतरे हुए उन लोगों की वीरभट द्वारा अगवानी किये जाने पर, उसी के साथ वे लोग नगरी में प्रविष्ट हुए ॥७३॥

चन्दनोदकसंसिक्तचारुरथ्यां पदे पदे।
कटाक्षैः पौरनारीणां प्रकीर्णेन्दीवरामिव ॥७४॥
तत्र सम्बन्धिजामात्रोः कृत्वा वीरभटस्तयोः।
पूजां यथावत्तनया-विवाहप्रक्रियां व्यधात् ॥७५॥
विशुद्धस्य हि भाराणां[1] सहस्रं काञ्चनस्य च।
भृतं च शतमुष्ट्राणां रत्नाभरणभारकैः ॥७६॥
उष्ट्रपञ्चशतीं नानावस्त्रभाराभिपूरिताम्।
वाजिनां च सहस्राणि सप्त पञ्च च दन्तिनाम् ॥७७॥
रूपाभरणयुक्तानां सहस्रं वारयोषिताम्।
वेद्यां दुहित्रोः प्रददौ राजा वीरभटस्तयोः ॥७८॥
सूर्यप्रभस्य जामातुस्तत्पितुश्च तयोः पुनः।
उपचारं ससद्रत्नैश्चकार विषयैस्तथा ॥७९॥
तन्मन्त्रिणो यथावच्च प्रहस्तादीनमानयत्।
चकार सोत्सवं हृष्यदशेषनगरीजनम् ॥८०॥
सूर्यप्रभश्च तत्रासीत्पितृयुक्तः प्रियासखः।
तत्कालं विविधाहारपानगेयादिभोगभुक् ॥८१॥
तावच्च तत्र रम्भस्य सकाशाद्वज्ररात्रतः।
आगाद्दूतः स चास्थाने जगाद स्वप्रभोर्वचः ॥८२॥
विद्याबलावलिप्तेन युवराजेन नः कृतः।
सूर्यप्रभेण तनयाहरणोत्थः पराभवः ॥८३॥
अद्य च ज्ञातमस्माभिर्यद्वीरभटभूभृतः।
प्रतिपन्नाः स्थ सन्धाने समानव्यसनस्य नः ॥८४॥
तथैव चानुमन्यध्वे यद्यस्मत्सन्धिमाशु तत्।
इहाप्यागम्यतां नो चेन्मृत्युना नोऽत्र निष्कृतिः ॥८५॥
तच्छ्रुत्वा तं च सम्मान्य दूतं वीरभटार्चितः।
प्रहस्तं सोऽब्रवीद्राजा तत्र चन्द्रप्रभः पुनः ॥८६॥
त्वमेव गच्छ तं रम्भमस्मद्वाक्यादिदं वद।
किं तप्यसे वृथा भावी चक्रवर्त्ती हि निर्मितः ॥८७॥
विद्याधराणां गिरिशेनैष सूर्यप्रभोऽधुना।
अस्यैतास्त्वत्सुताद्याश्च भार्याः सिद्धैरुदाहृताः ॥८८॥

---

१. भारः, प्राचीनकालप्रचलितो मानः। 'भारः स्यात् विंशतिस्तुला' इत्यमरः। साम्प्रतं मानानुसारं सार्धद्विमण (२॥ मन)-मितः, यदेकेन भारवाहकेन वोढुं शक्यते।

इस अवसर पर, सारी नगरी की गलियाँ और सड़कें, चन्दन के जल से सींची गई थीं और नागरिक रमणियों के सकटाक्ष नयन मानों उनपर फैले हुए थे ॥७४॥

राजभवन में जाकर वीरभट ने, अपने समधी और जामाता का विधिवत् स्वागत-सत्कार करके शास्त्रानुसार कन्यादान की विधि सम्पन्न की। दहेज में विशुद्ध स्वर्ण के दस भार[1], रत्न और आभूषणों से लदे हुए एक सौ ऊँट और विविध प्रकार के वस्त्रादि से लदे हुए पाँच सौ ऊँट, सात हजार घोड़े, पाँच हजार हाथी तथा सुन्दर आभूषणों से लदी हुई एक हजार रूपवती स्त्रियाँ (दासियाँ) उन दोनों कन्यायों के विवाहोत्सव पर दीं ॥७५-७८॥

इसके अतिरिक्त समधी और जामाता का अच्छे-अच्छे रत्नों और वस्त्राभरणों से तथा भूमिदान से विशेष सत्कार किया ॥७९॥

उसी प्रकार अति प्रसन्न नागरिक जनों के साथ, राजा के प्रहस्त आदि मन्त्रियों का भी विधिपूर्वक सत्कार किया ॥८०॥

इस अवसर पर माता-पिता के साथ सूर्यप्रभ भी, विविध प्रकार के भोजन, पान, गान, वाद्य आदि का आनन्द लेने लगा ॥८१॥

इसी बीच रम्भ के राजा वज्रप्रभ की ओर से दूत आया और दरबार में बैठे हुए सूर्यप्रभ से अपने स्वामी का सन्देश कहा—'हे महाराज, विद्याओं के बल से मदोन्मत्त सूर्यप्रभ ने मेरा कन्या-हरण-रूपी (अपमान) किया है ॥८२-८३॥

ज्ञात हुआ है कि मेरे ही समान विपत्ति (कन्या-हरण) वाले राजा वीरभट से आज आपने मित्रता स्वीकार की है। इसी प्रकार, आप मेरे साथ सन्धि करें और यहाँ पधारें, अन्यथा अपने प्राण- त्याग द्वारा ही मैं अपने अपमान का प्रायश्चित्त करूँगा' ॥८४-८५॥

यह सन्देश सुनकर तथा दूत का सत्कार करके राजा चन्द्रप्रभ ने प्रहस्त से कहा—'तुम जाओ और हमारी ओर से राजा रम्भ को कहो कि वह व्यर्थ सन्ताप न करें। सूर्यप्रभ को शिवजी ने, विद्याधरों का भावी चक्रवर्त्ती नियुक्त किया है। तुम्हारी तथा अन्य राजाओं की कन्याएँ इसी की पत्नियाँ हैं, इस प्रकार सिद्धों ने आदेश दिया है ॥८६-८७॥

---

१. भार, प्राचीन समय का एक परिमाण, जो दो मन से कुछ अधिक था।—अनु०

तत्प्राप्ता ते सुता स्थानं कर्कशस्त्वं तु नार्थितः।
तत्प्रीयस्व सखा नस्त्वमेष्यामोऽत्राप्यमी वयम् ॥८९॥
इति राज्ञोक्तसन्देशः प्रहस्तो गगनेन सः।
गत्वा प्रहरमात्रेण वज्ररात्रमवाप तत् ॥९०॥
तत्र रम्भाय सन्देशमुक्त्वा तेनानुमोदितः।
तथैवागत्य सोऽवादीद्राज्ञे चन्द्रप्रभाय तत् ॥९१॥
चन्द्रप्रभोऽथ सचिवं प्रभासं प्रेष्य शाकलात्।
आनाययत्तां रम्भस्य पार्श्वं तारावलीं सुताम् ॥९२॥
ततो ययौ विमानेन सह सूर्यप्रभेण सः।
राज्ञा वीरभटेनापि सर्वैश्चान्यैः सपूजितः ॥९३॥
वज्ररात्रं च सम्प्राप मार्गोन्मुखजनाकुलम्।
रम्भेणाभ्युद्गतस्तस्य राजधानीं विवेश सः ॥९४॥
तत्र रम्भोऽप्यसौ क्लृप्तविवाहप्रक्रियोत्सवः।
असंख्यहेमहर्म्याश्वरत्नादि दुहितुर्ददौ ॥९५॥
जामातरं च स तथा सूर्यप्रभमुपाचरत्।
यथा तस्य निजाः भोगाः सर्वे विस्मृतिमाययुः ॥९६॥
यावच्च तत्र ते तिष्ठन्त्युत्सवानन्दिनाः सुखम्।
तावद्रम्भान्तिकं काञ्चीनगर्या दूत आययौ ॥९७॥
स तस्माच्छ्रुतसन्देशो रम्भश्चन्द्रप्रभं नृपम्।
प्राह काञ्चीश्वरो राजा कुम्भीराख्योऽस्ति मेऽग्रजः ॥९८॥
तेनाप्तः प्रेषितो मेऽद्य दूतो वक्तुमिदं वचः।
मम सूर्यप्रभेणादौ सुता नीता तनस्तव ॥९९॥
कृतं चाद्य त्वया सख्यं तैः सहेति मया श्रुतम्।
तन्ममापि तथैव त्वं सख्यं तैः सह साधय ॥१००॥
आयान्तु ते मम गृहं यावत्सूर्यप्रभाय ताम्।
स्वहस्तेनार्पयामीह सुतां वरुणसेनिकाम् ॥१०१॥
इत्येपाभ्यर्थना तस्य क्रियतामिति वादिनः।
रम्भस्य श्रद्दधे चन्द्रप्रभो राजा तदा वचः ॥१०२॥
प्रहस्तं प्रेक्ष्य च क्षिप्रं शाकलात्तामनाययत्।
पुराद्वरुणसेनां स कुम्भीरस्यान्तिकं पितुः ॥१०३॥

अतः, तुम्हारी कन्या उचित स्थान पर पहुँच गई है। तुम कठोर प्रकृति के व्यक्ति हो, अतः तुमसे कन्या की याचना नहीं की गई। अब तुम प्रसन्न हो जाओ, तुम हमारे मित्र हो, हम लोग भी आ रहे हैं' ॥८८-८९॥

चन्द्रप्रभ का यह सन्देश लेकर प्रहस्त आकाश-मार्ग से एक ही प्रहर में वज्ररात्र जा पहुँचा। वहाँ राजा रम्भ को सन्देश देकर और उसकी स्वीकृति के साथ लौटकर उसका सन्देश राजा चन्द्रप्रभ को सुनाया ॥९०-९१॥

चन्द्रप्रभ ने दूसरे मन्त्री प्रभास को भेजकर शाकल नगर से रम्भ की पुत्री तारावली को रम्भ के पास पहुँचवा दिया ॥९२॥

तदनन्तर, राजा चन्द्रप्रभ, सभी बरातियों, ताम्रलिप्ती के राजा वीरभट तथा साथ आये हुए अन्य सभी व्यक्तियों के साथ चला और सबके साथ वज्ररात्र देश में जा पहुँचा। तदनन्तर, वहाँ राजा रम्भ द्वारा उनकी अगवानी किये जाने के पश्चात् उसकी राजधानी में गया ॥९३-९४॥

वहाँ विवाह की तैयारी किये हुए राजा रम्भ ने उत्सव किया और सोना, रत्न, वस्त्र, आभूषण आदि कन्या के साथ दिये और जामाता सूर्यप्रभ का भी विशेष रूप से सेवा-सत्कार किया, जिससे वह अपने भोगे हुए उत्तमोत्तम सुखों को भी भूल गया ॥९५-९६॥

विवाहोत्सव का आनन्द लेते हुए जब वे वहाँ निवास कर रहे थे, उसी समय कांची नगरी के राजा कुम्भीर का दूत राजा रम्भ के समीप आया ॥९७॥

उस दूत का सन्देश सुनकर राजा रम्भ ने, महाराज चन्द्रप्रभ से कहा कि 'कांची के राजा मेरे बड़े भाई कुम्भीर हैं। उन्होंने मेरे पास अपने विश्वस्त दूत को भेजकर यह सन्देश दिया है कि सूर्यप्रभ ने पहले मेरी कन्या का अपहरण किया, तब तुम्हारी कन्या का। मैंने अभी सुना है कि तुमने उसके साथ मित्रता कर ली है। अतः, अपने ही समान उसके साथ मेरी भी मित्रता करा दो ॥९८-१००॥

वे लोग मेरे घर पर आवें, तो मैं भी अपनी कन्या वरुणसेना को अपने हाथ से उसके लिये अर्पण करूँ उसकी यह प्रार्थना स्वीकार करें।' ऐसा कहते हुए राजा रम्भ की बात को चन्द्रप्रभ ने स्वीकार किया और प्रहस्त को शाकल नगर भेजकर वरुणसेना को उसके पित कुम्भीर के पास कांची पहुँचवा दिया ॥१०१-१०३॥

अन्येद्युश्च विमानेन स च सूर्यप्रभश्च सः।
रम्भो वीरभटः सर्वे काञ्चीं ते सानुगा ययुः॥१०४॥
कुम्भीराभ्युद्गतास्तां च नानारत्नचितां पुरीम्।
काञ्चीं काञ्चीमिव भुवः प्राविशन्गुणगुम्फिताम्॥१०५॥
तत्र तां विधिना दत्त्वा सुतां सूर्यप्रभाय सः।
वरवध्वोरदाद्भूरि कुम्भीरो द्रविणं तयोः॥१०६॥
निर्वृत्ते च विवाहेऽत्र भुक्तोत्तरसुखस्थितम्।
चन्द्रप्रभमुवाचैवं प्रहस्तः सर्वसन्निधौ॥१०७॥
देव श्रीकण्ठविषये प्रभ्रमन् गतवानहम्।
तत्र प्रसङ्गदृष्टो मां कान्तिसेननृपोऽब्रवीत्॥१०८॥
सूर्यप्रभो ममादाय सुतां कान्तिमतीं हृताम्।
गृहमेतु करिष्यामि विधिवत्तस्य सत्क्रियाम्॥१०९॥
नो चेत्त्यक्ष्याम्यहं देहं दुहितृस्नेहमोहितः।
इत्युक्तस्तेन तत्राहं प्रस्तावे च मयोदितम्॥११०॥
एवमुक्ते प्रहस्तन राजा चन्द्रप्रभोऽभ्यधात्।
गच्छ कान्तिमतीं तर्हि तां प्रापय तदन्तिकम्॥१११॥
ततस्तत्र वयं याम इत्युक्तस्तेन भूभृता।
तदैव नभसा गत्वा प्रहस्तस्तत्तथाकरोत्॥११२॥
प्रातश्च ते सकुम्भीराः सर्वे चन्द्रप्रभादयः।
श्रीकण्ठविषयं जग्मुर्विमानेन द्युगामिना॥११३॥
तत्राप्यग्रागतो राजा कान्तिसेनः स्वमन्दिरम्।
तावत्प्रवेश्य दुहितुर्व्यधादुद्वाहमङ्गलम्॥११४॥
ददौ तस्यै तदा कान्तिमत्यै सूर्यप्रभाय च।
आश्चर्यजननं राज्ञामभितं रत्नसञ्चयम्॥११५॥
ततः स्थितेषु तेष्वत्र नानाभोगोपसेविषु।
सर्वेषु दूतः कौशाम्ब्या आगत्यैवमभाषत॥११६॥
जनमेजयभूपालो ब्रवीति भवतामिदम्।
हृता केनापि न चिरं परपुष्टेति मे सुता॥११७॥

दूसरे दिन वह राजा चन्द्रप्रभ सूर्यप्रभ, रम्भ, वीरभट आदि अपने अनुचरों के साथ विमान द्वारा राजा कुम्भीर की सुन्दर गुणों से गुथी तथा अनेक रत्नों से भरी हुई कांची नगरी पहुँच गया ॥१०४–१०५॥

वहाँ पर राजा कुम्भीर ने सूर्यप्रभ को अपनी कन्या तथा उसके साथ बहुत-सा धन दिया ॥१०६॥

विवाहोत्सव सम्पन्न होने पर भोजन आदि से निवृत्त होकर, विश्राम करते हुए चन्द्रप्रभ को प्रहस्त ने सभी के सामने कहा—'महाराज, मैं भ्रमण करता हुआ श्रीकंठ देश की ओर गया था, वहाँ प्रसंगवश मिले हुए राजा कान्तिसेन ने कहा कि सूर्यप्रभ मेरी कन्या कान्तिमती को लेकर मेरे घर पर आवें, मैं उनका विधिपूर्वक सत्कार करूँगा ॥१०७–१०९॥

अन्यथा कन्या के स्नेह से विह्वल होकर मैं शरीर-त्याग कर दूँगा।' इस प्रकार, उसके कहने पर प्रस्ताव-रूप से आपसे मैंने निवेदन कर दिया ॥११०॥

प्रहस्त के ऐसा कहने पर चन्द्रप्रभ ने कहा—'तो जाओ और उसकी कन्या कान्तिमती को उसके पास पहुँचाओ ॥१११॥

इसके पश्चात् हमलोग वहाँ आ रहे हैं।', राजा के ऐसी आज्ञा देने पर प्रहस्त ने कान्तिमती को पिता कान्तिसेन के समीप पहुँचवा दिया ॥११२॥

प्रातःकाल ही वे चन्द्रप्रभ आदि सभी राजा कुम्भीर के सहित आकाशचारी विमान द्वारा श्रीकंठ देश को गये ॥११३॥

वहाँ भी राजा कान्तिसेन ने, सबकी अगवानी करके अपनी कन्या का विवाह मंगल-समारोह के साथ सम्पन्न किया ॥११४॥

तदनन्तर, पुत्री कान्तिमती और जामाता सूर्यप्रभ को, रत्नों का अमूल्य संग्रह प्रदान किया, जिसे देखकर सभी राजा आश्चर्य-चकित हो गये ॥११५॥

जब वे सब राजा कान्तिसेन के यहाँ विविध प्रकार के स्वागत-सत्कार का आनन्द ले रहे थे, तभी सबके सामने कौशाम्बी नगरी से आये हुए दूत ने इस प्रकार कहा—॥११६॥

राजा जनमेजय आपसे यह कहते है कि 'कुछ दिन हुए मेरी कन्या परपुष्टा का किसीने अपहरण कर लिया था ॥११७॥

ज्ञातं चेहाद्य यत्प्राप्ता हस्तं सूर्यप्रभस्य सा।
तत्तया सह सोऽस्माकं गृहमायात्वशङ्कितः ॥११८॥
सत्कृत्य प्रेषयिष्यामि सभार्यं तं यथाविधि।
अन्यथा शत्रवो यूयं मम युष्माकमप्यहम् ॥११९॥
इत्युक्त्वा स्वामिवचनं दूतस्तूष्णीं बभूव सः।
अथ चन्द्रप्रभः सर्वानेकान्ते क्षितिपोऽब्रवीत् ॥१२०॥
कथमेवं सदर्पोक्तेर्गम्यते तस्य वेश्मनि।
तच्छ्रुत्वा तस्य सिद्धार्थनामा मन्त्र्येवमभ्यधात् ॥१२१॥
नान्यथा देव मन्तव्यं वक्तुमेवं हि सोऽर्हति।
स हि राजा महादाता पण्डितः सत्कुलोद्गतः ॥१२२॥
शूरोऽश्वमेधयाजी च सदैवान्यापराजितः।
विरुद्धं किं नु तेनोक्तं यथावस्त्वभिधायिना ॥१२३॥
शत्रुतोदाहृता या वा सा वासवकृतेऽधुना।
तद् गन्तव्यं गृहे तस्य सत्यसन्धो नृपो हि सः ॥१२४॥
तदपि प्रेष्यतां कश्चित्तस्य चित्तोपलब्धये।
इति सिद्धार्थवचनं सर्वे श्रद्दधुरत्र ते ॥१२५॥
ततो जिज्ञासितुं चन्द्रप्रभस्तं जनमेजयम्।
प्रहस्तं व्यसृजत्तं च दूतं तस्याप्यमानयत् ॥१२६॥
प्रहस्तश्च स गत्वा तं कौशाम्बीशं ससंविदम्।
विधायानीय तल्लेखं चन्द्रप्रभमतोषयत् ॥१२७॥
सोऽपि राजा तमेवाशु प्रहस्तं प्रेष्य शाकलात्।
जनमेजयपार्श्वं तां परपुष्टामनाययत् ॥१२८॥
ततश्चन्द्रप्रभाद्यास्ते सूर्यप्रभपुरोगमाः।
सकान्तिसेनाः कौशाम्बीं विमानेनागमन् नृपाः ॥१२९॥
तत्र सम्बन्धिजामातृमुखान् प्रत्युद्गमादिना।
प्रह्वस्तान्पूजयामास स राजा जनमेजयः ॥१३०॥
ददौ च कृत्वा दुहितुर्विवाहविधिसत्क्रियाम्।
पञ्च हस्तिसहस्राणि लक्षं च वरवाजिनाम् ॥१३१॥
रत्नकाञ्चनसद्वस्त्रकर्पूरागरुपूरितैः।
भारैर्भृतानामुष्ट्राणां सहस्राण्यपि पञ्च सः ॥१३२॥

अब ज्ञात हुआ है कि वह सूर्यप्रभ के हाथ लगी है। अतः, वह सूर्यप्रभ उस कन्या (परपुष्टा) के साथ निःशंक होकर हमारे घर आवें। मैं उन्हें विधिपूर्वक सत्कृत करके पत्नी के साथ उन्हें भेज दूँगा। यदि आपने ऐसा न किया, तो आप मेरे शत्रु हैं और मैं आप लोगों का शत्रु हूँ—'॥११८-११९॥

अपने स्वामी के इस सन्देश को कहकर दूत चुप हो गया तब, चन्द्रप्रभ ने अपने सभी सम्बन्धी राजाओं से कहा—॥१२०॥

'इस प्रकार घमंड की बातें करनेवाले उसके घर में कैसे जाया जाय।' यह सुनकर राजा का सिद्धार्थ नामक मन्त्री बोला,—'महाराज, आपको उसके कहने का बुरा न मानना चाहिए। वह ऐसा कहने के योग्य है। वह राजा जनमेजय महान् दानी, बड़ा विद्वान् और अच्छे ऊँचे पांडव कुल में उत्पन्न हुआ है। शूर-वीर है और अश्वमेध यज्ञ कर चुका है। वह कभी किसी से पराजित नहीं हुआ। इस प्रकार, यथार्थता को देखते हुए उसने जो भी सन्देश दिया है, वह कुछ भी अनुचित नहीं है॥१२१-१२३॥

उसने जो शत्रुता की बात कही, वह इन्द्र के लिए है। अतः, उसके घर पर चलना चाहिए। वह राजा दृढ़प्रतिज्ञ है॥१२४॥

फिर भी, उसका अभिप्राय जाँचने के लिए आप किसी दूत को भेजिए'। मन्त्री सिद्धार्थ के इस प्रकार के वचनों पर सभी ने श्रद्धा प्रकट की॥१२५॥

तब जिज्ञासा का समाधान करने के लिए चन्द्रप्रभ ने जनमेजय के समीप सिद्धार्थ नामक दूत को भेजा और जनमेजय के दूत का भी सम्मान किया॥१२६॥

तदनन्तर प्रहस्त, कौशाम्बी के राजा के पास गया और उससे विचार-विमर्श करके तथा उनका पत्र लाकर राजा चन्द्रप्रभ को प्रसन्न किया॥१२७॥

राजा चन्द्रप्रभ ने प्रहस्त को शीघ्र अपनी नगरी शाकल में भेजकर परपुष्टा को उसके साथ जनमेजय के पास भेज दिया॥१२८॥

तदनन्तर दूसरे दिन, सूर्यप्रभ को लेकर चन्द्रप्रभ आदि सम्बन्धी राजा, कान्तिसेन के साथ विमान द्वारा जनमेजय के यहाँ गये॥१२९॥

वहाँ विनम्र राजा जनमेजय ने, जामाता के साथ उन सभी समधी राजाओं की अगवानी करके समुचित स्वागत किया और अपनी नगरी में ले गया॥१३०॥

तथा कन्या का विवाह-संस्कार करके राजा जनमेजय ने, पाँच हजार हाथी, एक लाख श्रेष्ठ घोड़े एवं अच्छे-अच्छे रत्न, सुवर्ण, वस्त्र, कपूर आदि से लदे हुए पाँच हजार ऊँट दहेज में कन्या के साथ दिये॥१३१-१३२॥

चक्रे च वाद्यनृत्तैकमयं लोकमहोत्सवम् ।
पूजितब्राह्मणवरं मानिताखिलराजकम् ॥१३३॥
तावच्चाशङ्कितं तत्र नभः पिञ्जरतां ययौ ।
रक्तारुणत्वमभ्यर्णभावि शंसदिवात्मनः ॥१३४॥
तुमुलाकुलशब्दाश्च बभूवुः सहसा दिशः ।
भीता इवागतं दृष्ट्वा परसैन्यं विहायसा ॥१३५॥
तावच्च तत्क्षणं वातुं प्रवृत्तोऽभून्महानिलः ।
खेचरैः सह युद्धाय भूचरानुत्क्षिपन्निव ॥१३६॥
क्षणाच्च ददृशे व्योम्नि विद्याधरबलं महत् ।
दीप्तिद्योतितदिक्चक्रमुद्यन्नादं महाजवम् ॥१३७॥
तन्मध्ये चातिसुभगं विद्याधरकुमारकम् ।
एकं सूर्यप्रभाद्यास्ते पश्यन्ति स्म सुविस्मिताः ॥१३८॥
'आषाढेश्वरतनयो दामोदर एष जयति युवराजः ।
रे मर्त्य धरणिगोचर सूर्यप्रभ निपत पादयोरस्य ॥१३९॥
प्रणम च रे जनमेजय भवता दत्ता सुता किमस्थाने ।
आराधय तमिमं तद्देवं नैषोऽन्यथा क्षमते' ॥१४०॥
इति तस्मिन्क्षणे विद्याधरबन्दी ततोऽम्बरात् ।
तस्य दामोदरस्याग्राद्व्याजहारोच्चया गिरा ॥१४१॥
तच्छ्रुत्वा दृष्टतत्सैन्यो गृहीत्वा खड्गचर्मणी ।
सूर्यप्रभो नभः क्रोधादुत्पपात स्वविद्यया ॥१४२॥
अनूत्पेतुश्च सचिवास्तस्य सर्वे धृतायुधाः ।
प्रहस्तश्च प्रभासश्च भासः सिद्धार्थ एव च ॥१४३॥
प्रज्ञाढ्यः सर्वदमनो वीतभीतिः शुभङ्करः ।
विद्याधराणां तैः साकं प्रावर्त्तत महाहवः ॥१४४॥
सूर्यप्रभश्चाभ्यधावद्यतो दामोदरस्ततः ।
खड्गेनाघ्नन् रिपून् गृह्णंस्तच्छस्त्राणि स्वचर्मणा ॥१४५॥
ते जनाः कति संख्ये च लक्षसंख्या नभश्चराः ।
समत्वमेव विविदुर्युध्यमानाः परस्परम् ॥१४६॥
बभुः खड्गलताश्चात्र साकुला रुधिरारुणाः ।
पतन्त्यः शूरकायेषु कृतान्तस्येव दृष्टयः ॥१४७॥

संगीत, नृत्य और वाद्य के साथ भारी महोत्सव मनाया और ब्राह्मणों तथा समागत राजाओं का समुचित सम्मान किया ॥१३३॥

इतने में ही सारा आकाश देखते-देखते पीला हो गया, मानों भविष्य में रक्त से लाल होने की सूचना दे रहा हो ॥१३४॥

चारों दिशाओं में भीषण हाहाकार मच गया; मानो शत्रुओं की सेनाओं से डरी हुई दिशाएँ दौड़ी आ रही थीं ॥१३५॥

उसी क्षण मानो भू-चरों को खे-चरों के साथ लड़ाने के लिए ऊपर की ओर फेंकती हुई महावायु (आँधी) चलने लगी ॥१३६॥

इतने में ही, आकाश में अपनी चमक से दिशाओं को प्रकाशित करती हुई और वेगवती विद्याधरों की सेना दिखाई पड़ी ॥१३७॥

उस सेना के मध्य में चकित सूर्यप्रभ आदि ने अत्यन्त सुन्दर और तेजस्वी एक विद्याधर-कुमार को देखा ॥१३८॥

'आषाढेश्वर के पुत्र युवराज दामोदर की जय हो। अरे, पृथ्वी के रहनेवाले मनुष्य सूर्यप्रभ, इसके चरणों में नत होओ ॥१३९॥

अरे जनमेजय, तू भी इसके चरणों में पड़कर क्षमा-प्रार्थना कर, तूने अपनी कन्या को अयोग्य स्थान में क्यों दिया। इसलिए इस दामोदर देव को प्रसन्न कर। अन्यथा, यह तुम्हें कदापि क्षमा न करेगा' ॥१४०॥

इस प्रकार, आकाश से विद्याधर के बन्दी (चरण-भाट) ने, उस दामोदर के आगे चलते हुए ऊँचे स्वर से कहा ॥१४१॥

यह सुनकर, विद्याधरों की सेना को देखकर और ढाल-तलवार लेकर सूर्यप्रभ, अपनी विद्या के प्रभाव से आकाश में उड़ा ॥१४२॥

उसके पीछे उसके सभी मन्त्री प्रहस्त, प्रभास, सिद्धार्थ, प्रज्ञाढ्य, सर्वदमन, वीतभीति और शुभंकर भी शस्त्रों को लिए हुए आकाश में उड़े और उनके साथ विद्याधरों का महान् युद्ध छिड़ गया ॥१४३–१४४॥

सूर्यप्रभ, उधर ही झुका, जिधर दामोदर था, वह अपने शस्त्रों से शत्रुओं का संहार कर रहा था और उनके शस्त्रों को अपनी ढाल पर रोक रहा था ॥१४५॥

इधर कुछ ही इने-गिने मानव और उधर लाखों की संख्या में आकाशचारी विद्याधर ! किन्तु, वे आपस में लड़ते हुए भी अपने को समान संख्या में समझते थे ॥१४६॥

रक्त से सनी और लाल रंग की चमकती हुई नंगी तलवारें, विकराल काल की क्रूर दृष्टियों के समान शूर-वीरों के शरीर पर पड़ रही थीं ॥१४७॥

विद्याधराश्च चरणौ भियेव शरणार्थिनः।
शिरोभिश्च शरीरैश्च पेतुश्चन्द्रप्रभाग्रतः ॥१४८॥
सूर्यप्रभो बभौ लोकदृष्ट्या खेचरश्रिया।
सिन्दूरेणेव कीर्णेन नभोऽभूदसृजारुणम् ॥१४९॥
सूर्यप्रभश्च सम्प्राप्य युयुधे तेन सम्मुखम्।
खड्गचर्मधरेणैव सह दामोदरेण सः ॥१५०॥
युध्यमानश्च करणप्रयोगेण प्रविश्य तम्।
खड्गखण्डितचर्माणं रिपुं भूमावपातयत् ॥१५१॥
छेत्तुमिच्छति यावच्च शिरस्तस्य विवेल्लतः[1]।
तावदागत्य नभसा हुङ्कारो विष्णुना कृतः ॥१५२॥
तच्छ्रुत्वा वीक्ष्य च हरिं नम्रस्तद्गौरवेण सः।
दामोदरममुञ्चत्तं वधात् सूर्यप्रभस्ततः ॥१५३॥
वधमुक्तं तमादाय भक्तं क्वापि ययौ हरिः।
भगवान्स हि सद्भक्तमिहामुत्र च रक्षति ॥१५४॥
दामोदरानुगास्ते च ययुः सर्वे यतस्ततः।
सूर्यप्रभोऽपि गगनात् पितुः पार्श्वमवातरत् ॥१५५॥
सामात्यमक्षतप्राप्तं पिता चन्द्रप्रभस्य तम्।
अभ्यनन्दन्नृपाश्चान्ये तुष्टुवुर्दृष्टविक्रमम् ॥१५६॥
ततोऽत्र यावत्सर्वे ते हृष्टास्तत्कथया स्थिताः।
आगात् सुभटसम्बन्धी तावद्दूतोऽपरस्ततः ॥१५७॥
स च चन्द्रप्रभस्यैव लेखमग्रे समर्पयत्।
तमुद्घाट्य च सिद्धार्थः सदस्येवमवाचयत् ॥१५८॥
'श्रीमानुन्नतवंशमौक्तिकमणिश्चन्द्रप्रभो भूपती
राजा श्रीसुभटेन सादरमिदं श्रीकोङ्कणाद् बोध्यते।
नीता मे तनयापहृत्य रजनौ सत्त्वेन केनापि या।
सा प्राप्ता तव सूनुनेत्यवगतं यत्तेन तुष्टा वयम् ॥१५९॥
तद्युक्तेन सुतेन तेन सह तत्सूर्यप्रभेणोद्यमो।
युष्माभिः क्रियतामनर्गलमिहाप्यस्मद्गृहाभ्यागमे
यावत्तां परलोकतः पुनरिव प्रत्यागतामात्मजां
पश्यामश्च विवाहकार्यमधुना कुर्मश्च तस्या वयम्' ॥१६०॥

---

१. भूमौ विलुठतः।

भूमि पर खड़े हुए राजा चन्द्रप्रभ के चरणों के आगे गिरते हुए (मृत) विद्याधर, मानों शिरों और शरीरों से शरण की प्रार्थना कर रहे थे ॥१४८॥

जनता की दृष्टियों से देखा जाता हुआ सूर्यप्रभ, आकाश में युद्ध करता हुआ अत्यन्त शोभित हो रहा था। रक्त से रंजित आकाश मानों छिड़के हुए सिन्दूर की शोभा धारण कर रहा था ॥१४९॥

सूर्यप्रभ, ढाल-तलवार लिये हुए, दामोदर के सामने आकर युद्ध करने लगा और युद्ध करते हुए उसने करण-प्रयोग (पैंतरेबाजी) से अन्दर घुसकर दामोदर की ढाल-तलवार को काटकर उसे धराशायी कर दिया ॥१५०-१५१॥

तदनन्तर सूर्यप्रभ, जैसे ही उसका शिर काटने के लिए तैयार हुआ, वैसे ही विष्णु भगवान् ने आकाश में आकर उसे मना करते हुए हुङ्कार किया ॥१५२॥

हुङ्कार को सुनकर और विष्णु भगवान् को देखकर उनके गौरव से नम्र सूर्यप्रभ ने दामोदर को मारने से अपना हाथ रोक लिया ॥१५३॥

विष्णु भगवान् मरने से बचे हुए उस अपने भक्त दामोदर को लेकर अन्तर्हित हो गये; क्योंकि भगवान् अपने भक्त की इस लोक और परलोक में भी रक्षा करते हैं ॥१५४॥

दामोदर के गुप्त होते ही, उसके साथी सभी विद्याधर, इधर-उधर भाग गये और सूर्यप्रभ भी आकाश से उतरकर अपने पिता के पास आ गया ॥१५५॥

उसके पिता चन्द्रप्रभ ने अपने सभी अनुचरों के साथ अ-क्षतशरीर आये हुए सूर्यप्रभ का प्रेमपूर्वक अभिनन्दन किया। और, अन्य राजाओं ने भी उसकी वीरता की प्रशंसा की ॥१५६॥

जबतक सभी लोग प्रसन्न होकर सूर्यप्रभ की प्रशंसा और उसकी वीरता की चर्चा कर रहे थे कि इतने ही में राजा सुभट का दूसरा दूत वहाँ आ पहुँचा। उसने आते ही राजा चन्द्रप्रभ को पत्र दिया। सिद्धार्थ ने उस पत्र को खोलकर सभा में इस प्रकार पढ़ा—॥१५७-१५८॥

'कोंकण के राजा सुभट, उच्च वंश के मोती के समान राजा चन्द्रप्रभ से प्रार्थना करते हैं कि एक दिन रात के समय मेरी कन्या का किसी प्राणी द्वारा अपहरण किया गया था, उसे आपके पुत्र ने प्राप्त किया है। यह जानकर हम अत्यन्त प्रसन्न हैं ॥१५९॥

इसलिए, उस कन्या और अपने पुत्र राजा सूर्यप्रभ के साथ आपको बे-रोक-टोक हमारे घर आने की कृपा करनी चाहिए। जिससे हम मानों परलोक से आई हुई उस कन्या को देखें और उसका विवाह-कार्य सम्पन्न करें' ॥१६०॥

इत्यत्र वाचिते लेखे सिद्धार्थेन तथेति सः।
राजा चन्द्रप्रभो दूतं सच्चकार जहर्ष च॥१६१॥
आनाययच्च सुभटस्यान्तिकं चन्द्रिकावतीम्।
तत्सुतामपरान्तं तं प्रहस्तं प्रेष्य सत्वरम्॥१६२॥
प्रातश्च जग्मुः सर्वे ते कृत्वा सूर्यप्रभं पुरः।
अपरान्तं विमानेन जनमेजयसंयुताः॥१६३॥
तत्र तान्सुभटो राजा दुहितृप्राप्तिनन्दितः।
भृशमानर्च चक्रे च सुतापरिणयोत्सवम्॥१६४॥
ददौ च चन्द्रिकावत्यै सोऽस्यै रत्नादिकं तथा।
यथा वीरभटाद्यास्ते स्वदत्तेन ललज्जिरे॥१६५॥
ततः सूर्यप्रभे तत्र स्थिते श्वशुरवेश्मनि।
आगात् पौरवसम्बन्धी दूतो लावणकादपि॥१६६॥
सोऽपि चन्द्रप्रभमिदं निजस्वामिवचोऽभ्यधात्।
सुता सुलोचना नीता श्रीमत्सूर्यप्रभेण मे॥१६७॥
ततो मे नैव सन्तापस्तद्युक्तः किं तु मद्गृहम्।
आनीयतां स युष्माभिराचारं[1] यद्विदध्महे॥१६८॥
तच्छ्रुत्वैव मुदाभ्यर्च्य दूतं चन्द्रप्रभो नृपः।
आनाययत्प्रहस्तेन पितुः पार्श्वं सुलोचनाम्॥१६९॥
ततः स सुभटाः सर्वे सह सूर्यप्रभेण ते॥
लावाणकं विमानेन ययुर्ध्यातोपगामिना॥१७०॥
तत्रोद्वाहोत्सवं कृत्वा सूर्यप्रभसुलोचने।
रत्नैरपूरयत्सोऽपि पौरवोऽर्चितराजकः[2]॥१७१॥
तेनोपचर्यमाणेषु सुखस्थेष्वत्र तेषु च।
प्रजिघाय सुरोहोऽपि दूतं चीननरेश्वरः॥१७२॥
सोऽप्यन्यवद्दूतमुखेनार्थयामास पार्थिवः।
हृतकन्यस्तया सार्कं तेषामागमनं गृहे॥१७३॥
ततश्चन्द्रप्रभो राजा हृष्टस्तस्यापि तां सुताम्।
विद्युन्मालां प्रहस्तेनानाययामास केतनम्॥१७४॥

---

१. विवाहविधिमित्यर्थः। २. सम्बन्धिराजसमूहः।

राजा चन्द्रप्रभ पत्र सुनकर प्रसन्न हुए और उन्होंने दूत का सत्कार किया। प्रहस्त द्वारा कोंकणाधीश की कन्या चन्द्रावती को उसके पिता के यहाँ शीघ्र ही पहुँचवा दिया॥१६१-१६२॥

प्रातःकाल ही वे सब राजा, सूर्यप्रभ को आगे करके, जनमेजय के साथ, विमान द्वारा अपरान्त (कोंकण) देश को गये॥१६३॥

कन्या के मिल जाने से आनन्दित राजा सुभट ने, अपने देश में आये हुए उन बराती राजाओं तथा समधियों का खूब सम्मान और सत्कार किया तथा कन्या के विवाह का समारोह भी कर डाला॥१६४॥

राजा सुभट ने, कन्यादान में, चन्द्रिकावती को इतना धन, रत्न आदिक दिया, जिससे अन्य सभी समधी राजा लज्जित हो गये॥१६५॥

जब कि सूर्यप्रभ श्वशुर सुभट के घर पर ही था, तभी लावाणक नगर से राजा पौरव का दूत वहाँ आया॥१६६॥

उसने भी राजा चन्द्रप्रभ से अपनी स्वामी का सन्देश कहा कि 'तुम्हारे पुत्र सूर्यप्रभ ने, मेरी कन्या सुलोचना का अपहरण किया है, मुझे इसका सन्ताप नहीं है। किन्तु, तुम उसे मेरे घर पर ले आओ, तो हम विवाह-संस्कार सम्पन्न करें'॥१६७-१६८॥

ऐसा सुनते ही राजा चन्द्रप्रभ ने, प्रसन्नता से दूत का सत्कार किया और प्रहस्त द्वारा विमान से सुलोचना को उसके पिता के यहाँ पहुँचवा दिया॥१६९॥

तब वे सभी राजा सुभट के साथ सूर्यप्रभ को लेकर ध्यान करते ही उपस्थित होनेवाले विमान से लावाणक नगर गये॥१७०॥

वहाँ पौरव ने सूर्यप्रभ और सुलोचना का विवाह करके सभी राजाओं का समुचित सत्कार किया॥१७१॥

सभी बराती राजाओं की जब भली भाँति सेवा-शुश्रूषा की जा रही थी, तभी चीन के राजा सुरोह ने भी राजा चन्द्रप्रभ के समीप दूत भेजा॥१७२॥

चीन के राजा ने भी दूत द्वारा वही प्रार्थना की कि 'कन्या और उसे अपहरण करनेवाले सूर्यप्रभ के साथ हमारे घर पधारिए'॥१७३॥

तब प्रसन्नचित्त राजा चन्द्रप्रभ ने, चीन-नरेश की कन्या विद्युन्माला को प्रहस्त के साथ उसके पिता के यहाँ पहुँचवा दिया॥१७४॥

अन्येद्युश्च विमानेन सहसूर्यप्रभा ययुः।
चन्द्रप्रभाद्याः सर्वे ते चीनदेशं सपौरवाः ॥१७५॥
तत्राग्रे निर्गतो राजा निजकोट्टं प्रवेश्य तान्।
स सुरोहोऽपि दुहितुश्चक्रे वैवाहिकं विधिम् ॥१७६॥
अदाच्च विद्युन्मालायै तस्यै सूर्यप्रभाय च।
असंख्यहेमहस्त्यश्वरत्नचीनांशुकादिकम् ॥१७७॥
तस्थुश्च तत्र ते तैस्तैर्भोगैश्चन्द्रप्रभादयः।
दिनानि कतिचित्सर्वे सुरोहाभ्यर्चितास्तदा ॥१७८॥
आसीत् सूर्यप्रभश्चात्र विलसद्घनयौवनः[1]।
प्रावृट्कालो यथा विद्युन्मालया[2] शोभितस्तया ॥१७९॥
एवं स बुभुजे तत्र तत्र श्वशुरवेश्मनि।
तत्तत्कान्तासखः सूर्यप्रभो भोगान्सबान्धवः ॥१८०॥
ततः संमन्त्र्य सिद्धार्थप्रमुखैः सचिवैः सह।
क्रमाद्वीरभटादींस्तानश्वीयसहितान्[3] नृपान् ॥१८१॥
विसृज्य निजदेशेषु तं सुरोहमहीपतिम्।
आमन्त्र्य तत्सुतायुक्तः पितृभ्यां सह सानुगः ॥१८२॥
भूतासनविमानं तदारुह्य व्योमवर्त्मना।
स्वं स सूर्यप्रभः प्रायाच्छाकलं नगरं कृती ॥१८३॥
क्वचिन्नृत्तासङ्गः क्वचिदपि च सङ्गीतकरसः।
क्वचित् पानक्रीडा क्वचन सुदृशां मण्डनविधिः।
क्वचिल्लब्धाभीष्टस्तुतिमुखरवैतालिकरवः
पुरे तस्मिन्नासीत्प्रमद इति तस्यागमनजः ॥१८४॥
तत्रान्याः पितृवेश्मसु स्थितवतीरानाय्य स स्वप्रियाः।
दत्तैस्तत्पितृभिर्गजाश्वनिवहैस्ताभिः सहैवागतः।
नानारत्नसुपूर्णभारविनतैरुष्ट्रैश्च संख्यातिगै-
र्लीलादर्शितदिग्जयोत्थविभवश्चक्रे प्रजाकौतुकम् ॥१८५॥

---

१. प्रावृट्पक्षे—विलसत् घनानां यौवनं यस्मिन् सूर्य प्रभपक्षे—विलसद् घनं यौवनं यस्य।

२. प्रावृट्पक्षे—विद्युतां मालयापङ्क्त्या, शोभितः; सूर्यप्रभपक्षे तन्नाम्न्या चीनाधिपति कन्यया।

३. अश्वसेनायुतान्।

और दूसरे ही दिन वे सभी सूर्यप्रभ को लेकर राजा पौरव के साथ विमान से चीन देश को गये ॥१७५॥

वहाँ अगवानी के लिए बाहर आये हुए राजा ने उन्हें अपने किले में ले जाकर अपनी कन्या का विवाह-संस्कार किया तथा सुरोह ने विद्युन्माला और सूर्यप्रभ को कन्यादान में असंख्य सोना, रत्न एवं चीन के वस्त्र आदि प्रदान किये ॥१७६-१७७॥

विवाह के अनन्तर चन्द्रप्रभ आदि राजा सुरोह से सेवा-सत्कार प्राप्त करते हुए कुछ दिनों तक चीन में रहकर आनन्द लेते रहे ॥१७८॥

घनघोर घटाटोपवाले वर्षाकाल के समान उमड़े हुए घन-यौवन से समृद्ध सूर्यप्रभ भी, विद्युन्माला [बिजली] के साथ ससुराल में विविध प्रकार के भोग-विलासों का आनन्द लेने लगा ॥१७९-१८०॥

कुछ दिनों के अनन्तर सिद्धार्थ आदि मन्त्रियों से सम्मति करके अन्यान्य, श्वशुर-राजाओं को घुड़सवारों के साथ अपने-अपने देश को भेजकर, सूर्यप्रभ भी राजा सुरोह से आज्ञा लेकर, उसकी कन्या विद्युन्माला तथा अपने माता-पिता के साथ सफल होकर भूतासन नामक विमान में बैठकर अपनी राजधानी शाकल में आ गया ॥१८१-१८३॥

सूर्यप्रभ के राजधानी में आने पर, सारी नगरी, हर्ष से पागल-सी हो रही थी। कहीं नाच हो रहा था, तो कहीं गाना-बजाना चल रहा था। कहीं मद्यपान-गोष्ठियाँ हो रही थीं, तो कहीं स्त्रियों की सजधज चल रही थी। कहीं प्रचुर पुरस्कार-प्राप्त बन्दी-चारण आदि प्रशंसा के गान गा रहे थे ॥१८४॥

सूर्यप्रभ ने, अपनी राजधानी में आकर अपने-अपने पिताओं के घर में छोड़ी गई सभी रानियों को अपने पास बुलवा लिया। वे रानियाँ भी अपने-अपने पिताओं द्वारा दिये गये असंख्य हाथी, घोड़े, ऊँट, दास-दासियों और धन-रत्नों के साथ आईं, तो ऐसा प्रतीत होता था कि मानों सूर्यप्रभ के दिग्विजय का वैभव आ गया हो। यह सब देखकर नागरिक जनता आश्चर्य-चकित हो गई ॥१८५॥

बहुवसुभूरिनिधानं तेन महाभोगिना तदाध्युषितम् ।
सुर[1]-धनद[2]-भुजग[3]-नगरैः कृतमिव तच्छाकलं विबभौ ॥१८६॥
ततो मदनसेनया सह स तत्र सूर्यप्रभो
यथाभिमतभोगभुक्सकलपूर्णसम्पत्सुखी ।
उवास पितृसंयुतः ससचिवोऽन्यपत्नीयुतः
कृतागमनसंविदं[4] मयमुदीक्षमाणोऽन्वहम् ॥१८७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे सूर्यप्रभलम्बके
प्रथमस्तरङ्गः

द्वितीयस्तरङ्गः

चन्द्रप्रभसभायां मयदानवस्यागमनम्

अथ तत्रैकदास्थानस्थिते[5] चन्द्रप्रभे नृपे ।
सूर्यप्रभे च तत्रस्थे समग्रसचिवान्विते ॥१॥
सिद्धार्थोदीरितकथाप्रसङ्गेन मये[6] स्थिते ।
अकस्मादत्र वसुधा सभामध्ये व्यदीर्यत ॥२॥
ततो भूविवरादादौ सशब्दः सुरभिर्मरुत् ।
आविरासीत्ततः पश्चादुज्जगाम मयासुरः ॥३॥
कृष्णोन्नतशिरः शृङ्गज्वलत्केशमहौषधिः ।
रक्ताम्बरोच्छलद्धातुर्निशायामिव पर्वतः ॥४॥
यथार्हकृतपूजश्च राज्ञा चन्द्रप्रभेण सः ।
रत्नासनोपविष्टः सन् दानवेन्द्रोऽभ्यभाषत ॥५॥

---

१. सुरनगरं=स्वर्गः; बहवो वसवः=तदात्मका देवता यत्र तदीदृशम्; शाकलं नगरं च बहु=भूरि, वसु=धनं यत्रेति बहुवसु ।

२. धनदस्य=कुबेरस्य नगरं; भूरिनिधानम्=बहुकोषयुक्तम्; शाकलं च भूरिनिधानम्=बहुरत्नादिकोषयुक्तम् ।

३. पातालं=भुजगनगरं; महाभोगिना=सर्पराजा वासुकिना, अध्युषितम्=अधिष्ठितम्; शाकलं नगरञ्च महाभोगिना=महाविलासिना सूर्यप्रभेणाधिष्ठितम् ।

४. विहितागमनसङ्केतम् । ५. आस्थानं=सभागृहम् । ६. तत्र वार्तालाप एव मयस्य स्थितिरासीत् ।

अत्यधिक धन से परिपूर्ण और बहुत-से खजानों से भरा हुआ तथा महाभोगी[1] सूर्यप्रभ से अलंकृत शाकल नगर ऐसा लगता था, मानों स्वर्ग, अलकापुरी और पाताल तीनों लोकों के सम्मिश्रण से इस पुरी की रचना की गई हो ॥१८६॥

तदनन्तर, वह युवराज सूर्यप्रभ, पट्टरानी मदनसेना तथा अन्यान्य रानियों के साथ समस्त सम्पत्तियों से भरपूर होकर समस्त उत्तमोत्तम भोगों को भोगता हुआ पिता तथा मन्त्रियों के साथ, आने का वचन दिये हुए मयासुर दानव के आने की दिन-रात प्रतीक्षा करता हुआ राजधानी में सुखपूर्वक रहने लगा ॥१८७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागरके सूर्यप्रभ लम्बक का

प्रथम तरंग समाप्त

द्वितीय तरंग

चन्द्रप्रभ की सभा में मय दानव का आगमन

एक बार दरबार में सूर्यप्रभ तथा चन्द्रप्रभ के मन्त्रियों के सहित बैठे-बैठे सिद्धार्थ के साथ बातचीत के प्रसंग में मय का नाम आते ही दरबार-भवन की भूमि बीच में सहसा फट पड़ी ॥१-२॥

फटी हुई भूमि के दरार से पहले शब्द उत्पन्न हुआ, तदनन्तर सुगन्धित वायु निकली और उसके पश्चात् उसमें से मयासुर का आविर्भाव हुआ ॥३॥

वह दानव (मयासुर) पर्वताकार था। उसके काले और ऊँचे शिर-रूपी शिखर पर (पीले वर्ण की) केश-रूपी महौषधियाँ मानों जल रही थीं, और रक्त वस्त्र-रूपी धातु शरीर पर दीख रहे थे ॥४॥

राजा चन्द्रप्रभ द्वारा समुचित सत्कार प्राप्त करने के बाद सिंहासन पर स्थित दानवराज मय इस प्रकार बोला—॥५॥

---

१. महाभोगी—पाताल-पक्ष में महासर्प। सूर्यप्रभ के पक्ष में—महान् भोगी, विलासी या ऐश्वर्य-सम्पन्न।—अनु०

भुक्ता भोगा इमे भौमा भवद्भिरधुना च वः।
कालोऽन्येषां तदुद्योगे मतिं कुरुत साम्प्रतम् ॥६॥
दूतान् प्रेष्यानयध्वं स्वान्नृपान् सम्बन्धिबान्धवान्।
ततो विद्याधरेन्द्रेण मिलिष्यामः सुमेरुणा ॥७॥
जेष्यामः श्रुतशर्माणं प्राप्स्यामः खचरश्रियम्[1]।
सुमेरुश्च सहायत्वे बन्धुबुद्ध्या स्थितोऽत्र नः ॥८॥
रक्षेः सूर्यप्रभं दद्यास्त्वं चैतस्मै निजां सुताम्।
इत्यादावेव देवेन स ह्यादिष्टः पिनाकिना ॥९॥
एवं मयासुरेणोक्ते प्रहस्तादीन् सखेचरान्।
चन्द्रप्रभः प्रहितवान् दूतान् सर्वमहीभृताम् ॥१०॥
सूर्यप्रभश्च विद्याभिः स्वभार्यामन्त्रिणोऽखिलान्।
संविभेजे मयादेशात् संविभक्ता न ये पुरा ॥११॥

सूर्यप्रभास्थाने नारदमुनेरागमनम्

तावच्चात्र स्थितेष्वेव प्रभाभासितदिङ्मुखः।
अवतीर्याम्बरतलान्नारदो मुनिराययौ ॥१२॥
गृहीतार्घोपविष्टश्च स चन्द्रप्रभमब्रवीत्।
प्रेषितोऽहमिहेन्द्रेण तेन चोक्तमिदं तव ॥१३॥
ज्ञातं मया यद्युष्माभिर्महेश्वरनिदेशतः।
मयासुरमखैः सूर्यप्रभस्याज्ञातमोहितैः ॥१४॥
अस्य मर्त्यशरीरस्य संसाधयितुमिष्यते।
सर्वविद्याधराधीशचक्रवर्त्तिपदं महत् ॥१५॥
तदयुक्तं यदस्माभिर्दत्तं हि श्रुतशर्मणे।
विद्याधरकुलाब्धीन्दोस्तच्च तस्य क्रमागतम् ॥१६॥
अस्माकं प्रातिपक्ष्येण धर्मबाधेन चैव यत्।
कुरुध्वे तद्विनाशाय निश्चितं वः प्रकल्पते ॥१७॥
पूर्वं च रुद्रयज्ञेन यजमानो भवान् मया।
प्राग्यजस्वाश्वमेधेनेत्युक्तं च कृतवान् न तम् ॥१८॥

---

१. खे=आकाशे चरन्तीति खचराः=विद्याधराः, तेषां श्रियं=राजलक्ष्मीम्।

"आपने ये पार्थिव भोग (आनन्द) तो भोग लिये। अब अन्य दिव्य भोगों के भोगने का समय आ गया है। अतः, उसके लिए उद्योग प्रारम्भ कीजिए ॥६॥

दूतों को भेजकर अपने सम्बन्धी बन्धुओं को बुलवाइए। तब विद्याधरों के राजा सुमेरु से मिलेंगे ॥७॥

तदनन्तर श्रुतशर्मा को जीतेंगे और आकाशचारियों का साम्राज्य प्राप्त करेंगे। सुमेरु नामक विद्याधर राजा, हमारी सहायता के लिए सम्बन्धी की भावना से तैयार बैठा है। 'सूर्यप्रभ की रक्षा करना और उसे अपनी कन्या प्रदान करना', शिवजी ने इस प्रकार का आदेश उसे पहले से ही दे रखा है" ॥८-९॥

मयासुर के ऐसा कहने पर चन्द्रप्रभ ने सब बन्धु-राजाओं के पास आकाशचारी प्रहस्त, प्रभास आदि दूतों को उन्हें बुलाने के लिए भेज दिया ॥१०॥

तदनन्तर मय दानव की आज्ञा से सूर्यप्रभ ने जिन पत्नियों और मन्त्रियों को इन्द्रजाल आदि विद्याएँ नहीं सिखाई थीं, उन सबको अपनी विद्याएँ सिखा दीं ॥११॥

सूर्यप्रभ के दरबार में नारद मुनि का आगमन

इतने में ही, जब सभा में यह चर्चा चल रही थी, तभी अपने तपःप्रभाव से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए नारदमुनि आकाश से उतरे ॥१२॥

अर्घ्य लेकर आसन पर विराजमान नारद मुनि ने, राजा चन्द्रप्रभ से कहा—'राजन्, मुझे इन्द्र ने भेजा है और यह सन्देश दिया है कि मुझे ज्ञात हुआ है कि आप लोगों ने शिवजी की आज्ञा से और मय दानव की सहायता से अज्ञानवश मानवशरीरधारी सूर्यप्रभ को समस्त विद्याधरों का चक्रवर्ती बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया है ॥१३-१५॥

यह उचित नहीं है। यह पद मैंने श्रुतशर्मा को दिया है। वह विद्याधर कुल-रूपी क्षीर-सागर का चन्द्रमा है और कुल-परम्परा से उसे यह पद प्राप्त है ॥१६॥

हमारे विरोधी (शत्रु) के रूप में यदि तुम धर्म-विरुद्ध कार्य करोगे, तो वह अवश्य ही तुम्हारे विनाश के लिए होगा ॥१७॥

पहली बार भी रुद्र-यज्ञ करते हुए मैंने तुमसे कहा था कि पहले अश्वमेध यज्ञ करो, ऐसा मेरे कहने पर भी तुमने वह नहीं किया ॥१८॥

तद्देवाननपेक्ष्यैव रुद्रप्रत्याशयैकया।
यदाचरथ दर्पेण भवतां न शिवाय तत्॥१९॥
इत्युक्ते शक्रसन्देशे नारदेन विहस्य तम्।
मयोऽवादीन् न साधूक्तं सुरेन्द्रेण महामुने॥२०॥
सूर्यप्रभस्य मर्त्यत्वं यद्वक्ति तदपार्थकम्।
तद्दामोदरसंग्रामे न ज्ञातं तेन तस्य किम्॥२१॥
मर्त्या एव हि सत्त्वाढ्याः सर्वसिद्ध्यर्थकारिणः।
ऐन्द्रं न साधितं पूर्वं पदं किं नहुषादिभिः॥२२॥
यच्चाह दत्तमस्माभिः साम्राज्यं श्रुतशर्मणे।
क्रमागतं च तत् तस्येत्येतदप्यसमञ्जसम्॥२३॥
दाता महेश्वरो यत्र प्रामाण्यं तत्र कस्य किम्।
ज्येष्ठागतं हिरण्याक्षस्येन्द्रत्वं च कथं हृतम्॥२४॥
यच्चापरं प्रातिपक्ष्यमधर्मं चाह तन्मृषा।
स एव हि हठात् स्वार्थे प्रातिपक्ष्यं करोति नः॥२५॥
कश्चाधर्मो जिगीषामो वयं हि परिपन्थिनम्।
न हरामो मुनेर्भार्यां[1] ब्रह्महत्यां[2] न कुर्महे॥२६॥
यश्चाश्वमेधाकरणं देवावज्ञां च जल्पति।
तदसद्रुद्रयज्ञे हि विहितेऽन्यैः किमध्वरैः॥२७॥
अर्चिते देवदेवे च शम्भौ देवो न कोऽर्चितः।
यच्चाहैकैव रुद्रास्था न शिवेति तदप्यसत्॥२८॥
किं तत्र देवनिवहैरन्यैर्यत्रोद्यतो हरः।
रवावभ्युदितेऽन्यानि किं तेजांसि चकासति॥२९॥
तदेतद्देवराजाय सर्वं वाच्यं त्वया मुने।
वयं च प्रस्तुतं कुर्मः स यद्वेत्ति करोतु तत्॥३०॥
एवं मयासुरेणोक्तो नारदर्षिस्तथेति तम्।
प्रतिसन्देशमादाय ययौ सुरपतिं प्रति॥३१॥
गते तस्मिन् मुनौ सोऽत्र तं चन्द्रप्रभभूपतिम्।
शक्रसन्देशसाशङ्कमुवाचैवं मयासुरः॥३२॥

---

१. अत्र गौतमधर्मपत्न्या आरत्यभिगमनस्य व्यज्यते।

२. ब्राह्मणस्य वृत्रासुरस्य हननं व्यज्यते।

तुम दूसरे देवताओं की परवाह न करके केवल एक रुद्र की आशा से जो कुछ घमंड के साथ कर रहे हो, वह तुम्हारे हित के लिए न होगा' ॥१९॥

नारदजी के ऐसा कहने पर दानवराज मय हँसकर बोला—'हे महामुनि, देवेन्द्र ने जो कहा है, वह उचित नहीं है। वह जो कहता है कि सूर्यप्रभ मनुष्य है, यह मिथ्या-कथन है। इस बात को दामोदर-संग्राम में इन्द्र ने नहीं देख लिया था कि वह अलौकिक मानव है ? मनुष्य सत्त्ववान् प्राणी है, अतः वह सभी सिद्धियों का अधिकारी है। क्या राजा नहुष आदि ने, इन्द्र-पद की सिद्धि नहीं प्राप्त की थी ? और भी, इन्द्र जो यह कहता है कि श्रुतशर्मा को हमने विद्याधर-चक्रवर्ती का पद प्रदान किया है तथा वह पद उसके कुलक्रम से चला आ रहा है, यह भी विरुद्ध बात है। महेश्वर शिव जिसके दाता हैं, उसमें किसी प्रकार की प्रामाणिकता की क्या आवश्यकता है ? दूसरे, बड़ा भाई होने के कारण हिरण्याक्ष को इन्द्र-पद मिलना चाहिए था, उस पर उसने कैसे अपना अधिकार कर लिया ? ॥२०-२४॥

और भी, इन्द्र ने जो यह सन्देश दिया कि इस प्रकार हमारी तुम्हारे साथ शत्रुता ठन जायगी, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि इन्द्र केवल अपने हठ के कारण हमसे शत्रुता रखता है। फिर, इसमें अधर्म की भी कौन-सी बात है। हम तो शत्रु पर विजय प्राप्त करके क्षात्र धर्म का पालन ही कर रहे हैं, न कि उसके समान मुनि-पत्नी[1] का अपहरण कर रहे हैं और न उसके समान ब्रह्महत्या[2] ही कर रहे हैं ॥२५-२६॥

और, इन्द्र जो कहता है कि अश्वमेध यज्ञ की आज्ञा की अवहेलना करके हमने देवताओं का अपमान किया है, यह भी उसका प्रलाप-मात्र है; क्योंकि रुद्र-यज्ञ कर लेने पर फिर अन्य यज्ञों का क्या महत्त्व रह जाता है ॥२७॥

देवाधिदेव महादेव की अर्चना कर लेने पर किस देवता की अर्चना नहीं हो जाती ? वह जो कहता है कि चन्द्रप्रभ की एकमात्र आस्था शिव पर ही है और वह उसके हित के लिए नहीं है, यह भी अनुचित है ॥२८॥

जहाँ स्वयं शिवजी उद्यत हैं, वहाँ अन्य देवताओं की बात ही क्या ? सूर्य के उदय होने पर अन्य तेज-समूह क्या फीके नहीं पड़ जाते ? ॥२९॥

इसलिए हे मुनिवर, तुम जाकर यह सब देवराज इन्द्र से कहो। हम अपना प्रस्तुत कार्य करते हैं और वह भी जो चाहे, करे' ॥३०॥

मयासुर द्वारा इस प्रकार कहे गये देवर्षि नारद प्रतिसन्देश लेकर देवराज इन्द्र के समीप गये ॥३१॥

नारद मुनि के चले जाने पर इन्द्र के सन्देश से शंकित राजा चन्द्रप्रभ से मयासुर ने कहा—॥३२॥

---

१. यह इन्द्र का गौतम-पत्नी अहल्या के साथ समागम-रूपी अनाचार पर व्यंग्य है।—अनु०

२. यह ब्राह्मण वृत्रासुर को मारने पर व्यंग्य है।—अनु०

न शक्राद्वो भयं कार्यं स च स्याच्छ्रुतशर्मणः।
पक्षे देवगणैः सार्धमस्मद्द्वेषेण संयुगे ॥३३॥
तदसंख्या महाराज प्रह्लादाधिष्ठिता वयम्।
युष्मत्पक्षे स्थिता एव हसिता दैत्यदानवैः ॥३४॥
कृतप्रसादे चास्माकमुद्युक्ते त्रिपुरान्तके।
वराकस्यापरस्यास्ति कस्य शक्तिर्जगत्त्रये ॥३५॥
तद्वीराः कुरुतोद्योगं कार्येऽस्मिन्नित्युदीरिते।
मयेन हृष्टाः सर्वे ते तत्तथैवेति मेनिरे ॥३६॥
अथ दूतोक्तसन्देशात् सर्वे तत्राययुः क्रमात्।
नृपा वीरभटाद्यास्ते ये चान्ये मित्रबान्धवाः ॥३७॥
कृतोचितसपर्येषु[1] ससैन्येष्वेषु राजसु।
पुनश्चन्द्रप्रभं भूपमुवाचैवं मयासुरः ॥३८॥
कुरुध्वमद्य रुद्रस्य रात्रौ राजन् महाबलिम्।
ततो यथाहं वक्ष्यामि तथा सर्वं विधास्यथ ॥३९॥
एतन्मयवचः श्रुत्वा राजा चन्द्रप्रभोऽथ सः।
रुद्रस्य बलिसम्भारं कारयामास तत्क्षणम् ॥४०॥
ततो गत्वाटवीं रात्रौ मये कर्मोपदेष्टरि।
चन्द्रप्रभः स्वयं चक्रे बलिं रुद्रस्य भक्तितः ॥४१॥
होमकर्मप्रवृत्ते च राज्ञि तस्मिन्नशङ्कितम्।
साक्षादाविरभूत्तत्र नन्दी भूतगणाधिपः ॥४२॥
सोऽर्चितो विधिवद्राज्ञा प्रहृष्टेनेदमब्रवीत्।
मन्मुखेनेदमादिष्टं स्वयं देवेन शम्भुना ॥४३॥
अपि शक्रशतान् मा भूद् भयं वो मत्प्रसादतः।
सूर्यप्रभश्चक्रवर्ती भवितैव द्युचारिणाम् ॥४४॥
इत्युक्तशङ्करादेशो गृहीतबलिभागकः।
नन्दीश्वरो भूतगणैः सह तत्र तिरोदधे ॥४५॥
ततश्चन्द्रप्रभो जातप्रत्ययस्तनयोदये।
बलिं समाप्य होमान्ते विवेश समयः पुरम् ॥४६॥

---

१. कृता उचिता=योग्या, सपर्या=सत्कारो येषां तेषु।

'तुम्हें इन्द्र से या श्रुतशर्मा से तनिक भी भय नहीं करना चाहिए। हमारी शत्रुता के कारण यदि श्रुतशर्मा अपनी ओर से युद्ध में देवताओं को लायेगा, तो महाराज प्रह्लाद की अध्यक्षता में हम असंख्य दानव तुम्हारे पक्ष में तैयार हैं॥३३-३४॥

हम पर प्रसन्न शिवजी को कृपा के लिए तैयार रहने पर तीनों लोकों में किस बेचारे की शक्ति है कि वह हमारा सामना कर सके॥३५॥

इसलिए, हे वीरो, इस कार्य के लिए उद्योग करो।' मय द्वारा इस प्रकार कहे गये वे सभी प्रसन्न होकर उसकी बातों को मान गये॥३६॥

तदनन्तर, दूत द्वारा भेजे गये सन्देश के अनुसार वीरभट आदि सभी मित्र, बन्धु क्रमशः शाकल नगर में आने लगे॥३७॥

राजा चन्द्रप्रभ द्वारा उनका स्वागत-सत्कार और अन्यान्य प्रबन्ध कर लेने पर मयासुर ने राजा चन्द्रप्रभ से फिर कहा—॥३८॥

'हे राजन्, आज रात्रि को रुद्र की महाबलि की तैयारी करो। तदनन्तर, मैं जैसा कहूँगा, वैसा करना' ॥३९॥

मय के वचन सुनकर राजा चन्द्रप्रभ ने रुद्रबलि की सामग्री तैयार करा दी और रात को जंगल में जाकर मय के उपदेशानुसार चन्द्रप्रभ ने स्वयं भक्तिपूर्वक बलिदान किया॥४०-४१॥

राजा जब बलिदान के अंगभूत हवन कार्य में निःशंक होकर लगा हुआ था, तभी अग्नि से भूत गणों का अध्यक्ष नन्दी साक्षात् सामने प्रकट हुआ॥४२॥

राजा द्वारा विधिवत् पूजन कर लेने पर प्रसन्न नन्दी ने कहा—'राजन्, स्वयं भगवान् शंकर ने मेरे मुख से यह आदेश दिया है कि तुम्हें मेरी कृपा के कारण सैकड़ों इन्द्रों से भी भय न होना चाहिए। सूर्यप्रभ आकाशचारी विद्याधरों का चक्रवर्त्ती राजा अवश्य होगा'॥ ४३-४४॥

इस प्रकार, शंकर की आज्ञा सुनकर और बलि को स्वीकार करके भूतगणों के साथ नन्दी अन्तर्हित हो गये॥४५॥

तब राजा चन्द्रप्रभ, अपने पुत्र के उदय में पूर्ण विश्वस्त होकर और बलि-क्रिया को समाप्त करके मय के साथ अपने नगर को लौट आया॥४६॥

प्रातश्च देव्या पुत्रेण राजभिः सचिवैर्युतम्।
एकान्तस्थं च तं चन्द्रप्रभभूपं मयोऽभ्यधात् ॥४७॥
शृणु राजन् रहस्यं ते वच्म्यद्य चिररक्षितम्।
त्वं दानवः सुनीथाख्यो मम पुत्रो महाबलः ॥४८॥
सूर्यप्रभः सुमुण्डीकसंज्ञकश्च तवानुजः।
देवाहवे हतौ जातौ पितापुत्रौ युवामिह ॥४९॥
तद्दानवशरीरं ते संरक्ष्य स्थापितं मया।
आलिप्य युक्त्या दिव्याभिरोषधीभिर्घृतेन च ॥५०॥
तस्मात् प्रविश्य विवरं पातालमुपनम्य च।
प्रविश स्वं शरीरं तद्युक्त्या मदुपदिष्टया ॥५१॥
तच्छरीरप्रविष्टश्च तेजोवीर्यबलाधिकः।
तथा भविष्यसि यथा जेष्यसि द्युचरान् रणे ॥५२॥
सूर्यप्रभस्त्वनेनैव कान्तेन वपुषा चिरम्।
सुमुण्डीकावतारोऽयं भवता खेचरेश्वरः ॥५३॥
एतन्मयासुराच्छ्रुत्वा तथेत्यङ्गीचकार सः।
राजा चन्द्रप्रभो हृष्टः सिद्धार्थस्त्विदमुक्तवान् ॥५४॥
अन्यदेहप्रविष्टः किं किमयं पञ्चतां गतः।
इति भ्रान्तौ तदस्माकं का धृतिर्दानवोत्तम ॥५५॥
किं चैष विस्मरत्यस्मांस्तदा देहान्तराश्रितः।
परलोकगतो यद्वत्ततः कोऽयं वयं च के ॥५६॥
एतत् सिद्धार्थतः श्रुत्वा स जगाद मयासुरः।
प्रविशन्तमिमं तस्मिञ्छरीरे योगयुक्तितः ॥५७॥
स्वतन्त्रं यूयमागत्य साक्षात् तत्रैव पश्यत।
न चैवं विस्मरत्येष युष्माञ्छृणुत कारणम् ॥५८॥
अस्वतन्त्रो मृतोऽन्यत्र गर्भे यो जायते न सः।
किञ्चित् स्मरत्यन्तरितः क्लेशैस्तैर्मरणादिभिः ॥५९॥
स्वातन्त्र्येण तु योऽन्यस्मिञ्छरीरे योगयुक्तितः।
अन्तःकरणमाविश्य प्रविशेदिन्द्रियाणि च ॥६०॥
अविप्लुतमनोबुद्धिर्गृहादिव गृहान्तरम्।
सहसा स स्मरत्येव ज्ञानी योगेश्वरोऽखिलम् ॥६१॥

प्रातःकाल महारानी, पुत्र और मन्त्रियों के साथ एकान्त में बैठे हुए राजा चन्द्रप्रभ से मय ने कहा—॥४७॥

'हे राजन्, सुनो मैं तुम्हें बहुत दिनों से छिपाया हुआ एक रहस्य बताता हूँ। तू मेरा पुत्र है और महाबलवान् सुनीथ नाम का दानव है और सूर्यप्रभ सुमुण्डीक नाम का तेरा छोटा भाई है। तुम दोनों देवताओं द्वारा युद्ध में मारे जाने पर इस जन्म में पिता-पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए हो ॥४८-४९॥

इसलिए, मैंने तुम्हारा दानव-शरीर दिव्य ओषधियों और घृत से लेप करके सुरक्षित रखा है ॥५०॥

इसलिए, गुफा के मार्ग से पाताल में प्रवेश करके मेरी बताई हुई युक्ति से अपने शरीर में प्रवेश करो ॥५१॥

पहले उस दानव-शरीर में प्रवेश करके तेज, पराक्रम और बल में तुम इतने अधिक बढ़ जाओगे, जिससे कि युद्ध में आकाशचारियों पर विजय प्राप्त कर लोगे ॥५२॥

और, यह सूर्यप्रभ नामक सुमुण्डीक उसी सुन्दर शरीर से चिरकाल तक विद्याधरों का चक्रवर्ती होगा ॥५३॥

राजा सूर्यप्रभ ने, मय के मुख से ऐसा सुनकर, 'ठीक है' कहकर, उसकी आज्ञा को स्वीकार किया, किन्तु मन्त्री सिद्धार्थ ने कहा—॥५४॥

'हे दानवश्रेष्ठ, राजा के दानव-शरीर में प्रवेश करने पर 'क्या यह मर गया', इस भ्रम में पड़े हुए लोगों को धीरज कैसे बँधेगा ? ॥५५॥

और, दूसरे शरीर को धारण करके परलोकवासी आत्मा के समान यह हम लोगों को भूल जायगा, तो यह कौन और हम कौन, अर्थात् हमारे इसके सभी सम्बन्ध टूट जायेंगे ॥५६॥

सिद्धार्थ की बात सुनकर मयासुर ने कहा—'योग की क्रिया द्वारा उस पूर्ण शरीर में स्वतन्त्रता से प्रवेश करते हुए तुम उसे प्रत्यक्ष रूप से देखो। इस प्रकार यह आप लोगों को नहीं भूलेगा ॥५७-५८॥

इसका कारण सुनो। जो व्यक्ति मृत्यु के वश में होकर मर जाता है, वह नवीन गर्भ में जाकर पिछला सब कुछ भूल जाता है और मृत्यु, रोग आदि कष्टों से पीड़ित होकर कुछ भी स्मरण नहीं कर पाता ॥५९॥

जो व्यक्ति, स्वेच्छापूर्वक स्वतन्त्र रूप से दूसरे शरीर में योग की युक्ति से प्रवेश करता है, वह पहले अन्तःकरण में प्रवेश कर इन्द्रियों में प्रवेश करता है। उसका मन और उसकी बुद्धि ठीक रहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति, एक घर से दूसरे घर में प्रवेश करता है, वैसे वह व्यक्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है और पहले छोड़े हुए घर को नहीं भूलता। वह ज्ञानवान् योगेश्वर सब कुछ स्मरण रखता है ॥६०-६१॥

तस्माद्विकल्पो मा भूद्वः प्रत्युतैष नृपो महत् ।
दिव्यं शरीरमाप्नोति जरारोगविवर्जितम् ॥६२॥
यूयं च दानवाः सर्वे प्रविश्यैव रसातलम् ।
सुधापानेन नीरोगदिव्यदेहा भविष्यथ ॥६३॥
एतन्मयासुरवचः श्रुत्वा सर्वे तथेति ते ।
तत्प्रत्ययपरित्यक्तशङ्कास्तत्प्रतिपेदिरे ॥६४॥
तद्वाक्येन च सोऽन्येद्युर्मिलिताखिलराजकः ।
चन्द्रप्रभश्चन्द्रभागैरावत्योः सङ्गमं ययौ ॥६५॥
तत्रावस्थाप्य नृपतीन् बहिर्निक्षिप्य तेषु ते ।
सूर्यप्रभावरोधांस्तानपेत्य मयदर्शितम् ॥६६॥
विवेश विवरं तोये सह सूर्यप्रभेण सः ।
चन्द्रप्रभः समं देव्या सिद्धार्थाद्यैश्च मन्त्रिभिः ॥६७॥
प्रविश्य गत्वा दीर्घं च तेनाध्वानं ददर्श सः ।
दिव्यं देवकुलं तच्च सर्वैः सह विवेश तैः ॥६८॥
तावच्च ये स्थितास्तत्र राजानो विवराद्बहिः ।
तेषां विद्याधरा व्योम्ना सैन्यैः सह समापतन्[1] ॥६९॥
ते तान्संस्तभ्य मायाभिर्भार्याः सूर्यप्रभस्य ताः ।
अहरंस्तत्क्षणं चैवमुदगाद् भारती दिवः ॥७०॥
श्रुतशर्मन्नरे पाप यद्येताश्चक्रवर्तिनः ।
भार्याः स्प्रक्ष्यसि तत्सद्यः ससैन्यो मृत्युमाप्स्यसि ॥७१॥
तस्मान्मातृवदेतास्त्वं पश्यन् रक्षेः सगौरवम् ।
अधुनैव न हत्वा त्वां यदेता मोचिता मया ॥७२॥
तत्रास्ति कारणं किञ्चित्तत्तिष्ठन्त्वत्र सम्प्रति ।
इत्युक्ते दिव्यया वाचा खेचरास्ते निरोदधुः ॥७३॥
राजानस्ते च नीतास्ता दृष्ट्वा वीरभटादयः ।
आसन्नन्योन्ययुद्धेन देहत्यागे कृतोद्यमाः ॥७४॥
नैतासामस्ति विध्वंसः प्राप्स्यथैताः सुताः पुनः ।
तत्साहसं न युष्माभिः कार्यं कल्याणमस्तु वः ॥७५॥

---

१. आक्रमणं चक्रुरित्यर्थः ।

इसलिए, तुम लोग शंका न करो। प्रत्युत, तुम्हारा यह राजा जरा-मरण-रहित दिव्य और महाबलवान् शरीर धारण करेगा ॥६२॥

तुम सभी दानव भी रसातल में प्रवेश करके अमृतपान से दिव्य देहधारी और रोग-रहित हो जाओगे' ॥६३॥

मयासुर के यह वचन सुनकर उसकी बात को सभी ने मान लिया और उसके विश्वास से शंका-रहित होकर वे सब सहमत हो गये ॥६४॥

मयासुर के कथनानुसार, दूसरे दिन, राजा चन्द्रप्रभ, चन्द्रभागा[1] और इरावती नदी के संगम पर सब राजाओं के साथ गया ॥६५॥

वहाँ वह सेना-सहित सब राजाओं को ठहराकर और सूर्यप्रभ की सभी रानियों को उनकी संरक्षकता में रखकर मयासुर द्वारा निर्दिष्ट गुफा में सूर्यप्रभ तथा सिद्धार्थ आदि मन्त्रियों एवं अपनी रानियों के सहित प्रवेश कर गया ॥६६-६७॥

उस गुफा में जाकर उसने दूर से एक देव-मन्दिर को देखा और उन सब के साथ वह उस मन्दिर में गया ॥६८॥

उधर जो राजा, सूर्यप्रभ की प्रतीक्षा में गुफा के द्वार पर ठहरे थे, उनपर अपनी सेना के साथ विद्याधर आकाश-मार्ग से टूट पड़े ॥६९॥

उन विद्याधरों ने अपनी मायाओं (विद्याओं) से उन सब को बाँधकर सूर्यप्रभ की सभी पत्नियों का हरण कर लिया और इसके बाद ही आकाशवाणी हुई—॥७०॥

'अरे पापी श्रुतशर्मन्, यदि तू चक्रवर्त्ती सूर्यप्रभ की इन पत्नियों का स्पर्श भी करेगा, तो उसी क्षण सेना के साथ मर जायगा ॥७१॥

इसलिए इन स्त्रियों को माता के समान देखते हुए सम्मान के साथ इनकी रक्षा कर। इसीलिए, मैंने अभी तुझे मारकर इन्हें नहीं छुड़ाया है ॥७२॥

इसमें कुछ कारण है, अतः ये अभी दूसरे स्थान पर रहें।' आकाशवाणी के ऐसा कहकर बन्द हो जाने पर वे सभी विद्याधर भाग गये ॥७३॥

और, वीरभट आदि राजा अपनी कन्याओं का प्रत्यक्ष अपहरण देखकर परस्पर युद्ध करके प्राणत्याग करने के लिए उद्यत हो गये ॥७४॥

'इन कन्याओं का नाश न होगा, तुम लोग फिर इन्हें प्राप्त करोगे, इसलिए मरने का साहस न करो, तुम्हारा कल्याण हो' ॥७५॥

---

१. पंजाब की दो प्रसिद्ध नदियाँ : चन्द्रभागा—चेनाब और इरावती—रावी।—अनु०

इति वाङ्नाभसी[1] तेषां तमुद्योगं न्यवारयत्।
ततः प्रतीक्षमाणास्ते तस्थुस्तत्रैव भूभुजः ॥७६॥
अत्रान्तरे च पाताले तस्मिन् देवकुले स्थितम्।
सर्वैर्वृतमवोचत्तमेवं चन्द्रप्रभं मयः ॥७७॥
राजन्नेकमना भूत्वा शृण्विदानीमनुत्तमम्।
उपदेक्ष्यामि ते योगमन्यदेहप्रवेशदम् ॥७८॥
इत्युक्त्वाख्याय सांख्यं च योगं च सरहस्यकम्।
युक्तिं देहान्तरावेशे तस्मादुपदिदेश सः ॥७९॥
जगाद च स योगीन्द्रः सैषा सिद्धिरिदं च तत्।
ज्ञानं स्वातन्त्र्यमैश्वर्यमणिमादिनिकेतनम् ॥८०॥
अत्रैश्वर्ये स्थिता मोक्षं न वाञ्छन्ति सुरेश्वराः।
एतदर्थं जपतपःक्लेशमन्येऽपि कुर्वते ॥८१॥
सम्प्राप्तमपि नेच्छन्ति स्वर्गभोगं महाशयाः।
तथा च श्रूयतामत्र कथां वः कथयाम्यहम् ॥८२॥

कालनाम्नो ब्राह्मणस्य कथा

आसीत्कोऽपि पुराकल्पे कालो नाम महाद्विजः।
स गत्वा पुष्करे तीर्थे जपं चक्रे दिवानिशम् ॥८३॥
जपतस्तस्य तत्रागाद्दिव्यं वर्षशतद्वयम्।
ततोऽस्य शिरसोऽच्छिन्नमर्चिरगाविरभून्महत् ॥८४॥
येन सूर्यायुतेनेव प्रोद्गतेनाम्बरे गतिः।
सिद्धादीनां निरुद्धाभूज्जज्वाल च जगत्त्रयम् ॥८५॥
ब्रह्मन् यस्ते वरोऽभीष्टस्तं गृहाण ज्वलन्त्यमी।
लोकास्त्वदर्चिषेत्यूचुर्ब्रह्मेन्द्राद्या उपेत्य तम् ॥८६॥
जपादन्यत्र मा भून्मे रतिरित्येष एव मे।
वरो नान्यद्वृणे किञ्चिदिति तान् प्रत्युवाच सः ॥८७॥
निर्बन्धं तेषु कुर्वत्सु ततो गत्वापि दूरतः।
उत्तरे हिमवत्पार्श्वे जपन्नासीत्स जापकः ॥८८॥

---

१. नाभसी वाक्=आकाशवाणी।

इस प्रकार की आकाशवाणी ने उनके मरण-प्रयत्न को शान्त कर दिया और वे पहले की भाँति चन्द्रप्रभ की प्रतीक्षा में वहीं रुके रहे ॥७६॥

इसी बीच पाताल के उस देवमन्दिर में बैठे हुए और अपने बन्धु-बान्धवों से घिरे हुए चन्द्रप्रभ से मयासुर ने कहा—॥७७॥

'हे राजन्, एकाग्रचित्त होकर सुनो। मैं तुम्हें अत्यन्त उत्तम योग का उपदेश दूंगा, जिसके द्वारा दूसरे शरीर में प्रवेश किया जा सकता है' ॥७८॥

ऐसा कहकर उसने चन्द्रप्रभ को रहस्य के साथ सांख्य और योग द्वारा परकाय-प्रवेश का उपदेश दिया ॥७९॥

वह योगीन्द्र कहने लगा—'यह सिद्धि है और यह वह स्वतन्त्र ज्ञान है, जो ऐश्वर्य और अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों को देनेवाला है' ॥८०॥

इस ऐश्वर्य को प्राप्तकर देवता मोक्ष को भी नहीं चाहते। इसी की प्राप्ति के लिए अन्य मनुष्य जप-तप का क्लेश उठाते है ॥८१॥

और वे उदाराशय व्यक्ति, मिलते हुए स्वर्ग-सुख को भी नहीं चाहते। मैं इस सम्बन्ध मे एक कथा कहता हूँ, सुनो'—॥८२॥

काल ब्राह्मण की कथा

प्राचीन समय में काल नाम का एक ब्राह्मण था, उसने पुष्कर तीर्थ में जाकर दिन-रात जप करना प्रारम्भ किया ॥८३॥

जप करते हुए उसे दो सौ दिव्य वर्ष व्यतीत हो गये, तब उसके शिर से एक अविरल ज्योति-धारा फूट पड़ी ॥८४॥

हजारों सूर्यों से भी अधिक उस प्रचंड ज्योति ने, आकाश में उठकर सिद्ध, विद्याधर आदि आकाशचारियों की गति को रोक दिया और तीनों लोक उस ज्वाला के तेज से झुलसने लगे ॥८५॥

तब ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता उस ब्राह्मण के समीप आकर बोले,—'हे ब्रह्मन्, तुम्हें जो भी अभीष्ट हो, उसे लो। तुम्हारे तप के तेज से तीनों लोक जल रहे हैं' ॥८६॥

उस ब्राह्मण ने कहा—'मैं यही चाहता हूँ कि जप को छोड़कर अन्यत्र कहीं मेरा मन न लगे। इसके अतिरिक्त मैं कुछ वर नहीं चाहता' ॥८७॥

उन देवताओं के बहुत आग्रह करने पर तंग आकर वह ब्राह्मण उत्तर दिशा में हिमालय के पास जाकर फिर जप करने लगा ॥८८॥

तत्राप्यसह्यं तत्तेजः सविशेषं क्रमाद्यदा।
तदा विघ्नाय तस्येन्द्रः प्रजिघाय सुराङ्गनाः॥८९॥
स धीरो लोभयन्तीस्ता न तृणायाप्यमन्यत।
निसृष्टार्थं[1] ततस्तस्मै मृत्युं विससृजुः सुराः॥९०॥
उपेत्य स तमाह स्म ब्रह्मन् मर्त्यैरियच्चिरम्।
न जीव्यते तदात्मानं त्यज मा लङ्घय स्थितिम्॥९१॥
तच्छ्रुत्वा स द्विजोऽवादीद्यदि पूर्णो ममावधिः।
आयुषस्तन्न कस्मान्मां नयसे किं प्रतीक्षसे॥९२॥
स्वयं च नाहमात्मानं त्यजेयं पाशहस्त रे।
आत्मघाती भवेयं च शरीरं कामतस्त्यजन्॥९३॥
इत्युक्तवन्तं तं नेतुं प्रभावान्नाशकद्यदा।
तदा पराङ्मुखो मृत्युर्जगाम स यथागतम्॥९४॥
ततो विजितकालं तं कालं सानुशयो द्विजम्।
बलादुत्क्षिप्य बाहुभ्यां निनायेन्द्रः सुरालयम्॥९५॥
तत्र तद्भोगविमुखो जपादविरमश्च सः।
देवावतारितो भूयस्तमेवागाद्धिमालयम्॥९६॥
तत्रापीन्द्रादयो भूयो वरार्थं बोधयन्ति तम्।
यावत्तावन्नृपस्तेन मार्गेणेक्ष्वाकुराययौ॥९७॥
स तद्बुद्ध्वा यथावस्तु जापकं तमभाषत।
देवेभ्यश्चेन्न गृह्णासि वरं मत्तो गृहाण भोः॥९८॥
तच्छ्रुत्वा स विहस्यैनं जापकोऽभ्यवदन्नृपम्।
त्वं शक्तो वरदाने मे त्रिदशेभ्योऽप्यगृह्णतः॥९९॥
इत्यूचिवांसं तं विप्रमिक्ष्वाकुः प्रत्युवाच सः।
शक्तो न तेऽहं शक्तस्त्वं मम तद्देहि मे वरम्॥१००॥
ततः स जापकोऽवादीद्यत्तेऽभीष्टं वृणीष्व तत्।
दास्याम्येवेति तच्छ्रुत्वा राजान्तर्विममर्श सः॥१०१॥
अहं ददामि विप्रोऽयं गृह्णातीत्युचितो विधिः।
विपरीतमिदं गृह्णाम्यहमेष ददाति यत्॥१०२॥

---

१. दूतमित्यर्थः।

वहाँ भी जब उसका असह्य तेज उसी प्रकार प्रज्वलित हुआ, तब इन्द्र ने उसकी तपस्या में विघ्न करने के लिए उसके पास अप्सराओं को भेजा ।।८९।।

किन्तु, उस ब्राह्मण ने उन्हें तृण के समान समझकर उनकी उपेक्षा कर दी, तो उस सिद्ध के पास देवताओं ने मृत्यु को भेजा ।।९०।।

मृत्यु ने उससे कहा, हे ब्राह्मण, मनुष्य इतने दिनों तक नहीं जीते, इसलिए इस आत्मा को छोड़ो और ईश्वरीय मर्यादा का उल्लंघन मत करो ।।९१।।

यह सुनकर ब्राह्मण ने कहा कि 'यदि मेरे आयुष्य की अवधि पूर्ण हो गई, तो मुझे क्यों नहीं ले जाता, प्रतीक्षा क्यों कर रहा है । हे पाशवाले, मैं स्वयं प्राणों को न छोड़ूँगा ।' इस प्रकार, अपनी इच्छा से शरीर छोड़नेवाला मैं आत्मघाती बनूँगा ।।९२-९३।।

इस प्रकार कहते हुए उस ब्राह्मण को तपःप्रभाव के कारण जब काल न ले जा सका, तब वह विवश होकर जहाँ से आया था, वहीं लौट गया ।।९४।।

तब इन्द्र को पश्चात्ताप हुआ और वह, काल को जीतनेवाले उस ब्राह्मण को बलपूर्वक अपने हाथों से उठाकर स्वर्ग में ले गया ।।९५।।

स्वर्ग में जाकर भी उसके भोगों से विरक्त और जप में लीन उस ब्राह्मण को देवताओं ने पृथ्वी पर उतार दिया । वह ब्राह्मण फिर हिमालय की ओर चला गया ।।९६।।

वहाँ पर इन्द्र आदि देवताओं ने बार-बार वर माँगने के लिए उससे कहा । किन्तु, उसने एक न मानी । इतने में ही उस मार्ग से राजा इक्ष्वाकु आ निकला ।।९७।।

उसने देवताओं से सब समाचार जानकर उस जापक ब्राह्मण से कहा—'यदि तुम देवताओं से वर नहीं लेते हो, तो मुझसे माँगो ' ।।९८।।

यह सुनकर जापक ब्राह्मण हँसकर बोला कि 'जब मैं देवताओं से भी वर नहीं माँग रहा हूँ, तब तुझे क्या वर देने का सामर्थ्य है' ।।९९।।

ऐसा कहते हुए ब्राह्मण से राजा इक्ष्वाकु ने कहा कि 'यदि मैं वर देने में असमर्थ हूँ, तो तू ही मुझे वर दे दे' ।।१००।।

तब वह जापक ब्राह्मण कहने लगा—माँग, जो वर तू चाहता है, मैं अवश्य ही दूँगा ।' यह सुनकर राजा मन में सोचने लगा कि 'मैं देता हूँ और यह ब्राह्मण लेता है, यह क्रम तो उचित है; किन्तु यह विपरीत क्रम है कि यह दे और मैं लूँ' ।।१०१-१०२।।

इति यावत्स नृपतिर्विचिकित्सन् विलम्बते।
तावद्विवदमानौ द्वौ तत्र विप्रावुपेयतुः ॥१०३॥
तौ तं दृष्ट्वा नृपं तस्य पुरो न्यायार्थमूचतुः।
एकोऽब्रवीत्प्रदत्ता मे गौरनेन सदक्षिणा ॥१०४॥
तां मे प्रतिददानस्य हस्ताद् गृह्णात्यसौ न किम्।
अथापरोऽभ्यधान्नाहं कृतपूर्वप्रतिग्रहः ॥१०५॥
न चार्थिता मे तत्कस्माद् ग्राहयत्येष मां बलात्।
एतच्छ्रुत्वा नृपोऽवादीदाक्षेप्तायं न शुध्यति ॥१०६॥
प्रतिगृह्य कथं दात्रे बलात् प्रतिददाति गाम्।
इत्युक्तवन्तं तं भूपं शक्रो लब्धान्तरोऽब्रवीत् ॥१०७॥
राजन् जानासि चेदेवं न्याय्यं तज्जापकाद्द्विजात्।
वरमभ्यर्थ्य सम्प्राप्तं कस्माद् गृह्णासि नामुतः ॥१०८॥
ततो निरुत्तरो राजा जापकं तं जगाद सः।
भगवन् स्वजपस्यर्धात् फलं वितर मे वरम् ॥१०९॥
बाढमेवं जपस्यार्धात् मदीयस्यास्तु ते फलम्।
इति तस्मै ततो राज्ञे जापकः स वरं ददौ ॥११०॥
सर्वलोकगतिं लेभे तेन राजा स सोऽपि च।
जापकः सशिवाख्यानं देवानां लोकमाप्तवान् ॥१११॥
तत्र स्थित्वा बहून् कल्पान् पुनरागत्य भूतले।
प्राप्य स्वतन्त्रतां योगात् सिद्धिं लेभे च शाश्वतीम् ॥११२॥
एवं स्वर्गादिविमुखैः सिद्धैरेवार्थ्यते बुधैः।
सा त्वयाप्ता स्वतन्त्रस्तद्राजन् स्वं देहमाविश ॥११३॥
इत्युक्तः प्रत्ययोगेन मयेन मुमुदे परम्।
सदारतनयामात्यो राजा चन्द्रप्रभोऽथ सः ॥११४॥
ततो द्वितीयं पातालं नीत्वा तेन मयेन सः।
प्रावेश्यत गृहं दिव्यं पुत्रादिसहितो नृपः ॥११५॥
तत्रान्तर्ददृशुस्ते च सर्वे सुप्तमिव स्थितम्।
महान्तमेकं पुरुषं पतितं शयनोत्तमे ॥११६॥
महौषधिघृताभ्यक्तं विकृताकृतिभीषणम्।
विषण्णवदनाम्भोजदैत्यराजसुतावृतम् ॥११७॥

इस प्रकार की शंका करता हुआ राजा जब बिलम्ब कर रहा था, तब दो ब्राह्मण परस्पर झगड़ते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥१०३॥

वे दोनों वहाँ राजा को उपस्थित देखकर न्याय कराने के लिए उनमें से एक बोला–राजन्, इसने दक्षिणा के साथ मुझे गौ दी है' ॥१०४॥

उसे लौटाते हुए मुझसे यह अपने हाथ से क्यों नहीं लेता ? तब दूसरा ब्राह्मण बोला—'मैंने पहले कभी दान नहीं लिया है और न मुझे यह आवश्यक है। अतः, मैं क्यों लूँ ?' यह सुनकर राजा ने कहा कि 'वादी शुद्ध नहीं है। वह स्वयं दान लेकर फिर दाता को हठपूर्वक गौ क्यों देता है ?' राजा के ऐसा कहने पर बीच में ही इन्द्र ने कहा—'हे राजन्, जब इस प्रकार का न्याय तुम जानते हो, तब इस जापक ब्राह्मण से वर की याचना करके मिलते हुए उसे क्यों नहीं लेते ॥१०५-१०८॥

तब राजा ने निरुत्तर होकर ब्राह्मण से कहा—'भगवन्, अपने किये जप का आधा फल मुझे दे दो' ॥१०९॥

'ठीक है, मेरे जप का आधा फल तुम्हें मिले'—जापक ब्राह्मण ने राजा को इस प्रकार वर दे दिया ॥११०॥

इस फल के प्रभाव से उस राजा ने समस्त लोकों में गति (जाने की शक्ति) प्राप्त की और उस ब्राह्मण ने शिव नाम के देवलोक को प्राप्त किया ॥१११॥

इस प्रकार, अनेक कल्पों तक भिन्न-भिन्न लोकों में रहकर और पुनः पृथ्वी पर आकर स्वतन्त्रतापूर्वक योगाभ्यास से अक्षय सिद्धि प्राप्त की ॥११२॥

इस प्रकार, विद्वज्जन स्वर्ग आदि भोगों से विमुख रहकर केवल सिद्धि-प्राप्ति का ही लक्ष्य रखते है। वह सिद्धि तुमने प्राप्त कर ली है, अब तुम स्वतन्त्र हो। अब अपने पूर्व शरीर में प्रवेश करो ॥११३॥

योगदान करनेवाले मय द्वारा इस प्रकार कहा गया चन्द्रप्रभ, अपनी रानियों, पुत्र और मन्त्रियों सहित अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥११४॥

तब मय दानव, राजा चन्द्रप्रभ को सब परिवार के साथ दूसरे पाताल में ले गया और पुत्र, पत्नी आदि के साथ उसे एक दिव्य गृह में प्रवेश कराया ॥११५॥

उस गृह के भीतर उन सबने उत्तम शय्या पर सोये हुए के समान एक दिव्य पुरुष को देखा ॥११६॥

वह बड़ी-बड़ी ओषधियों और घृत से लिपा हुआ-सा था और आकृति के विकृत हो जाने से डरावना-सा प्रतीत होता था। मुँह लटकाये दैत्यराज की कन्याओं से वह घिरा हुआ था ॥११७॥

सोऽयमत्र स्वदेहस्ते पूर्वभार्यावृतः स्थितः।
प्रविशैतमिति स्माह ततश्चन्द्रप्रभं मयः॥११८॥
सोऽथ तेनोपदिष्टं तं योगमास्थाय भूपतिः।
तस्मिन् पुरुषदेहेऽन्तस्त्यक्तस्वतनुराविशत्॥११९॥
ततः स जृम्भिकां कृत्वा शनैरुन्मील्य लोचने।
गतनिद्र इवोत्तस्थौ पुरुषः शयनीयतः॥१२०॥
दिष्ट्या देवः सुनीथोऽद्य प्रत्युज्जीवित एष नः।
इति तत्रोदभून्नादो हृष्टासुरवधूकृतः॥१२१॥
सूर्यप्रभाद्याः सर्वे तु विषण्णाः सहसाऽभवन्।
दृष्ट्वा निपतितं चन्द्रप्रभदेहमजीवितम्॥१२२॥
चन्द्रप्रभसुनीथश्च सुखस्वापादिवोत्थितः।
दृष्ट्वा मयं ववन्दे स पितरं पादयोः पतन्॥१२३॥
स पितापि तमालिङ्ग्य पृष्टवान् सर्वसन्निधौ।
कच्चित् स्मरसि पुत्र द्वे जन्मनी त्वं हि सम्प्रति॥१२४॥
सोऽपि स्मरामीत्युक्त्वैव यच्चन्द्रप्रभजन्मनि।
सुनीथजन्मनि च यत्तस्य वृत्तं तदुक्तवान्॥१२५॥
नामग्राहं सदेवीकान् स च सूर्यप्रभादिकान्।
एकैकमाश्वासितवान् पूर्वभार्याश्च दानवीः॥१२६॥
चन्द्रप्रभत्वे जातं च देहं द्वैराज्ययुक्तितः।
भवेज्जातूपयोगीति स्थापयामास रक्षितम्॥१२७॥
ततोऽभ्यनन्दन् प्रणता जातप्रत्ययनिर्वृताः।
चन्द्रप्रभसुनीथं तं हृष्टाः सूर्यप्रभादयः॥१२८॥
मयासुरोऽथ सर्वांस्तान् हर्षान्नीत्वा पुरात्ततः।
अन्यत् प्रवेशयामास हेमरत्नचितं पुरम्॥१२९॥
प्रविष्टास्तत्र वैदूर्यवापीं ते ददृशुर्भृताम्।
सुधारसेन तस्याश्च तीरे सर्वेऽप्युपाविशन्॥१३०॥
पपुश्च तत्सुधापानममृताधिकमत्र ते।
सुनीथभार्योपहृतैर्विचित्रैर्मणिभाजनैः॥१३१॥
तेन पानेन ते सर्वे मत्तसुप्तोत्थितास्ततः।
सम्पेदिरे दिव्यदेहा महाबलपराक्रमाः॥१३२॥

तब मय ने चन्द्रप्रभ से कहा–'यह वही तुम्हारा पहला शरीर है। इसमें प्रवेश करो' ॥११८॥

तदनन्तर, चन्द्रप्रभ ने मय की बताई हुई योग-युक्ति से अपने शरीर को त्याग कर उस शरीर में प्रवेश किया ॥११९॥

उसकी आत्मा के प्रवेश करने पर वह सोया हुआ शरीर जँभाई लेकर और धीरे-धीरे आँखें खोलकर नींद से जगे हुए के समान उठ खड़ा हुआ' ॥१२०॥

'हमारे भाग्य से राजा सुनीथ पुनः जीवित हो उठे', इस प्रकार पूर्व-पत्नियाँ कोलाहल करने लगीं ॥१२१॥

इधर चन्द्रप्रभ के निर्जीव शरीर को गिरा हुआ देखकर सूर्यप्रभ आदि सभी सहसा खिन्न हो उठे ॥१२२॥

चन्द्रप्रभ (सुनीथ) ने मानों सोए हुए से उठकर पिता मय को सामने देखकर उसके चरणो में प्रणाम किया ॥१२३॥

मय ने भी प्रेम से उसका आलिंगन करके उससे पूछा, 'बेटा ! क्या पिछले दो जन्मों का अब स्मरण करते हो ?' ॥१२४॥

उसने कहा–'स्मरण करता हूँ।' इतना ही नहीं। उसने चन्द्रप्रभ-जन्म में और सुनीथ-जन्म में जो कुछ भी हुआ था, सब सुना दिया ॥१२५॥

तदनन्तर, उसने पूर्व जन्म की रानियों एवं सूर्यप्रभ आदि के नाम लेकर तथा उसके भी पुत्र की दानवी पत्नियों के भी इसी प्रकार नाम ले-लेकर आश्वासन दिया ॥१२६॥

और, चन्द्रप्रभ के निर्जीव शरीर को ओषधियों और घी से लेपकर युक्तिपूर्वक सुरक्षित कर दिया कि सम्भव है कभी काम आवे ॥१२७॥

तब पूर्ण विश्वस्त होकर सूर्यप्रभ आदि ने प्रणाम करते हुए उसका अभिवादन किया ॥१२८॥

अत्यन्त हर्षित मयासुर उन सब को उस नगर से दूसरे सोने के नगर में ले गया ॥१२९॥

उसमें जाकर उन सब ने हीरे से बनी हुई एक स्वच्छ सुन्दर बावली देखी, जो अमृत रस से भरी थी। सभी उसके किनारे बैठ गये ॥१३०॥

और, ये सुनीथ की दानवी स्त्रियों द्वारा लाये गये मणिमय पात्रों में अमृत रस का पान करने लगे ॥१३१॥

उस अमृत-पान मात्र से सभी लोग सोकर उठे हुए-से महान् बल और पराक्रम से युक्त दिव्य शरीरधारी हो गये ॥१३२॥

---

१. चीन देश में उस प्रकार के विचार चलते थे, ऐसा वहाँ की कथाओं से प्रतीत होता है। बौद्ध लोग ऐसे विचारों को वहाँ ले गये हों, ऐसा संभव है।—अनु०

चन्द्रप्रभसुनीथं च ततोऽवादीन् मयासुरः ।
पुत्रैहि यामः पश्य त्वं मातरं सुचिरादिति ॥१३३॥
ततस्तथेति चोद्युक्तः सुनीथोऽग्रेसरे मये ।
ययौ चतुर्थं पातालं सह सूर्यप्रभादिभिः ॥१३४॥
तत्र चित्राणि पश्यन्तो नानाधातुमयानि ते ।
पुराण्येकं पुरं प्रापुः सर्वे सर्वहिरण्मयम् ॥१३५॥
तत्र रत्नमयस्तम्भे सर्वसम्पन्निकेतने ।
ददृशुर्मयभार्यां तां ते सुनीथस्य मातरम् ॥१३६॥
नाम्ना लीलावतीं रूपेणाधःकृतसुराङ्गनाम् ।
वृतामसुरकन्याभिः सर्वाभरणभूषिताम् ॥१३७॥
सा दृष्ट्वैव सुनीथं तमुदतिष्ठत्ससम्भ्रमम् ।
सुनीथोऽप्यपतत् तस्या अभिवाद्यैव पादयोः ॥१३८॥
ततः सा तं चिरस्पृष्टामाश्लिष्योदश्रुरात्मजम् ।
पुनस्तत् प्राप्तिहेतुं तं प्रशशंस मयं पतिम् ॥१३९॥
अथाऽब्रवीन् मयो देवि सुमुण्डीकोऽपरः स ते ।
पुत्रः पुत्रोऽस्य पुत्रस्य जातः सूर्यप्रभोऽप्ययम् ॥१४०॥
एष विद्याधरेन्द्राणां चक्रवर्त्ती पुरारिणा ।
एतेनैव शरीरेण भावी देवि विनिर्मितः ॥१४१॥
एतच्छ्रुत्वाभिपश्यन्त्यास्तस्याः सोत्सुकया दृशा ।
सूर्यप्रभः पपातैत्य पादयोः सचिवैः सह ॥१४२॥
किं सुमुण्डीकदेहेन वत्सैतेनैव शोभसे ।
इति लीलावती दत्त्वा चाशिषं तमभाषत ॥१४३॥
ततोऽत्र पुत्राभ्युदये मयो मन्दोदरीं सुताम् ।
विभीषणं च सस्मार स्मृतावाजग्मतुश्च तौ ॥१४४॥
गृहीतोत्सवसत्कारः स तं प्राह विभीषणः ।
करोषि यदि मे वाक्यं दानवेन्द्र वदामि तत् ॥१४५॥
दानवेषु त्वमेवैकः सुकृती शुभजीवितः ।
देवैः सह न ते कार्या तदकारणवैरिता ॥१४६॥
तद्विरोधे हि नापायादृते कश्चिद्गुणोऽस्ति वः ।
निहता हि सुरैः संख्येष्वसुरा नासुरैः सुरा ॥१४७॥

तब मयासुर ने चन्द्रप्रभ (सुनीथ) से कहा—'आओ बेटा ! बहुत दिनों के पश्चात् अपनी माता के दर्शन करो' ॥१३३॥

'ठीक है। चलिए', सुनीथ के ऐसा कहने पर आगे-आगे चलता हुआ मयासुर सूर्यप्रभ आदि के साथ चौथे पाताल में गया ॥१३४॥

उस लोक में भिन्न-भिन्न चित्रों और धातु के बने हुए नगरों को देखते हुए वे सम्पूर्ण सोने के बने हुए नगर में गये ॥१३५॥

वहाँ उन लोगों ने रत्नों के खंभों पर बने हुए और समस्त सम्पत्तियों से भरे हुए गृह में मय की पत्नी को देखा, जिसका नाम लीलावती था। वह अपने सुन्दर रूप से देवांगनाओं को भी नीचा दिखा रही थी ॥१३६-१३७॥

वह सुनीथ को देखते ही घबराकर उठी और सुनीथ भी प्रणाम करके उसके चरणों पर गिर पड़ा ॥१३८॥

तदनन्तर बहुत दिनों बाद मिले हुए पुत्र का आलिंगन करके उसकी माता उसको पुनः मिलाने के कारण अपने पति के बुद्धि-कौशल की प्रशंसा करने लगी। तब मयासुर ने कहा—'देवि, तेरा वह दूसरा पुत्र सुमुण्डीक, तेरे उस पुत्र (सुनीथ) का पुत्र सूर्यप्रभ होकर खड़ा है ॥१३९-१४०॥

इसे शिवजी ने इसी शरीर से विद्याधरों का भावी चक्रवर्त्ती बनाया है।' तदनन्तर, माता उसे उत्कंठा-भरी दृष्टि से देखने लगी। तब वह भी अपने मन्त्रियों के साथ उसके चरणों पर गिर पड़ा ॥१४१-१४२॥

'केवल सुमुण्डीक के शरीर से क्या करना है बेटा ! तुम इसी शरीर से अच्छे लगते हो', इस प्रकार आशीर्वाद देकर लीलावती बोली—॥१४३॥

इन पुत्रों की पुनः प्राप्ति के हर्षमय अवसर पर मय ने अपनी कन्या मन्दोदरी और विभीषण का स्मरण किया। स्मरण करते ही वे दोनों वहाँ उपस्थित हो गये ॥१४४॥

उत्सव के समय का सत्कार-सम्मान प्राप्त करके विभीषण अपने श्वशुर मयासुर से बोला—'हे दानवराज ! यदि मेरी बात मानें, तो कहूँ, दानवों में एक तुम्हीं पुण्यवान् और कल्याणमय जीवन व्यतीत कर रहे हो। तुम्हें देवताओं के साथ निष्कारण वैर न करना चाहिए। उनके साथ वैर करके हानि के सिवा कुछ लाभ नहीं है। युद्ध में देवताओं ने ही असुरों को मारा, असुरों ने देवताओं को नहीं' ॥१४५-१४७॥

तच्छ्रुत्वा तं मयोऽप्योचन्न बलात् कुर्महे वयम्।
हठात् कुर्वंति शक्रे तु कथं ब्रूहि सहामहे॥१४८॥
ते चासुरा हता देवैस्ते बभूवुः प्रमादिनः।
अप्रमत्तास्तु किं नैव बलिप्रभृतयो हताः॥१४९॥
इत्याद्युक्तो मयेनाथ मन्दोदर्या सहैव सः।
राक्षसेन्द्रस्तमामन्त्र्य जगाम वसतिं निजाम्॥१५०॥
सूर्यप्रभादिभिर्युक्तः सुनीथोऽथ मयेन सः।
निन्ये तृतीयं पातालं बलिं राजानमीक्षितुम्॥१५१॥
स्वर्गादप्यधिके तत्र सर्वे ते ददृशुर्बलिम्।
आमुक्ताहारमुकुटं वृतं दितिजदानवैः॥१५२॥
निपेतुः पादयोस्तस्य सुनीथाद्याः क्रमेण ते।
सोऽपि तान् मानयामास सत्कारेण यथोचितम्॥१५३॥
मयावेदितवृत्तान्तहृष्टः सोऽत्र बलिस्ततः।
प्रह्लादमानायितवाञ्छीघ्रमन्यांश्च दानवान्॥१५४॥
तानप्यत्र सुनीथाद्याः पादयोस्ते ववन्दिरे।
तेऽचाप्यभिननन्दुस्तान् प्रह्लानानन्दनिर्भराः॥१५५॥
तथाऽत्र बलिराह स्म भूत्वा चन्द्रप्रभो भुवि।
सुनीथः स्वतनुप्राप्त्या प्रत्युज्जीवित एष नः॥१५६॥
सुमुण्डीकावतारश्च प्राप्तः सूर्यप्रभोऽप्ययम्।
शर्वेण चायमादिष्टो भावी विद्याधरेश्वरः॥१५७॥
एतद्यज्ञप्रभावाच्च जातोऽहं श्लथबन्धन।
तदेताभ्यामवाप्ताभ्यां ध्रुवमभ्युदयोऽस्ति नः॥१५८॥
एतद्बलिवचः श्रुत्वा शुक्रः प्रोवाच तद्गुरुः।
धर्मेण चरतां सत्ये नास्त्यनभ्युदयः क्वचित्॥१५९॥
तस्माद् धर्मेण वर्त्तध्वं कुरुताद्यापि मद्वचः।
तच्छ्रुत्वा दानवास्तत्र तथेति नियमं व्यधुः॥१६०॥
सप्त पातालपतयो ये तत्र मिलितास्तदा।
बलिश्चात्रोत्सवं चक्रे सुनीथप्राप्तिहर्षतः॥१६१॥
अत्रान्तरे च तत्रागात्स पुनर्नारदो मुनिः।
गृहीतार्घोपविष्टश्च दानवांस्तानुवाच सः॥१६२॥

यह सुनकर मय ने विभीषण से कहा—'हम जबरदस्ती बैर नहीं कर रहे हैं, किन्तु इन्द्र के निरर्थक हठ का सहन कैसे करें, तुम ही बताओ ॥१४८॥

देवताओं ने जिन असुरों को मारा है, वे प्रमादी थे। बलि, प्रह्लाद आदि सावधान असुर नहीं मारे गये' ॥१४९॥

मय द्वारा इस प्रकार कहा गया विभीषण सबसे मिलकर उसी समय मन्दोदरी को साथ लेकर लंका को लौट गया ॥१५०॥

तदनन्तर, सुनीथ और सूर्यप्रभ को साथ लेकर राजा बलि को देखने के लिए वह दानवराज तीसरे पाताल को गया ॥१५१॥

स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर उस लोक में उन्होंने हार और मुकुट धारण किये हुए तथा दैत्यों और दानवों से घिरे हुए राजा बलि को देखा ॥१५२॥

वे सुनीथ आदि सभी राजा बलि के चरणों पर गिरे और उसने भी उन सब का समुचित स्वागत-सम्मान किया ॥१५३॥

मय दानव द्वारा समस्त वृत्तान्त जानकर प्रसन्न हुए राजा बलि ने शीघ्र ही प्रह्लाद तथा अन्य दूसरे दानवों को बुलवाया ॥१५४॥

सुनीथ आदि ने उनके चरणों पर गिरकर प्रणाम किया और वे सभी उन विनम्र लोगों को देखकर आनन्द-विभोर हो गये ॥१५५॥

तब बलि ने कहा—'यह हमारा सुनीथ पृथ्वी पर चन्द्रप्रभ के रूप में जन्म लेकर अपने शरीर में आकर पुनर्जीवित होगया ॥१५६॥

सुमुण्डीक का अवतार यह सूर्यप्रभ भी आया है। शिवजी ने इसे विद्याधरों का भावी चक्रवर्ती बनाया है ॥१५७॥

उसके यज्ञ के प्रभाव से मेरे बन्धन ढीले हुए हैं। अतः, इन दोनों के पुनः प्राप्त होने पर हम लोगों का अभ्युदय ही होनेवाला है' ॥१५८॥

बलि के वचन सुनकर उसका गुरु शुक्र बोला'—'धर्म का आचरण करो। सत्य-मार्ग पर रहने से अवनति कदापि नहीं होती ॥१५९॥

अतः, धर्म का व्यवहार करो, यह मेरा वचन मानो।' यह सुनकर सभी दानवों ने धर्म से चलने का नियम बना लिया ॥१६०॥

सातों पातालों के राजा वहाँ एकत्र हुए और सुनीथ की पुनःप्राप्ति की प्रसन्नता से बलि ने महान् उत्सव मनाया १६१॥

इसी बीच फिर नारद मुनि वहाँ आ पहुँचे। पूजा सत्कार प्राप्तकर बैठने के बाद उन्होंने दानवों से कहा—॥१६२॥

प्रेषितोऽहमिहेन्द्रेण स चैवं वक्ति वः किल।
सुनीथजीवितप्राप्त्या सन्तोषः परमो मम ॥१६३॥
तदिदानीं न कार्यं नः पुनर्वैरमकारणम्।
विरोद्धव्यं न चैवास्मत्पक्षेण श्रुतशर्मणा ॥१६४॥
एवमुक्तेन्द्रवाक्यं तं प्रह्लादो मुनिमब्रवीत्।
"सुनीथजीवितात्तुष्टिरिन्द्रस्येति किमन्यथा ॥१६५॥
अकारणविरोधं च वयं तावन्न कुर्महे।
अद्यैव नियमोऽस्माभिः कृतः सर्वैर्गुरोः पुरः ॥१६६॥
श्रुतशर्मा सपक्षत्वमाश्रित्य स बलाद्यदि।
अस्मद्विरुद्धं कुरुते कास्माकं तत्र वाच्यता ॥१६७॥
सूर्यप्रभस्य पक्षेण देवदेवेन शम्भुना।
प्रागेव ह्ययमादिष्टः स पूर्वाराधितोऽस्य यत् ॥१६८॥
तदस्मिन्नीश्वरादिष्टे कार्ये किं कुर्महे वयम्।
तन्निष्कारणमेवैतच्छक्रो वक्त्यसमञ्जसम्" ॥१६९॥
इत्युक्तो दानवेन्द्रेण प्रह्लादेन स नारदः।
तथेति वासवं निन्दन्नदर्शनमगान् मुनिः ॥१७०॥
तस्मिन् गते दानवेन्द्रानुशनास्तानभाषत।
'वैरानुबन्धः कार्येऽस्मिस्तावदिन्द्रस्य दृश्यते ॥१७१॥
किं त्वस्मासु प्रसादैकबद्धकक्ष्ये महेश्वरे।
का तस्य शक्तिः किं कुर्यादास्था वा तस्य वैष्णवी' ॥१७२॥
इति शुक्रवचः श्रुत्वा दानवास्तेऽनुमन्य च।
सह प्रह्लादमामन्त्र्य बलिं जग्मुर्निजालयान् ॥१७३॥
ततश्चतुर्थं पातालं प्रह्लादे स्वाश्रयं गते।
उत्थाय सदसो राजा विवेशाभ्यन्तरं बलिः ॥१७४॥
मयः सुनीथश्चान्ये च सर्वे सूर्यप्रभादयः।
प्रणम्य बलिमाजग्मुस्तदेव स्वं निकेतनम् ॥१७५॥
तत्रोचितकृताहारपानेष्वेषु समेत्य सा।
लीलावती सुनीथं तं जगाद जननी निजा ॥१७६॥
पुत्र जानासि यदिमा भार्यास्ते महतां सुताः।
तेजस्विनी धनेशस्य तुम्बुरोर्मङ्गलावती ॥१७७॥

'मुझे इन्द्र ने भेजा है। उसने आप लोगों से कहा है कि सुनीथ की पुनःप्राप्ति से मुझे परम सन्तोष हुआ ॥१६३॥

इसलिए अब फिर बिना कारण वैर न करो और मेरे पक्ष के श्रुतशर्मा से भी विरोध न करो' ॥१६४॥

इस प्रकार, इन्द्र का सन्देश सुनाते हुए नारद मुनि से प्रह्लाद ने कहा—'सुनीथ के पुनर्जीवन से इन्द्र को सन्तोष हुआ, यह अनुचित नहीं है। किन्तु, हम अकारण विरोध नहीं कर रहे हैं। आज ही हमने अपने गुरु के सामने प्रतिज्ञा की है ॥१६५-१६६॥

श्रुतशर्मा, यदि इन्द्र के पक्ष का आधार लेकर हमारे विरुद्ध चलता है, तो इसमें हमारा क्या दोष? सूर्यप्रभ के पक्षपाती देवताओं के देव महादेव ने उससे विद्याधर-चक्रवर्त्ती होने का आदेश दिया है; क्योंकि इसने बहुत पहले उनकी आराधना की थी ॥१६७-१६८॥

इस प्रकार ईश्वर के आदेश से प्राप्त इस कार्य में हम क्या करें। इसलिए, इन्द्र का ऐसा कहना अकारण और असंगत है' ॥१६९॥

दानवेन्द्र प्रह्लाद से इस प्रकार कहे गये नारद मुनि, इन्द्र को कोसते हुए अलक्षित हो गये ॥१७०॥

उसके जाने पर शुक्राचार्य ने दानवेन्द्र प्रह्लाद से कहा—'इस काम में इन्द्र की शत्रुता स्थिर मालूम होती है; किन्तु महादेव के हमारे पक्ष में दृढतापूर्वक स्थिर रहने पर वह क्या करेगा? विष्णु पर उसकी आशा व्यर्थ है, उससे क्या होना है?' ॥१७१-१७२॥

शुक्राचार्य की इन बातों का दानवों ने अनुमोदन किया और बलि तथा प्रह्लाद से आज्ञा लेकर वे सब अपने-अपने घर गये ॥१७३॥

इसके बाद प्रह्लाद के चौथे पाताल में अपने घर जाने पर राजा बलि भी सभा-भवन से उठकर अपने भवन को चले गये ॥१७४॥

उनके जाने पर सुनीथ, सूर्यप्रभ आदि सभी राजा बलि को प्रणाम करके उसी समय अपने घर आ गये ॥१७५॥

हाँ आकर व भोजन-पान आदि के समय उनके साथ सम्मिलित होकर उसकी माता लीलावती ने उससे कहा —॥१७६॥

'बेटा, तुम यह तो जानते ही हो कि तुम्हारी ये पत्नियाँ बड़ों की बेटियाँ हैं, जिनमें तेजस्वती धनाधिप कुबेर की, मंगलावती गंधर्वराज तुम्बुरु की कन्या है ॥१७७॥

चन्द्रप्रभशरीरेण परिणीता च या त्वया।
प्रभासस्य वसोरेतां वेत्सि कीर्त्तिमतीं सुताम् ॥१७८॥
तिस्रस्तदेता द्रष्टव्याः समदृष्ट्या सुत त्वया।
त्युक्त्वा मुख्यभार्यास्तास्तिस्रोऽस्मै सा समर्पयत् ॥१७९॥
ततस्तस्मिन् दिने रात्रौ सुनीथो ज्येष्ठया तया।
तेजस्वत्या समं शय्यावासवेश्म विवेश सः ॥१८०॥
तत्रोपभुङ्क्ते स्म तया सुचिरोत्सुकया सह।
रतक्रीडासुखं तत्तत्प्राग्भुक्तमपि नूतनम् ॥१८१॥
सूर्यप्रभस्तु सचिवैः सह वासगृहेऽपरे।
निशि तस्यामपत्नीको न्यषीदच्छयनीयके ॥१८२॥
निःस्नेहेन किमेतेन स्वप्रियास्त्यजता वहिः।
इतीव निद्रा स्त्रीनित्यस्यैकस्याऽप्यस्य नाययौ ॥१८३॥
प्रहस्तस्य च सेर्ष्येव कार्यचिन्तैकसङ्गिनः।
अन्ये तु परितः सूर्यप्रभं निद्रां ययौ सुखम् ॥१८४॥

कलावत्याः कथा

तावत् सूर्यप्रभः सोऽत्र प्रहस्तश्च सखीयुताम्।
प्रविशन्तीं ददृशतुर्वरकन्यामनुत्तमाम् ॥१८५॥
मा भूत्सुराङ्गना सर्गो विच्छायोऽस्याः पुरो मम।
इत्युत्पाद्यापि विधिना पाताले स्थापितामिव ॥१८६॥
सूर्यप्रभश्च केयं स्यादिति यावद्विमर्शति।
तावत् सा तत्सखीनेत्य सुप्तानेकैकमैक्षत ॥१८७॥
अचक्रवर्त्तिचिह्नांस्तान्हित्वा तल्लक्षणान्वितम्।
दृष्ट्वा सूर्यप्रभं सा तमुपागान्मध्यशायिनम् ॥१८८॥
उवाच च सखीं सोऽयं सखि तत् स्पृश पादयोः।
एतां तोयसुशीताभ्यां कराभ्यां प्रतिबोधय ॥१८९॥
तच्छ्रुत्वा तत्सखी सा तत्तथा चक्रे स चेक्षणे।
सूर्यप्रभो व्याजसुप्तं विहाय प्रोदघाटयत् ॥१९०॥
वीक्ष्य चोवाच कन्ये ते के युवां किमिहागमः।
भवत्योरिति तच्छ्रुत्वा तत्सखी तमभाषत ॥१९१॥
'शृणु देवास्ति पाताले द्वितीयेऽधिपतिर्जयी।
अमील इति दैत्येन्द्रो हिरण्याक्षसुतो बली ॥१९२॥

और चन्द्रप्रभ के जन्म में प्रभास नामक वसु की कन्या का तुमने परिणय किया है, जिसका नाम वसुमती है ॥१७८॥

बेटा, इन तीनों को तुम्हें समान दृष्टि से देखना चाहिए।' ऐसा कहकर उसने उसकी तीनों प्रधान पत्नियों को उसे सौंप दिया ॥१७९॥

तब उस दिन सुनीथ ने बड़ी पत्नी तेजस्वती के साथ रात्रि को अपने शयन-भवन में प्रवेश किया ॥१८०॥

वहाँ पर सुनीथ को उसका सम्भोग-सुख पहले से अनुभूत होने पर भी सर्वथा नवीन प्रतीत हुआ ॥१८१॥

पत्नी-रहित सूर्यप्रभ, अपने मित्र मन्त्रियों के साथ दूसरे कमरे में पलंग पर अकेला ही सो गया ॥१८२॥

'जो अपनी प्राणप्यारी पत्नियों को बाहर छोड़कर अकेला ही सो रहा है, ऐसे स्नेहहीन के पास जाकर क्या लाभ'? ऐसा सोचकर ही मानों नींद सूर्यप्रभ के समीप नहीं आई ॥१८३॥

राज्य-कार्य की चिन्ता में मग्न प्रहस्त के समीप भी नींद मानों इसी ईर्ष्या के कारण ही नहीं आई। और, सभी सूर्यप्रभ के चारों ओर सुख से सो रहे थे ॥१८४॥

कलावती की कथा

तबतक सूर्यप्रभ और प्रहस्त ने, एक सहेली के साथ कमरे में प्रवेश करती हुई अनुपम सुन्दरी कन्या को देखा ॥१८५॥

उसके सौन्दर्य के सामने मेरी सुरांगना-सृष्टि मलिन न होजाय, इसलिए मानों ब्रह्मा ने उस कन्या को बनाकर पाताल में छिपा रखा था ॥१८६॥

जब सूर्यप्रभ, यह सोच ही रहा था कि यह कौन होगी, तबतक उस कन्या ने भवन के भीतर सोए हुए उसके मित्रों को एक-एक करके देखना प्रारम्भ किया ॥१८७॥

उन सब में चक्रवर्त्ती के लक्षण न देखकर और उन सबके बीच में सोए हुए सूर्यप्रभ में उन लक्षणों को पाकर अपनी सहेली से वह कन्या बोली—'सखि, वह यह है, जल से ठंडे हाथों से इसके पैरों को छुओ और इसे जगाओ' ॥१८८–१८९॥

यह सुनकर सहेली ने उसी प्रकार उसे जगाया और जान-बूझकर सोए हुए सूर्यप्रभ ने भी धीरे-धीरे आँखें खोलीं ॥१९०॥

और, उन दोनों कन्याओं को देखकर कहा—'तुम दोनों कौन हो, यहाँ क्योंकर आई हो। यह सुनकर उसकी सखी ने कहा—'महाराज, सुनिए। दूसरे पाताल में विजयी राजा अमील है; जो हिरण्याक्ष का पुत्र है और बहुत बलवान् है ॥१९१–१९२॥

कलावतीति तस्यैषा प्राणेभ्योऽप्यधिका सुता।
स इतोऽद्य बलेः पार्श्वादागत्यैतत् पिताऽब्रवीत् ॥१९३॥
दिष्ट्याद्य जीवितं प्राप्तः सुनीथः पुनरीक्षितः।
सुमुण्डीकावतारश्च दृष्टः सूर्यप्रभो युवा ॥१९४॥
सृष्टः खेचरसच्चक्रवर्त्ती भावी हरेण यः।
तदिहानन्दसम्मानं सुनीथस्य करोम्यहम् ॥१९५॥
सुतां सूर्यप्रभायैतां प्रयच्छामि कलावतीम्।
सुनीथस्यैकगोत्रत्वाद्दातुं चैषा न युज्यते ॥१९६॥
सूर्यप्रभश्च पुत्रोऽस्य राजजन्मनि नासुरे।
तत्सुतस्य च सम्मानः कृतस्तस्य कृतो भवेत् ॥१९७॥
एतत्पितुर्वचः श्रुत्वा त्वद्गुणाकृष्टमानसा।
मत्सखीयमिहायाता त्वद्दर्शनकुतूहलात्' ॥१९८॥
एवं तयोक्ते तत्सख्या निद्राति स्म मृषैव सः।
तदभिप्रायतात्पर्यं ज्ञातुं सूर्यप्रभस्तदा ॥१९९॥
साथ कन्या विनिद्रस्य प्रहस्तस्यान्तिकं शनैः।
गत्वा सखीमुखेनोक्त्वा सर्वमस्मै बहिर्ययौ ॥२००॥
प्रहस्तश्चाप्युपागत्य देव जागर्षि किं न वा।
इति सूर्यप्रभं स्माह स चोन्मिष्य तमभ्यधात् ॥२०१॥
सखे जागर्मि निद्रा हि ममाद्यैकाकिनः कुतः।
विशेषं तु वदाम्येवं शृणु गोप्यं हि किं त्वयि ॥२०२॥
अधुनैव प्रविष्टेह मया दृष्टा सखीयुता।
कन्यकैका समा यस्यास्त्रैलोक्येऽपि न दृश्यते ॥२०३॥
क्षणेन च गता क्वापि हृत्वैव मम मानसम्।
तदन्वेषय सद्यस्तामिहैव क्वचन स्थिताम् ॥२०४॥
इति सूर्यप्रभेणोक्तः प्रहस्तोऽथ बहिर्गतः।
दृष्ट्वात्र तां समं सख्या स्थितां कन्यामभाषत ॥२०५॥
'मया त्वदुपरोधेन स्वस्वाम्येष विबोधितः।
तत्त्वं मदुपरोधेन पुनर्देह्यस्य दर्शनम्' ॥२०६॥
पश्यास्य रूपं भूयोऽपि कृतार्थकरणं दृशोः।
तव पश्यतु चैषोऽपि दृष्टिमात्रवशीकृतः ॥२०७॥

यह उसी राजा अमील की प्राणों से भी प्यारी कन्या कलावती है। वह राजा अमील उस दिन बलि के पास जाकर जब लौटा, तब उसने कहा कि 'अहोभाग्य है हमारा, जिसे आज पुनर्जीवित सुनीथ को पुनः देखा और सुमुण्डीक के अवतार सूर्यप्रभ को भी देखा ॥१९३–१९४॥

इस युवक सुमुण्डीक सूर्यप्रभ को शिवजी ने विद्याधरों का भावी चक्रवर्ती बनाया है। इसलिए, यहाँ आये हुए सुमुण्डीक का आनन्द-पूर्ण सम्मान करता हूँ, अपनी कन्या कलावती को सूर्यप्रभ के लिए देता हूँ। सुनीथ का और हमारा गोत्र एक है, अतः उसे देना उचित नहीं है। सूर्यप्रभ उसका पुत्र है, किन्तु राजा के जन्म में, असुर के जन्म में नहीं। अतः, सुनीथ के पुत्र का सम्मान उसी का सम्मान है' ॥१९५–१९७॥

पिता के ये वचन सुनकर तुम्हारे रूप से आकृष्ट होकर तुम्हें देखने के कौतूहल से यह मेरी सखी यहाँ आई है'॥१९८॥

सहेली के इस प्रकार कहने पर उसके कथन का रहस्य जानने के लिए सूर्यप्रभ कृत्रिम नींद में सो गया ॥१९९॥

तदनन्तर वह कन्या जागते हुए प्रहस्त के समीप धीरे से गई और सहेली द्वारा सारा वृत्तान्त उसे कहलाकर बाहर चली गई ॥२००॥

प्रहस्त भी अपनी शय्या से उठकर सूर्यप्रभ के पास गया और बोला—'राजन्, जागते हो या नहीं'। सूर्यप्रभ ने भी अधखुली आँखों से कहा—॥२०१॥

'मित्र, जागता हूँ। मुझ अकेले को आज नींद कहाँ?—एक विशेष बात तुमसे कहता हूँ, तुमसे छिपाकर ही क्या करना है ॥२०२॥

अभी-अभी एक सहेली के साथ आई हुई एक कन्या को मैंने देखा, जिसके समान सुन्दरी कन्या तीनों लोको में नही है ॥२०३॥

वह मेरे मन को चुराकर क्षण भर में ही अदृश्य हो गई। तू उसे अभी जाकर ढूंढ। यहीं कही होगी' ॥२०४॥

सूर्यप्रभ द्वारा इस प्रकार कहा गया प्रहस्त बाहर निकला और सहेली के साथ खड़ी उस कन्या को देखकर इस प्रकार कहने लगा—'मैंने तुम्हारे अनुरोध से अपने स्वामी को जगा दिया है, अब तुम मेरे अनुरोध से उसे फिर दर्शन दो ॥२०५–२०६॥

आँखों को सफल करनेवाले उसके सुन्दर रूप को देख लो। देखने से ही वश में किया हुआ वह भी तुम्हें देख ले ॥२०७॥

प्रबुद्धेन ह्यनेनाहमुक्तः कृत्वा भवत्कथाम्।
कुतोऽपि दर्शयानीय तां मे प्राणिमि नान्यथा ॥२०८॥
ततोऽहं त्वामुपायातस्तदेह्यालोकय स्वयम्।
इति प्रहस्तेनोक्ता सा कन्यासुलभया ह्रिया ॥२०९॥
प्रसह्य नाशकद् गन्तुं विमृशन्ती यदा तदा।
हस्ते गृहीत्वा नीताभूत् तेन सूर्यप्रभान्तिकम् ॥२१०॥
सूर्यप्रभश्च तां दृष्ट्वा पार्श्वायातां कलावतीम्।
उवाच 'चण्डि युक्तं ते किमेतद्यदिहाद्य मे ॥२११॥
त्वया सुप्तस्य चौर्येण प्रविश्य हृदयं हृतम्।
तदिहानिगृहीता त्वं चौरि न त्यक्ष्यसे मया' ॥२१२॥
एतच्छ्रुत्वा विदग्धा सा तत्सखी व्याजहार तम्।
'पूर्वं ज्ञात्वैव पित्रैव चौरीयं निग्रहाय ते ॥२१३॥
निश्चितार्पयितुं यस्मात् तस्मात् कस्ते निषेधकः।
अस्याश्चौर्योचितं कामं निग्रहं न करोषि किम्' ॥२१४॥
तच्छ्रुत्वालिङ्गितुं सूर्यप्रभे वाञ्छति सत्रपा।
मा मार्यपुत्र कन्यास्मीत्यवोचत् सा कलावती ॥२१५॥
ततः प्रहस्तोऽवादीत् तां मा विकल्पोऽस्तु देवि ते।
गान्धर्वो ह्येष सर्वेषां विवाहानामिहोत्तमः ॥२१६॥
इत्युक्त्वैव समं सर्वैः प्रहस्ते निर्गते बहिः।
सूर्यप्रभस्तदैवैतां भार्यां चक्रे कलावतीम् ॥२१७॥
तया सह च पातालकन्यया मर्त्यदुर्लभम्।
भेजे सुरतसम्भोगमचिन्त्यनवसङ्गमम् ॥२१८॥
रात्र्यन्ते च कलावत्यां गतायां वसतिं निजाम्।
सूर्यप्रभः सुनीथस्य ययौ पार्श्वं मयस्य च ॥२१९॥
त मिलित्वाथ सर्वेऽपि प्रह्लादस्यान्तिकं ययुः।
स तान्यथार्हं सम्मान्य सभास्थो मयमब्रवीत् ॥२२०॥
सुनीथस्योत्सवेऽमुष्मिन् प्रियं कर्तव्यमेव नः।
तदद्य यावत् सर्वेऽपि वयमेकत्र भुञ्ज्महे ॥२२१॥
एवं कुर्मोऽत्र को दोष इत्युक्ते च मयेन सः।
दूतैर्निमन्त्रयामास प्रह्लादोऽत्रासुराधिपान् ॥२२२॥

सोकर उठे हुए उसने मुझे तुम्हारी बात सुनाई, तो उसने कहा कि उसे कहीं से भी लाकर दिखाओ, नहीं तो जीवित न रहूँगा ॥२०८॥

इसलिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ। तुम आओ और स्वयं उसे देखो'—प्रहस्त से इस प्रकार कही गई वह कन्या, लज्जावश पुनः शयन-गृह में न जा सकी और इधर-उधर करते हुए उसे प्रहस्त हाथ से पकड़कर सूर्यप्रभ के समीप ले गया ॥२०९-२१० ॥

सूर्यप्रभ ने भी पास में आई हुई उसे देखकर कहा—अरी कठोर हृदयवाली, क्या, तुम्हे यह उचित है, जो आज तुमने किया है ॥२११॥

तुमने सोए हुए मेरे हृदय को चुरा लिया है। इसलिए तुम्हें पकड़कर मँगाया है। अरी चोरिन ! अब तुम्हे न छोड़ूँगा' ॥२१२॥

यह सुनकर उसकी चतुर सहेली बोली—'इस बात को पहले ही समझकर इसके पिता ने इस चोर को तुम्हारे लिए अर्पण करने का निश्चय कर लिया है, इसलिए इसे दंड देने के लिए आपको कौन रोक सकता है ? इसे अब चोरी के अनुसार दंड क्यों नहीं देते?' ॥२१३-२१४॥

यह सुनकर सूर्यप्रभ ने जैसे ही आलिंगन करना चाहा, वैसे ही लजाकर वह कलावती बोली—'आर्यपुत्र, ऐसा न करो, मैं अभी कन्या हूँ' ॥२१५॥

तब प्रहस्त ने कहा—'हे देवि, किसी प्रकार की शंका न करो। सभी प्रकार के विवाहों में गान्धर्व विवाह उत्तम है' ॥२१६॥

प्रहस्त के ऐसा कहने पर और उसके साथ सभी के बाहर निकल जाने पर सूर्यप्रभ ने उसी समय कलावती को गान्धर्व विधि से पत्नी बना लिया ॥२१७॥

और उस पाताल-कन्या के साथ मनुष्यों के लिए दुर्लभ एवं अवर्णनीय आनन्द का भोग करने लगा ॥२१८॥

रात्रि व्यतीत होने पर और कलावती के अपने घर चले जाने पर सूर्यप्रभ, सुनीथ और मय के पास गया ॥२१९॥

वे सब मिलकर फिर प्रह्लाद के समीप गये। सभा में बैठे हुए प्रह्लाद ने सबका समुचित सम्मान करके मय से कहा—'सुनीथ की पुनः प्राप्ति की प्रसन्नता में हमलोगों को उत्सव मनाना चाहिए, इसलिए मेरा विचार है कि हमलोग सब एक साथ भोजन करें ॥२२०-२२१॥

'ऐसा ही करें, इससे हानि क्या है ? मय ने उत्तर में कहा। तब प्रह्लाद ने दूतों को भिजवाकर सभी पातालों में दैत्यों और दानवों को निमन्त्रण प्रेषित करवा दिया ॥२२२॥

आययुश्चात्र सर्वेभ्यः पातालेभ्यः क्रमेण ते।
पूर्वभागाद् बली राजा महासंख्यैर्महासुरैः ॥२२३॥
अनन्तरममीलश्च दुरारोहश्च वीर्यवान्।
सुमायस्तन्तुकच्छश्च विकटाक्षः प्रकम्पनः ॥२२४॥
धूमकेतुर्महामायो ये चान्येऽप्यसुरेश्वराः।
एकैको निजसामन्तसहस्रेणाययौ वृतः ॥२२५॥
अपूर्यत सभा तैश्च विहितान्योन्यवन्दनैः।
यथाक्रमोपविष्टांश्च प्रह्लादस्तानमानयत् ॥२२६॥
प्राप्ते चाहारकाले ते सर्वे सह मयादिभिः।
गङ्गास्नाता समाजग्मुर्भोजनाय महासभाम् ॥२२७॥
शतयोजनविस्तीर्णां सुवर्णमणिकुट्टिमाम्।
रत्नस्तम्भचितां न्यस्तविचित्रमणिभाजनाम् ॥२२८॥
तत्र प्रह्लादसहिताः ससुनीथमयाश्च ते।
सूर्यप्रभेण सचिवैर्युक्तेन च सहासुराः ॥२२९॥
तत्तन्नानाविधं भक्ष्यभोज्यलेह्यादि षड्रसम्।
दिव्यमन्नं बुभुजिरे पपुः पानमथोत्तमम् ॥२३०॥
भुक्तपीताश्च गत्वान्यत् सर्वे रत्नमयं सदः।
दैत्यदानवकन्यानां ददृशुर्नृत्तमुत्तमम् ॥२३१॥

महल्लिकायाः प्रेम

तत्प्रसङ्गे ददर्शात्र प्रनृत्तां पितुराज्ञया।
प्रह्लादस्य सुतां सूर्यप्रभो नाम्ना महल्लिकाम् ॥२३२॥
द्योतयन्तीं दिशः कान्त्या वर्षन्तीममृतं दृशोः।
कौतुकादिव पातालमागतां मूर्तिमैन्दवीम् ॥२३३॥
ललाटतिलकोपेतां चारुनूपुरपादिकाम्।
स्मेरदृष्टिं विधात्रैव सृष्टां नृत्तमयीमिव ॥२३४॥
केशैररालैर्दशनैः शिखरैर्बिभ्रतीं स्तनौ।
उरोमण्डलिनौ नृत्तं सृजतीमिव नूतनम् ॥२३५॥
दृष्ट्वैव च तदा चण्डी तस्य सूर्यप्रभस्य सा।
अपि स्वीकृतमन्याभिर्जहार हृदयं हठात् ॥२३६॥
ततः साऽप्यसुरेन्द्राणां मध्ये दूराद्ददर्श तम्।
हरदग्धे स्मरे सृष्टं धात्राऽपरमिव स्मरम् ॥२३७॥

तदनन्तर क्रमशः सभी पाताल के दैत्यों और दानवों के सरदार वहाँ आने लगे। सबसे पहले राजा बलि अगणित असुरों के साथ आया, उसके बाद अमील नामक दैत्यराज तथा महा बलवान् दुरारोह नामक दैत्यराज आये। सुमाय, तन्तुकच्छ, विकटाक्ष, प्रकम्पन, धूमकेतु और महामाय नामक दैत्यराज भी सहस्रों अनुयायियों के साथ वहाँ आये। सारा सभा-भवन, परस्पर नमस्कार करते हुए उनसे भर गया और अपने-अपने पद के क्रमानुसार बैठे हुए उनका प्रह्लाद ने स्वागत किया ॥२२३–२२६॥

भोजन का समय आने पर वे सब मय आदि के साथ गंगा-स्नान करके भोजन के लिए विशाल भवन में एकत्र हुए ॥२२७॥

यह भोजन-भवन, चार सौ कोस तक फैला हुआ था, इसकी भूमि सोने और रत्नों से जड़ी हुई थी। इसमें रत्नों के खंभे लगे हुए थे और अनेक रंगों के मणियों के भोजन-पात्र सजे हुए थे ॥२२८॥

वहाँ पर मय सुनीथ और सचिवों के साथ सूर्यप्रभ आदि सहित समस्त असुरों ने नाना प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, लेह्य आदि षड्रस पदार्थों का भोजन किया और अन्त में विविध पेय पदार्थों का पान किया ॥२२९-२३०॥

भोजन-पान के पश्चात् वे सब, रत्नों से जगमगाते हुए सभा-मंडप में बैठे और दैत्यों एवं दानवों की कन्याओं का नाच देखने लगे ॥२३१॥

महल्लिका का प्रेम

इसी नाच के प्रसंग में प्रह्लाद की आज्ञा से नाचती हुई उसकी कन्या महल्लिका को सूर्यप्रभ ने देखा ॥२३२॥

वह महल्लिका, अपनी अद्भुत कान्ति से चारों दिशाओं को प्रकाशित कर रही थी और आँखों के लिए अमृत की वर्षा कर रही थी। ऐसा लगता था, मानों चन्द्रमा की मूर्त्ति पाताल देखने के कौतुक से वहाँ उतर आई हो ॥२३३॥

वह मस्तक पर सुन्दर तिलक लगाए हुए थी, पैरों में सुन्दर नूपुर, पायजेब आदि पहने हुए थी। उसका मुख मुस्कराता हुआ था, मानों ब्रह्मा ने उसे नृत्यमयी ही बनाया था ॥२३४॥

घुँघराले बालों, शुभ्र दाँतों और वक्षःस्थल को घेरे हुए स्तन-मंडलों से वह मानों नवीन नृत्य की सृष्टि कर रही थी ॥२३५॥

उस सुन्दरी ने देखते ही अन्य स्त्रियों से हरण किये हुए सूर्यप्रभ के मन का हठात् हरण कर लिया ॥२३६॥

उस महल्लिका ने, असुरेन्द्रों के मध्य बैठे हुए सूर्यप्रभ को इस प्रकार देखा, मानों शिव के द्वारा कामदेव के भस्म किये जाने पर विधाता ने दूसरे कामदेव की रचना की हो ॥२३७॥

दृष्ट्वैव तद्गतमनास्तथाभूदचलद्यथा।
आङ्गिकोऽभिनयोऽप्यस्या दृष्ट्वैवाविनयं रुषा ॥२३८॥
सभास्थाश्च तयोर्भावं तं द्वयोरप्यलक्षयन्।
प्रेक्षणं चोपसंजह्रुः श्रान्ता राजसुतेति ते ॥२३९॥
ततः सूर्यप्रभं तिर्यक् पश्यन्ती सा महल्लिका।
पित्रा विसृष्टा वन्दित्वा दानवेन्द्रानगाद्गृहम् ॥२४०॥
दानवेन्द्राश्च ते सर्वे यथास्वमगमन् गृहान्।
सूर्यप्रभोऽपि स्वावासमाजगाम दिनक्षये ॥२४१॥
प्रदोषे च कलावत्या पुनरागतया सह।
सुष्वापाभ्यन्तरे गुप्तं बहिः सुप्ताखिलानुगः ॥२४२॥
तावन्महल्लिका साऽपि तत्सन्दर्शनसोत्सुका।
तत्राययौ सविस्रम्भवयस्याद्वयसङ्गता ॥२४३॥
अन्तःप्रवेष्टुमिच्छन्तीं प्रज्ञाढ्याख्यो ददर्श ताम्।
सूर्यप्रभस्य सचिवो निद्रया तत्क्षणोज्झितः ॥२४४॥
देवि तिष्ठ क्षणं यावत् प्रविश्याभ्यन्तरादहम्।
निर्गच्छामीति स च तां परिज्ञायोत्थितोऽभ्यधात् ॥२४५॥
रुद्धाः स्म किं बहिः कस्माद्यूयं चेति सशङ्कया।
तया पृष्टः स भूयोऽपि प्रज्ञाढ्यो निजगाद ताम् ॥२४६॥
स्वैरं सुप्तस्य सहसैवान्तिकं किं प्रविश्यते।
सुप्तश्चास्मत्प्रभुरसावेको व्रतवशादिनि ॥२४७॥
ततस्तया विशस्व त्वमित्युक्तः सविलक्षया।
प्रह्लाददैत्यसुतया प्रज्ञाढ्योऽन्तर्विवेश सः ॥२४८॥
सुप्तां कलावतीं दृष्ट्वा तस्मै सूर्यप्रभाय सः।
प्रबोध्य स्वैरमाचख्यावागतां तां महल्लिकाम् ॥२४९॥
सूर्यप्रभश्च बुद्ध्वा तच्छनैरुत्थाय निर्गतः।
दृष्ट्वा महल्लिकामात्मतृतीयामप्यभाषत ॥२५०॥
नीतः कृतार्थतां तावदयमभ्यागतो जनः।
नीयतां स्थानमप्येतदासनं परिगृह्यताम् ॥२५१॥
तच्छ्रुत्वोपविवेशाथ सहान्याभ्यां महल्लिका।
सूर्यप्रभोऽप्युपाविक्षत्स प्रज्ञाढ्ययुतस्ततः ॥२५२॥

उसे देखते ही महल्लिका का मन ऐसा विचलित हुआ कि मानों उसके इस अविनय को देखकर क्रोध से, आंगिक अभिनय, भ्रष्ट-सा हो गया ।।२३८।।

सभा में बैठे हुए सभी सदस्यों ने उन दोनों को समझ लिया और 'राजकुमारी थक गई है', ऐसा कहकर उस दृश्य को स्थगित कर दिया ।।२३९।।

वह महल्लिका भी सूर्यप्रभ को तिरछी दृष्टि से देखती हुई पिता से जाने की आज्ञा पाकर, सभी सदस्यों को प्रणाम करके घर चली गई ।।२४०।।

सभी दानवराज भी, नृत्य के उपरान्त अपने-अपने घरों को चले गये। सायंकाल होने पर सूर्यप्रभ भी अपने निवास-स्थान पर लौट आया ।।२४१।।

रात होने पर पुनः शयन-गृह में आई हुई कलावती के साथ वह सो गया और उसके साथी मन्त्री, भवन के बाहर अन्यत्र सो गये ।।२४२।।

इसी बीच सूर्यप्रभ से मिलने की लालसा से महल्लिका भी घबराती हुई दो सखियों को साथ लेकर वहाँ आई ।।२४३।।

कमरे के अन्दर जाती हुई उसे देखकर अकस्मात् जग पड़े सूर्यप्रभ के मन्त्री प्रज्ञाढ्य ने उसे देखा ।।२४४।।

और उसे पहचानकर कहा—'रुको, रुको। मैं अन्दर जाकर और लौटकर आता हूँ' ।।२४५।।

'हमें क्यों रोका गया और आप सब लोग बाहर क्यों हैं'—महल्लिका के इस प्रकार प्रश्न करने पर प्रज्ञाढ्य ने कहा—'क्या स्वतन्त्रता से सोए हुए किसी व्यक्ति के पास एकाएक चला जाना उचित है?' हमारे स्वामी किसी व्रत (नियम) के कारण अकेले सो रहे हैं ।।२४६-२४७।।

'अच्छा भीतर जाओ'—लज्जिता महल्लिका के इस प्रकार कहने पर, प्रज्ञाढ्य अन्दर गया ।।२४८।।

वहाँ कलावती को सोती देखकर उसने सूर्यप्रभ को जगाकर अपनी इच्छा से आई हुई महल्लिका का समाचार दिया ।।२४९।।

यह सुनकर सूर्यप्रभ धीरे से उठकर बाहर निकल आया और दो सखियों के साथ आई हुई महल्लिका से बोला—।।२५०।।

'आपने इस अभ्यागत अतिथि को अपने शुभागमन से कृतार्थ किया, अब आप इस स्थान को भी कृतार्थ करें, यह आसन स्वीकार कीजिए' ।।२५१।।

यह सुनकर महल्लिका दोनों सखियों के साथ बैठ गई। सूर्यप्रभ भी प्रज्ञाढ्य के साथ सामने बैठ गया ।।२५२।।

उपविश्य स चोवाच, 'तन्वि यद्यपि मे कृता।
त्वयावज्ञा सदस्यन्या प्रेक्ष्यान्ते वर्धमानया ॥२५३॥
तथापि तावल्लोलाक्षि दृष्टमात्रेण मे तव।
सौन्दर्येणेव नृत्तेन लोचने सफलीकृते' ॥२५४॥
इति सूर्यप्रभेणोक्ता सा प्रह्लादसुताऽब्रवीत्।
'नार्यपुत्रापराधोऽसौ मम सोऽत्रापराध्यति ॥२५५॥
येनाहं संसदि कृता भग्नाभिनयलज्जिता'।
एतच्छ्रुत्वा 'जितोऽस्मीति' हसन् सूर्यप्रभोऽब्रवीत् ॥२५६॥
जग्राह च करेणास्याः करं राजसुतोऽथ सः।
बलात्कारग्रहाद् भीतमिव सस्वेदवेपथुम् ॥२५७॥
मुञ्चार्यपुत्र कन्याहं पितृवश्येति वादिनीम्।
ततो सुरेन्द्रतनयां प्रज्ञाढ्यस्तामुवाच सः ॥२५८॥
कन्यानां किं न गान्धर्वो विवाहो देवि विद्यते।
न च प्रदास्यत्यन्यस्मै पिता त्वां लक्षिताशयः ॥२५९॥
एतस्य चात्र सम्मानं निश्चितं स करिष्यति।
तदलं साध्वसेनेदृग्वृथा मा भूत् समागमः ॥२६०॥
एवं महल्लिकां यावत् प्रज्ञाढ्यस्तां ब्रवीति सः।
तावत्साभ्यन्तरे तत्र प्रबुद्धाभूत् कलावती ॥२६१॥
अपश्यन्ती च तं सूर्यप्रभं सा शयनीयके।
प्रतीक्ष्य किञ्चिदुद्विग्नशङ्किना निरगाद् वहिः ॥२६२॥
दृष्ट्वा महल्लिकोपेतं तं चात्र निजवल्लभम्।
सकोपा च सलज्जा च सभया च बभूव सा ॥२६३॥
महल्लिकाऽपि दृष्ट्वैव तामासीद् भीतलज्जिता।
सूर्यप्रभश्च निःस्पन्दस्तस्थावालिखितो यथा ॥२६४॥
दृष्ट्वा कथं पलायेऽहं जिह्मेमीर्ष्यामि वा यदि।
इति तत्पार्श्वमेवागात् कलावत्यपि सा ततः ॥२६५॥
कुशलं सखि कुत्र त्वमागतैवमितो निशि।
एवं महल्लिकां तां च साभ्यसूयमुवाच सा ॥२६६॥
ततो महल्लिकाऽवोचन्ममैतद्गृहमत्र तु।
त्वमन्यपातालगृहात् प्राप्ता प्राघुणिकाद्य मे ॥२६७॥

बैठकर उसने कहा—'हे सुन्दरी, तुमने सभा में अन्तिम समय सभासदों को सम्मान-सहित देखती हुई यद्यपि मेरा अपमान किया है, तथापि चंचलनयने, तुम्हारे सौन्दर्य के समान ही तुम्हारे नृत्य से मेरी आँखें सफल हो गई हैं ॥२५३-२५४॥

सूर्यप्रभ द्वारा इस प्रकार कही गई वह प्रह्लाद की कन्या बोली—'इसमें मेरा अपराध नहीं है, इसमें तो उसी का अपराध है, जिसने मेरे अभिनय को विकृत करके मुझे लज्जित किया है।' यह सुनकर सूर्यप्रभ ने हर्ष से कहा—'मेरी विजय हुई' ॥२५५-२५६॥

और उसका हाथ अपने हाथ से पकड़ लिया, जो मानों बलात्कार के भय से पसीने-पसीने होकर काँप रहा था ॥२५७॥

'आर्यपुत्र, छोड़ो, अभी मैं कुमारी हूँ और पिता के वश में हूँ।' ऐसा कहती हुई राजपुत्री को प्रज्ञाढ्य ने कहा—'देवि, क्या कन्याओं का गान्धर्व विवाह नहीं होता? पिता तुम्हारे हार्दिक भाव को जानकर अब दूसरे को प्रदान नहीं करेंगे ॥२५८-२५९॥

वे इस सूर्यप्रभ का सम्मान अवश्य करेंगे। इसलिए घबराओ नहीं, तुम्हारा मिलना व्यर्थ न हो ॥२६०॥

उधर बाहर जब प्रज्ञाढ्य इस प्रकार महल्लिका से कह रहा था, इसी बीच अन्दर सोई हुई कलावती जग उठी। उसने शय्या पर सूर्यप्रभ को न देखकर कुछ समय प्रतीक्षा की और फिर घबराकर वह बाहर निकल आई ॥२६१-२६२॥

बाहर आकर अपने पति को महल्लिका के साथ देखकर उसे कुछ क्रोध, कुछ लज्जा और कुछ भय हो आया ॥२६३॥

महल्लिका भी उसे देखकर कुछ डरी तथा कुछ लज्जित हुई और सूर्यप्रभ तो चित्र में लिखा-सा निश्चल हो गया ॥२६४॥

'मुझे सबने देख लिया है, अब मैं यहाँ से भागूं, तो कैसे? कैसे लज्जा करूँ और कैसे ईर्ष्या प्रकट करूँ'—ऐसा सोचकर कलावती महल्लिका के पास ही आ बैठी ॥२६५॥

और उससे बोली—'सखि, कुशल तो है? तुम इस रात में इस प्रकार यहाँ कैसे आई हो?' तब महल्लिका, ईर्ष्या के साथ उससे बोली—'यह लोक तो मेरा है और मेरा घर भी यहीं है। तू दूसरे पाताल-गृह से यहाँ आई है। इसलिए तू मेरी अतिथि है' ॥२६६-२६७॥

तच्छ्रुत्वा सा विहस्यैतां कलावत्येवमब्रवीत्।
सत्यं दृश्यत एवेदं यत्त्वं सर्वस्य कस्यचित् ॥२६८॥
करोषीहागतस्यैव प्राघुणातिथ्यसत्क्रियाम्।
एवमुक्ते कलावत्या सा जगाद महल्लिका ॥२६९॥
यदि प्रीत्या मयोक्ता त्वं तत्किं सद्वेषनिष्ठुरम्।
एवं वदसि निर्लज्जे किमहं सदृशी तव ॥२७०॥
किमहं बान्धवादत्ता दूरादेत्य परस्थले।
परस्य शयने सुप्ता रहस्येकाकिनी निशि ॥२७१॥
अहं पितुः प्राघुणिकं स्वस्थाने द्रष्टुमागता।
आतिथ्येनाधुनैवैषा सखीद्वितयसङ्गता ॥२७२॥
यदास्मान्विप्रलभ्यादावसौ मन्त्री प्रविष्टवान्।
तदैवैतन्मया ज्ञातं त्वया व्यक्तीकृतं स्वतः ॥२७३॥
एवं महल्लिकोक्ता सा कलावत्यगमत्ततः।
तिर्यक्कोपकषायेण पश्यन्ती चक्षुषा प्रियम् ॥२७४॥
ततो महल्लिका साऽपि बहुवल्लभ याम्यहम्।
सम्प्रतीति रुषा सूर्यप्रभमुक्त्वा ततो ययौ ॥२७५॥
सूर्यप्रभश्च विमना युक्तं यदभवत्तदा।
कान्ताभ्यां हि समं तस्य तदासक्तं मनो गतम् ॥२७६॥
अथ ज्ञातुं कलावत्याः कलहान्तरचेष्टितम्।
प्राहिणोद्द्रुतमुत्थाप्य प्रभासं स स्वमन्त्रिणम् ॥२७७॥
महल्लिकायास्तद्वच्च प्रहस्तं स विसृष्टवान्।
स्वयं च तत्प्रतीक्षः सन्नासीत् प्रज्ञाढ्यसंयुतः ॥२७८॥
अथान्विष्य कलावत्याश्चेष्टितं स समाययौ।
प्रभासो निकटं तस्य पृष्टश्चैवमुवाच तम् ॥२७९॥
इतो द्वितीय पातालवर्त्ति तद्गतवानहम्।
वासवेश्म कलावत्याः स्वविद्याच्छादितात्मकः ॥२८०॥
बहिस्तत्र द्वयोश्चेट्योरालापश्च श्रुतो मया।
एकाब्रवीत् सखि किमद्योद्विग्नास्ते कलावती ॥२८१॥
ततो द्वितीयाप्यवदत् सखि शृण्वत्र कारणम्।
सुमुण्डीकावतारो हि चतुर्थेऽत्र रसातले ॥२८२॥

यह सुनकर कलावती हँसकर बोली—'यह तो सत्य ही दीख रहा है कि तू यहाँ आये हुए सबका या किसी विशेष अतिथि का आतिथ्य-सत्कार करती है' ॥२६८॥

कलावती द्वारा इस प्रकार कही गई महल्लिका बोली—'यदि मैंने प्रेम से तुम्हें कुछ कह दिया, तो तुम द्वेष से कठोर बातें क्यों कर रही हो? हे निर्लज्जे, क्या मैं तेरी तरह निर्लज्ज हूँ? ॥२६९–२७०॥

कि माता-पिता द्वारा बिना दिये हुए ही दूर से दूसरे के घर में आकर रात के समय एकान्त में दूसरे की शय्या पर अकेली सोई हूँ? ॥२७१॥

मैं तो अपने पिता के अतिथि से अपनी दो सखियों के साथ आतिथ्य-सत्कार के रूप में मिलने आई हूँ। जब हम लोगों को रोककर यह मन्त्री अन्दर गया, तभी मैंने जान लिया था, फिर तुमने उसे स्वयं ही स्पष्ट कर दिया ॥२७२-२७३॥

महल्लिका द्वारा इस प्रकार फटकारी गई कलावती तिरछी और क्रोध से, कड़ी दृष्टि से सूर्यप्रभ को देखती हुई वहाँ से चली गई ॥२७४॥

तब महल्लिका ने सूर्यप्रभ से कहा—'हे बहुतों के प्यारे, अब मैं भी जाती हूँ', और इस प्रकार कहकर वह चली गई ॥२७५॥

उस समय मन से हीन सूर्यप्रभ भी खिन्न हो गया, यह उचित ही था; क्योंकि दोनों प्रेयसियों पर आसक्त उसका मन भी उन्हीं के साथ चला गया था ॥२७६॥

इसके पश्चात् कलावती के कलह करके चले जाने पर उसकी चेष्टा जानने के लिए सूर्यप्रभ ने शीघ्र ही उठकर प्रभास नामक अपने मन्त्री को भेजा ॥२७७॥

उधर महल्लिका का समाचार जानने के लिए प्रहस्त मन्त्री को भेजा और स्वयं प्रज्ञाढ्य के साथ उनके आने की प्रतीक्षा करने लगा ॥२७८॥

तदनन्तर, कलावती का समाचार लेकर प्रभास उसके पास आया और पूछने पर बोला—'मैं अपनी विद्या के प्रभाव से अदृश्य होकर कलावती के वासस्थान—दूसरे पाताल—में उसके घर पर गया ॥२७९-२८०॥

वहाँ मैंने बाहर बैठी हुई दो सेविकाओं की बातचीत सुनी। उनमें एक कहने लगी—'अरी, आज कलावती घबराई हुई-सी क्यों है?' तब दूसरी ने कहा—'सखि, इसका कारण सुनो। सुमुण्डीक का अवतार आज चौथे पाताल में है ॥२८१-२८२॥

स्थितः सूर्यप्रभो नाम रूपेण जितमन्मथः।
तस्मै गत्वा स्वयं गुप्तमात्मा दत्तः किलैतया ॥२८३॥
गतायामद्य चैतस्यां तत्सकाशं निशागमे।
प्रह्लाददुहिताप्यागात् स्वयं तत्र महल्लिका ॥२८४॥
तया सहेर्ष्याकलहं कृत्वा सत्यात्मघातने।
उद्यतैषा सुखावत्या स्वस्रा दृष्ट्वैव रक्षिता ॥२८५॥
ततश्चान्तः प्रविश्यैव निपत्य शयनीयके।
स्थिता तया सह स्वस्रा पृष्टवृत्तान्तविघ्नया ॥२८६॥
एवं चेट्योः कथां श्रुत्वा प्रविश्यात्र तथैव ते।
कलावतीसुखावत्यौ दृष्टे तुल्याकृती मया ॥२८७॥
इति प्रभासो यावत्तं वक्ति सूर्यप्रभं रहः।
तावत्प्रहस्तोऽप्यात्रागात् पृष्टः सोऽप्यब्रवीदिदम् ॥२८८॥
इतो महल्लिकावासगृहं यावदहं गतः।
तावत्तत्र प्रविष्टा सा सखीभ्यां सह दुर्मनाः ॥२८९॥
अहं तत्रैव चादृश्यो विद्यायुक्तो प्रविष्टवान्।
दृष्टा मयात्र तस्याश्च सख्यो द्वादश तत्समाः ॥२९०॥
ताश्च सद्रत्नपर्यङ्कनिषण्णां परिवृत्य ताम्।
महल्लिकामुपाविक्षन्नेका चोवाच तां ततः ॥२९१॥
सखि कस्मादकस्मात्त्वमुद्विग्नेवाद्य दृश्यसे।
विवाहे प्रस्तुतेऽप्येषा बत का ते विषादिता ॥२९२॥
तच्छ्रुत्वा सविमर्शा सा तां प्रह्लादसुताब्रवीत्।
को मे विवाहो दत्तास्मि कस्मै केनोदितं तव ॥२९३॥
एवं तयोक्ते सर्वास्ता जगदुर्निश्चितं तव।
प्रातर्विवाहो दत्तासि सखि सूर्यप्रभाय च ॥२९४॥
त्वज्जनन्या च देव्यैतदद्योक्तं त्वदसन्निधौ।
अस्मान्नियोजयन्त्या ते कौतुकप्रतिकर्मणि ॥२९५॥
तद्धन्यासि च यस्यास्ते भावी सूर्यप्रभः पतिः।
यद्रूपलुब्धो निद्राति निशि नेहाङ्गनाजनः ॥२९६॥
अस्माकं तु विषादोऽयं क्वेदानीं त्वं वयं क्व च।
तस्मिन् हि भर्त्तरि प्राप्ते त्वमस्मान् विस्मरिष्यसि ॥२९७॥

उसका नाम सूर्यप्रभ है और अपने सौन्दर्य से वह कामदेव-विजयी है। कलावती ने गुप्त रूप से जाकर उसे आत्मसमर्पण कर दिया है। आज रात में इसके पास जाने पर राजा प्रह्लाद की कन्या महल्लिका भी स्वयं वहाँ आ गई ॥२८३–२८४॥

तब उसके साथ सपत्नी-डाह से कलह करके आई हुई कलावती आत्मघात के लिए तैयार हुई, यह देखते ही उसकी बहन सुखावती ने उसे बचाया ॥२८५॥

तब कमरे में जाकर, खाट पर पड़कर और समाचार सुनकर त्रस्त हुई बहन के साथ अब वह पड़ी है ॥२८६॥

सेविकाओं की ये बातें सुनकर और उसी अदृश्य रूप से भीतर जाकर समान रूपवाली उन दोनों बहनों को मैंने देखा ॥२८७॥

जबतक प्रभास सूर्यप्रभ को एकान्त में यह समाचार कह ही रहा था कि इतने में ही प्रहस्त भी वहाँ आ गया ॥२८८॥

सूर्यप्रभ के पूछने पर प्रहस्त ने कहा—'जब मैं यहाँ से महल्लिका के निवास-गृह में पहुँचा, तब वह भी दो सखियों के साथ खिन्नचित्त होकर वहाँ पँहुची। मैं अपनी विद्या के प्रभाव से अदृश्य होकर उसके भवन में गया। वहाँ मैंने उसी के समान रूपवाली उसकी बारह सखियों को देखा ॥२८९–२९०॥

वे सभी सखियाँ रत्नों के सुन्दर पलंग पर बैठी हुई उसे घेरकर बैठ गईं। उनमें एक उससे कहने लगी—॥२९१॥

'सखि, तू सहसा दुःखी क्यों हो रही है, विवाह के प्रस्तुत होने पर भी तुझे यह खिन्नता क्यों हो रही है' ॥२९२॥

यह सुनकर कुछ सोचती हुई प्रह्लाद-पुत्री बोली—'मेरा विवाह कहाँ हो रहा है। मुझे किसे दिया गया और तुझसे किसने कहा' ॥२९३॥

उसके ऐसा प्रश्न करने पर सभी सखियाँ बोलीं—'प्रातःकाल तुम्हारा विवाह है और तुम्हें सूर्यप्रभ को दिया गया है। तुम्हारे पीछे यह तुम्हारी माता महारानी ने यह कहा है और विवाह-मंगल के कार्यों में हम लोगों की नियुक्ति कर दी गई है ॥२९४–२९५॥

इसलिए तू धन्य है, जिसका पति सूर्यप्रभ है। जिसके रूप के लोभ से सुन्दरियों को रात में नींद नहीं आती ॥२९६॥

हम लोगों को तो यह दुःख हो रहा है कि अब तू कहाँ होगी और हम कहाँ? उस सुन्दर पति को पाकर तू हमें भूल जायगी' ॥२९७॥

एतन्महल्लिका तासां मुखाच्छ्रुत्वा जगाद सा।
क्वचित् स दृष्टो युष्माभिर्मनस्तस्मिन् गतं च वः ॥२९८॥
तच्छ्रुत्वा तामवोचंस्ता हर्म्यात् सोऽस्माभिरीक्षितः।
का च सा स्त्री मनो यस्या न स दृष्टो हरेदिति ॥२९९॥
ततः साप्यवदत्तर्हि तातं वक्ष्याम्यहं तथा।
युष्मानप्यखिलास्तस्मै दापयिष्याम्यमूर्यथा ॥३००॥
इत्थमन्योन्यविरहो न स्यान्नः सहवासतः।
इति ब्रुवाणां कन्यास्ताः सम्भ्रान्ताः संवभाषिरे ॥३०१॥
सखि मैवं कृथा नैतद्युक्तमेषा त्रपा हि नः।
एवमुक्तवतीरेताः सा जगादासुरेन्द्रजा ॥३०२॥
किमयुक्तं न तेनैका परिणेयाहमेव हि।
तस्मै सर्वेऽपि दास्यन्ति दुहितॄर्दैत्यदानवाः ॥३०३॥
अन्याश्च राजतनयास्तस्योढ़ा भुवि स्थिताः।
परिणेष्यति बह्वीश्च स विद्याधरकन्यकाः ॥३०४॥
तन्मध्ये परिणीतासु युष्मासु मम का क्षतिः।
सुखं प्रत्युत वत्स्यामो वयं सख्यः परस्परम् ॥३०५॥
अन्याभिस्तु विरुद्धाभिः कस्ताभिः संस्तवो मम।
युष्माकं च त्रपा कात्र सर्वमेतत् करोम्यहम् ॥३०६॥
इति तासां कथा यावद्वर्तते त्वद्गतात्मनाम्।
तावत्ततोऽहं निर्गत्य स्वैरं त्वत्पार्श्वमागतः ॥३०७॥
एतत् प्रहस्तस्य मुखाच्छ्रुत्वा सूर्यप्रभोऽत्र सः।
अनिद्र एव शयने तां निशामनयन्मुदा ॥३०८॥
प्रातः सह सुनीथेन मयेन सचिवैश्च सः।
असुराधिपतिं द्रष्टुं प्रह्लादं तत्सभां ययौ ॥३०९॥
सुनीथं तत्र स प्राह प्रह्लादो दर्शितादरः।
सुतां सूर्यप्रभायाहं ददाम्यस्मै महल्लिकाम् ॥३१०॥
अस्य हि प्राघुणातिथ्यं कार्यं मे तव च प्रियम्।
एतत्प्रह्लादवचनं सुनीथोऽभिननन्द सः ॥३११॥
ततो वेदीं समारोप्य मध्यज्वलितपावकाम्।
तत्प्रभाभ्राजितोदग्ररत्नस्तम्भावभासिताम् ॥३१२॥

सखियों की बातें सुनकर महल्लिका बोली—'क्या तुमलोगों ने उसे देखा है और क्या तुम्हारा मन उस पर आया है?' यह सुनकर वे सब बोलीं—'हाँ, उसे भवन से हम लोगों ने देखा है। कौन ऐसी स्त्री है, जिसका मन उसे देखकर हाथ से न निकल जाता हो' ॥२९८-२९९॥

तब महल्लिका उनसे कहने लगी—'यदि ऐसी बात है, तो मैं पिता से कहूँगी कि वह तुम लोगों को भी उसके लिए दे दे। इससे तुम लोगों के साथ मेरा वियोग भी न होगा और हम लोगों का सहवास भी बना रहेगा।' ऐसा कहती हुई महल्लिका से घबराई हुई सखियाँ बोलीं—'नहीं सखि, ऐसा न करना। यह ठीक नहीं। इससे हम लोगों को लज्जा है। ऐसा कहती हुई सखियों से असुरराज की कन्या फिर बोली—॥३००-३०२॥

'इसमें अनुचित क्या है? क्या उसे एकमात्र मुझसे ही विवाह करना है? उसे सभी दैत्यों और दानवों के राजा अपनी-अपनी कन्याएँ देंगे और भी अनेक राजाओं की विवाहित कन्याएँ मर्त्यलोक में है तथा बहुत-सी विद्याधर-कन्याओं से भी वह अभी विवाह करेगा ॥३०३-३०४॥

उनके बीच तुम भी यदि उससे विवाहित हो जाओगी, तो मेरी क्या हानि है, बल्कि हम सब सखियाँ मिलकर आनन्द के साथ रहेंगी। तुम लोगों को लज्जा क्यों है, यह सब तो मैं करूँगी ॥३०५-३०६॥

तुम पर आसक्त चित्तवाली उसकी जब यह स्वतन्त्र बातचीत हो रही थी, तब मैं उसी अदृश्य रूप से तुम्हारे पास चला आया ॥३०७॥

प्रहस्त के मुख से यह सब समाचार सुनकर सूर्यप्रभ ने शय्या पर जागते-जागते ही रात बिताई ॥३०८॥

प्रातःकाल ही सुनीथ, मय और सब मन्त्रियों के साथ सूर्यप्रभ, असुरराज प्रह्लाद से मिलने के लिए उसकी सभा में गया ॥३०९॥

तब दैत्यराज प्रह्लाद ने, आदर के साथ सुनीथ से कहा—'मैं अपनी कन्या महल्लिका को इस सूर्यप्रभ के लिए देता हूँ ॥३१०॥

क्योंकि, इसका भी आतिथ्य-सत्कार और तुम्हारा भी प्रिय मुझे करना है। 'यह सुनकर सुनीथ ने प्रह्लाद की बात का सादर समर्थन किया ॥३११॥

तदनन्तर, अपने प्रकाश से रत्न-स्तम्भों की कान्ति बढ़ाती हुई मध्य में जलती हुई विवाह-वेदी पर सूर्यप्रभ को बैठाकर प्रह्लाद ने उसे अपनी कन्या महल्लिका दे दी ॥३१२-३१३॥

महल्लिकां तां स्वसुतां प्रादात् सूर्यप्रभाय सः।
प्रह्लादोऽसुरसाम्राज्यसदृशीभिर्विभूतिभिः ॥३१३॥
ददौ सद्रत्नराशींश्च स दुहित्रे वराय च।
त्रिदशावजयानीतान् सुमेरुशिखरोपमान् ॥३१४॥
तात ता अपि देह्यस्मै सखीर्मे द्वादश प्रियाः।
एवं महल्लिका स्वैरं प्रह्लादं सा तदाब्रवीत् ॥३१५॥
पुत्रि मद्भ्रात्रधीनास्तास्तेन बन्दीकृता यतः।
मम दातुं न युज्यन्ते इति सोऽपि जगाद ताम् ॥३१६॥
कृतोद्वाहोत्सवश्चास्मिन् याते सूर्यप्रभो दिने।
विवेश वासकं नक्तं स महल्लिकया सह ॥३१७॥
सर्वकामोपचाराढ्यं तत्र तं सुरतोत्सवम्।
अनया समनःप्रीतिसौख्यं सोऽनुबभूव च ॥३१८॥
प्रातर्गते च प्रह्लादे सभां तस्मिन् महानुगे।
अमीलो दानवाधीशः प्रह्लादादीनभाषत ॥३१९॥
अद्य युष्माभिरखिलैरागन्तव्यं गृहे मम।
तत्रातिथ्यं यतः सूर्यप्रभस्यास्य करोम्यहम् ॥३२०॥
सुतां कलावतीं तस्मै ददामि यदि वो हितम्।
एतत्तद्वचनं सर्वे तथेति प्रतिपेदिरे ॥३२१॥
ततो द्वितीयं पातालं तस्मिन्नेव क्षणे च ते।
सर्वे जग्मुः समं सूर्यप्रभेण समयादिना ॥३२२॥
तत्रामीलो ददौ तस्मै सुतां सूर्यप्रभाय ताम्।
कलावतीं प्रक्रियया दत्तात्मानमपि स्वयम् ॥३२३॥
कृत्वा विवाहं प्रह्लादगृहे भुक्त्वासुरान्वितः।
निन्ये भोगोपचारेण दिनं सूर्यप्रभोऽत्र तत् ॥३२४॥
द्वितीयेऽह्नि तथैवैतान् दुरारोहोऽसुरेश्वरः।
निमन्त्र्य सर्वाननयत् पञ्चमं स्वरसातलम् ॥३२५॥
तत्र सूर्यप्रभाय स्वां नाम्ना स कुमुदावतीम्।
प्रादादन्यवदातिथ्यहेतोर्विधिवदात्मजाम् ॥३२६॥
ततः सर्वैः समेतस्तैर्भोगैर्नीत्वा दिनं स तत्।
वासकं कुमुदावत्या भेजे सूर्यप्रभो निशि ॥३२७॥

और, देवताओं से जीतकर लाये हुए रत्नों और महामूल्य मणियों के शिखरों के ढेर उस कन्या और जामाता को दहेज में प्रदान किये ॥३१३-३१४॥

तब महल्लिका ने पिता से स्वतन्त्रतापूर्वक कहा—'पिताजी, मेरी उन बारह सखियों को भी इन्हें दे दो' ॥३१५॥

तब प्रह्लाद ने कहा—'बेटी, वे कन्याएँ मेरे भाई के द्वारा अपहरण करके बन्दिनी बनाई गई हैं, इसलिए वे उसी के आधीन हैं। अतः, उनमें से किसी का मेरा दान करना उचित नहीं है ॥३१६॥

विवाहोत्सव सम्पन्न होने के पश्चात् दिन व्यतीत होने पर (रात्रि में) सूर्यप्रभ, महल्लिका के साथ शयनागार में गया और विविध हास-विलास तथा काम-भोग के साथ रात्रि व्यतीत की ॥३१७-३१८॥

दूसरे दिन प्रातःकाल अपने सभ्यों के साथ प्रह्लाद के सभा में पधारने पर अमील नामक दानवराज ने उनसे कहा—॥३१९॥

'आज आप सब लोगों को मेरे घर पर पधारना चाहिए ; क्योंकि मैं वहाँ राजा सूर्यप्रभ का आतिथ्य-सत्कार करूँगा ॥३२०॥

यदि आप लोग उचित समझें, तो मैं अपनी कन्या कलावती को भी उसे दूँ।' उसके इस प्रस्ताव को सभी ने, ठीक है, कहकर स्वीकार कर लिया और सभी उठकर मय, सुनीथ और सूर्यप्रभ के साथ दूसरे पाताल में गये ॥३२१-३२२॥

वहाँ पर राजा अमील ने अपनी कन्या कलावती का सूर्यप्रभ के साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण करा दिया ॥३२३॥

तदनन्तर, सभी असुरों के सहित सूर्यप्रभ ने प्रह्लाद के घर में भोजन करके विविध भोगों के साथ दिन व्यतीत किया ॥३२४॥

दूसरे दिन, इसी प्रकार दुरारोह नामक असुरराज ने, अपने पाँचवें रसातल में सभी लोगों को निमंत्रित किया ॥३२५॥

और उसने अपनी कुमुदावती नाम की कन्या को औरों के समान विधिपूर्वक सूयप्रभ को दान कर दिया ॥३२६॥

तदनन्तर सूर्यप्रभ, मित्र-मंडल के साथ विविध सुखों के भोगों में दिन बिताकर रात को कुमुदावती के शयन-गृह में गया ॥३२७॥

तत्र त्रिलोकसुन्दर्या नवसङ्गमसोत्कया ।
स स्निग्धमुग्धया साकं तया रात्रिमुवास ताम् ॥३२८॥
प्रातश्च तन्तुकच्छेन प्रह्लादप्रमुखैर्वृतः ।
निमन्त्र्य सप्तमं निन्ये पातालं स स्वमन्दिरम् ॥३२९॥
तत्रासुरपतिः सोऽस्मै सुतां नाम्ना मनोवतीम् ।
ददौ सरत्नाभरणां तप्तजाम्बूनदद्युतिम् ॥३३०॥
ततः सूर्यप्रभः सोऽत्र नीत्वाधिकसुखं दिनम् ।
मनोवतीनवाश्लेषसुखिनीमनयन्निशाम् ॥३३१॥
अपरेद्युश्च तं सर्वयुक्तं कृतनिमन्त्रणः ।
पातालमनयत् षष्ठं स्वं सुमायो सुराधिपः ॥३३२॥
तत्र सोऽपि ददौ तस्मै सुभद्रां नाम कन्यकाम् ।
दूर्वाल्लताश्यामलाङ्गीं मूर्त्तिं पाञ्चशरीमिव ॥३३३॥
तया सुरतसंभोगयोग्यया श्यामयाऽत्र सः ।
महासीत्तदहः सूर्यप्रभः पूर्णेन्दुवक्त्रया ॥३३४॥
अन्येद्युस्त्र बली राजा तद्वदेव निनाय तम् ।
सूर्यप्रभं स्वपातालं तृतीयं सोऽसुरानुगः ॥३३५॥
सोऽपि तत्र सुतां तस्मै सुन्दरीं नाम दत्तवान् ।
बालप्रवालसच्छायां माधवीमिव मञ्जरीम् ॥३३६॥
स्त्रीरत्नेन समं तेन रेमे सूर्यप्रभोऽत्र सः ।
सुरञ्जितस्तद्दिवसं दिव्यभोगविभूषितम् ॥३३७॥
अपरेऽह्नि मयः सोऽपि राजपुत्रं तथैव तम् ।
चतुर्थपातालगतं भूयोऽनैषीत् स्वमन्दिरम् ॥३३८॥
विचित्ररत्नप्रासादं निजमायाविनिर्मितम् ।
नवं नवमिवाभासमानं लक्ष्म्या प्रतिक्षणम् ॥३३९॥
तत्र सोऽपि ददौ तस्मै सुमायाख्यां निजां सुताम् ।
जगदाश्चर्यरूपां स्वां शक्तिं मूर्त्तिमतीमिव ॥३४०॥
मानुषत्वाच्च तस्मै तां नैवादेयाममन्यत ।
सोऽपि रेमे तया साकमत्र सूर्यप्रभः कृती ॥३४१॥
विद्याविभक्तदेहोऽथ सर्वाभिर्युगपत् सह ।
अरंस्तासुरकन्याभिस्ताभिः सह नृपात्मजः ॥३४२॥

वहाँ उसने नव संगम में उत्कंठित स्निग्ध और मुग्ध उस त्रैलोक्यसुन्दरी कुमुदावती के साथ विनोद-वार्त्ता में रात बिताई ॥३२८॥

प्रातःकाल ही तन्तुकच्छ नामक सातवें पाताल के राजा ने प्रह्लाद आदि को सादर निमन्त्रित किया और वह निमन्त्रण देकर सबको अपने घर ले गया ॥३२९॥

वहाँ पर, तन्तुकच्छ ने, कुन्दन-सी गौरवर्ण, रत्नालंकारों से अलंकृत अपनी सुन्दरी कन्या मनोवती सूर्यप्रभ को प्रदान की ॥३३०॥

सूर्यप्रभ ने, अत्यन्त सुखद उस दिन को बिता कर मनोवती के साथ नवीन आलिंगन से मधुर रात्रि भी व्यतीत की ॥३३१॥

दूसरे दिन, उसी प्रकार सबको निमन्त्रण देकर सुमाय नामक असुरराज सबको अपने छठे पाताल में ले गया ॥३३२॥

वहाँ पर उसने भी दूब के समान श्याम रंगवाली काम की सजीव मूर्त्ति-सी सुभद्रा नाम की कन्या सूर्यप्रभ को प्रदान की ॥३३३॥

और, सूर्यप्रभ भी उस दिन उसी चन्द्रवदनी षोडशी श्यामा के साथ रहा ॥३३४॥

उसके दूसरे दिन, राजा बली सूर्यप्रभ को अपने तीसरे पाताल में ले गया और नये मूँगे के समान रंगवाली वासन्ती लता के समान यौवन से भरी सुन्दरी नाम की कन्या उसे प्रदान की। सूर्यप्रभ ने दिव्य भोगों से भरे हुए उस लोक में सुन्दरी के विनोद में दिन व्यतीत किया ॥३३५–३३७॥

दूसरे दिन चौथे पाताल में गये हुए राजकुमार सूर्यप्रभ को मयासुर फिर अपने घर ले गया ॥३३८॥

उसके लोक में उसकी माया से रत्नों के विचित्र महल बने हुए थे और प्रतिक्षण उनकी नई-नई झिलमिल झलक दीख रही थी ॥३३९॥

मय ने भी वहाँ पर जगत् के लिए आश्चर्यजनक रूपवाली और मूर्त्तिमयी शक्ति के समान अपनी सुमाया नाम की कन्या उसे प्रदान की ॥३४०॥

सूर्यप्रभ के मनुष्य होने के कारण उसे कन्या देना मय ने अनुचित नहीं समझा। वह सफल सूर्यप्रभ, उसके (सुमाया के) साथ सुख-विलास करने लगा ॥३४१॥

वह राजा, अपनी विद्या के प्रभाव से अनेक देह धारण करके सभी असुर-कन्याओं के साथ एक ही समय में पृथक्-पृथक् रहने लगा ॥३४२॥

तात्त्विकेन च देहेन भजते स्म स भूयसा।
महल्लिकां प्रियतमां प्रह्लादासुरकन्यकाम् ॥३४३॥
एकदा च निशि स्वैरं स्थितस्तां स महल्लिकाम्।
एवं सूर्यप्रभोऽपृच्छदभिजातां कथान्तरे ॥३४४॥
प्रिये रात्रौ सहायाते ये द्वे सख्यौ तदा तव।
ते कुतस्त्ये न पश्यामि किं च ते क्व गते इति ॥३४५॥
ततो महल्लिकाऽवादीत् सुष्ठ्वहं स्मारिता त्वया।
ते न द्वे एव ताः सन्ति वयस्या द्वादशेह मे ॥३४६॥
मत्पितृव्येण च स्वर्गादानीता अपहृत्य ताः।
एकामृतप्रभा नाम द्वितीया केशिनी तथा ॥३४७॥
पर्वतस्य मुनेरेते तनये शुभलक्षणे।
कालिन्दीति तृतीया च चतुर्थी भद्रिकेति च ॥३४८॥
तथा दर्पकमालेति पञ्चमी चारुलोचना।
एता महामुनेस्तिस्रो देवलस्यात्मसम्भवाः ॥३४९॥
षष्ठी सौदामनी नाम सप्तमी चोज्जवलाभिधा।
एते हाहाभिधानस्य गन्धर्वस्य सुते उभे ॥३५०॥
अष्टमी पीवरा नाम गन्धर्वस्य हुहोः सुता।
नवम्यञ्जनिका नाम कालस्य दुहिता विभोः ॥३५१॥
पिङ्गलाच्च गणाज्जाता दशमी केसरावली।
एकादशी मालनीति नाम्ना कम्बलनन्दिनी ॥३५२॥
नाम्ना मन्दारमालेति द्वादशी वसुकन्यका।
अप्सरःसु समुत्पन्नाः सर्वा दिव्यस्त्रियस्तु ताः ॥३५३॥
पातालं प्रथमं नीतास्ताश्चोद्वाहे कृते मम।
तुभ्यं मया च देयास्तास्तद्युक्ता स्यां सदा यथा ॥३५४॥
प्रतिज्ञातं मया चैतत्तासां स्नेहो हि तासु मे।
तातोऽप्युक्तो मया तेन न दत्ता भ्रात्रपेक्षिणा ॥३५५॥
एतच्छ्रुत्वा सवैलक्ष[1]स्तां स सूर्यप्रभोऽब्रवीत्।
प्रिये महानुभावा त्वमहं कुर्यां कथं त्विदम् ॥३५६॥

---

१. सलज्जः।

किन्तु, असली शरीर से तो वह असुरराज प्रह्लाद की कन्या महल्लिका के साथ रहता था ॥३४३॥

एक बार, रात्रि के समय बातचीत के प्रसंग में सूर्यप्रभ ने, कुलीना महल्लिका से पूछा—'प्रिये, उस दिन रात में तेरे साथ जो सहेलियाँ आई थीं, वे कौन और कहाँ की थीं, अब उन्हें मैं नहीं देख रहा हूँ। वे कहाँ गईं ' ॥३४४–३४५॥

यह सुनकर महल्लिका ने कहा—'अच्छा किया, मुझे स्मरण करा दिया। वे दो ही नहीं, बल्कि वे मेरी बारह हमजोली सहेलियाँ हैं ॥३४६॥

उन्हें मेरे चाचा स्वर्ग से अपहरण करके लाये थे। उनमें एक अमृतप्रभा और दूसरी केशिनी ये दोनों पर्वत मुनि की कन्याएँ हैं। तीसरी कालिंदी और चौथी मुद्रिका तथा पाँचवीं सुन्दर नयनों वाली दर्पकमाला ये तीनों महामुनि देवल की कन्याएँ हैं। छठी सौदामनी, सातवीं उज्ज्वला ये दोनों हाहा नाम के गन्धर्व की कन्याएँ हैं। आठवीं पीवरा हुहू नाम के गन्धर्व की कन्या है। नवीं काल की अंजनिका नाम की कन्या है ॥३४७–३५१॥

पिंगल से उत्पन्न दसवीं कन्या केसरावली है। ग्यारहवीं कम्बल की कन्या मालिनी है और मदालसा नाम की बारहवीं कन्या वसु की है, जो अप्सराओं में उत्पन्न हुई है। वे सभी मेरे विवाह के समय पहले पाताल में ले जाई गईं। उन्हें मैं तुम्हारे लिए दूँगी, जिससे मैं उनके साथ रहकर सदा सुखी रह सकूँ ॥३५२–३५४॥

मैंने उनसे ऐसी प्रतिज्ञा भी की है और उन पर स्नेह भी इसी प्रकार का है। उन्हें आपको देने के लिए मैंने पिताजी से भी कहा था, किन्तु उन्होंने भाई की अपेक्षा करके आपको उस समय उन्हें नहीं दिया' ॥३५५॥

यह सुनकर सूर्यप्रभ लज्जित-सा होकर बोला—'प्यारी, तुम प्रभावशालिनी और उदार आशयवाली हो। तुम यह कर सकती हो, मैं कैसे करूँ ? ॥३५६॥

एवं सूर्यप्रभेणोक्ता रुषाऽवोचन्महल्लिका ।
मत्समक्षं वहस्यन्या मद्वयस्यास्तु नेच्छसि ॥३५७॥
याभिर्वियुक्ता रज्येयं नाहमेकमपि क्षणम् ।
इत्युक्तस्तु तया सूर्यप्रभस्तुष्ट्यान्वमंस्त तत् ॥३५८॥
ततस्तदेव पातालं नीत्वैव प्रथमं त्वया ।
प्रह्लादसुतया तस्मै प्रदत्ता द्वादशापि ताः ॥३५९॥
अथामृतप्रभामुख्यास्ताः सः सूर्यप्रभः क्रमात् ।
परिणीयोपभुङ्क्ते स्म तस्या दिव्याङ्गना निशि ॥३६०॥
प्रातश्च ताः प्रभासेन नाययित्वा रसातलम् ।
चतुर्थ स्थापयामास च्छन्नाः पृष्ट्वा महल्लिकाम् ॥३६१॥
स्वयं चालक्षितः साकं तया तत्रैव सोऽगमत् ।
सभाजनाय च प्राग्वत् प्रह्लादस्य सभां ययौ ॥३६२॥
तत्रासुरेन्द्रो वक्ति स्म तं सुनीथं मयं च सः ।
यात सर्वे दितिदनू द्रष्टुं देव्यावुभे इति ॥३६३॥
तथेत्यथ रसातलात् सपदि निर्गतास्ते ततो ।
यथास्वमसुरैः समं मयसुनीथसूर्यप्रभाः ॥
विमानमनुचिन्तितं तदधिरुह्य भूतासनं ।
सुमेरुगिरिसानुगं प्रययुराश्रमं काश्यपम् ॥३६४॥
तत्र ते दितिदनू सह स्थिते सादरैर्मुनिजनैर्निवेदिनाः ।
अभ्युपेत्य ददृशुः क्रमेण ते पादयोश्च शिरसा ववन्दिरे ॥३६५॥
ते च तानसुरमातरावुभे सानुगान् समवलोक्य सादरे ।
साश्रु मूर्ध्नि परिचुम्ब्य संमदादाशिषोऽनुपदमूचतुर्मयम् ॥३६६॥
प्राप्तजीवितममुं तवात्मजं वीक्ष्य पुत्रक सुनीथमावयोः ।
चक्षुरद्य सफलत्वमागतं त्वां च पुण्यकृतमेव मन्महे ॥३६७॥
सुमुण्डीकं चैतं कृतिनमिह सूर्यप्रभतया
पुनर्जातं दिव्याकृतिधरमसाधारणगुणम् ।
चितं भाविश्रेयः प्रथमपिशुनैर्लक्षणगुणै—
विलोक्यान्तस्तोषात् स्फुटमिह नमावः स्ववपुषि ॥३६८॥
तच्छीघ्रमुत्तिष्ठत यात वत्साः प्रजापतिं द्रष्टुमिहार्यपुत्रम् ।
तद्दर्शनाद्वो भवितार्थसिद्धिः कार्यं च वस्तद्वचनं शिवाय ॥३६९॥

इस प्रकार सूर्यप्रभ के कहने पर महल्लिका क्रोध से बोली—'मेरे ही सामने प्रतिदिन नई-नई स्त्रियों से विवाह कर रहे हो और मेरी सहेलियों को नहीं चाहते ! ॥३५७॥

मैं उनके वियोग में एक क्षण भी मनोरंजन नहीं कर सकती।'—महल्लिका के ऐसा कहने पर सूर्यप्रभ ने उसकी बात मान ली॥३५८॥

तब प्रह्लाद की पुत्री ने उसे पहले पाताल में ले जाकर उन सब कन्याओं को क्रमशः उसे दे दिया। सूर्यप्रभ ने भी उन दिव्यांगनाओं का रात्रियों में क्रमशः उपभोग करना प्रारम्भ किया ॥३५९-३६०॥

प्रातः काल ही सूर्यप्रभ ने, महल्लिका से पूछकर प्रभास द्वारा उन कन्याओं को रसातल में पहुँचवाकर छिपा दिया ॥३६१॥

वह स्वयं भी अदृश्य होकर महल्लिका के साथ वहाँ जाता था। एक बार सभा में प्रह्लाद ने, मय एवं सुनीथ से कहा कि तुम सब, दिति और दनु माताओं का दर्शन करने के लिए जाओ॥३६२-३६३॥

'जो आज्ञा' कहकर मय, सुनीथ और सूर्यप्रभ तीनों रसातल से निकलकर यथासम्भव असुरों के साथ, ध्यान करते ही उपस्थित भूतासन विमान पर बैठकर, सुमेरु शिखर पर स्थित कश्यप के आश्रम को गये ॥३६४॥

वहाँ पर आदर के साथ ऋषियों द्वारा सूचित करने पर वे लोग एक साथ बैठी हुई दिति और दनु को देखकर प्रसन्न हुए और क्रमशः वे लोग उनके चरणों पर मस्तक रखकर प्रणाम करने लगे ॥३६५॥

उन दोनों असुरों और दानवों की माताओं ने अपने साथियों के साथ आये हुए पुत्र मय को देखकर आदर प्रकट किया और प्रसन्नतापूर्वक आँसू बहाते हुए आशीर्वाद दिया ॥३६६॥

और कहा—'पुत्र , पुनर्जीवित सुनीथ के साथ तुम्हे देखकर हम दोनों को अपार आनन्द हुआ। हमारे नेत्र सफल हुए और हम तुम्हें पुण्यवान् (धन्य) समझती हैं और सूर्यप्रभ के रूप में दिव्य तेज-धारी, असाधारण गुणों से युक्त और भावी कल्याण से पूर्ण सुमुण्डीक को देखकर सन्तोष के कारण हम लोगों का आनन्द शरीर में नहीं समा रहा है ॥३६७-३६८॥

हे पुत्रो, अब तुम शीघ्र उठो और आर्यपुत्र कश्यप प्रजापति का दर्शन करने जाओ। उनके दर्शन से तुम्हारी कार्यसिद्धि होगी और उनकी बातों का मानना तुम्हारे कल्याण के लिए होगा' ॥३६९॥

इति ताभ्यामादिष्टा देवीभ्यां ते तथैव गत्वा तम्।
कश्यपमुनिं मयाद्या ददृशुर्दिव्याश्रमे तत्र ॥३७०॥
द्रुतशुद्धहाटकाभं तेजोमयमाश्रमे च देवानाम्।
ज्वालाकपिलजटाधरमनलसमानं दुराधर्षम् ॥३७१॥
उपगम्य च तस्य पादयोस्ते निपतन्ति स्म सहानुगैः क्रमेण।
अथ सोऽपि मुहुः कृतोचिताशीः परितोषादुपवेश्य तानुवाच ॥३७२॥
आनन्दः परमो ममैष यदमी दृष्टाः स्थ सर्वे सुताः।
श्लाघ्यस्त्वं मय सत्पथादचलितो यः सर्वविद्यास्पदम्।
धन्यस्त्वं च सुनीथ येन गतमप्याप्तं पुनर्जीवितं।
त्वं सूर्यप्रभ पुण्यवांश्च भविता यः खेचराणां पतिः ॥३७३॥
तद्धर्मे पथि वर्त्तितव्यमधुना बोद्धव्यमस्मद्वचो।
भोक्ष्यध्वे सततं सुखानि परमामासाद्य येन श्रियम्।
नैव स्याच्च पुरा यथा परिभवो भूयः परेभ्योऽत्र वो।
धर्मातिक्रमिणो सुरा हि मुरजिच्चक्रस्य याता वशम् ॥३७४॥
ये चासुरा देवहताः सुनीथ मर्त्यप्रवीरास्त इमेऽवतीर्णाः।
योऽभूत्सुमुण्डीक इहानुजस्ते सूर्यप्रभः सैष किलाद्य जातः ॥३७५॥
अन्येऽपि तेऽमी असुरा वयस्या अस्यैव जाताः खलु बान्धवाश्च।
यः शम्बराख्यश्च महासुरोऽभूत्सैषोऽद्य जातः सचिवः प्रहस्तः ॥३७६॥
यश्चासुरोऽभूत्त्रिशिरा स जातः सिद्धार्थनामा सचिवो मयस्य।
वातापिरित्यास च दानवो यः प्रज्ञाढ्यनामास्य स एव मन्त्री ॥३७७॥
उलूकनामा दनुजश्च योऽभूत्सोऽयं वयस्योऽस्य शुभङ्कराख्यः।
योऽयं वयस्योऽस्य च वीतभीतिः स कालनामाप्यभवत्सुरारिः ॥३७८॥
यश्चैष भासः सचिवोऽस्य सोऽयं दैत्योऽवतीर्णो वृषपर्वनामा।
योऽयं प्रभासश्च स एष दैत्यो वत्सावतीर्णः प्रबलाभिधानः ॥३७९॥
महात्मना रत्नमयेन येन देवैर्विपक्षैरपि याचितेन।
कृत्वा शरीरं दलशोऽवतीर्णं रत्नानि जातान्यखिलानि यस्मात् ॥३८०॥
तत्तोषतश्चण्डिकयास्य देव्या वरोऽन्यदेहानुगतः स दत्तः।
यन प्रभासोऽद्य स एष जातो महाबलो दुष्प्रसहो रिपूणाम् ॥३८१॥
यौ दानवावभूतां पूर्वं सुन्दोपसुन्दनामानौ।
तावेतौ सर्वदमनभयङ्करावस्य मन्त्रिणौ जातौ ॥३८२॥

इस प्रकार, माताओं के आदेश को पाकर मय आदि सभी ने उसी प्रकार दिव्य आश्रम में जाकर कश्यप प्रजापति के दर्शन किये ।।३७०।।

मुनि का रंग पिघले हुए विशुद्ध सोने के समान था, उनका मुख दिव्य दीप्ति से दमकता था। अग्नि-ज्वाला के समान पीत वर्ण की उनकी जटाएँ थीं और वे स्वयं भी अग्नि के समान दुर्धर्ष थे ।।३७१।।

वे सब उनके समीप जाकर क्रमशः उनके चरणों में गिर पड़े। तदनन्तर, मुनि भी उन्हें बार-बार आशीर्वाद देते हुए सन्तोष और प्रसन्नता से बोले—।।३७२।।

'मुझे अत्यन्त आनन्द हो रहा है कि मैंने तुम सब सन्तानों को आज देखा। हे मय, तू प्रशंसनीय है। तू सभी विद्याओं का जानकार है और सत्पथ से विचलित नहीं हुआ है। सुनीथ, तू भी धन्य है कि तूने गये हुए जीवन को पुनः प्राप्त किया। हे सूर्यप्रभ, तू भी धन्य है कि आकाशचारी विद्याधरों का चक्रवर्त्ती बनेगा ।।३७३।।

तुम लोगों को धार्मिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और हमारी बातों को समझना चाहिए। इससे तुम अत्युत्तम ऐश्वर्य प्राप्त करके शाश्वत सुख प्राप्त करोगे और शत्रुओं से पहले के समान पराजय भी तुम्हारा न होगा। धर्म का उल्लंघन करनेवाले असुर विष्णु के चक्र के वशीभूत हुए थे ।।३७४।।

हे सुनीथ, वे देवताओं से मारे गये असुर ही मानव-शरीर लेकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। जो तुम्हारा छोटा भाई सुमुण्डीक था, वह अब सूर्यप्रभ के रूप में अवतीर्ण हुआ है ।।३७५।।

और भी, इसके मित्र असुर इस जन्म में इसके बन्धु-बान्धव हुए हैं, जो शम्बर नाम का महाअसुर था, वह प्रहस्त नाम से सूर्यप्रभ का मन्त्री हुआ है ।।३७६।।

त्रिशिरा नाम का जो असुर था, वह मयेका सिद्धार्थ नाम का मन्त्री हुआ है। वातापि नाम का जो असुर था, वह प्रज्ञाढ्य नाम से इसका मन्त्री हुआ है ।।३७७।।

उल्रूक नाम का दानव ही इसका शुभंकर नाम का मित्र हुआ है। वीतिभीति नाम का इसका मित्र पहले काल नामक दानव था और यह भास नाम का इसका मन्त्री भी वृषपर्वा नाम का दानव था, और प्रभास नाम का मित्र पहले प्रबल नामक दैत्य था। इस रत्नमय महासत्त्वशाली ने देवतओं की प्रार्थना की उपेक्षा कर अपने शरीर को खण्ड-खण्ड कर अवतार लिया, जिससे समस्त प्रकार के रत्न पैदा हुए। इससे संतुष्ट चण्डिका ने इसे दूसरे शरीर के अनुकूल कर दिया, जिससे यह अपने शत्रुओं के लिए महा दुःसह हो गया ।।३७८–३८१।।

पूर्वजन्म में सुन्द और उपसुन्द नाम के जो दानव थे, वे अब सर्वदमन और भयंकर नाम से उसके मन्त्री और मित्र हुए हैं ।।३८२।।

यश्च हयग्रीवाख्यो विकटाक्षश्चासुरावभूतां द्वौ।
स्थिरबुद्धिमहाबुद्धी उत्पन्नावस्य ताविमौ सचिवौ ॥३८३॥
अन्येऽप्यस्य य एते श्वसुराः सचिवादिबान्धवा ये च।
तेऽप्यवतीर्णा असुरा यैरिन्द्राद्याः पुरा जिता बहुशः ॥३८४॥
तद्युष्माकं पक्षः पुनरप्येवं क्रमाद् गतो वृद्धिम्।
धीरा भवत समृद्धिं प्राप्स्यथ धर्मादविच्युताः परमाम् ॥३८५॥
इति वदति कश्यपर्षौ दाक्षायण्यः[1] किलास्य पत्न्योऽत्र।
अदितिप्रमुखाः सर्वा माध्यन्दिनसवनसमय आजग्मुः ॥३८६॥
दत्त्वाशिषं मयादिषु नमत्सु भर्त्तुः कृपाह्लिकाज्ञासु।
तास्वथ शक्रोऽत्रागात् सलोकपालोऽपि तं मुनिं द्रष्टुम् ॥३८७॥
वन्दितसदारकश्यपमुनिचरणो वन्दितो मयाद्यैश्च।
सोऽथ सरोषं पश्यन् सूर्यप्रभमुक्तवान्मयं शक्रः ॥३८८॥
'एषोऽर्भकः स जाने विद्याधरचक्रवर्त्तिताकामः।
तदसौ स्वल्पेन कथं सन्तुष्टो नेन्द्रतां किमर्थयते' ॥३८९॥
तच्छ्रुत्वैव मयस्तं जगाद 'देवेश! तत्त्वयीन्द्रत्वम्।
परमेश्वरेण निर्मितमादिष्टं चास्य खेचरेशत्वम् ॥३९०॥
इति मयवचनान्मघवा स तदा विहसन्नुवाच सामर्षः।
अत्यल्पं हि तदस्याः सुलक्षणस्याकृतेरमुष्येति' ॥३९१॥
अथ स मयोऽप्यवदत्तं श्रुतशर्मा यत्र खेचरेन्द्रत्वे।
योग्यस्तत्रासंशयमाकृतिरस्यायमर्हतीन्द्रत्वम्' ॥३९२॥
इत्युक्तवते तस्मै मयाय कुपितः स वज्रमुद्यम्य।
मघवोत्तस्थौ कश्यपमुनिरकरोच्चाथ कोपहुङ्कारम् ॥३९३॥
धिक्कारमुखरताम्रैर्वदनैः कोपं ययुश्च दित्याद्याः।
तत इन्द्रः शापभयादुपाविशत्संहृतायुधोऽवनतः ॥३९४॥
प्रणिपत्य पादयोरथ दारयुतं तं सुरासुरप्रभवम्।
कश्यपमुनिं प्रसाद्य च विज्ञापितवान् कृताञ्जलिः शक्रः ॥३९५॥
श्रुतशर्मणे मया यद् भगवन्विद्याधराधिराजत्वम्।
दत्तं तदेष हर्त्तुं सूर्यप्रभउद्यतोऽधुना तस्य ॥३९६॥

---

१. दक्षप्रजापतेः कन्यकाः।

हयग्रीव और विकटाक्ष नाम के जो दो असुर थे, वे स्थिरबुद्धि और महाबुद्धि नाम से इसके मन्त्री उत्पन्न हुए हैं ॥३८३॥

और भी जो सूर्यप्रभ के श्वसुर आदि अन्य बन्धु हैं, वे सब पूर्वजन्म के ही असुर हैं, जिन्होंने इन्द्र आदि देवताओं को अनेक बार जीता था ॥३८४॥

इस प्रकार तुम्हारा पक्ष क्रमशः बढ़ा है। धैर्य रखो। धर्म का आचरण करने से तुम लोग परम समृद्धि प्राप्त करोगे' ॥३८५॥

कश्यप ऋषि के इस प्रकार कहते हुए ही अदिति आदि दक्ष की कन्याएँ, जो ऋषि की पत्नियाँ थीं, वे मध्याह्नकालीन धर्मक्रिया के लिए वहाँ आकर उपस्थित हुईं ॥३८६॥

मय आदि के, मुनि के आशीर्वाद प्राप्त करते हुए प्रणाम करने पर और पत्नियों को आह्निक क्रिया करने की आज्ञा देने पर लोकपालों के साथ इन्द्र भी वहाँ आ गया ॥३८७॥

पत्नियों के साथ मुनि को प्रणाम करके मय आदि से प्रणाम किया गया इन्द्र, सूर्यप्रभ को देखकर क्रोध से बोला—॥३८८॥

'मालूम होता है, यही लड़का है, जो विद्याधर-चक्रवर्ती बनना चाहता है। तो यह इतने थोड़े में ही सन्तुष्ट क्यों हो गया, इन्द्र-पद क्यों नहीं चाहता ?' ॥३८९॥

तब मय ने कहा—'हे देवराज, ईश्वर (शिव) ने तुम्हारे लिए देवताओं का चक्रवर्ती पद और इसके लिए विद्याधरों का चक्रवर्त्ती पद बनाया है' ॥३९०॥

मय के इन वचनों को सुनकर ईर्ष्या से जलता हुआ इन्द्र हँसकर बोला—'इस प्रकार लक्षणोंवाली आकृति के लिए विद्याधर-चक्रवर्त्ती का पद बहुत छोटा है' ॥३९१॥

तब मय ने कहा कि 'जहाँ विद्याधरों का चक्रवर्त्ती श्रुतशर्मा हो सकता है, वहाँ यह आकृति अब निःसन्देह इन्द्र-पद के योग्य है' ॥३९२॥

ऐसा कहते हुए मय पर क्रुद्ध इन्द्र वज्र को उठाकर स्वयं खड़ा हो गया। इतने में ही कश्यप मुनि के क्रोध से हुङ्कार करने पर वह रुका ॥३९३॥

धिक्कार करती हुई और क्रोध से लाल मुखवाली दिति, दनु आदि मुनि-पत्नियाँ भी क्रुद्ध हो उठीं। तब यह देखकर शाप के भय से डरा हुआ इन्द्र भी नीचे मुँह करके वहीं बैठ गया ॥३९४॥

पत्नियों के साथ देवों और असुरों के पिता कश्यप मुनि के चरणों में गिरकर उन्हे प्रसन्न करने के लिए स्तुति करता हुआ इन्द्र बोला—॥३९५॥

'भगवन्, मैंने श्रुतशर्मा को जो विद्याधरों का चक्रवर्त्ती-पद दिया है, उसे यह सूर्यप्रभ हरण करना चाहता है ॥३९६॥

एष च सर्वाकारं मयोऽस्य तत्साधने कृतोद्योगः।
तच्छ्रुत्वा स तमिन्द्रं दितिदनुसहितः प्रजापतिरवोचत् ॥३९७॥
इष्टस्ते श्रुतशर्मा मघवन्सूर्यप्रभश्च शर्वस्य।
न च तस्येच्छामि तथा तेनाज्ञप्तश्च पूर्वमत्र मयः॥३९८॥
तत्त्वं मयस्य किं खलु जल्पसि कथयात्र कोऽपराधोऽस्य।
एष हि धर्मपथस्थो ज्ञानी विज्ञानवान् गुरुप्रणतः[1] ॥३९९॥
भस्माकरिष्यदस्मत्क्रोधाग्निस्त्वामघं व्यधास्यश्चेत्।
न च शक्तस्त्वमिमं प्रति प्रभावमेतस्य किं न जानासि ॥४००॥
इति मुनिनात्र सदारेणोक्ते लज्जाभयानते चेन्द्रे।
अदितिरुवाच स कीदृक्श्रुतशर्मा दर्श्यतामिहानीय ॥४०१॥
एतन्निशम्य शक्रो मातलिमादिश्य तत्क्षणं तत्र।
आनाययति स्म स तं श्रुतशर्माणं नभश्चराधीशम् ॥४०२॥
तं दृष्ट्वा कृतविनतिं वीक्ष्य च सूर्यप्रभं तमप्राक्षुः।
कश्यपमुनिं स्वभार्याः क एतयो रूपलक्षणाढ्य इति ॥४०३॥
अथ स मुनीन्द्रोऽवादीच्छ्रुतशर्मास्यापि न प्रभासस्य।
एतत्सचिवस्य समः किं पुनरेतस्य निरुपमानस्य ॥४०४॥
सूर्यप्रभ एष यतो दिव्यैस्तै रूपलक्षणैर्युक्तः।
यैरस्याध्यवसायं विदधानस्येन्द्रतापि नासुलभा ॥४०५॥
इति कश्यपर्षिवचनं सर्वेऽपि श्रद्दधुस्तथेत्यत्र।
तत एष मयाय वरं ददौ मुनिः शृण्वतो महेन्द्रस्य ॥४०६॥
यत्पुत्र निर्विकारं भवता स्थितमुद्यतायुधेऽपीन्द्रे।
तेनाजरामरोऽङ्गैर्वज्रमयैरक्षतश्च भवितासि ॥४०७॥
एतावपि ते सदृशौ सुनीथसूर्यप्रभौ महासत्त्वौ।
शश्वदपरिभवनीयौ भविष्यतः सकलवैरिवर्गस्य ॥४०८॥
एष सुवासकुमारश्चापद्गजनीषु चिन्तितोपगतः।
साहायकं करिष्यति मत्तनयः शरदिजेन्दुसमकान्तिः[2] ॥४०९॥
इत्युक्तवतोऽस्य मुनेर्भार्या ऋषयश्च लोकपालाश्च।
सदसि मयप्रभृतिभ्यस्तेभ्यः सर्वे वरान् ददुस्तद्वत् ॥४१०॥

---

१. गुरुषु नम्रः। २. शारदचन्द्रसदृशप्रभः।

और यह मय, उसकी सब प्रकार की सहायता के लिए सन्नद्ध है।' यह सुनकर दिति और दनु के साथ प्रजापति कश्यप ने इन्द्र से कहा—'इन्द्र, तुम्हें श्रुतशर्मा प्यारा है, और शिवजी का प्यारा सूर्यप्रभ है। यद्यपि मैं नहीं चाहता, फिर भी शिवजी ने मय को आज्ञा दी है, तो अब तुम्हीं बताओ, इसमें मय का क्या दोष है ? यह मय, धर्म-मार्ग पर चलनेवाला और ज्ञान-विज्ञान-युक्त है और गुरुओं के आगे विनम्र है। यदि तुम इसका अहित करते, तो मेरी क्रोधाग्नि तुम्हें भस्म कर देती! तुम इसके ऊपर अपनी सामर्थ्य नहीं दिखा सकते। क्या तुम इसके प्रभाव को नहीं जानते ? ॥३९७—४००॥

पत्नियों-सहित मुनि के ऐसा कहने पर और इन्द्र के लज्जा से मुँह नीचा कर लेने पर इन्द्र की माता अदिति बोली—'श्रुतशर्मा कैसा है ? उसे लाकर दिखाओ तो सही' ॥४०१॥

ऐसा सुनकर इन्द्र ने मातलि को उसी क्षण वहाँ बुलाकर आज्ञा दी और विद्याधरों के चक्रवर्ती श्रुतशर्मा को वहीं बुलाया। प्रणाम करते हुए श्रुतशर्मा और सूर्यप्रभ को देखकर कश्यप ऋषि की पत्नियों ने कश्यप-प्रजापति से पूछा—'इन दोनों में सुन्दर रूप और लक्षणोंवाला कौन है ?' ॥४०२-४०३॥

तदनन्तर कश्यप मुनि ने कहा—'यह श्रुतशर्मा सूर्यप्रभ के मन्त्री प्रभास के भी समान नहीं है। इस अनुपम सूर्यप्रभ के समान यह कहाँ से हो सकता है' ॥४०४॥

सूर्यप्रभ तो उन लक्षणों से युक्त है, जिनसे कि उद्योग करने पर उसे इन्द्रत्व की प्राप्ति भी दुर्लभ नहीं है' ॥४०५॥

इस प्रकार कश्यप ऋषि के वचन पर सबने श्रद्धा प्रकट की। तब महर्षि ने इन्द्र के सुनते हुए मय को यह वरदान दिया—॥४०६॥

'हे पुत्र, इन्द्र के शस्त्र उठा लेने पर भी तूने जो सहिष्णुता दिखलाई, अर्थात् तनिक भी क्रोध या लेशमात्र भी विकार प्रकट नहीं किया, इस कारण तेरे सभी अंग वज्रमय हो जायेंगे। और तू कभी मारा नहीं जायगा। तेरे ये दोनों पुत्र सुनीथ तथा सूर्यप्रभ भी महाबलशाली और शत्रुओं के लिए सदा अजेय रहेंगे' ॥४०७-४०८॥

यह सुवासकुमार, जो चन्द्रमा के समान सुन्दर मेरा पुत्र है, आपत्ति के समय या रात्रि के समय ध्यान करते ही उपस्थित होकर तुम्हारी सहायता करेगा ॥४०९॥

मुनि के ऐसा कहने पर उनकी पत्नियों, अन्य ऋषियों तथा लोकपालों ने उसी सभा में मय आदि को वरदान दिये ॥४१०॥

४०

अदितिरथ शक्रमवदद्गिरमाविनयात् प्रसादयेन्द्र मयम्।
दृष्टं विनयफलं हि त्वयाद्य यदनेन सद्वराः प्राप्ताः ॥४११॥
तच्छ्रुत्वा मयमिन्द्रः पाणावालम्ब्य तोषयामास।
सूर्यप्रभाभिभूतः श्रुतशर्मा चाभवद्दिनेन्दुनिभः[1] ॥४१२॥
प्रणम्य तमथ क्षणात् सुरपतिर्गुरुं कश्यपं
जगाम स यथागतं निखिललोकपालान्वितः।
मयप्रभृतयोऽपि ते मुनिवरस्य तस्याज्ञया
ततः खलु तदाश्रमात् प्रकृतकार्यसिद्ध्यै ययुः ॥४१३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे सूर्यप्रभलम्बके
द्वितीयस्तरङ्गः

तृतीयस्तरङ्गः

सूर्यप्रभस्योद्योगः

ततो मयसुनीथौ तौ गत्वा सूर्यप्रभश्च सः।
कश्यपस्याश्रमात्तस्मात् सम्प्रापुः सर्व एव ते ॥१॥
सङ्गमं चन्द्रभागाया ऐरावत्याश्च यत्र ते।
स्थिताः सूर्यप्रभस्यार्थे राजानो मित्रबान्धवाः ॥२॥
प्राप्तं सूर्यप्रभं ते च दृष्ट्वा तत्र स्थिता नृपाः।
रुदन्तोऽग्रे समुत्तस्थुर्विषण्णा मरणोन्मुखाः ॥३॥
चन्द्रप्रभादर्शनजां तेषामाशङ्क्य दुःखिताम्।
सूर्यप्रभोऽखिलं तेभ्यो यथावृत्तं शशंस तत् ॥४॥
तथापि विग्नाः पृष्टास्ते तेन कृच्छ्रादवर्णयन्।
तस्य भार्यापहरणं विहितं श्रुतशर्मणा ॥५॥
तत्पराभवदुःखाच्च देहत्यागोद्यमं निजम्।
वारितं दिव्यया वाचा तथैवास्मै न्यवेदयत् ॥६॥
ततः सूर्यप्रभस्तत्र प्रतिज्ञामकरोत् क्रुधा।
यदि ब्रह्मादयः सर्वेऽप्यभिरक्षन्ति तं सुराः ॥७॥

---

१. दिवसे यथा चन्द्रबिम्बं मलिनं भवति, तथा।

तब इन्द्र की माता अदिति ने कहा—'हे इन्द्र, उद्दंडता छोड़ो, मय को प्रसन्न करो। नम्रता के फल को तुमने देखा कि आज मय ने कितने ही अच्छे वर प्राप्त किये' ॥४११॥

यह सुनकर इन्द्र ने मय को हाथों से पकड़कर प्रसन्न किया। उस समय श्रुतशर्मा, सूर्यप्रभ के आगे दिन में निकले हुए चन्द्रमा के समान निष्प्रभ लग रहा था॥ ४१२॥

तदनन्तर, लोकपालों के साथ देवराज इन्द्र ने ऋषि को प्रणाम करके अपने लोक को प्रस्थान किया और मय आदि भी मुनि की आज्ञा से प्रस्तुत कार्य को सफल बनाने के लिए उसके आश्रम से अपने निवासस्थान को चले गये ॥४१३॥

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के
सूर्यप्रभ नामक लम्बक का द्वितीय तरंग समाप्त

तृतीय तरंग

सूर्यप्रभ का उद्योग

तदनन्तर मय, सुनीथ और सूर्यप्रभ ये सभी उस कश्यप-आश्रम से चलकर चन्द्रभागा और इरावती के संगम पर पहुँचे, जहाँ सूर्यप्रभ की प्रतीक्षा में उसके मित्र, बन्धु, ससुर आदि सभी ठहरे हुए थे ॥१-२॥

सूर्यप्रभ को देखकर वहाँ ठहरे हुए सभी राजा और मित्र बन्धु मरने को तैयार होकर रोते हुए उसके सामने आये ॥३॥

चन्द्रप्रभ को न देखने से उसके प्रति बुरी आशंका से दुःखित उन सब को सूर्यप्रभ ने, जो कुछ समाचार था, सब कह सुनाया ॥४॥

इस पर भी अत्यन्त व्याकुल हुए सूर्यप्रभ के उनसे पूछने पर उन्होंने श्रुतशर्मा द्वारा उनकी समस्त मर्यादाओं का अपहरण-वृत्तान्त अत्यन्त कठिनाई से उसे सुनाया ॥५॥

श्रुतशर्मा द्वारा किये गये अपमान से दुःखी होकर अपने मरने का निश्चय और आकाशवाणी द्वारा उसका रोका जाना सब उन्होंने कह सुनाया ॥६॥

यह सब समाचार सुनकर सूर्यप्रभ ने, क्रोध से यह प्रतिज्ञा की कि यदि ब्रह्मा आदि सभी देवता भी श्रुतशर्मा की रक्षा करें, तो भी उस का समूल नाश करूँगा ॥७८॥

तथाप्युन्मूलनीयो मे श्रुतशर्मा स निश्चितम्।
परदारापहरणे छद्मप्रागल्भ्यवाञ्शठः॥८॥
एवं कृतप्रतिज्ञश्च गन्तुं तद्विजयाय सः।
लग्नं निश्चितवान् दृष्टं गणकैः सप्तमेऽह्नि॥९॥
ततस्तं निश्चितं ज्ञात्वा गृहीतविजयोद्यमम्।
द्रढयित्वा पुनर्वाचा प्राह सूर्यप्रभं मयः॥१०॥
सत्यं कृतोद्यमस्त्वं चेत्तद्वदामि मया तदा।
मायां प्रदर्श्य नीत्वा ते पाताले स्थापिताः प्रियाः॥११॥
एवं त्वं विजयोद्योगं करोषि रभसादिति।
नैवमेव तथा ह्यग्निर्ज्वलेद्वातेरितो यथा॥१२॥
तदेहि यामः पातालं प्रियास्ते दर्शयामि ताः।
एवं मयवचः श्रुत्वा ननन्दुः सर्व एव ते॥१३॥
प्राक्तनेन च तेनैव प्रविश्य विवरेण ते।
जग्मुश्चतुर्थं पातालं मयासुरपुरःसराः॥१४॥
तत्रैकतो वासगृहान्मयः सूर्यप्रभाय ताः।
भार्या मदनसेनाद्या आनीयासौ समर्पयत्॥१५॥
गृहीत्वा तास्तथान्याश्च पत्नीस्ताः सोऽसुरात्मजाः।
ययौ सूर्यप्रभो द्रष्टुं प्रह्लादं मयवाक्यतः॥१६॥
मयाच्छ्रुतवरप्राप्तिः प्रणतं तं च सोऽसुरः।
आत्तायुधोऽथ जिज्ञासुः कृतकक्रोधमभ्यधात्॥१७॥
श्रुतं मया दुराचार यत्कन्या द्वादश त्वया।
भ्रात्रार्जिता मेऽपहृतास्तत्त्वां हन्म्येष पश्य माम्॥१८॥
तच्छ्रुत्वा निर्विकारस्तं पश्यन् सूर्यप्रभोऽब्रवीत्।
मच्छरीरं त्वदायत्तमविनीतं प्रशाधि माम्॥१९॥
इत्युक्तवन्तं प्रह्लादो विहस्य तमुवाच सः।
प्रेक्षितोऽसि मया यावद्दर्पलेशोऽपि नास्ति ते॥२०॥
वरं गृहाण तुष्टोऽस्मीत्युक्तस्तेन तथेति सः।
भक्तिं गुरुषु शम्भौ च वव्रे सूर्यप्रभो वरम्॥२१॥
ततस्तुष्टेषु सर्वेषु तस्मै सूर्यप्रभाय सः।
प्रह्लादो यामिनीं नाम द्वितीयां तनयां ददौ॥२२॥

यह मेरा दृढ़ निश्चय है। दूसरों की स्त्रियों का अपहरण करने में वीरता दिखानेवाला वह महान् दुष्ट है ॥८॥

ऐसी प्रतिज्ञा करके उस पर विजय प्राप्त करने को जाने के निमित्त उसने ज्योतिषियों से सातवें दिन लग्न (मुहूर्त्त) निश्चित किया ॥९॥

तब विजय के लिए उद्योग करते हुए सूर्यप्रभ का दृढ़ निश्चय देखकर उसे अपनी वाणी से और भी दृढ़ करके मय ने सूर्यप्रभ से कहा—॥१०॥

'यदि तुम सचमुच युद्ध के लिए प्रयत्नशील हो, तो मैं कहता हूँ कि मैंने ही अपनी माया दिखाकर तुम्हारी स्त्रियों को पाताल में रख लिया है ॥११॥

ऐसा करने से ही तुम जोश के साथ विजय का उद्योग करोगे, इसीलिए मैंने ऐसा किया था। आग वैसे उतना ही प्रचंड रूप धारण नहीं करती, जैसी वायु से प्रेरित होकर धधकती है' ॥१२॥

मय की ऐसी बातें सुनकर सभी लोग आनन्द से प्रसन्न हुए। तब मय ने कहा—'तुम पाताल में आओ। मैं तुम्हारी पत्नियों को दिखाता हूँ।' तदनन्तर मयासुर के साथ वे उसी पुराने मार्ग से चौथे पाताल में गये ॥१३-१४॥

वहाँ जाकर एक मकान से मय ने उसकी मदनसेना आदि सभी स्त्रियों को लाकर उसे सौंप दिया ॥१५॥

उन सब पत्नियों तथा असुर-पत्नियों को साथ लेकर मय से प्रेरित सूर्यप्रभ आदि प्रह्लाद का दर्शन करने गये ॥१६॥

मय से कश्यप द्वारा वर-प्राप्ति का समाचार सुनकर असुरराज प्रह्लाद ने शस्त्र उठाकर सूर्यप्रभ की परीक्षा के लिए बनावटी क्रोध करते हुए कहा—॥१७॥

'अरे पापी, मैंने सुना है कि तूने मेरे भाई द्वारा अपहरण करके लाई गई उन बारह कन्याओं का अपहरण कर लिया है, इसलिए मैं तेरा वध करता हूँ' ॥१८॥

यह सुनकर विना किसी प्रकार का विकार दिखाये सूर्यप्रभ ने कहा—'मेरा शरीर आपके अधीन है। अतः, आप मुझ उद्दंड पर शासन कीजिए' ॥१९॥

ऐसा कहते हुए सूर्यप्रभ से प्रह्लाद ने हँसकर कहा—'मैंने तेरी परीक्षा की है, तुझमें घमंड का लेश भी नहीं है। वर माँग, मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ।' तब सूर्यप्रभ ने 'गुरुजनों और शिव में भक्ति बनी रहे', यह वर माँगा ॥२०-२१॥

तब सबके सन्तुष्ट हो जाने पर प्रसन्न प्रह्लाद ने यामिनी नाम की दूसरी कन्या भी सूर्यप्रभ को दे दी ॥२२॥

सहायत्वे च पुत्रौ द्वौ तस्यादात्सोऽसुरेश्वरः।
ततः सर्वैः सहामीलपार्श्वं सूर्यप्रभो ययौ ॥२३॥
सोऽपि श्रुतवरप्राप्तितुष्टस्तस्मै सुखावतीम्।
ददौ द्वितीयां तनयां साहाय्ये च सुतद्वयम् ॥२४॥
ततः सभाजयन्नन्यान् साहाय्यायासुराधिपान् ॥
स्थितः सूर्यप्रभः सोऽत्र तेष्वहःसु प्रियासखः ॥२५॥
तिस्रः सुनीथभार्याश्च स्वभार्याश्च नृपात्मजाः।
सर्वाः सगर्भाः सञ्जाता मयादिसहितोऽशृणोत् ॥२६॥
पृष्टाश्च दोहदं तुल्यं शशंसुरखिला अपि।
महाहवदिदृक्षां ता ननन्दाथ मयासुरः ॥२७॥
एतासु दिष्ट्या सम्भूता असुरा ये पुरा हताः।
तेन जातोऽभिलाषोऽयमेतासामिति सोऽवदत् ॥२८॥
एवं ययुः षड्दिवसाः सप्तमे ते रसातलात्।
भार्यादियुक्ता निर्जग्मुः सर्वे सूर्यप्रभादयः ॥२९॥
उत्पातमाया विघ्नाय या तेषां दर्शितारिभिः।
सा सुवासकुमारेण स्मृतायातेन नाशिता ॥३०॥
ततश्चान्द्रप्रभं पृथ्वीराज्ये रत्नप्रभं शिशुम्।
अभिषिच्य समारूढभूतासनविमानकाः ॥३१॥
सर्वे विद्याधरेन्द्रस्य सुमेरोस्ते निकेतनम्।
ययुर्मयगिरा पूर्वगङ्गातीरतपोवनम् ॥३२॥
तत्र तान् सौहृदप्राप्तान् स सुमेरुरपूजयत्।
मयोक्ताशेषवृत्तान्तः पूर्वाज्ञां शम्भवीं स्मरन् ॥३३॥
तद्देशस्थाश्च ते स्वं स्वं सैन्यं सूर्यप्रभादिकाः।
कार्त्स्न्येनानाययामासुर्बन्धूंश्च सुहृदस्तथा ॥३४॥
आययुः प्रथमं सूर्यप्रभस्य श्वशुरात्मजाः।
राजपुत्रा मयादिष्टा विद्याः संसाध्य सोद्यमाः ॥३५॥
तेषां हरिभटादिनां षोडशानां रथायुतम्।
द्वे चायुते पदातीनामेकैकस्यानुगं बलम् ॥३६॥
तदनु स्थितसङ्केता आजग्मुर्दैत्यदानवाः।
श्वशुर्याः श्वशुरा मित्राण्यन्ये चैतस्य बान्धवाः ॥३७॥

और, युद्ध में उसकी सहायता के लिए अपने दो पुत्र भी प्रदान किये। तदनन्तर, सूर्यप्रभ सबके साथ अमील के पास गया ॥२३॥

उसने भी वर-प्राप्ति का समाचार जानकर प्रसन्न होकर अपनी दूसरी कन्या सुखावती का विवाह भी सूर्यप्रभ से कर दिया और युद्ध में सहायता के लिए उसने भी अपने दो पुत्र सूर्यप्रभ को दिये ॥२४॥

तदनन्तर, अन्यान्य असुर-सरदारों की सहायता के लिए सम्मान प्रकट करता हुआ सूर्यप्रभ पत्नियों के साथ वहाँ (पाताल में) कुछ दिन रह गया ॥२५॥

तब मय आदि के साथ सूर्यप्रभ ने सुना कि सुनीथ की तीनों स्त्रियाँ और उसकी सभी स्त्रियाँ गर्भवती हो गई हैं ॥२६॥

दोहद के लिए पूछने पर सबने एक ही इच्छा प्रकट की कि हम लोग महायुद्ध देखना चाहती हैं। यह सुनकर मयासुर प्रसन्न हुआ ॥२७॥

और, बोला कि जो असुर पहले देव-दानव-युद्ध में मारे गये थे, वे सब अब इनके गर्भ में आ गये हैं ॥२८॥

इस प्रकार छह दिन व्यतीत हो गये और सातवें दिन मय, सूर्यप्रभ आदि स्त्रियों के साथ रसातल से बाहर निकलकर गुफा के द्वार पर आये ॥२९॥

उनके आते ही विद्याधरों ने उसकी तैयारी में विघ्न करने के लिए जो मायाजन्य उत्पात दिखलाये थे, उन्हें स्मरण-मात्र से वहाँ आये हुए सुवासकुमार ने नष्ट कर दिया ॥३०॥

तदनन्तर, राजा चन्द्रप्रभ के दूसरे पुत्र रत्नप्रभ को पृथ्वी के राज्य पर प्रतिष्ठित कर मय, सूर्यप्रभ आदि भूतासन नामक विमान पर बैठकर सभी विद्याधरों के राजा सुमेरु के घर पर गये। वहाँ से मय के कथनानुसार वे पहले गंगातट के तपोवन में गये ॥३१-३२॥

वहाँ तपोवन में मित्र-भाव से आये हुए उनका सुमेरु ने हार्दिक स्वागत-सम्मान किया। मय ने उसे पहले का सभी वृत्तान्त सुना दिया था और उसने भी पहले से प्राप्त शिवजी की आज्ञा का स्मरण किया ॥३३॥

उसी स्थान पर रहते हुए सूर्यप्रभ ने अपने मित्रों, बन्धुओं और सेनाओं को कठिनाई से एकत्र किया ॥३४॥

वहाँ सबसे पहले विद्याओं को सिद्ध करके मय द्वारा प्रेरित होकर सेना-सहित सूर्यप्रभ के साले आये ॥३५।

वे हरिभट आदि सोलह थे, जिनमें एक-एक के साथ दस-दस हजार रथ और बीस-बीस हजार पैदल सिपाही थे ॥३६॥

उसके बाद पूर्व निश्चयानुसार सूर्यप्रभ के श्वशुर, साले तथा अन्यान्य सम्बन्धी दैत्य-दानव आये ॥३७॥

हृष्टरोमा महामायः सिंहदंष्ट्रः प्रकम्पनः।
तन्तुकच्छो दुरारोहः सुमायो वज्रपञ्जरः॥३८॥
धूमकेतुः प्रमथनो विकटाक्षश्च दानवः।
बहवोऽन्येऽपि चाजग्मुरासप्तमरसातलात्॥३९॥
कश्चिद्रथानामयुतैः सप्तभिः कश्चिदष्टभिः।
कश्चित्षड्भिस्त्रिभिः कश्चिद्योऽतिस्वल्पोऽयुतेन सः॥४०॥
पदातीनां त्रिभिर्लक्षैः कश्चिल्लक्षद्वयेन च।
कश्चित्कश्चित्तु लक्षेण लक्षार्धेनाधमस्तु यः॥४१॥
एकैकस्य च हस्त्यश्वमागात्तदनुसारतः।
असंख्यमाययौ चान्यत् सैन्यं मयसुनीथयोः॥४२॥
सूर्यप्रभस्य चामेयमाजगाम निजं बलम्।
वसुदत्तादिभूपानां सुमेरोश्च तथैव च॥४३॥
ततो मयासुरोऽपृच्छच्चिन्तितोपस्थितं मुनिम्।
तं सुवासकुमाराख्यं सह सूर्यप्रभादिभिः॥४४॥
विक्षिप्त[1]मेतद् भगवन् सैन्यं नेहोपलक्ष्यते।
तद् ब्रूहि कुत्र विस्तीर्णं युगपद्दृश्यतामिति॥४५॥
इतो योजनमात्रेऽस्ति कलापग्रामसंज्ञकः।
प्रदेशस्तत्र विस्तीर्णे गत्वैतत्प्रविलोक्य ताम्॥४६॥
इत्युक्ते तेन मुनिना तद्युक्ताः ससुमेरुकाः।
ययुः कलापग्रामं तं सर्वे ते स्वबलैः सह॥४७॥
तत्रोन्नतस्थानगता ददृशुस्ते पृथक् पृथक्।
संनिवेश्यासुराणां च नृपाणां च वरूथिनीः॥४८॥
ततः सुमेरुराह स्म श्रुतशर्मा बलाधिकः।
सन्ति विद्याधराधीशास्तस्य ह्येकोत्तरं शतम्॥४९॥
तेषां च पृथगेकैको राज्ञां द्वात्रिंशतः पतिः।
तदस्तु भित्त्वा कांश्चित्तान्मेलयिष्याम्यहं तव॥५०॥
तत्प्रातरेतद्गच्छामः स्थानं वल्मीकसंज्ञितम्।
फाल्गुनस्यासिता प्रातरष्टमी हि महातिथिः॥५१॥

---

१. इतस्ततः प्रसृतम्।

उनके नाम थे—हृष्टरोमा, महामाय, सिंहदंष्ट्र, प्रकम्पन, तन्तुकच्छ, दुरारोह, सुमाय, वज्रपंजर, धूमकेतु, प्रमथन, विकटाक्ष आदि। इनके अतिरिक्त सातवें पाताल-पर्यन्त से अनेक दानव और असुर आये ॥३८-३९॥

किसी के साथ दस हजार, किसी के साथ आठ हजार और किसी के साथ सात हजार रथ थे और कोई अपने साथ छह लाख, कोई तीन लाख और कोई कम-से-कम दस हजार पैदल सिपाहियों को लेकर वहाँ आया। इसी के अनुसार एक-एक के साथ हाथी और घोड़े भी असंख्य थे। मय और सुनीथ की असंख्य सेना भी इसी प्रकार उसमें सम्मिलित हो गई ॥४०-४२॥

इसके अतिरिक्त सूर्यप्रभ की असंख्य सेना, इसी प्रकार वसुदत्त आदि की सेनाएँ तथा सुमेरु विद्याधरराज की विद्याधर-सेनाएँ भी वहाँ एकत्र हुईं ॥४३॥

तब मयासुर ने ध्यान करते ही उपस्थित सुवासकुमार से सूर्यप्रभ आदि के साथ कहा—॥४४॥

'भगवन्, यह इधर-उधर बिखरी हुई सेना एक साथ नहीं दीख रही है। अतः, यह बताइए कि फैली हुई सेना को एक साथ कहाँ से देखें ॥४५॥

मुनि ने कहा—'यहाँ से एक योजन (चार कोस) पर कलाप ग्राम नामक विस्तृत भू-भाग है। वहाँ जाकर इसका विस्तार देखो' ॥४६॥

सुवासकुमार मुनि के ऐसा कहने पर सुमेरु के साथ वे सभी अपनी-अपनी सेनाओं को लेकर कलाप ग्राम में गये ॥४७॥

वहाँ ऊँचे स्थान पर जाकर असुरों और राजाओं की सेनाओं को वे अलग-अलग देख सके ॥४८॥

तब सुमेरु ने कहा—'श्रुतशर्मा अब भी हमसे सेना की दृष्टि से अधिक है। उसके अधीन एक से अधिक सौ (एक सौ एक) विद्याधरों के राजा हैं ॥४९॥

उनमें से एक-एक बत्तीस-बत्तीस सरदारों का स्वामी है; किन्तु मैं उनमें से कुछ को फोड़कर अपनी ओर मिला लूँगा ॥५०॥

इसलिए, प्रातःकाल ही वल्मीक नामक स्थान पर जायेंगे; क्योंकि कल प्रातःकाल फाल्गुन मास की कृष्णाष्टमी नामक महातिथि है ॥५१॥

तस्यां चोत्पद्यते तत्र लक्षणं चक्रवर्तिनः।
तूर्णं विद्याधरा यान्ति तत्कृते चात्र तां तिथिम् ॥५२॥
एवं सुमेरुणा प्रोक्ते सैन्यसंविधिना दिनम्।
नीत्वा प्रातर्ययुस्तत्ते वल्मीकं सबला रथैः ॥५३॥
तत्र ते दक्षिणे सानौ हिमाद्रेर्निनदद्बलाः।
निविष्टा ददृशुः प्राप्तान् बहून् विद्याधराधिपान् ॥५४॥
ते च विद्याधरास्तत्र कुण्डेष्वादीपितानलाः।
होमप्रवृत्ता अभवञ्जपव्यग्राश्च केचन ॥५५॥
ततः सूर्यप्रभोऽप्यत्र वह्निकुण्डं महद्व्यधात्।
स्वयं जज्वाल तत्राग्निस्तस्य विद्याप्रभावतः ॥५६॥
तद्दृष्ट्वा तुष्टिरुत्पेदे सुमेरोर्मत्सरः पुनः।
विद्याधराणामुदभूत्तदैकस्तमभाषत ॥५७॥
विद्याधरेन्द्रतां त्यक्त्वा धिक्सुमेरोऽनुवर्तसे।
सूर्यप्रभाभिधमिमं कथं धरणिगोचरम्[1] ॥५८॥
तच्छ्रुत्वा स सुमेरुस्तं सकोपं निरभर्त्सयत्।
सूर्यप्रभं च तन्नाम पृच्छन्तमिदमब्रवीत् ॥५९॥
अस्ति विद्याधरो भीमनामा तस्य च गेहिनीम्।
ब्रह्माकामयत स्वैरं तत एषोऽभ्यजायत ॥६०॥
गुप्तं यद्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मगुप्तस्तदुच्यते।
अत एवैतदेतस्य स्वजन्मसदृशं वचः[2] ॥६१॥
इत्युक्त्वाकारि तेनापि वह्निकुण्डं सुमेरुणा।
ततः सूर्यप्रभस्तेन सहाहौषीद्धुताशनम् ॥६२॥
क्षणाच्च भूमिविवरादुज्जगामातिभीषणः।
. . . .[3]कस्मादजगरो महान् ॥६३॥
तं ग्रहीतुमधावत्स विद्याधरपतिर्मदात्।
ब्रह्मगुप्ताभिधानोऽथ सुमेरुर्येन गर्हितः ॥६४॥
स तेनाजगरेणात्र मुखफूत्कारवायुना।
नीत्वा हस्तशते क्षिप्तो न्यपतज्जीर्णपर्णवत् ॥६५॥

---

१. मर्त्यं मानुषमित्यर्थः। २. सक्रूरत्वात् क्रूरं वदति। ३. मूलपुस्तके पादार्धं त्रुटितमस्ति।

इस तिथि में विद्याधर-चक्रवर्ती के लक्षण प्रकट होते हैं। इसलिए, सभी विद्याधर इस तिथि को वहाँ जाते हैं ॥५२॥

सुमेरु के इस प्रकार कहने पर वे सब उस दिन सेना का प्रबन्ध करके प्रातःकाल ही सेनाओं के साथ रथों द्वारा वल्मीक ग्राम को गये ॥५३॥

हिमालय के उस दक्षिण शिखर पर सेनाओं के कोलाहल के साथ उन लोगों ने बहुत-से विद्याधरों को देखा ॥५४॥

वे विद्याधर वहाँ कुंडों में अग्नि जलाकर हवन करने में लग गये और बहुत-से विद्याधर जप करने लगे ॥५५॥

तब सूर्यप्रभ ने भी वहाँ एक विशाल अग्निकुंड बनवाया। उसमें उसकी विद्या के प्रभाव से स्वयं ही अग्नि जल उठी ॥५६॥

यह सुनकर सुमेरु को अत्यन्त सन्तोष हुआ और विद्याधर ईर्ष्या से जल उठे। तदनन्तर, उनमें से एक ने कहा—'हे सुमेरु, तुम्हें धिक्कार है कि तुम विद्याधरों का राजत्व छोड़कर सूर्यप्रभ मनुष्य का अनुसरण कर रहे हो ॥५७-५८॥

यह सुनकर क्रुद्ध सुमेरु ने उसे खूब फटकारा और सूर्यप्रभ द्वारा उसका नाम पूछे जाने पर सुमेरु ने कहा—भीम नाम का एक विद्याधर है, उसकी पत्नी की ब्रह्मा ने कामना की थी, उसी से यह उत्पन्न हुआ है, चूँकि ब्रह्मा के साथ गुप्त रूप से व्यभिचार करने पर यह उत्पन्न हुआ है, इसी से इसका नाम ब्रह्मगुप्त है। इसलिए, अपने जन्म के समान ही वचन यह बोल रहा है ॥५९-६१॥

ऐसा कहकर सुमेरु ने भी अग्निकुंड बनवाया, तब सूर्यप्रभ ने उसके साथ ही अग्नि में हवन किया ॥६२॥

क्षण-भर में ही पृथ्वी के एक छिद्र से एक भीषण और विशाल अजगर निकला, उसे देखकर वह ब्रह्मगुप्त नामक विद्याधरों का राजा घमंड के साथ उसे पकड़ने के लिए दौड़ा, जिसने सुमेरु की निन्दा की थी ॥६३-६४॥

उसे अजगर ने अपनी एक फुफकार से ही सूखे पत्ते की तरह सौ हाथ दूर फेंक दिया ॥६५॥

ततस्तेजःप्रभो नाम तं जिघृक्षुरुपागमत्।
सर्पं विद्याधराधीशः सोऽप्यक्षेपि तथामुना ॥६६॥
ततस्तं दुष्टदमनो नाम विद्याधरेश्वरः।
उपागात्सोऽपि निःश्वासेनान्यवत्तेन चिक्षिपे ॥६७॥
ततो विरूपशक्त्याख्यः खेचरेन्द्रस्तमभ्यगात्।
सोऽपि तेन तथैवास्तः[1] श्वासेन तृणहेलया ॥६८॥
अथाभ्यधावतां तद्वदङ्गारकविजृम्भकौ।
राजानौ युगपत्तौ च दूरे श्वासेन सोऽक्षिपत् ॥६९॥
एवं विद्याधराधीशाः क्रमात्सर्वेऽपि तेन ते।
क्षिप्ताः कथञ्चिदुत्तस्थुरङ्गैरश्मावचूर्णितैः[2] ॥७०॥
ततो दर्पेण तं सर्पं श्रुतशर्माभ्युपेयिवान्।
जिघृक्षुः सोऽपि तेनात्र चिक्षिपे श्वासमारुतैः ॥७१॥
अदूरपतितः सोऽथ पुनरुत्थाय धावितः।
तेन दूरतरं नीत्वा श्वासेनाक्षेपि भूतले ॥७२॥
विलक्षे चूर्णिताङ्गेऽस्मिन्नुत्थिते श्रुतशर्मणि।
सूर्यप्रभोऽहेर्ग्रहणे प्रेषितोऽभूत्सुमेरुणा ॥७३॥
पश्यतैषोऽप्यजगरं ग्रहीतुमिममुत्थितः।
अहो इमे निर्विचारा मर्कटा इव मानुषाः ॥७४॥
अन्येन क्रियमाणं यत्पश्यन्त्यनुहरन्ति तत्।
इति विद्याधराः सूर्यप्रभं ते जहसुस्तदा ॥७५॥
तेषां प्रहसतामेव गत्वा सूर्यप्रभेण सः।
स्तिमितास्यो गृहीतश्च कृष्टश्चाजगरो बिलात् ॥७६॥
तत्क्षणं प्रतिपेदे स भुजगस्तूणरत्नताम्।
मूर्ध्नि सूर्यप्रभस्यापि पुष्पवृष्टिर्दिवोऽपतत् ॥७७॥
सूर्यप्रभाक्षयं तूणरत्नं सिद्धमिदं तव।
तद्गृहाणैतदित्युच्चैर्दिव्या वागुदभूत्तदा ॥७८॥
ततो विद्याधरा ग्लानिं ययुः सूर्यप्रभोऽग्रहीत्।
तूणं मयसुनीथौ च सुमेरुश्चाभजन्मुदम् ॥७९॥

---

१. निक्षिप्तः; असु क्षेपणे धातुः। २. प्रस्तराघातेन भग्नैः।

तेजप्रभ नामक विद्याधरों का राजा उसे पकड़ने के लिए उठा, उसे भी अजगर ने फूँक से दूर फेंक दिया ॥६६॥

तब दुष्टदमन नामक विद्याधर उसे पकड़ने गया, उसे भी अजगर ने दूसरों के समान ही दूर फेंक दिया ॥६७॥

तदनन्तर, विरूपशक्ति नामक विद्याधरराज उसकी ओर गया और उसे भी उसने तिनके के समान दूर फेंक दिया ॥६८॥

इस प्रकार, वहाँ उपस्थित सभी विद्याधरों के राजाओं के उसे पकड़ने का प्रयत्न करने पर उसने सभी को श्वास के झोंकों से ऐसा पटका कि उनके अंग पत्थरों से टकराकर चूर हो गये और किसी भी तरह वे फिर उठ न सके। इसके पश्चात् श्रुतशर्मा बड़े अभिमान से सर्प की ओर दौड़ा और उसे भी सर्प ने अपने श्वास से बहुत दूर फेंक दिया। पत्थरों की टक्कर से चूर-चूर हुए अंगों-वाले और लज्जित श्रुतशर्मा के फेंके जाने पर सुमेरु ने सूर्यप्रभ को उसे पकड़ने के लिए भेजा। 'देखो, यह भी इस सर्प को पकड़ने के लिए उठा है। ये मनुष्य बन्दरों की भाँति विचारहीन होते हैं। दूसरों से जो कुछ भी किया जाता है, उसकी ये नकल करते हैं।' इस प्रकार, कहते हुए सभी विद्याधर राजा सूर्यप्रभ की हँसी उड़ाने लगे ॥६९-७५॥

उनके हँसते हुए ही सूर्यप्रभ ने मुँह बन्द किये हुए उस अजगर को पकड़ लिया और बिल से बाहर खींच लिया ॥७६॥

उसी समय वह सर्प तरकस बन गया और सूर्यप्रभ के सिर पर आकाश से पुष्पवर्षा हुई ॥७७॥

तदनन्तर आकाशवाणी हुई—'हे सूर्यप्रभ, तुम्हारे लिए यह तूणीर-रत्न सिद्ध हो गया, इसे ग्रहण करो' ॥७८॥

तब सभी विद्याधर, मलिन और लज्जित हो गये। सूर्यप्रभ ने उसे स्वीकार कर लिया। मय, सुनीथ, सुमेरु आदि अति प्रसन्न हुए ॥७९॥

श्रुतशर्मणि यातेऽथ विद्याधरबलान्विते।
एत्य सूर्यप्रभं दूतस्तदीय इदमभ्यधात् ॥८०॥
त्वां समादिशति श्रीमाञ्च्छ्रुतशर्मा प्रभुर्यथा।
समर्पयैतत्तूणं मे कार्यं चेज्जीवितेन ते ॥८१॥
सूर्यप्रभोऽथ प्रत्याह दूतेदं ब्रूहि गच्छ तम्।
स्वदेह एव भविता तूणस्ते मच्छरावृतः ॥८२॥
एतत्प्रतिवचः श्रुत्वा गते दूते पराङ्मुखे।
प्राहसन् रभसोक्तिं तां सर्वे ते श्रुतशर्मणः ॥८३॥
सूर्यप्रभोऽथ सानन्दमाश्लिष्योचे सुमेरुणा।
दिष्ट्याद्य शाम्भवं वाक्यं फलितं तदसंशयम् ॥८४॥
तूणरत्ने हि सिद्धेऽस्मिन्सिद्धा ते चक्रवर्तिता।
तदेहि साधयेदानीं धनूरत्नं निराकुलः ॥८५॥
एतत्सुमेरोः श्रुत्वा ते तस्मिन्नेवाग्रयायिनि।
सूर्यप्रभादयो जग्मुर्हेमकूटाचलं ततः ॥८६॥
पार्श्वे तस्योत्तरे ते च मानसाख्यं सरोवरम्।
प्रापुः समुद्रनिर्माणे विधातुरिव वर्णकम् ॥८७॥
मुखानि दिव्यनारीणां क्रीडन्तीनां जलान्तरे।
निह्नुवानं मरुद्धूतैरुत्फुल्लैः कनकाम्बुजैः ॥८८॥
आलोकयन्ति यावच्च सरसस्तस्य ते श्रियम्।
तावत्तत्राययुः सर्वे श्रुतशर्मादयोऽपि ते ॥८९॥
ततः सूर्यप्रभस्ते च होमं चक्रुर्घृताम्बुजैः।
क्षणाच्चात्रोदगाद्घोरो मेघस्तस्मात् सरोवरात् ॥९०॥
स व्याप्य गगनं मेघो महद्वर्षमवासृजत्।
तन्मध्ये च पपातैको नागः कालोऽम्बुदात्ततः ॥९१॥
सुमेरुवाक्याच्चोत्थाय गाढं सूर्यप्रभेण यत्।
गृहीतो विध्यमानोऽपि तत्स नागो भवद्धनुः ॥९२॥
तस्मिन् धनुष्ट्वमापन्ने द्वितीयोऽभ्रात्ततोऽपतत्।
नागो विषाग्निवित्रासनश्यन्निःशेषखेचरः ॥९३॥
सोऽपि सूर्यप्रभेणात्र गृहीतस्तेन पूर्ववत्।
धनुर्गुणत्वं सम्प्राप मेघश्चाशु ननाश सः ॥९४॥

तब विद्याधरों की सेना के साथ श्रुतशर्मा के चले जाने पर उसका दूत आकर सूर्यप्रभ से इस प्रकार बोला—॥८०॥

'जैसा कि हमारे स्वामी श्रुतशर्मा तुमको आज्ञा देते हैं कि यदि तुझे अपने जीवन से कार्य है, तो इस तरकस को मुझे दे दे' ॥८१॥

तब सूर्यप्रभ ने उत्तर दिया,—'दूत, उससे जाकर कह दो कि मेरे बाणों से छिदा हुआ तेरा शरीर ही तरकस बन जायगा' ॥८२॥

उत्तर सुनकर दूत के चले आने पर वे सब श्रुतशर्मा की मूर्खता-पूर्ण बातों पर हँसने लगे ॥८३॥

तब सुमेरु ने सूर्यप्रभ का आलिंगन करके उससे कहा—'भाग्य से ही आज शिवजी की बात निःसन्देह सफल हुई ॥८४॥

इस तूणीर-रत्न के सिद्ध हो जाने पर तेरी चक्रवर्तिता सिद्ध हुई। अब आओ, धनुष-रत्न को सिद्ध करें' ॥८५॥

सुमेरु के वचन सुनकर और उसी के आगे-आगे चलने पर सूर्यप्रभ आदि उसके पीछे-पीछे वहाँ से हेमकूट पर्वत पर गये ॥८६॥

वे उसके समीप ही उत्तर की ओर मानस-सरोवर पर पहुँचे, जो सरोवर समुद्र के निर्माण के लिए मानों ब्रह्मा का साधन हो ॥८७॥

जलक्रीडा करती हुई देवांगनाओं के मुखों से मानों वह सरोवर खिले हुए स्वर्ण-कमलों से अपने को छिपा रहा था ॥८८॥

जबतक वे लोग मानस-सरोवर की शोभा देखते हैं, तबतक श्रुतशर्मा आदि विद्याधर वहाँ आ गये ॥८९॥

तब सूर्यप्रभ और वे सब विद्याधर घृत और कमलों से हवन करने लगे। उसी क्षण उस सरोवर से एक भयानक बादल निकला ॥९०॥

वह मेघ, आकाश में जाकर घोर वर्षा करने लगा, उसी वर्षा में मेघ से एक भीषण काला नाग गिरा ॥९१॥

सूर्यप्रभ के कहने पर सुमेरु ने उसे कसकर पकड़ा। बाणों से बींधा जाता हुआ भी वह काला नाग उसी क्षण धनुष बन गया ॥९२॥

उस नाग के धनुष बन जाने पर दूसरा नाग फिर गिरा, उसके मुख से निकलते हुए विष और आग की लपटों के भय से सभी आकाशचारी विद्याधर भयभीत हो, काँपने लगे ॥९३॥

पहले नाग के समान ही उस नाग के भी सूर्यप्रभ द्वारा पकड़े जाने पर वह (नाग) धनुष की डोरी बन गया और वह मेघ भी नष्ट हो गया ॥९४॥

सूर्यप्रभामितबलं सिद्धमेतद्धनुस्तव।
अच्छेद्यश्च गुणोऽप्येष रत्ने एते गृहाण तत् ॥९५॥
इत्यश्रावि च वाग्दिव्या पुष्पवृष्टिपुरःसरा।
सूर्यप्रभश्च सगुणं धनूरत्नं तदग्रहीत् ॥९६॥
श्रुतशर्माप्यगाद्भिन्नः सानुगः स तपोवनम्।
सूर्यप्रभोऽथ सर्वे च हर्षमापुर्मयादयः ॥९७॥
पृष्टोऽथ धनुरुत्पत्तिं तैः सुमेरुरुवाच सः।
इह कीचकवेणूनां दिव्यमस्ति वनं महत् ॥९८॥
ततो ये कीचकाश्छित्वा क्षिप्यन्तेऽत्र सरोवरे।
महान्त्येतानि दिव्यानि सम्पद्यन्ते धनूंषि ते ॥९९॥
साधितानि च तान्येव देवैस्तैस्तैः पुरातनैः।
असुरैरथ गन्धर्वैस्तथा विद्याधरोत्तमैः ॥१००॥
भिन्नानि तेषां नामानि चक्रवर्त्तिधनूंषि तु।
अत्रामृतबलाख्यानि निक्षिप्तानि पुरा सुरैः ॥१०१॥
तानि चैतैः परिक्लेशैः सिध्यन्ति शुभकर्मणाम्।
केषाञ्चिदीश्वरेच्छातो भविष्यच्चक्रवर्त्तिनाम् ॥१०२॥
तच्च सूर्यप्रभस्यैतत् सिद्धमद्य महद्धनुः।
स्वोचितानि वयस्यास्तत् साधयन्त्वस्य तान्यमी ॥१०३॥
येषां हि सिद्धविद्यानां वीराणामस्ति योग्यता।
यथानुरूपं भव्यानां सिध्यन्त्यद्यापि तानि हि ॥१०४॥
एतत् सुमेरुवचनं श्रुत्वा सूर्यप्रभस्य ते।
वयस्याः कीचकवनं तत् प्रभासादयो ययुः ॥१०५॥
तद्रक्षकं च राजानं चण्डदण्डं विजित्य ते।
आनीय कीचकांस्तत्र निदधुः सरसोऽन्तरे ॥१०६॥
तत्तीरोपोषितानां च जपतां जुह्वतां तथा।
सिध्यन्ति स्म धनूंष्येषां सप्ताहात् सत्त्वशालिनाम् ॥१०७॥
प्राप्तैस्तैरुक्तवृत्तान्तैर्मयाद्यैश्च सहाथ सः।
आगात् सूर्यप्रभस्तावत् तत् सुमेरोस्तपोवनम् ॥१०८॥
तत्रोवाच सुमेरुस्तं जितो वेणुवनेश्वरः।
त्वन्मित्रैश्चण्डदण्डो यदजेयोऽपि तदद्भुतम् ॥१०९॥

'सूर्यप्रभ, यह अनन्त बलशाली धनुष-रत्न तुझे सिद्ध हो गया और इसके साथ कभी न टूटनेवाली डोरी भी तुझे प्राप्त हो गई। ये दोनों रत्न तुझे सिद्ध हुए, अब इन्हें स्वीकार कर' ॥९५–९६॥

इस प्रकार की आकाशवाणी सुनकर सूर्यप्रभ ने उन दोनों रत्नों को ग्रहण कर लिया और श्रुतशर्मा भी व्याकुल होकर अपने अनुचरों के साथ निराश होकर तपोवन को चला गया। तदनन्तर मय, सुनीथ, सूर्यप्रभ आदि सभी प्रसन्न हुए ॥९७॥

उस धनुष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सुमेरु ने कहा—'यहाँ पर वायु से शब्द करनेवाले बाँसों का एक महान् और दिव्य जंगल है, उससे काटकर जो बड़े-बड़े बाँस इस सरोवर में फेंके जाते हैं, वे सभी दिव्य धनुष बन जाते हैं। उन्हीं धनुषों को पहले समय में देवताओं ने, असुरों ने, गन्धर्वों ने तथा विद्याधरों ने अपने लिए सिद्ध किया है ॥९८–१००॥

उनके अलग-अलग नाम हैं। इस सरोवर में पुराने समय में देवताओं ने अमृतबल नाम के धनुष भी छोड़े हैं, जो चक्रवर्तियों के धनुष हैं। वे बड़े ही कष्ट से किसी भावी चक्रवर्ती को ईश्वर की कृपा होने पर ही सिद्ध होते हैं ॥१०१–१०२॥

वही चक्रवर्ती धनुष आज सूर्यप्रभ को सिद्ध हुआ है। उसके ये प्रभास आदि मित्र भी अपने-अपने योग्य धनुषों की साधना करें ॥१०३॥

जिन सिद्धविद्य कुशल वीरों की योग्यता होती है, उन्हें आज भी उन धनुषों की सिद्धि प्राप्त होती है' ॥१०४॥

सुमेरु के वचन सुनकर सूर्यप्रभ के मित्र प्रभास आदि बाँसों के जंगल में गये और उस जंगल के रक्षक चंड-दंड को जीतकर वहाँ से बाँस लाये और उन्हें सरोवर में फेंक दिया ॥१०५–१०६॥

इसके बाद सूर्यप्रभ के मित्रों ने सरोवर के किनारे बैठकर जप और हवन प्रारम्भ किया। उन सत्त्वशाली मित्रों को सात दिन में धनुष सिद्ध हो गये ॥१०७॥

सात दिनों के पश्चात् मिले हुए मित्रों से धनुष-सिद्धि का समाचार जानकर सूर्यप्रभ उन मित्रों और मय आदि के साथ सुमेरु के तपोवन में लौट आये ॥१०८॥

वहाँ पर सुमेरु ने उनसे कहा कि 'तुम्हारे मित्रों ने वेणु-दंड के रक्षक चंड-दंड को जीत लिया, यह आश्चर्य की घटना है' ॥१०९॥

तस्यास्ति मोहिनी नाम विद्या तेन स दुर्जयः।
नूनं सा स्थापिता तेन प्रधानस्य रिपोः कृते॥११०॥
अतः प्रयुक्ता नैतेषु त्वद्वयस्येषु सम्प्रति।
सकृदेव हि सा तस्य फलदा न पुनः पुनः॥१११॥
गुरावेव हि सा तेन प्रभावावेक्षणाय भोः।
प्रयुक्ताभूदतः शापस्तेन दत्तोऽस्य तादृशः॥११२॥
तच्चिन्त्यमेतद्विद्यानां प्रभावो हि दुरासदः।
तत्कारणं च भवता पृच्छ्यतां भगवान् मयः॥११३॥
अस्याग्रे किमहं वच्मि कः प्रदीपो रवेः पुरः।
एवं सुमेरुणा सूर्यप्रभस्योक्ते मयोऽब्रवीत्॥११४॥
सत्यं सुमेरुणोक्तं ते संक्षेपाच्छृणु वच्म्यदः।
'अव्यक्तात् प्रभवन्तीह तास्ताः शक्त्यनुशक्तयः॥११५॥
तत्रोद्गतः प्राणशक्तेर्नादो बिन्दुपथाश्रितः।
विद्यादिमन्त्रतामेति परतत्त्वकलान्वितः॥११६॥
तासां च मन्त्रविद्यानां ज्ञानेन तपसापि वा।
सिद्धाज्ञया वा सिद्धानां प्रभावो दुरतिक्रमः॥११७॥
तत्पुत्र सर्वविद्यास्ते सिद्धा द्वाभ्यां तु हीयसे।'
मोहिनीपरिवर्त्तिन्यौ न विद्ये साधिते त्वया॥११८॥
याज्ञवल्क्यश्च ते वेत्ति तद् गच्छ प्रार्थयस्व तम्'।
एवं मयोक्त्या तस्यर्षेर्ययौ सूर्यप्रभोऽन्तिकम्॥११९॥
स मुनिस्तं च सप्ताहं निवास्य भुजगह्रदे।
अग्निमध्ये त्र्यहं चैव तपश्चर्यामकारयत्॥१२०॥
ददौ सोढाहिदंशस्य सप्ताहाच्चास्य मोहिनीम्।
विद्यां विसोढवह्नेश्च त्र्यहाद्विपरिवर्त्तिनीम्॥१२१॥
प्राप्तविद्यस्य भूयोऽपि वह्निकुण्डप्रवेशनम्।
तस्यादिदेश स मुनिः स तथेत्यकरोच्च तत्॥१२२॥
तत्क्षणं च महापद्मविमानं तस्य कामगम्।
अभूदुपनतं सूर्यप्रभस्य गगनेचरम्॥१२३॥
अष्टोत्तरेण पत्राणां पुराणां च शतेन यत्।
अलङ्कृतं महारत्नैर्नानारूपैर्विनिर्मितम्॥१२४॥

उसके पास मोहिनी विद्या है, जिसके कारण वह जीता नहीं जा सकता। अनुमान है कि उस विद्या को उसने अवश्य ही प्रधान शत्रु के लिए सुरक्षित रखा होगा ॥११०॥

इसीलिए, उसने तुम्हारे इन मित्रों पर इस समय उसका प्रयोग नहीं किया; क्योंकि वह उस विद्या का एक ही बार प्रयोग कर सकता है, बार-बार नहीं ॥१११॥

चंड-दंड ने गुरु पर ही उस विद्या का प्रभाव जानने के लिए उसका प्रयोग किया था। अतः, गुरु ने ही उसे वैसा शाप दिया ॥११२॥

यह विचारणीय है। ऐसी विद्याओं का प्रभाव कठिनाई से ही प्राप्त होता है। इसका कारण आप लोग मय से पूछें। उसके रहते मैं क्या कहूँ। सूर्य के आगे दीपक की क्या बात है? सूर्यप्रभ से सुमेरु के ऐसा कहने पर मय ने कहा—॥११३–११४॥

'सुमेरु ने सच कहा है, इसे मैं बताता हूँ, सुनो। अव्यक्त परमात्मा से वे शक्तियाँ और अनुशक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उसी अव्यक्त से बिन्दु-मार्ग पर आवृत प्राण-शक्ति का उद्गम हुआ। वही परमात्मतत्त्व की कला से युक्त होकर विद्या के मन्त्रों का रूप धारण करती है॥११५-११६॥

उन्ही मन्त्र-विद्याओं के ज्ञान से या तप से अथवा सिद्धों की आज्ञा से सिद्धि प्राप्त करनेवालों का प्रभाव बहुत कठिन हो जाता है॥११७॥

तो हे पुत्र, तूने सभी विद्याओं की साधना तो कर ली और वे सिद्ध भी हो गईं। किन्तु, दो विद्याएँ अभी तुझे नहीं आईं—एक मोहिनी और दूसरी परिवर्त्तिनी। इनकी सिद्धि तूने नहीं की है॥११८॥

इन दोनों विद्याओं को याज्ञवल्क्य ऋषि जानता है। अतः, उसके समीप जाकर उससे प्रार्थना करो।' मय के ऐसा करने पर सूर्यप्रभ याज्ञवल्क्य ऋषि के पास गया ॥११९॥

उस मुनि याज्ञवल्क्य ने सूर्यप्रभ को सात दिनों तक अग्नि में रखकर तपस्या कराई॥१२०॥

नागों के दर्शन का सहन किये हुए सूर्यप्रभ को सात दिनों में मोहिनी विद्या और तीन दिनों तक अग्नि ताप सहन कर लेने पर विपरिवर्त्तिनी विद्या उसे दी ॥१२१॥

विद्या प्राप्त कर लेने पर मुनि ने उसे फिर अग्नि-कुंड में प्रवेश करने के लिए कहा और उसने आज्ञानुसार अग्नि में प्रवेश किया ॥१२२॥

उसी क्षण सूर्यप्रभ को इच्छानुसार चलनेवाला महापद्म नामक आकाश-यान प्राप्त हुआ। यह विमान एक सौ आठ पंखोंवाला था और एक-एक पंखे में एक-एक नगर था। इस प्रकार, सौ नगर उसमें बने थे। अनेक प्रकार के रत्न उसमें जड़े हुए थे और विचित्र प्रकार से उसकी रचना की गई थी॥१२३–१२४॥

चक्रवर्त्तिविमानं ते सिद्धमेतदमुष्य च।
पुरेष्वन्तःपुराण्येषु सर्वेषु स्थापयिष्यसि ॥१२५॥
येन तान्यप्रधृष्याणि भविष्यन्ति भवद्द्विषाम्।
इत्यन्तरिक्षाद्धीरं तमुवाचाथ सरस्वती ॥१२६॥
ततः स याज्ञवल्क्यं तं गुरुं प्रह्वो व्यजिज्ञपत्।
आदिश्यतां प्रयच्छामि कीदृशीं दक्षिणामिति ॥१२७॥
निजाभिषेककाले मां स्मरेरेषैव दक्षिणा।
गच्छ तावत् स्वकं सैन्यमिति तं सोऽब्रवीन्मुनिः ॥१२८॥
नत्वा ततस्तं स मुनिं विमानं चाधिरुह्य तत्।
तत्सुमेरुनिवासस्थं सैन्यं सूर्यप्रभो ययौ ॥१२९॥
तत्राख्यातस्ववृत्तान्तं ससुनीथसुमेरवः।
सिद्धविद्याविमानं तमभ्यनन्दन् मयादयः ॥१३०॥
ततः सुनीथः सस्मार तं सुवासकुमारकम्।
स चागत्य मयादींस्ताञ्जगादैव सराजकान् ॥१३१॥
सिद्धं विमानं विद्याश्च सर्वाः सूर्यप्रभस्य तत्।
उदासीनाः किमद्यापि स्थिताः स्थ रिपुनिर्जये ॥१३२॥
तच्छ्रुत्वा स मयोऽवादीद्युक्तं भगवतोदितम्।
किन्तु प्राक्प्रेष्यतां दूतो नीतिस्तावत् प्रयुज्यताम् ॥१३३॥
एवं मयासुरेणोक्ते सोऽब्रवीन् मुनिपुत्रकः।
अस्त्वेवं का क्षतिस्तर्हि प्रहस्तः प्रेष्यतामयम् ॥१३४॥
एष सप्रतिभो वाग्मी गतिज्ञः कार्यकालयोः।
कर्कशश्च सहिष्णुश्च सर्वदूतगुणान्वितः ॥१३५॥
इति तद्वचनं सर्वे श्रद्धाय व्यसृजंस्ततः।
प्रहस्तं दत्तसन्देशं दौत्याय श्रुतशर्मणे ॥१३६॥
तस्मिन् गतेऽब्रवीत् सूर्यप्रभस्तान्निखिलान्निजान्।
श्रूयतां यन्मया दृष्टमपूर्वं स्वप्नकौतुकम् ॥१३७॥
'जानेऽद्य क्षीयमाणायां पश्यामि रजनावहम्।
यावन्महाजलौघेन वयं सर्वे ह्रियामहे ॥१३८॥
ह्रियमाणाश्च नृत्यामो न मज्जामः कथञ्चन।
अथौघः स परावृत्तः प्रतिकूलेन वायुना ॥१३९॥

इतने में आकाशवाणी हुई कि यह चक्रवर्ती विमान तुम्हें सिद्ध हुआ है। इसके सभी नगरों (पुरों) में अपनी-अपनी रानियाँ रखोगे, तो वे शत्रुओं की बाधा से सुरक्षित रहेंगी ॥१२५-१२६॥

तब उसने प्रणाम करके गुरु याज्ञवल्क्य से निवेदन किया कि 'आज्ञा दीजिए कि किस प्रकार गुरु-दक्षिणा अर्पण करूँ' ॥१२७॥

'अपने चक्रवर्ती-अभिषेक के समय मुझे स्मरण करना, यही मेरी दक्षिणा है। अब तुम अपने सेना शिविर में जाओ' ॥१२८॥

मुनि के ऐसा कहने पर सूर्यप्रभ, मुनि को प्रणाम कर और उस विमान पर बैठकर सुमेरु के आश्रम में स्थित अपने सेना-शिविर में आया ॥१२९॥

वहाँ सब समाचार सुनाते हुए उसे मय, सुनीथ और सुमेरु ने विमान और विद्या-प्राप्ति पर बधाई दी ॥१३०॥

तब सुनीथ ने सुवासकुमार का स्मरण किया। उसने आकर मय आदि तथा अन्य राजाओं से कहा—'सूर्यप्रभ को विमान भी सिद्ध होगया और सब विद्याएँ भी सिद्ध हो गई। अब आप लोग शत्रु पर विजय प्राप्त करने में उदासीन क्यों हो रहे है ?'॥१३१-१३२॥

यह सुनकर मय ने कहा—'आपने सच कहा, किन्तु पहले दूत भेजा जाय, तो ठीक हो। यहाँ नीति का प्रयोग करना चाहिए' ॥१३३॥

यह सुनकर मुनि-पुत्र ने कहा—'ऐसा ही करो। हानि क्या है ? प्रहस्त को दूत के रूप में भेजो' ॥१३४॥

यह (प्रहस्त) प्रतिभाशाली, गम्भीर भाषण करनेवाला, कार्य और काल की स्थिति को जाननेवाला, कठोर और सहिष्णु है। इसमें दूत के सभी गुण हैं' ॥१३५॥

इस प्रकार, सुवासकुमार के वचनों पर श्रद्धा करके मय आदि ने सन्देश देकर प्रहस्त को श्रुतशर्मा के प्रति भेजा ॥१३६॥

उसके चले जाने पर सूर्यप्रभ ने अपने उन सभी साथियों से कहा—'मैंने आज जो एक कौतुकपूर्ण सपना देखा है, उसे सुनिए—'आज रात के अन्त में मैंने देखा कि हम सभी प्रबल जल-धारा में बहे जा रहे हैं। बहायें जाते हुए हमलोग नाच रहे हैं, पर डूबते नहीं। कुछ समय बाद वह जल का प्रवाह विपरीत वायु के कारण बदल गया ॥१३७—१३९॥

ततः केनापि पुरुषेणेत्य ज्वलिततेजसा।
उद्धृत्य वह्नौ क्षिप्ताः स्मो न च दह्यामहेऽग्निना ॥१४०॥
एत्याथ मेघो रक्तौघं प्रवृष्टस्तेन चासृजा।
व्याप्ता दिशस्ततो निद्रा नष्टा मे निशया सह' ॥१४१॥
इत्युक्तवन्तं तं स्माह स सुवासकुमारकः।
'आयासपूर्वोऽभ्युदयः स्वप्नेनानेन सूचितः ॥१४२॥
यो जलौघः स संग्रामो धैर्यं तद्यदमज्जनम्।
नृत्यतां ह्रियमाणानां जलैस्तत्परिवर्त्तकः ॥१४३॥
यो युष्माकं मरुत् सोऽपि शरणः कोऽपि रक्षिता।
यश्चोद्धर्ता ज्वलत्तेजाः पुमान् साक्षात् स शङ्करः ॥१४४॥
क्षिप्ताः स्थाग्नौ च यत्तेन तश्यस्ताः स्थ महामृधे[1]।
मेघोदयस्ततो यच्च स भूयोऽपि भयागमः ॥१४५॥
रक्तौघवर्षणं यच्च तद्भयस्य विनाशनम्।
दिशां यद्रक्तपूर्णत्वमृद्धिः सा महती च वः ॥१४६॥
स्वप्नश्चानेकधान्यार्थो यथार्थोऽपार्थ एव च।
यः सद्यः सूचयत्यर्थमन्यार्थः सोऽभिधीयते ॥१४७॥
प्रसन्नदेवतादेशरूपः स्वप्नो यथार्थकः।
गाढानुभवचिन्तादिकृतमाहुरपार्थकम् ॥१४८॥
रजोमूढेन मनसा बाह्यार्थविमुखेन हि।
जन्तुर्निद्रावशः स्वप्नं तैस्तैः पश्यति कारणैः ॥१४९॥
चिरशीघ्रफलत्वं च तस्य कालविशेषतः।
एष रात्र्यन्तदृष्टस्तु स्वप्नः शीघ्रफलप्रदः' ॥१५०॥
एतन्मुनिकुमारात्ते श्रुत्वा तस्मात् सुनिर्वृताः।
उत्थाय दिनकर्त्तव्यं व्यधुः सूर्यप्रभादयः ॥१५१॥
तावत् प्रहस्तः प्रत्यागाच्छ्रुतशर्मसकाशतः।
पृष्टो मयादिभिश्चैवं यथावृत्तमवर्णयत् ॥१५२॥
'इतो गतोऽहं तरसा त्रिकूटाचलवर्त्तिनीम्।
तां त्रिकूटपताकाख्यां नगरीं हेमनिर्मिताम् ॥१५३॥

---

१. महासंग्रामे।

तब किसी जाज्वल्यमान पुरुष ने आकर हमलोगों को जल से निकालकर आग में फेंक दिया। किन्तु, वहाँ पर भी हम आग में जले नहीं ॥१४०॥

इसके बाद घटा घिर आई और उसने रक्त की वर्षा की, जिससे सारी दिशाएँ रक्तमय हो गईं। और, रात के साथ ही मेरी नींद भी खुल गई, प्रातःकाल हो गया' ॥१४१॥

ऐसा कहते हुए सूर्यप्रभ से सुवासकुमार ने कहा—'इस स्वप्न से कठिन परिश्रम द्वारा अभ्युदय की सूचना मिलती है॥१४२॥

जो पानी का प्रवाह था, वह संग्राम का सूचक था। नहीं डूबना धैर्य का सूचक था; जो नाचते हुए और बहते हुए तुम लोगों को वायु ने विपरीत दिशा में बदल दिया, वह तुम्हें कोई शरण देनेवाला रक्षक है। जो ऊर्ध्वरेता तेज से जलते हुए पुरुष थे, वह साक्षात् शंकर भगवान् हैं। उसने तुम्हें अग्नि में फेंका, वह तुम्हें महासंग्राम में झोंका। मेघों का उमड़ना किसी भय का सूचक था और रक्त-वृष्टि का होना भय के विनाश का सूचक था। इसी प्रकार, दिशाओं का लाल हो जाना तुम्हारी समृद्धि या अभ्युदय का सूचक हुआ ॥१४३–१४६॥

स्वप्न कई प्रकार के होते हैं—जैसे अन्यार्थ, यथार्थ और अपार्थ। जिसका फल तुरन्त होता है, वह अन्यार्थ है। प्रसन्न हुए देवता आदि का आदेश यथार्थ होता है। गम्भीर अनुभव और चिन्ता आदि से होनेवाला स्वप्न अपार्थ है॥१४७-१४८॥

रजोगुणप्रधान और बाह्य विषयों से विमूढ प्राणी निद्रा के वश में होकर उन-उन कारणों से स्वप्न देखता है॥१४९॥

स्वप्नों का विलम्ब से अथवा तुरन्त फल मिल जाना समय-भेद से होता है। रात्रि के अन्त में देखा हुआ यह स्वप्न शीघ्र फल देनेवाला है' ॥१५०॥

मुनि-कुमार से यह सुनकर सूर्यप्रभ आदि प्रसन्न हुए और उठकर अपने-अपने दैनिक कार्यों में लग गये ॥१५१॥

इतने में ही श्रुतशर्मा के पास से प्रहस्त लौट आया और मय आदि के पूछने पर वहाँ जो कुछ हुआ, कहने लगा—॥१५२॥

'यहां से मैं वेग के साथ त्रिकूट पर्वत स्थित सोने की बनी त्रिकूटपताका नाम की नगरी को गया ॥१५३॥

तस्यां प्रविश्य चापश्यमहं क्षत्तृनिवेदितः।
वृतं तं श्रुतशर्माणं तैस्तैर्विद्याधराधिपैः ॥१५४॥
पित्रा त्रिकूटसेनेन तथा विक्रमशक्तिना।
धुरन्धरेण चान्यैश्च शूरैर्दामोदरादिभिः ॥१५५॥
उपविश्याथ तमहं श्रुतशर्माणमभ्यधाम्।
श्रीमता प्रहितः सूर्यप्रभेणाहं त्वदन्तिकम् ॥१५६॥
सन्दिष्टं तेन चेदं ते प्रसादाद् धूर्जटेर्मया।
विद्या रत्नानि भार्याश्च सहायाश्चैव साधिताः ॥१५७॥
तदेहि मिल सैन्ये मे सहैतैः खेचरेश्वरैः।
निहन्ताहं विरुद्धानां रक्षिता नमतां पुनः ॥१५८॥
या चागम्या हृताज्ञाते सुनीथतनया त्वया।
कामचूडामणिः कन्या मुञ्च तामशुभं हि तत्' ॥१५९॥
एवं मयोक्ते सर्वे ते क्रुद्धास्तत्रैवमभ्यधुः।
को नाम स यदस्मासु दर्पात् सन्दिशतीदृशम् ॥१६०॥
मर्त्येषु सन्दिशत्वेवं कस्तु विद्याधरेषु सः।
वराको मानुषो भूत्वाऽप्येवं दृप्यन्विनङ्क्ष्यति ॥१६१॥
तच्छ्रुत्वोक्तं मया किं किं को नाम स निशम्यताम्।
स हरेणेह युष्माकं चक्रवर्ती विनिर्मितः ॥१६२॥
मर्त्यो वा यदि तन्मर्त्यैर्देवत्वमपि साधितम्।
विद्याधरैश्च मर्त्यस्य तस्य दृष्टः पराक्रमः ॥१६३॥
नाशश्चेहागते तस्मिन् कदाचिद् वो हि दृश्यते।
इत्येवोक्ते मया क्रुद्धा सा सभा क्षोभमाययौ ॥१६४॥
अधावतां च हन्तुं मां श्रुतशर्मधुरन्धरौ।
एवं पश्यामि शौर्यं वामित्यवोचमहं च तौ ॥१६५॥
ततो दामोदरेणैतावुत्थाय विनिवारितौ।
शान्तं दूतश्च विप्रश्च न वध्य इति जल्पता ॥१६६॥
ततो विक्रमशक्तिर्मामिवादीद् गच्छ दूत भोः।
त्वत्स्वामीव हि सर्वेऽपि वयमीश्वरनिर्मिताः ॥१६७॥
तदायातु स पश्यामस्तस्यातिथ्यक्षमा वयम्।
एवं सगर्वं तेनोक्ते विहसन्नहमब्रवम् ॥१६८॥

वहाँ जाकर प्रतीहार से सूचित और सभागृह में गए हुए मैंने उन विद्याधर-राजाओं से घिरे हुए श्रुतशर्मा को देखा ॥१५४॥

पिता त्रिकूट, सेनापति विक्रमशक्ति और दामोदर आदि शूरवीर उसके समीप बैठे थे। तदनन्तर, आसन पर बैठकर मैंने श्रुतशर्मा से कहा—'मुझे श्रीमान् सूर्यप्रभ ने दूत के रूप में आपके पास भेजा है और आपके लिए उन्होंने सन्देश दिया है कि मैंने शिवजी की कृपा से विद्या, रत्न, भार्या और सहायक सिद्ध कर लिये। इसलिए, तुम भी इन विद्याधरों के साथ मेरी सेना में आकर मिलो। मैं विरोधियों का नाशक और नम्रों का रक्षक हूँ' ॥१५५–१५८॥

तुमने अनजान में सुनीथ की अगम्या कन्या कामचूडामणि का जो अपहरण किया है, उसे मुक्त करो। यह कार्य तुम्हारे लिए अशुभ है ॥१५९॥

मेरे ऐसा कहने पर वे सब क्रुद्ध होकर बोले—'वह कौन होता है, जो घमंड के साथ हमें यह सन्देश भेजता है ॥१६०॥

वह मनुष्यों के लिए ऐसा सन्देश दे। विद्याधरों में इस प्रकार का सन्देश देनेवाला वह कौन होता है। मनुष्य होकर ऐसा घमंड करता हुआ वह बेचारा नष्ट हो जायगा' ॥१६१॥

यह सुनकर मैंने कहा—'क्या कहा, वह कौन होता है ? तो सुनो, शिवजी ने अब उन्हें तुम लोगों का चक्रवर्त्ती बनाया है ॥१६२॥

यदि वे मनुष्य हैं, तो क्या ? मनुष्यों ने तो देवत्व भी सिद्ध कर लिया है और विद्याधरों ने उस मनुष्य का पराक्रम देख लिया है ॥१६३॥

उसके यहाँ आने पर तुम लोगों का विनाश होगा, यह निश्चित है।' मेरे ऐसा कहने पर वह सारी सभा क्षुब्ध होगई ॥१६४॥

और, श्रुतशर्मा तथा धुरन्धर मुझे मारने के लिए दौड़े। 'यही आपकी वीरता है?', इस प्रकार मेरे कहने पर दामोदर ने उन्हें रोका तथा शान्त किया और कहा –'दूत और ब्राह्मण दोनों अवध्य हैं। उन्हें न मारना चाहिए' ॥१६५-१६६॥

तब विक्रमशक्ति ने मुझसे कहा—'हे दूत, तुम जाओ। तुम्हारे स्वामी के ही समान हम सब भी ईश्वर के बनाये हुए हैं ॥१६७॥

'वह आवे। हम सब उसका आतिथ्य करने में समर्थ हैं।' गर्व के साथ उसके इस प्रकार कहने पर मैंने हँसते हुए कहा—॥१६८॥

हंसाः पद्मवने तावन्नादं कुर्वन्ति सुस्थिताः।
यावत् पश्यन्ति नायान्तं मेघमाच्छादिताम्बरम् ॥१६९॥
इत्युक्त्वोत्थाय सावज्ञं निर्गत्याहमिहागतः।
एतत् प्रहस्ताच्छ्रुत्वा तैस्तुष्टिः प्रापि मयादिभिः ॥१७०॥
निश्चित्य चाहवोद्योगं सर्वे सेनापतिं व्यधुः।
प्रभासमथ ते सूर्यप्रभाद्या रणदुर्मदम् ॥१७१॥
सर्वे च रणदीक्षायां ते सुवासकुमारतः।
निदेशं प्राप्य तदहः प्राविशन्नियतव्रताः ॥१७२॥
रात्रौ सूर्यप्रभश्चात्र व्रतशय्यागृहान्तरम्।
प्रविष्टामैक्षतापूर्वामनिद्रो वरकन्यकाम् ॥१७३॥
सा तस्य व्याजसुप्तस्य प्रसुप्तसचिवस्य च।
स्वैरं निकटमागत्य सखीमाह सहस्थिताम् ॥१७४॥
यदि सुप्तस्य विश्रान्तविलासा[1]पीयमीदृशी।
रूपशोभास्य तत् कीदृक् प्रबुद्धस्य भवेत् सखि ॥१७५॥
तदस्तु न प्रबोध्योऽसौ पूरितं कौतुकं दृशोः।
अधिकं हि निबद्धेन किमत्र हृदयेन मे ॥१७६॥
भविष्यत्यस्य संग्रामः समं हि श्रुतशर्मणा।
तत्तत्र को विजानाति भाविता किल कस्य किम् ॥१७७॥
प्राणव्ययाय शूराणां जायते हि रणोत्सवः।
तत्रास्यास्तु शिवं तावत् ततो ज्ञास्यामहे पुनः ॥१७८॥
कामचूडामणिर्येन किं च व्योमविहारिणा।
दृष्टा तस्यास्य हृदयं मादृशी का नु रञ्जयेत् ॥१७९॥
एवं तयोक्ते सावादीत् तत् सखी किं ब्रवीष्यदः।
असङ्गो हृदयस्यास्मिन्नायत्तश्चण्डि किं तव ॥१८०॥
येन दृष्टेन हृदयं कामचूडामणेर्हृतम्।
सोऽन्यस्या न हरेत् कस्या यदि साक्षादरुन्धती ॥१८१॥
विद्यावशाच्च कल्याणं वेत्सि किं नास्य सङ्गरे।
एतस्य भार्याश्चोक्ताः स्थ सिद्धैः सच्चक्रवर्तिनः ॥१८२॥

---

१. विश्रान्तः व्यपगतः, विलासो यस्याः, रूपशोभाया विशेषणम्।

'हंस पद्मवन में तभी तक निश्चिन्तता से बोलते हैं, जबतक आकाश को ढकनेवाले मेघ उन्हें नहीं दीखते' ॥१६९॥

अवज्ञा के साथ ऐसा कहकर और उठकर मैं चला आया। प्रहस्त द्वारा यह समाचार सुनकर मय आदि ने सन्तोष प्रकट किया ॥१७०॥

तदनन्तर, युद्ध की तैयारी का निश्चय करके सूर्यप्रभ आदि ने युद्ध में दुर्दम प्रभास को सेनापति बनाया ॥१७१॥

अन्य सभी, सुवासकुमार से आज्ञा लेकर उस दिन नियम के साथ (विधि-पूर्वक) रण-दीक्षा में दीक्षित हुए ॥१७२॥

नियमानुसार रात्रि में शयन-गृह में जाकर सूर्यप्रभ ने निद्रा-रहित रहकर एक सुन्दरी कन्या को वहाँ देखा ॥१७३॥

वह कन्या जान-बूझकर सोये हुए मन्त्रियोंवाले सूर्यप्रभ के पास आकर साथ खड़ी हुई सखी से कहने लगी—॥१७४॥

'हे सखि, यदि सोये हुए अतएव विलास-रहित (निश्चेष्ट) इसकी रूपशोभा ऐसी है, तो जगी हुई दशा की शोभा कैसी होगी ॥१७५॥

अब रहने दो, इसे मत जगाओ, आँखों का कौतूहल पूरा हो गया। इसके साथ अधिक तन्मयता से हृदय को बाँधने से क्या लाभ है ? ॥१७६॥

श्रुतिशर्मा के साथ होनेवाले युद्ध में कौन जानता है कि किसका क्या होगा ? ॥१७७॥

युद्धोत्सव शूरों के प्राण विनाश के लिए होता है। इसका (सूर्यप्रभ का) भी जाने क्या होगा। इसका कल्याण हो ॥१७८॥

जिस इस आकाशचारी ने कामचूडामणि को देखा है, वहाँ मुझ जैसी इसका क्या हृदय-रंजन कर सकती है ?' ॥१७९॥

उसके ऐसा कहने पर उसकी सखी ने कहा—'सखि, ऐसा क्या कह रही हो, क्या तुम्हारा हृदय उसके प्रति आसक्त नहीं हुआ ? ॥१८०॥

जिसने देखते ही कामचूडामणि का हृदय हरण कर लिया, वह किसका हृदय हरण नहीं कर सकता। भले ही वह अरुन्धती क्यों न हो। क्या तू अपनी विद्या के प्रभाव से युद्ध में होनेवाले इसके कल्याण को नहीं जानती ? सिद्धों ने तुम सभी को इसी चक्रवर्ती की भार्या बनाया है ॥१८१-१८२॥

कामचूडामणिस्त्वं च सुप्रभा चैकगोत्रजा।
एष्वेव परिणीता च दिनेष्वेतेन सुप्रभा ॥१८३॥
तत्किमस्याशिवं युद्धे नहि सिद्धवचो मृषा।
किं चाहृतं सुप्रभया चित्तं यस्यास्य तस्य किम् ॥१८४॥
नाहरेद् भवती त्वं हि रूपेणाभ्यधिकानघे।
बान्धवापेक्षया वा ते विकल्पो यदि तन्न सत् ॥१८५॥
भर्त्तारं हि विना नान्यः सतीनामस्ति बान्धवः।
एतत्सखीवचः श्रुत्वा सावोचद्वरकन्यका ॥१८६॥
सत्यं सखि त्वया प्रोक्तं न कार्यं मेऽन्यबन्धुभिः।
संख्ये चास्यार्यपुत्रस्य जयं जाने स्वविद्यया ॥१८७॥
सिद्धानि चास्य रत्नानि विद्याश्चाद्यापि किं पुनः।
नैतस्यौषधयः सिद्धास्तेन मे दूयते मनः ॥१८८॥
चन्द्रपादगिरौ ताश्च सर्वाः सन्ति गुहान्तरे।
सिद्ध्यन्ति पुण्यभाजश्च चक्रवर्त्तिन एव ताः ॥१८९॥
तदेष साधयेद् गत्वा तत्र सर्वौषधीर्यदि।
भद्रं तत् स्याद्यदासन्नः प्रातरस्य महाहवः ॥१९०॥
एतच्छ्रुत्वाखिलं त्यक्त्वा व्याजनिद्रां स उत्थितः।
सूर्यप्रभः सविनयं तामुवाचाथ कन्यकाम् ॥१९१॥
दर्शितोऽतीव मुग्धाक्षि पक्षपातो मयि त्वया।
तदेष तत्र गच्छामि कासि त्वमिति शंस मे ॥१९२॥
एतच्छ्रुत्वा श्रुतं सर्वमनेनेति त्रपानता।
तूष्णीं बभूव सा कन्या तत्सखी तु जगाद सा ॥१९३॥
'एषा विद्याधरेन्द्रस्य सुमेरोरनुजात्मजा।
कन्या विलासिनी नाम त्वद्दर्शनसकौतुका' ॥१९४॥
एवमुक्तवतीमेव तां सखीं सा विलासिनी।
'एहि सम्प्रति गच्छाव' इत्युक्त्वा प्रययौ ततः ॥१९५॥
ततः प्रभासादिभ्यस्तत् प्रबोध्य तदुदीरितम्।
सूर्यप्रभः स्वमन्त्रिभ्यः शशंसौषधिसाधनम् ॥१९६॥
विससर्ज प्रहस्तं च योग्यं तत्साधनाय सः।
तदाख्यातं सुनीथस्य सुमेरोश्च मयस्य च ॥१९७॥

कामचूडामणि, तू और सुप्रभा एक ही गोत्र में उत्पन्न हुई हो। इसने इन्हीं दिनों में सुप्रभा का विवाह किया है। तो क्या युद्ध में इसका कल्याण नहीं होगा। सिद्धों की वाणी व्यर्थ नहीं जाती। फिर, सुप्रभा ने इसका चित्त-हरण किया है, तो उससे इसका क्या ? ॥१८३-१८४॥

क्या तू इसका चित्त हरण नहीं कर सकती ? क्योंकि तू रूप में उससे अधिक सुन्दरी है। अपने बन्धु-बान्धवों के कारण यदि तुझे सन्देह है, तो यह ठीक नहीं ॥१८५॥

सती स्त्रियों का पति के सिवाय और कोई बन्धु नहीं है।' सखी की यह बात सुनकर वह सुन्दरी कन्या बोली—॥१८६॥

'हे सखि, तूने सच कहा। मुझे अन्यान्य बन्धु-बान्धवों से क्या प्रयोजन ? मैं अपनी विद्या के प्रभाव से जान रही हूँ कि युद्ध मे आर्यपुत्र की जीत होगी ॥१८७॥

उसे विद्याधर-चक्रवर्ती होने के कारणभूत सभी रत्न सिद्ध हो चुके हैं और विद्याएँ भी सिद्ध हो गई है, किन्तु ओषधियाँ उसे अभी सिद्ध नहीं हुई हैं। इससे मन कुछ व्याकुल है ॥१८८॥

वे सभी ओषधियाँ चन्द्रपाद नामक पर्वत पर गुफा के अन्दर रखी हैं। वे ओषधियाँ किसी पुण्यात्मा चक्रवर्ती को ही सिद्ध होती हैं ॥१८९॥

यदि यह अभी जाकर उन सब ओषधियों को सिद्ध करे, तो इसका कल्याण हो। क्योंकि, प्रातःकाल ही इसका युद्ध प्रारम्भ होगा' ॥१९०॥

यह सुनकर, जान-बूझकर सोया हुआ सूर्यप्रभ, उठकर उस कन्या से नम्रता के साथ बोला—'हे सुलोचने, तूने मुझपर अत्यधिक पक्षपात प्रकट किया है। इसलिए मैं अभी वहाँ (चन्द्रपाद गिरि पर) जाता हूँ। अब तू बता कि कौन है ?' ॥१९१-१९२॥

उसकी बातें सुनकर वह कन्या इसलिए लजा गई कि सूर्यप्रभ ने उसकी सारी बातें सुन ली। अतः, वह चुप हो गई। तब उसकी सखी ने सूर्यप्रभ से कहा—॥१९३॥

'यह विद्याधरों के राजा सुमेरु के छोटे भाई की कन्या विलासिनी है। तुम्हें देखने को बहुत उत्सुकता थी' ॥१९४॥

वह विलासिनी, इस प्रकार कहती हुई सहेली को 'आओ, चलें' कहकर वहाँ से चली गई ॥१९५॥

तब सूर्यप्रभ ने प्रभास आदि मन्त्रियों को जगाकर ओषधियों की सिद्धि की चर्चा उनसे की ॥१९६॥

और, इनकी सिद्धि के लिए योग्य प्रहस्त को सुमेरु, मय और सुनीथ के समीप भेजा ॥१९७॥

तैरागतैः श्रद्दधानैः समं स सचिवान्वितः।
निशि सूर्यप्रभः प्रायाच्चन्द्रपादाचलं प्रति ॥१९८॥
गच्छतां च क्रमात्तेषामुत्तस्थुर्मार्गरोधिनः।
यक्षगुह्यककूष्माण्डा विघ्ना नानायुधोद्यताः ॥१९९॥
कांश्चिदस्त्रैर्विमोह्यैतान् कांश्चित् संस्तम्भ्य विद्यया।
चन्द्रपादगिरिं तं ते प्रापुः सूर्यप्रभादयः ॥२००॥
तत्रैषां तद्गुहाद्वारप्राप्तानां शाङ्करा गणाः।
एत्य प्रवेशं रुरुधुर्विचित्रविकृताननाः ॥२०१॥
एतैः सह न योद्धव्यं कुप्येद्धि भगवान् हरः।
तन्नामाष्टसहस्रेण तमेव वरदं स्तुमः ॥२०२॥
तेनैव ते प्रसीदन्ति तद्गणा इत्यवोचत।
स सुवासकुमारस्तानथ सूर्यप्रभादिकान् ॥२०३॥
ततस्तथेति सर्वे ते तथैव हरमस्तुवन्।
स्वामिस्तुतिप्रसन्नाश्च तान् वदन्ति स्म ते गणाः ॥२०४॥
मुक्तेयं भो गुहास्माभिर्गृह्णीतास्यां महौषधीः।
सूर्यप्रभेण त्वेतस्यां न प्रवेष्टव्यमात्मना ॥२०५॥
प्रभासः प्रविशत्वेतामेतस्य सुगमा ह्यसौ।
एतद्गणवचः सर्वे ते तथेत्यनुमेनिरे ॥२०६॥
ततः प्रविशतस्तस्य प्रभासस्य तदैव सा।
गुहा बद्धान्धकारापि सुप्रकाशा किमप्यभूत् ॥२०७॥
उत्थाय च महाघोररूपा अप्यत्र राक्षसाः।
चत्वारः किङ्करा ऊचुः प्रणताः प्रविशेति तम् ॥२०८॥
अथ प्रविश्य संगृह्य दिव्याः सप्तौषधीः स ताः।
प्रभासो निर्गतः सूर्यप्रभाय निखिला ददौ ॥२०९॥
महाप्रभावाः सप्तैताः सिद्धाः सूर्यप्रभाद्य ते।
ओषध्य इति तत्कालं गगनादुदगाद्वचः ॥२१०॥
तच्छ्रुत्वा मुदिताः सूर्यप्रभाद्याः सर्व एव ते।
स्वसैन्यमाययुः क्षिप्रं सुमेर्वास्पदमाश्रितम् ॥२११॥
तत्रापृच्छत् सुनीतोऽथ तं सुवासकुमारकम्।
मुने सूर्यप्रभं हित्वा प्रभासः किं प्रवेशितः ॥२१२॥

इस बात पर विश्वास करके उन सब के आने पर उनके और मन्त्रियों के साथ सूर्यप्रभ रात्रि में ही चन्द्रपाद गिरि पर गया ॥१९८॥

जाते हुए उनके मार्ग में शस्त्र उठाये हुए यक्ष, गुह्यक, कूष्मांड आदि विघ्न करने के लिए खड़े हो गये ॥१९९॥

उनमें से कुछ को शस्त्रों से विवश करके और कुछ को विद्या-प्रभाव से मोहित करके सूर्यप्रभ आदि चन्द्रपाद गिरि पर पहुँच गये ॥२००॥

वहाँ गुफा के द्वार पर पहुँचने पर विचित्र आकृतिवाले शिवजी के गणों ने इन्हें गुफा में जाने से रोका ॥२०१॥

'इसके साथ युद्ध न करना चाहिए; क्योंकि इससे भगवान् शिव क्रुद्ध हो जायेंगे। इसलिए शिव के अष्टोत्तर शत नाम के पाठ से उन्हीं वरदायक की स्तुति करते हैं। ये उनके गण इसी से प्रसन्न होते हैं' सुवासकुमार ने इस प्रकार सूर्यप्रभ आदि से कहा ॥२०२-२०३॥

तब वे इसी प्रकार शिव की स्तुति करने लगे। स्वामी की स्तुति से प्रसन्न होकर वे गण उनसे बोले—'हमने इस गुफा को छोड़ दिया है। आपलोग महौषधियों को लें, किन्तु सूर्यप्रभ स्वयं उसमें प्रवेश न करें ॥२०४-२०५॥

केवल प्रभास ही उसमें जाय, यह गुफा उसके लिए सुगम है।' गणों की बातें सुनकर उन सब ने उसे स्वीकार किया ॥२०६॥

तदनन्तर प्रभास के प्रवेश करते ही वह अँधेरी गुफा कुछ प्रकाशित हो गई ॥२०७॥

गुफा के अन्दर बैठे हुए अति भयंकर रूपवाले चार राक्षस उठकर प्रणाम करते हुए उससे बोले—'आइए' ॥२०८॥

तब प्रभास ने अन्दर जाकर और उन दिव्य सात ओषधियों को लेकर और बाहर आकर उन्हें सूर्यप्रभ को दिया ॥२०९॥

उसी समय आकाशवाणी हुई कि ये सातों ओषधियाँ महाप्रभावशालिनी हैं। हे सूर्यप्रभ, ये ओषधियाँ, तुम्हें सिद्ध हो गईं ॥२१०॥

यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न वे सभी वहाँ से चलकर सुमेरु के आश्रम में स्थित अपने सेना-शिविर में लौट आये ॥२११॥

वहाँ आकर सुनीथ ने सुवासकुमार से पूछा कि 'गुफा में सूर्यप्रभ को रोककर प्रभास को क्यों जाने दिया, इन दोनों में क्या अन्तर है ?॥२१२॥

गुणैर्गुहायां किं चैष किङ्करैरपि सत्कृतः।
एतच्छ्रुत्वा स सर्वेषु शृण्वत्सु मुनिरभ्यधात् ॥२१३॥
श्रूयतां कथयाम्येतत् प्रभासो हितकृत्परम्।
सूर्यप्रभस्यात्मभूतो न भेदोऽस्त्यनयोर्द्वयोः ॥२१४॥
किं च प्रभासेन समो नान्यः शौर्यप्रभाववान्।
अस्ति प्राग्जन्मसुकृतैरेतदीया च सा गुहा ॥२१५॥
योऽयं यादृक् पुरा चाभूत्तदिदं कथयामि वः।
बभूव नमुचिर्नाम पूर्वं दानवसत्तमः ॥२१६॥
यस्य दानप्रसक्तस्य महावीरस्य नामवत्।
अदेयमहितायापि याचमानाय किञ्चन ॥२१७॥
दशवर्षसहस्राणि स तप्त्वा धूमपस्तपः।
लोहाश्मकाष्ठावध्यत्वं विरिञ्चात् प्राप्तवान् वरम् ॥२१८॥
ततोऽसकृद्विजित्येन्द्रं कान्दिशीकं स तं व्यधात्।
तत्प्रार्थ्य कश्यपर्षिस्तं देवैः सन्धिमकारयत् ॥२१९॥
अथ विश्रान्तवैरास्ते सम्मन्त्र्यैव सुरासुराः।
दुग्धाम्भोनिधिमभ्येत्य ममन्थुर्मन्दराद्रिणा ॥२२०॥
ततोऽच्युतादयो भागान् कमलाप्रभृतीन् यथा।
प्रापुस्तथोच्चैःश्रवसं हयं नमुचिराप्तवान् ॥२२१॥
अन्ये देवासुराश्चान्यान् प्रदिष्टान् ब्रह्मणा पृथक्।
लेभिरे विविधान् भागान् मथ्यमानार्णवोत्थितान् ॥२२२॥
मन्थपर्यन्तलब्धे च त्रिदशैरमृते हृते।
तेषामथासुराणां च पुनर्वैरमजायत ॥२२३॥
ततो देवासुररणे जघ्ने यो योऽसुरः सुरैः।
आघ्रायोच्चैःश्रवस्तं तं जीवयामास तत्क्षणम् ॥२२४॥
अजेया जज्ञिरे तेन देवानां दैत्यदानवाः।
ततो विषण्णं वक्ति स्म रहः शक्रं बृहस्पतिः ॥२२५॥
एकस्तवात्रोपायोऽस्ति तं कुरुष्वाविलम्बितम्।
स्वयं याचस्व गत्वा तं नमुचिं तं हयोत्तमम् ॥२२६॥
विपक्षायापि तुभ्यं तं स हयं न न दास्यति।
खण्डयिष्यति नाजन्मसञ्चितं दातृतायशः ॥२२७॥

तथा गणों और किंकरों ने भी गुफा में उसका स्वागत किया, इसका क्या रहस्य है?' यह सुनकर सभी को सुनाते हुए मुनि सुवासकुमार ने कहा—"सुनो, कहता हूँ। प्रभास सूर्यप्रभ का अत्यन्त हितकारी है, इन दोनों में परस्पर भेद नहीं है ॥२१३-२१४॥

प्रभास के समान शूरता और प्रभावशालिता में दूसरा व्यक्ति नहीं है। इसके पूर्वजन्म के पुण्य-प्रभाव से यह गुफा उसी की है ॥२१५॥

अब इसके पूर्वजन्म का हाल कहता हूँ, जैसा कि वह पहले था। प्राचीन समय में नमुचि नाम का श्रेष्ठ दानव था ॥२१६॥

वह इतना महान् दानी था कि माँगते हुए शत्रु के लिए भी उसे कुछ अदेय नहीं था ॥२१७॥

उसने दस हजार वर्षों तक केवल धुँआँ पीकर ही तपस्या की। इस कारण उसने ब्रह्मा से वर प्राप्त किया कि वह लोहा, पत्थर और लकड़ी से मारा न जाय ॥२१८॥

तब उसने इन्द्र को जीतकर भगा दिया। तदुपरान्त कश्यप ऋषि ने मध्यस्थ बन करके देवताओं से उसकी सन्धि (मित्रता) करा दी ॥२१९॥

तदनन्तर, सुरों और असुरों ने परस्पर वैर-भाव छोड़कर मन्दराचल द्वारा क्षीर-समुद्र का मंथन किया और उससे निकले हुए लक्ष्मी आदि रत्नों को विष्णु आदि देवताओं ने परस्पर बाँट लिया और उसी नियमानुसार नमुचि दानव ने अपने हिस्से में उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा पाया ॥२२०-२२१॥

इसी प्रकार, अन्यान्य देवताओं और दानवों ने ब्रह्मा के निर्देशन के अनुसार समुद्र से निकले रत्नों को बाँट लिया ॥२२२॥

मन्थन के अन्त में जब अमृत निकला, तब उसे देवता लोग हरण कर ले गये। इस कारण, देवों और दानवों या दैत्यों में फिर शत्रुता हो गई ॥२२३॥

और, उनमें परस्पर युद्ध हुआ। इस युद्ध में जो भी असुर सुरों द्वारा मारे जाते थे, उन्हे उच्चैःश्रवा सूंघ-सूंघकर उसी क्षण पुनर्जीवित कर देता था ॥२२४॥

इस कारण दैत्य और दानव देवताओं के लिए अजेय हो गये। तब खिन्न चित्तवाले इन्द्र को एकान्त में बुलाकर बृहस्पति ने कहा—'अब तुम्हारे लिए एक ही उपाय है। उसे शीघ्र ही कर डालो। तुम स्वयं जाकर नमुचि से उच्चैःश्रवा को दान में माँगो ॥२२५-२२६॥

यद्यपि तुम शत्रु हो, फिर भी वह अपनी दानशीलता के कारण घोड़े के लिए तुम्हें नहीं न करेगा; क्योंकि वह समूचे जीवन में संग्रह किये गये धन का दानी होने के यश को नष्ट न करेगा ॥२२७॥

या च सम्बन्धिनी तस्य प्रबलस्यौषधीगुहा।
तेन प्रभासस्यात्मीया वश्या सास्य सकिङ्करा॥२४२॥
तदधश्चास्ति पाताले मन्दिरं प्रबलस्य तत्।
यत्र द्वादश सन्त्यस्य मुख्यभार्याः स्वलङ्कृताः॥२४३॥
विविधानि च रत्नानि नानाप्रहरणानि च।
चिन्तामणिश्च लक्षं च योधानां तुरगास्तथा॥२४४॥
तत्प्रभासस्य सम्बन्धि सर्वमस्य पुरार्जितम्।
तदीदृशः प्रभासोऽयं नास्येदं किञ्चिदद्भुतम्॥२४५॥
एवं ततो मुनिकुमारकतो निशम्य सूर्यप्रभप्रभृतयः समयप्रभासाः।
रत्नाद्यवाप्तुमथ तत्प्रययुस्तदैव पातालगं प्रबलवेश्मबिलप्रवेशम्॥२४६॥
तेन प्रविश्य परिगृह्य च पूर्वपत्नी—
श्चिन्तामणिं च तुरगानसुरांश्च योधान्।
निर्गत्य चात्तनिखिलद्रविणः स एकः
सूर्यप्रभं किमपि तोषितवान् प्रभासः॥२४७॥
अथ समयसुनीथः सप्रभासः सुमेरु—
प्रभृतिभिरनुयातो राजभिर्मन्त्रिभिश्च।
द्रुतमभिमतसिद्धिं प्राप्य सूर्यप्रभोऽसौ
पुनरपि निजसेनासन्निवेशं तमागात्॥२४८॥
तत्र सोऽसुरनराधिपादिषु स्वस्ववासकगतेषु तेषु तम्।
रात्रिशेषमनयत् कुशास्तरे सन्निगृह्य रणदीक्षितः पुनः॥२४९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
सूर्यप्रभलम्बके तृतीयस्तरङ्गः।

चतुर्थस्तरङ्गः

रणभूमौ सूर्यप्रभस्य युद्धसज्जा

ततः प्रातः समं सैन्यैः स सुमेरुतपोवनात्।
तस्मात्सूर्यप्रभः प्रायाच्छ्रुतशर्मजिगीषया॥१॥
तन्निवासस्य निकटं त्रिकूटाद्रेरवाप्य च।
आवासितोऽभूत्तत्रस्थं बलेनोत्सार्य तद्बलम्॥२॥

यह गुफा उसी प्रबल दानव की है। इसी कारण वह उन पहरेदारों के साथ यह उसी के अधीन है ॥२४२॥

उस गुफा के नीचे प्रबल का भवन है, जहाँ अलंकारों से सजी हुई उसकी बारह पत्नियाँ रहती हैं ॥२४३॥

वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के रत्न और विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र हैं। चिन्तामणि है और एक लाख योद्धा हैं और उतने ही घोड़े भी हैं ॥२४४॥

प्रभास की ये सब वस्तुएँ उसके पहले जन्म की कमाई है। इस प्रकार, यह प्रभास की कहानी है। अतः, इसके लिए यह सब कुछ आश्चर्य नहीं है" ॥२४५॥

मुनि सुवासकुमार के मुख से यह सब सुनकर सूर्यप्रभ, सुनीथ, मय, प्रभास आदि सभी रत्न आदि की प्राप्ति के लिए पाताल-स्थित प्रबल के गुहा-मन्दिर में गये ॥२४६॥

उसमें प्रवेश करके प्रभास ने अपने पूर्वजन्म की पत्नियों, चिन्तामणि, घोड़ों, सैनिकों तथा धन-रत्नों को बाहर लाकर सूर्यप्रभ को कुछ सन्तुष्ट किया ॥२४७॥

तब मय, सुनीथ और सुमेरु के साथ अपने मन्त्रियों के संग सूर्यप्रभ, अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर फिर सेना-शिविर में लौट आया ॥२४८॥

वहाँ पर असुर और मानव-राजाओं के अपने-अपने निवास-भवन में चले जाने पर स्वयं भी रण-दीक्षा का व्रत लेकर सूर्यप्रभ ने कुशा के आसन पर रात्रि व्यतीत की ॥२४९॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के सूर्यप्रभ लम्बक का
तृतीय तरंग समाप्त

चतुर्थ तरंग

सूर्यप्रभ का रणभूमि में सेना का उतारना

रात बीतने पर प्रातःकाल वह सूर्यप्रभ सुमेरु के तपोवन से अपनी सेना के साथ श्रुतशर्मा को जीतने के लिए चला ॥१॥

वहाँ से चलकर श्रुतशर्मा के निवास-स्थान त्रिकूट पर्वत पर पहुँचकर वहाँ पड़ी हुई उसकी सेना को बलपूर्वक हटाकर सूर्यप्रभ ने अपनी सेना का शिविर स्थापित किया ॥२॥

आवासिते च तत्रास्मिन् ससुमेरुमयादिके।
आस्थानस्थे त्रिकूटेशसम्बन्धी दूत आययौ॥३॥
स चागत्य जगादैवं सुमेरुं खेचरेश्वरम्।
श्रुतशर्मपिता राजा तव सन्दिष्टवानिदम्॥४॥
दूरस्थस्य न तेऽस्माभिराचारो जातुचित् कृतः।
अद्यास्मद्विषयं प्राप्तः स त्वं प्राघुणिकैः सह॥५॥
तदातिथ्यमिदानीं वो विधास्यामो यथोचितम्।
श्रुत्वैतं शत्रु सन्देशं सुमेरुः प्रत्युवाच तम्॥६॥
साधु नास्मत्समं पात्रमतिथिं प्राप्स्यथापरम्।
आतिथ्यं न परे लोके दास्यतीहैव तत्फलम्॥७॥
तदिमे वयमातिथ्यं क्रियतामित्युदाहृते।
सुमेरुणा तथैवागात् स दूतः स्वं प्रभुं प्रति॥८॥
अथोन्नतप्रदेशस्थास्ते तु सूर्यप्रभादयः।
सैन्यानि ददृशुः स्वानि निविष्टानि पृथक्-पृथक्॥९॥
ततः सुनीथः पितरं स्वमुवाच मयासुरम्।
प्रविभागं रथादीनामस्मत्सैन्येऽत्र शंस नः॥१०॥
एवं करोमि शृणुतेत्युक्त्वाङ्गुल्या निदर्शयन्।
दानवेन्द्रः स सर्वज्ञो वक्तुमेवं प्रचक्रमे॥११॥
असौ सुबाहुर्निर्घातो मुष्टिको गोहरस्तथा।
प्रलम्बश्च प्रमाथश्च कङ्कटः पिङ्गलोऽपि च॥१२॥
वसुदत्तादयश्चैते राजानोऽर्धरथा इमे।
अङ्करी सुविशालश्च दण्डिभूषणसोमिलाः॥१३॥
उन्मत्तको देवशर्मा पितृशर्मा कुमारकः।
एते सहरिदत्ताद्याः सर्वे पूर्णरथा मताः॥१४॥
प्रकम्पनो दर्पितश्च कुम्भीरो मातृपालितः।
महाभटः सोग्रभटो वीरस्वामी सुराधरः॥१५॥
भण्डीरः सिंहदत्तश्च गुणवर्मा सकीटकः।
भीमो भयङ्करश्चेति सर्वेऽमी द्विगुणा रथाः॥१६॥
विरोचनो वीरसेनो यज्ञसेनोऽथ खुज्जरः।
इन्द्रवर्मा शबरकः क्रूरकर्मा निरासकः॥१७॥

शिविर लग जाने पर सुमेरु, मय आदि के साथ सभा में बैठे हुए सूर्यप्रभ के समीप त्रिकूटेश्वर (श्रुतशर्मा) का दूत आया ॥३॥

उस दूत ने सभा में आकर सुमेरु नामक विद्याधरराज से कहा कि श्रुतशर्मा के पिता ने यह सन्देश दिया है कि 'हमने दूर देशवासी तुम्हारा आतिथ्य-सत्कार कभी नहीं किया है। आज तुम कुछ पाहुनों के साथ हमारे देश में पधारे हो। इसलिए, अब हम तुम्हारा समुचित आतिथ्य सत्कार करेंगे।' इस प्रकार शत्रु का सन्देश सुनकर सुमेरु ने दूत से कहा—॥४-६॥

'ठीक है, हमारे समान दूसरे पाहुन को तुम न पाओगे। हमारा आतिथ्य-सत्कार परलोक में नहीं, इसी लोक में तुम्हें फल देगा ॥७॥

तो हम सब तैयार हैं, आतिथ्य-सत्कार करो!' सुमेरु के ऐसा कहने पर दूत ने अपने स्वामी को वैसा ही उत्तर कह सुनाया ॥८॥

तदनन्तर, सूर्यप्रभ आदि ने ऊँचे स्थान पर खड़े होकर अलग-अलग खड़ी हुई अपनी सेनाओं का निरीक्षण किया ॥९॥

तब सुनीथ ने अपने पिता मयासुर से कहा—'हमारी सेना में रथ आदि की व्यवस्था क्या है? यह मुझे बताओ' ॥१०॥

'अच्छा, ऐसा ही करता हूँ'—यह कह कर सर्वज्ञ दानवराज मय ने अंगुलि से दिखाते हुए कहना प्रारंभ किया—॥११॥

ये सुबाहु, निघात, मुष्टिक, गोहर, प्रलंब, प्रमाथ, कंकट, पिंगल, वसुदत्त आदि राजा अर्धरथी हैं अंकुरी, सुविशाल, दंडी, भूषण, सोमिल, उन्मत्त, देवशर्मा, पितृशर्मा, कुमार और हरिदत्त ये सब पूर्णरथी हैं ॥१२–१४॥

प्रकम्पन, दर्पित, कुम्भीर, मातृपालित, महाभट, उग्रभट, वीरस्वामी, सुराधर, भंडीर, सिंहदत्त, गुणवर्मा, कीटक, भीम और भयंकर सभी ये द्विगुण रथी हैं ॥१५–१६॥

विरोचन, वीरसेन, यज्ञसेन, खुज्जर, इन्द्रवर्मा और शबरक, क्रूरकर्मा और निरासक ॥१७॥

भवेयुस्त्रिगुणा एते रथा राजसुताः सुत।
सुशर्मा बाहुशाली च विशाखः क्रोधनोऽप्ययम् ॥१८॥
प्रचण्डश्चेत्यमी राजपुत्रा रथचतुर्गुणाः।
जुञ्जरी वीरवर्मा च प्रवीरवर एव च ॥१९॥
सुप्रतिज्ञोऽमरारामश्चण्डदत्तोऽथ जालिकः।
त्रयः सिंहभटव्याघ्रभटशत्रुभटा अपि ॥२०॥
राजानो राजपुत्राश्च रथाः पञ्चगुणा अमी।
उग्रवर्मा त्वयं राजपुत्रः स्यात् षड्गुणो रथः ॥२१॥
राजपुत्रो विशाखश्च सुतन्तुः सुगमोऽपि च।
नरेन्द्रशर्मा चेत्येते रथाः सप्तगुणा मताः ॥२२॥
महारथः पुनरयं सहस्रायुर्नृपात्मजः॥
महारथानां यूथस्य शतानीकस्त्वयं पतिः ॥२३॥
सुभासहर्षविमलाः सूर्यप्रभवयस्यकाः।
महाबुद्ध्यचलाख्यौ च प्रियङ्करशुभङ्करौ ॥२४॥
एते महारथा यज्ञरुचिधर्मरुची तथा।
एवं विश्वरुचिर्भासः सिद्धार्थश्चेत्यमी त्रयः ॥२५॥
सूर्यप्रभस्य सचिवाः स्युर्महारथयूथपाः।
प्रहस्तश्च महार्थश्च तस्यातिरथयूथपौ ॥२६॥
यूथपौ रथयूथानां प्रज्ञाढ्यस्थिरबुद्धिकौ।
दानवः सर्वदमनस्तथा प्रमथनोऽप्यसौ ॥२७॥
धूमकेतुः प्रवहणौ वज्रपञ्जर एव च।
कालचक्रौ मरुद्वेगो रथातिरथपा अमी ॥२८॥
प्रकम्पनः सिंहनादो रथारिरथयूथपौ।
महामायः काम्बलिकः कालकम्पनकोऽप्ययम् ॥२९॥
प्रहृष्टरोमा चेत्येते चत्वारोऽप्यसुराधिपाः।
पुत्रातिरथयूथाधिपतीनामधिपा इमे ॥३०॥
सूर्यप्रभसमश्चायं प्रभासः सैन्यनायकः।
सुमेरुतनयश्चैष श्रीकुञ्जरकुमारकः ॥३१॥
द्वौ महारथयूथाधिपतियूथाधिपाविमौ।
इत्येतेऽस्मद्बलेऽन्ये च शूराः स्वैः स्वैर्बलैर्वृताः ॥३२॥

ये सभी राजकुमार त्रिगुणरथी हैं। सुशर्मा, बाहुशाली, विशाख, क्रोधन और प्रचंड ये राजपुत्र चतुर्गुण रथी हैं। जुंजरी, वीरवर्मा, प्रवीरवर, सुप्रतिज्ञ, अमराराम, चन्द्रदत्त, जालिक आदि राजकुमार एवं सिंहभट, व्याघ्रभट और शत्रुभट राजा पंचगुण रथी हैं। यह उग्रवर्मा नाम का राजकुमार षड्गुण रथी है॥१८—२१॥

राजपुत्र विशाख, सुतन्तु, सुगम और नरेन्द्रशर्मा ये सप्तगुण रथी हैं॥२२॥

राजा सहस्रायु का पुत्र महारथी है। यह शतानीक महारथियों के दल का सरदार है॥२३॥

सूर्यप्रभ के मित्र सुभाष, हर्ष, विमल, महाबुद्धि, अचल, प्रियंकर और शुभंकर महा रथियों के नायक हैं॥२४॥

धर्मरुचि और यज्ञरुचि ये दोनों महारथी हैं। इसी प्रकार, विश्वरुचि, भास और सिद्धार्थ ये तीनों सूर्यप्रभ के मन्त्री महारथियों के नायक हैं। प्रहस्त और महार्थ ये अतिरथियों के नायक हैं॥२५-२६॥

प्रज्ञाढ्य और स्थिरबुद्धि ये रथयूथों के नायक हैं। दानव सर्वदमन, प्रमथन, धूमकेतु, प्रवहण, वज्रपंजर, कालचक्र और मरुद्वेग रथियों और अतिरथियों के नायक हैं। प्रकम्पन, सिंहनाद ये दोनों रथियों तथा अतिरथियों के सरदार हैं। हे पुत्र, महामाय, काम्बलिक, कालकम्पनक और हृष्टरोमा ये चारों असुरराज महारथियों के अधिपतियों के अधिपति हैं॥२७-३०॥

सूर्यप्रभ के समान शक्तिशाली प्रभास और सुमेरु का पुत्र श्रीकुंजरकुमार ये प्रधान योद्धा महारथियों के नायक हैं। ये तथा अन्यान्य अपनी-अपनी सेनाओं के साथ आये हुए अनेक योद्धा हमारी सेना में हैं॥३१-३२॥

परसैन्येऽधिकाः सन्ति तथाप्यस्मद्बलस्य ते।
न पर्याप्ता भविष्यन्ति सप्रसादे महेश्वरे॥३३॥
इति यावत्सुनीथं तं ब्रवीति स मयासुरः।
श्रुतशर्मपितुः पार्श्वाद्दूतोऽन्यस्तावदाययौ॥३४॥
स चोवाच त्रिकूटाधिपतिरेवं ब्रवीति वः।
संग्रामो नाम शूराणामुत्सवो हि महानयम्॥३५॥
तस्यैषा सङ्कटा भूमिस्तस्मादागम्यतामितः।
यामः कलापग्रामाख्यं प्रदेशं विपुलान्तरम्॥३६॥
एतच्छ्रुत्वा सुनीथाद्याः सैन्यैः सह तथेति ते।
सर्वे कलापग्रामं तं सूर्यप्रभयुता ययुः॥३७॥
श्रुतशर्मादयस्तेऽपि तथैव समरोन्मुखाः।
तमेव देशमाजग्मुर्विद्याधरबलैर्वृताः॥३८॥
श्रुतशर्मबले दृष्ट्वा गजान्सूर्यप्रभादयः।
आनाययन्गजानीकं स्वं विमानाधिरोपितम्॥३९॥
ततः सेनापतिश्चक्रे सेनायां श्रुतशर्मणः।
दामोदरो महासूचिव्यूहं[1] विद्याधरोत्तमः॥४०॥
तत्र पार्श्वे स्वयं तस्थौ श्रुतशर्मा समन्त्रिकः।
अग्रे दामोदरश्चासीदन्यत्रान्ये महारथाः॥४१॥
सैन्ये सूर्यप्रभस्यापि प्रभासोऽनीकिनीपतिः।
अर्धचन्द्रं[2] व्यधाद्व्यूहं मध्ये तस्याभवत्स्वयम्॥४२॥
स कुञ्जरकुमारश्च प्रहस्तश्चास्य कोणयोः।
सूर्यप्रभसुनीथाद्यास्तस्थुः सर्वेऽत्र पृष्ठतः॥४३॥
सुमेरौ तत्समीपस्थे ससुवासकुमारके।
आहन्यन्त रणातोद्यान्युभयोरपि सैन्ययोः॥४४॥
तावच्च गगनं देवैः संग्रामं द्रष्टुमागतैः।
सेन्द्रैः सलोकपालैश्च साप्सरस्कैरपूर्यत॥४५॥
आययौ चात्र विश्वेशः शङ्करः पार्वतीयुतः।
देवताभिर्गणैर्भूतैर्मातृभिश्चाप्यनुद्रुतः ॥४६॥

---

१. अग्रे सूचिमुखमिव तीक्ष्णं पश्चाच्च विपुलं सेनासन्निवेशं निर्मितवान्।
२. अर्धचन्द्राकारः सेनासन्निवेशः।

यद्यपि शत्रु की सेना में सैनिक योद्धा हमसे अधिक हैं, फिर भी शिवजी की कृपा से वे हमारी सेना के लिए पर्याप्त नहीं हैं"॥३३॥

इस प्रकार, मय दानव, अपने ज्येष्ठ पुत्र सुनीथ को जब अपनी शक्ति का परिचय दे रहा था, इतने में ही श्रुतशर्मा के पिता द्वारा भेजा हुआ दूत उसके समीप आया ॥३४॥

और कहने लगा—'त्रिकूटाधिपति ने आपको यह सन्देश दिया है कि संग्राम शूर-वीरों का महोत्सव है ॥३५॥

किन्तु, इस संग्राम-महोत्सव के लिए यह भूमि छोटी है, अतः हमलोग विस्तृत मैदानवाले कलापग्राम में चलें, इसलिए यहाँ से आप वहीं आवें' ॥३६॥

यह सन्देश सुनकर सुनीथ आदि ने इस बात को स्वीकार किया और सूर्यप्रभ आदि सभी कलापग्राम को गये ॥३७॥

इसी प्रकार युद्ध के लिए तत्पर श्रुतशर्मा आदि भी विद्याधर-सेना के साथ उसी स्थान पर पहुँचे ॥३८॥

श्रुतशर्मा की सेना में हाथियों को देखकर सूर्यप्रभ आदि ने विमानों द्वारा अपने हाथी मँगाये ॥३९॥

तदनन्तर, श्रुतशर्मा के सेनापति विद्याधरराज दामोदर ने अपनी सेना में महासूचिव्यूह की रचना की ॥४०॥

उस व्यूह के पार्श्व में श्रुतशर्मा स्वयं मन्त्रियों के साथ खड़ा हुआ और उसके अग्रभाग में दामोदर सेनापति था तथा अन्यान्य विशेष स्थानों में और-और विद्याधर-राजा थे ॥४१॥

उधर सूर्यप्रभ के सेनापति प्रभास ने अर्धचन्द्राकार व्यूह बनाया और उसके बीच स्वयं रहा। व्यूह के दोनों कोनों पर कुंजरकुमार और प्रहस्त खड़े थे। सूर्यप्रभ और सुनीथ आदि व्यूह के पृष्ठ भाग में उसकी रक्षार्थ तत्पर हुए ॥४२-४३॥

सुमेरु और सुवासकुमार के उन व्यूह के समीप खड़े होने पर दोनों सेनाओं में रण-भरी बज उठी ॥४४॥

तबतक युद्ध देखने के कौतुक से आये हुए चन्द्रादि देवताओं, लोकपालों और अप्सराओं से स्थान भर गया ॥४५॥

पार्वती के साथ विश्वनाथ शंकर भी आये। उनके पीछे देवता, गण, मातृकाएँ एवं भूत-प्रेत आदि भी थे ॥४६॥

आगाच्च भगवान्ब्रह्मा सावित्र्यादिभिरन्वितः।
मूर्त्तैर्वेदैश्च शास्त्रैश्च निखिलैश्च महर्षिभिः ॥४७॥
आजगाम च देवीभिर्लक्ष्मीकीर्त्तिजयादिभिः।
धृतचक्रायुधो देवः पक्षिराजरथो हरिः ॥४८॥
सभार्यः कश्यपोऽप्यागादादित्या वसवोऽपि च।
यक्षराक्षसनागेन्द्राः प्रह्लादाद्यास्तथासुराः ॥४९॥
तैरावृते नभोभागे शस्त्रसम्पातदारुणः[1]।
प्रावर्त्तत महानादः संग्रामः सेनयोस्तयोः ॥५०॥
दिक्चक्रे बाणजालेन घनेनाच्छादिते तदा।
अन्योन्यशरसङ्घर्षजातानलतडिल्लते ॥५१॥
शस्त्रक्षतगजाश्वौघरक्तधारावपूरिताः।
वीरकायवहद्ग्राहा निर्ययुः शोणितापगाः ॥५२॥
नृत्यतां तरतां रवते नदतां चोत्सवाय सः।
शूराणां फेरवाणां च भूतानां चाभवद्रणः ॥५३॥
शान्ते तुमुलसंग्रामे निहतासंख्यसैनिके।
लक्ष्यमाणे विभागे च शनैः स्वपरसैन्ययोः ॥५४॥
प्रतिपक्षप्रवीराणां प्रयुद्धानां सुमेरुतः।
नामादौ श्रूयमाणे च क्रमात्सूर्यप्रभादिभिः ॥५५॥
पूर्वं सुबाहोपनृतेर्विद्याधरपतेस्तथा।
अट्टहासाभिधानस्य द्वन्द्वयुद्धमभूद्द्वयोः ॥५६॥
सुचिरं युध्यमानस्य तस्य विद्धस्य सायकैः।
अट्टहासोऽर्धचन्द्रेण सुबाहोरच्छिनच्छिरः ॥५७॥
दृष्ट्वा सुबाहुं निहतं मुष्टिकोऽभ्यापतत्क्रुधा।
सोऽपि तेनाट्टहासेन हृदि बाणहतोऽपतत् ॥५८॥
मुष्टिके निहते क्रुद्धः प्रलम्बो नाम भूपतिः।
अभिधाव्याट्टहासं तं शरवर्षैरयोधयत् ॥५९॥
अट्टहासोऽपि तत्सैन्यं हत्वा हत्वा च मर्मणि।
प्रलम्बमपि तं वीरं रथपृष्ठे न्यपातयत् ॥६०॥

---

१. शस्त्राणां सम्पातेन, दारुणः = भीषणः।

सावित्री के साथ ब्रह्मा तथा उनके साथ मूर्तिमान् वेद और महर्षि भी आये ।।४७।।

और लक्ष्मी, कीर्त्ति, जया आदि के साथ चक्रधारी भगवान् विष्णु भी गरुडवाहन पर बैठकर वहाँ आये ।।४८।।

अपनी सभी पत्नियों के साथ महर्षि कश्यप, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, यक्षों, राक्षसों और नागों के राजा एवं प्रह्लाद आदि असुरों के राजा भी युद्ध देखने के लिए वहाँ एकत्र हुए ।।४९।।

इन दर्शकों के कारण आकाश-मार्ग भर जाने पर, शस्त्रों की झनझनाहट से भीषण और महान् कोलाहल दोनों ओर की सेनाओं में फैल गया। सारी दिशाओं के आकाश बादलों के समान बाणों के जाल से छा गये। दोनों ओर से चलते हुए बाणों के आपस में टकराने पर अग्नि-रूपी बिजली चमकने लगी ।।५०-५१।।

नीचे भूमि पर शस्त्रों से काटे गए हाथी-घोड़ों के वीरों के रक्त की नदियाँ बह चलीं। वीरों के शरीर-रूपी ग्राह उस नदी में बह रहे थे। नाचते, कूदते और रक्त की नदी में तैरते तथा चिल्लाते हुए शूरों-वीरों पर टूटते हुए सियारों और भूत-प्रेतों के लिए वह युद्ध अत्यन्त उत्सव और आनन्द का कारण बन गया था ।।५२-५३।।

असंख्य सैनिकों के कट जाने और उस घोर संग्राम के शनैः-शनैः शान्त होने पर शेष सैनिक धीरे-धीरे अपने और शत्रु के पक्ष को भली भाँति जान सके ।।५४।।

तब सुमेरु द्वारा शत्रु-पक्ष के वीरों के नाम सूर्यप्रभ आदि ने सुने और उन्हें पहचाना ।।५५।।

सबसे पहले उधर के एक राजा सुबाहु तथा विद्याधरों के राजा अट्टहास का परस्पर द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ ।।५६।।

बहुत समय तक युद्ध करते हुए और बाणों से छिदे हुए सुबाहु के शिर को अट्टहास ने अर्धचन्द्राकार बाण से काट दिया ।।५७।।

सुबाहु को मृत देखकर मुष्टिक नामक राजा अट्टहास पर टूट पड़ा। अट्टहास ने उसे भी छाती में बाण मारकर धराशायी बना दिया ।।५८।।

मुष्टिक के मारे जाने पर प्रलम्ब नामक राजा ने आगे आकर अट्टहास को बाणों की वर्षा से छा दिया ।।५९।।

अट्टहास ने उसकी सेना को मारकर और उसके मर्मस्थानों पर प्रहार करके प्रलम्ब को भी रथ पर ही सुला दिया ।।६०।।

वीक्ष्य प्रलम्बं निहतं मोहनो नाम भूपतिः।
सन्निपत्याट्टहासं तं ताडयामास सायकैः ॥६१॥
ततोऽट्टहासस्तं छिन्नकोदण्डं हतसारथिम्।
दृढप्रहाराभिहतं पातयामास मोहनम् ॥६२॥
दृष्टवाऽट्टहासेन हतांश्चतुरश्चतुरेण तान्।
श्रुतशर्मबलं हर्षादुन्ननाद जयोन्मुखम् ॥६३॥
तद्दृष्टवा कुपितो हर्षः सूर्यप्रभवयस्यकः।
ससैन्यमभ्यधावत्तमट्टहासं ससैनिकः ॥६४॥
निवार्य च शरैस्तस्य शरान्सैन्यं निहत्य च।
व्यापाद्य सारथिं द्विस्त्रिर्धनुश्छित्त्वा च सध्वजम् ॥६५॥
हर्षो यदट्टहासस्य निर्बिभेद शरैः शिरः।
तेनासौ रुधिरोद्गारी निपपात रथाद्भुवि ॥६६॥
अट्टहासे हते तादृक् क्षोभोऽभूदत्र संयुगे।
क्षणादर्धावशेषं तद्येन जज्ञे बलद्वयम् ॥६७॥
निपेतुरेवं निहतास्तत्राश्वगजपत्तयः।
रणमूर्धनि चोत्तस्थुः कबन्धा एव केवलम् ॥६८॥
ततो विकृतदंष्ट्राख्यो हर्षं विद्याधरेश्वरः।
एत्याट्टहासनिधनक्रुद्धो बाणैरवाकिरत् ॥६९॥
हर्षोऽपि तस्य निर्धूय शरान्सध्वजसारथीन्।
हत्वा रथाश्वांश्चिच्छेद शिरो ललितकुण्डलम् ॥७०॥
हते विकृतदंष्ट्रे तु चक्रवाल इति श्रुतः।
राजा विद्याधरो हर्षमभ्यधावदमर्षितः ॥७१॥
स युध्यमानमवधीदसकृच्छिन्नकार्मुकम्।
चक्रवालो युधि श्रान्तं हर्षं शीर्णपरायुधम् ॥७२॥
तत्क्रोधादेत्य नृपतिः प्रमाथस्तमयोधयत्।
सोऽप्यहन्यत तेनाथ चक्रवालेन संयुगे ॥७३॥
तथैव तेन चात्रान्येऽप्येकशो धाविताः क्रमात्।
चत्वारश्चक्रवालेन राजमुख्या निपातिताः ॥७४॥
कङ्कटश्च विशालश्च प्रचण्डश्चाङ्कुरी तथा।
तद्दृष्ट्वाभ्यपतत्क्रोधान्निर्घातो नाम तं नृपः ॥७५॥

तदनन्तर, प्रलम्ब को मरा हुआ देखकर मोहन नामक राजा ने, सामने आकर अट्टहास को बाणों की वर्षा से छा दिया ॥६१॥

अट्टहास ने, धनुष काटकर और सारथी को मारकर दृढ़ प्रहारों द्वारा मोहन नामक राजा को भी गिरा दिया ॥६२॥

रण-चतुर अट्टहास द्वारा चार वीरों के मारे जाने पर श्रुतशर्मा की सेना विजय मनाती हुई हर्ष से कोलाहल करने लगी ॥६३॥

यह देखकर हर्ष नामक क्रुद्ध सूर्यप्रभ के मित्र ने अपनी सेना के साथ अट्टहास का सामना किया। अपने बाणों से उसके बाणों को हटाकर दो बाणों से उसके सारथी और तीन से उसके धनुष और ध्वजा को काट दिया ॥६४-६५॥

उसके पश्चात् हर्ष ने बाणों से अट्टहास का शिर काट डाला; जिससे रक्त उगलता हुआ अट्टहास रथ से भूमि पर गिर पड़ा ॥६६॥

अट्टहास के मरते ही ऐसा घमासान युद्ध मचा कि क्षण-भर में ही दोनों ओर की सेना आधी-आधी रह गई ॥६७॥

सारी रणभूमि में हाथी, घोड़े और पैदल सैनिक कटकर मर रहे थे। केवल शिरों से हीन धड़ ही धड़ खड़े दीख रहे थे ॥६८॥

तब अट्टहास की मृत्यु से क्रुद्ध हुआ विकृतदंष्ट्र नामक विद्याधरराज ने सामने आकर हर्ष को बाणों से घेर लिया ॥६९॥

हर्ष ने भी उसके बाणों का जाल काटकर उसकी ध्वजा और सारथी को भी काटा और उसके घोड़ों को मारकर सुन्दर कुंडलवाले उसके शिर को भी काट डाला ॥७०॥

विकृतदंष्ट्र के मारे जाने के कारण चक्रवाल नामक विद्याधर-राजा क्रोध से हर्ष के प्रति दौड़ा ॥७१॥

चक्रवाल ने भी बार-बार हर्ष के धनुष को काटा और दूसरे शस्त्र को उठाने के पहले ही उसने थके हुए हर्ष को मार दिया ॥७२॥

यह देखकर प्रमाथ नामक राजा ने चक्रवाल को लड़ाया, किन्तु चक्रवाल ने सामने आये हुए चार मुख्य राजाओं को क्रमशः मार डाला ॥७३-७४॥

जिनके नाम थे, कंकट, विशाल, प्रचंड और अंकुरी। यह देखकर निर्घात नाम का राजा क्रोध से चक्रवाल पर टूट पड़ा ॥७५॥

तौ चक्रवालनिर्घातौ युध्यमानौ चिरं क्रमात्।
अन्योन्यचूर्णितरथावभूतां पादचारिणौ ॥७६॥
असिचक्रधरौ द्वावप्याकोपमिलितौ च तौ।
खड्गाहतिद्विधाभूतमूर्धानौ भुवि पेततुः ॥७७॥
विपन्नौ वीक्ष्य तौ वीरौ विषण्णेऽपि बलद्वये।
रणाग्रमाययौ विद्याधरेन्द्रः कालकम्पनः ॥७८॥
राजपुत्रोऽभ्यधावच्च तं प्रकम्पननामकः।
स कालकम्पनेनात्र क्षणात्तेन न्यपातयत् ॥७९॥
तस्मिन्निपतिते तस्य पञ्चान्येऽभ्यपतन् रथाः।
जालिकश्चण्डदत्तश्च गोपकः सोमिलोऽपि च ॥८०॥
पितृशर्मा च सर्वे ते शरांस्तस्मिन् सहामुचन्।
स तु पञ्चापि तान्कालकम्पनो विरथीकृतान् ॥८१॥
जघान युगपद्विध्यन्नाराचैर्हृदि पञ्चभिः।
प्रणेदुः खेचरास्तेन व्यषीदन् मनुजासुराः ॥८२॥
ततोऽभ्यधावन्नपरे चत्वारस्तं रथाः समम्।
उन्मत्तकः प्रशस्तश्च विलम्बकधुरन्धरौ ॥८३॥
स तानप्यवधीत्कालकम्पनो लीलयाखिलान्।
तथैव धावितानन्यान्षड्रथान्निजघान सः ॥८४॥
तेजिकं गेयिकं चैव वेगिलं शाखिलं तथा।
भद्रङ्करं दण्डिनं च भूरिसैन्यान् महारथान् ॥८५॥
अपरांश्च पुनः पञ्च सोऽवधीन्मिलितान्युधि।
भीमभीषणकुम्भीरविकटान्सविलोचनान् ॥८६॥
तद्दृष्ट्वा कदनं कालकम्पनेन कृतं रणे।
अधावत्सुगणो नाम राजपुत्रोऽस्य सम्मुखः ॥८७॥
स तेन तावद्विदधे समं युद्धमुभावपि।
हताश्वसारथी यावद्विरथौ तौ बभूवतुः ॥८८॥
ततस्तं खड्गयुद्धेन सुगणं पादचारिणम्।
स कालकम्पनः पादचार्येव भुवि जघ्निवान् ॥८९॥
तावच्च मानुषैर्विद्याधराणां सममाहवम्।
असम्भाव्यं विलोक्येव खिन्नोऽस्तं प्रययौ रविः ॥९०॥

वे चक्रवाल और निर्घात परस्पर घमासान युद्ध करते हुए रथ, घोड़े, सारथी आदि के मारे जाने पर पैदल ही युद्ध करने लगे ॥७६॥

ढाल और तलवार से युद्ध करते हुए और क्रोध से भिड़े हुए, परस्पर के ही खड्ग-प्रहार से कटे हुए शिरोंवाले दोनों ही भूमि पर गिर पड़े ॥७७॥

उन दोनों वीरों को गिरे हुए देखकर दोनों ओर की सेनाएँ निराश हो गईं, तब विद्याधरों, का राजा कालकंपन रणभूमि में सामने आया ॥७८॥

इधर से प्रकंपन नाम का राजकुमार उसके सामने आया। उसे कालकंपन ने क्षण-भर में ही गिरा दिया ॥७९॥

उसके गिरते ही दूसरे पाँच महारथी मैदान में आये। वे थे—जालिक, चंडदत्त, गोपक, सोमिल और पितृशर्मा। सभी ने एक साथ कालकंपन पर बाणों की बौछार की; किन्तु उस कालकम्पन ने पाँचों को रथहीन कर दिया ॥८०-८१॥

और, एक साथ ही पाँच बाणों से पाँचों के कलेजे बींध दिये। इससे खेचर (विद्याधर) तो प्रसन्न हुए और मनुष्य और असुर दुःखी हुए ॥८२॥

तब चार रथ एक साथ उसकी ओर दौड़ पड़े। वे चारों रथों में थे—उन्मत्तक, प्रशस्त, विलंबक और धुरंधर। कालकम्पन ने उन चारों को भी सहज में ही मार गिराया। और, उसी प्रकार दौड़कर आये हुए दूसरे छह महारथियों को भी मार डाला ॥८३-८४॥

तदनन्तर, कालकम्पन ने युद्ध में सामने आये हुए और पाँच महारथियों को भी मार दिया। वे पाँच महारथी थे—तेजिक, गेयिक, वेगिल, शाखिल, भद्रंकर और दंडी। इनके साथ बड़ी-बड़ी सेनाएँ भी मारी गईं ॥८५॥

इनके अतिरिक्त युद्ध में आये हुए भीम, भीषण, कुम्भीर, विकट और विलोचन नामक पाँच महारथियों को भी धराशायी कर दिया ॥८६॥

इस प्रकार, कालकंपन द्वारा किये जानेवाले संहार को देखकर सुगण नामक राजपुत्र युद्ध में उसके सामने आया ॥८७॥

वे दोनों परस्पर युद्ध करते हुए सारथी और रथ से विहीन हो गये ॥८८॥

तब पैदल युद्ध करते हुए कालकम्पन ने सुगण को तलवार से काटकर भूमि पर गिरा दिया ॥८९॥

इतने में ही मनुष्यों के साथ विद्याधरों के युद्ध को असंभव समझकर, अतएव मानों खिन्न होकर सूर्य भगवान् अस्ताचल को चले गये ॥९०॥

रक्ताम्बुपूरभरितं न परं समराङ्गणम्।
यावत्सन्ध्याकृतपदं ययौ व्योमापि शोणताम्॥९१॥
कबन्धैः सह भूतेषु सन्ध्यानृत्तोद्यतेष्वथ।
संहृत्य युद्धं ययतुः स्वनिवेशाय ते बले॥९२॥
श्रुतशर्मबले तस्मिन्दिने वीरा हतास्त्रयः।
त्रयस्त्रिंशत्प्रवीरास्तु बले सौर्यप्रभे हताः॥९३॥
तेन बान्धवमित्रादिनिधनेन सुदुर्मनाः।
सूर्यप्रभस्त्रियामां तामासीदन्तःपुरैर्विना॥९४॥
अनिद्र एव सचिवैः सह संग्रामसंकथाः।
तास्ताः कुर्वन्निनायैतां पुनर्युद्धोन्मुखो निशाम्॥९५॥

स्त्रीषु युद्धचर्चा सूर्यप्रभचर्चा च

तद्भार्याश्च मिलन्ति स्म हतबान्धवदुःखिताः।
एकत्र तस्यां रजनावन्योन्याश्वासनागताः॥९६॥
रुदितावसरेऽप्यत्र कथा नानाविधा व्यधुः।
स्त्रीणां न स क्षणो यत्र न कथा स्वपराश्रया॥९७॥
तत्प्रसङ्गेन तत्रैका राजपुत्रीदमब्रवीत्।
आश्चर्यमार्यपुत्रोऽद्य कथं सुप्तो निरङ्गनः॥९८॥
तच्छ्रुत्वा व्याजहारान्या संग्रामे स्वजनक्षयात्।
दुःखितो ह्यार्यपुत्रोऽद्य रमते स्त्रीजने कथम्॥९९॥
ततोऽपरा ब्रवीति स्म प्राप्नोत्यभिनवां यदि।
वरकन्यां स तद्दुःखं विस्मरत्यधुनैव तत्॥१००॥
अथेतराब्रवीन्मैवं यद्यपि स्त्रीषु लम्पटः।
तथापि न स दुःखेऽस्मिन्नीदृशः स्यात्तथाविधः॥१०१॥
इति तासु वदन्तीषु जगादैका सविस्मयम्।
ब्रूत स्त्रीलम्पटः कस्मादार्यपुत्रो बतेदृशः॥१०२॥
आहितास्वपि भार्यासु भूयसीषु नवा नवाः।
अनिशं राजपुत्रीर्यत्स गृह्णन्नैव तुष्यति॥१०३॥
एतच्छ्रुत्वा विदग्धैका तासु नाम्ना मनोवती।
उवाच श्रूयतां येन राजानो बहुवल्लभाः॥१०४॥

रक्त-रूपी जल से भरी हुई युद्ध-भूमि ही केवल लाल नहीं हुई, प्रत्युत सन्ध्या के कारण आकाश भी लाल हो गया ॥९१॥

तदनन्तर भूत-प्रेत, मृत-कबन्धों[1] के साथ आनन्द-नृत्य करने लगे और दोनों ओर की सेनाएँ भी युद्ध समाप्त करके अपने-अपने शिविरों को लौट गईं ॥९२॥

उस दिन के युद्ध में श्रुतशर्मा की सेना के तीन वीर मारे गये और सूर्यप्रभ की सेना के तैंतीस वीर काम आये ॥९३॥

इस प्रकार, बन्धुओं, मित्रों और वीर सैनिकों के मारे जाने के कारण खिन्नचित्त सूर्यप्रभ उस रात्रि को रानियों के विना ही रह गया ॥९४॥

और, निद्रा-रहित होकर युद्ध-सम्बन्धी आवश्यक विचार करते हुए उसने रात्रि व्यतीत की ॥९५॥

रानियों द्वारा सूर्यप्रभ की तथा युद्ध की चर्चा

उसी रात में, मृत बन्धुओं के कारण दुःखित और एक दूसरे को आश्वासन देने के लिए आई हुई उसकी पत्नियाँ भी एक स्थान पर आकर मिलीं ॥९६॥

उस शोक मनाने और रोने-धोने के समय में भी वे विभिन्न प्रकार की बातें परस्पर करने लगीं। स्त्रियों का ऐसा कोई भी क्षण नहीं जाता, जिसमें वे अपनी या पराई चर्चा न करें ॥९७॥

इसी प्रकार की चर्चा के प्रसंग में एक राजकुमारी बोली—'आश्चर्य है कि आज आर्यपुत्र (सूर्यप्रभ) अकेले कैसे सो गये ?' ॥९८॥

यह सुनकर दूसरी ने कहा—'युद्ध में अपने प्रिय व्यक्तियों की मृत्यु हो जाने के कारण दुःखित आर्यपुत्र पत्नियों के साथ आमोद-प्रमोद कैसे करते ?'॥९९॥

यह सुनकर तीसरी बोल उठी—'यदि आज ही उन्हें नवीन सुन्दरी कन्या मिल जाती, तो वे सारे स्वजनों का दुःख भूल जाते' ॥१००॥

तब चौथी ने कहा कि 'यद्यपि आर्यपुत्र स्त्रियों में अधिक आसक्ति रखते हैं, किन्तु ऐसे कष्ट के समय वे ऐसा कार्य कैसे कर सकते हैं ?'। वे सब परस्पर जब इस प्रकार की बातें कर रही थीं, तब एक स्त्री ने आश्चर्य के साथ कहा—"यह तो बताओ कि हमारे आर्यपुत्र भला इतने स्त्री-लम्पट क्यों हैं ? ॥१०१—१०२॥

बहुत-सी स्त्रियों के रहते हुए भी वे दिन-रात नई-नई स्त्रियों को ही ग्रहण करके सन्तुष्ट होते हैं ॥१०३॥

यह सुनकर उनमें से एक चतुरा मनोवती नाम की स्त्री बोली—'सुनो, राजा लोग बहुत पत्नियोंवाले क्यों होते हैं, यह मैं बताती हूँ ॥१०४॥

---

१. सिर से रहित धड़ =मृत कलेवर।

देशरूपवयश्चेष्टाविज्ञानादिविभेदतः ।
भिन्ना गुणा वरस्त्रीणां नैका सर्वगुणान्विता ॥१०५॥
कर्णाटलाटसौराष्ट्रमध्यदेशादिदेशजाः ।
योषा देशसमाचारै रञ्जयन्ति निजैर्निजैः ॥१०६॥
काश्चिद्धरन्ति सुदृशः शारदेन्दुनिभैर्मुखैः ।
अन्याः कनककुम्भाभैः स्तनैरुन्नतसंहतैः ॥१०७॥
स्मरसिंहासनप्रख्यैरपरा जघनस्थलैः ।
इतराश्चेतरैरङ्गैः स्वसौन्दर्यमनोरमैः ॥१०८॥
काचित्काञ्चनगौराङ्गी प्रियङ्गुश्यामलापरा ।
अन्या रक्तावदाता च दृष्ट्वैव हरतीक्षणे ॥१०९॥
काचित्प्रत्यग्रसुभगा काचित्सम्पूर्णयौवना ।
काचित्प्रौढत्वसुरसा प्रसरद्विभ्रमोज्ज्वला ॥११०॥
हसन्ती शोभते काचित्काचित्कोपेऽपि हारिणी ।
व्रजन्ती गजवत् कापि हंसवत् कापि राजते ॥१११॥
आलपन्त्यमृतेनेव काचिदासिञ्चति श्रुतिम् ।
सभ्रूविलासं पश्यन्ती स्वभावाद् भाति काचन ॥११२॥
नृत्तेन रोचते काचित् काचिद्गीतेन राजते ।
वीणादिवादनज्ञानेनान्या कान्ता च रोचते ॥११३॥
काचिद् बाह्यरताभिज्ञा काचिदाभ्यन्तरप्रिया ।
प्रसाधनोज्ज्वला काचित् काचिद्वैदग्ध्यशोभिता ॥११४॥
भर्तृचित्तग्रहाभिज्ञा चान्या सौभाग्यमश्नुते ।
कियद्वा वच्मि बहवोऽप्यन्येऽन्यासां पृथग्गुणाः ॥११५॥
तदेवमिह कस्याश्चिद् गुणः कोऽपि वरस्त्रियः ।
न तु सर्वगुणाः सर्वास्त्रिलोक्यामपि काश्चन ॥११६॥
अतो नानारसास्वादलब्धकक्ष्याः किलेश्वराः ।
आहृत्याप्याहरन्त्येव भार्या नवनवाः सदा ॥११७॥
उत्तमास्तु न वाञ्छन्ति परदारान् कथञ्चन ।
तन्नार्यपुत्रस्यैष स्याद्दोषो नेर्ष्या च नः क्षमा ॥११८॥
एवमाद्या मनोवत्या प्रोक्ताः सूर्यप्रभाङ्गनाः ।
अन्या मदनसेनाद्यास्तथैवोचुः कथाः क्रमात् ॥११९॥

देश, रूप, अवस्था, चेष्टा, विज्ञान आदि के भेद से अच्छी स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न गुणोंवाली होती हैं। एक ही स्त्री सर्वगुण-सम्पन्न नहीं हुआ करती ॥१०५॥

कर्णाट, लाट, सौराष्ट्र, मध्यदेश आदि की स्त्रियाँ अपनी-अपनी विशेषताओं से पति का मनोरंजन करती हैं ॥१०६॥

कुछ सुन्दरियाँ शरत्कालीन चन्द्रमा के समान मुख से मन हरण करती हैं, कुछ सोने के घड़ों के समान उठे और घने स्तनों से चित्त रंजन करती हैं, कुछ स्त्रियाँ काम के सिंहासन के समान जघनस्थल से आकर्षण करती हैं और कुछ दूसरे-दूसरे सौन्दर्य से तथा आकर्षक अंगों से मनोहरण करती हैं। कोई तपे हुए स्वर्ण के समान वर्णवाली होती हैं, कुछ प्रियंगु पुष्प के समान साँवले वर्ण की होती हैं और कुछ ललाई लिये हुए गौर वर्ण की होती हैं, जो देखते ही मन को मोहित कर लेती हैं ॥१०७—१०९॥

कुछ नई अवस्था के कारण सुन्दर होती हैं, तो कुछ यौवन के पूर्ण विकसित होने पर मनोरम हो,जाती हैं। कुछ स्त्रियाँ प्रौढता के कारण सरस होती हैं और कुछ अपने हाव-भाव-विलास से अपने सौंदर्य की छटा दिखाती है ॥११०॥

कोई हँसती हुई प्यारी लगती है, तो कोई क्रुद्ध होने पर मनोहरण करती हैं। कोई गज-गामिनी होती है और कोई हंसगामिनी होने के कारण अच्छी लगती हैं ॥१११॥

कुछ स्त्रियाँ मधुर भाषण के अमृत से कानों को सिक्त करती हैं और कोई सहज भ्रू-विलास से देखती हुई अच्छी लगती हैं ॥११२॥

कोई नाचने में निपुण होती है, तो कोई गाने में कुशल होती है। कोई वाद्य-कला में पारंगत होने के कारण संग्राह्य होती है ॥११३॥

कोई स्त्री बाहरी रति विलास में दक्ष होती है, तो कोई अन्तरंग रति विलास में चतुर होती है। कोई शृंगार करने में निपुण होती है, तो कोई बात करने में चतुर ॥११४॥

और, कोई पति के चित्त को वश में करके सौभाग्य प्राप्त करती है। कहाँ तक कहूँ, भिन्न-भिन्न स्त्रियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण होते हैं ॥११५॥

इन सब गुणों में से किसी में कोई और किसी में कोई अपना विशिष्ट गुण होता है। किन्तु, तीनों लोकों में भी कोई स्त्री सर्व-गुण-सम्पन्न नहीं मिलती ॥११६॥

इसलिए, भिन्न-भिन्न रसों के आस्वाद लेने के लोभी राजा लोग सदा नई-नई स्त्रियों से विवाह किया करते हैं ॥११७॥

उच्च कोटि के व्यक्ति दूसरों की स्त्रियों को नहीं चाहते। इसलिए, हमारे आर्यपुत्र (अधिक विवाह करके) दोषी नहीं है और न हमलोगों को इसमें ईर्ष्या ही करनी चाहिए' ॥११८॥

इस प्रकार, मनोवती के कहने पर सूर्यप्रभ की मदनसेना आदि स्त्रियाँ क्रमशः इसी प्रकार की चर्चा करने लगीं ॥११९॥

ततोऽतिरसतश्च ता विगतयन्त्रणानर्गलाः
परस्परमुपादिशन् सुरतकार्यतन्त्राण्यपि।
प्रसङ्गमिलिताः कथाप्रसरसक्तचित्ता मिथ-
स्तदस्ति न किमप्यहो यदिह नोद्वमन्ति स्त्रियः॥१२०॥
अथ कथमपि दीर्घा सा कथा चात्र तासा-
मवसितिमुपयाता सा च रात्रिः क्रमेण।
तिमिरविगमवेलावेक्षणैकाभिकांक्षो
रिपुबलविजिगीषोस्तत्र सूर्यप्रभस्य॥१२१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे सूर्यप्रभलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः।

पञ्चमस्तरङ्गः

सूर्यप्रभस्य विद्याधरैः सह युद्धवर्णनम्

अथ युद्धभुवं प्रातर्जग्मुः सूर्यप्रभादयः।
श्रुतशर्मादयस्ते च सन्नद्धाः सबलाः पुनः॥१॥
पुनश्च सेन्द्राः सब्रह्मविष्णुरुद्राः सुरासुराः॥
सयक्षोरगगन्धर्वाः संग्रामं द्रष्टुमाययुः॥२॥
श्रुतशर्मबले चक्रव्यूहं दामोदरो व्यधात्।
वज्रव्यूहं प्रभासश्च सूर्यप्रभबलेऽकरोत्॥३॥
ततः प्रववृते युद्धं तयोरुभयसैन्ययोः।
तूर्यैः सुभटनादैश्च बधिरीकृतदिग्तटम्॥४॥
सम्यक्छस्त्रहताः शूरा भिन्दन्ति मम मण्डलम्।
इतीव शरजालान्तश्छन्नो भानुरभूद् भिया॥५॥
दामोदरकृतं चक्रव्यूहमन्येन दुर्भिदम्।
भित्त्वा प्रभासः प्राविक्षदथ सूर्यप्रभाज्ञया॥६॥
तं च दामोदरो व्यूहच्छिद्रमेत्यावृणोत्स्वयम्॥
प्रभासो ययुधे तं च तत्रैकरथ एव सः॥७॥
प्रविष्टमेककं तं च दृष्ट्वा सूर्यप्रभोऽथ सः।
पश्चात्पञ्चदशैतस्य विससर्ज महारथान्॥८॥

तदनन्तर, किसी प्रकार की रोक-टोक के विना वे स्त्रियाँ स्वच्छन्द भाव से गुप्त रहस्य की वार्त्ताएँ भी करने लगी। किसी अवसर से एकत्र हुई और वार्त्तालाप के रस में निमग्न स्त्रियाँ आपस में ऐसी कौन-सी बात है, जिसे नहीं कह डालतीं ॥१२०॥

अँधेरे के बीतने की प्रतीक्षा करते हुए और शत्रु-दल पर विजय की कामना करते हुए सूर्यप्रभ की वह लम्बी रात्रि क्रमशः समाप्त हुई और उधर बातचीत के रस में निमग्न उसकी पत्नियों की वह लम्बी चर्चा भी क्रमशः समाप्त हो गई ॥१२१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के सूर्यप्रभ लम्बक का
चतुर्थ तरंग समाप्त

पंचम तरंग

सूर्यप्रभ चरित : रणभूमि में संग्राम

प्रभात-काल होते ही वे सूर्यप्रभ आदि तथा श्रुतशर्मा आदि तैयार होकर अपनी-अपनी सेनाओं के साथ रणभूमि में आकर डट गये ॥१॥

और ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि देवता तथा असुर, यक्ष गन्धर्व एवं राक्षस आदि युद्ध देखने के लिए आकाश के अवकाश में फिर से आकर एकत्र हो गये ॥२॥

श्रुतशर्मा की सेना में सेनापति दामोदर ने चक्रव्यूह बनाया और सूर्यप्रभ की सेना में सेनापति प्रभास ने वज्रव्यूह की रचना की ॥३॥

व्यूह-रचना के पश्चात् दोनों सेनाओं का युद्ध प्रारम्भ हुआ और रणवाद्यों तथा सैनिकों के शब्दों से सारी दिशाएँ गूँज उठीं ॥४॥

भली-भाँति शस्त्रों से मारे गये शूर-वीर मेरे मंडल का भेदन[1] करते हैं, इसलिए भय से मानों सूर्य भगवान् बाणों के जाल के अन्दर ढक गये ॥५॥

दामोदर के बनाये हुए चक्र-व्यूह को दूसरे वीर से अभेद्य जानकर सूर्यप्रभ की आज्ञा से प्रभास, उसका भेदन करके व्यूह में प्रवेश कर गया ॥६॥

प्रभास द्वारा व्यूह में किये गये छेद के मुँह पर दामोदर स्वयं आकर डट गया और वहाँ एक-मात्र रथ से ही प्रभास उससे युद्ध करने लगा ॥७॥

तब सूर्यप्रभ ने प्रभास को अकेले व्यूह में घुसा देखकर उसकी सहायता के लिए पन्द्रह महारथियों को उसके पीछे भेजा ॥८॥

---

१. रणभूमि में मारे गये शूर-वीर और योगी-परिव्राजक की आत्माएँ सूर्य-मण्डल का भेदन करके उसके ऊपर सत्यलोक में जाती हैं। —अनु०

प्रकम्पनं धूमकेतुं कालकम्पनकं तथा।
महामायं मरुद्वेगं प्रहस्तं वज्रपञ्जरम् ॥९॥
कालचक्रं प्रमथनं सिंहनादं सकम्बलम्।
विकटाक्षं प्रवहणं तं कुञ्जरकुमारकम् ॥१०॥
तं च प्रहृष्टरोमाणमसुराधिपसत्तमम्।
ते प्रधाव्य ययुः सर्वे व्यूहद्वारं महारथाः ॥११॥
तत्र दामोदरः पूर्वं स्वपौरुषमदर्शयत्।
यदेक एव युयुधे तैः पञ्चदशभिः सह ॥१२॥
तद्दृष्ट्वा नारदमुनिं पार्श्वस्थं वासवोऽभ्यधात्।
सूर्यप्रभाद्या असुरावतारा अखिलास्तथा ॥१३॥
श्रुतशर्मा मदंशश्च सर्वे विद्याधरा इमे।
देवांशास्तदयं युक्त्या मुने देवासुराहवः ॥१४॥
तस्मिश्च पश्य देवानां सहायः सर्वदा हरिः।
दामोदरस्तदंशोऽयमेवं तदिह युध्यते ॥१५॥
एवं शक्रे वदत्यस्य दामोदरचमूपतेः।
महारथाः समाजग्मुः साहाय्याय चतुर्दश ॥१६॥
ब्रह्मगुप्तो वायुबलो यमदंष्ट्रः सुरोषणः।
रोषावरोहोऽतिबलस्तेजःप्रभधुरन्धुरौ ॥१७॥
कुबेरदत्तो वरुणशर्मा कम्बलिकस्तथा।
वीरश्च दुष्टमदनो दोहनारोहणावुभौ ॥१८॥
दामोदरयुतास्तेऽपि वीराः पञ्चदशैव तान्।
सूर्यप्रभीयान् रुरुधुर्वीरान् व्यूहाग्रयोधिनः ॥१९॥
ततोऽत्र द्वन्द्वयुद्धानि तेषामासन् परस्परम्।
दामोदरेणास्त्रयुद्धं समं चक्रे प्रकम्पनः ॥२०॥
ब्रह्मदत्तेन च समं धूमकेतुरयुध्यत।
महामायस्तु युयुधे सहैवातिबलेन च ॥२१॥
तेजःप्रभेण युयुधे दानवः कालकम्पनः।
सह वायुबलेनापि मरुद्वेगो महासुरः ॥२२॥
यमदंष्ट्रेण च समं युयुधे वज्रपञ्जरः।
समं सुरोषणेनापि कालचक्रो सुरोत्तमः ॥२३॥

वे पन्द्रह महारथी इस प्रकार थे—प्रकम्पन, धूमकेतु, कालकम्पन, महामाय, मरुद्वेग प्रहस्त, वज्रपंजर, कालचक्र, प्रमथन, सिंहनाद, कम्बल, विकटाक्ष, प्रवहण, कुंजरकुमार और असुरराज प्रहृष्टरोमा। वे सभी महारथी रथ दौड़ाकर व्यूह के द्वार पर गये ॥९–११॥

वहाँ दामोदर ने अपनी अपूर्व रण-चातुरी का परिचय दिया और अकेला ही उन पन्द्रहों से भिड़ गया ॥१२॥

यह देखकर इन्द्र ने बगल में खड़े नारद मुनि से कहा—'ये सूर्यप्रभ आदि सभी असुरों के अवतार हैं। श्रुतशर्मा मेरे अंश से उत्पन्न हुआ है और ये सभी विद्याधर देवताओं के अंश हैं, अतः एक प्रकार से यह देवासुर-संग्राम ही है। हे मुने, देवासुर-संग्राम में विष्णु सदा देवताओं के ही सहायक रहे हैं। यह दामोदर उन्हीं विष्णु का अंश है। इसलिए देखो, किस प्रकार युद्ध कर रहा है ॥१३–१५॥

जब इन्द्र इस प्रकार कह ही रहा था, इतने में ही दामोदर की सहायता के लिए चौदह महारथी आये, जिनके नाम इस प्रकार हैं—ब्रह्मगुप्त, वायुबल, यमदंष्ट्र, सुरोषण, रोषावरोह, अतिबल, तेजःप्रभ, धुरंधर, कुबेरदत्त, वरुणशर्मा, कम्बलिक, वीर दुष्टदमन, दोहन और आरोहण॥१६–१८॥

दामोदर-सहित इन पन्द्रह वीरों ने व्यूह के द्वार पर प्रथम युद्ध करते हुए प्रभास आदि पन्द्रह महारथियों को रोका ॥१९॥

तदनन्तर, दामोदर के साथ प्रकम्पन का, तेजःप्रभ के साथ दानव कालकम्पन का, वायुबल के साथ मरुद्वेग नामक महासुर का, यमदंष्ट्र के साथ वज्रपंजर का, सुरोषण के साथ असुर कालचक्र का,—॥२०–२३॥

साकं कुबेरदत्तेन युद्धं प्रमथनो व्यधात्।
सिंहनादश्च दैत्येन्द्रः समं वरुणशर्मणा॥२४॥
युद्धं प्रवहणो दुष्टदमनेन सहाकरोत्।
प्रहृष्टरोमा रोषावरोहेणापि च दानवः॥२५॥
धुरन्धरेण च समं विकटाक्षो व्यधाद्युधम्।
युद्धं कम्बलिकश्चक्रे समं कम्बलिकेन च॥२६॥
आरोहणेन च समं स कुञ्जरकुमारकः।
महोत्पातापराख्येण प्रहस्तो दोहनेन च॥२७॥
एवं महारथद्वन्द्वेष्वेषु तत्र परस्परम्।
व्यूहाग्रे युध्यमानेषु सुनीथो मयमभ्यधात्॥२८॥
कष्टमस्मद्रथाः शूरा नानायुद्धविदोऽप्यमी।
रुद्धाः प्रतिरथैरेतैः पश्य व्यूहप्रवेशतः॥२९॥
प्रभासश्चैक एवाग्रे प्रविष्टोऽत्राऽविचारितम्।
तन्न जानीमहे कस्य किमिवात्र भविष्यति॥३०॥
एतच्छ्रुत्वा ब्रवीति स्म तं सुवासकुमारकः।
त्रैलोक्येऽपि न पर्याप्ताः ससुरासुरमानुषाः॥३१॥
एकस्यास्य प्रभासस्य किं पुनः खेचरा इमे।
तदेषा कथमस्थाने शङ्का वो जानतामपि॥३२॥
एवं मुनिकुमारेऽस्मिन् ब्रुवाणे कालकम्पनः।
विद्याधरः प्रभासस्य युधि सम्मुखमाययौ॥३३॥
ततः प्रभासोऽवादीत्तं रे रे ह्यपकृतं त्वया।
अतीव नस्तदद्येह पश्यामस्तव पौरुषम्॥३४॥
इत्युक्त्वा व्यसृजत्तस्मिन्प्रभासो विशिखावलिम्।
सोऽपि तं सायकैः कालकम्पनोऽवाकिरच्छितैः॥३५॥
अस्त्रप्रत्यस्त्रयुद्धेन युयुधाते मिथस्ततः।
प्रदत्तभुवनाश्चर्यौ तौ विद्याधरमानुषौ॥३६॥
अथ प्रभासो विशिखेनैकेनापातयद् ध्वजम्।
द्वितीयेनावधीत्कालकम्पनस्य च सारथिम्॥३७॥
चतुर्भिश्चतुरश्चाश्वान्धनुरेकेन चाच्छिनत्।
द्वाभ्यां हस्तौ भुजौ द्वाभ्यां द्वाभ्यां च श्रवणावुभौ॥३८॥
एकेन शितधारेण शिरश्चिच्छेद तस्य च।

प्रमथन का, कुबेरदत्त के साथ दैत्यराज सिंहनाद का वरुणशर्मा के साथ, प्रवहण का दुष्टदमन के साथ, प्रहृष्टरोमा का रोषावरोह के साथ, धुरन्धर का विकटाक्ष के साथ, कम्बल का कम्बलिक के साथ, कुंजरकुमार का आरोहण के साथ और महोत्पात दोहन का प्रहस्त के साथ परस्पर द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार, ये महारथी जब व्यूह के द्वार पर जूझ रहे थे, तब मय ने सुनीथ से कहा कि हमारे योद्धा नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रों के ज्ञाता होकर भी विरोधियों द्वारा व्यूह में प्रवेश करने से रोक दिये गये ॥२४–२९॥

एक प्रभास ही विना विचार के आगे घुस गया है। पता नहीं, किसका क्या होगा ॥३०॥

यह सुनकर सुवासकुमार बोला—'तीनों लोकों में कोई ऐसा नहीं है, जो प्रभास का सामना कर सके। ये बेचारे विद्याधर क्या हैं? न जाने, यह जानते हुए भी आपलोगों को यह व्यर्थ शंका क्यों हो गई?' मुनिकुमार यह कह ही रहे थे कि कालकम्पन नामक विद्याधर प्रभास के सामने आ गया ॥३१–३३॥

उसे देखकर प्रभास ने कहा —'अरे रे कालकम्पन! तूने हमारी बहुत हानि की है। अब तेरा पौरुष देखना है' ॥३४॥

ऐसा कहकर प्रभास ने उसकी ओर बाणों की झड़ी लगा दी और कालकम्पन ने भी अपने तीखे बाणों से उसके बाणों को काट डाला ॥३५॥

अस्त्रों और प्रत्यस्त्रों द्वारा भीषण युद्ध करते हुए उन मनुष्य और विद्याधर दोनों ने सारे संसार को आश्चर्य में डाल दिया ॥३६॥

तब प्रभास ने एक बाण द्वारा कालकम्पन की ध्वजा काट डाली और दूसरे से उसके सारथी को मार गिराया ॥३७॥

चार बाणों से उसके चार घोड़ों को मारा और एक बाण से उसका धनुष काट डाला। दो बाणों से उसकी दोनों भुजाएँ काटीं और दो से दोनों नाक एवं एक तीखे बाण से उसका शिर काट दिया ॥३८–३९॥

प्रभासः पत्त्रिणा शत्रोर्दर्शिताद्भुतलाघवः ॥३९॥
एवं प्राङ्गनिहितानेकप्रवीरोत्थेन मन्युना।
प्रभासो निग्रहं कालकम्पनस्य व्यधादिव ॥४०॥
दृष्ट्वा च तं हतं विद्याधरेशं मनुजासुरैः।
नादश्चक्रे विषादश्च जग्मे सपदि खेचरैः ॥४१॥
ततो विद्युत्प्रभो नाम कालञ्जरगिरीश्वरः।
प्रभासमभ्यधावत्तं क्रुधा विद्याधराधिपः ॥४२॥
तस्यापि युध्यमानस्य प्रभासः स महाध्वजम्।
छित्त्वा चकर्त्त कोदण्डमात्तमात्तं पुनः पुनः ॥४३॥
ततः स माययोत्पत्य च्छन्नो विद्युत्प्रभो नभः।
प्रभासस्योपरि ह्रीतो ववर्षासिगदादिकान् ॥४४॥
प्रभासोऽपि विधूयास्त्रैस्तदायुधपरम्पराम्।
कृत्वा प्रकाशनास्त्रेण प्रकाशं तं नभश्चरम् ॥४५॥
दत्त्वा महास्त्रमाग्नेयं तत्तेजोदग्धमम्बरात्।
विद्युत्प्रभं भूमितले गतजीवमपातयत् ॥४६॥
तद्दृष्ट्वा श्रुतशर्मा तान्निजगाद महारथान्।
पश्यतानेन निहतौ द्वौ महारथयूथपौ ॥४७॥
तत्किं सहध्वे सम्भूय युष्माभिर्हन्यतामयम्।
तच्छ्रुत्वाष्टौ रथाः क्रुद्धाः प्रभासं पर्यवारयन् ॥४८॥
एकः कङ्कटकाद्रीन्द्रनिवासी रथयूथपः।
ऊर्ध्वरोमेति विख्यातो विद्याधरमहीपतिः ॥४९॥
धरणीधरशैलाधिपतिर्विक्रोशनाभिधः।
विद्याधराणामधिपो द्वितीयश्च महारथः ॥५०॥
इन्दुमाली तृतीयश्च लीलापर्वतकेतनः।
वीरोऽविरथयूथस्य पतिर्विद्याधरप्रभुः ॥५१॥
मलयाद्रिनिवासी च काकाण्डक इति श्रुतः।
रथयूथपती राजा चतुर्थः खेचरोत्तमः ॥५२॥
निकेताद्रिपतिर्नाम्ना दर्पवाहश्च पञ्चमः।
षष्ठश्च धूर्त्तवहनो नाम्नाञ्जनगिरीश्वरः ॥५३॥

इस प्रकार, प्रभास ने शत्रु को अपने हाथ की आश्चर्यजनक सफाई दिखाई। मानों, प्रभास ने पहले दिन मारे गये अपने पक्ष के अनेक वीरों को मारने का क्रोध-पूर्ण बदला ले लिया ॥३९-४०॥

इस प्रकार, मनुष्य और असुरों द्वारा विद्याधरराज के मारे जाने से सारे विद्याधर-दल में शोक और हाहाकार मच गया ॥४१॥

तब कालंजर का राजा विद्युत्प्रभ क्रोध से प्रभास की ओर झपटा ॥४२॥

प्रभास ने लड़ते हुए विद्युत्प्रभ की महान् ध्वजा को बाण से काटकर और बार-बार नये-नये उठाये धनुष को भी काटना प्रारम्भ किया ॥४३॥

तब विवश होकर विद्युत्प्रभा, माया से आकाश में उड़कर छिप गया और लज्जित होकर आकाश से प्रभास पर अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगा ॥४४॥

प्रभास ने भी उसके शस्त्रास्त्रों को दूर करके प्रकाशनास्त्र के प्रभाव से छिपे हुए उसको दृश्य किया और आग्नेयास्त्र के प्रयोग से उसे जलाकर भूमि पर गिरा दिया ॥४५–४६॥

यह देखकर श्रुतशर्मा ने अपने महारथियों से कहा—'देखो इस प्रभास ने हमारे दो महारथियों के सरदारों को मार गिराया ॥४७॥

तो तुमलोग कैसे सहन कर रहे हो, सब मिलकर उसे मार डालो।' यह सुनकर विद्याधरों के आठ महारथी उसके सामने आये ॥४८॥

इन आठों में एक कंकटक पर्वत का निवासी विद्याधरराज था, जो ऊर्ध्वरोमा के नाम से विख्यात था ॥४९॥

दूसरा, महारथी धरणीधर जो पर्वताधिपति विक्रोशन नाम का था। तीसरा लीला-पर्वत पर रहनेवाला, अतिरथियों का नेता इन्दुमाली नामक विद्याधर का राजा था ॥५०-५१॥

चौथा, खेचरों में श्रेष्ठ मलय-पर्वत का निवासी, रथियों का नेता काकांडक था ॥५२॥

पाँचवाँ, निकेत-पर्वत का राजा दर्पवाह था। छठा, अंजनगिरि का राजा धूर्त-वहन था ॥५३॥

विद्याधराविमौ चातिरथयूथपती उभौ।
सप्तमो गर्दभरथो राजा कुमुदपर्वते ॥५४॥
नाम्ना वराहस्वामीति यो महारथयूथपः।
तद्रूपो दुन्दुभिक्ष्माभृद्रथो मेधावरोऽष्टमः ॥५५॥
एभिरष्टभिरागत्य मुक्तान् बाणान् विधूय सः।
प्रभासो युगपत् सर्वान् सायकैर्विध्यति स्म तान् ॥५६॥
जघान कस्यचिच्चाश्वान् कस्यचित् सारथिं तथा।
चकर्त्त कस्यचित् केतुं कस्यचिच्चाच्छिनद्धनुः ॥५७॥
मेधावरं चतुर्भिस्तु शरैर्विद्ध्वा समं हृदि।
अपातयन्महीपृष्ठे सद्योऽपहृतजीवितम् ॥५८॥
ततश्च योधयन्नन्यान्कुञ्चितोब्दद्धकुन्तलम्।
शरेणाञ्जलिकेनारादूर्ध्वरोम्णः शिरोऽच्छिनत् ॥५९॥
शेषांश्च षट् तानेकैकभल्लनिर्लूनकन्धरान्।
हताश्वसारथीन् कृत्वा स प्रभासो न्यपातयत् ॥६०॥
पपात पुष्पवृष्टिश्च तस्य मूर्ध्नि ततो दिवः।
उत्तेजितासुरनृपा विच्छायीकृतखेचरा: ॥६१॥
ततोऽन्ये तत्र चत्वारः प्रेषिताः श्रुतशर्मणा।
महारथाः प्रभासं तं रुन्धन्ति स्म धनुर्धराः ॥६२॥
एकः काचरको नाम कुरण्डकगिरेः पतिः।
द्वितीयो डिण्डिमाली च पञ्चकाद्रिसमाश्रयः ॥६३॥
विभावसुस्तृतीयश्च राजा जयपुराचले।
चतुर्थो धवलो नाम भूमितुण्डकशासिता ॥६४॥
ते महारथयूथाधिपतयः खेचरोत्तमाः।
प्रभासे पञ्च पञ्चेषुशतानि मुमुचुः समम् ॥६५॥
प्रभासश्च क्रमात्तेषामेकैकस्यावहेलया।
एकेन ध्वजमेकेन धनुरेकेन सारथिम् ॥६६॥
चतुर्भिरश्वानिषुणा त्वेकेनापातयच्छिरः।
शरैरष्टभिरेकैकं समाप्यैवं ननाद सः ॥६७॥
अथ विद्याधरा भूयः श्रुतशर्माज्ञया युधि।
अन्ये चत्वार एवास्य प्रभासस्य समागमन् ॥६८॥

अतिरथियों के नेता ये दोनों विद्याधरराज और सातवाँ कुमुद-पर्वत का राजा गर्दभरथ वराहस्वामी था, जो महारथियों के दल का नेता था और आठवाँ उसी के समान दुन्दुभि-पर्वत का राज मेघावर था ।।५४–५५।।

प्रभास ने इन आठों के चलाये हुए बाणों को अपने बाणों से हटाकर एक साथ ही एक-एक बाण से सबको बींध दिया ।।५६।।

किसी के घोड़े मार दिये, किसी का झंडा काट दिया और किसी का धनुष काट गिराया ।।५७।।

प्रभास ने, चार बाणों से एकाएक हृदय पर प्रहार करके निष्प्राण मेघावर को पृथ्वी पर गिरा दिया ।।५८।।

तदनन्तर, आंजलिक बाण से बँधे हुए केशोंवाले ऊर्ध्वरोमा के शिर को काट दिया ।।५९।।

शेष छहों के गले उसने एक-एक करके काट दिये और उनके घोड़ों तथा सारथियों को भी मार गिराया ।।६०।।

तब प्रभास के शिर पर आकाश से फूलों की वर्षा हुई, जिससे असुर और मनुष्य उत्साहित हुए और विद्याधर मलिन हो गये ।।६१।।

तदनन्तर, श्रुतशर्मा द्वारा भेजे गये दूसरे चार महारथियों ने प्रभास को आ घेरा ।।६२।।

जिसमें एक कुरंडक पर्वत का स्वामी काचरक नामक विद्याधर था, दूसरा, पंचक पर्वत-निवासी डिंडिमाली नामक विद्याधरराज था ।।६३।।

तीसरा, जयपुर पर्वत का विभावसु नामक विद्याधर अतिरथी था और चौथा भूमितुंडक पर्वत का राजा धवल नामक विद्याधर था ।।६४।।

इन महारथियों के नायक विद्याधर-वीरों ने एक साथ पाँच-पाँच सौ बाण प्रभास को मारे ।।६५।।

प्रभास ने उनकी बाण-वर्षा की उपेक्षा करके एक-एक बाण से ध्वजाओं, एक-एक से सारथियों और चार-चार बाणों से घोड़ों को मारकर एक-एक बाण से उनके शिर काटकर गिरा दिये। इस प्रकार एक-एक को आठ-आठ बाणों से समाप्त करके प्रभास ने गर्जना की ।।६६–६७।।

तदनन्तर, श्रुतशर्मा की आज्ञा से अन्य और चार विद्याधर राजा प्रभास से युद्ध करने लगे ।।६८।।

एकः कुवलयश्यामः क्षेत्रे विश्वावसोर्बुधात्।
जातो भद्रङ्करो नाम द्वितीयश्च नियन्त्रकः ॥६९॥
उत्पन्नो जम्भकक्षेत्रे भौमादग्निनिभप्रभः।
तृतीयः कालकोपाख्यः क्षेत्रे दामोदरस्य च ॥७०॥
जातः शनैश्चरात्कृष्णःकृष्णः कपिलमूर्धजः।
जातश्चोडुपतेः क्षेत्रे महेन्द्रसचिवाद्[1] ग्रहात् ॥७१॥
नाम्ना विक्रमशक्तिश्च चतुर्थः कनकद्युतिः।
त्रयोऽतिरथयूथाधिपतीनामेषु यूथपाः ॥७२॥
चतुर्थस्तु महावीरस्तदभ्यधिकविक्रमः।
ते च प्रभासं दिव्यास्त्रैर्योधयामासुरुद्धताः ॥७३॥
तानि नारायणास्त्रेण प्रभासोऽस्त्राण्यवारयत्।
तेषां च हेलयैकैकस्याष्टकृत्वोऽच्छिनद्धनुः ॥७४॥
ततस्तत्प्रहितान्प्रासागदादीन्प्रतिहत्य सः।
हताश्वसारथीन्सर्वान्विरथानकरोच्च तान् ॥७५॥
तद्दृष्ट्वा विससर्जान्याञ्छ्रुतशर्मा द्रुतं दश।
रथयूथपयूथाधिपतीन्विद्याधराधिपान् ॥७६॥
दमाख्यं नियमाख्यं च स्वरूपसदृशाकृती।
केतुमालेश्वरक्षेत्रे जातौ द्वावश्विनोः सुतौ ॥७७॥
विक्रमं संक्रमं चैव पराक्रममथाक्रमम्।
संमर्दनं मर्दनं च प्रमर्दनविमर्दनौ ॥७८॥
क्षेत्रजान्मकरन्दस्याप्यष्टौ वसुसुतान्समान्।
तेष्वागतेषु चाद्यास्तेऽप्यारोहन्नपरान् रथान् ॥७९॥
तैश्चतुर्दशभिः कृत्स्नैर्मिलितैः शरवर्षिभिः।
निष्कम्प एव युयुधे प्रभासश्चित्रमेककः ॥८०॥
ततः सूर्यप्रभादेशाद्व्यूहाग्रात् त्यक्तसङ्गरौ।
स कुञ्जरकुमारश्च प्रहस्तश्च धृतायुधौ ॥८१॥
उत्पत्य व्योममार्गेण धवलश्यामलाकृती।
तस्योपजग्मतुः पार्श्वं रामकृष्णाविवापरौ ॥८२॥

---

१. बृहस्पतेरित्यर्थः।

उनमें से एक विश्वावसु की पत्नी में उत्पन्न नलिन के समान श्याम वर्ण भद्रंकर था। दूसरा, नियन्त्रक था, जो जम्भक की पत्नी में भौम (मंगल) से उत्पन्न रक्तवर्ण का था। तीसरा, कालकोप नामक विद्याधर था, जो दामोदर की पत्नी में शनैश्चर से उत्पन्न हुआ था। वह अत्यन्त काले रंग का और पीले केशोंवाला था। चौथा, चन्द्रमा की पत्नी में इन्द्र से उत्पन्न विक्रमशक्ति था। ये तीन अतिरथियों के दल के नेता थे। चौथा, सबसे अधिक बलशाली महावीर नामक विद्याधर था। ये सब पागलों की भाँति उन्मत्त होकर दिव्यास्त्रों से प्रभास को लड़ाने लगे ॥६९—७२॥

•

प्रभास ने नारायणास्त्र से उनके अस्त्रों के जाल को दूर फेंककर एक-एक के धनुष को आठ-आठ बार सहजही काट डाला ॥७४॥

तब भी शस्त्रास्त्रों की मार करते हुए उन सबके साथी, घोड़ों आदि को मारकर प्रभास ने उन्हें रथहीन कर दिया ॥७५॥

यह देखकर श्रुतशर्मा ने दस और रथियों के नायक विद्याधरों को प्रभास से युद्ध करने के लिए भेजा ॥७६॥

उनके नाम इस प्रकार थे,—केतुमालेश्वर के क्षेत्र में अश्विनीकुमार से उत्पन्न और नाम के समान ही आकृतिवाले दम, नियम, विक्रम, संक्रम, पराक्रम, अक्रम, संमर्दन, मर्दन, प्रमर्दन, और विमर्दन। इनमें अन्तिम आठ मकरन्द के क्षेत्र में आठ वसुओं द्वारा उत्पन्न हुए थे। उनके आने पर पहले चार भी, जो रथहीन थे, रथों पर बैठ गये ॥७७--७९॥

एक साथ बाण-वर्षा करते हुए उन चौदहों महारथियों के साथ अकेला प्रभास अविचल भाव से युद्ध करता रहा, यह आश्चर्य है ! ॥८०॥

तब सूर्यप्रभ के आदेश से कुंजरकुमार और प्रहस्त शस्त्रों को लिये हुए व्यूह के अग्रभाग में युद्ध छोड़कर और आकाश-मार्ग से उड़कर राम और कृष्ण के समान प्रभास की सहायता के लिए जा पहुँचे ॥८१—८२॥

तौ पदाती रथस्थौ द्वौ दमं च नियमं च तम् ।
व्याकुलीचक्रतुश्छिन्नचापौ निहतसारथी ॥८३॥
भयादारूढयोर्व्योम तयोरारोहतः स्म तौ ।
स कुञ्जरकुमारश्च प्रहस्तश्च धृतायुधौ ॥८४॥
तद्दृष्ट्वा रभसात्सूर्यप्रभोऽत्र प्राहिणोत्तयोः ।
महाबुद्ध्यचलद्बुद्धी सारथित्वे स्वमन्त्रिणौ ॥८५॥
सोऽथ प्रहस्तो दृष्ट्वा तावदृश्यावपि मायया ।
सिद्धाञ्जनप्रयोगेण स कुञ्जरकुमारकः ॥८६॥
तथा विव्याध बाणोघैः पलाय्य ययतुर्यथा ।
दमश्च नियमश्चोभौ तौ विद्याधरपुत्रकौ ॥८७॥
प्रभासो युध्यमानश्च शेषैर्द्वादशभिः सह ।
तेषां चकर्त्त कोदण्डानसकृत्कलितानपि ॥८८॥
प्रहस्तोऽभ्येत्य सर्वेषामवधीत्सारथीन्समम् ।
स कुञ्जरकुमारोऽपि जघानैषां तुरङ्गमान् ॥८९॥
ततस्तत्रारथाः सर्वे द्वादशापि समेत्य ते ।
हन्यमानास्त्रिभिर्वीरैः पलाय्य समराद्ययुः ॥९०॥
ततोऽन्यौ श्रुतशर्मा द्वौ रथातिरथयूथपौ ।
विद्याधरौ प्रेषितवान्दुःखक्रोधत्रपाकुलः ॥९१॥
एकं चन्द्रकुलाद्रीन्द्रपतेः क्षेत्रे निशाकरात् ।
उत्पन्नं चन्द्रगुप्ताख्यं कान्तं चन्द्रमिवापरम् ॥९२॥
धुरन्धराचलाधीशक्षेत्रे जातं महाद्युतिम् ।
नगरङ्गमनामानं द्वितीयं सचिवं स्वकम् ॥९३॥
तावपि क्षिप्तबाणोघौ क्षणेन विरथीकृतौ ।
तैः प्रभासादिभिस्त्यक्त्वा युद्धं नष्टौ बभूवतुः ॥९४॥
ततो नदत्सु मनुजेष्वसुरेषु च स स्वयम् ।
आगाच्चतुर्भिः सहितः श्रुतशर्मा महारथैः ॥९५॥
महौघारोहणोत्पातवेत्रवत्संज्ञकैः क्रमात् ।
त्वष्टुर्भगस्य चार्यम्णः पूष्णश्चाप्यात्मसम्भवैः ॥९६॥
चतुर्णां चित्रपादादिविद्याधरमहीभुजाम् ।
मलयाद्यद्रिनाथानां क्षेत्रजैः प्राज्यविक्रमैः ॥९७॥

दोनों पैदल वीरों ने रथ में बैठे हुए दम और नियम के सारथी को मारकर और धनुष को काटकर दोनों को व्याकुल कर दिया ॥८३॥

दम और नियम दोनों भय से आकाश में उड़ने लगे। यह देखकर प्रहस्त और कुंजरकुमार भी शस्त्रों को लिये हुए आकाश में उड़े। सूर्यप्रभ ने भी तुरन्त महाबुद्धि और अचलबुद्धि नाम के दो महारथियों को सारथी बनाकर उनके लिए दो रथ भेजे ॥८४–८५॥

प्रहस्त और कुंजरकुमार ने माया से अदृश्य हुए दम और नियम को सिद्धांजन लगाकर देखा और उन्हें बाणों से बींध डाला। यह देखकर वे दोनों विद्याधर भाग गये। उधर, प्रभास, उन बारह महावीरों से लड़ रहा था। उसने बार-बार उनके धनुष काट डाले। उधर से प्रहस्त ने आते ही उन बारहों के सारथियों को और कुंजरकुमार ने उनके घोड़ों को मार डाला ॥८६–८९॥

तब रथहीन वे बारहों अतिरथियों के नेता, उन तीन वीरों की मार से व्याकुल होकर और मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए ॥९०॥

तब दुःख, क्रोध और लज्जा से व्याकुल श्रुतशर्मा ने दो अन्य अतिरथियों के नेताओं को युद्ध के लिए भेजा ॥९१॥

उनमें एक चन्द्रकुल गिरि के स्वामी के क्षेत्र में चन्द्रमा से उत्पन्न और चन्द्रमा के ही समान सुन्दर चन्द्रगुप्त नाम का विद्याधर था। और दूसरा, धुरंधराचल के क्षेत्र में उत्पन्न अत्यन्त तेजस्वी नगरंगम नाम का विद्याधर था। ये दोनों श्रुतशर्मा के सचिव थे ॥९२–९३॥

वे भी बाणों की वर्षा करके प्रभास आदि से रथहीन किये गये रणभूमि को छोड़कर भाग गये ॥९४॥

तदनन्तर मनुष्यों और असुरों के विजय-गर्जना करने पर श्रुतशर्मा स्वयं चार महारथियों के साथ युद्धभूमि में सामने आया ॥९५॥

वे चारों महारथी त्वष्टा, भर्ग अर्यमा और पूषा देवताओं के अंश से उत्पन्न महौघ, आरोहण उत्पात और वेत्रवत् नाम के थे ॥९६॥

ये चारों मलय आदि पर्वतों के राजा चित्रपाद आदि के क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे और प्रसिद्ध पराक्रमी थे ॥९७॥

ततस्तेनात्यमर्षान्धेनात्मना पञ्चमेन ते।
अयुध्यन्त प्रभासाद्यास्त्रयोऽत्र श्रुतशर्मणा ॥९८॥
तदा तैर्मुक्तमन्योन्यं बाणजालं बभौ दिवि।
रणलक्ष्म्या तपत्यर्के वितानकमिवाततम् ॥९९॥
ततो विद्याधरास्तेऽपि पुनस्तत्राययुर्मृधे।
विरथीभूय ये नष्टा बभूवुः समरात्तदा ॥१००॥
अथ तान् श्रुतशर्मादीन्मिलितानाहवे बहून्।
दृष्ट्वा सूर्यप्रभोऽन्यान् स्वान्प्रभासाद्यनुपोषणे ॥१०१॥
महारथान्प्रहितवान्प्रज्ञाढ्यप्रभृतीन्सखीन्
वीरसेनशतानीकमुख्यान् राजसुतांस्तदा ॥१०२॥
व्योम्नात्र तेषां यातानां स च सूर्यप्रभो रथान्।
भूतासनविमानेन प्रजिघाय द्युवर्त्मना ॥१०३॥
ततः सर्वेषु तेष्वत्र रथारूढेषु धन्विषु।
विद्याधरेन्द्राः शेषा अप्याजग्मुः श्रुतशर्मणः ॥१०४॥
तेषां विद्याधरेशानां तैः प्रभासादिभिः सह।
सम्प्रहारः प्रवृत्तोऽभून्महासैन्यक्षयावहः ॥१०५॥
तत्र च द्वन्द्वसंग्रामेष्वन्योन्यं सैन्ययोर्द्वयोः।
हता महारथास्ते ते मानुषासुरखेचराः ॥१०६॥
वीरसेनेन निहतः सानुगो धूम्रलोचनः।
वीरसेनोऽपि विरथीभूतः सन्हरिशर्मणा ॥१०७॥
हतो विद्याधरो वीरो हिरण्याक्षोऽभिमन्युना।
अभिमन्युः सुनेत्रेण हतो हरिभटस्तथा ॥१०८॥
सुनेत्रश्च प्रभासेन शिरश्छित्वा निपातितः।
ज्वालामाली महायुश्चाप्यन्योन्येन हतावुभौ ॥१०९॥
कुम्भीरको नीरसकः प्राहरन्दशनैरपि।
खर्वश्च भुजयोश्छेदात्सुशर्मा चोग्रविक्रमः ॥११०॥
त्रयः शत्रुभटव्याघ्रभटसिंहभटा अपि।
हताः प्रवहणेनैते विद्याधरमहीभृता ॥१११॥
स सुरोहविरोहाभ्यां द्वाभ्यां प्रवहणो हतः।
श्मशानवासिना द्वौ च हतौ सिंहबलेन तौ ॥११२॥

तदनन्तर, वे प्रभास आदि तीनों वीर, क्रोध से अन्धे और चार साथियों के साथ आये हुए श्रुतशर्मा से भिड़ गये ॥९८॥

उन लोगों द्वारा छोड़े गये बाण आकाश में इस प्रकार छा गये, मानों, सूर्य के ताप से रण-लक्ष्मी की रक्षा करने के लिए आकाश में चँदवा तान दिया गया हो ॥९९॥

तदनन्तर, वे विद्याधर भी आकर जुट गये, जो पहले रथहीन होने के कारण समर छोड़कर भाग गये थे ॥१००॥

तब सूर्यप्रभ ने, श्रुतशर्मा आदि अनेक महारथी योद्धाओं को एक साथ सम्मिलित होकर युद्ध करते देखकर प्रभास आदि की सहायता के लिए अन्यान्य प्रज्ञाढय आदि महारथी मित्रों को तथा वीरसेन, शतानीक आदि राजपूतों को सहायतार्थ भेजा ॥१०१-१०२॥

आकाश-मार्ग से उनके जाने पर सूर्यप्रभ ने, उनके रथों को भूतासन विमान द्वारा भेज दिया ॥१०३॥

उन सभी धनुर्धारी महारथियों के अपने-अपने रथों में बैठ जाने पर, श्रुतशर्मा के साथी, अन्य विद्याधर भी आकर एकत्र हो गये ॥१०४॥

तब उन विद्याधरों के साथ प्रभास आदि का विनाशकारी युद्ध प्रारंभ हुआ ॥१०५॥

उस द्वन्द्व-युद्ध में दोनों सेनाओं के वे प्रसिद्ध महारथी मनुष्य, विद्याधर और असुर काम आये ॥१०६॥

राजा वीरसेन ने सेना के साथ धूम्रलोचन विद्याधर को मार डाला और वीरसेन भी रथहीन होकर हरिशर्मा से मारा गया ॥१०७॥

अभिमन्यु ने विद्याधर-वीर हिरण्याक्ष का वध कर डाला और अभिमन्यु को सुनेत्र ने मार दिया। प्रभास ने सुनेत्र और हरिभट के शिर काटकर गिरा दिये। ज्वालामाली और हतायु दोनों आपस में ही कट मरे ॥१०८-१०९॥

कुम्भीरक और नीरसक, दाँतों से प्रहार करते हुए और उग्र पराक्रमी सुशर्मा भुजाओं के कट जाने से मारे गये ॥११०॥

व्याघ्रभट, शत्रुभट और सिंहभट, ये तीनों विद्याधरों के राजा प्रवहण द्वारा मारे गये और उस प्रवहण को सुरोह और विरोह ने मार डाला तथा श्मशानवासी सिंहबल से सुरोह और विरोह भी मारे गये॥१११-११२॥

स प्रेतवाहनः सिंहबलः कपिलकोऽपि च।
चित्रापीडस्ततो विद्याधरेन्द्रोऽथ जगज्ज्वरः ॥११३॥
ततः कान्तापतिः शूरः सुवर्णश्च महाबलः।
द्वौ च कामघनक्रोधपती विद्याधरेश्वरौ ॥११४॥
बलदेवस्ततो राजा विचित्रापीड एव च।
राजपुत्रशतानीकेनैते दश निपातिताः ॥११५॥
एवं हतेषु वीरेषु दृष्ट्वा विद्याधरक्षयम्।
श्रुतशर्मा शतानीकमभ्यधावत्स्वयं क्रुधा ॥११६॥
ततस्तयोरा दिनान्तं सैन्यक्षयकरं महत्।
आश्चर्यमपि देवानां तावद्युद्धमभूद्द्वयोः ॥११७॥
शतानि यावदुत्थाय कबन्धानां समन्ततः।
भूतानां चक्रुरालम्बं सन्वयानृत्तोत्सवागमे ॥११८॥
अह्नः क्षयेऽथ बहुसैन्यविनाशविग्ना
विद्याधरा निहतबान्धवदुःखिताश्च।
मर्त्यासुराः प्रसभलब्धजयाश्च जग्मुः
संहृत्य युद्धमुभये स्वनिवेशनानि ॥११९॥
तत्कालमत्र च सुमेरुनिवेदितौ द्वौ विद्याधरावधिपती रथयूथपानाम्।
अभ्येत्य तं परिहृतश्रुतशर्मपक्षौ सूर्यप्रभं जगदतुर्विहितप्रणामौ ॥१२०॥
आवां महायानसुमायसंज्ञावुभावयं सिंहबलस्तृतीयः।
महाश्मशानाधिपतित्वसिद्धा विद्याधरेन्द्रैरपरैरधृष्याः ॥१२१॥
तेषां श्मशानान्तसुखस्थितानामस्माकमागान्निकटं कदाचित्।
सदा प्रसन्ना शरभाननाख्या सद्योगिनी दिव्यमहाप्रभावा ॥१२२॥
कुत्र स्थिता त्वं वद किं च तत्र दृष्टं भवत्या भगवत्यपूर्वम्।
सास्माभिरित्थं प्रणिपत्य पृष्टा वृत्तान्तमेवं वदति स्म देव ॥१२३॥

शरभाननायोगिनीकथा

द्रष्टुं प्रभुं स्वं सह योगिनीभिर्देवं महाकालमहं गतासम्।
व्यजिज्ञपत्तत्र च मत्समक्षमागत्य वेतालपतिस्तमेकः ॥१२४॥
अस्मन्महासैन्यपतेस्तनूजां विद्याधरेशैर्निहतस्य देव।
पश्याग्निकाख्यस्य हरत्यकाण्डे तेजःप्रभो नाम महार्घरूपाम् ॥१२५॥

राजपूत-वीर शतानीक ने, दस विद्याधरों को मार दिया, उनके नाम इस प्रकार हैं—प्रेत-वाहन, सिंहबल, कपिलक, चित्रापीड, जगज्ज्वर, शूर, कान्तापति, महाबल, सुवर्ण, कामघन एवं क्रोधपति। इनके अतिरिक्त बलदेव और राजा विचित्रापीड ये दो विद्याधर—राजा थे ।।११३–११५।।

इस प्रकार, वीरों के मारे जाने पर और विद्याधरों की सेना का क्षय देखकर श्रुतशर्मा क्रोध करके शतानीक पर स्वयं दौड़ पड़ा ।।११६।।

तदनन्तर, दोनों दलों में सायंकाल तक प्रलयंकारी भीषण संग्राम हुआ, जिसे देखकर देवता भी चकित रह गये ।।११७।।

सन्ध्या होने पर सैकड़ों कबन्ध (धड़) भूत,प्रेतों से आविष्ट होकर सन्ध्याकालीन नृत्योत्सव के लिए उठ खड़े हुए ।।११८।।

तदनन्तर, रात्रि के प्रारम्भ होने पर बहुत अधिक सेना के विनाश से व्याकुल और मारे गये बन्धु-बान्धवों के कारण दुःखित विद्याधर तथा हठात् जय प्राप्त किये हुए मनुष्य और असुर युद्ध बन्द करके अपने-अपने शिविरों में गये ।।११९।।

उसी समय सुमेरु द्वारा सूचित किये गये विद्याधर-महारथियों के दो नेता, श्रुतशर्मा का पक्ष छोड़कर सूर्यप्रभ के समीप आकर उसे प्रणाम करके बोले—।।१२०।।

"महायान और सुमाय नाम के हम दोनों और तीसरा सिंहबल जो (युद्ध में मारा गया) महाश्मशान के अधिपतित्व से सिद्ध हैं। अतः, दूसरे विद्याधर-राजा हमें पराजित नहीं कर सकते ।।१२१।।

किसी समय श्मशान के मध्य बैठे हुए हम लोगों के पास सदा प्रसन्न रहनेवाली और दिव्य प्रभावशालिनी शरभानना नाम की योगिनी आई ।।१२२।।

प्रणाम के साथ 'तुम कहाँ रहती हो? वहाँ का क्या समाचार है? और, तुमने कौन-सी अपूर्व बात देखी?' इस प्रकार, हम लोगों से पूछी गई वह योगिनी कहने लगी-।।१२३।।

शरभानना योगिनी के पराक्रम की कथा

"मैं अपनी साथिन योगिनियों के साथ अपने स्वामी महाकाल का दर्शन करने के लिए गई थी, वहाँ पर मेरे सामने ही एक वेतालपति महाकाल से बोला—।।१२४।।

'महाराज, विद्याधर-राजाओं द्वारा नियुक्त अग्निक नामक हमारे महासेनापति की अपूर्व रूपशालिनी कन्या को तेजःप्रभ सहसा हरण करके ले जा रहा है ।।१२५।।

सिद्धैश्च विद्याधरचक्रवर्त्तिपत्नी भवित्री गदिता प्रभो सा।
तन्मोचयैनां कुरु नः प्रसादं यावन्न दूरं ह्रियते हठेन ॥१२६॥
इत्यार्त्तवेतालवचो निशम्य प्रयात तां मोचयतेति सोऽस्मान्।
देवः समादिक्षदथाम्बरेण गत्वैव सास्माभिरवापि कन्या ॥१२७॥
सच्चक्रवर्त्तिश्रुतशर्महेतोरेतां हरामीति च तं वदन्तम्।
संस्तभ्य तेजःप्रभवात्मशक्त्या सास्माभिरानीय विभोर्वितीर्णा ॥१२८॥
तेनार्पिता च स्वजनाय कन्या दृष्टं मया काममपूर्वमेतत्।
ततोऽत्र कांश्चिद्दिवसानुषित्वा प्रणम्य देवं तमिहागतास्मि ॥१२९॥
इत्युक्तवाक्या शरभानना सा योगिन्यथास्माभिरपृच्छ्यतैवम्।
को ब्रूहि विद्याधरचक्रवर्त्ती भविष्यति त्वं खलु वेत्सि सर्वम् ॥१३०॥
सूर्यप्रभो हन्त भविष्यतीति प्रोक्ते तया सिंहबलोऽब्रवीन्नौ।
असत्यमेतन्ननु बद्धकक्ष्या देवा हि सेन्द्राः श्रुतशर्मपक्षे ॥१३१॥
श्रुत्वैतदार्या वदति स्म सा नौ न प्रत्ययश्चेच्छृणुतं ब्रवीमि।
यथा भविष्यत्यचिरेण युद्धं सूर्यप्रभस्य श्रुतशर्मणश्च ॥१३२॥
हनिष्यते सिंहबलो यदायं युष्मत्समक्षं युधि मानुषेण।
युवामभिज्ञानमिदं विलोक्य विज्ञास्यथः सत्यमिदं वचो मे ॥१३३॥
एतावदुक्त्वा किल योगिनी सा ययौ च यातानि च तान्यहानि।
प्रत्यक्षमद्येह च दृष्टमेतन्मर्त्येन यत्सिंहबलो हतोऽसौ ॥१३४॥
तत्प्रत्ययान्निश्चितमेव मत्वा त्वामेव सर्वद्युचराधिराजम्।
आवामिमौ पादसरोजयुग्मं समाश्रितौ शासनवर्त्तिनौ ते ॥१३५॥
इत्युक्तवन्तौ स मयादियुक्तः सूर्यप्रभस्तावथ खेचरेन्द्रौ।
श्रद्धाय सम्मानितवान्यथार्हं हृष्टौ महायानसुमायकौ द्वौ ॥१३६॥
तच्छ्रुत्वा श्रुतशर्मणोऽत्र सुतरामुद्वेगभाजो व्यधा-
दाश्वासं किल दूत्यया शतमखः सम्प्रेष्य विश्वावसुम्।
धीरस्त्वं भव सर्वदेवसहितः प्रातः करिष्यामि ते
साहाय्यं रणमूर्धनीति धृतिकृत्सन्देश्य तत्स्नेहतः ॥१३७॥
स च परबलभेदालोकनोत्पन्नतोषः
समरशिरसि दृब्धारातिपक्षक्षयश्च।
पुनरपि निजकान्ताः प्रोज्झ्य सूर्यप्रभस्ता
निशि सचिवसमेतो वासकं स्वं विवेश ॥१३८॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे सूर्यप्रभलम्बके पञ्चमस्तरङ्गः।

सिद्धों का यह आदेश है कि वह कन्या भावी विद्याधर-चक्रवर्त्ती की पत्नी बनेगी, इसलिए हे स्वामिन्, आप उसे छुड़ावें' ॥१२६॥

दुःखित वेताल के इस प्रकार दीन वचन सुनकर महाकाल स्वामी ने हम योगिनियों को आदेश दिया कि जाकर उसे छुड़ाओ। हम लोगों ने आकाश से उड़कर उस कन्या को प्राप्त किया ॥१२७॥

उसे हरण करनेवाले तेजः प्रभ ने कहा—'विद्याधर-चक्रवर्त्ती श्रुतशर्मा के लिए मैं इसे ले जा रहा हूँ। हम लोगों ने आत्मशक्ति से उसका स्तम्भन करके उस कन्या को लाकर प्रभु (महाकाल) को अर्पित किया ॥१२८॥

किन्तु प्रभु ने वह कन्या उसके बन्धुओं को दे दी, यह मैंने बड़ा अपूर्व दृश्य देखा। तदनन्तर, कुछ दिन वहाँ रहकर और भगवान् को प्रणाम कर यहाँ आई हूँ" ॥१२९॥

इस प्रकार कहती हुई योगिनी से हम लोगों ने यह पूछा कि 'तुम सब कुछ जानती हो, तो बताओ कि भविष्य में विद्याधर-चक्रवर्त्ती कौन होगा ?॥१३०॥

'सूर्यप्रभ होगा', इस प्रकार योगिनी के उत्तर देने पर सिंहबल हम लोगों से कहने लगा—'यह मिथ्या है; क्योंकि श्रुतशर्मा के पक्ष में इन्द्र आदि देवता कमर कसकर तैयार हैं। यह सुनकर आर्या योगिनी बोली—'तुम लोगों को विश्वास न हो, तो सुनो, मैं कहती हूँ—शीघ्र ही श्रुतशर्मा और सूर्यप्रभ का युद्ध होगा। उस समय यदि सिंहबल तुम लोगों के सामने मनुष्य से मारा जायगा, तो तुम दोनों मेरे इस सूचना-चिह्न को देखकर मेरी बात को सत्य मानोगे' ॥१३१——१३३॥

ऐसा कहकर वह योगिनी चली गई और वे दिन भी बीत गये। आज हम लोगों ने प्रत्यक्ष देखा कि मनुष्य ने सिंहबल को मार दिया ॥१३४॥

इस विश्वास के कारण आपको ही आकाशचारियों (विद्याधरों) का चक्रवर्त्ती मानकर हम दोनों आपके चरणों में उपस्थित हुए हैं। और, हम लोग अब आपके आज्ञाकारी हैं" ॥१३५॥

ऐसा कहते हुए विद्याधरों के राजा महायान और सुमाय का सूर्यप्रभ ने मय आदि की सम्मति लेकर समुचित सम्मान दिया ॥१३६॥

यह समाचार सुनकर अत्यन्त व्याकुल श्रुतशर्मा को आश्वासन देने के लिए इन्द्र ने विश्वावसु (गन्धर्व) को दूत के रूप में उसके पास भेजा और उसके द्वारा स्नेहपूर्वक उसने यह सन्देश भेजा—'तुम धैर्य रखो, मैं प्रातःकाल सब देवताओं के साथ समर-भूमि में तुम्हारी सहायता करूँगा' ॥१३७॥

शत्रुपक्ष में आपसी फूट देखकर सन्तुष्ट और रणभूमि में शत्रुपक्ष को पराजित किया हुआ सूर्यप्रभ, उस रात को भी अपनी पत्नियों को छोड़ कर मन्त्रियों के साथ अपने शयन-गृह में चला गया ॥१३८॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के सूर्यप्रभ लम्बक का

पंचम तरंग समाप्त

षष्ठस्तरङ्गः

सूर्यप्रभचरितम्

ततः स रात्रावस्त्रीकः शयनस्थो रणोन्मुखः।
सूर्यप्रभः स्वसचिवं वीतभीतिमभाषत ॥१॥
निद्रा मे नास्ति तत्काञ्चित्सत्त्ववीराश्रितां सखे।
कथामपूर्वामाख्याहि रात्रावस्यां विनोदिनीम् ॥२॥
एतत्सूर्यप्रभवचो वीतभीतिर्निशम्य सः।
यथाज्ञापयसीत्युक्त्वा कथां कथितवानिमाम् ॥३॥

गुणशर्मणो ब्राह्मणस्य कथा

अस्त्यलङ्कृतिरेतस्यां पृथ्व्यामुज्जयिनी पुरी।
रत्नैरशेषैर्निचिता सुनिर्मलगुणोम्भितैः ॥४॥
तस्यामभून्महासेनो नाम राजा गुणिप्रियः।
कलानां चैकनिलयः सूर्येन्दूभयरूपधृक् ॥५॥
तस्याशोकवती नाम राज्ञी प्राणसमाभवत्।
यस्या रूपेण सदृशी नासीदन्या जगत्त्रये ॥६॥
तया देव्या समं तस्य राज्यं राज्ञोऽनुशासतः।
गुणशर्माभिधानोऽभूद्विप्रो मान्यस्तथा प्रियः ॥७॥
स च शूरोऽतिरूपश्च वेदविद्यान्तगो युवा।
कलाशस्त्रास्त्रविद्विप्रः सिषेवे तं नृपं सदा ॥८॥
एकदान्तःपुरे नृत्तकथाप्रस्तावतः स तम्।
राजा राज्ञी च पार्श्वस्थं गुणशर्माणमूचतुः ॥९॥
सर्वज्ञस्त्वं न दोलाऽत्र तदस्माकं कुतूहलम्।
नर्त्तितुं चेद्विजानासि तत्प्रसीदाद्य दर्शय ॥१०॥
एतच्छ्रुत्वा स्मितमुखो गुणशर्मा जगाद तौ।
जानामि किं तु तद्युक्तमस्ति नृत्तं न संसदि ॥११॥
हासनं मूढनृत्तं तत्प्रायशः शास्त्रगर्हितम्।
तत्रापि राज्ञः पुरतो राज्ञ्याश्च धिगहो त्रपा ॥१२॥
इत्युक्तवन्तं तं राजा गुणशर्माणमत्र सः।
प्रत्युवाच तया राज्ञ्या प्रेर्यमाणः कुतूहलात् ॥१३॥

षष्ठ तरंग

सूर्यप्रभ-चरित

तदनन्तर, रात्रि में पत्नियों के विना सोया हुआ और युद्ध के लिए उत्साहित सूर्यप्रभ, शय्या पर लेटे-लेटे अपने मन्त्री वीतभीति से बोला—'मित्र, मुझे नींद नहीं आ रही है, इसलिए सात्त्विक वीरता से भरी कोई कहानी सुनाओ ॥१-२॥

उस वीतभीति ने सूर्यप्रभ की बात सुनकर 'जो आज्ञा' कहकर यह कहानी आरंभ की ॥३॥

गुणशर्मा ब्राह्मण की कथा

उज्जयिनी नाम की एक नगरी इस पृथ्वी का शृंगारस्वरूप है। वह निर्मल गुणों[1] से गूँथी गई रत्नावली के समान है ॥४॥

उस नगरी में गुणियों का प्यारा महासेन नाम का एक राजा था। वह कलाओं का प्रधान आधार था और प्रताप में सूर्य तथा शील में चन्द्रमा के समान था ॥५॥

उस राजा की प्राणों के समान प्यारी अशोकवती नाम की रानी थी, जिसके समान सुन्दरी स्त्री तीनों लोकों में नही थी ॥६॥

उस महारानी के साथ राज्य का शासन करते हुए उस राजा का गुणशर्मा नामक आदरणीय और प्यारा मित्र था ॥७॥

वह गुणशर्मा शूर, वीर और अति रूपवान्, वेद-विद्याओं का पारगामी, युवक और कलाओं तथा शस्त्र-विद्याओं का ज्ञाता था ॥८॥

एक बार, रनिवास में नृत्य-कला की चर्चा के प्रसंग में राजा और रानी ने पास में बैठे हुए गुणशर्मा से कहा—॥९॥

तुम सर्वज्ञ हो, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु हम लोगों के मन में एक कौतुक उत्पन्न हो रहा है कि यदि तुम नाचना जानते हो, तो कृपा करो और अपना नृत्य दिखाओ ॥१०॥

यह सुनकर मुस्कराते हुए गुणशर्मा ने राजा और रानी से कहा—'जानता हूँ, किन्तु राजसभा में नाचना उचित नहीं। ऐसा नाच, मूर्खों का होता है और वह हँसी का कारण होता है। शास्त्र से भी निन्दित है; फिर, वह भी राजा और रानी के सामने। यह लज्जा का विषय है। धिक्कार है! रानी के कौतूहल से प्रेरित राजा इस प्रकार कहते हुए गुणशर्मा से फिर बोला ॥११—१३॥

---

१. गुण=डोरा या सूत।

नेदं रङ्गादिनृत्तं तद्यत्स्यात्पुंसस्त्रपावहम्।
मित्रगोष्ठी रहस्येषा स्ववैदग्ध्यप्रदर्शिनी ॥१४॥
न चाहं भवतो राजा त्वं मे मित्रं ह्ययन्त्रणम्।
तन्नाद्य भोक्ष्ये भावत्कमदृष्ट्वा नृत्तकौतुकम् ॥१५॥
इति बद्धग्रहे राज्ञि स विप्रोऽङ्गीचकार तत्।
कथं हि लङ्घ्यते भृत्यैर्ग्रहिकस्य प्रभोर्वचः ॥१६॥
ततः स गुणशर्मात्र ननर्त्ताङ्गैर्युवा तथा।
राजा राज्ञी च चित्तेन तौ द्वौ ननृततुर्यथा ॥१७॥
तदन्ते च ददौ राजा वादनायास्य वल्लकीम्।
तस्यां च सारणामेष ददेवाब्रवीन्नृपम् ॥१८॥
देवाप्रशस्ता वीणेयं तदन्या दीयतां मम।
अस्यास्तन्त्र्यां यदेतस्यां श्ववालो विद्यतेऽन्तरे ॥१९॥
अहं ह्येतद्विजानामि तन्त्रीझाङ्कारलक्षणैः।
इत्युक्त्वा गुणशर्माङ्कात्तां विपञ्चीं मुमोच सः ॥२०॥
ततः स सिक्त्वा तन्त्रीं तां यावदुद्वेष्ट्य भूपतिः।
वीक्षते निरगात्तावद्वालस्तद्गर्भतः शुनः ॥२१॥
ततः सर्वज्ञतां तस्य प्रशंसन् सोऽतिविस्मितः।
वीणामानाययामास महासेननृपोऽपराम् ॥२२॥
तां स वादितवान्गायन्गुणशर्मा त्रिमार्गगाम्।
गङ्गामिवौघसुभगां कर्णपावननिःस्वनाम् ॥२३॥
ततश्चित्रीयमाणाय राज्ञे तस्मै सजानये।
दर्शयामास शस्त्रास्त्रविद्या अपि स तत्क्रमात् ॥२४॥
अथावोचत्स राजा तं नियुद्धं यदि वेत्सि तत्।
एकं मे बन्धकरणं शून्यहस्तं प्रदर्शय ॥२५॥
गृहाण देव शस्त्राणि मयि प्रहर च क्रमात्।
यावत्ते दर्शयामीति स विप्रः प्रत्युवाच तम् ॥२६॥
ततः स राजा खड्गादि यद्यदायुधमग्रहीत्।
तत्तत्प्रहरतस्तस्य गुणशर्मावहेलया ॥२७॥
तेनैव बन्धकरणेनापहृत्यापहृत्य सः।
बबन्ध राज्ञो हस्तं च गात्रं चाप्यक्षतो मुहुः ॥२८॥

'यह रंगमंच का नाच नहीं है कि पुरुष के लिए लज्जा का विषय हो। यह तो एक गुप्त मित्र-मंडली है, इसमें केवल अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन मात्र करना है।॥१४॥

मैं तुम्हारा राजा नहीं हूँ, मित्र हूँ। आज मैं तुम्हारा नृत्य देखे विना भोजन ग्रहण न करूँगा॥१५॥

राजा के इस प्रकार आग्रह करने पर गुणशर्मा ने नाचना स्वीकार किया। हठी राजा की आज्ञा का उल्लंघन उसके अनुजीवी कैसे कर सकते हैं॥१६॥

तदनन्तर, उस युवा गुणशर्मा ने इतना सुन्दर आंगिक नृत्य किया कि उसे देखकर राजा और रानी दोनों का चित्त नाचने लगा॥१७॥

नृत्य कर लेने के पश्चात् राजा ने उसे बजाने के लिए वीणा दी। उस पर झंकार देते ही उसने कहा—'महाराज, दूसरी वीणा दीजिए, यह वीणा अच्छी नहीं है। इस वीणा के भीतर कहीं कुत्ते का बाल है॥१८-१९॥

तार के झंनकार से ही मैंने यह जान लिया है।' इतना कहकर गुणशर्मा ने गोद से वीणा उतार दी॥२०॥

जब राजा ने उस वीणा की खूँटी को उमेठकर देखा, तब उसमें सचमुच कुत्ते का बाल उसे मिला॥२१॥

तब राजा महासेन ने अत्यन्त आश्चर्य से उसकी सर्वज्ञता की प्रशंसा करते हुए दूसरी वीणा मँगवाई॥२२॥

तब गुणशर्मा ने गंगा के प्रवाह के समान सुन्दर, तीन मार्गों से चलनेवाली और कानों को पवित्र करनेवाली उस वीणा को बजाकर राजा को चकित कर दिया॥२३॥

तब गुणशर्मा ने चकित होते हुए रानी के साथ राजा को क्रमशः शस्त्रास्त्र-विद्या भी दिखलाई॥२४॥

तब राजा ने कहा—'यदि तू युद्ध-विद्या जानता है, तो विना शस्त्र हाथ में लिये ही मुझ शस्त्रधारी को पराजित कर दे॥२५॥

तब गुणशर्मा ब्राह्मण ने कहा—'महाराज, आप शस्त्र लेकर मुझ पर प्रहार कीजिए। मैं आपको अपना कौशल दिखाता हूँ॥२६॥

तदनन्तर, राजा ने तलवार आदि अस्त्रों से उस पर प्रहार करना प्रारम्भ किया। राजा जिस-जिस अस्त्र का उस पर प्रहार करता था, गुणशर्मा खेल के समान अपनी युक्ति से, उसे छीन लेता था॥२७॥

इस प्रकार, राजा के हाथ से अस्त्र छीनकर स्वयं अक्षत रहते हुए गुणशर्मा ने राजा के हाथों को और राजा को बाँध दिया॥२८॥

ततस्तं राज्यसाहाय्यसहं मत्वा द्विजोत्तमम्।
संस्तुवन्बहु मेने स राजा सर्वातिशायिनम्॥२९॥
सा त्वशोकवती राज्ञी तस्य रूपं गुणांश्च तान्।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा द्विजस्याभूत्सद्यस्तद्गतमानसा॥३०॥
एतं चेत्प्राप्नुयां नाहं तत्किं मे जीविते फलम्।
इति सञ्चिन्त्य युक्त्या सा राजानमिदमब्रवीत्॥३१॥
आर्यपुत्र प्रसीदाज्ञां देह्यस्मै गुणशर्मणे।
यथा मां शिक्षयत्येष वीणां वादयितुं प्रभो॥३२॥
अस्यैतदद्य दृष्ट्वा हि वीणावादननैपुणम्।
उत्पन्नः कोऽप्ययं तत्र मम प्राणाधिको रसः॥३३॥
तच्छ्रुत्वा गुणशर्माणं स राजा निजगाद तम्।
वल्लकीवादनं देवीमिमां शिक्षय सर्वथा॥३४॥
यथादिशसि कुर्मोऽत्र प्रारम्भं सुशुभेऽहनि।
इत्युक्त्वामन्त्र्य स नृपं गुणशर्मा गृहं ययौ॥३५॥
वीणारम्भावहारं तु चक्रे स दिवसान्बहून्।
दृष्टिमन्यादृशीं राज्ञ्याः प्रेक्ष्यापनयशङ्कितः॥३६॥
एकस्मिंश्च दिने राज्ञो भुञ्जानस्यान्तिके स्थितः।
व्यञ्जनं ददतं सूदमेकं मा मेत्यवारयत्॥३७॥
किमेतदिति पृष्टश्च राज्ञा प्राज्ञो जगाद सः।
सविषं व्यञ्जनमिदं मया ज्ञातं च लक्षणैः॥३८॥
सूदेन मम दृष्टं हि व्यञ्जनं ददतामुना।
मुखं भयसकम्पेन शङ्काचकितदृष्टिना॥३९॥
दृश्यते चाधुनैवैतत्कस्मैचिद्दीयतामिदम्।
भोजनव्यञ्जनं यस्य निर्हरिष्याम्यहं विषम्॥४०॥
इत्युक्ते तेन राजा स सूपकारं तमेव तत्।
व्यञ्जनं भोजयामास भुक्त्वा तच्च मुमूर्च्छ सः॥४१॥
मन्त्रापास्तविषस्तेन ततः स गुणशर्मणा।
राज्ञा पृष्टो यथातत्त्वमेवं वक्ति स्म सूपकृत्॥४२॥
देवाहं गौडपतिना राज्ञा विक्रमशक्तिना।
विषं प्रयोक्तुं प्रहितो युष्माकमिह वैरिणा॥४३॥

तब राजा ने उस गुणी कलाकार को राज्य की सहायता के योग्य समझकर उसकी प्रशंसा करते हुए उसे सबसे अधिक मान दिया ॥२९॥

उधर रानी अशोकवती भी उस ब्राह्मण के यौवन, सौन्दर्य और उन-उन कलात्मक गुणों को देखकर सर्वात्मना उस पर आसक्त हो गई ॥३०॥

और सोचने लगी कि यदि मैं इसे न पा सकी, तो मेरा जीवन ही निष्फल है। इस पर मेरा अनिर्वचनीय और प्राणों से भी अधिक प्रेम हो गया है। ऐसा सोचकर उसने युक्ति से राजा को यह कहा—'प्रियतम, आज इस गुणशर्मा की वीणा-वादन में निपुणता देखकर मुझे उसमें प्राणों से भी अधिक रस (आनन्द) प्राप्त हुआ' ॥३१—३३॥

यह सुनकर राजा ने गुणशर्मा से कहा कि तुम रानी को वीणा-वादन भली भाँति सिखा दो ॥३४॥

'आपकी जैसी आज्ञा, किन्तु किसी शुभ दिन उसका प्रारम्भ करूँगा'—गुणशर्मा, राजा को इस प्रकार उत्तर देकर अपने घर चला गया ॥३५॥

और, रानी की दृष्टि भेद-भरी जानकर गुणशर्मा ने वीणा सिखाने का प्रारम्भ टाल दिया ॥३६॥

एक बार, गुणशर्मा, भोजन करते हुए राजा के समीप बैठा था। उस समय राजा के आगे व्यंजन परोसते हुए रसोइये को उसने, 'मत दो, मत दो'—ऐसा कहकर परोसने से रोक दिया ॥३७॥

'यह क्या बात है'—राजा के इस प्रकार पूछने पर वह बुद्धिमान् गुणशर्मा कहने लगा कि 'यह व्यंजन विषाक्त है, यह मैंने रसोइये के लक्षणों से जाना; क्योंकि इसने व्यंजन देते समय भय से काँपते हुए तथा शंका से चंचल दृष्टि से मेरा मुँह देखा ॥३८—३९॥

और, अभी देखा जाता है। यह व्यंजन किसी को खिलाया जाय। मैं उसका विष दूर कर दूँगा' ॥४०॥

गुणशर्मा के ऐसा कहने पर राजा ने वही व्यंजन उसी रसोइये को खिलाया और वह उसे खाकर तुरन्त मूर्च्छित हो गया। गुणशर्मा के मन्त्र-प्रयोग द्वारा विष दूर हो जाने पर स्वस्थ रसोइये ने राजा के पूछने पर सच्ची बात कही—॥४१-४२॥

'राजन्, तुम्हारे शत्रु गौडदेशाधिपति विक्रमशक्ति ने मुझे तुम्हें विष खिलाकर मार डालने के लिए भेजा था ॥४३॥

सोऽहं वैदेशिको भूत्वा कुशलः सूदकर्मणि।
देवायात्मानमावेद्य प्रविष्टोऽत्र महानसे ॥४४॥
तच्चाद्य दददेवाहं विषं व्यञ्जनमध्यगम्।
लक्षितो धीमतानेन प्रभुर्जानात्यतः परम् ॥४५॥
इत्युक्तवन्तं तं सूदं निगृह्य गुणशर्मणे।
प्रीतो ग्रामसहस्रं स प्राणदाय ददौ नृपः ॥४६॥
अन्येद्युश्चानुबध्नन्त्या राज्ञ्या राजा स यत्नतः।
वीणाया गुणशर्माणं शिक्षारम्भमकारयत् ॥४७॥
ततः शिक्षयतस्तस्य वीणां सा गुणशर्मणः।
राज्ञी विलासहासादि चक्रेऽशोकवती सदा ॥४८॥
एकदा सा कररुहैर्विध्यन्ती विजने मुहुः।
उवाच वारयन्तं तं धीरं स्मरशरातुरा ॥४९॥
वीणावाद्यापदेशेन त्वं सुन्दर मयार्थितः।
त्वयि गाढोऽनुरागो हि जातो मे तद्भजस्व माम् ॥५०॥
एवमुक्तवतीं राज्ञीं गुणशर्मा जगाद ताम्।
मैवं वादीर्मम त्वं हि स्वामिदारा न चेदृशम् ॥५१॥
अस्मादृशः प्रभुद्रोहं कुर्याद्विरम साहसात्।
इत्यूचिवांसं सा राज्ञी गुणशर्माणमाह तम् ॥५२॥
किमिदं निष्फलं रूपं वैदग्ध्यं च कलासु ते।
मामीदृशीं प्रणयिनीं नीरसोपेक्षसे कथम् ॥५३॥
तच्छ्रुत्वा गुणशर्मा तां सोपहासमभाषत।
सुष्ठूक्तं तस्य रूपस्य वैदग्ध्यस्य च किं फलम् ॥५४॥
परदारापहारेण यन्नाकीर्त्तिमलीमसम्।
इहामुत्र च यन्न स्यात्पाताय नरकार्णवे ॥५५॥
इत्युक्ते तेन सा राज्ञी सकोपेव तमब्रवीत्।
मरणं मे ध्रुवं तावन्मद्वचस्यकृते त्वया ॥५६॥
तदहं मारयित्वा त्वां मरिष्याम्यवमानिता।
गुणशर्मा ततोऽवादीत्कामं भवतु नाम तत् ॥५७॥
वरं यद्धर्मपाशेन क्षणमेकं हि जीवितम्।
परं न यदधर्मेण कल्पकोटिशतान्यपि ॥५८॥

अतः, मैं विदेशी बनकर आया और आपसे 'भोजन-निर्माण में दक्ष हूँ' ऐसा कह कर आपके रसोईघर में प्रविष्ट हुआ ॥४४॥

हे राजन्, आज ही भोजन में विष देते हुए इस बुद्धिमान् ने मुझे पकड़ लिया। इसके आगे जो कुछ हुआ, आप जानते हैं' ॥४५॥

ऐसा सुनकर राजा ने उस पाचक को दंडित करके प्राण देनेवाले उस गुणशर्मा को एक हजार ग्राम पुरस्कार में दिये ॥४६॥

किसी दूसरे दिन, रानी के बार-बार आग्रह किये जाने पर राजा के प्रयत्न से, गुणशर्मा द्वारा रानी को वीणा सिखाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया ॥४७॥

वीणा-वादन सिखाते हुए गुणशर्मा के सामने रानी अशोकवती सदा कामचेष्टाएँ किया करती थी ॥४८॥

एक बार एकान्त में नाखूनों को गड़ाती हुई कामातुरा रानी गुणशर्मा द्वारा रोके जाने पर बोली—'हे सुन्दर, वीणा बजाने के बहाने से मैंने तुम्हें पाया है। तुम्हारे प्रति मेरा घनिष्ठ प्रेम हो गया है। अतः मेरा उपभोग करो' ॥४९-५०॥

इस प्रकार कहती हुई रानी से गुणशर्मा ने कहा—'ऐसा न कहो। तुम मेरे स्वामी की स्त्री हो, मुझ जैसा व्यक्ति इस प्रकार का स्वामिद्रोह नहीं कर सकता।' ऐसा कहते हुए गुणशर्मा से रानी ने फिर कहा—'हे नीरस, तुम्हारे इस सुन्दर रूप और कला-कौशल का क्या महत्त्व, जब तुम मुझ जैसी कामातुरा प्रेयसी की उपेक्षा कर रहे हो' ॥५१—५३॥

यह सुनकर गुणशर्मा हँसी करता हुआ उससे बोला—'ठीक कहा, उस चातुर्य का क्या फल, जो परदारा के अपहरण से निन्दित और मलिन हो और जो इस लोक तथा परलोक में भी नरक में पतन का कारण बने' ॥५४—५५॥

गुणशर्मा के ऐसा कहने पर वह रानी क्रोध के साथ उससे बोली—'यदि तुम मेरी बात न मानोगे, तो अवश्य ही मेरी मृत्यु हो जायगी; किन्तु अपमानिता मैं पहले तुम्हें मारकर मरूँगी। मेरी बात न मानने पर तुम अपना भी मरण निश्चित समझो।' गुणशर्मा ने उत्तर में कहा—'भले ही मृत्यु हो जाय। धर्म के बन्धन से बँधकर एक क्षण का भी जीवन उत्तम है, किन्तु अधर्म के साथ प्रलयकाल तक का भी जीवन अच्छा नहीं ॥५६—५८॥

श्लाघ्यश्चाकृतपापस्य मम मृत्युरगर्हितः।
न पुनः कृतपापस्य गर्हितं राजशासनम् ॥५९॥
एतच्छ्रुत्वापि सा राज्ञी पुनरेवमुवाच तम्।
आत्मनो मम च द्रोहं मा कृथाः शृणु वच्मि ते ॥६०॥
नातिक्रामति राजायमशक्यमपि मद्वचः।
तदस्य कृत्वा विज्ञप्ति विषयान्दापयामि ते ॥६१॥
कारयामि च सामन्तान्सर्वांस्त्वदनुयायिनः।
तेन सम्पत्स्यसे राजा त्वमेवेह गुणोज्ज्वलः ॥६२॥
ततस्ते किं भयं कस्त्वां कथं परिभविष्यति।
तन्मां भजस्व निःशङ्कमन्यथा न भविष्यसि ॥६३॥
इति तां ब्रुवतीं मत्वा सानुबन्धां नृपाङ्गनाम्।
गुणशर्माब्रवीद्युक्त्या तत्क्षणं स व्यपोहितुम् ॥६४॥
यदि तेऽत्यन्तनिर्बन्धस्तत्करिष्ये वचस्तव।
प्रतिभेदभयाद्देवि सहसा तु न युज्यते ॥६५॥
सहस्व दिवसान्कांश्चित्सत्यं जानीहि मद्वचः।
सर्वनाशफलेनार्थस्त्वद्विरोधेन को मम ॥६६॥
इत्याशया तां सन्तोष्य प्रतिपन्नवचास्तया।
गुणशर्मा स निर्गत्य ययावुच्छ्वसितस्ततः ॥६७॥
ततो दिनेषु गच्छत्सु स महासेनभूपतिः।
गत्वैव वेष्टयामास कोट्टस्थं सोमकेश्वरम् ॥६८॥
तत्र प्राप्तं विदित्वा च गौडनाथः स भूपतिः।
एत्य विक्रमशक्तिस्तं महासेनमवेष्टयत् ॥६९॥
ततः स गुणशर्माणं महासेननृपोऽब्रवीत्।
एकं रुद्ध्वा स्थिताः सन्तो रुद्धाः स्मोऽन्येन शत्रुणा ॥७०॥
तदिदानीमपर्याप्ताः कथं युध्यामहे द्वयोः।
अयुद्धे रुद्धके वीर स्थास्यामश्च कियच्चिरम् ॥७१॥
तदस्मिन्सङ्कटेऽस्माभिः किं कार्यमिति तेन सः।
पृष्टः पार्श्वस्थितो राज्ञा गुणशर्माभ्यभाषत ॥७२॥
धीरो भव करिष्यामि देवोपायं तथाविधम्।
येनास्मान्निस्तरिष्यामः सङ्कटादपि कार्यतः ॥७३॥

बिना पाप किये मेरी प्रशंसनीय मृत्यु श्रेष्ठ है। किन्तु, पाप करके निन्दित राजशासन भोगना अच्छा नहीं' ॥५९॥

ऐसा सुनकर वह रानी फिर बोली–'तू मेरी और अपनी आत्मा के साथ विद्रोह मत कर। मैं कहती हूँ, सुन—॥६०॥

यह राजा मेरी असंभव बात को भी नहीं टालता। इसलिए, मैं उससे निवेदन करके तुझे किसी देश का राज्य दिला दूँगी। और, सभी सामन्तों को तुम्हारा अनुयायी बना दूँगी। इससे तुम गुणों से उज्ज्वल राजा बन जाओगे ॥६१–६२॥

तब तुझे भय कहाँ रहेगा। तुझे कौन और कैसे अपमानित करेगा। इसलिए, शंका छोड़ कर मेरा उपभोग कर। नहीं तो जीवित न रहेगा' ॥६३॥

गुणशर्मा ने रानी को इतना आग्रह करती हुई देखकर उस समय को टालने के लिए युक्ति-पूर्वक कहा—॥६४॥

'यदि तेरा अत्यन्त आग्रह ही है, तो तेरी बात सफल करूँगा; किन्तु रहस्य खुलने के भय से सहसा ऐसा करना उचित नहीं। इसलिए कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करो। मेरी बात सच जानो। तेरा विरोध करके मैं सर्वनाश नहीं मोल ले सकता ॥६५–६६॥

इस प्रकार भविष्य की आशा से उसे सन्तुष्ट करके और उससे पुर्नमिलन का वचन लेकर लम्बी साँस लेता हुआ गुणशर्मा किसी प्रकार वहाँ से बाहर निकला ॥६७॥

तदनन्तर, कुछ दिनों के बीतने पर राजा महासेन ने किले में बैठे हुए राजा सोमकेश्वर को चढ़ाई करके घेर लिया ॥६८॥

महासेन को उधर फँसा हुआ देखकर गौड़देश के राजा विक्रमशक्ति ने चढ़ाई करके उसे (महासेन को) घेर लिया ॥६९॥

तब महासेन ने गुणशर्मा से कहा—'जब कि हम एक राजा को घेरकर पड़े हैं, तभी दूसरे शत्रु द्वारा घेर लिये गये। तब दोनों से एक साथ युद्ध करने में असमर्थ हम कैसे लड़ सकते हैं। और, बिना युद्ध किये भी कब तक घेरे में घिरे रहेंगे ॥७०–७१॥

अब इस संकट-काल में हमें क्या करना चाहिए?' राजा के इस प्रकार पूछने पर गुणशर्मा ने उससे कहा—॥७२॥

'स्वामी, धैर्य धरो। मैं इसका उपाय करूँगा, जिससे कि आप इस संकट को पार कर लेंगे' ॥७३॥

इत्याश्वास्य नृपं दत्त्वा सोऽन्तर्धानाञ्जनं दृशोः।
रात्रौ विक्रमशक्तेस्तददृश्यः कटकं ययौ ॥७४॥
प्रविश्य चान्तिकं तस्य सुप्तं च प्रतिबोध्य तम्।
जगाद विद्धि मां राजन्देवदूतमुपागतम् ॥७५॥
सन्धिं कृत्वा महासेननृपेणापसर द्रुतम्।
अन्यथा ते ससैन्यस्य नाशः स्यादिह निश्चितम् ॥७६॥
प्रेक्षिते च त्वया दूते स सन्धिं तेऽनुमंस्यते।
इति वक्तुं भगवता विष्णुना प्रहितोऽस्मि ते ॥७७॥
भक्तस्त्वं च स भक्तानां योगक्षेममवेक्षते।
तच्छ्रुत्वा चिन्तितं तेन राज्ञा विक्रमशक्तिना ॥७८॥
निश्चितं सत्यमेवैतद्दुष्प्रवेशेऽन्यथा कथम्।
इह यः प्रविशेत्कश्चिन्नैषा मर्त्योचिताकृतिः ॥७९॥
इत्यालोच्य स तं प्राह राजा धन्योऽस्मि यस्य मे।
देवः समादिशत्येवं यथादिष्टं करोमि तत् ॥८०॥
इति वादिन एवास्य राज्ञः प्रत्ययमादधत्।
अञ्जनान्तर्हितो भूत्वा गुणशर्मा ततो ययौ ॥८१॥
गत्वा यथाकृतं तच्च महासेनाय सोऽभ्यधात्।
सोऽप्यभ्यनन्दत्कण्ठे तं गृहीत्वा प्राणराज्यदम् ॥८२॥
प्रातर्विक्रमशक्तिश्च स दूतं प्रेष्य भूपतिः।
महासेनेन सन्धाय ससैन्यः प्रययौ ततः ॥८३॥
महासेनोऽपि जित्वा तं सोमकं प्राप्य हस्तिनः।
अश्वांश्चोज्जयिनीमागात्प्रभावाद् गुणशर्मणः ॥८४॥
तत्रस्थं च नदीस्नाने ग्राहादुपवने च तम्।
सर्पदंशविषाद् भूपं गुणशर्मा ररक्ष सः ॥८५॥
गतेष्वथ दिनेष्वाप्तबलो राजा स वैरिणम्।
महासेनोऽभियोक्तुं तं ययौ विक्रमशक्तिकम् ॥८६॥
सोऽपि बुद्ध्वैव तस्याग्रे नृपो युद्धाय निर्ययौ।
ततः प्रववृते तत्र संग्रामोऽतिमहांस्तयोः ॥८७॥
क्रमाच्च द्वन्द्वयुद्धेन मिलितौ तावुभावपि।
राजानौ सहसाभूतामन्योन्यं विरथीकृतौ ॥८८॥

गुणशर्मा राजा को इस प्रकार आश्वासन देकर और आँखों में अन्तर्धान होने का अंजन लगाकर रात्रि के समय अदृश्य होकर विक्रमशक्ति के शिविर में गया ॥७४॥

वह उसके निजी भवन में जाकर और सोये हुए विक्रमशक्ति को जगाकर बोला—'मैं देव-दूत हूँ और तुम्हारे पास आया हूँ ॥७५॥

तुम महासेन के साथ सन्धि करके शीघ्र ही यहाँ से हट जाओ, नहीं तो निश्चित रूप से तुम्हारा नाश होगा। तुम्हारे दूत भेजने पर वह सन्धि स्वीकार कर लेगा, ऐसा सन्देश देकर विष्णु ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है ॥७६—७७॥

क्योंकि, तू विष्णु का भक्त है और वे भक्तों से प्यार करते हैं तथा उनके योग-क्षेम का ध्यान रखते हैं।' यह सुनकर राजा विक्रमशक्ति ने सोचा—॥७८॥

इस देवदूत का कथन अवश्य ही सत्य है। अन्यथा कठिनता से भी यहाँ किसी का प्रवेश असम्भव है। उसका स्वरूप भी मनुष्यों का-सा नहीं है ॥७९॥

ऐसा सोचकर राजा बोला—'मैं धन्य हूँ, जिसे भगवान् विष्णु ने ऐसा सन्देश दिया है। मैं उनके आदेश का पालन करता हूँ' ॥८०॥

ऐसा कहते हुए राजा पर विश्वास करके गुणशर्मा अंजन के प्रभाव से अदृश्य हो गया ॥८१॥

और, उसने जो कुछ किया था, वह महासेन से आकर कह सुनाया। महासेन ने, प्राण और राज्य देनेवाले गुणशर्मा को गले से लगा लिया ॥८२॥

प्रातःकाल ही विक्रमशक्ति दूत भेजकर और महासेन के साथ सन्धि करके सेना के साथ शीघ्र ही लौट गया ॥८३॥

महासेन भी राजा सोमक को जीतकर गुणशर्मा के प्रभाव से हाथी और घोड़े प्राप्त करके अपनी राजधानी में लौट आया ॥८४॥

उज्जयिनी में रहते हुए महासेन को नदी में स्नान करते समय ग्राह से और उद्यान में भ्रमण करते समय सर्प के काटने से गुणशर्मा ने बचाया ॥८५॥

कुछ दिनों के बीतने पर, अपनी सेना को प्रबल बनाकर महासेन ने राजा, विक्रमशक्ति पर आक्रमण कर दिया ॥८६॥

विक्रमशक्ति भी उसे आया जानकर युद्ध के लिए बाहर निकल आया और दोनों में परस्पर घमासान युद्ध हुआ ॥८७॥

युद्ध में वे दोनों राजा रथहीन होकर पैदल ही द्वन्द्व-युद्ध करने लगे ॥८८॥

ततस्तयोर्धावितयोः प्रकोपात्खड्गहस्तयोः।
आकुलत्वेन चस्खाल महासेननृपः क्षितौ ॥८९॥
स्खलितेऽस्मिन्प्रहरतश्चक्रेण भुजमच्छिनत्।
राज्ञो विक्रमशक्तेः स गुणशर्मा सखड्गकम् ॥९०॥
पुनश्च हृदि हत्वा तं परिघेण न्यपातयत्।
तच्चोत्थाय महासेनो राजा दृष्ट्वा तुतोष सः ॥९१॥
किं वच्मि पञ्चमं वारमिदं प्राणा इमे मम।
विप्रवीर त्वया दत्ता इति तं चावदन्मुहुः ॥९२॥
ततो विक्रमशक्तेस्तत्तस्य सैन्यं सराष्ट्रकम्।
आचक्राम महासेनो हतस्य गुणशर्मणा ॥९३॥
आक्रम्य चान्यान्नृपतीन्सहाये गुणशर्मणि।
आगत्योज्जयिनीं तस्थौ स राजा सुखितस्तदा ॥९४॥
सा त्वशोकवती राज्ञी सोत्सुका गुणशर्मणः।
विरराम न निर्बन्धप्रार्थनातो दिवानिशम् ॥९५॥
स तु नाङ्गीचकारैव तदकार्यं कथञ्चन।
देहपातमपीच्छन्ति सन्तो नाविनयं पुनः ॥९६॥
ततोऽशोकवती बुद्ध्वा निश्चयं तस्य वैरतः।
एकदा व्याजखेदं सा कृत्वा तस्थौ रुदन्मुखी ॥९७॥
प्रविष्टोऽथ महासेनस्तामालोक्य तथास्थिताम्।
पप्रच्छ राजा किमिदं प्रिये केनासि कोपिता ॥९८॥
ब्रूहि तस्य करोम्येष धनैः प्राणैश्च निग्रहम्।
इति ब्रुवाणं तं भूपं राज्ञी कृच्छ्रादिवाह सा ॥९९॥
येन मेऽपकृतं तस्य नैव त्वं निग्रहे क्षमः।
न स तादृक्तदेतेन मिथ्येवोद्घाटितेन किम् ॥१००॥
इत्युक्त्वा सानुबन्धे सा राज्ञि मिथ्येवमब्रवीत्।
आर्यपुत्रातिनिर्बन्धो यदि ते वच्मि तच्छृणु ॥१०१॥
अर्थं गौडेश्वरात्प्राप्तुं तेन संस्थाप्य संविदम्।
गुणशर्मा तव द्रोहं कर्तुमैच्छच्छलादतः ॥१०२॥
तं च कोषनिबन्धादि गौडं कारयितुं नृपम्।
विससर्ज स दूतं स्वं गुप्तमाप्तं द्विजाधमः ॥१०३॥

क्रोध से खड्ग लेकर दौड़ते हुए उन दोनों में महासेन व्याकुल होकर भूमि में फिसलने के कारण गिर गया ॥८९॥

गिरे हुए राजा पर राजा विक्रमशक्ति के खड्ग-सहित हाथ को गुणशर्मा ने चक्र से काट डाला और तदनन्तर लोहे के डंडे से उसे मार डाला। महासेन उठकर और यह देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और बोला—हे विप्रवीर, 'क्या कहूँ, यह पाँचवीं बार तुमने मेरी प्राण-रक्षा की ॥९०–९२॥

गुणशर्मा से विक्रमशिक्त के मारे जाने पर, महासेन ने विक्रमशक्ति की सेनाओं और उसके राष्ट्र पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की ॥९३॥

गुणशर्मा की सहायता से उसने अन्यान्य राजाओं पर भी आक्रमण करके और उन्हें अधीन करके महासेन उज्जयिनी लौट आया ॥९४॥

उधर उत्कंठिता रानी, अशोकवती गुणशर्मा से बार-बार आग्रहपूर्वक प्रार्थना करने से रुकती न थी ॥९५॥

किन्तु, गुणशर्मा ने उसकी प्रार्थना किसी प्रकार स्वीकार न की। सच है, सज्जन व्यक्ति मरना स्वीकार करते हैं, किन्तु दुराचार नही ॥९६॥

अशोकवती ने भी गुणशर्मा के दृढ़ निश्चय को देखकर उससे शत्रुता ठान ली। वह एकबार बनावटी खेद का-सा मुँह बनाकर और रोने का-सा मुँह लेकर पड़ी थी ॥९७॥

महासेन ने आकर यह देखा और पूछा—'प्रिये, क्या बात है, तुम्हें किसने क्रुद्ध किया है, मुझे बताओ, मैं अभी उसके धन और प्राणों का विनाश करता हूँ, ॥९८—९९॥

इस प्रकार कहते हुए राजा से रानी ने बड़े ही कष्ट से कहा—"यह कोई ऐसी बात नहीं है कि जिसके प्रकट करने से कोई लाभ हो ॥१००॥

जिसने मेरा अपकार किया है, तुम उसे दंड देने में समर्थ नहीं हो। तथापि आर्यपुत्र, यदि तुम्हारा आग्रह ही है, तो सुनो, कहती हूँ, ॥१०१॥

गुणशर्मा, गौडेश्वर से धन लेने की इच्छा से उसके साथ षड्यन्त्र करके छल से भीतर ही भीतर तुमसे द्रोह करता था। इस नीच ब्राह्मण ने गौडेश्वर को राजा बनाने के लिए गुप्त दूत भेजा था ॥१०२–१०३॥

तं दृष्ट्वा तत्र सूदस्तमाप्तो राजानमभ्यधात्।
अहं ते साधयाम्येतत्कार्यं मार्थक्षयं कृथाः ॥१०४॥
इत्युक्त्वा बन्धयित्वा तं स दूतं गुणशर्मणः।
सूदो मन्त्रस्रुतिं । रक्षन्निहागाद्विषदायकः ॥१०५॥
तन्मध्ये च पलाय्यैव ततो निर्गत्य बन्धनात्।
गुणशर्मान्तिकं दूतस्तदीयः सोऽप्युपागमत् ॥१०६॥
तेनाधिगतवृत्तान्तेनोक्त्वा सर्वं स दर्शितः।
सूदो महानसेऽस्माकं प्रविष्टो गुणशर्मणे ॥१०७॥
ततो ज्ञात्वा स धूर्त्तेन सूपकृद् ब्रह्मबन्धुना।
विषदानोद्यतस्तेन तुभ्यमावेद्य घातितः ॥१०८॥
अद्य तस्येह सूदस्य मातृभार्ये तथानुजाम्।
वार्त्तामन्वेष्टुमायातान्गुणशर्मा स बुद्धिमान् ॥१०९॥
बुद्ध्वा तेन हता तस्य भार्या माता च सोऽस्य तु।
भ्राता पलायितो दैवात्प्रविशन्मम मन्दिरम् ॥११०॥
तेन तद्वर्ण्यते यावत्सर्वं मे शरणार्थिना।
गुणशर्मा स मद्वासगृहं तावत्प्रविष्टवान् ॥१११॥
तं दृष्ट्वा नाम च श्रुत्वा भ्राता सूदस्य तस्य सः।
भयान्निर्गत्य मत्पार्श्वान्न जाने क्व पलायितः ॥११२॥
गुणशर्मापि तं दृष्ट्वा स्वभृत्यैः पूर्वदर्शितम्।
अभूत्सद्यः सवैलक्ष्यो विमृशन्निव किञ्चन ॥११३॥
गुणशर्मन्किमद्यैवमन्यादृश इवेक्ष्यसे।
इत्यपृच्छमहं तं च जिज्ञासुर्विजने ततः ॥११४॥
सोऽथ स्वीकर्त्तुकामो मामाह स्मोद्भेदशङ्कितः।
देवि त्वदनुरागाग्निदग्धोऽहं तद्भजस्व माम् ॥११५॥
अन्यथाहं न जीवेयं देहि मे प्राणदक्षिणाम्।
इत्युक्त्वा वासके शून्ये पादयोरपतत्स मे ॥११६॥
ततोऽहं पादमाक्षिप्य सम्भ्रमाद्यावदुत्थिता।
तावदुत्थाय तेनाहमबलालिङ्गिता बलात् ॥११७॥
तत्क्षणं च प्रविष्टा मे चेटी पल्लविकान्तिकम्।
तां दृष्ट्वैव स निष्क्रम्य गुणशर्मा भयाद् गतः ॥११८॥

यह सुनकर राजा के विश्वस्त रसोईदार ने कहा—'यह काम मैं कर दूंगा। द्रव्य का अपव्यय न करो' ॥१०४॥

ऐसा कहकर गुणशर्मा के दूत को बाँधकर कैद में डाल दिया और रसोईदार गुप्त रूप से तुम्हें विष देने के लिए यहाँ आया ॥१०५॥

इसी बीच गुणशर्मा का दूत किसी प्रकार जेल से भागकर यहाँ आ गया और उसने रसोईदार का समस्त समाचार गुणशर्मा से सुनाया। पाचक हमारे भोजनालय में था, इसलिए उस दुष्ट ब्राह्मण ने विष देते हुए तुम्हें बताकर उसे मरवा डाला ॥१०६—१०८॥

आज उस रसोईदार का समाचार जानने के लिए आये हुए उसकी माता, स्त्री तथा भाइयों को जानकर उस बुद्धिमान् गुणशर्मा ने उन सबको मार डाला; किन्तु उसका भाई भागकर दैवयोग से मेरे घर आ गया ॥१०९—११०॥

उस शरणार्थी ने मुझे सब समाचार सुनाया और इतने में गुणशर्मा भी मेरे वासगृह में आया ॥१११॥

उसे देखकर और मुझसे उसका नाम जानकर वह रसोइये का भाई भय से न जाने कहाँ भाग गया ॥११२॥

गुणशर्मा भी अपने सेवकों से बताये हुए उसे मेरे पास देखकर कुछ सोचते-सोचते तुरन्त मलिन हो गया ॥११३॥

'गुणशर्मन्, आज तुम कुछ दूसरे-से क्यों मालूम हो रहे हो?'—मैंने उसका भाव जानने के लिए एकान्त में उससे पूछा ॥११४॥

गुणशर्मा रहस्य खुलने के भय से मुझे स्वीकार करने की इच्छा से बोला—'रानी, मैं तुम्हारी प्रेमाग्नि से जल रहा हूँ। अतः, तुम मुझे स्वीकार करो। अन्यथा मैं नहीं जिऊँगा। मुझे प्राणों की भिक्षा दो।' इस प्रकार कहकर वह सूने घर में मेरे पैरों पर गिर पड़ा ॥११५-११६॥

तब मैं पैर छुड़ाकर जब उठी, तब उसने मुझ अबला को बलपूर्वक अपने से लिपटा लिया ॥११७॥

उसी समय मेरी सेविका पल्लविका अन्दर आई। उसे देखकर वह गुणशर्मा भय से बाहर चला गया ॥११८॥

यदि पल्लविका नात्र प्रावेक्ष्यत्तत्स निश्चितम् ।
अध्वंसयिष्यत्पापो मामित्येवं वृत्तमद्य मे ॥११९॥
इत्युक्त्वा सा मृषा राज्ञी विरराम रुरोद च ।
आदावसत्यवचनं पश्चाज्जाता हि कुस्त्रियः ॥१२०॥
राजा च स तदाकर्ण्य जज्वाल झटिति क्रुधा ।
स्त्रीवचः प्रत्ययो हन्ति विचारं महतामपि ॥१२१॥
अब्रवीच्च स कान्तां स्वां समाश्वसिहि सुन्दरि ।
तस्यावश्यं करिष्यामि द्रोहिणो वधनिग्रहम् ॥१२२॥
किं तु युक्त्या स हन्तव्यो भवेदपयशोऽन्यथा ।
ख्यातं हि यत्पञ्चकृत्वो दत्तं मे तेन जीवितम् ॥१२३॥
त्वदास्कन्दनदोषश्च लोके वक्तुं न युज्यते ।
इत्युक्ता तेन राज्ञा सा राज्ञी तं प्रत्यभाषत ॥१२४॥
अवाच्य एष दोषश्चेत्तदाऽवाच्योऽस्य सोऽपि किम् ।
यो गौडेश्वरसख्येन प्रभुद्रोहे समुद्यमः ॥१२५॥
एवमुक्ते तया युक्तमुक्तमित्यभिधाय सः ।
ययौ राजा महासेनो निजमास्थानसंसदम् ॥१२६॥
तत्र सर्वे समाजग्मुर्दर्शनायास्य भूपतेः ।
राजानो राजपुत्राश्च सामन्ता मन्त्रिणस्तथा ॥१२७॥
तावच्च गुणशर्मापि गृहाद्राजकुलं प्रति ।
आगान्मार्गे च सुबहून्यनिमित्तान्यवैक्षत ॥१२८॥
वामस्तस्याभवत्काकः श्वा वामाद्दक्षिणं ययौ ।
दक्षिणोऽहिरभूद्वामः सस्कन्धश्चास्फुरद् भुजः ॥१२९॥
अशुभं सूचयन्त्येतान्यनिमित्तानि मे ध्रुवम् ।
तन्ममैवास्तु यत्किञ्चिन्मा भूद्राज्ञस्तु मत्प्रभोः ॥१३०॥
इत्यन्तश्चिन्तयन्सोऽथ नृपस्यास्थानमाविशत् ।
मा स्याद्राजकुले किञ्चिद्विरुद्धमिति भक्तितः ॥१३१॥
प्रणम्यात्रोपविष्टं च न तं राजा स पूर्ववत् ।
अभ्यनन्ददपश्यत्तु तिर्यक्क्रोधेद्धया दृशा ॥१३२॥
किमेतदिति तस्मिंश्च गुणशर्मणि शङ्किते ।
स उत्थायासनाद्राजा तस्य स्कन्ध उपाविशत् ॥१३३॥

यदि उस समय मेरी सेविका वहाँ न आती तो, वह पापी अवश्य ही मेरा चरित्र भ्रष्ट कर देता! ॥११९॥"

इस प्रकार की मिथ्या बातें बनाकर रानी चुप हो गई और रोने लगी सच, है पहले झूठ की उत्पत्ति हुई और उसके उपरान्त दुष्ट स्त्रियों की। यह सुनते ही राजा क्रोध से जल उठा; क्योंकि स्त्रियों की बातों पर विश्वास करने पर बड़े-बड़े विवेकियों का विवेक नष्ट हो जाता है॥१२०-१२१॥

और, राजा रानी से कहने लगा–'सुन्दरि, धैर्य रखो। मैं उस द्रोही का वध अवश्य करूँगा ॥१२२॥

किन्तु, उसे युक्ति से मारना होगा, नहीं तो निन्दा होगी। यह बात प्रसिद्ध है कि उसने पाँच बार मुझे जीवन-दान दिया है ॥१२३॥

इसका यह अपराध जन-समाज में घोषित नहीं किया जा सकता।' राजा द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर रानी ने राजा से फिर कहा—'यदि यह दोष अघोषणीय[1] है, तो क्या यह नहीं घोषित किया जा सकता कि वह 'गौडेश्वर से मित्रता करके राजद्रोह करता था' ॥१२४-१२५॥"

रानी के इस सुझाव पर 'हाँ, ठीक कहा'—इस प्रकार कहकर राजा, सभा-भवन में चला आया ॥१२६॥

राजा के सभा में आने पर उसके दर्शन के लिए सामन्त राजा, राजकुमार, मन्त्री तथा सचिव आदि सब वहाँ आये ॥१२७॥

उधर गुणशर्मा भी अपने घर से सभा में उपस्थित होने के लिए चला। उसने आते हुए मार्ग में अनेक तरह के अपशकुन देखे ॥१२८॥

उसकी बाईं ओर कौआ उड़ रहा था और कुत्ता बाईं ओर से दाहिनी ओर गया। साँप दाँयें से बाईं ओर गया और कन्धे के साथ उसकी बाईं भुजा भी फड़कने लगी ॥१२९॥

'सचमुच अपशकुन हो रहे हैं, इनका जो भी अशुभ फल होना है, मुझे हो, किन्तु मेरे स्वामी (राजा) का भला हो' ॥१३०॥

मन में ऐसा सोचता हुआ गुणशर्मा दरबार में जा पहुँचा। उसके हृदय में यह शंका थी कि राजगृह में कहीं अनिष्ट न हो ॥१३१॥

प्रणाम करके बैठे हुए गुणशर्मा की ओर राजा ने अच्छी दृष्टि से नहीं देखा और न उसका मौखिक स्वागत ही किया। प्रत्युत, क्रोध के कारण तिरछी और पैनी दृष्टि से राजा उसे देखता था ॥१३२॥

'आज यह क्या बात है', इस प्रकार अपने मन में गुणशर्मा जब सोच ही रहा था, कि वह राजा अपने आसन से उठकर गुणशर्मा के कन्धे पर आ बैठा ॥१३३॥

---

१. प्रकट न करने के योग्य।

विस्मितांश्चाब्रवीत्सभ्यान्न्यायं मे गुणशर्मणः।
शृणुतेति ततस्तं स गुणशर्मा व्यजिज्ञपत् ॥१३४॥
भृत्योऽहं त्वं प्रभुस्तन्नौ व्यवहारः कथं समः।
अधितिष्ठासनं पश्चाद्यथेच्छसि तथादिश ॥१३५॥
इति धीरेण तेनोक्तो मन्त्रिभिश्च प्रबोधितः।
अध्यास्ते स्मासनं राजा पुनः सभ्यानुवाच च ॥१३६॥
विदितं तावदेतद्वो मन्त्रिणो यत्क्रमागतान्।
विहाय गुणशर्मायं तावदात्मसमः कृतः ॥१३७॥
श्रूयतां मम चैतेन कीदृग्दूतगतागतैः।
गौडेश्वरेण कृत्वैक्यं द्रोहः कर्त्तुमचिन्त्यत ॥१३८॥
इत्युक्त्वा वर्णयामास तत्तेभ्यः स महीपतिः।
यदशोकवती तस्मै जगाद रचितं मृषा ॥१३९॥
योऽप्यात्मध्वंसनाक्षेपस्तया तस्य मृषोदितः।
निष्कास्य लोकानाप्तेभ्यः सोऽप्युक्तस्तेन भूभुजा ॥१४०॥
ततः स गुणशर्मा तमुवाचासत्यमीदृशम्।
देव केनासि विज्ञप्तः खचित्रं केन निर्मितम् ॥१४१॥
तच्छ्रुत्वैव नृपोऽवादीत्पाप सत्यं न चेदिदम्।
चरुभाण्डान्तरस्थं तत्कथं ज्ञातं विषं त्वया ॥१४२॥
प्रज्ञया ज्ञायते सर्वमित्युक्ते गुणशर्मणा।
अशक्यमेतदित्यूचुस्तद्द्वेषेणान्यमन्त्रिणः ॥१४३॥
देव तत्त्वमनन्विष्य वक्तुमेवं न ते क्षमम्।
प्रभुश्च निर्विचारश्च नीतिज्ञैर्न प्रशस्यते ॥१४४॥
इत्यस्य वदतो भूयः स राजा गुणशर्मणः।
धावित्वा छुरिकाघातं ददौ धृष्ट इति ब्रुवन् ॥१४५॥
तस्मिन्प्रहारे करणप्रयोगात्तेन वञ्चिते।
अन्ये तु प्रहरन्ति स्म वीरे तस्मिन्नृपानुगाः ॥१४६॥
स चापि युद्धकरणैर्वञ्चयित्वा कृपाणिकाः।
गुणशर्मा समं तेषां सर्वेषामप्यपाहरत् ॥१४७॥
बबन्ध चैतानन्योन्यकेशपाशेन वेष्टितान्।
कृत्वा करणयुक्त्यैव चित्रशिक्षितलाघवः ॥१४८॥

राजा ने सभासदों से कहा—'गुणशर्मा के लिए मेरा न्याय सुनो।' यह सुनकर गुणशर्मा ने कहा—'मैं सेवक हूँ, आप मेरे स्वामी हैं, अतः मेरा और आपका व्यवहार समान नहीं हो सकता। पहले आप अपने आसन पर बैठें, फिर जो इच्छा हो, आज्ञा करें'॥१३४-१३५॥

धैर्यशाली गुणशर्मा द्वारा इस प्रकार कहा गया और सभ्यों द्वारा समझाया गया राजा अपने आसन पर बैठ गया और सभ्यों से बोला—॥१३६॥

'आपलोगों को विदित है कि कुलक्रम से आये हुए मन्त्रियों को छोड़कर मैंने इस गुणशर्मा को अपने समान बना डाला। अब आप लोग सुनिए कि इसने दूतों के यातायात द्वारा गौडदेश के राजा से मिलकर राजद्रोह करने की सोची। ऐसा कहकर राजा ने रानी अशोकवती की बनावटी बातें सभा में सुना दीं। इसके अतिरिक्त उसने अन्य लोगों को हटाकर अत्यन्त आत्मीय व्यक्तियों से रानी अशोकवती के सतीत्व-नाश करने की उसकी चेष्टा भी स्पष्ट कर दी॥१३७—१४०॥

तब गुणशर्मा ने कहा—'राजन्, आपको यह झूठी बात किसने कह दी। और, यह आकाश-चित्र किसने बनाया'॥१४१॥

यह सुनते ही राजा ने कहा,—'हे पापी, यदि यह सच नहीं है, तो भोजन-पात्र के अन्दर पड़े हुए विष का पता तुम्हें कैसे चला?'॥१४२॥

'बुद्धि से सब कुछ जाना जा सकता है', गुणशर्मा के इस प्रकार कहने पर उसके शत्रु अन्य मन्त्री बोले—'यह असम्भव है महाराज!' 'तत्त्व की खोज किये बिना आपको ऐसा न कहना चाहिए। राजा और वह भी विवेक-हीन हो, तो प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता'॥१४३—१४४॥

गुणशर्मा जब यह कह ही रहा था कि राजा ने उठकर उस पर छुरे का प्रहार करते हुए कहा कि 'तू बड़ा ढीठ है'॥१४५॥

गुणशर्मा ने करण-प्रयोग[1] (कलाबाजी) से उस प्रहार को बचा लिया, यह देखकर अन्य दरबारियों ने भी उस पर छुरे से प्रहार कर दिया॥१४६॥

आश्चर्यजनक कलाबाज गुणशर्मा ने अपनी विचित्र कला से उन सबकी छुरियाँ छीन लीं और उन्हें ही शिर के बालों से आपस में बाँध दिया॥१४७-१४८॥

---

१. करण-प्रयोग, एक प्रकार की पैंतरेबाजी।

निर्ययौ च ततस्तस्याः प्रसह्य नृपसंसदः।
जघान शतमात्रं च योधानामनुधावताम्॥१४९॥
ततो दत्त्वाञ्चलस्थं, तदन्तर्धानाञ्जनं दृशोः।
अदृश्यः प्रययौ तस्माद्देशात्तत्क्षणमेव सः॥१५०॥
दक्षिणापथमुद्दिश्य गच्छंश्चाचिन्तयत्पथि।
नूनं तयाशोकवत्या मूढोऽसौ प्रेरितो नृपः॥१५१॥
अहो विषादप्यधिकाः स्त्रियो रक्तविमानिताः।
अहो असेव्याः साधूनां राजानोऽतत्त्वदर्शिनः॥१५२॥
इत्यादि चिन्तयन्प्राप गुणशर्मा कथञ्चन।
ग्रामं तत्र वटस्याधो ददर्शैकं द्विजोत्तमम्॥१५३॥
शिष्यानध्यापयन्तं तमुपसृत्याभ्यवादयत्।
सोऽपि तं विहितातिथ्यः पप्रच्छ ब्राह्मणः क्षणात्॥१५४॥
हे ब्रह्मन्कतमां शाखामधीषे कथ्यतामिति।
ततः स गुणशर्मा तं ब्राह्मणं प्रत्यवोचत॥१५५॥
पठामि द्वादश ब्रह्मन् शाखा द्वे सामवेदतः।
ऋग्वेदाद्द्वे यजुर्वेदात्सप्त चैकामथर्वतः॥१५६॥
तच्छ्रुत्वा तर्हि देवस्त्वमित्युक्त्वा ब्राह्मणोऽथ सः।
आकृत्या कथितोत्कर्षं प्रह्वः पप्रच्छ तं पुनः॥१५७॥
को देशः कोऽन्वयो ब्रूहि जन्मनालङ्कृतस्त्वया।
किं ते नाम कथं चेयत्त्वयाधीतं क्व वा वद॥१५८॥

गुणशर्मणो जन्मवृत्तान्तम्

तच्छ्रुत्वा गुणशर्मा तमुवाचोज्जयिनीपुरि।
आदित्यशर्मनामासीत्कोऽपि ब्राह्मणपुत्रकः॥१५९॥
पिता तस्य च बालस्य सतः पञ्चत्वमाययौ।
माता तेन समं पत्या विवेश च हुताशनम्॥१६०॥
ततः स ववृधे तस्यां पुरि मातुलवेश्मनि।
आदित्यशर्माधीयानो वेदान्विद्याः कलास्तथा॥१६१॥
प्राप्तविद्यस्य तस्यात्र जपव्रतनिषेविणः।
प्रव्राजकेन केनापि सख्यं समुदपद्यत॥१६२॥
स परिव्राट् समं तेन मित्रेणादित्यशर्मणा।
गत्वा पितृवने होमं यक्षिणीसिद्धये व्यधात्॥१६३॥

तदनन्तर गुणशर्मा बलपूर्वक सबको विवश करके राजसभा से निकल गया और उसका पीछा करते हुए एक सौ सवार सिपाहियों को भी उसने मार डाला ।।१४९।।

तब आँचल में बँधे हुए अंजन को लगाकर वह अन्तर्धान होकर उसी क्षण उस देश से बाहर चला गया ।।१५०।।

दक्षिणा-पथ की ओर जाते हुए उसने मार्ग में सोचा कि 'रानी अशोकवती ने अवश्य उस मूर्ख को उसकाया है' ।।१५१।।

प्रेमी द्वारा अपमानित स्त्रियाँ विष से भी अधिक भीषण होती हैं और अतत्त्वदर्शी (अविवेकी) राजा भी सज्जनों के लिए सेवनीय नहीं होते ।।१५२।।

ऐसा सोचता हुआ गुणशर्मा एक गाँव में पहुँचा और वहाँ उसने वटवृक्ष के नीचे बैठे हुए एक ब्राह्मण को देखा, जो शिष्यों को पढ़ा रहा था। उसके पास जाकर गुणशर्मा ने प्रणाम किया। उस ब्राह्मण ने भी उसका स्वागत-सत्कार करके पूछा—'हे ब्राह्मण देवता! कौन-सी शाखा का अध्ययन करते हो, बताओ।' तब गुणशर्मा उस ब्राह्मण से कहने लगा—'हे विद्वान्' मैं बारह शाखाओं का अध्ययन करता हूँ। दो सामवेद से, दो ऋग्वेद से, सात यजुर्वेद से और एक अथर्व से ।।१५३—१५६ ।।

यह सुनकर वह ब्राह्मण बोला–'तब तो तुम देवता-स्वरूप हो।' प्रभावशाली आकृति से उत्कृष्ट प्रतीत होते हुए गुणशर्मा से ब्राह्मण ने पुनः नम्रतापूर्वक कहा—'यह तो बताओ कि तुम अपने जन्म से कौन-सा देश और कौन-सा कुल अलंकृत करतेहो ? और तुम्हारा नाम क्या है। तुमने कहाँ पढ़ा ?' ।।१५७—१५८।।

गुणशर्मा का जन्म-वृत्तान्त

यह सुनकर गुणशर्मा कहने लगा—"उज्जयिनी नगरी में आदित्यशर्मा नाम का एक ब्राह्मण-कुमार रहता था ।।१५९।।

बाल्यकाल में ही उसके पिता की मृत्यु हो गई और उसकी माता उसी के साथ सती हो गई ।।१६०।।

तब वह आदित्यशर्मा वेदों और कलाओं का अध्ययन करता हुआ उसी नगरी में अपने मामा के घर पर रहने लगा ।।१६१।।

विद्याध्ययन के अनन्तर जप-रूपी व्रत करनेवाले आदित्यशर्मा की मित्रता एक संन्यासी के साथ हो गई ।।१६२।।

वह संन्यासी उस मित्र आदित्यशर्मा के साथ यक्षिणी की सिद्धि के लिए श्मशान में जाकर हवन करता था ।।१६३।।

तत्र तस्याविरासीच्च कार्त्तस्वरविमानगा।
वरकन्यापरिवृता दिव्यकन्या स्वलङ्कृता॥१६४॥
सा तं मधुरया वाचा बभाषे मस्करिन्नहम्।
विद्युन्मालाभिधा यक्षी यक्षिण्यश्चापरा इमाः॥१६५॥
तदितो मत्परीवाराद् गृहाणैकां यथारुचि।
एतावदेव सिद्धं ते मन्त्रसाधनयानया॥१६६॥
त्वया हि नैव विज्ञातं पूर्णं मन्मन्त्रसाधनम्।
अतोऽहं ते न सिद्धैव मान्यं क्लेशं वृथा कृथाः॥१६७॥
एवमुक्तस्तया यक्ष्या परिव्राडनुमान्य सः।
यक्षिणीमग्रहीदेकां तस्मात्तत्परिवारतः॥१६८॥
ततश्च विद्युन्माला सा तिरोभूत्तां च यक्षिणीम्।
आदित्यशर्मा पप्रच्छ सिद्धा प्रव्राजकस्य या॥१६९॥
अप्यस्ति विद्युन्मालातो यक्षिणी काचिदुत्तमा।
तच्छ्रुत्वा यक्षिणी सा तं प्रत्युवाचास्ति सुन्दर॥१७०॥
विद्युन्माला चन्द्रलेखा तृतीया च सुलोचना।
उत्तमा यक्षिणीष्वेता एतास्वपि सुलोचना॥१७१॥
इत्युक्त्वा सा यथाकालमागन्तुं यक्षिणी ययौ।
आदित्यशर्मणा साकमगात्प्रव्राट् च तद्गृहम्॥१७२॥
तत्र प्रतिदिनं तस्मै प्रीता प्रव्राजकाय सा।
प्रायच्छद्यक्षिणी भोगानिष्टान्कालोपगामिनी॥१७३॥
एकदादित्यशर्मा च प्रव्राजकमुखेन ताम्।
सुलोचनामन्त्रविधिं को जानातीति पृष्टवान्॥१७४॥
सापि तन्मुख एवास्मै यक्षिण्येवं किलाब्रवीत्।
अस्ति तुम्बवनं नाम स्थानं दक्षिणदिग्भुवि॥१७५॥
तत्रास्ति विष्णुगुप्ताख्यो वेणातीरकृतास्पदः।
प्रव्राजको भदन्तान्यः स तद्वेत्ति सविस्तरम्॥१७६॥
बुद्ध्वैतद्यक्षिणीवाक्यात्तं देशं चोत्सुको ययौ।
आदित्यशर्माऽनुगतः प्रीत्या प्रव्राजकेन सः॥१७७॥
तत्रान्विष्य यथावत्तं भदन्तमभिगम्य च।
परिचर्यापरो भक्त्या त्रीणि वर्षाण्यसेवत॥१७८॥

श्मशान-भूमि में सोने के विमान में बैठी हुई और सुन्दरी कन्याओं से घिरी हुई एक दिव्य कन्या प्रकट हुई ।।१६४।।

वह कन्या मधुर वाणी द्वारा उस संन्यासी से बोली—'हे संन्यासी मैं विद्युन्माला नाम की यक्षिणी हूँ और ये भी दूसरी यक्षिणियाँ हैं ।।१६५।।

सो, तुम मेरे परिवार में इच्छानुसार एक यक्षिणी को ले लो। तुम्हारी मन्त्र-साधना से इतनी ही सिद्धि हुई है ।।१६६।।

तुमने मेरे मन्त्र की सिद्धि पूर्ण रूप से नहीं जानी। इसलिए, मैं तुम्हें सिद्ध नहीं हो सकी। अब तुम दूसरा कष्ट व्यर्थ न उठाओ' ।।१६७।।

उस यक्षिणी विद्युन्माला द्वारा इस प्रकार कहे गय संन्यासी ने उसकी बात मान ली और उसके परिवार से एक यक्षिणी ले ली ।।१६८।।

तदनन्तर, विद्युन्माला अदृश्य हो गई। तब आदित्यशर्मा ने उस यक्षिणी से, जो उस संन्यासी को सिद्ध हुई थी, पूछा—।।१६९।।

क्या विद्युन्माला से भी बढ़कर और कोई उत्तम यक्षिणी है? तब वह बोली—'सुन्दर! उत्तम यक्षिणियों में विद्युन्माला, चन्द्रलेखा और सुलोचना तीन हैं। इन तीनों में भी सुलोचना अत्युत्तम है ।।१७०-१७१।।

इस प्रकार कहकर वह यक्षिणी यथासमय आने के लिए चली गई और वह संन्यासी आदित्यशर्मा के साथ उसके घर गया ।।१७२।।

तदनन्तर, प्रतिदिन नियत समय पर आनेवाली वह यक्षिणी प्रसन्न होकर उस परिव्राजक को अभीष्ट भोगों का प्रदान करती थी ।।१७३।।

एक बार आदित्यशर्मा ने परिव्राजक के द्वारा उस यक्षिणी से पूछा कि 'सुलोचना को सिद्ध करने की मन्त्रविधि को कौन जानता है' ।।१७४।।

उस यक्षिणी ने आदित्यशर्मा के सामने ही कहा—'दक्षिण दिशा की भूमि में तुम्बवन नाम का स्थान है। वहाँ पर बेणा नदी के किनारे स्थान बनाकर विष्णुगुप्त नाम का भदन्त (बौद्ध संन्यासी) रहता है। वह उसकी विधि को विस्तारपूर्वक जानता है' ।।१७५-१७६ ।।

यक्षिणी के मुँह से यह सुनकर उत्सुक आदित्यशर्मा प्रव्राजक के साथ वहाँ गया। वहाँ जाकर, और भदन्त को ढूंढकर वह उसके समीप ही रहने लगा। तत्पश्चात्, उसने तीन वर्षों तक भक्ति-पूर्वक उसकी सेवा की ।।१७७-१७८।।

उपाचरच्च यक्षिण्या परिव्राट्सिद्धया तया।
यथोपयोगोपहृतैरुपचारैरमानुषैः ॥१७९॥
ततस्तुष्टो भदन्तोऽसौ तस्मायादित्यशर्मणे।
ददौ सुलोचनामन्त्रमर्थितं सविधानकम् ॥१८०॥
ततश्चादित्यशर्मा तं मन्त्रं प्राप्य समाप्य च।
होमं चकार सम्पूर्णं गत्वैकान्ते यथाविधि ॥१८१॥
ततस्तस्य विमानस्था यक्षिणी सा सुलोचना।
प्रादुर्बभूव रूपेण जगदाश्चर्यदायिना ॥१८२॥
जगाद चैतमेह्येहि सिद्धाहं तव किं पुनः।
षण्मासं कन्यकाभावो नापनेयो मम त्वया ॥१८३॥
यदि मत्तो महावीरमृद्धिपात्रं सुलक्षणम्।
सर्वज्ञकल्पमजितं पुत्रं सम्प्राप्तुमिच्छसि ॥१८४॥
इत्युक्त्वा सा तथेत्येनमुक्तवन्तं च यक्षिणी।
आदायादित्यशर्माणं विमानेनालकां ययौ ॥१८५॥
स च तत्र समीपस्थां तांश्च पश्यन्नास्त सर्वदा।
आदित्यशर्मा षण्मासानसिधाराव्रतं चरन् ॥१८६॥
ततस्तुष्टो धनाध्यक्षो दिव्येन विधिना स्वयम्।
आदित्यशर्मणे तस्मै व्यतरत्तां सुलोचनाम् ॥१८७॥
तस्यां तस्य द्विजस्यात्र जातोऽयमहमात्मजः।
पित्रा च मे कृतं नाम गुणशर्मेति मद्गुणात् ॥१८८॥
ततस्तत्रैव यक्षाधिपतेर्मणिधराभिधात्।
क्रमाद्वेदाश्च विद्याश्च कलाश्चाधिगता मया ॥१८९॥
अथैकदा किमप्यागाच्छक्रोऽत्र धनदान्तिकम्।
उदतिष्ठंश्च तं दृष्ट्वा ये तत्रासत केचन ॥१९०॥
मत्पितादित्यशर्मा तु तत्कालं विधियोगतः।
अन्यत्र गतचित्तत्वान्नोदतिष्ठत्ससम्भ्रमः ॥१९१॥
ततस्तमशपत्क्रुद्धः स शक्रो धिग्जड व्रज।
त्वमेव मर्त्यलोकं तं नेह योग्यो भवानिति ॥१९२॥
प्रणिपत्यानुनीतोऽथ स सुलोचनया तया।
शक्रोऽब्रवीत्तर्हि मा गान्मर्त्यलोकमयं स्वयम् ॥१९३॥

उस समय पहले संन्यासी की सिद्ध की गई यक्षिणी ही दिव्य उपचारों से उसकी सेवा करती रही ॥१७९॥

तब सेवा से सन्तुष्ट भदन्त ने आदित्यशर्मा को सुलोचना की सिद्धि का मन्त्र और उसका विधान बता दिया ॥१८०॥

आदित्यशर्मा ने भी मंत्र प्राप्त करके और उसका नियमित जप समाप्त करके एकान्त में जाकर विधिपूर्वक हवन किया ॥१८१॥

तदनन्तर, जगत् के लिए आश्चर्यजनक रूपवाली सुलोचना यक्षिणी विमान पर बैठकर उसके सामने प्रकट हुई ॥१८२॥

और उससे बोली–'आओ, आओ। मैं तुम्हें सिद्ध हो गई हूँ, किन्तु छह महीनों तक तू मेरा कन्याभाव नष्ट न करना, ॥१८३॥

यदि तुम मुझसे महावीर, सम्पत्तिशाली, सुन्दर लक्षणवाला, सर्वज्ञ और अजेय पुत्र प्राप्त करना चाहते हो' ॥१८४॥

'ऐसा ही करूँगा'—कहते हुए उस आदित्यशर्मा को वह यक्षिणी विमान द्वारा अलका नगरी को ले गई ॥१८५॥

तदनन्तर, वह आदित्यशर्मा छह महीनों तक पास में बैठी हुई उसको देखते हुए नियमानुसार असिधारा-व्रत करता रहा ॥१८६॥

उसके ब्रह्मचर्य-व्रत से सन्तुष्ट होकर कुबेर ने विधिपूर्वक वह सुलोचना यक्षिणी आदित्यशर्मा को दान कर दी ॥१८७॥

तब उसी सुलोचना यक्षिणी के गर्भ में उस ब्राह्मण द्वारा मैं उत्पन्न हुआ और मेरे पिता ने मेरे सद्‌गुणों के कारण मेरा नाम गुणशर्मा रख दिया ॥१८८॥

तब बड़ा होकर मैंने अलका नगरी में ही यक्षों के सरदार मणिधर से क्रमशः वेदों, अन्यान्य विद्याओं और कलाओं का अध्ययन किया ॥१८९॥

एकबार किसी कार्य के लिए इन्द्र, कुबेर के पास आया। उसे देखकर जो भी बैठे थे, उठ खड़े हुए ॥१९०॥

किन्तु वहाँ बैठे हुए मेरे पिता आदित्यशर्मा, अन्यमनस्कता के कारण कुछ सोचते रह गये, वे सम्मान के समय उठे नहीं ॥१९१॥

इस कारण क्रोध करके इन्द्र ने कहा—'रे जड़, तू अपने मर्त्यलोक में ही जा। तू यहाँ रहने योग्य नहीं है' ॥१९२॥

तब माता सुलोचना की करुण प्रार्थना करने पर इन्द्र ने कहा–'यदि ऐसा है, तो यह न जाये, इसका पुत्र ही जाय—॥१९३॥

एतत्पुत्रस्तु यात्वेष पुत्रो ह्यात्मैव कथ्यते।
मा भून्मद्वचनं मोघमित्युक्त्वेन्द्रः श्रमं ययौ॥१९४॥
ततः पित्राहमानीय निजमातुलवेश्मनि।
उज्जयिन्यां विनिक्षिप्तो भवितव्यं हि यस्य तत्॥१९५॥
तत्राजायत सख्यं मे राज्ञात्रत्येन दैवतः।
ततोऽत्र मम यद्वृत्तं तत्सर्वं शृणु वच्मि ते॥१९६॥
इत्युक्त्वामूलवृत्तान्तं यदशोकवतीकृतम्।
यच्च राज्ञा कृतं तस्य युद्धान्तं तदवर्णयत्॥१९७॥
पुनश्चोवाच तं ब्रह्मन्नित्थमस्मि पलायितः।
देशान्तरं व्रजन्मार्गे भवन्तमिह दृष्टवान्॥१९८॥
श्रुत्वैतद्ब्राह्मणस्तं स गुणशर्माणमभ्यधात्।
तर्हि धन्योऽस्मि संवृत्तस्त्वदभ्यागमनात्प्रभो॥१९९॥
तदेहि मे गृहं तावदग्निदत्तं च विद्धि माम्।
नाम्ना मदग्रहारश्च ग्रामोऽयं निर्वृतो भव॥२००॥
इत्युक्त्वा सोऽग्निदत्तस्तं गृहं प्रावेशयन्निजम्।
ऋद्धिमद्गुणशर्माणं बहुगोमहिषीहयम्॥२०१॥
तत्र स्नानाङ्गरागाभ्यां वस्त्रैराभरणैश्च तम्।
अतिथिं मानयामास भोजनैर्विविधैश्च सः॥२०२॥
अदर्शयच्च तस्मै स्वां काम्यरूपां सुतामपि।
लक्षणावेक्षणमिषात्सुन्दरीं नाम कन्यकाम्॥२०३॥
गुणशर्मापि सोऽनन्यसमरूपां विलोक्य ताम्।
सपत्न्योऽस्या भविष्यन्तीत्यग्निदत्तमुवाच तम्॥२०४॥
नासायां तिलकोऽस्त्यस्यास्तत्सम्बन्धाच्च वच्म्यहम्।
उरस्यस्ति द्वितीयोऽपि तयोश्चैतत्फलं विदुः॥२०५॥
एवं तेनोदिते तस्या भ्राता पितुरनुज्ञया।
उद्घाटयत्युरो यावत्तावत्तिलकमैक्षत॥२०६॥
ततोऽग्निदत्तः साश्चर्यो गुणशर्माणमभ्यधात्।
सर्वज्ञस्त्वमिमौ त्वस्यास्तिलकौ नाशुभप्रदौ॥२०७॥
सपत्न्यो हि भवन्तीह प्रायः श्रीमति भर्तरि।
दरिद्रो बिभृयादेकामपि कष्टं कुतो बहूः॥२०८॥

क्योंकि, पुत्र आत्मा ही होता है। मेरा वचन व्यर्थ न जाय।' इतना कहकर इन्द्र शान्त होगया, ॥१९४॥

तब पिता ने मुझे उज्जयिनी में लाकर मामा के घर रख दिया, जिसका जैसा भवितव्य है, वैसा होता ही है॥१९५॥

उज्जयिनी में रहते हुए दैवयोग से वहाँ के राजा के साथ मेरी मित्रता हो गई। गुणशर्मा ने इस प्रकार अपना मूल समाचार कहकर रानी अशोकवती और राजा द्वारा किये गये युद्ध पर्यन्त की कथा उस ब्राह्मण से कह दी' ॥१९६-१९७॥

और फिर बोला—'हे ब्राह्मण देवता, इस प्रकार मैंने उज्जयिनी से भागते हुए मार्ग में आपके दर्शन किये' ॥१९८॥

यह सुनकर वह ब्राह्मण गुणशर्मा से बोला—'हे प्रभो, यदि ऐसा है, तो तुम्हारे आगमन से मैं धन्य हो गया! ॥१९९॥

आप मेरे घर पधारें। मेरा नाम अग्निदत्त है। यह गाँव भी मेरे ही नाम से है। अब आप निश्चिन्त हो जायें' ॥२००॥

इतना कहकर अग्निदत्त, धन-धान्य, गौ-भैंस और घोड़ों आदि से भरे हुए अपने घर में गुणशर्मा को ले गया ॥२०१॥

वहाँ ले जाकर उसने उबटन, मालिश, स्नान तथा सुन्दर वस्त्राभरणों एवं इत्र से गुणशर्मा का स्नेह-पूर्ण सम्मान किया और विविध प्रकार के भोजन कराये ॥२०२॥

तदनन्तर, लक्षण दिखाने के बहाने उसने देवताओं से भी चाही जानेवाली अपनी सुन्दरी कन्या उसको दिखा दी ॥२०३॥

अनुपम सुन्दरी उस कन्या के लक्षणों को देखकर गुणशर्मा ने कहा—'इसकी बहुत-सी सपत्नियाँ (सौतें) होंगी ॥२०४॥

इसकी नाक पर तिल है, इस कारण मैं ऐसा कह रहा हूँ और इसकी छाती में भी तिल है। यह फल उसी का है' ॥२०५॥

गुणशर्मा के ऐसा कहने पर उसके भाई ने पिता की आज्ञा से उसकी छाती खोलकर देखी, तो वहाँ तिल दिखाई दिया ॥२०६॥

तब चकित अग्निदत्त ने गुणदत्त से कहा—'तुम सचमुच सर्वज्ञ हो; किन्तु इसके ये दोनों तिल अशुभ फल देनेवाले नहीं हैं॥२०७॥

पति के धनवान् होने पर ही सौतें होती हैं। दरिद्र तो एक स्त्री का भरण-पोषण भी कष्ट से करता है। बहुत-सी स्त्रियों की तो बात ही क्या' ॥२०८॥

तच्छ्रुत्वा गुणशर्मा तं प्रत्युवाच यथात्थ भोः।
सुलक्षणाया ईदृश्या ह्याकृतेरशुभं कुतः ॥२०९॥
इत्यूचिवान्प्रसङ्गेन पृष्टस्तस्मै शशंस सः।
प्रत्यङ्गं तिलकादीनां फलं स्त्रीपुंसयोः पृथक् ॥२१०॥
तदा च गुणशर्माणं तं सा दृष्ट्वैव सुन्दरी।
इत्येष पातुं दृष्ट्यैव चकोरीवेन्दुमुत्सुका ॥२११॥
ततोऽग्निदत्तो विजने गुणशर्माणमाह तम्।
महाभाग ददाम्येतां कन्यां ते सुन्दरीमहम् ॥२१२॥
मा गा विदेशं तिष्ठेह गृहे मम यथासुखम्।
एतत्तद्वचनं श्रुत्वा गुणशर्माप्युवाच तम् ॥२१३॥
सत्यमेवं कृते किं किं न सौख्यं मम किं तु माम्।
मिथ्याराजावमानाग्नितप्तं प्रीणाति नैव तत् ॥२१४॥
कान्ता चन्द्रोदयो वीणा पञ्चमध्वनिरित्यमी।
ये नन्दयन्ति सुखितान्दुःखितान्व्यथयन्ति ते ॥२१५॥
जाया च स्वरसा रक्ता भवेदव्यभिचारिणी।
अवशा पितृदत्ता तु स्यादशोकवती यथा ॥२१६॥
इतः प्रदेशान्निकटा सा किं चोज्जयिनी पुरी।
तद्बुद्ध्वा स नृपो जातु मम कुर्यादुपद्रवम् ॥२१७॥
तत्परिभ्रम्य तीर्थानि प्रक्षाल्याजन्मकिल्बिषम्।
शरीरमेतत्त्यक्ष्यामि भविष्याम्यथ निर्वृतः ॥२१८॥
इत्युक्तवन्तं प्रत्याह सोऽग्निदत्तो विहस्य तम्।
तवापि मोहो यत्रेदृक्तत्रान्यस्य किमुच्यताम् ॥२१९॥
अज्ञावमानाद्धानिः का वद शुद्धाशयस्य ते।
पङ्को हि नभसि क्षिप्तः क्षेप्तुः पतति मूर्धनि ॥२२०॥
राजैव सोऽचिरात्प्राप्स्यत्यविशेषज्ञताफलम्।
मोहान्धमविवेकं हि श्रीश्चिराय न सेवते ॥२२१॥
किं चाशोकवती दृष्ट्वा वैरस्यं स्त्रीषु चेत्तव।
सतीं दृष्टवा न किं तासु श्रद्धा वेत्सि च लक्षणम् ॥२२२॥
निकटोज्जयिनी वा चेत्तव दास्याम्यहं तथा।
यथा त्वामिह तिष्ठन्तं नैव ज्ञास्यति कश्चन ॥२२३॥

यह सुनकर गुणशर्मा ने कहा—'ठीक है, ऐसी सुन्दर लक्षणोंवाली कन्या का अशुभ ही क्यों होगा ?' ॥२०९॥

इसी प्रसंग में अग्निदत्त के पूछने पर गुणशर्मा ने स्त्रियों और पुरुषों के भिन्न-भिन्न अंगों पर होनेवाले तिल आदि चिह्नों का पृथक्-पृथक् फल उसे बताया ॥२१०॥

इधर वह सुन्दरी कन्या, गुणशर्मा को देखकर चन्द्रमा को चकोरी जैसी आँखोंसे पी जाना चाहती थी ॥२११॥

तब अग्निदत्त ने एकान्त में गुणशर्मा से कहा—'हे भाग्यशालिन्, मैं इस सुन्दरी नाम की कन्या को तुझे देता हूँ ॥२१२॥

विदेश न जाओ और यहीं मेरे घर में अपनी स्वतन्त्रता से रहो।' उसकी यह बात सुनकर गुणशर्मा बोला—'सच है, ऐसा करने पर मुझे कौन-सा सुख प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु राजा द्वारा किये गये झूठे अपमान की आग से जले हुए मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा है ॥२१३-२१४॥

सुन्दरी स्त्री, चन्द्रमा का उदय (चाँदनी) और वीणा की पंचम ध्वनि ये सब सुखी जनों को आनन्द देते हैं ॥२१५॥

स्वयं (अपने से) आसक्त और अनुरागिणी स्त्री, व्यभिचारिणी नहीं होती, जैसे अशोकवती ॥२१६॥

और भी बात है कि उज्जयिनी नगरी यहाँ से समीप है। इसलिए, मुझे यहाँ जानकर वह (राजा) किसी समय भी उपद्रव कर सकता है ॥२१७॥

अतः, तीर्थों का भ्रमण करके और अपने पापों का प्रक्षालन कर इस शरीर को छोड़ूँगा, तब सुखी रहूँगा ॥२१८॥

यह सुनकर अग्निदत्त हँसकर बोला—'शुद्ध हृदयवाले तुम्हारे, एक मूर्ख के द्वारा अपमानित होने में क्या हानि है ? आकाश में फेंका हुआ कीचड़ फेंकनेवाले के शिर पर ही गिरता है। वह राजा शीघ्र ही अपनी मूर्खता का फल पायेगा। मोह से अन्धे और विवेक से विहीन व्यक्ति के पास लक्ष्मी अधिक दिन नहीं रहती ॥२१९–२२१॥

यदि तुम दुष्टा अशोकवती को देखकर स्त्रियों से विरक्त हो गये हो, तो सती स्त्री को देखकर श्रद्धा भी उन पर क्यों नहीं करते ?' तुम तो सती और असती के लक्षणों को जानते हो ॥२२२॥

उज्जयिनी यदि समीप है, तो तुम्हारा ऐसा प्रबन्ध करूँगा कि तुम्हें यहाँ रहते कोई जान न सकेगा ॥२२३॥

तीर्थयात्रा तवेष्टा वा तच्छस्ता तस्य सा बुधैः ।
सम्पत्तिर्विधिवन्न स्याद्वैदिके यस्य कर्मणि ॥२२४॥
अन्यथा देवपित्रग्निक्रियाव्रतजपादिभिः ।
गृहे या पुण्यनिष्पत्तिः साध्वनि भ्रमतः कुतः ॥२२५॥
भुजोपधानो भूशायी भिक्षाशी केवलोऽधनः ।
मुनेः समत्वं प्राप्यापि न क्लेशैर्मुच्यतेऽध्वगः ॥२२६॥
देहत्यागात्सुखं यद्वा वाञ्छस्येष तव भ्रमः ।
इतः कष्टतरं दुःखममुत्र ह्यात्मघातिनाम् ॥२२७॥
तदेषोऽनुचितो मोहो यूनश्च विदुषश्च ते ।
स्वयं विचारयावश्यं कर्त्तव्यं मद्वचस्तव ॥२२८॥
कारयामीह गुप्तं ते भूगृहं पृथु सुन्दरम् ।
विवाह्य सुन्दरीं तत्र तिष्ठाज्ञातो यथेच्छसि ॥२२९॥
इति तेनाग्निदत्तेन बोधितः स प्रयत्नतः ।
गुणशर्मा तथेत्येनत्प्रतिपद्य जगाद तम् ॥२३०॥
कृतं मया ते वचनं को भार्यां सुन्दरीं त्यजेत् ।
किं त्वेतामकृती नाहं परिणेष्यामि ते सुताम् ॥२३१॥
आराधयाम्यहं तावद्देवं कञ्चित्सुसंयतः ।
येन तस्य कृतघ्नस्य राज्ञः कुर्यां प्रतिक्रियाम् ॥२३२॥
इति तद्वचनं हृष्टः सोऽग्निदत्तोऽन्वमन्यत ।
सोऽपि तां गुणशर्मात्र विशश्राम सुखं निशाम् ॥२३३॥
अन्येद्युश्चाग्निदत्तोऽस्य सौख्यार्थं तत्र गुप्तिमत् ।
पातालवसतिप्रख्यं कारयामास भूगृहम् ॥२३४॥
तत्रस्थश्चाग्निदत्तं स गुणशर्माब्रवीद्रहः ।
इहान्तर्ब्रूहि कं देवं केन मन्त्रेण भक्तितः ॥२३५॥
आराधयाम्यहं तावद्वरदं व्रतचर्यया ।
इत्युक्तवन्तं तं धीरमग्निदत्तोऽभ्यभाषत ॥२३६॥
अस्ति स्वामिकुमारस्य मन्त्रो मे गुरुणोदितः ।
तेनाराधय तं देवं सेनान्यं तारकान्तकम् ॥२३७॥
यस्य जन्मार्थिभिर्देवैः प्रेषितः शत्रुपीडितैः ।
दग्धोऽपि कामः सङ्कल्पजन्मा शर्वेण निर्मितः ॥२३८॥

तीर्थ-यात्रा तुम्हें अभीष्ट है, किन्तु विद्वानों के कथनानुसार, तीर्थ-यात्रा उसके लिए उचित है, जिसके पास वैदिक कर्म करने के लिए प्रचुर सम्पत्ति नहीं है ॥२२४॥

अन्यथा, देवता, पितर, अग्नि की सेवा, व्रत एवं जप आदि से घर बैठे जो पुण्य की प्राप्ति हो सकती है, वह मार्ग में भटकनेवाले तीर्थयात्रियों को नहीं ॥२२५॥

भुजाओं की तकिया लगाये, भूमि पर सोनेवाला, भिक्षाओं से भोजन प्राप्त करनेवाला अकेला और दीन यात्री, मुनियों की समता पाकर भी, कष्टों से छुटकारा नहीं पाता ॥२२६॥

देह-त्याग से तुम जो सुख चाहते हो, वह तुम्हारी भूल है। आत्मघाती को परलोक में भी अत्यधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं ॥२२७॥

अतः, युवा और विद्वान् तुम्हारा यह निरा मोह है। स्वयं सोचो और मेरी बात मानो ॥२२८॥

मैं तुम्हारे लिए विशाल विस्तृत भू-गृह बनवा देता हूँ। तुम सुन्दरी से विवाह करके वहाँ अज्ञात रूप से रहो, जैसा तुम चाहते हो' ॥२२९॥

अग्निदत्त द्वारा इस प्रकार समझाये गये गुणशर्मा ने, उसकी बात मान ली और उससे कहा, कि मैंने तुम्हारी बात मान ली। सुन्दरी जैसी पत्नी को कौन छोड़ सकता है। किन्तु, असफल अवस्था में मैं तुम्हारी कन्या से विवाह न करूँगा। तबतक संयत स्थिति में रहकर किसी देवता की आराधना करता हूँ। जिससे उस कृतघ्न राजा से बदला ले सकूँ ॥२३०—२३२॥

प्रसन्न चित अग्निदत्त ने उसकी बात मान ली और गुणशर्मा ने भी उसके घर में रात्रि को सुखपूर्वक विश्राम किया ॥२३३॥

दूसरे ही दिन अग्निदत्त ने गुणशर्मा की सुविधा के लिए रक्षायुक्त और आवश्यकताओं से परिपूर्ण 'पाताल-वसति' नामक भू-गृह बनवाया ॥२३४॥

उस गृह में रहते हुए एक बार गुणशर्मा ने अग्निदत्त से एकान्त में कहा—'यह बताइए कि मैं यहाँ रहकर किस देवता की भक्ति और व्रत विधानपूर्वक आराधना करूँ' ऐसा कहते हुए धैर्यशाली गुणशर्मा से अग्निदत्त ने कहा—'मैं गुरु द्वारा दीक्षा में प्राप्त स्वामी कार्त्तिक का मन्त्र जानता हूँ। उस मन्त्र से तुम तारक (तारकासुर)-निहन्ता देवसेनापति (कार्त्तिकेय) की आराधना करो ॥२३५—२३७॥

जिस कार्त्तिकेय के जन्म को चाहनेवाले, शत्रुओं से पीड़ित देवताओं द्वारा भेजे गये कामदेव को शिव ने दग्ध करके भी संकल्पजन्मा बना दिया ॥२३८॥

महेश्वरादग्निकुण्डादग्नेः शरवणादपि।
कृत्तिकाभ्यश्च शंसन्ति विचित्रं यस्य सम्भवम्॥२३९॥

जातेनैव जगत्कृत्स्नं दुष्प्रधर्षेण तेजसा।
आनन्द्य येन निहतो दुर्जयस्तारकासुरः॥२४०॥

तन्मन्त्रमिममादत्स्व मत्त इत्यभिधाय सः।
अग्निदत्तो ददौ तस्मै मन्त्रं तं गुणशर्मणे॥२४१॥

तेनाराधितवान्स्कन्दं गुणशर्मा स भूगृहे।
तयोपचर्यमाणः सन्सुन्दर्या नियतव्रतः॥२४२॥

ततः प्रत्यक्षतामेत्य साक्षाद्देवः स षण्मुखः।
तुष्टोऽस्मि ते वरं पुत्र वृणीष्वेति तमादिशत्॥२४३॥

....
..............................२४४॥

आक्षीणकोषो भूत्वा तं महासेनं विजित्य च।
गत्वाप्रतिहतः पुत्र पृथ्वीराज्यं करिष्यसि॥२४५॥

इति दत्त्वाधिकं तस्मै वरं स्कन्दस्तिरोदधे।
सम्प्राप्ताक्षयकोषश्च गुणशर्मापि सोऽभवत्॥२४६॥

ऋद्धया ततः स्वमहिमोचितयाग्निदत्त—
विप्रात्मजामनुदिनाधिकबद्धभावाम्॥
भाव्यर्थसिद्धिमिव रूपवतीमुपेतां।
तां सुन्दरीं स सुकृती विधिनोपयेमे॥२४७॥

आक्षीणकोषनिचयप्रभवप्रभावात्।
सम्भूतभूरिगजवाजिपदातिसैन्यः।
दानप्रसादमिलिताखिलपार्थिवानां।
रुन्धन्बलैरवनिमुज्जयिनीं जगाम॥२४८॥

प्रख्याप्य तस्यां तदशोकवत्याः प्रजास्वशीलं समरे च भूपम्।
जित्वा महासेनमपास्य राज्यात्पृथ्वीपतित्वं स समाससाद॥२४९॥

अन्याश्च कन्याः परिणीय राज्ञामब्धेस्तटेष्वप्यपराङ्मुखाज्ञः।
इष्टान्स भोगान्गुणशर्मसम्राट् चिराय भुङ्क्ते स्म ससुन्दरीकः॥२५०॥

महेश्वर से, अग्निकुंड से, अग्नि से, शर के वन से और कृत्तिकाओं से जिस स्वामी कार्त्तिकेय का विचित्र जन्म हुआ है, जिसने उत्पन्न होते ही अपने प्रचंड तेज से समस्त संसार को आनन्दित करके दुर्जय तारकासुर को मारा, उस कार्त्तिकेय का मन्त्र मुझसे लो।' इस प्रकार कहकर अग्निदत्त ने गुणशर्मा को मन्त्र-दीक्षा दी ॥२३९—२४१॥

उस गुणशर्मा ने सुन्दरी से सेवित होकर नियमित रूप से उस भू-गृह में उस मन्त्र द्वारा स्वामी कार्त्तिकेय की आराधना की ॥॥२४२॥

कुछ दिनों के उपरान्त भगवान् षडानन ने प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष होते हुए आज्ञा दी—'बेटा, तुम पर मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो' ॥२४३॥

२४४वाँ श्लोक त्रुटित है।

गुणशर्मा द्वारा अभीष्ट वर माँगने पर षडानन ने कहा—'पुत्र ! तू अनन्त धन का स्वामी होकर और महासेन को जीतकर निःशंक पृथ्वी का राज्य करेगा' ॥२४५॥

इस प्रकार, माँग से भी अधिक वर प्रदान कर स्वामी कार्त्तिकेय अन्तर्हित हो गये और तदनन्तर गुणशर्मा को भी अक्षय धन की प्राप्ति हुई ॥२४६॥

अनुष्ठान की सिद्धि होने पर गुणशर्मा ने अपने महत्त्व और प्रभाव के अनुकूल समझकर चिरकालीन सेवा-सहवास से आसक्त अग्निदत्त की रूपवती कन्या सुन्दरी का मानों साक्षात् भावी कार्यसिद्धि के समान विधिपूर्वक पाणिग्रहण कर लिया ॥२४७॥

अक्षय धन-कोष की प्राप्ति के प्रभाव से प्रचुर हाथी, घोड़े और पदातियों की सेना से युक्त गुणशर्मा ने, दान के प्रभाव से मिलाये हुए दूसरे राजाओं की सेनाओं से भी उज्जयिनी नगरी को घेरते हुए उस पर आक्रमण कर दिया ॥२४८॥

उसने उज्जयिनी में जाकर रानी अशोकवती के दुराचार की घोषणा करके और युद्ध में राजा महासेन को जीतकर राज्य का अधिकार प्राप्त किया ॥२४९॥

राज्य प्राप्त कर और अन्य राजाओं की कन्याओं से विवाह करके समुद्र के तट तक राज्य का विस्तार करके सम्राट् गुणशर्मा उस सुन्दरी के साथ चिरकाल तक सांसारिक भोगों का निरन्तर उपभोग करने लगा ॥२५०॥

इति पुरुषविशेषाज्ञानतो मूढबुद्धिः।
सपदि विपदमाप प्राङ्महासेनभूपः।
इति च स गुणशर्मा धैर्यमेकं सहायं।
कृतमतिरवलम्ब्य प्राप्तवानृद्धिमग्र्याम्॥२५१॥
एवं कथां स्वसचिवस्य मुखादुदारां।
सूर्यप्रभो निशि निशम्य स वीतभीतेः।
वीरो महासमरसागरमुत्तितीर्षु—
रुत्साहमभ्यधिकमाप शनैश्च शिश्ये॥२५२॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे सूर्यप्रभलम्बके षष्ठस्तरङ्गः।

सप्तमस्तरङ्गः

सूर्यप्रभचरितम् : अन्तिमं युद्धम्

ततः सूर्यप्रभः प्रातरुत्थाय सचिवैः सह।
दानवादिबलैः सर्वैर्युतो युद्धभुवं ययौ॥१॥
आययौ श्रुतशर्मा च विद्याधरबलैर्वृतः।
आजग्मुश्च पुनर्द्रष्टुं सर्वे देवासुरादयः॥२॥
सैन्ये द्वे अपि ते व्यूहावर्धचन्द्रौ च चक्रतुः।
प्रावर्तत ततो युद्धं बलयोरुभयोस्तयोः॥३॥
सशब्दमभिधावन्तो निकृन्तन्तः परस्परम्।
पत्रारूढाः प्रजविनो युद्ध्यन्ते स्म शरा अपि॥४॥
कोषाननाग्रनिर्याताः सुदीर्घाः पीतशोणिताः।
लोलाः खड्गलता रेजुः कृतान्तरसना इव॥५॥
शूरोत्फुल्लमुखाम्भोजसम्पतच्चक्रसंहति।
राजहंसक्षयायासीत्तदाहवमहासरः॥६॥
उत्फलद्भिः पतद्भिश्च निर्लूनैः शूरमूर्धभिः।
कृतान्तकन्दुकक्रीडासन्निभा समिदाबभौ॥७॥
क्षतजासेकनिर्धूतधूलिध्वान्ते रणाजिरे।
महारथानामभवन्द्वन्द्वयुद्धान्यमर्षिणाम्॥८॥

इस प्रकार, पुरुषविशेष के अज्ञान से मूर्खबुद्धि महासेन ने विपत्ति प्राप्त की और गुणशर्मा ने धैर्य धारण कर पूर्ण सफलता और सर्वोच्च राज्यलक्ष्मी प्राप्त की ॥२५१॥

अपने मन्त्री वीतभीति से इस प्रकार की उदार कथा को सुनकर समर-रूपी महासागर को पार करने की इच्छा से सूर्यप्रभ ने अधिक उत्साह प्राप्त किया और धीरे-धीरे सो गया ॥२५२॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के सूर्यप्रभ लम्बक का
षष्ठ तरंग समाप्त

सप्तम तरंग

सूर्यप्रभ का वृत्तान्त : अन्तिम युद्ध

रात बीतने पर, प्रातःकाल, मन्त्रियों के साथ शय्या से उठकर सूर्यप्रभ, अपनी दानव और मानव-सेना को लेकर रणभूमि में गया ॥१॥

उधर विद्याधरों की सेना-सहित श्रुतशर्मा भी युद्ध के मैदान में आकर डट गया और देवता, असुर आदि भी प्रतिदिन के समान, आकाश में युद्ध का दृश्य देखने के लिए आ गये ॥२॥

उस दिन दोनों ओर की सेनाओं में अर्धचन्द्र व्यूह बनाये गये और उसके पश्चात् दोनों सेनाओं में संग्राम प्रारम्भ हुआ ॥३॥

सनसनाहट के साथ दोनों ओर से दौड़ते हुए और आपस में एक दूसरे को काटते हुए और पंखों पर चढ़े हुए बाण भी मानों आपस में टकरा-टकराकर युद्ध करने लगे ॥४॥

म्यानों के मुंह से निकली लम्बी और खून की प्यासी, अतएव चलती हुई तलवारें मानों काल की जीभों के समान रणभूमि में लपलपा रही थीं ॥५॥

शूर योद्धाओं के खिले हुए मुख-कमलों पर गिरते हुए चक्र-युद्धरूपी महासरोवर, राजहंसों के विनाश के लिए था ॥६॥

उछलते, कटते और गिरते हुए योद्धाओं के मस्तक-रूपी गेंदों से वह युद्धभूमि मृत्यु की क्रीडाभूमि[1]-सी लग रही थी ॥७॥

रक्त से सींचे जाने के कारण रणांगण[2] जब धूलि से रहित हो गया, तब परस्पर दोनों दलों में द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥८॥

---

१. गेंद खेलने का मैदान। २. युद्ध का मैदान।

आसीत्सूर्यप्रभस्यात्र संग्रामः श्रुतशर्मणा।
दामोदरेण च समं प्रभासस्याहवोऽभवत्॥९॥
महोत्पातेन साकं च सिद्धार्थो युयुधे सदा।
प्रहस्तो ब्रह्मगुप्तेन सङ्क्रमेन च वीतभीः॥१०॥
प्रज्ञाढ्यश्चन्द्रगुप्तेनाप्यक्रमेण प्रियङ्करः।
युयुधे सर्वदमनः सहैवातिबलेन च॥११॥
धुरन्धरेण युयुधे स कुञ्जरकुमारकः।
अन्ये महारथाश्चान्यैरयुध्यन्त पृथक्पृथक्॥१२॥
तत्र पूर्वं महोत्पातः प्रतिहत्य शरैः शरान्।
सिद्धार्थस्य धनुश्छित्वा जघानाश्वान्ससारथीन्॥१३॥
विरथः सोऽपि सिद्धार्थो धावित्वा तस्य तं क्रुधा।
अयोदण्डेन महता साश्वं रथमचूर्णयत्॥१४॥
ततस्तं पादचारी स सिद्धार्थः पादचारिणम्।
बाहुयुद्धेन धरणौ महोत्पातमपातयत्॥१५॥
यावच्चेच्छति निष्पेष्टुं स तं तावत्स खेचरः।
भगेन रक्षितः पित्रा प्रोत्थाय प्रययौ रणात्॥१६॥
प्रहस्तब्रह्मगुप्तौ चाप्यन्योन्यं विरथीकृतौ।
करणैः खड्गयुद्धेन युध्येते स्म पृथग्विधैः॥१७॥
प्रहस्तश्चासिनिर्लूनचर्माणं करणक्रमात्।
युक्त्या तं पातयामास ब्रह्मगुप्तं भुवस्तले॥१८॥
पतितस्य शिरस्तस्य स यावच्छेत्तुमिच्छति।
तावन्निवारितो दूरात्पित्रास्य ब्रह्मणा स्वयम्॥१९॥
सुतान्रक्षितुमायाता यूयं न प्रेक्षितुं रणम्।
इत्युक्त्वा दानवाः सर्वे देवान्विजहसुस्तदा॥२०॥
तावद्वीतभयच्छिन्नधन्वानं हतसारथिम्।
जघान हृदये विद्ध्वा प्रद्युम्नास्त्रेण संक्रमम्॥२१॥
प्रज्ञाढ्यश्चन्द्रगुप्तं च पदातिं रथयोः क्षयात्।
पदातिः खड्गयुद्धेन न्यवधीत्कृत्तमस्तकम्॥२२॥
ततः पुत्रवधक्रुद्धः स्वयमागत्य चन्द्रमाः।
प्रज्ञाढ्यं योधयामास युद्धं चासीत्तयोः समम्॥२३॥

सूर्यप्रभ का श्रुतशर्मा के साथ और प्रभास का दामोदर के साथ द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार, महोत्पात के साथ सिद्धार्थ का, ब्रह्मगुप्त के साथ प्रहस्त का और संगम के साथ वीतभीति का चन्द्रगुप्त के साथ प्रज्ञाढ्य का, अक्रम के साथ प्रियंकर का और अतिबल के साथ सर्वदमन का द्वन्द्व-युद्ध होने लगा ॥९—११॥

इसी प्रकार, धुरंधर के साथ कुंजरकुमार भिड़ गया और अन्यान्य महारथियों के साथ अन्यान्य महारथी भिड़ गये ॥१२॥

उनमें पहले महोत्पात ने बाणों से सिद्धार्थ के बाणों को और धनुष को काटकर उसके सारथी और घोड़ों को भी मार डाला ॥१३॥

रथहीन और क्रुद्ध सिद्धार्थ ने भी रथ से कूदकर और दौड़कर लोहे के डंडे से महोत्पात के रथ को भी चूर-चूर कर डाला ॥१४॥

तब सिद्धार्थ ने, महोत्पात के साथ बाहुयुद्ध करके उसे पटक दिया और जब पटककर उसे मार डालना चाहा, तब उसके पिता भग देवता ने उसकी रक्षा की और वह रणभूमि से उठकर भाग गया ॥१५-१६॥

प्रहस्त और ब्रह्मगुप्त परस्पर रथहीन होकर पृथक्-प्रथक् पैंतरेबाजी के साथ तलवारों से लड़ रहे थे। प्रहस्त ने, तलवार से उसकी ढाल को काटकर पैंतरेबाजी के क्रम से ब्रह्मगुप्त को पृथ्वी पर गिरा दिया ॥१७-१८॥

जब प्रहस्त गिरे हुए ब्रह्मगुप्त का शिर तलवार से काटने लगा, तब उसके पिता ब्रह्मा ने दूर से ही उसे स्वयं रोक दिया ॥१९॥

'तुम सब लोग अपने पुत्रों की रक्षा करने आये हो, युद्ध देखने नहीं', इस प्रकार कहते हुए सभी दानव, देवताओं की हँसी उड़ाने लगे ॥२०॥

इतने में ही वीतभय (वीतभीति) ने धनुष काटकर और सारथी को मारकर, हृदय पर बाणों की वर्षा करके संक्रम को प्रद्युम्नास्त्र से मार डाला ॥२१॥

रथ के दूर चले जाने से पैदल लड़ते हुए प्रज्ञाढ्य ने रथहीन और पैदल युद्ध करते हुए चन्द्रगुप्त का मस्तक खड्ग-युद्ध में काट डाला ॥२२॥

तब पुत्र के वध से क्रुद्ध चन्द्रमा स्वयं युद्ध-भूमि में उतरकर प्रज्ञाढ्य से लड़ने लगा। फलतः, उन दोनों का युद्ध बराबर का हुआ ॥२३॥

प्रियङ्करश्च विरथो विरथं रथनाशतः।
एकखड्गप्रहारेण करोति स्माक्रमं द्विधा ॥२४॥
छिन्ने धनुषि निक्षिप्तेनङ्कुशेन हृदि क्षतम्।
हतवान्सर्वदमनो हेलयातिबलं रणे ॥२५॥
ततो धुरन्धरं तं च स कुञ्जरकुमारकः।
अस्त्रप्रत्यस्त्रयुद्धेन चकार विरथं मुहुः ॥२६॥
मुहुर्विक्रमशक्तिश्च तस्मै रथमढौकयत्।
ररक्ष सङ्कटे तं चाप्यस्त्रैरस्त्राणि वारयन् ॥२७॥
स कुञ्जरकुमारोऽथ धावित्वा महतीं शिलाम्।
क्रुद्धो विक्रमशक्तेर्द्राक् चिक्षेप स्यन्दनोपरि ॥२८॥
गते विक्रमशक्तौ च चूर्णितस्यन्दने ततः।
तयैव शिलया तं स धुरन्धरमचूर्णयत् ॥२९॥
सूर्यप्रभः प्रयुद्धोऽपि सहात्र श्रुतशर्मणा।
विरोचनवधक्रोधाज्जघानैकेषुणा दमम् ॥३०॥
तत्क्रोधादश्विनौ देवौ युद्धायापतितौ शरैः।
सुनीथः प्रतिजग्राह तेषां युद्धमभून्महत् ॥३१॥
स्थिरबुद्धिश्च संग्रामे शक्त्या हत्वा पराक्रमम्।
वसुभिस्तद्वधक्रुद्धैः सहाष्टाभिरयुध्यत ॥३२॥
विरथीकृतभासं च प्रभासो वीक्ष्य मर्दनम्।
दामोदररणासक्तोऽप्येकेनेवेषुणावधीत् ॥३३॥
प्रकम्पनोऽस्त्रयुद्धेन हत्वा तेजःप्रभं युधि।
युयुधे तद्वधक्रुद्धेनाग्निना सह दानवः ॥३४॥
धूमकेतोश्च समरे यमदंष्ट्रं निजघ्नुषः।
कुपितेन यमेनाभूत्सह युद्धं सुदारुणम् ॥३५॥
चूर्णयित्वा स शिलया सिंहदंष्ट्रः सुरोषणम्।
समं निर्ऋतिना युद्धे तद्वधामर्षशालिना ॥३६॥
कालचक्रोऽपि चक्रेण चक्रे वायुबलं द्विधा।
अयुध्यत च तत्कोपाज्ज्वलता वायुना सह ॥३७॥
रूपैर्नागाद्रिवृक्षाणां महामायो विमोहदम्।
कुबेरदत्तं हतवांस्तार्क्ष्यवज्राग्निरूपधृत् ॥३८॥

रथहीन प्रियंकर ने तलवार के एक ही प्रहार से रथहीन अक्रम के दो टुकड़े कर डाले ॥२४॥

फेंके हुए अंकुश से धनुष के काटने पर सर्वदमन ने अतिबल को सहज में ही मार डाला ॥२५॥

तब कुंजरकुमार ने अस्त्रों और प्रत्यस्त्रों के युद्ध में रथहीन धुरंधर को बार-बार मारा ॥२६॥

विक्रमशक्ति, धुरंधर के लिए बार-बार रथ उपस्थित करता था और अस्त्रों से अस्त्रों को दूर कर अपनी रक्षा कर रहा था। तब कुंजरकुमार ने क्रुद्ध होकर दौड़ते हुए, भारी पत्थर उठाकर विक्रमशक्ति के रथ पर फेंका ॥२७–२८॥

रथ के चूर-चूर हो जाने और विक्रमशक्ति के भाग जाने पर कुंजरकुमार ने उसी पत्थर की मार से धुरंधर को चूर्ण-विचूर्ण कर डाला ॥२९॥

सूर्यप्रभ ने, श्रुतशर्मा से युद्ध करते हुए भी, विरोचन को मार देने के क्रोध से एक ही बाण से दम को मार डाला ॥३०॥

पुत्र-वध के क्रोध से, अश्विनीकुमार देवता, युद्ध के लिए उतर आये। सुनीथ ने उनको रोका, तो उन दोनों में घमासान युद्ध मच गया ॥३१॥

स्थिरबुद्धि, शक्ति (अस्त्र) से पराक्रम को मारकर उसके वध से क्रुद्ध आठ वसुओं के साथ लड़ने लगा ॥३२॥

दामोदर से युद्धरत प्रभास ने, भास को रथहीन करनेवाले मर्दन को एक बाण से मार डाला ॥३३॥

प्रकम्पन नामक दानव, अस्त्रयुद्ध में तेजःप्रभ को मारकर उसके वध से क्रुद्ध अग्निदेव से युद्ध करने लगा ॥३४॥

यमपुत्र यमदंष्ट्र को मारनेवाले धूमकेतु दानव का उसके पिता यमराज के साथ युद्ध हुआ ॥३५॥

सिंहदंष्ट्र, पत्थर के प्रहार से सुरोषण को मारकर उसके वध से क्रुद्ध निर्ऋति देवता से युद्ध करने लगा ॥३६॥

कालचक्र दानव ने, चक्र से वायुबल (विद्याधर) के दो टुकड़े कर दिये। इस कारण क्रुद्ध उसके पिता वायु के साथ उसका युद्ध होने लगा ॥३७॥

महामाय दानव ने सर्प, पहाड़, वृक्ष आदि नाना प्रकार के रूप धारण करनेवाले कुबेरदत्त नामक विद्याधर को गरुड़, वज्र और अग्नि का रूप धारण करके मार डाला ॥३८॥

ततः क्रुद्धः कुबेरोऽत्र तेन साकमयुध्यत।
एवमन्येऽप्ययुध्यन्त सुराः स्वांशवधक्रुधा॥३९॥
निजघ्निरेऽत्र चान्येऽपि ते ते विद्याधराधिपाः।
उत्पतद्भिः प्रतिपदं तैस्तैर्मनुजदानवैः॥४०॥
तावच्चात्र प्रभासस्य सह दामोदरेण तत्।
परस्परास्त्रप्रत्यस्त्रभीमं युद्धमवर्त्तत॥४१॥
अथ दामोदरश्छिन्नधन्वा निहतसारथिः।
आत्तान्यचापः संगृह्य स्वयं रश्मीनयुध्यत॥४२॥
साधुवादप्रदं चास्य पप्रच्छेन्द्रोऽम्बुजासनम्।
हीयमानं प्रति कथं तुष्टोऽस्मि भगवन्निति॥४३॥
ततो ब्रह्मा जगादैनं कथं नैतस्य तुष्यते।
इयच्चिरं प्रभासेन सह योऽनेन युध्यते॥४४॥
दामोदरं हरेरंशं विना कुर्यादिदं हि कः।
एकस्य हि प्रभासस्य सर्वेऽप्यल्पाः सुरा रणे॥४५॥
नमुचिर्नाम यो ह्यासीदसुरः सुरमर्दनः।
प्रबलाख्यस्ततो जज्ञे सर्वरत्नमयश्च यः॥४६॥
सैष प्रभासो जातोऽद्य पुत्रो भासस्य दुर्जयः।
भासोऽपि पूर्वमभवत्कालनेमिर्महासुरः॥४७॥
भूयो हिरण्यकशिपुस्ततो भूत्वा कपिञ्जलः।
सुमुण्डीको सुरो योऽभूत्सोऽयं सूर्यप्रभोऽद्य च॥४८॥
हिरण्याक्षश्च योऽभूत्प्राक्स सुनीथासुरोऽप्ययम्।
प्रहस्ताद्याश्च येऽप्येते ते सर्वे दैत्यदानवाः॥४९॥
ये युष्माभिर्हतास्तेऽमी पुनर्जाता यतोऽसुराः।
मयादयोऽत एवामी पक्षमेषामुपाश्रिताः॥५०॥
सूर्यप्रभादिभिः स्विष्टरुद्रयज्ञप्रभावतः।
विस्रस्तबन्धनः पश्य बलिर्द्रष्टुमिहागतः॥५१॥
स्वं सत्यवचनं रक्षन्पातालेष्वेष तिष्ठति।
त्वद्राज्यकालपर्यन्तं ततश्चेन्द्रो भविष्यति॥५२॥
एते परिगृहीताश्च साम्प्रतं त्रिपुरारिणा।
तन्नायं जयकालो वः सन्धिं कुरुत किं ग्रहैः॥५३॥

इस कारण क्रुद्ध कुबेर महामाय से युद्ध करने लगा। इसी प्रकार, अनेक देवता अपने-अपने आंशिक पुत्र विद्याधरों के मारे जाने के कारण क्रुद्ध होकर दानवों और मानवों से युद्ध करने लगे ॥३९॥

पल-पल में उछलते हुए मानवों और दानवों ने, अनेक प्रसिद्ध विद्याधर-राजाओं और उनके सरदारों को मार डाला ॥४०॥

इधर प्रभास के साथ दामोदर का अस्त्रों और प्रत्यस्त्रों के द्वारा घमासान युद्ध चल रहा था। कुछ समय कटे हुए धनुष और मरे हुए सारथीवाले दामोदर ने, दूसरा धनुष लेकर और स्वयं घोड़े की लगाम पकड़कर युद्ध किया ॥४१-४२॥

दामोदर को साधुवाद देते हुए ब्रह्मा से इन्द्र ने पूछा—'प्रभो, हारते हुए दामोदर को आप साधुवाद क्यों दे रहे हैं?'॥४३॥

तब ब्रह्मा ने कहा—'क्यों न साधुवाद दूँ। यह दामोदर इस प्रभास के साथ इतनी देर तक जमकर युद्ध कर रहा है, यह साधारण बात नहीं है ॥४४॥

भगवान् विष्णु के अंश-स्वरूप दामोदर के अतिरिक्त कौन इस प्रभास से युद्ध कर सकता है। क्योंकि, अकेले प्रभास के लिए युद्ध में सभी देवता एक साथ मिलकर भी कम हैं ॥४५॥

पूर्वकाल में युद्ध में सुरों का मर्दन करनेवाला नमुचि नाम का जो असुर था, वह दूसरे जन्म में सर्वरत्नमय प्रबल नाम से उत्पन्न हुआ। वही अब यह भास का पुत्र प्रभास हुआ है। भास भी पहले कालनेमि नाम का महान् असुर था। दूसरे जन्म में वह हिरण्यकशिपु नाम का दैत्य हुआ। तदनन्तर कपिंजल के नाम से अवतीर्ण हुआ। सुमुंडीक नाम का जो असुर था, वह आज सूर्यप्रभ हुआ है। पहले जन्म में हिरण्याक्ष नाम का जो दैत्य था; वह अब सुनीथ के रूप में है। प्रहस्त आदि ये सभी पूर्वजन्म के दैत्य और दानव हैं ॥४६—४९॥

तुम लोगों ने पहले जिन असुरों को मारा था, वे ही इस समय मानव और दानव के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। इसीलिए, मय आदि सभी उनके पक्ष में हैं ॥५०॥

सूर्यप्रभ आदि द्वारा किये गये रुद्र के स्विष्टकृत् हवन के प्रभाव से बन्धन-मुक्त होकर बलि भी आज युद्ध देखने आया है ॥५१॥

यह (बलि) अपने सत्य-वचन की रक्षा के लिए पाताल-लोक में ही रहता है। तुम्हारा राज्य-काल समाप्त होने पर वही इन्द्र बनेगा ॥५२॥

इस समय ये दानव और मानव शिवजी की कृपा के पात्र हैं। अब यह तुम्हारे विजय का समय नहीं है। इसलिए सन्धि कर लो। आग्रह (हठ) करने से क्या लाभ है?' ॥५३॥

इति यावत्सुरपतिं ब्रवीति कमलासनः।
तावत्प्रभासः प्रामुञ्चदस्त्रं पाशुपतं महत् ॥५४॥
तद्दृष्टवा सर्वसंहारि रौद्रमस्त्रं विजृम्भितम्।
प्रमुक्तं हरिणा चक्रं सुतस्नेहात्सुदर्शनम् ॥५५॥
ततः सरूपयोरासीद्युद्धं दिव्यास्त्रयोस्तयोः।
अकाण्डविश्वसंहारसम्भ्रान्तभुवनत्रयम् ॥५६॥
अस्त्रं स्वं संहरैतत्त्वं यावत्स्वं संहराम्यहम्।
इत्युक्तो हरिणा सोऽथ प्रभासः प्रत्युवाच तम् ॥५७॥
मुक्तमस्त्रं वृथा न स्यात्तत्प्रयातु पराङ्मुखः।
दामोदरो रणं हित्वा ततोऽस्त्रं संहराम्यहम् ॥५८॥
इत्युक्ते तेन भगवानवादीत्तर्हि मानय।
चक्रं त्वमपि मे मा भूद्वैफल्यमुभयोरपि ॥५९॥
एतच्छौरेर्वचः श्रुत्वा प्रभासः प्राह कालवित्।
एवमस्तु रथं हन्तुं मम चक्रमिदं तव ॥६०॥
तथेति हरिणा दामोदरे व्यावर्त्तिते रणात्।
प्रभासः संजहारास्त्रं चक्रं चास्यापतद्रथे ॥६१॥
आरुह्यान्यं रथं सोऽथ ययौ सूर्यप्रभान्तिकम्।
दामोदरोऽपि स प्रायाच्छ्रुतशर्मान्तिकं ततः ॥६२॥
तावच्च वासवांशत्वदृप्तस्य श्रुतशर्मणः।
सूर्यप्रभस्य च द्वन्द्वयुद्धं काष्ठां परामगात् ॥६३॥
श्रुतशर्मा प्रयुङ्क्ते स्म यद्यदस्त्रं प्रयत्नतः।
प्रत्यस्त्रैः प्रतिहन्ति स्म तत्तत्सूर्यप्रभः क्षणात् ॥६४॥
माया या या च तेनात्र प्रयुक्ता श्रुतशर्मणा।
सूर्यप्रभेण सा सास्य निहता प्रतिमायया ॥६५॥
ततो ब्रह्मास्त्रममुचच्छ्रुतशर्मातिकोपतः।
सूर्यप्रभोऽपि प्रामुञ्चदस्त्रं पाशुपतं कृती ॥६६॥
तेन रौद्रमहास्त्रेण ब्रह्मास्त्रं प्रतिहत्य तत्।
यावत्स दुष्प्रधर्षेण श्रुतशर्माभिभूयते ॥६७॥
तावदिन्द्रप्रभृतिभिर्लोकपालैः समन्ततः।
वज्रादीनि प्रयुक्तानि परमास्त्राण्यमर्षिभिः ॥६८॥

ब्रह्मा जबतक इन्द्र से इस प्रकार कह रहे थे, तभी प्रभास ने, महान् पाशुपतास्त्र चलाया ॥५४॥

सर्वसंहारकारी उस अस्त्र से भीषण संहार होते देखकर अपने अंश दामोदर के पुत्र-स्नेह से विष्णु ने सुदर्शन-चक्र चला दिया ॥५५॥

तब समान बलशाली उन दोनों दिव्यास्त्रों का, सहसा विश्व के संहार का कारण, तीनों लोकों को व्याकुल करनेवाला युद्ध होने लगा ॥५६॥

'तुम अपने पाशुपत अस्त्र को हटा लो, तो मैं भी अपने सुदर्शन चक्र को हटा लूंगा', विष्णु के इस प्रकार कहने पर प्रभास उनसे बोला—॥५७॥

'मेरा चलाया हुआ अस्त्र व्यर्थ नहीं जायगा। दामोदर, युद्ध-भूमि छोड़कर हट जाय, तो मैं अस्त्र-संहार कर सकता हूँ' ॥५८॥

प्रभास के ऐसा कहने पर विष्णु ने कहा—'तो तुम भी मेरे चक्र की मान-रक्षा करो। जिससे दोनों विफल न हों' ॥५९॥

विष्णु का वचन सुनकर अवसर जाननेवाले प्रभास ने कहा—'ठीक है, आपका यह चक्र मेरे रथ को तोड़ दे' ॥६०॥

विष्णु भगवान् के स्वीकार करने पर दामोदर युद्ध-भूमि से लौट गया। फलतः, प्रभास ने पाशुपतास्त्र को लौटा लिया और उसके रथ पर सुदर्शन-चक्र गिरा ॥६१॥

तब प्रभास, दूसरे रथ पर बैठकर सूर्यप्रभ के पास चला गया और उधर दामोदर भी श्रुतशर्मा के पास गया ॥६२॥

इसी बीच इन्द्र का अंश होने के कारण गर्वित श्रुतशर्मा का और सूर्यप्रभ का द्वन्द्व-युद्ध अत्यन्त भीषण अवस्था में पहुँच गया ॥६३॥

श्रुतशर्मा बड़े ही प्रयत्न से जिस अस्त्र का प्रयोग करता था, सूर्यप्रभ, उसी क्षण, प्रति अस्त्र से उसका प्रतिकार कर देता था ॥६४॥

इसके अतिरिक्त श्रुतशर्मा ने जो-जो इन्द्रजाल की माया फैलाई, सूर्यप्रभ ने उस-उस को विरोधी माया से दूर कर दिया ॥६५॥

जब श्रुतशर्मा ने अत्यन्त क्रोध से सूर्यप्रभ पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, तब सूर्यप्रभ ने भी पाशुपत अस्त्र का प्रयोग कर दिया ॥६६॥

पाशुपतास्त्र ने जब ब्रह्मास्त्र को दूर कर श्रुतशर्मा पर प्रभाव डाला, तब इन्द्र आदि लोकपालों ने क्रोध करके चारों ओर से वज्र आदि अस्त्रों का सूर्यप्रभ पर प्रहार किया ॥६७-६८॥

तत्तु पाशुपतं तानि जित्वा सर्वायुधान्यपि।
जज्वाल सुतरामस्त्रं श्रुतशर्मजिघांसया ॥६९॥
ततः सूर्यप्रभः स्तुत्वा महास्त्रं तद्व्यजिज्ञपत्।
मा वधीः श्रुतशर्माणं बद्ध्वा त्वं तं समर्पय ॥७०॥
ततः प्रसह्य निःशेषैः सन्नद्धमभवत्सुरैः।
तज्जिगीषावशाच्चान्यैः प्रेक्षकैरसुरैरपि ॥७१॥
तत्क्षणं वीरभद्राख्यः शम्भुना प्रेरितो गणः।
आगत्यैव तदादेशमिन्द्रादिभ्योऽब्रवीदिदम् ॥७२॥
यूयं प्रेक्षितुमायातास्तद्योद्धुं वः क्रमोऽत्र कः।
मर्यादालङ्घनाच्चान्यदपि स्यादसमञ्जसम् ॥७३॥
एतच्छ्रुत्वाब्रुवन्देवा हन्यन्ते च हताश्च नः।
सर्वेषामत्र तनयास्तन्न युध्यामहे कथम् ॥७४॥
दुस्त्यजो हि सुतस्नेहस्तदवश्यं प्रतिक्रिया।
तन्निहन्तृषु कर्त्तव्या यथाशक्त्यत्र कोऽक्रमः ॥७५॥
इत्युक्तवत्सु देवेषु वीरभद्रे ततो गते।
सुराणामसुराणां च प्रावर्त्तत महारणः ॥७६॥
सुनीथः सममश्विभ्यां प्रज्ञाढ्यश्च सहेन्दुना।
स्थिरबुद्धिश्च वसुभिः कालचक्रश्च वायुना ॥७७॥
प्रकम्पनोऽग्निना सिंहदंष्ट्रो निर्ऋतिना तथा।
वरुणेन प्रथमनो धूमकेतुर्यमेन च ॥७८॥
महामायः स च तदा धनाधिपतिना सह।
अयुध्यतास्त्रप्रत्यस्त्रैरन्योन्यैश्च समं सुरैः ॥७९॥
पर्यन्ते परमास्त्रं च यो यो यद्यत्सुरोऽक्षिपत्।
तस्य तस्य हरस्तत्तद्धुङ्कारेण व्यनाशयत् ॥८०॥
धनदस्तूद्यतगदः साम्ना शर्वेण वारितः।
भग्नास्त्राश्च सुरास्ते ते परित्यज्याहवं ययुः ॥८१॥
ततः सूर्यप्रभं शक्रः स्वयं क्रोधादयोधयत्।
शरौघममुचत्तस्मिंस्तानि तान्यायुधानि च ॥८२॥
सूर्यप्रभश्च निर्धूय तदस्त्राण्यवहेलया।
आकर्णाकृष्टनाराचशतेनेन्द्रमताडयत् ॥८३॥

किन्तु, जब पाशुपतास्त्र उन सब अस्त्रों को हटाकर श्रुतशर्मा को मारने के लिए प्रवृत्त हुआ, तब सूर्यप्रभ ने उस अस्त्र की स्तुति करके उससे प्रार्थना की कि वह श्रुतशर्मा का वध न करे। उसे बाँधकर वह मुझे सौंप दे ॥६९-७०॥

यह देखकर सभी देवता क्रोध से युद्ध करने के लिए उद्यत हो गये और इधर उन्हें जीतने के लिए असुर भी तैयार हो गये ॥७१॥

उसी समय शंकर द्वारा प्रेरित वीरभद्र नामक गण उत्पन्न हुआ और उसने इन्द्र आदि देवताओं को शंकर की आज्ञा सुनाई—॥७२॥

'तुमलोग युद्ध देखने के लिए आये हो, तो युद्ध करने का यह कौन-सा तुक है। इस प्रकार, मर्यादा का भंग करने से और भी बुराई उत्पन्न होगी' ॥७३॥

यह सुनकर देवता कहने लगे कि 'इस युद्ध में हम सभी के पुत्र मारे गये और मारे जा रहे हैं। इसलिए, हमलोग क्यों न लड़ें ? ॥७४॥

पुत्र का स्नेह छोड़ा नहीं जा सकता। अतः, मारनेवालों पर प्रतिक्रिया अवश्य ही करनी होगी। इसमें क्या बेतुकापन है' ॥७५॥

देवताओं के इस प्रकार कहने पर और वीरभद्र के अन्तर्धान होने पर देवासुरों का भी भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥७६॥

सुनीथ अश्विनीकुमारों के साथ, प्रज्ञाढ्य चन्द्रमा के साथ, स्थिरबुद्धि अष्ट वसुओं के साथ, कालचक्र वायु के साथ, प्रकम्पन अग्नि के साथ, सिंहदंष्ट्र निर्ऋति के साथ, प्रमथन वरुण के साथ, धूमकेतु यम के साथ और महामाय धनाधिप कुबेर के साथ द्वन्द्व-युद्ध करने लगे। इसी प्रकार, अन्य असुर भी शस्त्रास्त्रों द्वारा देवताओं से युद्ध करने लगे ॥७७—७९॥

अन्त में देवता अपने जो-जो परम अस्त्र का प्रयोग करते थे, शिवजी उस-उस अस्त्र को हुङ्कार मात्र से व्यर्थ कर देते थे ॥८०॥

गदा उठाये हुए अपने मित्र को शिव ने शान्तिपूर्वक मना किया। अस्त्रों के विफल हो जाने के कारण विवश देवता युद्ध से विरत हो गये ॥८१॥

तब इन्द्र, क्रोध से भरकर स्वयं सूर्यप्रभ से युद्ध करने लगा और उस पर बाणों तथा अन्यान्य शस्त्रास्त्रों की वर्षा करने लगा ॥८२॥

सूर्यप्रभ ने, उसकी शस्त्र-वर्षा की साधारणतः उपेक्षा करके कान तक खींचे हुए धनुष से इन्द्र को एक सौ बाणों से मारा ॥८३॥

ततः क्रुद्धः स कुलिशं जग्राह च सुराधिपः।
हुङ्कारं चाकरोद्रुद्रः कुलिशं च ननाश तत् ॥८४॥
ततः पराङ्मुखे याते शक्रे नारायणः स्वयम्।
प्रभासं योधयामास क्रोधात्कोटीमुखैः शरैः ॥८५॥
अस्त्राण्यन्यानि चाप्यस्त्रैर्निष्कम्पो युयुधे समम्।
हताश्वो विरथीभूतोऽप्यारुह्यान्यं रथं च सः ॥८६॥
तेन दैत्यारिणा सार्धं निर्विशेषमयुध्यत।
ततः प्रकुपितो देवो ज्वलच्चक्रं मुमोच सः ॥८७॥
प्रभासोऽप्यभिमन्त्र्यैव दिव्यं खड्गं प्रमुक्तवान्।
तयोरायुधयोर्युध्यमानयोर्वीक्ष्य चक्रतः ॥८८॥
हीयमानं शनैः खड्गं हुङ्कारं कृतवान्हरः।
तेन ते खड्गचक्रे द्वे अन्तर्धानमुपेयतुः ॥८९॥
ततो ननन्दुरसुरा विषीदन्ति स्म चामराः।
सूर्यप्रभे लब्धजये बद्धे च श्रुतशर्मणि ॥९०॥
संस्तुत्याराधयामासुरथ देवा वृषध्वजम्।
ततस्तुष्टः सुरानेवमादिदेशाम्बिकापतिः ॥९१॥
सूर्यप्रभप्रतिज्ञातं वर्जयित्वार्थ्यतां वरः।
देव यत्ते प्रतिज्ञातं कः शक्तः कर्तुमन्यथा ॥९२॥
किं त्वस्माभिः प्रतिज्ञातं यदस्य श्रुतशर्मणः।
सत्यं तदप्यस्तु विभो मा भूद्वंशक्षयश्च नः ॥९३॥
इत्युक्त्वा विरतान्देवान्भगवानेवमादिशत्।
सन्धौ कृते भवत्येतत्सन्धिश्चैवमिहास्तु वः ॥९४॥
सूर्यप्रभं प्रणमतु श्रुतशर्मा सहानुगः।
ततस्तथा वदिष्यामो यथोभयहितं भवेत् ॥९५॥
इतीश्वरवचो देवाः प्रतिपद्य तथेति च।
सूर्यप्रभस्य विदधुः श्रुतशर्माणमानतम् ॥९६॥
ततस्तयोर्मिथस्त्यक्तवैरयोः कण्ठलग्नयोः।
सन्धिं देवासुराश्चक्रुः शान्तवैराः परस्परम् ॥९७॥
अथ शृण्वत्सु निखिलेष्वसुरेषु सुरेषु च।
उवाच भगवाञ्शम्भुः सूर्यप्रभमिदं वचः ॥९८॥

तब देवराज इन्द्र ने क्रोध से भरकर वज्र उठाकर सूर्यप्रभ पर प्रहार किया, तो शिवजी ने हुंकार कर दिया। फलतः, वज्र नष्ट होगया ॥८४॥

तब इन्द्र के युद्धभूमि से चले जाने पर स्वयं नारायण, क्रोध से भरकर तीक्ष्ण मुखवाले बाणों से प्रभास को लड़ाने लगे ॥८५॥

नारायण के अस्त्रों का उत्तर विरोधी अस्त्रों से देता हुआ प्रभास, अविचल भाव से साधारण व्यक्ति के समान युद्ध करने लगा। घोड़ों के मर जाने और रथ के टूट जाने पर भी वह दूसरे रथ पर चढ़कर लड़ रहा था। तब विष्णु भगवान् ने क्रुद्ध होकर प्रभास पर जलते हुए चक्र का प्रहार किया, तो तुरन्त प्रभास ने भी अभिमन्त्रित खड्ग का प्रयोग कर दिया। उन दोनों अस्त्रों (चक्र और खड्ग) को परस्पर युद्ध करते हुए और चक्र से खड्ग को धीरे-धीरे निर्बल होते हुए देख कर शंकर भगवान् ने हुंकार किया। उससे वे दोनों खड्ग और चक्र अन्तर्हित हो गये ॥८६—८९॥

तब सूर्यप्रभ के विजयी होने और श्रुतशर्मा के पकड़कर बाँध लिये जाने पर असुर आनन्दित और देवता खिन्न हो गये ॥९०॥

तदनन्तर देवताओं ने स्तुति करके शंकर की आराधना की। फलतः, प्रसन्न होकर गिरिजापति शंकर भगवान् ने देवताओं से यह कहा—'मैंने सूर्यप्रभ से जो प्रतिज्ञा की है, उसे छोड़कर और कोई भी वर माँगो।' देवताओं ने कहा—भगवन्, आप जो प्रतिज्ञा कर चुके, उसे उलटने में कौन समर्थ हो सकता है; किन्तु हम लोगों ने भी श्रुतशर्मा को जो वचन दिया है, वह भी सत्य होना चाहिए। हमारे वंश का नाश नहीं होना चाहिए' ॥९१—९३॥

ऐसा कहकर चुप हुए देवताओं से भगवान् महादेव ने कहा—'परस्पर सन्धि कर लने पर ही यह सम्भव है। पहले श्रुतशर्मा अपने अनुचरों के साथ सूर्यप्रभ को प्रणाम करे, तब मैं उस पक्ष के हित की बात कहूँगा' ॥९४—९५॥

शिवजी के ऐसा कहने पर 'ऐसा ही होगा', देवताओं ने कहा और श्रुतशर्मा को सूर्यप्रभ के आगे विनम्र कर दिया ॥९६॥।

तब उन दोनों के गले मिलने पर और आपसी शत्रुता छोड़ देने पर देवताओं और असुरों ने वैर शान्त करके परस्पर मित्रता कर ली ॥९७॥

तदनन्तर, सभी सुरों और असुरों के समक्ष रहने पर, भगवान् शंभु ने सूर्यप्रभ से कहा—॥९८॥

कुरु दक्षिणवेद्यर्धे चक्रवर्तित्वमात्मनः।
उत्तरस्मिंस्तु वेद्यर्धे देहि तच्छ्रुतशर्मणे ॥९९॥
प्राप्तव्यमचिरात्पुत्र त्वया ह्यीतश्चतुर्गुणम्।
साम्राज्यं किन्नरादीनामशेषाणां द्युचारिणाम् ॥१००॥
तस्मिन्प्राप्ते च दद्यास्त्वं वेद्यर्धमपि दक्षिणम्।
तत्कुञ्जरकुमाराय सविशेषपदे स्थितः ॥१०१॥
ये चात्र निहता वीराः समित्युभयपक्षयोः।
उत्तिष्ठन्त्वक्षतैरङ्गैर्जीवन्तः सर्व एव ते ॥१०२॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे शम्भुः सर्वे चोत्तस्थुरक्षताः।
सुप्तप्रबुद्धा इव ते येऽत्राभूवन्रणे हताः ॥१०३॥
अथ सूर्यप्रभो मूर्ध्नि धृतशाम्भवशासनः।
गत्वा विविक्तं विस्तीर्णं भूमिभागमरिन्दमः ॥१०४॥
उपविष्टो महास्थाने श्रुतशर्माणमागतम्।
निजसिंहासनार्धे तमुपावेशितवान्स्वयम् ॥१०५॥
तद्वयस्याः प्रभासाद्या वयस्याः श्रुतशर्मणः।
दामोदराद्याश्च तयोः पार्श्वयोः समुपाविशन् ॥१०६॥
उपाविशत्सुनीथश्च मयश्चान्ये च दानवाः।
आसनेषु यथार्हेषु तथा विद्याधरेश्वराः ॥१०७॥
ततस्तत्रcraft
ततस्तत्राययुः सप्तपातालपतयोऽखिलाः।
प्रह्लादप्रमुखा दैत्यदानवेन्द्राः प्रहर्षतः ॥१०८॥
शक्रश्च लोकपालादियुतो गुरुपुरःसरः।
विद्याधरः सुमेरुश्च स सुवासकुमारकः ॥१०९॥
दनुप्रभृतयः सर्वाश्चाययुः कश्यपाङ्गनाः।
भूतासनविमानेन भार्याः सूर्यप्रभस्य च ॥११०॥
सर्वेष्वेषु कृतान्योन्यप्रीत्याचारोपवेशिषु।
सिद्धिर्नाम सखी दन्वास्तद्वाक्येनैवमभ्यधात् ॥१११॥
भो भोः सुरासुरा देवी दनुर्युष्मान्ब्रवीत्यसौ।
अस्मिन्प्रीतिसमाजे यत्सौमनस्यं सुखं च नः ॥११२॥
तद्ब्रूत यदि युष्माभिरनुभूतं कदाचन।
तदन्योन्यं न कर्तव्यो विरोधो दुःखदारुणः ॥११३॥

'तुम विद्याधरों की दक्षिण ओर की आधी वेदी पर अपना चक्रवर्ती-शासन स्थापित करो और उत्तर की आधी वेदी पर श्रुतशर्मा को चक्रवर्ती बने रहने दो। पुत्र, कुछ दिनों के पश्चात् इससे चौगुना किन्नर आदि आकाशचारियों का राज्य प्राप्त करोगे। जब तुम्हारा राज्य-विस्तार हो जाय, तब अपनी दक्षिणवाली आधी वेदी कुंजरकुमार को देना।' इतना कहने के पश्चात् अन्त में शिवजी ने कहा—'इस युद्ध में उभय पक्ष के जितने वीर मरे हैं, वे सब जीवित हो जायें। उनके शरीर पर एक घाव भी न रहे।' ऐसा कहकर शिवजी के अन्तर्धान होने पर सभी मुर्दे ऐसे उठ गये, जैसे अभी सोकर जगे हों ॥९९—१०३॥

तदनन्तर विजयी सूर्यप्रभ शिवजी की आज्ञा को शिरोधार्य करके और एकान्त में विस्तृत भूभाग में जाकर एक स्थान पर बैठ गया और सभा (दरबार) की। उस समय आये हुए श्रुतशर्मा को उसने अपने सिंहासन के आधे भाग में स्वयं बैठाया ॥१०४—१०५॥

प्रभास आदि सूर्यप्रभ के मित्र और श्रुतशर्मा के मित्र दामोदर आदि दोनों, दोनों ओर यथास्थान बैठ गये ॥१०६॥

सुनीथ और मय आदि असुर तथा अन्यान्य विद्याधर-राजा समुचित आसनों पर विराजमान हो गये। तब सातों पातालों के अधिपति प्रह्लाद आदि दैत्य-दानवेन्द्र हर्ष मनाते हुये वहाँ आये ॥१०७-१०८॥

गुरु बृहस्पति को आगे करके लोकपालों के साथ इन्द्र तथा सुमेरु, सुवासकुमार एवं दनु आदि कश्यप मुनि की सभी पत्नियाँ वहाँ आईं और भूतासन विमान पर बैठकर सूर्यप्रभ की समस्त पत्नियाँ भी वहाँ पहुँचीं। ये सब लोग प्रेमपूर्वक व्यवहार करके जब यथास्थान बैठ गये, तब दनु की सखी सिद्धि ने उसी (दनु) के शब्दों में ही इस प्रकार कहा—'हे सुरो और असुरो! देवी दनु, आपसे कहती हैं कि आज इस प्रीति-समाज में आप लोग जिस सुख का अनुभव कर रहे हैं, क्या इस सुख का अनुभव पहले भी किया था (कहिए), इसलिए दुःखों का कारण भीषण विरोध आप लोगों को न करना चाहिए ॥१०९—११३॥

हिरण्याक्षादिभिर्ज्येष्ठैर्दुराज्याय कृतः स यैः।
ते गताः शक्र एवाद्य ज्येष्ठस्तत्का विरोधिता॥११४॥
निर्वैरसुखितास्तस्माद्वर्त्तध्वमितरेतरम्।
अस्माकं येन सन्तोषः शिवं च जगतां भवेत्॥११५॥
इति सिद्धिमुखाच्छ्रुत्वा भगवत्या दनोर्वचः।
शक्रेण वीक्षितमुखो बृहस्पतिरुवाच ताम्॥११६॥
नानुबन्धोऽस्ति देवानामसुरान्प्रति कश्चन।
विकुर्वते न यद्येते मिथ्या देवानिमान्प्रति॥११७॥
इत्युक्ते देवगुरुणा दानवेन्द्रो मयोऽब्रवीत्।
स्याद्विकारोऽसुराणां चेत्तद्दद्यान्नमुचिः कथम्॥११८॥
उच्चैःश्रवसमिन्द्राय मृतसञ्जीवनं हयम्।
प्रबलश्च शरीरं स्वं सुरेभ्यः कथमर्पयेत्॥११९॥
त्रैलोक्यं हरये दत्त्वा विशेत्कारां कथं बलिः।
अयोदेहः कथं देहं दद्याद्वा विश्वकर्मणे॥१२०॥
अधिकं वा कियद्वच्मि नित्यसम्भाविनोऽसुराः।
छद्मना चेन्न बाध्यन्ते तदेषां नास्ति विक्रिया॥१२१॥
एवं मयासुरेणोक्ते सिद्ध्यावोचि तथा यथा।
प्रीतिं देवासुराश्चक्रुर्मिथः कण्ठग्रहोत्तरम्॥१२२॥
तावद् भवान्या प्रहिता प्रतीहारी जयाभिधा।
अत्रागात्पूजिता सर्वैः सुमेरुमवदच्च सा॥१२३॥
देव्याहं प्रेषिता त्वां प्रत्यादिष्टं च तया तव।
अस्ति ते कन्यका नाम्ना कामचूडामणिः सुता॥१२४॥
सूर्यप्रभाय तां देहि शीघ्रं भक्ता हि सा मम।
इत्युक्तो जयया प्रह्वः सुमेरुः प्रत्युवाच ताम्॥१२५॥
यदादिशति देवी मां परमोऽनुग्रहो ह्ययम्।
देवेनाप्ययमेवार्थः प्रागादिष्टो ममाभवत्॥१२६॥
एवं सुमेरुणा प्रोक्ता प्राह सूर्यप्रभं जया।
त्वयैषा सर्वभार्याणां कर्त्तव्योपरिवर्त्तिनी॥१२७॥
सर्वाभ्योऽभिमतान्याभ्यस्तवाप्येषा भविष्यति।
इत्यादिष्टं तवाप्यद्य देव्या गौर्या प्रसन्नया॥१२८॥

बड़े भाई हिरण्याक्ष आदि ने, स्वर्ग के लिए परस्पर विरोध किया था, वे मारे गये और अब इन्द्र ही बड़ा है, तो विरोध क्यों है? इसलिए वैर-रहित होकर आप लोग परस्पर भद्र व्यवहार करो, जिससे कि हम लोगों को सन्तोष और तीनों लोकों का कल्याण हो' ॥११४-११५॥

सिद्धि के मुख से माता दनु के वचन सुनकर इन्द्र ने बृहस्पति की ओर देखा। तब बृहस्पति कहने लगे—'देवताओं को असुरों के प्रति कोई वैर नहीं है। इसलिए, देवता उनके प्रति कोई भी हानिकारक कार्य नहीं करते' ॥११६-११७॥

बृहस्पति के ऐसा कहने पर दानवराज मय बोला—'यदि असुरों के मन में देवताओं के प्रति अनिष्ट-भावना होती, तो नमुचि असुर, मुर्दों को जिलानेवाले उच्चैःश्रवा नामक घोड़े को इन्द्र के लिए दान में कैसे दे देता और प्रबल दैत्य देवताओं को अपना शरीर कैसे दान कर देता? बलि विष्णु को अपना शरीर दान करके कारागार में क्यों जाता और अयोदेह असुर विश्वकर्मा को अपना शरीर कैसे दे देता ॥११८—१२०॥

और, अधिक क्या कहूँ, नित्य ही देवताओं द्वारा पीड़ित असुर यदि छल-कपट द्वारा आतंकित न किये जायँ, तो उनके मन में कोई विकार नहीं हो' ॥१२१॥

मयासुर के इस प्रकार कहने पर सिद्धि ने कहा—'तुम जो कहते हो, ठीक है।', तदनन्तर, देवता और असुरों ने परस्पर के मित्रों से प्रेमपूर्वक मेल-मिलाप किया ॥१२२॥

इसी बीच भवानी पार्वती द्वारा भेजी गई प्रतीहारी जया भी वहीं आई। उसके आने पर सबने उसका स्वागत-सम्मान किया और वह सुमेरु से कहने लगी—'मुझे देवी पार्वती ने भेजा है और तुम्हें यह सन्देश दिया है कि तुम्हारी कामचूडामणि नाम की कन्या है, उसे तुम शीघ्र ही सूर्यप्रभ के लिए दे दो। वह कन्या मेरी भक्ता है।' सुजया के इस प्रकार कहने पर सुमेरु ने नम्रता पूर्वक उससे कहा—॥१२३—१२५॥

'भगवती ने मुझे जो आज्ञा दी, यह मुझ पर उनका अनुग्रह है। भगवान् महादेव ने भी यह बात पहले मुझसे कही थी' ॥१२६॥

सुमेरु के इस प्रकार कहने पर जया ने सूर्यप्रभ से कहा—'तुम इस (कामचूडामणि) को सभी पत्नियों में प्रधान बनाना। यह तुम्हारी सभी प्रिय पत्नियों में अधिक प्रिय होगी। इस प्रकार प्रसन्न पार्वती ने तुम्हें भी आदेश दिया है' ॥१२७—१२८॥

इत्युक्त्वान्तर्दधे सूर्यप्रभेणाभ्यर्चिता जया।
अत्रैवाह्नि सुमेरुश्च लग्नं निश्चितवान्द्रुतम् ॥१२९॥
वेदीमकारयत्सोऽत्र सद्रत्नस्तम्भकुट्टिमाम्।
युक्तां तद्रश्मिजालेन पिहितेनेव वह्निना ॥१३०॥
आनाययामास च तां कामचूडामणिं सुताम्।
निपीयमानलावण्यां लोलैर्देवासुरेक्षणैः ॥१३१॥
उमा हिमवतो जाता जाता चेयं सुमेरुतः।
इतीव तत्समानेन सौन्दर्येण समाश्रिताम् ॥१३२॥
ततो वेदीं समारोप्य कृतकौतुकशोभिताम्।
प्रसाधितां सुमेरुस्तां ददौ सूर्यप्रभाय सः ॥१३३॥
सूर्यप्रभश्च जग्राह कामचूडामणेस्तदा।
दनुप्रभृतिभिर्बद्धकङ्कणं पाणिपङ्कजम् ॥१३४॥
ददौ लाजविसर्गे च प्रथमे तत्क्षणागता।
जया भवानीप्रहिता दिव्यां मालामनश्वरीम् ॥१३५॥
सुमेरुश्चाप्यनर्घाणि रत्नानि प्रददौ तदा।
ऐरावणात्समुत्पन्नं दिव्यं च वरवारणम् ॥१३६॥
द्वितीये लाजमोक्षे च जया रत्नावलीमदात्।
यया कण्ठस्थया मृत्युः क्षुत्तृष्णा च न बाधते ॥१३७॥
सुमेरुश्च ददाति स्म द्विगुणं रत्नसञ्चयम्।
उच्चैःश्रवःप्रसूतं च हयरत्नमनुत्तमम् ॥१३८॥
लाजमोक्षे तृतीये च ददावेकावलीं जया।
यौवनं क्षीयते नैव यया कण्ठावलग्नया ॥१३९॥
सुमेरुस्त्रिगुणं राशिं रत्नानां प्रवितीर्य च।
दत्तवान्गुलिकां दिव्यां सर्वसिद्ध्युपयोगिनीम् ॥१४०॥
ततो विवाहे निर्वृत्ते सुमेरुः ससुरासुरान्।
विद्याधरान्देवमातृः सर्वानेवं व्यजिज्ञपत् ॥१४१॥
भोक्तव्यमद्य युष्माभिः सर्वैरेव गृहे मम।
अनुग्रहश्च कर्त्तव्यो बद्धो मूर्ध्नि मयाञ्जलिः ॥१४२॥
एवमभ्यर्थनां तस्य सुमेरोः सर्वं एव ते।
यावन्नेच्छन्ति तावच्च नन्दी तत्रागतोऽभवत् ॥१४३॥

सूर्यप्रभ द्वारा सम्मानिता जया इतना कहकर अन्तर्हित हो गई। सुमेरु ने भी उसी दिन शीघ्रता पूर्वक लग्न का निश्चय किया और वहीं पर उसने महामूल्य रत्नों के स्तम्भों तथा छतों से युक्त सुन्दर वेदी बनवाई। रत्नों की चमकीली लाल किरणों से मानों वेदी सब ओर से अग्नि द्वारा छाई हुई-सी लग रही थी॥१२९–१३०॥

वहीं उसने अपनी सुन्दरी कन्या कामचूडामणि को बुलवाया, जिसके लावण्य को चंचल होकर देवता और असुर सभी अपने नेत्रों से पी रहे थे॥१३१॥

उमा हिमालय से उत्पन्न हुई थी और यह सुमेरु से। मानों, इसीलिए वह पार्वती के समान सुन्दरी थी॥१३२॥

तदनन्तर, विवाह-वेश में सजी हुई कन्या को सुमेरु ने वेदी पर बैठाकर उसे सूर्यप्रभ को प्रदान कर दिया॥१३३॥

सूर्यप्रभ ने भी, दनु आदि के द्वारा बाँधे गये कामचूडामणि के हाथ को ग्रहण किया॥१३४॥

पहले लाजा-होम के समय उसी क्षण आई हुई और पार्वती द्वारा भेजी गई जया ने अनश्वरी नाम की दिव्य माला उसे प्रदान की। सुमेरु ने भी अनन्त और अमूल्य रत्न उस अवसर पर प्रदान किये और ऐरावत से उत्पन्न सुन्दर हाथी भी प्रदान किया॥१३५–१३६॥

दूसरे लाजा-होम के समय जया ने एक रत्नों की माला भेंट की, जिसके गले में रहने पर मृत्यु, भूख और प्यास का कष्ट नहीं होता था॥१३७॥

सुमेरु ने भी पहले से अधिक रत्नराशि और उच्चैःश्रवा से उत्पन्न घोड़े का बच्चा प्रदान किया॥१३८॥

तीसरे लाजा-हवन के समय जया ने मोतियों की एक लड़ीवाली माला दी। जिसके गले में रहने से यौवन का क्षय नही होता था॥१३९॥

और, सुमेरु ने भी तिगुनी रत्नराशि और सब प्रकार की सिद्धियों के उपयोग में आनेवाली एक अँगूठी दी॥१४०॥

इस प्रकार, विवाह-संस्कार पूर्ण होने पर सुमेरु ने सुरों, असुरों, विद्याधरों और देवमाताओं से इस प्रकार निवेदन किया॥१४१॥

आज आप लोगों को मेरे घर पर भोजन करना चाहिए और मुझ पर कृपा करनी चाहिए। मैं सिर पर अंजलि बाँधकर आप लोगों से निवेदन करता हूँ॥१४२॥

उन सब ने जब भोजन करना न चाहा, तब शिवजी का नन्दी वहाँ आकर उपस्थित हुआ॥१४३॥

स तानवादीत्प्रणतानादिष्टं वस्त्रिशूलिना।
गृहे सुमेरोर्भोक्तव्यमेष ह्यस्मत्परिग्रहः॥१४४॥
एतदन्नेषु भुक्तेषु तृप्तिः स्याच्छाश्वती च वः।
इति नन्दिमुखाच्छ्रुत्वा सर्वे सत्प्रतिपेदिरे॥१४५॥
ततोऽत्राजग्मुरमिताः शङ्करप्रहिता गणाः।
विनायकमहाकालवीरभद्राद्यधिष्ठिताः॥१४६॥
ते च भोजनसज्जां तां वेदिं कृत्वा यथाक्रमम्।
तानुपावेशयन्देवद्युचरासुरमानुषान्॥१४७॥
उपाहरन्त तेभ्यश्च विद्याक्लृप्तान्सुमेरुणा।
आहाराञ्शङ्करादिष्टकामधेनूद्भवांस्तथा॥१४८॥
एकैकस्य यथार्हं च तस्थुरिच्छाविधायिनः।
वीरभद्रमहाकालभृङ्गिप्रभृतयः सुराः॥१४९॥
पदे पदे च सन्तोषमिलद्द्युचरचारणम्।
तदा सङ्गीतकमभूद्दिव्यस्त्रीनृत्यसुन्दरम्॥१५०॥
आहारान्ते य सर्वेषां तेषां नन्दीश्वरादयः।
ददुर्दिव्यानि माल्यानि वस्त्राण्याभरणानि च॥१५१॥
एवं सम्मान्य देवादीन्नन्दिप्रभृतयोऽखिलाः।
गणेश्वरा गणैः सर्वैः सह जग्मुर्यथागतम्॥१५२॥
ततो देवासुराः सर्वे ताश्च तन्मातरो ययुः।
श्रुतशर्मादयस्ते चाप्यामन्त्र्य स्वं स्वमास्पदम्॥१५३॥
सूर्यप्रभः सभार्यश्च सवयस्यवधूयुतः।
विमानेन ययावाद्यं तत्सुमेरुतपोवनम्॥१५४॥
प्रेषयामास हर्षं च स्ववयस्यं महीभृताम्।
रत्नप्रभस्य च भ्रातुराख्यातुमुदयं निजम्॥१५५॥
दिनान्ते च स सद्रत्नपर्यङ्कं साधुनिर्मितम्।
कामचूडामणेर्वध्वा वासवेश्म विवेश तत्॥१५६॥
तत्रैतां च घनाश्लेषदशनच्छदखण्डनैः।
त्याजयित्वा शनैर्लज्जां नवोढासुलभां क्रमात्॥१५७॥
अनिर्वाच्यं नवं मुग्धविदग्धमधुरं रतम्।
अनास्वादितमन्याभ्यः सिषेवे स तया सह॥१५८॥

वह प्रणाम करते हुए उन सब से कहने लगा—'शिवजी ने आप लोगों को आदेश दिया है कि आप लोगों को सुमेरु के घर पर भोजन करना ही चाहिए; क्योंकि वह हमारा आत्मीय व्यक्ति है ॥१४४॥

उसका अन्न खाने पर आप लोगों को शाश्वत तृप्ति होगी।' नन्दी के मुख से यह सुनकर सबने भोजन करना स्वीकार किया ॥१४५॥

तदनन्तर विनायक, महाकाल और वीरभद्र की प्रमुखता में अनन्त गण वहाँ आ गये ॥१४६॥

उन गणों ने भोजन तैयार करके देव, दैत्य, विद्याधर और मनुष्य सब अतिथियों को सम्मान-सहित क्रम से बैठाया ॥१४७॥

और सुमेरु द्वारा विद्या-बल से तैयार किये गये तथा शिवजी के आदेश से कामधेनु द्वारा उत्पन्न किये गये विविध प्रकार के भोजन उनके सामने परोसे गये ॥१४८॥

और, एक-एक अतिथि के लिए उनकी प्रतिष्ठा के अनुसार सेवा के निमित्त वीरभद्र, महाकाल, भृङ्गी प्रभृति देवता संलग्न हो गये ॥१४९॥

बीच-बीच में प्रेम और सन्तोष से मिलते हुए आकाशचारियों के चारणों के गान और दिव्यस्त्रियों के नाच उनका मनोरंजन करते रहे ॥१५०॥

भोजन के अनन्तर नन्दीश्वर आदि गणों ने उन्हें दिव्य मालाएँ, वस्त्र और आभूषण आदि प्रदान किये ॥१५१॥

तब नन्दी आदि गणों ने सभी देवताओं का सम्मान किया। वे सभी अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर जहाँ से आये थे, वहीं लौट गये ॥१५२॥

और सभी, असुर तथा विद्याधर भी सूर्यप्रभ से आज्ञा लेकर अपने-अपने स्थानों को गये ॥१५३॥

सूर्यप्रभ भी अपने मित्रों तथा नववधू के साथ सुमेरु के प्राचीन आश्रम में लौट आया ॥१५४॥

तदनन्तर, उसने अपने मित्र हर्ष को राजाओं तथा अपने भाई रत्नप्रभ के पास अपनी स्थिति का समाचार देने के लिए भेजा ॥१५५॥

और, सायंकाल के अनन्तर वह सूर्यप्रभ, सुन्दर रत्नों के पलंग से सजे हुए और सुन्दर बने हुए कामचूडामणि के वास-भवन में प्रविष्ट हुआ ॥१५६॥

वहाँ पर गाढ़ आलिंगन, दन्तक्षत और खंडन आदि से उसकी नई-नई लज्जा को क्रमशः दूर हटाकर उस नवोढ़ा काम-चूड़ामणि के साथ अनिर्वचनीय नवीन तथा दूसरी पत्नियों से अनास्वादित आनन्द-उपभोग में उसने रात्रि व्यतीत की ॥१५७-१५८॥

इदानीं बहिरन्यासां निवेशो हृदयेऽस्तु मे।
अन्तः पुनस्तवैकस्या इति तां चान्वरञ्जयत् ॥१५९॥
ततो रतान्तसुप्तस्य प्रियाश्लेषसुखावहा।
शनैः समाप्तिमगमन्निशा निद्रा च तस्य सा ॥१६०॥
प्रभाते च स उत्थाय गत्वा सूर्यप्रभस्ततः।
आद्यास्ता रञ्जयामास निजभार्याः सह स्थिताः ॥१६१॥
तास्तं नववधूरक्तं यावत्परिहसन्ति च।
सनर्मवक्रमधुरस्निग्धमुग्धैर्वचःक्रमैः ॥१६२॥
द्वाःस्थेनावेदितस्तावदागत्य प्रणिपत्य च।
विद्याधरः सुषेणाख्यः कृतिनं तं व्यजिज्ञपत् ॥१६३॥
देव त्रिकूटनाथाद्यैः सर्वैर्विद्याधरेश्वरैः।
प्रेषितोऽहमिहैवं च देवं विज्ञापयन्ति ते ॥१६४॥
ऋषभाद्रौ तृतीयेऽह्नि ह्यभिषेकः शुभस्तव।
संवाद्यतां तत्सर्वेषामुद्यमोऽत्र विधीयताम् ॥१६५॥
तच्छ्रुत्वा प्रत्यवोचत्तं दूतं सूर्यप्रभस्तदा।
गच्छ त्रिकूटाधिपतिप्रभृतीन्ब्रूहि मद्गिरा ॥१६६॥
भवन्त एव कुर्वन्तु समारम्भं वदन्तु च।
आत्मनैव परं सज्जा वयमेते स्थिताः पुनः ॥१६७॥
संवादनं तु सर्वेषां करिष्यामो यथायथम्।
इत्यात्तप्रतिसन्देशः सुषेणः स ततो ययौ ॥१६८॥
सूर्यप्रभोऽपि चैकैकं प्रभासप्रभृतीन्सखीन्।
देवानां याज्ञवल्क्यादिमुनीनां भूभृतां तथा ॥१६९॥
विद्याधरासुराणां च विससर्ज पृथक्पृथक्।
निमन्त्रणाय सर्वेषां स्वाभिषेकमहोत्सवे ॥१७०॥
स्वयं जगाम चैकाकी कैलासं पर्वतोत्तमम्।
हरस्य चाम्बिकायाश्च निमन्त्रणकृतोद्यमः ॥१७१॥
आरोहंश्च तमद्राक्षीच्छुभ्रभूतिसितं गिरिम्।
सेव्यं देवर्षिसिद्धानां द्वितीयमिव शङ्करम् ॥१७२॥
अर्धादधिकमारुह्य दुरारोहं ततः परम्।
स तं पश्यन्ददर्शात्र वैद्रुमं द्वारमेकतः ॥१७३॥

सूर्यप्रभ ने कामचूडामणि से कहा–'अब अन्य स्त्रियों का स्थान हृदय के बाहर रहेगा, किन्तु हृदय के भीतर तो केवल तुम्हारा ही स्थान है।' इस प्रकार की बातें करते हुए सूर्यप्रभ ने उसे प्रसन्न किया ॥१५९॥

तदनन्तर प्रिया के आलिंगन से सुख देनेवाली उसकी नींद और रात्रि दोनों साथ ही समाप्त हुई ॥१६०॥

प्रातःकाल उठकर सूर्यप्रभ ने जाकर एक साथ बैठी हुई पहले की स्त्रियों से मिलकर वार्त्तालाप आदि से उन्हें प्रसन्न किया ॥१६१॥

वे रानियाँ, व्यंग्योक्तियों, चुटकियों तथा हास्यपूर्ण वचनों से नववधू के प्रति अनुरक्त सूर्यप्रभ को जब विविध प्रकार से बना रही थीं, इतने में ही द्वारपाल द्वारा आकर और प्रणाम करके सूर्यप्रभ सूचित किया गया और सुषेण नाम के विद्याधर ने सफल हुए सूर्यप्रभ से कहा– 'महाराज, त्रिकूटनाथ आदि सभी विद्याधर-राजाओं ने मुझे आपके समीप भेजा है। वे लोग आपसे निवेदन करते हैं—॥१६२—१६४॥

'कि आज से तीसरे दिन ऋषभ पर्वत पर आपका अभिषेक शुभ है। इसकी सबको सूचना दीजिए और उसके लिए तैयारी कीजिए' ॥१६५ ॥

यह सुनकर सूर्यप्रभ ने दूत से कहा–'जाओ, त्रिकूटेश्वरों को मेरी ओर से कहो कि इस उत्सव का आयोजन आप लोग ही करें। और, लोगों को भी आप ही सूचित करें! हम स्वयं तैयार होकर बैठे हैं ॥१६६–१६७॥

यथावकाश हम भी सबको सूचित करेंगे ही। इस प्रकार, प्रतिसन्देश लेकर दूत सुषेण चला गया ॥१६८॥

सूर्यप्रभ ने भी प्रभास आदि एक-एक मित्र को, देवताओं को, याज्ञवल्क्य मुनि को, राजाओं को, विद्याधरों को और असुरों को पृथक्-पृथक् सूचना देकर अपने अभिषेक-महोत्सव में निमन्त्रित कराया ॥१६९–१७०॥

और, स्वयं अकेला शिव और पार्वती को निमन्त्रण देने के लिए कैलाश पर्वत पर गया ॥१७१॥

सूर्यप्रभ ने देव, ऋषि, सिद्ध आदि से सेवित उस कैलाश पर्वत पर जाते हुए दूसरे शंकर के समान स्वच्छ और शुभ्र कैलाशपति को देखा ॥१७२॥

आधे से अधिक चढ़ने पर उसने पर्वत के शिखर पर जाना कठिन समझा और सामने ही एक ओर विद्रुम मणि से बने हुए द्वार को देखा ॥१७३॥

यदा प्रवेशं नैवात्र सिद्धिमानप्यवाप सः।
तदैकाग्रेण मनसा स्तौति स्म शशिशेखरम् ॥१७४॥
ततस्तद्द्वारमुद्घाट्य पुमान्गजमुखोऽब्रवीत्।
एहि प्रविश तुष्टस्ते हेरम्बो भगवानिति ॥१७५॥
ततः सूर्यप्रभस्तत्र प्रविश्यान्तः सविस्मयः।
उपविष्टे महाभोगे ज्योतीरसशिलातले ॥१७६॥
द्वादशादित्यसंकाशमेकदंष्ट्रं गजाननम्।
लम्बोदरं त्रिनेत्रं च ज्वलत्परशुमुद्गरम् ॥१७७॥
विनायकं परिवृतं नानाप्राणिमुखैर्गणैः।
ददर्शाथ ववन्दे च पादयोः प्रणिपत्य तम् ॥१७८॥
सोपि तं विघ्नजित्प्रीतः पृष्ट्वागमनकारणम्।
आरोहानेन मार्गेणेत्यवोचत्स्निग्धया गिरा ॥१७९॥
तन सूर्यप्रभः सोऽन्यामारूढः पञ्चयोजनीम्।
पद्मरागमयं द्वारमपश्यदपरं महत् ॥१८०॥
अनवाप्तप्रवेशश्च तत्रापि स पिनाकिनम्।
देवं नामसहस्रेण तुष्टवानन्यमानसः ॥१८१॥
ततः कुमारपुत्रेण स्वयं द्वारं विवृत्य तत्।
उक्तात्मना विशाखाख्येनान्तः प्रावेश्यतात्र सः ॥१८२॥
प्रविष्टश्च ददर्शात्र स्कन्दं ज्वालानलद्युतिम्।
युक्तं शाखविशाखाद्यैः सदृशैः पञ्चभिः सुतैः ॥१८३॥
स जातमात्रकग्रहैर्दुष्टग्रहशिशुग्रहैः।
वृतं तं कोटिसंख्याकैर्गणेशैश्चरणानतैः ॥१८४॥
तेनापि परितुष्टेन पृष्ट्वा कारणमागमे।
तस्यारोहणमार्गोऽत्र व्यादिष्टः शरजन्मना ॥१८५॥
एवं क्रमेण चान्यानि रत्नद्वाराणि पञ्च सः।
सभैरवमहाकालवीरभद्रेण नन्दिना ॥१८६॥
भृङ्गिणा चानुगैः साकं निरुद्धानि यथाक्रमम्।
अतीत्य प्राप पृष्ठेऽद्रेः स्फाटिकं द्वारमुत्तमम् ॥१८७॥
ततः स्तुवन्देवदेवं रुद्रैष्वेकन सादरम्।
प्रवेशितस्तदद्राक्षीच्छम्भोः स्वर्गाधिकं पदम् ॥१८८॥

जब सिद्धि-सम्पन्न सूर्यप्रभ भी द्वार में प्रवेश नहीं प्राप्त कर सका, तो वह एकाग्र चित्त से शिवजी की स्तुति करने लगा ॥१७४॥

तब द्वार को खोलकर हाथी के मुखवाले एक पुरुष ने उससे कहा—'आओ, प्रवेश करो। तुम पर भगवान् हेरम्ब प्रसन्न हैं' ॥१७५॥

उस द्वार में प्रवेश करते हुए आश्चर्य-चकित सूर्यप्रभ ने अति विस्तृत ज्योतिर्मय शिला पर बैठे हुए, बारह सूर्यों के समान चमकते हुए, एक दाँतवाले, लम्बे पेटवाले और तीन नेत्रोंवाले गणेशजी को देखा, जिनके हाथ में परशु, कुल्हाड़ा और गदा चमक रहे थे ॥१७६-१७७॥

वे विनायक, भिन्न-भिन्न मुखोंवाले गणेश से घिरे हुए थे। सूर्यप्रभ ने उन्हें देखा और उनके चरणों में नम्र होकर प्रणाम किया ॥१७८॥

विनायक ने भी सूर्यप्रभ से आने का कारण पूछा और स्नेहपूर्ण वाणी से कहा कि 'इस मार्ग से चढ़ो। सूर्यप्रभ उनके बताये हुए मार्ग से पाँच योजन (बीस कोस) और ऊपर चढ़ गया तथा उसने पद्मराग मणि के दूसरे बड़े द्वार को देखा। वहाँ भी उसने प्रवेश न पा सकने के कारण एकाग्रचित्त होकर और अनन्य भाव से पिनाकपाणि महादेव की शिवसहस्रनाम से स्तुति की ॥१७९-१८१॥

स्वामी कार्त्तिक के विशाख नामक पुत्र ने स्वयं द्वार खोला और अपना परिचय देकर उसे भीतर प्रवेश कराया। भीतर आकर उसने अग्नि की ज्वाला के समान दमकते हुए विशाख, शाख आदि पाँच पुत्रों से युक्त, उत्पन्न होते ही नम्र दुष्ट ग्रहों तथा बालग्रहों से चरणों पर प्रणाम करते हुए करोड़ों गणेशों से सेवित कुमार स्वामी को देखा ॥१८२-१८४॥

उन्होंने सूर्यप्रभ से आने का कारण पूछकर उसे ऊपर चढ़ने का मार्ग बता दिया ॥१८५॥

इसी प्रकार महाकाल, वीरभद्र, नन्दी और भृंगी गणों से रक्षित अन्य पाँच रत्नों के द्वार को पार करते हुए स्फटिक मणि के विशाल द्वार को उसने देखा ॥१८६-१८७॥

वहाँ पर देवदेव महादेव की स्तुति करते हुए उसे एकादश रुद्रों में से एक रुद्र ने द्वार खोलकर आदर के साथ भीतर प्रवेश कराया और उसने स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर शिवधाम का दर्शन किया ॥१८८॥

दिव्यगन्धवहद्वातं सदापुष्पफलद्रुमम् ।
गन्धर्वारब्धसङ्गीतमप्सरोनृत्तसोत्सवम् ॥१८९॥
तत्रैकदेशे स्फटिकमयसिंहासने स्थितम् ।
त्रिलोचनं शूलपाणिं स्वच्छस्फटिकसन्निभम् ॥१९०॥
बद्धपिङ्गजटाजूटं चारुचन्द्रार्धशेखरम् ।
पार्श्वस्थया गिरिजया भगवत्योपसेवितम् ॥१९१॥
सूर्यप्रभः स सानन्दः पश्यति स्म महेश्वरम् ।
उपेत्य चापतत्तस्य सदेवीकस्य पादयोः ॥१९२॥
ततः पृष्ठे करं दत्त्वा तमुत्थाप्योपवेश्य च ।
किमर्थमागतोऽसीति पप्रच्छ भगवान्हरः ॥१९३॥
प्रत्यासन्नोऽभिषेको मे सन्निधानं तदर्थये ।
प्रभोस्तत्रेति तं सूर्यप्रभः प्रत्यब्रवीच्च सः ॥१९४॥
ततः शम्भुरुवाचैनमियान्क्लिष्टोऽसि तर्हि किम् ।
सन्निधानाय किं पुत्र तत एवास्मि न स्मृतः ॥१९५॥
तदस्तु सन्निधास्येऽहमित्युक्त्वा भक्तवत्सलः ।
सोऽन्तिकस्थितमाहूय गणमेकं समादिशत् ॥१९६॥
गच्छैतमभिषेकार्थमृषभं पर्वतं नय ।
महाभिषेकस्थानं हि तदेषां चक्रवर्त्तिनाम् ॥१९७॥
इत्यादिष्टो भगवता स तं सूर्यप्रभं गणः ।
प्रदक्षिणीकृतेशानमुत्सङ्गे प्रणतोऽग्रहीत् ॥१९८॥
नीत्वा संस्थापयामास तस्मिन्नृषभपर्वते ।
स्वसिद्ध्या तत्क्षणेनैव ययौ चादर्शनं ततः ॥१९९॥
सूर्यप्रभस्य चात्रस्थस्याययुः स्ववयस्यकाः ।
कामचूडामणिमुखा भार्या विद्याधराधिपाः ॥२००॥
सेन्द्राश्च देवा असुराः समयाद्या महर्षयः ।
श्रुतशर्मा सुमेरुश्च स सुवासकुमारकः ॥२०१॥
सूर्यप्रभश्च सर्वांस्तान्यथोचितममानयत् ।
उक्तरुद्रादिवृत्तान्तमभ्यनन्दंश्च तेऽपि तम् ॥२०२॥
अथ विविधौषधिसहितं नदीनदाम्भोधितीर्थसम्भूतम् ।
मणिकनकमयैः कुम्भैः स्वयमानिन्युर्जलं प्रभासाद्याः ॥२०३॥

जिस धाम में दिव्य पुरुषों के झुंड वृक्षों पर झूल रहे थे और वृक्ष पुष्पों से लदे हुए थे। जहाँ गन्धर्व गान कर रहे थे और अप्सराएँ नृत्य कर रहीं थीं ॥१८९॥

वहीं एक ओर सूर्यप्रभ ने, स्फटिक के सिंहासन पर बैठे हुए, तीन नेत्रोंवाले, हाथ में शूल लिये हुए, चमकते हुए स्फटिक के समान स्वच्छ, पीली जटाओं को बाँधे हुए, सुन्दर अर्धचन्द्र से शोभित मस्तक वाले और पार्श्व में बैठी हुई भगवती गौरी से शोभित महादेव को देखा उनके समीप जाकर गौरी और शंकर के चरणों में वह नतमस्तक हुआ ॥१९०-१९२॥

तब पीठ को हाथ से थपथपाकर और उठाकर बैठाये गये सूर्यप्रभ से शिवजी ने पूछा—'किसलिए आये हो ?' ॥१९३॥

सूर्यप्रभ ने कहा—'प्रभो, मेरा अभिषेक शीघ्र ही होनेवाला है। अतः,आपके वहाँ पधारने की प्रार्थना है ॥१९४॥

तब शिवजी ने उससे कहा—बेटे, तो तुमने इतना कष्ट क्यों उठाया ? मुझे आने के लिए वहीं स्मरण क्यों नहीं कर लिया ?॥१९५॥

तो ठीक है, मैं आऊँगा, ऐसा कहकर भक्तवत्सल भगवान् ने पास बैठे हुए एक गण को बुलाकर कहा—'जाओ, इसे (सूर्यप्रभ को) अभिषेक के लिए ऋषभ पर्वत पर ले जाओ।' वह ऋषभ पर्वत विद्याधर-चक्रवर्त्तियों का अभिषेक-स्थान है।' भगवान् से आज्ञापित गण ने प्रदक्षिणा और प्रणाम किये हुए सूर्यप्रभ को नम्रता-पूर्वक गोद में उठा लिया और उसे ले जाकर ऋषभ पर्वत पर बैठा दिया। अपनी सिद्धि के प्रभाव से वह उसी क्षण वहाँ से अदृश्य हो गया ॥१९६—१९९॥

सूर्यप्रभ जब ऋषभ पर्वत पर ही था, तब उसके सभी मित्र मन्त्री, कामचूडामणि आदि सभी पत्नियाँ, सभी विद्याधरों के राजा, इन्द्र-सहित सभी देवता, मय आदि सभी असुर, याज्ञवल्क्य आदि सभी ऋषिगण तथा सुमेरु और सुवासकुमार आदि वहाँ एकत्र हुए। सूर्यप्रभ ने भी सभी का स्वागत करके उनका यथोचित सम्मान किया और शिवजी के निमन्त्रण का वृत्तान्त सुनकर सभी को प्रसन्न किया। उन सब ने भी उसे इस बात पर बधाई दी ॥२००-२०२॥

तब सूर्यप्रभ के प्रभास आदि मन्त्री मित्र, मणियों और सोने के विविध कलशों में नाना प्रकार की ओषधियों से युक्त, समस्त नदियों, नदों, समुद्रों और तीर्थों का जल वे स्वयं जाकर लाये ॥२०३॥

तावद् गौरीसहितो भगवानत्राययौ पुरारातिः।
देवासुरविद्याधरनृपतिमहर्षिप्रणम्यमानाङ्घ्रिः ॥२०४॥
सर्वेषु तेषु सुरदानवखेचरेषु ।
पुण्याहघोषमुखरेष्वखिलैर्जलैस्तैः ॥
सूर्यप्रभं तमृषयो द्युचराधिराज्ये ।
सिंहासने समुपवेशितमभ्यषिञ्चन् ॥२०५॥
बबन्ध पट्टं मुकुटं च तस्य स प्रहृष्य विज्ञानमयो मयासुरः।
ननाद तूर्यैः सह देवदुन्दुभिर्वराप्सरोनृत्तपुरःसरो दिवि ॥२०६॥
तां च महर्षिसमूहः स कामचूडामणिं समभिषिच्य।
सूर्यप्रभस्य विदधे तस्य समुचितां महादेवीम् ॥२०७॥
ततो गतेषु त्रिदशासुरेषु सूर्यप्रभो बन्धुसुहृद्वयस्यैः।
सहात्र विद्याधरचक्रवर्त्ती महाभिषेकोत्सवमाततान ॥२०८॥
दिनैश्च वेद्यर्धकमुत्तरं तद्दत्वा हरोक्तं श्रुतशर्मणे सः।
अन्याः प्रियाः प्राप्य समं वयस्यैर्भेजे चिरं खेचरराजलक्ष्मीम् ॥२०९॥
एवं हरप्रसादप्रभावतः प्रापि मानुषेणापि।
सूर्यप्रभेण पूर्वं विद्याधरचक्रवर्त्तित्वम् ॥२१०॥
इति विद्याधरधुर्यो व्याख्याय कथां स वत्सराजाग्रे।
वज्रप्रभः प्रणम्य च नरवाहनदत्तमुद्ययौ गगनम् ॥२११॥
तस्मिन्गते च नरवाहनदत्तदेवो देव्या स्वया मदनमञ्चुकया समेतः।
वत्सेश्वरस्य पितुरास्त गृहे स वीरो विद्याधरेन्द्रपदलाभमुदीक्षमाणः ॥२१२॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे सूर्यप्रभलम्बके सप्तमस्तरङ्गः।

समाप्तश्चायं सूर्यप्रभलम्बकोऽष्टमः।

उसी अवसर पर भगवती गौरी के साथ शंकर भी वहाँ उपस्थित हुए और सभी देव, असुर, दानव तथा विद्याधर आदि राजाओं ने उनके चरणों में सादर प्रणाम किया ॥२०४॥

तदनन्तर, सभी देव, दानव और विद्याधरों के पुण्याहवाचन का पाठ करने पर समस्त ऋषिगण तथा प्रभास आदि ने लाये गये जलों से विधिपूर्वक सिंहासन पर बैठे हुए सूर्यप्रभ का विद्याधर-चक्रवर्ती पद पर अभिषेक किया, मुकुट और पट्ट-बन्धन किया। उस समय आकाश में वाद्यों के साथ देवताओं की दुन्दुभियाँ बज उठीं और सुन्दरी अप्सराएँ नाचने लगीं ॥२०५-२०६॥

तब महर्षियों के समूह ने कामचूडामणि का भी अभिषेक किया और उसे सूर्यप्रभ की महिषी (वैधानिक महारानी) बनाया ॥२०७॥

अभिषेक-महोत्सव के सम्पन्न होने के पश्चात् देवताओं और असुरों के अपने-अपने स्थानों को लौट जाने पर सूर्यप्रभ ने अपने बन्धुओं और मित्रों के साथ और कुछ दिनों तक अभिषेकोत्सव को बढ़ाया ॥२०८॥

तदुपरान्त, कुछ दिनों के पश्चात् उत्तर की वेदी का आधा राज्य, शिवजी के आज्ञानुसार श्रुतशर्मा को देकर तथा अन्य पत्नियों को प्राप्त कर सूर्यप्रभ ने अपने मित्रों के साथ चिरकाल तक विद्याधर-राज्य की लक्ष्मी का उपभोग किया ॥२०९॥

इस प्रकार शिवजी की कृपा से, मनुष्य होते हुए भी, सूर्यप्रभ ने, विद्याधरों की राज्य लक्ष्मी प्राप्त की ॥२१०॥

इस क्रम से विद्याधर-श्रेष्ठ वज्रप्रभ वत्सराज के सम्मुख सूर्यप्रभ की कथा सुनकर और नरवाहनदत्त को प्रणाम करके आकाश में उड़ गया ॥२११॥

उसके चले जाने पर युवराज नरवाहनदत्त, अपनी पटरानी मदनमंचुका के साथ विद्याधर-चक्रवर्त्ती बनने की उत्सुकता लिये हुए पिता वत्सराज के गृह में निवास करने लगा ॥२१२॥

सूर्यप्रभ लम्बक का सप्तम तरंग समाप्त।
सूर्यप्रभ नामक अष्टम लम्बक भी समाप्त
इति महाकविश्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के

अलङ्कारवती नाम नवमो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते।

प्रथमस्तरङ्गः

मङ्गलाचरणम्

निशुम्भभरनम्रोर्वीखर्विताः पर्वता अपि।
यं नमन्तीव नृत्यन्तं नमामस्तं विनायकम् ॥१॥

नरवाहनदत्तकथा (पूर्वानुवृत्ता)

एवं वत्सेश्वरसुतः कौशाम्ब्यां भवने पितुः।
वसन्विद्याधराधीशैरादावेव कृतानतिः ॥२॥
नरवाहनदत्तः स कदाचिन्मृगयागतः।
विवेश गोमुखसखो मुक्तसैन्यो महद्वनम् ॥३॥
स तत्र दक्षिणेनाक्ष्णा स्फुरतोक्तशुभागमः।
दिव्यवीणारवोन्मिश्रमशृणोद् गीतनिःस्वनम् ॥४॥
गत्वा तदनुसारेण नातिदूरं ददर्श सः।
स्वयम्भ्वायतनं शैवं संयताश्वो विवेश च ॥५॥
तत्रोपवीणयन्तीं च देवेशं देवकन्यकाम्।
अपश्यद् वरकन्याभिर्बह्वीभिः परिवारिताम् ॥६॥
सा दृष्टा तस्य हृदयं प्रसरत्कान्तिनिर्भरा।
इन्दुमूर्त्तिरिवाम्भोधेः क्षोभयामास तत्क्षणम् ॥७॥

अलंकारवती नामक नवम लम्बक

[प्रस्तुत प्रारम्भिक श्लोक का अर्थ सप्तम लम्बक के प्रथम तरंग के प्रारम्भ में देखें।]

प्रथम तरंग

मंगलाचरण

निशुम्भ दैत्य के भार से झुकी हुई पृथ्वी के ऊपर टेढ़े डवाँडोल होते हुए पर्वत, मानों जिसके नृत्य करने पर प्रणाम करते हुए-से प्रतीत होते हैं, ऐसे गजानन को हम नमस्कार करते हैं ॥१॥

नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत)

वत्सराज उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त, विद्याधर-राजाओं के चरित्रों को सुनता हुआ और उनसे (चक्रवर्त्ती होने के पूर्व ही) प्रणाम किया जाता हुआ, पिता के घर में, विलास के दिन, व्यतीत कर रहा था ॥२॥

एक बार राजकुमार, अपनी बड़ी सेना लेकर, मन्त्री गोमुख के साथ, शिकार खेलने के लिए वन में गया। कुछ समय के पश्चात् वह सेना को पीछे छोड़कर गोमुख के साथ अकेले ही घने जंगल में चला गया ॥३॥

वहाँ उसे दाहिनी आँख के फड़कने से किसी शुभ भविष्य की सूचना मिली। कुछ ही समय में उसने दिव्य वीणा-स्वर-मिश्रित संगीत सुना ॥४॥

और, वह उसी स्वर का अनुसरण करता हुआ उसी ओर को चला गया। कुछ दूर जाकर उसने उस जंगल में एक स्वयंभू[1] शिव का मन्दिर देखा, उसे देखकर घोड़े से उतरकर और उसे एक वृक्ष से बाँधकर वह मन्दिर में प्रविष्ट हुआ ॥५॥

मन्दिर के अन्दर उसने अनेक सुन्दरी कन्याओं से घिरी हुई और वीणा बजाकर शिव की स्तुति करती हुई एक दिव्य कन्या को देखा। लावण्य की वर्षा करती हुई उस कन्या ने, देखते ही नरवाहनदत्त को इस प्रकार क्षुब्ध कर डाला, जैसे चन्द्रमा समुद्र को उद्वेलित कर देता है ॥६–७॥

---

१. अज्ञातकालीन, अतिप्राचीन।

सापि तं सरसस्निग्धमुग्धेनालोक्य चक्षुषा।
तदेकगतचित्ताभूद्विस्मृतस्वरसारणा ॥८॥
नरवाहनदत्तस्य चित्तज्ञो गोमुखस्ततः।
केयं कस्य सुता चेति यावत्पृच्छति तत्सखीः ॥९॥
तावच्च सदृशी तस्याः पूर्वं हेमारुणप्रभा।
पश्चादवततारैका प्रौढा विद्याधरी दिवः ॥१०॥
सा चावतीर्य कन्यायास्तस्याः पार्श्वं उपाविशत्।
कन्याप्युत्थाय सा तस्याः पादयोरपतत्तदा ॥११॥
सर्वविद्याधराधीशं निर्विघ्नं पतिमाप्नुहि।
इति प्रौढापि सा तस्याः कन्याया आशिषं ददौ ॥१२॥
नरवाहनदत्तोऽथ तामुपेत्य प्रणम्य च।
दत्ताशिषं पर्यपृच्छत्सौम्यां विद्याधरीं शनैः ॥१३॥
केयं कन्या भवत्यम्ब तव का कथ्यतामिति।
ततो विद्याधरी सा तमुवाच शृणु वच्म्यदः ॥१४॥

अलङ्कारवती कथा

अस्ति गौरीगुरोः शैले श्रीसुन्दरपुरं पुरम्।
आस्तेऽलङ्कारशीलाख्यस्तत्र विद्याधरेश्वरः ॥१५॥
तस्योदारगुणस्यास्ति महिषी काञ्चनप्रभा।
तस्यां तस्य च कालेन राज्ञः सूनुरजायत ॥१६॥
एष धर्मपरो भावीत्यादिष्टमुमया यदा।
स्वप्ने तदा धर्मशीलं नाम्ना तमकरोत्पिता ॥१७॥
क्रमेण यौवनप्राप्तं धर्मशीलं स तं सुतम्।
राजा संयोज्य विद्याभिर्यौवराज्येऽभिषिक्तवान् ॥१८॥
ततः स यौवराज्यस्थो धर्मैकपरमो वशी।
अरञ्जयद्धर्मशीलः पितुरभ्यधिकं प्रजाः ॥१९॥
ततोऽलङ्कारशीलस्य राज्ञः सा काञ्चनप्रभा।
अन्तर्वत्नी सती राज्ञी तस्य सूते स्म कन्यकाम् ॥२०॥
नरवाहनदत्तस्य भार्यैषा चक्रवर्तिनः।
कन्या भवित्रीति तदा दिव्या वागुदघोषयत् ॥२१॥

सरस और स्नेहपूर्ण आँखों से राजकुमार को देखती हुई वह दिव्यकुमारी भी, स्वर-संचालन को भूलकर उसके प्रेम में मग्न हो गई ॥८॥

नरवाहनदत्त के हृदय को जाननेवाले उसके साथी गोमुख ने, उस कन्या की सखियों से 'यह कौन है और किसकी कन्या है', आदि प्रश्न पूछने का जैसे ही विचार किया, इतने में ही तपे हुए स्वर्ण के समान रक्तवर्णवाली एक प्रौढा विद्याधरी आकाश से नीचे उतरी ॥९–१०॥

उतरकर वह उसी दिव्य कन्या के पास जाकर बैठी। तब उस कन्या ने उठकर उसके चरणों में झुककर प्रणाम किया ॥११॥

तब उस प्रौढा विद्याधरी ने आशीर्वाद दिया कि 'तू समस्त विद्याधरों के चक्रवर्ती को निर्विघ्न रूप से पति के रूप में प्राप्त कर' ॥१२॥

तब नरवाहनदत्त भी, उसके पास जाकर और प्रणाम करके आशीर्वाद देती हुई उस सौम्य विद्याधरी से पूछने लगा—॥१३॥

'माता, यह कन्या, कौन है और तुम्हारी कौन होती है, बताओ।' तब वह विद्याधरी उससे कहने लगी–'सुनो, मैं कहती हूँ'॥१४॥

अलंकारवती की कथा

हिमालय पर्वत के ऊपर सुन्दरपुर नाम का एक नगर है। उस नगर में अलंकारशील नाम का विद्याधरों का राजा है॥१५॥

उदारगुणोंवाले उस राजा की कांचनप्रभा नाम की रानी है। समयानुसार उस रानी से राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१६॥

उसके उत्पन्न होने पर पार्वती ने, स्वप्न में उसे यह आदेश दिया कि यह पुत्र अत्यन्त धर्मशील होगा। तभी राजा ने तदनुसार उसका नाम धर्मशील रख दिया ॥१७॥

क्रमशः युवावस्था में पहुँचे हुए उस पुत्र को पिता ने अपनी विद्याएँ पढ़ाकर युवराज-पद पर बैठा दिया ॥१८॥

युवराज-पद पर रहकर, एकमात्र धर्मपरायण और जितेन्द्रिय उस धर्मशील ने पिता से भी बढ़कर प्रजा को प्रसन्न किया ॥१९॥

तदनन्तर, राजा अलंकारशील की महारानी कांचनप्रभा ने गर्भवती होकर एक कन्या को जन्म दिया ॥२०॥

उस कन्या के उत्पन्न होने पर आकाशवाणी हुई कि 'यह कन्या विद्याधर-चक्रवर्ती नरवाहनदत्त की पत्नी होगी' ॥२१॥

ततोऽत्र तेनालङ्कारवतीति कृतनामिका।
पित्रा क्रमेणावर्धिष्ट बाला शशिकलेव सा॥२२॥
कालेन यौवनस्था च प्राप्तविद्या निजात्पितुः।
तत्तदायतनं शम्भोर्भक्त्या भ्रमितुमुद्यता॥२३॥
तावच्च धर्मशीलोऽस्य भ्राता शान्तो युवापि सन्।
रहोऽलङ्कारशीलं तं पितरं स्वं व्यजिज्ञपत्॥२४॥
न मां भोगा इमे तात प्रीणन्ति क्षणभङ्गुराः।
किं तदस्ति हि संसारे पर्यन्तविरसं न यत्॥२५॥
तथा चैतत्त्वया किं न श्रुतं व्यासमुनेर्वचः।
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः॥२६॥
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्।
तदेषु का रतिस्तात नश्वरेषु मनस्विनाम्॥२७॥
परत्र च सहायान्ति न भोगा नार्थसञ्चयाः।
एकस्तु बान्धवो धर्मो न जहाति पदात्पदम्॥२८॥
तस्माद्वनाय गत्वाहं साधयाम्युत्तमं तपः।
आसादयेयं तद्येन शाश्वतं परमं पदम्॥२९॥
इत्युक्तवन्तं तं पुत्रं धर्मशीलं समाकुलः।
राजालङ्कारशीलोऽथ वक्ति स्मोदश्रुलोचनः॥३०॥
बालस्यैव तवाकाण्डे कोऽयं पुत्र मतिभ्रमः।
उपयुक्ते हि तारुण्ये प्रशमः सद्भिरिष्यते॥३१॥
कृतदारस्य धर्मेण राज्यं पालयतस्तव।
भोगान्भोक्तुमयं कालो न वैराग्यस्य साम्प्रतम्॥३२॥
एतत्पितुर्वचः श्रुत्वा धर्मशीलोऽभ्यधात्पुनः।
न शमाशमयोरत्र नियमोऽस्ति वयःकृतः॥३३॥
ईश्वरानुगृहीतो हि कश्चिद्बालोऽपि शाम्यति।
वृद्धोऽपि न शमं याति कश्चित्कापुरुषः पुनः॥३४॥
न च राज्ये रतिर्मेऽस्ति न वा दारपरिग्रहे।
ममैतज्जीवितफलं यच्छिवाराधनं तपः॥३५॥
इति ब्रुवाणं यत्नेनाप्यनिवार्यमवेक्ष्य तम्।
पितालङ्कारशीलोऽसौ विमुच्याश्रूण्यभाषत॥३६॥

तदनन्तर पिता ने उसका नाम अलंकारवती रखा और वह क्रमशः चन्द्रकला के समान बढ़ने लगी ॥२२॥

वह कन्या क्रमशः यौवनावस्था को प्राप्त कर, और पिता से विद्याओं को सीखकर, शिवभक्ति के कारण, उन-उन शिव-मन्दिरों में भ्रमण करने लगी ॥२३॥

इसी अवसर पर इसके बड़े भाई धर्मशील ने युवा होने पर भी एक बार एकान्त में पिता से इस प्रकार निवेदन किया—॥२४॥

'हे पिता ! ये क्षण-भंगुर सांसारिक भोग, मुझे प्रसन्न नहीं करते। संसार में वह क्या है, जो अन्त में नीरस नहीं हो जाता ॥२५॥

और, क्या तुमने व्यास मुनि का यह वचन नहीं सुना है कि जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सभी का अन्त विनाश है। और, जितनी उन्नति है, उस सभी का अन्त पतन है ॥२६॥

सभी संयोगों का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है। इसलिए, हे पिता, निश्चित रूप से विनाशवान् इन पदार्थों मे मनस्वी विद्वानों को क्या प्रेम ? ॥२७॥

सांसारिक भोग और धन का संग्रह परलोक में सहायक नहीं हो सकते। अर्थात्, ये यहीं नष्ट हो जाते हैं ॥२८॥

इसलिए, मैं वन में जाकर सर्वोत्तम तप करता हूँ, जिसके द्वारा परम पद (मोक्ष) को प्राप्त कर सकूँ' ॥२९॥

राजा अलंकारशील, पुत्र धर्मशील को इस प्रकार कहते हुए सुनकर व्याकुल हो उठा और आँखों में आँसू भरकर बोला—॥३०॥

'पुत्र, इस समय (यौवनकाल) में ही तुम्हें यह क्या बुद्धि-भ्रम हो गया ! विद्वान् लोग युवावस्था का उपयोग हो जाने पर ही वैराग्य की कामना करते हैं ॥३१॥

यह समय विवाह करके धर्मपूर्वक राज्य के पालन करने का है। यह तुम्हारे लिए सांसारिक भोगों के भोगने का समय है, वैराग्य का नहीं' ॥३२॥

पिता के इस प्रकार वचन सुनकर धर्मशील फिर कहने लगा–'भोग और विराग का नियम अवस्था पर निर्भर नहीं है। ईश्वर की कृपा से अनुगृहीत कोई बालक भी विरक्त हो जाता है, किन्तु कोई कुत्सित पुरुष, वृद्ध होने पर भी विरक्त नहीं हो पाता ॥३३-३४॥

राज्य पर मेरा प्रेम नहीं है और न मैं विवाह ही करना चाहता हूँ। शिव की आराधना करके तप करना ही मेरे जीवन का मुख्य ध्येय है' ॥३५॥

ऐसा कहते हुए और विविध प्रयत्नों से भी न मानते हुए पुत्र को पिता ने आँसू बहाते हुए कहा—॥३६॥

यदि यूनोऽपि ते पुत्र वैराग्यमिदमीदृशम्।
नास्ति वृद्धस्य मे तत्किमहमप्याश्रये वनम्॥३७॥
इत्युक्त्वा मर्त्यलोकं च गत्वा भारायुतं ददौ।
ब्राह्मणेभ्यो दरिद्रेभ्यो रत्नानां काञ्चनस्य च॥३८॥
एत्य च स्वपुरं भार्यामवोचत्काञ्चनप्रभाम्।
त्वया मदाज्ञयेहैव स्यातव्यं नगरे निजे॥३९॥
रक्षालङ्कारवत्येषा कन्या पूर्णे च वत्सरे।
अस्ति वैवाहलग्नोऽस्यास्तिथावद्यतने शुभः॥४०॥
नरवाहनदत्ताय दास्याम्येतामहं तदा।
स चक्रवर्त्ती जामाता पास्यतीदं पुरं च नः॥४१॥
इत्युक्त्वा दत्तशपथां भार्यां राजा निवर्त्य सः।
ससुतां विलपन्तीं तां सपुत्रः शिश्रिये वनम्॥४२॥
सा तु स्वपुरमध्यास्त तद् भार्या काञ्चनप्रभा।
दुहित्रा सह साध्वी स्त्री भर्त्राज्ञां का हि लङ्घयेत्॥४३॥
तत्सुताथ तया मात्रा सह स्नेहानुयातया।
अलङ्कारवती भ्रान्ता बहून्यायतनानि च॥४४॥
एकदा तां च वक्ति स्म विद्या प्रज्ञप्तिसंज्ञिका।
कश्मीरेषु स्वयम्भूनि गत्वा क्षेत्राणि पूजय॥४५॥
नरवाहनदत्तं हि निर्विघ्नं तं पतिं ततः।
सर्वविद्याधरेन्द्रैकचक्रवर्त्तिनमाप्स्यसि॥४६॥
इत्युक्ता विद्यया गत्वा कश्मीरान्सा समातृका।
अलङ्कारवती शम्भुं पुण्यक्षेत्रेष्वपूजयत्॥४७॥
नन्दिक्षेत्रे महादेवगिरावमरपर्वते।
सुरेश्वर्याद्रिषु तथा विजये कपटेश्वरे॥४८॥
एवमादिषु सम्पूज्य क्षेत्रेषु गिरिजापतिम्।
विद्याधरेन्द्रकन्या सा तन्माता चागते गृहान्॥४९॥
तामेतां विद्ध्यलङ्कारवतीं सुभग कन्यकाम्।
तां च मातरमेतस्या विद्धि मां काञ्चनप्रभाम्॥५०॥
अद्य चैषा ममानुक्त्वैवागतेमं शिवालयम्।
ततः प्रज्ञप्तिविद्यातो विज्ञायाहमिहागता॥५१॥

'बेटा, यदि तुम्हारी इस अवस्था में ही तुम्हें वैराग्य हुआ है, तो क्या वह मुझ वृद्ध को नहीं होगा ? अतः 'मैं भी वन में जाऊँगा' ॥३७॥

ऐसा कहकर और मर्त्यलोक में आकर राजा ने ब्राह्मणों को रत्नों और स्वर्णों के दस हजार भार दान में दे दिये ॥३८॥

और, अपने नगर में आकर पत्नी कांचनप्रभा से कहा कि 'तुम्हें मेरी आज्ञा से इसी नगर में रहना होगा ॥३९॥

यहाँ रहकर इस कन्या अलंकारवती की रक्षा करनी होगी और समय आने पर, एक वर्ष पूरा होने पर,—क्योंकि 'आज का दिन ही उसके विवाह के लिए शुभ है। यही दिन इसके विवाह के शुभ लग्नवाला है—इसी दिन मैं स्वयं आकर इसे जामाता नरवाहनदत्त के लिए दूँगा। वह चक्रवर्ती जामाता हमारे इस नगर की रक्षा करेगा' ॥४०-४१॥

ऐसा कहते हुए राजा, रोती हुई पत्नी और पुत्री को शपथ देकर और उन्हें अपने घर लौटाकर स्वयं पुत्र के साथ वन को चला गया ॥४२॥

तब वह रानी कांचनप्रभा, अपनी कन्या के साथ अपने नगर में ही रहने लगी। सच है, कौन पतिव्रता स्त्री पति की आज्ञा का उल्लंघन कर सकती है ॥४३॥

तब राजा अलंकारशील की वह कन्या अलंकारवती, स्नेह के साथ तीर्थयात्रा करती हुई अपनी माता के संग, बहुत-से शैव तीर्थों का भ्रमण करने लगी ॥४४॥

एक बार उस अलंकारवती को प्रज्ञप्ति नामकी विद्या ने कहा कि कश्मीर में बहुत-से स्वयंभू तीर्थ हैं। उनमें जाकर तप, पूजन आदि करो। तब तुम विनाविघ्न के सब विद्याधरों के चक्रवर्ती नरवाहनदत्त को पति-रूप में प्राप्त कर सकोगी ॥४५-४६॥

विद्या के द्वारा ऐसा आदेश मिलने पर अलंकारवती ने, माता के साथ कश्मीर जाकर अनेक पुण्यतीर्थों में शिव की पूजा की ॥४७॥

नन्दिक्षेत्र में, महादेव पर्वत पर, अमर पर्वत पर, सुरेश्वरी पर्वत पर, विजय पर्वत तथा कपटेश्वर आदि क्षेत्रों में, पार्वती-पति शिव की पूजा करके वह कन्या और उसकी माता अपने घर लौट आईं ॥४८-४९॥

हे सुन्दर, इस कन्या को तुम वही अलंकारवती समझो और मुझे उसकी माता कांचनप्रभा ॥५०॥

आज यह अलंकारवती मुझसे विना कहे ही यहाँ चली आई। मैंने भी प्रज्ञप्ति विद्या के प्रभाव से इसका यहाँ आना जानकर, यहाँ आ गई हूँ ॥५१॥

तन्मुखादेव च ज्ञातस्त्वमपीहागतो मया।
तदेतां देवतादिष्टामुपयच्छस्व मे सुताम् ॥५२॥
प्रातश्च सोऽस्याः पित्रोक्तः प्राप्तो वैवाहवासरः।
तदद्य पुत्र कौशाम्बीं स्वामेव नगरीं व्रज ॥५३॥
आवामितश्च गच्छावः प्रातरेत्य तपोवनात्।
राजालङ्कारशीलस्ते दास्यत्येतां सुतां स्वयम् ॥५४॥
एवं तयोक्तेऽलङ्कारवत्यास्तस्याश्च तस्य च।
नरवाहनदत्तस्य काप्यवस्था द्वयोरभूत् ॥५५॥
अन्योन्यरजनीमात्रविश्लेषासहनात्मनोः।
चक्राह्वयोरिवासन्ने दिनान्ते साश्रुनेत्रयोः ॥५६॥
दृष्ट्वा तौ तादृशौ द्वावप्यवादीत्काञ्चनप्रभा।
किमेकरात्रिविश्लेषे ह्यधैर्यं युवयोरिदम् ॥५७॥
अनिश्चितावधिं धीराः सहन्ते विरहं चिरम्।
श्रूयतां रामभद्रस्य सीतादेव्यास्तथा कथा[1] ॥५८॥

रामसीताकथा

राज्ञो दशरथस्यासीदयोध्याधिपतेः सुतः।
रामो भरतशत्रुघ्नलक्ष्मणानां पुराग्रजः ॥५९॥
विष्णोरवततारांशो रावणोच्छेदनाय यः।
सीता तस्याभवद् भार्या प्राणेशा जनकात्मजा ॥६०॥
स पित्रा भरतन्यस्तराज्येन विधियोगतः।
प्रेषितोऽभूद्वनं साकं सीतया लक्ष्मणेन च ॥६१॥
तत्र तस्याहरत्सीतां मायया रावणः प्रियाम्।
निनाय च पुरीं लङ्कां पथि हत्वा जटायुषम् ॥६२॥
ततः स रामो विरही सुग्रीवं वालिनो वधात्।
स्वीकृत्य मारुतिं प्रेष्य तत्प्रवृत्तिमबुध्यत ॥६३॥
गत्वा च सागरे सेतुं बद्ध्वा हत्वा च रावणम्।
लङ्कां विभीषणे न्यस्य सीतां प्रत्याजहार सः ॥६४॥

---

१. सुप्रसिद्धा रामकथा। उत्तरकथायामत्र किञ्चिदप्रसिद्धकथातो भेदो दृश्यते।

इसी विद्या के द्वारा यह भी जाना कि तुम भी यहाँ आये हो। अतः, देवता के आदेश से प्राप्त इस कन्या को ग्रहण करो ॥५२॥

इसके पिता का बताया हुआ विवाह-लग्न कल प्रातःकाल है। अतः, आज तुम अपनी कौशाम्बी नगरी को जाओ और हम दोनों भी यहाँ से जाती हैं। प्रातःकाल इसके पिता अलंकारशील, तपोवन से आकर, इस कन्या को स्वयं तुम्हें देंगे ॥५३-५४॥

कांचनप्रभा के इस प्रकार कहने पर, उस अलंकारवती और नरवाहनदत्त—दोनों की अवस्था अवर्णनीय हो गई ॥५५॥

वे दोनों चकवा-चकवी के समान परस्पर एक रात्रि का वियोग-दुःख भी सहन करने में असमर्थ हो रहे थे। अतः, सायंकाल के समय, उन दोनों की आँखों में, आँसू थे ॥५६॥

उन दोनों को इस प्रकार आतुर देखकर कांचनप्रभा ने कहा—'एक रात्रि के ही वियोग में तुम दोनों को इतना अधैर्य क्यों हो रहा है ? ॥५७॥

धैर्यशाली व्यक्ति, अनिश्चित अवधि तक चिरकालीन विरह का सहन करते हैं। इस सम्बन्ध में रामभद्र और सीतादेवी की कथा सुनो ॥५८॥

राम और सीता की कथा

प्राचीन समय में अयोध्या-नरेश दशरथ के पुत्र, राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन चारों भाइयों में राम, सबसे बड़ा था। वह रावण का विनाश करने के लिए विष्णु के अंश से उत्पन्न हुआ था। जनक राजा की सीता नाम की पुत्री उसकी प्राणप्यारी पत्नी थी ॥५९-६०॥

दैवयोग से भरत को राज्य देकर पिता ने राम को सीता और लक्ष्मण के साथ वन भेज दिया ॥६१॥

वहाँ वन में रावण ने कपट करके उसकी प्राणप्यारी सीता का हरण कर लिया और मार्ग में जटायु का वध करके वह उसे लंका को ले गया ॥६२॥

तब वियोगी राम ने वाली को मारकर और सुग्रीव से मित्रता की और हनुमान् को लंका भेजकर उसका समाचार प्राप्त किया ॥६३॥

तदनन्तर, राम ने समुद्र-तट पर जाकर, उसमें पुल बाँधकर रावण को मारा और लंका का राज्य विभीषण को देकर सीता को प्राप्त किया ॥६४॥

अथावृत्तस्य वनतः शासतो भरतार्पितम्।
तस्य राज्यमयोध्यायां सीता गर्भमधत्त सा ॥६५॥
तावच्चात्र प्रजाचेष्टां ज्ञातुमल्पपरिच्छदः।
स्वैरं परिभ्रमन्नेकं सोऽपश्यत्पुरुषं प्रभुः ॥६६॥
हस्ते गृहीत्वा गृहिणीं निरस्यन्तं निजाद् गृहात्।
परस्येयं गृहमगादिति दोषानुकीर्त्तनात् ॥६७॥
रक्षोगृहोषिता सीता रामदेवेन नोज्झिता।
अयमभ्यधिको यो मामुज्झति ज्ञातिवेश्मगाम् ॥६८॥
इति तद् गृहिणीं तां च ब्रुवतीं तं निजं पतिम्।
रामो राजा स शुश्राव खिन्नश्चाभ्यन्तरं ययौ ॥६९॥
लोकापवादभीतश्च सीतां तत्याज तां वने।
सहते विरहक्लेशं यशस्वी नायशः पुनः ॥७०॥
सा च गर्भालसा दैवाद्वाल्मीकेः प्रापदाश्रमम्।
तेनर्षिणा समाश्वास्य तत्रैव ग्राहिता स्थितिम् ॥७१॥
ननं सीता सदोषेयं त्यक्ता भर्त्रान्यथा कथम्।
तदेतद्दर्शनान्नित्यं पापं संक्रामतीह नः ॥७२॥
वाल्मीकिः कृपया चैनां निर्वासयति नाश्रमात्।
एतद्दर्शनजं पापं तपसा च व्यपोहति ॥७३॥
तदेत यावद् गच्छामो द्वितीयं कञ्चिदाश्रमम्।
इति सम्मन्त्रयामासुस्तत्रान्ये मुनयस्तदा ॥७४॥
तद् बुद्ध्वा तान्स वाल्मीकिरब्रवीन्नात्र संशयः।
शुद्धैषा प्रणिधानेन मया दृष्टा द्विजा इति ॥७५॥
तथाप्यप्रत्ययस्तेषां यदा सीता तदाभ्यधात्।
भगवन्तो यथा वित्थ तथा शोधयतेह माम् ॥७६॥
अशुद्धायाः शिरश्छेदनिग्रहः क्रियतां मम।
तच्छ्रुत्वा जातकरुणा जगदुर्मुनयोऽत्र ते ॥७७॥
अस्त्यत्र टीटिभसरो नाम तीर्थं महद्वने।
टीटिभी हि पुरा कापि भर्त्रान्यासङ्गशङ्किना ॥७८॥
मिथ्यैव दूषिता साध्वी चक्रन्दाशरणा भुवम्।
लोकपालांश्च तैस्तस्याः शुद्ध्यर्थं तद्विनिर्मितम् ॥७९॥

लंका से लौटने के पश्चात् भरत द्वारा सौंपे गये राज्य का पालन करते हुए राम की पत्नी सीता ने गर्भ धारण किया ॥६५॥

उस अवसर पर प्रजा का समाचार जानने के लिए गुप्त रूप से अयोध्या में भ्रमण करते हुए राम ने एक पुरुष को देखा ॥६६॥

जो अपनी पत्नी को हाथ से खींचकर बाहर निकाल रहा था और वह उसका यह दोष घोषित कर रहा था कि उसकी स्त्री दूसरे व्यक्ति के घर पर जाकर रही ॥६७॥

राजा राम ने, उस स्त्री को यह कहते हुए सुनकर अत्यन्त खेद और लज्जा का अनुभव किया कि 'राक्षस के घर में रही हुई सीता को रामचन्द्र ने नहीं छोड़ा। यह मेरा पति उससे भी बड़ा है, जो अपने ही बन्धु के घर में रही हुई मुझे त्याग रहा है, ॥६८-६९॥

इस प्रकार, लोक-निन्दा के भय से राम ने सीता को वन में छोड़ दिया। सच है, यशस्वी व्यक्ति विरह-क्लेश का सहन करते हैं, किन्तु निन्दा का सहन नहीं करते ॥७०॥

गर्भ के कारण खिन्न सीता, वन से वाल्मीकि के आश्रम में पहुँची और उस ऋषि ने, उसे आश्वासन देकर वहीं ठहराया ॥७१॥

'सीता अवश्य दुष्टा है, अन्यथा उसका पति उसे क्यों छोड़ देता ? तो, प्रतिदिन उसका दर्शन करने से लोगों को पाप चढ़ता है। वाल्मीकि तो दया के कारण उसे आश्रम से नहीं निकालते और उसके दर्शन से होनेवाले पाप को तप से नष्ट करते हैं। तो चलो, किसी दूसरे आश्रम को चलें'—वाल्मीकि के आश्रम में रहनेवाले दूसरे मुनि इस प्रकार चर्चा करने लगे ॥७२—७४॥

दूसरे मुनियों के इन विचारों को सुनकर वाल्मीकि ने उनसे कहा—'इसमें सन्देह नहीं कि यह सीता चरित्र से शुद्ध है। हे मुनियो, मैंने ध्यान से इसे देख लिया है।' फिर भी, जब उन मुनियों को अविश्वास रहा, तब सीता ने कहा—'आप लोग जैसा समझें उस प्रकार मेरी शुद्धि की जाँच करें। यदि मैं अशुद्ध होऊँ, तो मेरा शिर काटकर मुझे दंड दें।' यह सुनकर सभी दयालु मुनि कहने लगे। 'यहाँ घोर वन में टीटिभ सर नाम का तीर्थ है। प्राचीन समय में किसी टिटिहरी को उसके (नर) टिटिहरे ने दूसरे टिटिहरों के संगम का मिथ्या दोष लगाया था ॥७५—७८॥

इस कलंक के कारण दु:खित शरणहीन एवं अनाथा टिटिहरी पृथ्वी और लोकपालों को दुहाई देकर विलाप करने लगी। तब उन्होंने उसकी शुद्धि के लिए उस सरोवर की रचना की ॥७९॥

तत्रैषा राघववधूः परिशुद्धिं करोतु नः।
इत्युक्तवद्भिस्तैः साकं जानकी तत्सरो ययौ॥८०॥
यद्यार्यपुत्रादन्यत्र न स्वप्नेऽपि मनो मम।
तदुत्तरेयं सरसः पारमम्ब वसुन्धरे॥८१॥
इत्युक्त्वैव प्रविष्टा च तस्मिन्सरसि सा सती।
नीता च पारमुत्सङ्गे कृत्वाविर्भूतया भुवा॥८२॥
ततस्तां ते महासाध्वीं प्रणेमुर्मुनयोऽखिलाः।
राघवं शप्तुमैच्छंश्च तत्परित्यागमन्युना॥८३॥
युष्माभिरार्यपुत्रस्य न ध्यातव्यममङ्गलम्।
शप्तुमर्हथ मामेव पापामञ्जलिरेष वः॥८४॥
इति यद्वारयामास सीता तान्सा पतिव्रता।
तेन ते मुनयस्तुष्टास्तस्याः पुत्राशिषं ददुः॥८५॥
ततः सा तत्र तिष्ठन्ती समये सुषुवे सुतम्।
तं च नाम्ना लवं चक्रे स वाल्मीकिमुनिः शिशुम्॥८६॥
बालमादाय तं तस्यां गतायां स्नातुमेकदा।
तेन शून्यं तदुटजं दृष्ट्वा सोऽचिन्तयन्मुनिः॥८७॥
स्थापयित्वार्भकं याति स्नातुं सा तत् क्व सोऽर्भकः।
नीतः स श्वापदेनेह नूनमन्यं सृजामि तत्॥८८॥
स्नात्वागतान्यथा सीता न प्राणान्धारयेदिह।
इति ध्यात्वा कुशैः कृत्वा पवित्रं निर्ममेऽर्भकम्॥८९॥
लवस्य सदृशं तं च स तथास्थापयन्मुनिः।
आगता तं च सा दृष्ट्वा मुनिं सीता व्यजिज्ञपत्॥९०॥
स्वकोऽयं मे स्थितो बालस्तदेषोऽन्यः कुतो मुने।
तच्छ्रुत्वा स यथावृत्तमुक्त्वा मुनिरुवाच ताम्॥९१॥
भवितव्यं गृहाणैतं द्वितीयमनघे सुतम्।
कुशसंज्ञं मयायं यत्स्वप्रभावात्कुशैः कृतः॥९२॥
इत्युक्ता तेन मुनिना सीता लवकुशौ सुतौ।
तेनैव कृतसंस्कारौ वर्धयामास तत्र तौ॥९३॥
बालावेव च तौ दिव्यमस्त्रग्राममवापतुः।
विद्याश्च सर्वा वाल्मीकिमुनेः क्षत्रकुमारकौ॥९४॥

उसी सरोवर में राम की यह पत्नी अपनी निष्कलंकता का हमें प्रमाण दें'।– इस प्रकार कहते हुए उन मुनियों के साथ सीता टीटिभ-सर में गई ॥८०॥

'यदि आर्यपुत्र राम के सिवा स्वप्न में भी मेरा मन पर-पुरुष की ओर न गया हो, तो हे वसुन्धरे ! मैं इस तालाब के पार हो जाऊँ ' ॥८१॥

ऐसा कहकर उस सरोवर में प्रविष्ट उस सती सीता को माता पृथ्वी ने गोद में उठाकर उस पार कर दिया ॥८२॥

इस घटना से विश्वस्त समस्त महामुनियों ने उस महापतिव्रता को प्रणाम किया और वे उसका त्याग करने के कारण क्रोध से राम को शाप देने के लिए तैयार हो गये ॥८३॥

तब सती सीता ने कहा–'आप लोगों को मेरे पति रामचन्द्र का अशुभ न सोचना चाहिए। आप लोग मुझे ही शाप दे सकते हैं। मैं आप लोगों को हाथ जोड़ती हूँ' ॥८४॥

इस प्रकार, जब सीता ने उन मुनियों को शाप देने से रोका, तब उन्होंने सन्तुष्ट होकर उसे पुत्र होने का आशीर्वाद दिया ॥८५॥

तदनन्तर, आश्रम में रहती हुई सीता ने वहाँ पुत्र-प्रसव किया। मुनि वाल्मीकि ने उसका नाम लव रखा ॥८६॥

एक बार बालक को साथ लेकर वह सीता स्नान करने चली गई। इस कारण उसकी पर्णकुटी को खाली देखकर मुनि वाल्मीकि ने सोचा कि वह (सीता) बालक को सदा यहाँ रखकर ही स्नान करने जाती थी, तो अवश्य ही किसी हिंसक जन्तु ने बालक को मार खाया होगा। अतः, मैं दूसरे बालक का निर्माण करता हूँ ॥८७-८८॥

नहीं तो नहाकर आई सीता अवश्य ही प्राण-त्याग कर देगी। यह सोचकर मुनि ने कुश की पवित्री बनाकर बालक की रचना कर दी ॥८९॥

और लव के समान ही उसे बनाकर उसके स्थान पर रख दिया। तदनन्तर, स्नान से लौट कर आई हुई सीता ने उस बालक को देखकर मुनि से कहा—॥९०॥

'हे मुने, मेरा बालक तो यह है, फिर यह दूसरा बालक कैसा है ?' यह सुनकर मुनि ने सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया और कहा—'हे पवित्र सीते, यह भवितव्य की बात है। अब इस दूसरे बालक को भी ग्रहण कर लो। इसका नाम कुश है; क्योंकि मैंने अपने प्रभाव से इसे कुशों द्वारा निर्मित किया है ॥९१—९२॥

मुनि द्वारा इस प्रकार कही गई सीता ने मुनि द्वारा ही संस्कार किये गये उन दोनों बालकों का पालन-पोषण किया ॥९३॥

उन दोनों क्षत्रियकुमारों ने बालकपन में ही मुनि वाल्मीकि की कृपा से सभी दिव्य शस्त्रास्त्रों और विद्याओं को भली भाँति सीख लिया ॥९४॥

एकदा आश्रममृगं हत्वा तन्मांसमादतुः ।
अर्चालिङ्गं च वाल्मीकेश्चक्रतुः क्रीडनीयकम् ॥९५॥
तेन खिन्नो मुनिः सोऽथ सीतादेव्यानुनाथितः ।
प्रायश्चित्तं तयोरेवमादिदेश कुमारयोः ॥९६॥
गत्वा कुबेरसरसः स्वर्णपद्मान्ययं लवः ।
तदुद्यानाच्च मन्दारपुष्पाण्यानयतु द्रुतम् ॥९७॥
तैरेतौ भ्रातरावेतल्लिङ्गमर्चयतामुभौ ।
तेनैतयोरिदं पापमुपशान्तिं गमिष्यति ॥९८॥
एतच्छ्रुत्वैव कैलासं स बालोऽपि लवो ययौ ।
आचस्कन्द कुबेरस्य सरश्चोपवनं च तत् ॥९९॥
निहत्य यक्षानादाय पद्मानि कुसुमानि च ।
आगच्छन्पथि स श्रान्तो विशश्राम तरोस्तले ॥१००॥
अत्रान्तरे च रामस्य नरमेधे सुलक्षणम् ।
चिन्वन्पुरुषमागच्छत्तेन मार्गेण लक्ष्मणः ॥१०१॥
स लवं समराहूतं मोहनास्त्रेण मोहितम् ।
क्षत्रधर्मेण बद्ध्वा तमयोध्यामनयत्पुरीम् ॥१०२॥
तावच्च सीतामाश्वास्य लवागमनदुःस्थिताम् ।
वाल्मीकिः स्वाश्रमे तत्र ज्ञानी कुशमभाषत ॥१०३॥
नीतोऽयोध्यामवष्टभ्य लक्ष्मणेन सुतो लवः ।
गच्छ मोचय तं तस्मादेभिरस्त्रैर्विनिर्जितात् ॥१०४॥
इत्युक्त्वा दत्तदिव्यास्त्रस्तेन गत्वा कुशस्ततः ।
रोध्यमानामयोध्यायां यज्ञभूमिं रुरोध सः ॥१०५॥
जिगाय लक्ष्मणं चात्र तन्निमित्तं प्रधावितम् ।
युद्धे दिव्यैर्महास्त्रैस्तैस्ततो रामस्तमभ्यगात् ॥१०६॥
सोऽपि प्रभावाद्वाल्मीकेर्जेतुं नास्त्रैः शशाक तम् ।
कुशं यत्नेन पप्रच्छ कोऽर्थस्ते को भवानिति ॥१०७॥
कुशस्ततोऽब्रवीद् बद्ध्वा लक्ष्मणेनाग्रजो मम ।
आनीत इह तस्याहं मोचनार्थमिहागतः ॥१०८॥
आवां लवकुशौ रामतनयाविति जानकी ।
माता नौ वक्ति चेत्युक्त्वा तद्वृत्तान्तं शशंस सः ॥१०९॥

एक बार उन दोनों बालकों ने, आश्रम के एक मृग को मारकर उसका मांस खा डाला और मुनि वाल्मीकि के पूजन करने के शिवलिंग को खिलौना बनाकर खेल डाला ॥९५॥

इस कारण मुनि खिन्न हुए, तो सीतादेवी ने उनसे क्षमा-प्रार्थना की। तब मुनि ने उन दोनों के लिए इस प्रकार प्रायश्चित्त की आज्ञा दी ॥९६॥

'यह लव, कुबेर के सरोवर में जाकर सोने के कमल ले आवे और उसके उद्यान से मंदार के पुष्प। उनसे ये दोनों भाई इस शिवलिंग की पूजा करें तो इस पाप की शान्ति होगी' ॥९७-९८॥

यह सुनते ही उस बालक लव ने, कुबेर के सरोवर और उद्यान पर धावा बोल दिया और उसके रक्षक यक्षों को मारकर कमल और मंदार-पुष्प प्राप्त किये। उन्हें लेकर लौटते समय मार्ग में श्रान्त होने के कारण उसने एक वृक्ष के नीचे विश्राम किया ॥९९-१००॥

इसी बीच राम के नरमेध यज्ञ में किसी अच्छे लक्षणोंवाले पुरुष को ढूंढता हुआ लक्ष्मण उधर आ निकला ॥१०१॥

वह (लक्ष्मण) युद्ध के लिए ललकारे हुए लव को सम्मोहनास्त्र से मोहित करके, क्षात्र-धर्म के अनुसार उसे बाँधकर अयोध्या नगरी को ले गया ॥१०२॥

उधर लव के आने में विलम्ब होने पर दुःखित सीता को धैर्य देकर ज्ञानी वाल्मीकि ने अपने आश्रम में कुश से कहा—॥१०३॥

'पुत्र! लव को लक्ष्मण पकड़कर अयोध्या ले गया है। तू जा और इन दिव्य अस्त्रों से उसको जीतकर और लव को छुड़ाकर ले आ' ॥१०४॥

मुनि के ऐसा कहने पर दिव्य अस्त्रों से युक्त कुश, अयोध्या गया और युद्ध करते हुए उसने यज्ञभूमि को घेर लिया ॥१०५॥

और युद्ध करने के लिए आये हुए लक्ष्मण को उसने दिव्य महान् अस्त्रों से जीत लिया। तब राम ने उस पर आक्रमण किया; किन्तु वाल्मीकि मुनि के प्रभाव से राम भी उसे अपने अस्त्रों से जीत न सके। तब राम ने कुश से पूछा—'तुम कौन हो?' ॥१०६-१०७॥

तब कुश ने कहा—'लक्ष्मण ने मेरे बड़े भाई लव को बाँध लिया है, उसे यहाँ लाओ। मैं उसे छुड़ाने के लिए ही यहाँ आया हूँ ॥१०८॥

हम लव और कुश दोनों राम के पुत्र हैं। ऐसा माता जानकी कहती हैं।' इतना कहकर फिर उसने अपना समाचार कहा ॥१०९॥

ततः सबाष्पो रामस्तं लवमानाय्य तावुभौ।
कण्ठे जग्राह सैषोऽहं पापो राम इति ब्रुवन् ॥११०॥
अथ सीतां प्रशंसत्सु वीरौ पश्यत्सु तौ शिशू।
पौरेषु मिलितेष्वत्र स तौ रामोऽग्रहीत्सुतौ ॥१११॥
आनाय्य सीतादेवीं च वाल्मीकेराश्रमात्ततः।
तया सह सुखं तस्थौ पुत्रन्यस्तभरोऽथ सः ॥११२॥
एवं सहन्ते विरहं धीराश्चिरमपीदृशम्।
न सहेथे युवां पुत्रौ कथमेकामपि क्षपाम् ॥११३॥
इत्यात्मजामलङ्कारवतीं परिणयोत्सुकाम्।
नरवाहनदत्तं च तमुक्त्वा काञ्चनप्रभा ॥११४॥
नभसा प्रातरागन्तुमगादादाय तां सुताम्।
नरवाहनदत्तोऽपि कौशाम्बीं विमना ययौ ॥११५॥
तत्रानिद्रं निशि स्माह गोमुखस्तं विनोदयन्।
पृथ्वीरूपकथां देव शृण्विमां कथयामि ते ॥११६॥

पृथ्वीरूपधरनृपतेः रूपलतायाश्च कथा

अस्ति नाम्ना प्रतिष्ठानं नगरं दक्षिणापथे।
पृथ्वीरूपाभिधानोऽभूद्राजा तत्रातिरूपवान् ॥११७॥
तं परिज्ञानिनौ जातु श्रमणौ द्वावुपेयतुः।
विलोक्याद्भुतरूपं च तावेवं नृपमूचतुः ॥११८॥
देवावां पृथिवीं भ्रान्तौ न च रूपेण ते समम्।
अन्यं पुमांसं नारीं वा दृष्टवन्तौ क्वचित्प्रभो ॥११९॥
किं तु मुक्तिपुरद्वीपे राज्ञो रूपधरस्य या।
अस्ति हेमलतादेव्यां जाता रूपलता सुता ॥१२०॥
सैका ते सदृशी कन्या तस्याश्चैको भवानपि।
युवयोर्यदि संयोगो भवेत्स्यात्सुकृतं ततः ॥१२१॥
इति श्रमणवाक्येन समं मदनसायकाः।
प्रविश्य श्रुतिमार्गेण राज्ञस्तस्यालगन्हृदि ॥१२२॥
ततः समुत्सुको राजा निजं चित्रकरोत्तमम्।
कुमारिदत्तनामानं पृथ्वीरूपः समादिशत् ॥१२३॥

तब रोते हुए राम ने लव को वहाँ बुलाकर उन दोनों को गले लगाया और कहा कि वह पापी राम मैं ही हूँ। (तुम दोनों जिसके पुत्र हो) ॥११०॥

तदनन्तर एकत्र नगर-निवासियों के सीता की प्रशंसा करने पर राम ने उन दोनों पुत्रों को स्वीकार किया ॥१११॥

तब सीतादेवी को वाल्मीकि के आश्रम से बुलाकर और पुत्रों को राज्य का भार सौंप कर राम सुखपूर्वक रहने लगे ॥११२॥

इस प्रकार, धैर्यशाली महापुरुष, इतने भीषण विरहों का भी सहन करते हैं। पुत्री, तुम दोनों एक रात्रि का विरह भी सहन नहीं कर पा रहे हो ॥ ११३॥

इस प्रकार, विवाह के लिए उत्सुक पुत्री अलंकारवती और नरवाहनदत्त से कांचनप्रभा ने कहा ॥११४॥

ऐसा कहकर और कन्या को साथ लेकर कांचनप्रभा, प्रातःकाल आने के लिए आकाशमार्ग मे उड़कर चली गई और दुःखी चित्त नरवाहनदत्त भी कौशाम्बी लौट आया ॥११५॥

कौशाम्बी में रात्रि को निद्राहीन नरवाहनदत्त का मनोरंजन करते हुए गोमुख ने कहा—'महाराज, मैं तुम्हें पृथ्वीरूप राजा की कथा सुनाता हूँ, सुनो'—॥११६॥

राजा पृथ्वीरूप और रानी रूपलता की कथा

दक्षिण दिशा में प्रतिष्ठान नाम का एक नगर है। वहाँ पृथ्वीरूप नाम का अत्यन्त रूपवान् राजा था ॥११७॥

किसी समय उसके समीप दो ज्ञानी श्रमण (जैन भिक्षु) आये और राजा के आश्चर्यकारी सुन्दर रूप को देखकर बोले—॥११८॥

'राजन्, हम दोनों सारे भू-मंडल में घूमे, किन्तु हे प्रभु, तुम्हारे जैसा रूपवान् पुरुष या स्त्री, कहीं भी हमने नहीं देखा ॥११९॥

किन्तु, मुक्तिपुर द्वीप में राजा रूपधर की पत्नी हेमलता देवी में उत्पन्न रूपलता नाम की कन्या है ॥१२०॥

वही एक तुम्हारे योग्य है और तुम्हीं एक उसके योग्य हो। यदि तुम दोनों का विवाह हो जाय, तो बहुत अच्छा हो' ॥१२१॥

इस प्रकार श्रमणों की बातों को सुनकर कामदेव के बाण राजा के कानों द्वारा घुसकर उसके हृदय में जा लगे ॥१२२॥

तब उत्कंठित राजा पृथ्वीरूप ने, कुमारिदत्त नामक अपने कुशल चित्रकार को आज्ञा दी ॥१२३॥

पटे यथावल्लिखितां समादाय मदाकृतिम्।
एताभ्यां सह भिक्षुभ्यां द्वीपं मुक्तिपुरं व्रज॥१२४॥
तत्र रूपधराख्यस्य राज्ञस्तद्दुहितुस्तथा।
युक्त्या रूपलतायास्त्वं मदाकारं प्रदर्शय॥१२५॥
पश्य किं स नृपस्तां मे ददाति तनयां न वा।
तां च रूपलतां चित्रे लिखित्वा त्वमिहानय॥१२६॥
एवमुक्त्वाभिलेख्य स्वं रूपं चित्रपटे स तम्।
सभिक्षुकं चित्रकरं द्वीपं तं प्राहिणोन्नृपः॥१२७॥
ते च क्रमाच्चित्रकरश्रमणाः प्रस्थितास्ततः।
प्रापुः पत्रपुरं नाम नगरं वारिधेस्तटे॥१२८॥
ततः प्रवहणारूढा गत्वैवाम्बुधिवर्त्मना।
ते तं मुक्तिपुरद्वीपमवापुः पञ्चभिर्दिनैः॥१२९॥
तत्र चित्रकरो गत्वा राजद्वारि स चीरिकाम्।
मम चित्रकरस्तुल्यो नान्योऽस्तीत्युदलम्बयत्॥१३०॥
तद् बुद्ध्वैव समाहूतो राज्ञा रूपधरेण सः।
प्रविश्य राजभवनं तं प्रणम्य व्यजिज्ञपत्॥१३१॥
पृथ्वीं भ्रान्त्वा मया देव न दृष्टश्चित्रकृत्समः।
तद्देवासुरमर्त्यानामालिखामि कमादिश॥१३२॥
तच्छ्रुत्वानाय्य नृपतिः स तां रूपलतां पुरः।
इमामालिख्य मत्पुत्रीं दर्शयेत्यादिदेश तम्॥१३३॥
ततः कुमारिदत्तः स चित्रकृद्राजकन्यकाम्।
आलिख्य दर्शयामास तद्रूपामेव तां पटे॥१३४॥
अथ रूपधरो राजा तुष्टो मत्वा विचक्षणम्।
पृच्छति स्म स तं चित्रकरं जामातृलिप्सया॥१३५॥
भद्र पृथ्वी त्वया भ्रान्ता तद् ब्रूहि यदि कुत्रचित्।
रूपे मद्दुहितुस्तुल्या दृष्टा स्त्री पुरुषोऽपि वा॥१३६॥
इत्युक्तस्तेन राज्ञा स चित्रकृत्प्रत्युवाच तम्।
नैतत्तुल्या मया दृष्टा नारी काप्यथवा पुमान्॥१३७॥
एकस्तु पृथ्वीरूपाख्यः प्रतिष्ठाने महीपतिः।
दृष्टः समोऽस्यास्तेनैषा युज्यते यदि साधु तत्॥१३८॥

'हे चित्रकार, एक कपड़े पर मेरा चित्र बनाकर और उसे लेकर इन श्रमणों के साथ मुक्तिपुर द्वीप में जाओ ॥१२४॥

वहाँ राजा रूपधर की कन्या रूपलता को किसी युक्ति से मेरा चित्र दिखाओ ॥१२५॥

और, यह देखो कि वह रूपधर मेरा चित्र देखकर अपनी उस कन्या को मुझे देता है या नहीं और रूपलता का भी चित्र बनाकर मुझे लाकर दिखाओ' ॥१२६॥

ऐसा कहकर और चित्रपट पर अपना चित्र लिखवाकर राजा ने, चित्रकार को श्रमणों के साथ मुक्तिपुर नामक द्वीप में भेज दिया ॥१२७॥

वे चित्रकार और श्रमण चलते-चलते क्रमशः समुद्र-तट पर पत्रपुर नामक नगर में पहुँचे ॥१२८॥

वहाँ से वे जलयान (जहाज) में बैठकर पाँचवें दिन मुक्तिपुर पहुँचे ॥१२९॥

वहाँ जाकर उस चित्रकार ने राजद्वार पर उस चित्रपट को लटकाकर यह घोषणा की कि मेरे समान कोई दूसरा चित्रकार नहीं है ॥१३०॥

यह जानकर राजा रूपधर ने उसे बुलवाया और उसने राजभवन में जाकर राजा को प्रणाम कर निवेदन किया—॥१३१॥

'देव, मैंने सारे भूमंडल में घूमकर भी अपने समान चित्रकार नहीं देखा। अतः, आप आज्ञा दें कि देवों, दैत्यों और मनुष्यों में किसका चित्र बनाऊँ?' ॥१३२॥

यह सुनकर राजा ने अपनी कन्या रूपलता को उसके सामने लाकर कहा कि 'मेरी इस कन्या का चित्र बनाकर दिखाओ' ॥१३३॥

तब उस कुमारिदत्त चित्रकार ने, कपड़े पर रूपलता का चित्र बनाकर उसे वास्तविक रूप में दिखाया ॥१३४॥

तब राजा रूपधर ने, प्रसन्न होकर और उसे कला-कुशल जानकर जामाता की इच्छा से उस चित्रकार से पूछा—॥१३५॥

'भद्र, तुमने सारी पृथ्वी का भ्रमण किया, अतः यह बताओ कि कहीं पर मेरी कन्या के समान रूप में सुन्दर स्त्री या पुरुष है या नहीं?' ॥१३६॥

राजा के इस प्रकार कहने पर चित्रकार ने उससे कहा—'मैंने इसके समान स्त्री या पुरुष नहीं देखा। हाँ, प्रतिष्ठानपुर नगर का राजा पृथ्वीरूप इसके समान रूपवान् देखा गया है। यदि उसके साथ इसका सम्बन्ध बने, तो उपयुक्त हो ॥१३७-१३८॥

तुल्यरूपा यदा तेन न प्राप्ता राजकन्यका।
तदा नवेऽपि तारुण्ये स तिष्ठत्यपरिग्रहः ॥१३९॥
मया च देव दृष्ट्वैव स राजा लोचनप्रियः।
अभिलिख्य पटे सम्यग्गृहीतो रूपकौतुकात् ॥१४०॥
तच्छ्रुत्वा किं पटः सोऽस्तीत्युक्तस्तेन स भूभृता।
अस्तीत्युक्त्वा च तं चित्रकरः पटमदर्शयत् ॥१४१॥
तत्र दृष्ट्वा स तद्रूपं पृथ्वीरूपस्य भूपतेः।
राजा रूपधरो दध्रे विस्मयाघूर्णितं शिरः ॥१४२॥
जगाद च वयं धन्या यैरत्र लिखितोऽप्ययम्।
दृष्टो राजा नमस्तेभ्यः साक्षात्पश्यन्ति ये त्वमुम् ॥१४३॥
एतत्पितृवचः श्रुत्वा दृष्ट्वा चित्रे च तं नृपम्।
सोत्का रूपलता नान्यच्छुश्राव न ददर्श च ॥१४४॥
तां मारमोहितां दृष्ट्वा सुतां स नृपतिस्तदा।
कुमारिदत्तं तं चित्रकरं रूपधरोऽभ्यधात् ॥१४५॥
नास्त्यालेख्यविसंवादस्तव तद्दुहितुर्मम।
एतस्याः प्रतिरूपः स पृथ्वीरूपनृपः पतिः ॥१४६॥
तदेतं मत्सुताचित्रपटं नीत्वाद्य सत्वरम्।
पृथ्वीरूपनृपायैतां मत्सुतां गच्छ दर्शय ॥१४७॥
आख्याय च यथावृत्तं तत्तस्मै यदि रोचते।
तदिह द्रुतमायातु परिणेतुं मदात्मजाम् ॥१४८॥
इत्युक्त्वा पूजयित्वार्थैः स सहस्थितभिक्षुकम्।
राजा चित्रकरं तं च स्वदूतं च विसृष्टवान् ॥१४९॥
ते गत्वाम्बुधिमुत्तीर्य चित्रकृद्दूतभिक्षुकाः।
सर्वे प्रापुः प्रतिष्ठानं पृथ्वीरूपनृपान्तिकम् ॥१५०॥
तत्र प्राभृतकं दत्त्वा कार्यं तत्ते यथाकृतम्।
स रूपधरसन्देशं राज्ञे तस्मै न्यवेदयन् ॥१५१॥
स च चित्रकृदेतस्मै भूभृते तामदर्शयत्।
कुमारिदत्तश्चित्रस्थां प्रियां रूपलतां ततः ॥१५२॥
राज्ञस्तस्य वपुष्यस्या लावण्यसरसीक्षतः।
मग्ना दृष्टिस्तथा नैतामुद्धर्तुमशकद्यथा ॥१५३॥

उस राजा को अपने समान सुन्दरी कन्या नहीं मिली, इसीलिए उसने अभी तक विवाह ही नहीं किया ॥१३९॥

महाराज, मैंने तो नयनों के प्यारे उस राजा को देखकर ही उसके सौन्दर्य के कौतूहल से पट पर उसका चित्र भी बना दिया है, ॥१४०॥

उसके इस प्रकार कहने पर राजा ने पूछा कि 'क्या उसका चित्रपट, तुम्हारे पास है ?' उत्तर में चित्रकार ने 'है'—ऐसा कहकर राजा को वह चित्र दिखा दिया ॥१४१॥

उस चित्रपट पर राजा पृथ्वीरूप का रूप देखकर राजा रूपधर ने आश्चर्य के साथ अपना शिर हिलाया ॥१४२॥

और प्रसन्न होकर वह बोला—'हम धन्य हैं। जिन्होंने वस्त्र पर लिखे राजा के इस रूप को देखा और जो लोग इसे प्रत्यक्ष देखते हैं, उन्हें हम प्रणाम करते हैं' ॥१४३॥

पिता के ऐसे वचन सुनकर और चित्र में राजा को देखकर उत्कंठित रूपलता ने और कुछ देखा न सुना ॥१४४॥

तदनन्तर, अपनी कन्या को काम-मोहित देखकर राजा रूपधर ने उस चित्रकार से कहा—॥१४५॥

'यदि तुम्हारे चित्रपट में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, तो राजा पृथ्वीरूप, इस कन्या के अनुरूप पति है। इसलिए, मेरी इस कन्या के चित्रपट को ले जाकर उन्हें दिखा दो ॥१४६—१४७॥

और, यह सब समाचार सुनकर यदि, उचित समझें, तो मेरी कन्या का परिणय करने के लिए शीघ्र ही यहां आवें ॥१४८॥

इतना कहकर और चित्रकार का धन से सत्कार करके राजा रूपधर ने भिक्षुओं के साथ उसे विदा किया और अपने एक दूत को भी उसके साथ भेजा ॥१४९॥

कुछ ही दिनों में, वे चित्रकार, भिक्षु और दूत समुद्र को पारकर प्रतिष्ठान नगर में राजा पृथ्वीरूप के पास पहुँचे ॥१५०॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने राजा पृथ्वीरूप को, राजा रूपधर के भेजे हुए उपहार आदि देकर, मुक्तिपुर का सब समाचार और राजा रूपधर का सन्देश सुनाया ॥१५१॥

और, उस चित्रकार कुमारिदत्त ने, चित्रपट पर लिखा रूपलता का चित्र भी राजा पृथ्वीरूप को, दिखा दिया ॥१५२॥

लावण्य की सरिता-सरीखी उस रूपलता के शरीर को चित्र में देखता हुआ राजा इस प्रकार मग्न हो गया कि वह वहाँ से अपनी दृष्टि हटा नहीं सका ॥१५३॥

स हि कान्तिसुधास्यन्दमयीं तां चर्वयन्नृपः।
नातृप्यदधिकोत्कण्ठश्चकोरश्चन्द्रिकामिव ॥१५४॥
प्राह चित्रकरं तं च वन्द्यो वेधाः करश्च ते।
येनेदं निर्मितं रूपं येन चालिखितं सखे॥१५५॥
तद्रूपधरभूपस्य प्रतिपन्नं वचो मया।
यामि मुक्तिपुरद्वीपमुपयच्छे च तत्सुताम्॥१५६॥
इत्युक्त्वा चित्रकृद्दूतभिक्षून्सम्मान्य तान्धनैः।
आसीच्चित्रपटं पश्यन्पृथ्वीरूपनृपोऽत्र सः॥१५७॥
उद्यानादिषु नीत्वा च तद्दिनं विरहातुरः।
लग्नं निश्चित्य सोऽभ्येद्युश्चक्रे राजा प्रयाणकम्॥१५८॥
युक्तो विविधहस्त्यश्वैः सामन्तैः राजसूनुभिः।
सरूपधरदूतैस्तैश्चित्रकृच्छ्रमणैश्च सः॥१५९॥
गजेन्द्रं मङ्गलघटं राजारुह्य व्रजन्दिनैः।
प्राप्य विन्ध्याटवीद्वारं सायं तत्र स्थितोऽभवत्॥१६०॥
द्वितीयेऽह्नि समारुह्य शत्रुमर्दनसंज्ञकम्।
गजं तामटवीं राजा पृथ्वीरूपो विवेश सः॥१६१॥
यावद्याति पुरस्तावदग्रयायि निजं बलम्।
पलायमानमावृत्तमकस्मात्स व्यलोकयत्॥१६२॥
किमेतदिति सम्भ्रान्तं तं चाभ्येत्यैव तत्क्षणम्।
राजपुत्रो गजारूढो निर्भयाख्यो व्यजिज्ञपत्॥१६३॥
देवाग्रतोऽतिमहती भिल्लसेनाभिधाविता।
तैवारंणा नः पञ्चाशन्मात्रा भिल्लै रणे हताः॥१६४॥
सहस्रं च पदातीनामश्वानां च शतत्रयम्।
अस्मदीयैश्च भिल्लानां द्वे सहस्रे निपातिते॥१६५॥
एकोऽह्यस्मद्बले दृष्टः कबन्धो द्वौ च तद्बले।
ततोऽस्मत्सैनिका भग्नास्तद्बाणाशनिपीडिताः॥१६६॥
तच्छ्रुत्वा कुपितो राजा पृथ्वीरूपः प्रधाव्य सः।
जघान सेनां भिल्लानां कौरवाणामिवार्जुनः॥१६७॥
निर्भयादिभिरन्येषु निहतेष्वथ दस्युषु।
सचिच्छेदैकभल्लेन भिल्ल सेनापतेः शिरः॥१६८॥

सौन्दर्य-सुधामयी उस रूपलता को नेत्रों से पान करता हुआ राजा पृथ्वीरूप उसी प्रकार अतृप्त रहा, जैसे अधिकाधिक चन्द्रिका का पान कर लेने पर भी चकोर अतृप्त ही रह जाता है ॥१५४॥

और वह चित्रकार से बोला—'मित्र, इसे बनानेवाले ब्रह्मा और इसे चित्र में उल्लेख करनेवाले तुम दोनों के हाथ वन्दनीय हैं; जिसने इस रूप का निर्माण किया और जिसने इसे चित्रपट पर चित्रित किया ॥१५५॥

अतः, मैं रूपधर राजा की बात को स्वीकार करता हूँ। मुक्तिपुर द्वीप को जाकर उसकी कन्या को विवाहित करता हूँ ॥१५६॥

इतना कहकर भिक्षु तथा दूत को धन आदि से पुरस्कृत करके वह चित्रपट में रूपलता को देखता हुआ बैठा रहा ॥१५७॥

और, अपने उद्यानों में भ्रमण करके उस विरही राजा ने, उस दिन को, किसी प्रकार व्यतीत किया। तदनन्तर, लग्न आदि का निश्चय कराकर दूसरे ही दिन राजा ने बरात-सहित मुक्तिपुर द्वीप की ओर प्रस्थान किया ॥१५८॥

राजा की बरात में, हाथी, घोड़े, सामन्त, राजा, राजकुमार, राजा रूपधर का चित्रकार और वे दोनों भिक्षु आदि सभी सम्मिलित थे ॥१५९॥

राजा स्वयं मंगलघट नामक हाथी पर चढ़कर क्रमशः जाता हुआ कुछ दिनों में विन्ध्यारण्य के द्वार पर जाकर ठहर गया ॥१६०॥

दूसरे दिन, वह राजा पृथ्वीरूप शत्रुमर्दन नामक हाथी पर सवार होकर विन्ध्य के घोर जंगलों में प्रविष्ट हुआ ॥१६१॥

जब वह कुछ ही दूर गया था, तब उसने अपनी सेना को सहसा वापस भागते हुए देखा ॥१६२॥

'यह क्या है'—ऐसा घबराकर सोचते हुए राजा पृथ्वीरूप के समीप आकर हाथी पर चढ़े हुए निर्भय नामक राजपुत्र ने कहा—'महाराज, आगे भीलों की बड़ी सेना है। उन भीलों ने हमारे पचास हाथी मार डाले और एक हजार पैदल सिपाही और तीन सौ घोड़े भी उन्होंने मार डाले। इसी प्रकार, हमारे सैनिकों ने भी दो हजार भील मार दिये ॥१६३—१६५॥

यदि हमारी सेना में एक शव देखा जाता था तो उनकी सेना में दो। तब उनके बाण-वज्रों से मारे जाते हुए हमारे सैनिक वहाँ से भाग आये ॥१६६॥

यह सुनकर क्रुद्ध राजा पृथ्वीरूप तुरन्त दौड़ पड़ा और भीलों की सेना का इस प्रकार नाश करने लगा, जिस प्रकार कौरवों की सेना का संहार, अर्जुन ने किया था ॥१६७॥

निर्भय आदि राजकुमारों द्वारा अनेक भीलों के काट दिये जाने पर राजा पृथ्वीरूप ने, एक भाले से भीलों के सरदार का शिर काट दिया ॥१६८॥

बाणव्रणगलद्रक्तस्तस्येभः शत्रुमर्दनः ।
सधातुनिर्झरोद्गारमञ्जनाद्रिं व्यडम्बयत् ॥१६९॥
ततो लब्धजयावृत्ते तत्सैन्ये मिलितेऽखिले ।
पलाय्य हृतशेषास्ते भिल्ला दश दिशो ययुः ॥१७०॥
ततो निवृत्तसंग्रामः पृथ्वीरूपो महीपतिः ।
स रूपधरदूतेन स्तूयमानपराक्रमः ॥१७१॥
व्रणितानीकविश्रान्त्यै तस्यामेवाटवीभुवि ।
विजयी सरसीतीरे दिवसं वसति स्म तम् ॥१७२॥
प्रातस्ततः प्रयातश्च स राजा क्रमशो व्रजन् ।
तत्प्राप नगरं पत्रपुरं तीरस्थमम्बुधेः ॥१७३॥
तत्रैकाहं विशश्राम तत्रत्येन महीभृता ।
उदारचरिताख्येन रचितोचितसत्क्रियः ॥१७४॥
तेनैवोपहृतैर्यानपात्रैस्तीर्त्वा च सागरम् ।
अष्टभिर्दिवसैः प्राप द्वीपं मुक्तिपुरं स तत् ॥१७५॥
बुद्ध्वा रूपधरस्तच्च राजा हृष्टस्तमभ्यगात् ।
मिलतः स्म च तौ भूपौ कृतकण्ठग्रहौ मिथः ॥१७६॥
ततस्तेन समं पृथ्वीरूपो राजा स तत्पुरम् ।
विवेश पौरनारीणां पीयमान इवेक्षणैः ॥१७७॥
तत्र हेमलता राज्ञी स च रूपधरो नृपः ।
दृष्ट्वानुरूपं दुहितुर्भर्त्तारं तं ननन्दतुः ॥१७८॥
अथ स्वसम्पदुचितैं राज्ञा रूपधरेण सः ।
आचारैरर्चितस्तस्थौ पृथ्वीरूपोऽत्र पार्थिवः ॥१७९॥
अन्येद्युश्च चिरोत्काया वेदीमारुह्य शोभने ।
लग्ने रूपलतायाः स सोत्सवः पाणिमग्रहीत् ॥१८०॥
सत्यं श्रुतं त्वया पूर्वमिति वक्तुमिव श्रुतिम् ।
प्रापोत्फुल्ला तयोर्दृष्टिरन्योन्यरूपदर्शिनोः ॥१८१॥
रत्नानि लाजमोक्षेषु द्वयो रूपधरस्तयोः ।
ददौ तथा यथा सैष मेने रत्नाकरो जनैः ॥१८२॥
निर्वृत्ते च सुतोद्वाहे चित्रकृच्छ्रमणान्स तान् ।
सम्पूज्य वस्त्राभरणैः सर्वानन्यानपूजयत् ॥१८३॥

बाणों के घावों से गिरते हुए रक्त की धारा से रंजित राजा का हाथी शत्रुमर्दन, गेरू के झरनोंवाले अंजन पर्वत का अनुकरण कर रहा था ॥१६९॥

विजयी होकर राजा के लौटने पर उसकी समस्त सेना आकर वहाँ एकत्र हुई और मरने से बची हुई भीलों की सेना के सिपाही इधर-उधर भाग गये ॥१७०॥

तदनन्तर, युद्ध समाप्त करके लौटे हुए राजा पृथ्वीरूप के पराक्रम की प्रशंसा रूपधर के दूत ने की। विजयी राजा ने, घायल सेना की विश्रान्ति के लिए, उसी रनभूमि में एक तालाब के किनारे अपना शिविर लगा दिया ॥१७१-१७२॥

इस प्रकार, क्रमशः यात्रा करता हुआ राजा समुद्र-तट पर पत्रपुर नगर में जा पहुँचा ॥१७३॥

पत्रपुर के राजा उदारचरित द्वारा समुचित सत्कार किये जाने पर राजा पृथ्वीरूप ने एक रात उसी नगर में विश्राम किया ॥१७४॥

और प्रातःकाल,उसी राजा द्वारा मँगाये गये जहाजों और नावों पर सवार होकर आठ दिनों में, समुद्र के मार्ग से मुक्तिपुर द्वीप में, बरात के साथ राजा पृथ्वीरूप जा पहुँचा ॥१७५॥

उसके आगमन की सूचना पाकर प्रसन्नचित्त राजा रूपधर, बरात की अगवानी के लिए आया और वे दोनों राजा परस्पर गले मिले ॥१७६॥

तब राजा रूपधर के साथ राजा पृथ्वीरूप, उस द्वीप की राजधानी में जाकर उसके अनुरूप स्वागत-सत्कार करती हुई नागरिक स्त्रियों से मानों वह नेत्रों द्वारा पिया जा रहा था। राजभवन में पहुँचने पर राजा रूपधर और रानी हेमलता ने अपनी कन्या के अनुरूप जामाता को देखकर अत्यन्त आनन्द का अनुभव किया ॥१७७-१७८॥

तदनन्तर, राजा रूपधर ने, अपनी सम्पत्ति के अनुसार समुचित आतिथ्य-सत्कार द्वारा सत्कृत राजा पृथ्वीरूप को वहीं ठहराया ॥१७९॥

दूसरे दिन, वेदी में बैठकर, शुभ लग्न में, राजा पृथ्वीरूप ने, चिरकाल से उत्कंठिता रूपलता का पाणिग्रहण किया ॥१८०॥

परस्पर सौन्दर्य-पान करने के कौतूहल से उन दोनों की आँखें मानों कानों से यह कहने के लिए उनके पास तक चली गई थीं कि जैसा ही तुमने सुना था, वैसा ही हमने देखा ॥१८१॥

राजा रूपधर ने, लाजा-हवन के प्रत्येक अवसर पर इतने रत्न, उन वर-वधू को दिये कि दर्शकों ने उसे सचमुच रत्नाकर समझा ॥१८२॥

कन्या का विवाह समाप्त होने पर, उस राजा रूपधर ने, चित्रकार कुमारिदत्त, जैन भिक्षुओं तथा अन्यान्य सम्भ्रान्त व्यक्तियों का धन आदि से समुचित सत्कार किया ॥१८३॥

ततः पुरे स्थितस्तस्मिन्पृथ्वीरूपनृपोऽत्र सः।
तद्द्वीपोचितमाहारं भेजे पानं च सानुगः॥१८४॥
नृत्तगीतादिभिर्याते दिने नक्तं विवेश च।
सूत्को रूपलतावासभवनं सोऽवनीपतिः॥१८५॥
आस्तीर्णरत्नपर्यङ्कं रत्नकुट्टिमशोभितम्।
रत्नस्तम्भोम्भिताभोगं रत्नदीपैः प्रकाशितम्॥१८६॥
तत्र भेजे तया साकं स रूपलतया युवा।
चिरसङ्कल्पगुणितं यथेच्छं सुरतोत्सवम्॥१८७॥
सुरतश्रमसुप्तश्च पठद्भिर्बन्दिमागधैः।
बोधितः प्रातरुत्थाय तस्थाविन्द्रो यथा दिवि॥१८८॥
एवं दश दिनान्यत्र पृथ्वीरूपनृपो वसत्।
द्वीपे नवनवैर्भोगैर्विलसन् श्वशुराहृतैः॥१८९॥
एकादश दिने युक्तः स रूपलतया ततः।
गणकानुमतो राजा प्रतस्थे कृतमङ्गलः॥१९०॥
कृतानुयात्रः श्वशुरेणासमुद्रतटं च सः।
वध्वा सह प्रवहणान्यारुरोहानुगान्वितः॥१९१॥
दिनाष्टकेन तीर्त्वाब्धिं तीरस्थे मिलिते बले।
उदारचरिते चाग्रप्राप्ते पत्रपुरं ययौ॥१९२॥
तत्रोपचरितस्तेन राज्ञा विश्रम्य कानिचित्।
दिनानि स ततः प्रायात् पृथ्वीरूपो नरेश्वरः॥१९३॥
प्रियां रूपलतां हस्तिन्यारोप्य जयमङ्गले।
कल्याणगिरिनामानमात्मनारुह्य च द्विपम्॥१९४॥
गच्छन् क्रमादविरतैः सोऽथ राजा प्रयाणकैः।
उत्पताकध्वजं प्राप प्रतिष्ठानं निजं पुरम्॥१९५॥
तत्र रूपलतां दृष्ट्वा रूपदर्पं पुराङ्गनाः।
जहुस्तत्कालमाश्चर्यनिर्निमेषविलोचनाः॥१९६॥
राजधानीं प्रविश्याथ पृथ्वीरूपः कृतोत्सवः।
ददौ चित्रकृते तस्मै ग्रामान् राजा धनं च सः॥१९७॥
श्रमणौ पूजयित्वा च वसुभिस्तौ यथोचितम्।
सामन्तान् सचिवान् राजपुत्रांश्च सममानयत्॥१९८॥

तदनन्तर उस नगर में रहते हुए राजा पृथ्वीरूप ने, अपने साथियों के साथ उस द्वीप के अनुसार भोजन-पान आदि स्वीकार किया ॥१८४॥

नाच-गान में, दिन व्यतीत करके राजा पृथ्वीरूप, रात को उत्कंठा के साथ रूपलता के शयन-भवन में गया ॥१८५॥

उस शयनागार में रत्नों से जड़ा हुआ पलंग बिछा था। शयनागर की भूमि भी रत्नों से जड़ी हुई थी। भवन के मध्य में रत्नों से जड़े हुए खम्भे चमक रहे थे और भवन, रत्नों के दीपों से जगमगा रहा था ॥१८६॥

उस शयनागार में वह युवा राजा पृथ्वीरूप, उस रूपलता के साथ चिरकाल की उत्कंठा के कारण दूने और चौगुने उत्साह तथा प्रेम से आनन्द-मग्न हो गया ॥१८७॥

आनन्द-विलास से थककर सोया हुआ राजा पृथ्वीरूप, प्रातःकाल गाते हुए बन्दियों द्वारा जगाया गया ऐसा शोभित हो रहा था, जैसा कि स्वर्ग में इन्द्र ॥१८८॥

इस प्रकार, श्वशुर रूपधर द्वारा प्रस्तुत किये गये नाना प्रकार के भोगों का आनन्द लेता हुआ पृथ्वीरूप, दस दिनों तक उस द्वीप में रहा ॥१८९॥

ग्यारहवें दिन, ज्योतिषियों के कथनानुसार रूपलता के साथ राजा पृथ्वीरूप मंगलाचरण करके वहाँ से चला ॥१९०॥

समुद्र के तट तक श्वशुर राजा रूपधर द्वारा पहुँचाया गया राजा पृथ्वीरूप, जलयान पर सवार हुआ और उसके साथी भी अन्यान्य जलयानों पर उसके साथ सवार हुए। आठ दिनों तक निरन्तर समुद्र-यात्रा करने के पश्चात् उनके जलयान, समुद्र के तीर पर पहुँचे, जहाँ राजा की सेना अगवानी के लिए उसकी प्रतीक्षा में खड़ी थी। पत्रपुर का राजा उदारचरित भी वहाँ स्वागत के लिए खड़ा था॥१९१-१९२॥

पत्रपुर के राजा द्वारा कुछ दिनों तक आतिथ्य प्राप्त कर विश्राम कर लेने के पश्चात् राजा पृथ्वीरूप वहाँ से चला ॥१९३॥

वह जयमंगल नामक हाथी पर रूपलता को बैठाकर और कल्याणगिरि नामक हाथी पर स्वयं बैठकर वहाँ से चला ॥१९४॥

इस प्रकार, निरन्तर यात्रा करता हुआ राजा, क्रमशः तोरणों और ध्वजाओं से सजाये हुए अपने प्रतिष्ठान नगर में पहुँचा ॥१९५॥

उस नगर में, रूपलता के सौन्दर्य को देखती हुई नागरिक रमणियों ने, अपने रूप का गर्व त्याग दिया ॥१९६॥

तदनन्तर, राजा पृथ्वीरूप ने राजधानी में प्रवेश करके अपने विवाह का उत्सव किया और चित्रकार को गाँव और जागीरें पुरस्कार में देकर तथा धन आदि से उसे सन्तुष्ट किया ॥१९७॥

उन दोनों भिक्षुओं को भी समुचित रूप से धन देकर उसने सत्कृत किया। इसी प्रकार सामन्तों, मन्त्रियों तथा अन्यान्य सम्बन्धित राजपूतों का भी उसने यथोचित सत्कार किया ॥१९८॥

ततः स रूपलतया प्रियया सहितस्तया।
जीवलोकसुखं तत्र भेजे पृथ्वीपतिः कृती॥१९९॥
इत्याख्याय कथां मन्त्री गोमुखस्तत्सुखोन्मुखः।
नरवाहनदत्ताय तमुवाचोत्सुकं पुनः॥२००॥
एवं विषह्यते धीरैः सक्लेशो विरहश्चिरम्।
त्वं पुनः सहसे नैकामपि देव निशां कथम्॥२०१॥
प्रातर्भवानलङ्कारवतीं हि परिणेष्यति।
गोमुखेनैवमुक्ते च तत्र तत्समयागतः॥२०२॥
यौगन्धरायणसुतो मरुभूतिरभाषत।
अदृष्टस्मरसन्तापः स्वस्थस्त्वं किं न जल्पसि॥२०३॥
तावद्धत्ते पुमान् धैर्यं विवेकं शीलमेव च।
यावत्पतति कामस्य सायकानां न गोचरे॥२०४॥
धन्याः सरस्वती स्कन्दो जिनश्च जगति त्रयः।
पटान्तलग्नतृणवत्क्षिप्तो व्याधूय यैः स्मरः॥२०५॥
मरुभूतो वदत्येवमुद्विग्नं वीक्ष्य गोमुखम्।
नरवाहनदत्तस्तं समर्थयितुमभ्यधात्॥२०६॥
विनोदनार्थमेतन्मे गोमुखो युक्तमुक्तवान्।
स्निग्धो हि विरहायासे साधुवादं ददाति किम्॥२०७॥
समाश्वास्यो यथाशक्ति स्वजनैर्विरहातुरः।
अतः परं स जानाति देवश्चासमसायकः॥२०८॥
इत्यादि जल्पञ्छृण्वंश्च तास्ताः परिजनात्कथा।
नरवाहनदत्तस्तां त्रियामामत्यवाहयत्॥२०९॥

अलङ्कारवतीनरवाहनदत्तयोर्विवाहः

अथ स प्रातरुत्थाय विहितावश्यकक्रियः।
गगनादवरोहन्तीमपश्यत्काञ्चनप्रभाम्॥२१०॥
भर्त्रालङ्कारशीलेन धर्मशीलेन सूनुना।
तयालङ्कारवत्या च स्वदुहित्रा समन्विताम्॥२११॥
ते चावतीर्य सर्वेऽपि तत्समीपमुपागमन्।
अभ्यनन्दच्च तान्सोऽपि तं च तेऽपि यथोचितम्॥२१२॥

इन कार्यों से निवृत्त होकर राजा पृथ्वीरूप, अपनी पत्नी रूपलता के साथ सांसारिक सुख-भोग करने लगा ॥१९९॥

मन्त्री गोमुख इस प्रकार कथा सुनाकर अपनी ओर देखते हुए नरवाहनदत्त की ओर देखकर फिर उससे बोला—॥२००॥

'महाराज, धीर लोग, इस प्रकार कष्ट के साथ विरह को चिरकाल तक सहन करते हैं और तुम एक रात्रि का भी वियोग सहन नहीं कर सकते ॥२०१॥

प्रातःकाल ही, तुम अलंकारवती को विवाहित करोगे।' गोमुख के इस प्रकार कहने पर उसी समय आया हुआ यौगन्धरायण का पुत्र मरुभूति बोला—'गोमुख! काम-पीड़ा से अनभिज्ञ एवं शान्तचित्त तुम यह क्या कह रहे हो ॥२०२—२०३॥

मानव, धीरज, विवेक, चरित्र आदि को तभी तक धारण करता है, जब-तक वह कामदेव के बाणों का लक्ष्य नहीं बन जाता ॥२०४॥

सरस्वती, स्कन्द और जिन ये तीन ही संसार में धन्य हैं, जिन्होंने काम को वस्त्र के कोने में चिपके हुए कीट के समान फटकार दिया ' ॥२०५॥

मरुभूति के इस प्रकार कहने पर और गोमुख को घबराया हुआ देखकर नरवाहनदत्त ने उसका पक्ष लेते हुए कहा—'मेरे मन का विनोद करने के लिए गोमुख ने ठीक ही कहा; क्योंकि स्नेही व्यक्ति विरह के दुःख में क्या धन्यवाद देता है ? ॥२०६-२०७॥

आत्मीय जनों को वियोगावस्था में अपने व्यक्ति को धीरज ही देना चाहिए। उसके आगे भगवान् कामदेव ही जानें' ॥२०८॥

इस प्रकार की बातें और अपने साथियों से विविध प्रकार की चर्चाएँ करते हुए नरवाहनदत्त ने वह रात्रि किसी प्रकार व्यतीत की ॥२०९॥

नरवाहनदत्त और अलंकारवती का विवाह

रात्रि व्यतीत होने के पश्चात् प्रातः काल उठकर और प्रातःकालीन आवश्यक क्रियाओं को समाप्त करके नरवाहनदत्त ने आकाश से उतरती हुई कांचनप्रभा विद्याधरी को देखा ॥२१०॥

वह अपने पति अलंकारशील, पुत्र धर्मशील और कन्या अलंकारवती के साथ थी ॥२११॥

वे सब उतरकर नरवाहनदत्त के समीप आये और उसने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया ॥२१२॥

तावच्च हेमरत्नादिभारवाहाः सहस्रशः।
अन्येऽप्यवतरन्ति स्म तत्र विद्याधरा दिवः ॥२१३॥

विज्ञायैतं च वृत्तान्तं वत्सराजः समन्त्रिकः।
सपत्नीकश्च तत्रागात्तनयोत्कर्षहर्षितः ॥२१४॥

यथार्हविहितातिथ्ये तस्मिन्वत्सेश्वरेऽथ सः।
राजालङ्कारशीलस्तमुवाच प्रणयानतः ॥२१५॥

राजन्नलङ्कारवती कन्येयं तनया मम।
जातैव चैषा व्यादिष्टा गगनोद्गतया गिरा ॥२१६॥

नरवाहनदत्तस्य भार्यामुष्य सुतस्य ते।
सर्वविद्याधरेन्द्राणां भाविनश्चक्रवर्त्तिनः ॥२१७॥

तदेतस्मै ददाम्येनां लग्नो ह्यद्यानयोः शुभः।
एतदर्थं मिलित्वाहमेतैः सर्वैरिहागतः ॥२१८॥

एतद्विद्याधरेन्द्रस्य तस्य वत्सेश्वरो वचः।
महाननुग्रह इति ब्रुवन्नभिननन्द सः ॥२१९॥

अथ निजविद्याविभवात्पाणितलोत्पादितेन तोयेन।
अभ्युक्षति स्म सोऽङ्गनभूमिं विद्याधराधीशः ॥२२०॥

तत्रोत्पेदे वेदी कनकमयी दिव्यवस्त्रसंछन्ना।
नानारत्नमयं चाप्यकृत्रिमं कौतुकागारम् ॥२२१॥

उत्तिष्ठ लग्नवेला प्राप्ता स्नाहीत्युवाच तदनुक्ती।
तं नरवाहनदत्तं राजालङ्कारशीलोऽसौ ॥२२२॥

स्नाताय कौतुकभृते वेदीमानीय धृतवधूवेषाम्।
हृष्टोऽलङ्कारवतीं स ददौ मनसात्मजां तस्मै ॥२२३॥

मणिकनकवस्त्रभूषणभारसहस्राणि दिव्यनारीश्च।
अग्नौ लाजविसर्गेष्वददाच्च स सात्मजो दुहितुः ॥२२४॥

निर्वृत्ते च विवाहे सर्वान्सिम्मान्य तदनु चामन्त्र्य।
सह पत्न्या पुत्रेण च नभसैव यथागतं स ययौ ॥२२५॥

अथ वीक्ष्य तथोपचर्यमाणं प्रणतैः खेचरराजभिस्तनूजम्।
उदयोन्मुखमत्र वत्सराजो मुदितस्तं चिरमुत्सवं ततान ॥२२६॥

इतने में ही सोने और रत्नों के भार उठाए हुए हजारों दूसरे विद्याधर भी आकाश से उतरे ॥२१३॥

यह सब समाचार जानकर राजा उदयन, मन्त्रियों और महारानियों के साथ, वहाँ आया और पुत्र की उन्नति से अत्यन्त हर्षित हुआ ॥२१४॥

वत्सेश्वर द्वारा यथोचित आतिथ्य-सत्कार आदि करने पर स्नेह से झुके हुए राजा अलंकारशील ने वत्सराज उदयन से कहा—॥२१५॥

'हे राजन्, यह अलंकारवती नाम की मेरी कन्या है। जिसके उत्पन्न होते ही आकाश-वाणी ने आदेश दिया था कि 'यह तुम्हारे पुत्र और विद्याधरों के भावी चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त की पत्नी बनेगी' ॥२१६–२१७॥

अतः, मैं इसे नरवाहनदत्त के लिए देता हूँ। आज इन दोनों (वर-वधू) का शुभ लग्न है। इसलिए, मैं अपने परिवार के साथ यहाँ आया हूँ ॥२१८॥

वत्सेश्वर उदयन ने विद्याधरों के राजा अलंकारशील की इन बातों को सुनकर 'यह आपकी बड़ी कृपा है', ऐसा कहते हुए उसकी बातों का अभिनन्दन किया ॥२१९॥

तदनन्तर, अपनी विद्या के प्रभाव से उत्पन्न किये जल से उस विद्याधरराज ने, आँगन की भूमि को सींचा और वहाँ पर दिव्य वस्त्र से ढकी हुई सोने की वेदी निकल आई। और वह आँगन, विविध प्रकार के रत्नों से जड़ा हुआ एक (स्वाभाविक) कौतुकागार-सा बन गया ॥२२०–२२१॥

तब राजा अलंकारशील ने नरवाहनदत्त से कहा—'उठो, लग्न का समय हो गया।' तदनन्तर स्नान किये हुए तथा मंगलमय विवाह-वेष धारण किये हुए नरवाहनदत्त को वेदी में लाकर, प्रसन्न अलंकारशील ने, अपनी कन्या उसे प्रदान की ॥२२२–२२३॥

लाजा-हवन के समय पुत्र-सहित अलंकारशील ने अलंकारवती के साथ मणि, रत्न, सोना, वस्त्र, भूषण आदि के हजारों भार और अनेक दिव्य नारियाँ (दासियाँ) दीं ॥२२४॥

विवाह-कार्य सम्पन्न होने पर, अन्य सभी सम्बन्धियों को सम्मानित करके और उनसे आ ा लेकर अलंकारशील अपनी पत्नी और पुत्र के साथ, जैसे आया था, उसी प्रकार (आकाश-मार्ग) से चला गया ॥२२५॥

तदनन्तर, नम्र होते हुए विद्याधर-राजाओं से सम्मानित किये जाते हुए पुत्र नरवाहनदत्त की उन्नति को देखकर अत्यन्त प्रसन्न राजा उदयन ने, बहुत काल तक विवाह-उत्सव मनाया ॥२२६॥

स च नरवाहनदत्तः सद्वृत्तमनोरमामुदारगुणाम्।
प्राप्यालङ्कारवतीं वाणीमिव सुकविरास्त तद्रसिकः ॥२२७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
अलङ्कारवती लम्बके प्रथमस्तरङ्ग।

द्वितीयस्तरङ्गः

नरवाहनवसस्यालङ्कारवतीगृहे गमनम्

ततोऽलङ्कारवत्या स युक्तो वत्सेश्वरात्मजः।
नरवाहनदत्तोऽत्र नववध्वा पितुर्गृहे ॥१॥
तच्चेटिकानां दिव्येन नृत्यगीतेन रञ्जितः।
आपानं सेवमानश्च सचिवैः सह तस्थिवान् ॥२॥
एकदा च तमागत्य सा श्वश्रूः काञ्चनप्रभा।
अलङ्कारवतीमाता विहितातिथ्यमब्रवीत् ॥३॥
आगच्छास्मद्गृहं पश्य तत्सुन्दरपुरं पुरम्।
रमस्व तत्रोपवनेष्वलङ्कारवतीयुतः ॥४॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा पितुरावेद्य तद्गिरा।
वसन्तकं सहादाय वध्वा सह समन्त्रिकः ॥५॥
श्वश्र्वा विद्याप्रभावेण तयैव स विनिर्मितम्।
विमानवरमारुह्य प्रतस्थे व्योमवर्त्मना ॥६॥
विमानस्थश्च गगनात् सोऽधस्तात् प्रविलोकयन्।
स्थलीपरिमितां पृथ्वीं समुद्रान् परिखालघून् ॥७॥
. . . .
. . . . ॥८॥[1]
श्वश्रूभार्यादिभिः साकं क्रमात् प्राप हिमाचलम्।
नादितं किन्नरीगीतैः स्ववर्वधूसङ्घसुन्दरम् ॥९॥
तत्राश्चर्याणि सुबहून्येष पश्यन्नवाप्तवान्।
नरवाहनदत्तोऽथ तत्सुन्दरपुरं युवा ॥१०॥

---

१. मूलपुस्तके श्लोकोऽयं त्रुटितः।

वह नरवाहनदत्त भी सदाचार से मनोहर और उदार गुणोंवाली अलंकारवती को प्राप्त कर उसी प्रकार प्रसन्न हुआ, जिस प्रकार अच्छे छन्दोंवाली और उदार गुणोंवाली कविता को पाकर रसिक सुकवि प्रसन्न होता है ॥२२७॥

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के
अलंकारवती लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त

द्वितीय तरंग

नरवाहनदत्त का अलंकारवती के घर जाना

तदनन्तर, वह वत्सेश्वर का पुत्र नरवाहनदत्त, कौशाम्बी नगरी में, पिता के घर पर, नई वधू अलंकारवती के साथ रहने लगा ॥१॥

वह वहाँ रहकर दहेज में प्राप्त अलंकारवती की दासियों के साथ नाच-गान आदि से मनोविनोद करता हुआ तथा अपने साथी मन्त्रियों के साथ मद्य-सेवन करता हुआ समय व्यतीत करता था ॥२॥

एक बार, अलंकारवती की माता कांचनप्रभा, नरवाहनदत्त के पास आई और उसके उचित स्वागत कर लेने पर, उससे बोली—॥३॥

'बेटा, तुम हमारे घर सुन्दरपुर आओ और उस नगर के उद्यानों में अलंकारवती के साथ विचरण करो' ॥४॥

यह सुनकर, वहाँ जाना स्वीकार करके और उसी की बात को पिता से निवेदन करके, पिता के नर्म-सचिव वसन्तक तथा अन्य मन्त्रियों एवं वधू अलंकारवती के साथ नरवाहनदत्त, सास द्वारा विद्या के प्रभाव से निर्मित विमान पर सवार होकर आकाश-मार्ग से सुन्दरपुर को गया ॥५-६॥

विमान पर चढ़ा हुआ वह नरवाहनदत्त, नीचे की एक पृथ्वी को एक स्थली के समान और समुद्रों को खाइयों के समान लघु रूप में देखता हुआ सास और साथियों के साथ क्रमशः हिमालय पर्वत पर पहुँचा ॥७॥

आठवाँ श्लोक मूल पुस्तक में ही त्रुटित है ॥८॥

किन्नरों के गीतों और स्वर्गीय रमणियों के स्वर-संगीतों से मुखरित वह हिमालय पर्वत उसे अत्यन्त सुन्दर लग रहा था ॥९॥

उस पर्वत पर अनेक आश्चर्यों को देखता हुआ वह युवा नरवाहनदत्त अपने श्वशुर की राजधानी सुन्दरपुर पहुँचा ॥१०॥

सौवर्णे रत्ननिचितैः प्रासादैर्हिमवत्यपि।
सुमेरुशिखरभ्रान्ति कुर्वद्भिरुपशोभितम् ॥११॥
व्योमावतीर्णश्चोत्तीर्य विमानात् प्रविवेश तत्।
सानाथ्यदर्शनान्नृत्यदिव लोलैर्ध्वजांशुकैः ॥१२॥
प्रविशद्राजधानीं च स श्वश्वा कृतमङ्गलः।
अलङ्कारवतीयुक्तः सवयस्यवसन्तकः ॥१३॥
तत्र तं दिवसं दिव्यैर्भोगैः श्वश्रूप्रभावजैः।
उवास सुकृती स्वर्ग इव श्वशुरवेश्मनि ॥१४॥
अन्येद्युस्तं च सा श्वश्रूरवोचत् काञ्चनप्रभा।
अस्ति स्वयम्भूर्भगवान् नगरेऽस्मिन्नुमापतिः ॥१५॥
स दृष्टपूजितो भोगं मोक्षं चैव प्रयच्छति।
अलङ्कारवतीपित्रा तत्रोद्यानं कृतं महत् ॥१६॥
तीर्थं गङ्गासरःसंज्ञमन्वर्थं चावतारितम्।
तं तत्रार्चयितुं देवं विहर्तुं चाद्य गच्छत ॥१७॥
एवं श्वश्र्वा तयोक्तस्तु शार्वोद्यानं सहानुगः।
नरवाहनदत्तोऽगादलङ्कारवतीसखः ॥१८॥
तरुभिः काञ्चनस्कन्धै रत्नशाखामनोरमैः।
मुक्तागुच्छाच्छकुसुमैः कान्तं विद्रुमपल्लवैः ॥१९॥
तत्र गङ्गासरःस्नातः पूजितोमापतिश्च सः।
बभ्राम रत्नसोपाना वापीः काञ्चनपङ्कजाः ॥२०॥
तासां तीरेषु हृद्येषु कल्पवल्लीगृहेषु च।
सहालङ्कारवत्या स विजहारानुगान्वितः ॥२१॥
दिव्यैरापानसङ्गीतैः परिहासैश्च पेशलैः।
मरुभूत्यार्जवकृतै रमते स्म च तेषु सः ॥२२॥
मासमात्रमुवासैवं क्रीडन्नुद्यानभूमिषु।
नरवाहनदत्तोऽत्र श्वश्रूविद्याविभूतिभिः ॥२३॥
ततो देवोचितैर्वस्त्रैरलङ्कारैश्च पूजितः।
सवधूकः सहामात्यः काञ्चनप्रभया तया ॥२४॥
आययौ स विमानेन तेनैव सह सानुगः।
कौशाम्बीं सहितो वध्वा पित्रोर्दत्तेक्षणोत्सवः ॥२५॥

वह सुन्दरपुर रत्नों से जड़े हुए सोने के महलों से हिमालय में भी सुमेरु पर्वत की भ्रान्ति उत्पन्न कर रहा था ॥११॥

आकाश से उतरकर और विमान से बाहर निकलकर वह उस नगर में प्रविष्ट हुआ, उसके आगमन पर हिलती हुई ध्वजाओं से मानों सुन्दरपुर नगर, अपने स्वामी को प्राप्त कर प्रसन्नता प्रकट कर रहा था ॥१२॥

तदनन्तर, सास द्वारा मंगलाचार किये जाने पर, नरवाहनदत्त अपने मित्र, वसन्तक और बहू अलंकारवती के साथ राजभवन में गया ॥१३॥

वहाँ पर सास द्वारा विद्या के प्रभाव से प्राप्त किये गये दिव्य भोगों को भोगता हुआ वह स्वर्ग में इन्द्र के समान रहने लगा ॥१४॥

किसी दिन, उसकी सास, कांचनप्रभा ने उससे कहा—'इस नगर में स्वयंभू भगवान् उमापति शिव का मन्दिर है ॥१५॥

उसके दर्शन और पूजन से भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त हो सकते हैं। अलंकारवती के पिता ने वहाँ एक विशाल उद्यान बनाया है ॥१६॥

और, यथार्थ नामवाला गंगासर नाम का तीर्थ भी बनाया है। आज वहाँ उनका दर्शन और विहार करने चलो'॥१७॥

सास के इस प्रकार कहने पर नरवाहनदत्त अपने साथियों और अलंकारवती के साथ वहाँ गया ॥१८॥

वह स्थान, सोने की प्रधान शाखाओंवाले, रत्नों की छोटी डालियोंवाले और लटकते हुए मोतियों के गुच्छों से सुशोभित वृक्षों से युक्त था ॥१९॥

वहाँ पर गंगासर में स्नान और शिव का पूजन कर लेने के उपरान्त नरवाहनदत्त रत्नों की सीढ़ियोंवाली और सोने के कमलों से शोभित बावलियों में भ्रमण करने लगा ॥२०॥

उन बावलियों के रमणीय किनारों पर भ्रमण करता हुआ वह, कल्पलता-गृहों में अलंकार-वती और साथियों के साथ विहार करने लगा ॥२१॥

दिव्य मद्यपान, संगीत, गोष्ठी और मरुभूति द्वारा किये जाते हुए सुन्दर हास-विलासों से, वह वहाँ अपना मनोरंजन कर रहा था ॥२२॥

इस प्रकार, सास की विद्या के प्रभाव से आनन्द लेते और उद्यान-भूमि में विहार करते हुए, नरवाहनदत्त ने, वहाँ एक मास व्यतीत किया ॥२३॥

तदनन्तर, उस कांचनप्रभा द्वारा, दिव्य वस्त्रों एवं आभूषणों से सत्कृत नरवाहनदत्त, अपनी वधू, मन्त्री और कांचनप्रभा के साथ उसी विमान द्वारा कौशाम्बी नगरी को लौट आया और उसने अपने माता, पिता की आँखों को आनन्दित किया ॥२४-२५॥

तत्र वासवदत्ताया वत्सराजस्य चाग्रतः।
अलङ्कारवतीमाह माता सा काञ्चनप्रभा॥२६॥
दुःखं स्थाप्यस्त्वया भर्त्ता नेर्ष्याकोपेन जातुचित्।
तत्पापजो हि विरहः पुत्रि गाढानुतापकृत्॥२७॥
ईर्ष्यावत्या मया पूर्वं दुःखं यत्स्थापितः पतिः।
ततोऽद्य पश्चात्तापेन दह्ये तस्मिन् गते वनम्॥२८॥
इत्युक्त्वा तां समाश्लिष्य बाष्पसंरुद्धनेत्रया।
काञ्चनप्रभया जग्मे खमुत्पत्य निजं पुरम्॥२९॥
ततस्तस्मिन् दिने याते प्रातः कृत्वोचिताः क्रियाः।
नरवाहनदत्तोऽत्र स्थिते स्वसचिवान्विते॥३०॥
अलङ्कारवतीपार्श्वं प्रविश्यैव विलासिनी।
एकाब्रवीद् भीतभीता देवि स्त्रीं रक्ष रक्ष माम्॥३१॥

अशोकमालायाः कथा

एष हि ब्राह्मणो हन्तुमागतो मां बहिःस्थितः।
एतद्भयात् प्रविष्टाहं पलाय्य शरणैषिणी॥३२॥
मा भैषीर्ब्रूहि वृत्तान्तं कोऽयं किं त्वां जिघांसति।
इति पृष्ट्वा च सा वक्तुं भूय एव प्रचक्रमे॥३३॥
अशोकमाला नामाहमस्यामेव पुरि प्रभो।
बलसेनाभिधानस्य क्षत्रियस्यात्मसम्भवा॥३४॥
साहं कन्या सती पूर्वं रूपलुब्धेन याचिता।
हठशर्माभिधानेन विप्रेणार्थवता पितुः॥३५॥
नाहं दुराकृतिं घोरमुखमिच्छाम्यमुं पतिम्।
दत्ता नासे गृहेऽस्येति पितरं चाहमब्रवम्॥३६॥
तच्छ्रुत्वाप्यकरोत्तावद्धठशर्मा गृहे पितुः।
प्रायं यावदहं दत्ता तेनास्मै वधभीरुणा॥३७॥
ततो विवाह्यानिच्छन्तीमप्यनैषीत् स मां द्विजः।
अहं गता च तं त्यक्त्वैवान्यं क्षत्रियपुत्रकम्॥३८॥
सोऽभिभूतोऽर्थसन्दर्पाद्यत्तेन हठशर्मणा।
तद्द्वितीयो मया क्षत्रकुमारो धनवाञ्छितः॥३९॥

कौशाम्बी पहुँचने पर वासवदत्ता और वत्सराज उदयन के सामने, माता कांचनप्रभा ने, पुत्री अलंकारवती से कहा—॥२६॥

'बेटी, ईर्ष्या और क्रोध से तुम अपने स्वामी को कभी कष्ट न देना। इस पाप से होनेवाला वियोग गम्भीर दुःख और पश्चात्ताप का कारण होता है ॥२७॥

मैंने अपने यौवन-काल में ईर्ष्या के कारण पति को कष्ट दिया था, इसी कारण आज उनके वन में चले जाने पर पश्चात्ताप और वियोग से जल रही हूँ' ॥२८॥

पुत्री को इस प्रकार की शिक्षा देकर आँसुओं से भरी आँखोंवाली कांचनप्रभा अलंकारवती का आलिंगन करके और आकाश में उड़कर अपनी नगरी को चली गई ॥२९॥

तदनन्तर, प्रातःकालोचित क्रिया (स्नानादि) करके नरवाहनदत्त के मन्त्रियों के साथ बैठे रहने पर एक भयभीता और विलासिनी स्त्री, अलंकारवती के पास आकर कहने लगी—'मेरी रक्षा करो, रक्षा करो' ॥३०-३१॥

अशोकमाला की कथा

'यह ब्राह्मण मुझे मारने के लिए बाहर खड़ा है। उसके भय से मैं शरणार्थिनी होकर आपके पास आई हूँ' ॥३२॥

'डरो मत' अपना हाल बताओ कि वह कौन है और तुम्हें क्यों मारना चाहता है?' अलंकारवती के इस प्रकार पूछने पर उसने फिर कहना प्रारम्भ किया—॥३३॥

"हे स्वामिन्, मेरा नाम अशोकमाला है। मैं इस नगरी में बलसेन नामक क्षत्रिय से उत्पन्न हुई हूँ ॥३४॥

जब मैं कुमारी थी, तभी मेरे रूप के लोभी हठशर्मा नामक धनी ब्राह्मण ने, मुझे मेरे पिता से माँग लिया था ॥३५॥

'मैं इस बुरी और भीषण आकृतिवाले पुरुष को अपना पति न बनाऊँगी और पिता के दे देने पर भी मैं इसके घर न रहूँगी'—ऐसा मैंने अपने पिता से कहा ॥३६॥

यह सुनकर हठशर्मा ने मेरे पिता के घर पर अनशन प्रारम्भ कर दिया। तब ब्रह्महत्या के भय से मेरे पिता ने मुझे उसे दे दिया ॥३७॥

तदनन्तर, मुझे विवाहित करके, मेरे न चाहने पर भी हठशर्मा, मुझे बलात् अपने घर ले गया तब मैंने उसे छोड़कर एक क्षत्रियकुमार का आश्रय लिया ॥३८॥

हठशर्मा ने अपने धन के मद से उसकी दुर्गति की तो मैं उसे भी छोड़कर दूसरे क्षत्रियकुमार के पास चली गई ॥३९॥

तस्य तेनाग्निना रात्रौ गत्वैवोद्दीपितं गृहम्।
ततस्तेन विमुक्ताहं तृतीयं क्षत्रियं गता ॥४०॥
तस्याप्यादीपितं तेन निशि वेश्म द्विजन्मना।
ततस्तेनाप्यहं त्यक्ता सम्प्राप्ता कान्दिशीकताम् ॥४१॥
जम्बुकादविकेवाथ बिभ्यती हन्तुकामतः।
हठशर्मद्विजात्तस्मात् पदात् पदममुञ्चतः ॥४२॥
इहैव युष्मद्भृत्यस्य बलिनो वीरशर्मणः।
राजपुत्रस्य दासी त्वं शरण्यस्याहमाश्रयम् ॥४३॥
तद्बुध्वा मयि नैराश्यविधुरो विरहातुरः।
त्वगस्थिशेषः संवृत्तो हठशर्मा स दुर्मतिः ॥४४॥
मद्रक्षार्थं प्रवृत्तश्च बन्धनायेह तस्य सः।
राजपुत्रो मया देवि वीरशर्मा निवारितः ॥४५॥
अद्य मां निर्गतां दैवाद्दृष्ट्वाकृष्टकृपाणिकः।
हठशर्मा स हन्तुं मामितो यावत् प्रधावितः ॥४६॥
तेनागता पलाय्येह प्रतीहार्या दयार्द्रया।
मुक्तद्वारा प्रविष्टोऽहं स च जाने स्थितो बहिः ॥४७॥
इत्युक्तवत्यां तस्यां च हठशर्माणमात्मनः।
नरवाहनदत्तस्तमग्रमानाययद्द्विजम् ॥४८॥
क्रोधादशोकमालां तां पश्यन्तं दीप्तया दृशा।
विकृतं क्षुरिकाहस्तं कोपकम्पाङ्गसन्धिकम् ॥४९॥
उवाच चैनं कुब्रह्मन् स्त्रियं हंसि दहस्यपि।
तदर्थं परवेश्मानि किमर्थं पापकार्यसि ॥५०॥
तच्छ्रुत्वा स द्विजोऽवादीद्धर्मदारा इयं मम।
त्यक्त्वा मां चान्यतो याता सहेय तदहं कथम् ॥५१॥
इत्युक्ते तेन विग्ना साऽशोकमाला तदाब्रवीत्।
भो लोकपाला ब्रूतैतत् किं न युष्मासु साक्षिषु ॥५२॥
अनिच्छन्ती हठान्नीता विवाह्याहमिहामुना।
किं तदा च मया नोक्तं नासिष्ये ते गृहेष्विति ॥५३॥
एवमुक्ते तया तत्र दिव्या वागेवमभ्यधात्।
यथैवाशोकमालेयं वक्ति सत्यं तथैव तत् ॥५४॥

तब हठशर्मा ने, धन के मद में आकर उसके घर में भी एक रात्रि को आग लगा दी। उसके बाद मैंने दूसरे धनी क्षत्रियकुमार का आश्रय लिया ॥४०॥

तत्पश्चात् हठशर्मा ने आग लगाकर उसका घर भी फूँक डाला। तब उसने भी मुझे छोड़ दिया और मैं मारी-मारी फिरने लगी ॥४१॥

सियार से डरती हुई भेंड़ के समान मुझे मारने की इच्छा से मेरा पीछा करते हुए हठशर्मा से मैं दूर-दूर भागती रही ॥४२॥

तब भागते-भागते मैंने इसी राजभवन में शरणागतों की रक्षा करनेवाले आपके बलवान् सेवक वीरशर्मा का आश्रय लिया और उसकी दासी होना स्वीकार किया ॥४३॥

यह जानकर निराशा से पागल और विरह से व्याकुल हठशर्मा के शरीर में केवल हाड़-मांस ही शेष रह गया ॥४४॥

उसके यहाँ आने पर मेरी रक्षा के लिए हठशर्मा को बाँधने को उद्यत वीरशर्मा को मैंने मना कर दिया ॥४५॥

आज अकस्मात् मुझे बाहर निकली हुई देखकर हठशर्मा छुरा लेकर मुझे मारने के लिए दौड़ा ॥४६॥

इसलिए, भागती हुई मैं यहाँ आई हूँ। दयालु प्रतीहारी ने, मेरे लिए दरवाजा खोल दिया और मैं आपके समीप आई, मैं समझती हूँ, अभी वह बाहर खड़ा है ॥४७॥"

उसके ऐसा कहने पर नरवाहनदत्त ने उस ब्राह्मण हठशर्मा को अपने सामने बुलवाया ॥४८॥

क्रोध के कारण लाल आँखों से आलोकमाला को देखते हुए, क्रोध से काँपते हुए अंगोंवाले और हाथ में छुरा लिये हुए उस भीषण आकृतिवाले हठशर्मा से नरवाहनदत्त ने कहा—॥४९॥

'हे दुष्ट ब्राह्मण ! स्त्री को क्यों मारते हो और उसके लिए दूसरों के घरों में आग क्यों लगाते फिरते हो ? तुम ऐसा पाप कार्य क्यों कर रहे हो?'॥५०॥

यह सुनकर वह ब्राह्मण कहने लगा–'यह मेरी धर्मपत्नी है और मुझे त्याग कर दूसरों के पास चली गई, तो भला मैं कैसे सहन कर सकता'? ॥५१॥

उसके ऐसा कहने पर घबराई हुई अशोकमाला बोली–'हे लोकपालो, यह तुम्हीं कहो कि क्या तुम्हारी साक्षिता में इस ब्राह्मण ने मुझे हठपूर्वक विवाहित नहीं किया ? और, क्या मेरे न चाहते हुए भी यह मुझे बलात् नहीं ले गया ? क्या उस समय मैंने यह नहीं कहा था कि मैं तेरे घर न रहूँगी ?' ॥५२-५३॥

अशोकमाला के इस प्रकार कहने पर दिव्यवाणी हुई—'यह अशोकमाला जो कहती है, वह सच है' ॥५४॥

न चैषा मानुषी तत्त्वमेतदीयं निशम्यताम्।
अस्त्यशोककरो नाम धीरो विद्याधरेश्वरः ॥५५॥
तस्यापुत्रस्य चैकैव दैवादजनि कन्यका।
अशोकमाला नाम्ना सावर्धतास्य पितुर्गृहे ॥५६॥
यौवनस्था च सा तेन दीयमानान्वयार्थिना।
न कञ्चिदैच्छद् भर्त्तारमतिरूपाभिमानतः ॥५७॥
तेन शापमदात् सोऽस्यै निर्बन्धकुपितः पिता।
मानुष्यं व्रज नामाऽत्र भविता च स्वमेव ते ॥५८॥
परिणेष्यति चात्र त्वां विरूपो ब्राह्मणो हठात्।
तं त्यक्त्वा तद्भयाद् भर्त्तॄन् क्रमेण त्रीनुपैष्यसि ॥५९॥
ततोऽप्युपद्रुता तेन दासीत्वेनाश्रयिष्यसि।
राजपुत्रं बलीयांसं न चैव स निवर्त्स्यति ॥६०॥
दृष्ट्वा च धाविते तस्मिन् हन्तुकामे पलायिता।
प्रविष्टा राजभवनं शापादस्माद्विमोक्ष्यसे ॥६१॥
एवं याशोकमाला सा पित्रा विद्याधरी पुरा।
शप्ता तेनैव नाम्नाद्य सैषा जाताऽत्र मानुषी ॥६२॥
जातश्च सैष शापान्तोऽमुष्या गत्वाधुना पदम्।
वैद्याधरं स्वं तत्रस्था प्रवेक्ष्यति निजां तनुम् ॥६३॥
ततोऽभिरचिताख्येन विद्याधरमहीभुजा।
वृतेन भर्त्रा सहिता शापं संस्मृत्य रंस्यते ॥६४॥
इत्युक्त्वा विरतं वाचा दिव्यया सापि तत्क्षणम्।
अशोकमाला सहसा गतजीवापतद् भुवि ॥६५॥
दृष्ट्वा च तदलङ्कारवती बाष्पायितेक्षणा।
नरवाहनदत्तश्च तत्पार्श्वस्थौ बभूवतुः ॥६६॥
स तु दुःखजितामर्षो रागान्धो विलपन्नपि।
अकस्माद्धठशर्माऽभूद्धर्षोत्फुल्लाननो द्विजः ॥६७॥
किमेतदिति पृष्टश्च सर्वैर्विप्रो जगाद सः।
मया जन्म स्मृतं पूर्वं तच्च वच्मि निशम्यताम् ॥६८॥

यह मानुषी नहीं है। इसका तत्त्व सुनो। अशोककर नाम का विद्याधरों का वीर राजा है।। ।।५५।।

उस पुत्रहीन राजा के यहाँ दैवयोग से यह एक ही कन्या हुई और अशोकमाला के नाम से पिता के घर पर ही यह बड़ी हुई।।५६।।

यौवनप्राप्त इस कन्या ने, अपने रूप के घमंड में प्रार्थना करने पर भी किसी को पति नहीं माना ।।५७।।

• इसके इस हठ से क्रुद्ध होकर पिता ने इसे शाप दिया कि तू मनुष्य-योनि में जा। उस योनि में भी तेरा यही नाम होगा ।।५८।।

मर्त्यलोक में कुरूप ब्राह्मण तुझसे विवाह करेगा। तू उसे छोड़कर उसके भय से अन्यान्य तीन पतियों के पास जायगी ।।५९।।

वहाँ से भी भागकर एक बलवान् राजपूत के पास जायगी। वह तुझे रख लेगा। किन्तु, वहाँ पर तुझे देखकर तेरा पति जब मारने के लिए दौड़ेगा, तब तू राजभवन में घुसकर इस शाप से मुक्त हो जायगी ।।६०-६१।।

इस प्रकार, पूर्वजन्म में जो अशोकमाला नाम की विद्याधरी थी, वही अब पिता के शाप से मानुषी बनी है।।६२।।

अब उसके शाप का अन्त हो गया है और अब वह विद्याधर-लोक में जाकर फिर अपना विद्याधर-शरीर प्राप्त करेगी ।।६३।।

तब, वह अभिरुचि नामक विद्याधर-राजा से विवाहित होकर और अपने शाप का स्मरण करके आनन्दोपभोग करेगी' ।।६४।।

ऐसा कहकर दिव्यवाणी मौन हो गई और वह अशोकमाला भी प्राणहीन होकर भूमि पर गिर पड़ी ।।६५।।

उसे इस प्रकार देखकर अलंकारवती और नरवाहनदत्त दोनों की आँखें भर आईं।।६६।।

बड़ी कठिनाई से अपने क्रोध को शान्त करता हुआ प्रेम से अन्धा और विलाप करता हुआ भी हठशर्मा अकस्मात् हर्ष से खिल उठा ।।६७।।

यह, क्या बात है, इस प्रकार सब से पूछा गया वह ब्राह्मण बोला कि 'मैंने भी अपने पूर्वजन्म का स्मरण कर लिया है। सुनिए'—।।६८।।

स्थूलभुजविद्याधरस्य कथा

हिमाद्रावस्ति मदनपुरं नामोत्तमं पुरम्।
प्रलम्बभुज इत्यस्ति तत्र विद्याधरेश्वरः ॥६९॥
तस्योदपद्यत स्थूलभुजाख्यस्तनयः प्रभो।
स च राजसुतो भव्यो यौवनस्थोऽभवत् क्रमात् ॥७०॥
ततः सुरभिवत्साख्यो विद्याधरपतिः स्वयम्।
सकन्यो गृहमागत्य प्रलम्बभुजमाह तम् ॥७१॥
इयं सुरभिदत्ताख्या सुता त्वत्सूनवे मया।
दत्ता स्थूलभुजायाद्य गुणवान् स वहत्विमाम् ॥७२॥
तच्छ्रुत्वा प्रतिपद्यैव समाहूय स्वसूनवे।
स प्रलम्बभुजस्तस्मायेतमर्थं न्यवेदयत् ॥७३॥
ततः स तं स्थूलभुजो रूपदर्पात् सुतोऽब्रवीत्।
परिणेष्ये न तातैनां रूपेणैषा हि मध्यमा ॥७४॥
किं पुत्रात्यन्तरूपेण मान्या ह्येषा महान्वया।
पित्रा दत्ता मया चात्ता त्वत्कृते मान्यथा कृथाः ॥७५॥
इत्युक्तश्च पुनस्तेन पित्रा स्थूलभुजः स तत्।
नाकरोद्यत्ततस्तं स शशाप कुपितः पिता ॥७६॥
रूपाहङ्कारदोषेण मानुष्येऽवतरामुना।
भविष्यसि च तत्र त्वं विकृतो विकटाननः ॥७७॥
भार्यामशोकमालाख्यां प्राप्य शापच्युतां हठात्।
प्राप्तासि विरहक्लेशमनिच्छन्त्या तयोज्झितः ॥७८॥
तस्याश्चान्यप्रसक्तायाः कृते दुःखकृशीकृतः।
करिष्यस्यग्निदाहादि पातकं रागमोहितः ॥७९॥
इत्युक्तशापं रुदती तं प्रलम्बभुजं तदा।
साध्वी सुरभिदत्ता सा पादलग्ना व्यजिज्ञपत् ॥८०॥
देहि शापं ममाप्येवं समास्तु गतिरावयोः।
मा भून्मे भर्त्तुरेकस्य क्लेशो मदपराधतः ॥८१॥
एवमुक्तवतीं तुष्टः साध्वीं तां परिसान्त्वयन्।
स प्रलम्बभुजः सूनोरेवं शापान्तमभ्यधात् ॥८२॥

स्थूलभुज विद्याधर की कथा

"हिमालय पर्वत पर मदनपुर नाम का उत्तम नगर है। वहाँ प्रलम्बभुज नामक विद्याधरों का राजा है। उससे स्थूलभुज नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ यौवन-अवस्था को प्राप्त वह अति सुन्दर और भव्य आकृतिवाला हुआ ।।६९-७०।।

तदनन्तर, सुरभिवत्स नाम का विद्याधरों का स्वामी अपनी कन्या के साथ प्रलम्बभुज के घर पर जाकर बोला–'यह सुरभिदत्ता नाम की मेरी कन्या है। यह मैंने तुम्हारे पुत्र स्थूलभुज को प्रदान की है। अतः वह इसके साथ विवाह करे' ।।७१-७२।।

यह सुनकर और सम्बन्ध को स्वीकार करके प्रलम्बभुज ने अपने पुत्र स्थूलभुज को बुलाकर उससे यह बात कह दी ।।७३।।

तब वह स्थूलभुज रूप के घमंड में आकर बोला–'पिताजी,मैं इससे विवाह न करूँगा; क्योंकि यह रूप में मध्यम है' ।।७४।।

'बेटा, बहुत अच्छे रूप से क्या करना है ? उच्च वंश की यह कन्या मान्य है। पिता ने इसे दिया और मैंने तुम्हारे लिए ले लिया। अब तुम इधर-उधर न करो' ।।७५।।

पिता द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर भी स्थूलभुज ने उसकी बात न मानी, तो पिता ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया—।।७६।।

'अब तू अपने रूप के घमंड के दोष से मर्त्यलोक में उत्पन्न हो। मनुष्य-लोक में तू भयानक रूप और आकृतिवाला होगा ।।७७।।

तू शाप से च्युत अशोकमाला नाम की पत्नी को हठपूर्वक प्राप्त करेगा, वह तुझे न चाह कर छोड़ देगी। इससे तुझे वियोग-दुःख प्राप्त होगा। जब वह दूसरों से प्रेम करेगी, तब तू उसके वियोग-दुःख से अत्यन्त दुर्बल हो जायगा और प्रेम से मोहित होकर अग्निदाह आदि पाप करेगा' ।।७८–७९।।

पुत्र को इस प्रकार शाप देते हुए प्रलम्बभुज के चरणों में गिरकर रोती हुई सुरभिदत्ता कहने लगी—'मेरे अपराध से एकमात्र मेरे पति को ही शाप का दुःख न हो, अतः मेरे लिए भी आज्ञा कीजिए' ।।८०-८१।।

ऐसा कहती हुई उस साध्वी सुरभिदत्ता को धैर्य देते हुए प्रसन्न प्रलम्बभुज ने स्थूलभुज के शाप का इस प्रकार अन्त किया—।।८२।।

यदैवाशोकमालायाः शापमोक्षो भविष्यति।
तदैव जातिं स्मृत्वायं शापादस्माद् विमोक्ष्यते॥८३॥
प्राप्य च स्वतनुं शापं संस्मरन्निरहङ्कृतिः।
अचिरात्त्वां विवाह्येह त्वद्युक्तो भविता सुखी॥८४॥
इत्युक्ता तेन सा साध्वी कथञ्चिद्धृतिमादधे।
तं च जानीत मां स्थूलभुजं शापादिह च्युतम्॥८५॥
दृष्टं मया चाहङ्कारदोषाद्दुःखमिदं महत्।
पुंसामदृष्टे दृष्टे वा श्रेयोऽहङ्कारिणां कुतः॥८६॥
क्षीणो मे स च शापोऽद्येत्युक्त्वा मुक्त्वा च तां तनुम्।
हठशर्मा स सम्पेदे विद्याधरकुमारकः॥८७॥
अशोकमालादेहं च नीत्वा विद्याप्रभावतः।
अदृश्यमेव चिक्षेप गङ्गायामानृशंस्यतः॥८८॥
विद्याप्रभावानीतैश्च तत्तोयैरभितः क्षणात्।
अक्षालयदलङ्कारवतीवासगृहं स तत्॥८९॥
नरवाहनदत्तं च नत्वा तं भाविनं प्रभुम्।
स्वकार्यसिद्धये प्रायादुत्पत्य स नभस्ततः॥९०॥
विस्मितेष्वथ सर्वेषु प्रसङ्गादत्र गोमुखः।
अनङ्गरतिसम्बद्धामिमामकथयत् कथाम्॥९१॥

अनङ्गरतिकथा

अस्ति शूरपुरं नाम यथार्थं नगरं भुवि।
महावराह इत्यासीद्राजा तत्रातिदुर्मदः॥९२॥
गौर्याराधनतस्तस्य देव्यां पद्मरतौ सुता।
जज्ञेऽनङ्गरतिर्नाम भूपस्यानन्यसन्ततेः॥९३॥
कालेन यौवनारूढा सा च रूपाभिमानिनी।
नेच्छति स्म पतिं कञ्चिद्याचमानेषु राजसु॥९४॥
यः शूरो रूपवानेकं विज्ञानं वेत्ति शोभनम्।
तस्मै मयात्मा दातव्य इत्युवाच तु निश्चयात्॥९५॥
अथ तत्रcraftययुर्वीराश्चत्वारो दक्षिणापथात्।
तत्प्रेप्सवः श्रुतोदन्तास्तदीप्सितगुणान्विताः॥९६॥

'जब अशोकमाला का शाप-मोक्ष होगा, तभी यह भी जाति-स्मरण करके शाप से मुक्त हो जायगा ॥८३॥

और पुनः अपने विद्याधर-शरीर को प्राप्त कर शाप का स्मरण करते हुए अभिमान-रहित होकर शीघ्र ही तुझसे विवाह करेगा और तेरे साथ सुखपूर्वक रहेगा' ॥८४॥

प्रलम्बभुज के इस प्रकार कहने पर उस पतिव्रता ने किसी प्रकार धीरज धारण किया। अतः, आपलोग मुझे वही शापमुक्त स्थूलभुज समझें ॥८५॥

मैंने अभिमान के कारण यह दुःख प्राप्त किया। सच है, अभिमानी पुरुषों का जाने या अनजाने कल्याण कैसे हो सकता है? ॥८६॥

आज मेरा वह शाप समाप्त हुआ" ऐसा कहकर स्थूलभुज ने मानव-शरीर का त्याग कर दिव्य विद्याधरकुमार का रूप धारण किया ॥८७॥

और, अपनी विद्या के प्रभाव से अशोकमाला के शव को अदृश्य रूप से ही गंगा में प्रवाहित कर दिया तथा विद्या के प्रभाव से मँगाये गये गंगाजल से अलंकारवती के वास-भवन को धो दिया ॥८८-८९॥

एवं अपने भावी स्वामी नरवाहनदत्त को प्रणाम करके अपनी कार्य-सिद्धि के लिए आकाश में उड़ गया ॥९०॥

इस घटना के कारण वहाँ बैठे हुए सभी लोगों के आश्चर्य-चकित हो जाने पर गोमुख ने अनंगरति की कथा प्रारम्भ की ॥९१॥

अनंगरति की कथा

इसी पृथ्वी पर यथार्थ नामवाला शूरपुर नगर है। वहाँ महावराह नाम का अत्यन्त बलशाली राजा था ॥९२॥

सन्तानहीन उस राजा को पद्मरति नाम की रानी से अनंगसुन्दरी नाम की कन्या उत्पन्न हुई ॥९३॥

कालक्रम से युवावस्था में चढ़ी हुई रूपगर्विता अनंगरति ने अनेक राजाओं के माँगने पर भी किसी को पति बनाना स्वीकार नहीं किया ॥९४॥

और, दृढ़-निश्चय के साथ कहा कि जो शूर-वीर, रूपवान् तथा किसी विशेष विज्ञान का वेत्ता होगा, उसे ही मैं अपने को दूँगी ॥९५॥

कुछ समय के अनन्तर राजकुमारी का समाचार सुनकर उसकी इच्छा से विवाह करने के लिए दक्षिणापथ से चार वीर, राजा महावराह के पास आये ॥९६॥

द्वाःस्थैरावेदितांस्तांश्च प्रविष्टान् पृच्छति स्म सः।
महावराहो नृपतिरनङ्गरतिसन्निधौ ॥९७॥
नाम किं कस्य युष्माकं जातिर्विज्ञानमेव च।
एतद्राजवचः श्रुत्वा तेष्वेकस्तं व्यजिज्ञपत् ॥९८॥
पञ्चपट्टिकनामाहं शूद्रो विज्ञानमस्ति मे।
वयामि प्रत्यहं पञ्च पट्टिकायुगलानि यत् ॥९९॥
तेभ्य एकं प्रयच्छामि ब्राह्मणाय ददामि च।
द्वितीयं परमेशाय तृतीयं च वसे स्वयम् ॥१००॥
चतुर्थं मे भवेद् भार्या यदि तस्यै ददामि तत्।
शरीरयात्रां विक्रीय पञ्चमेन करोम्यहम् ॥१०१॥
अथ द्वितीयोऽप्याचख्यावहं भाषाज्ञसंज्ञकः।
वैश्यो रुतं विजानामि सर्वेषां मृगपक्षिणाम् ॥१०२॥
ततस्तृतीयोऽप्यवददहं खड्गधराभिधः।
क्षत्रियः खड्गयुद्धेन जीये नान्येन केनचित् ॥१०३॥
चतुर्थश्चाब्रवीज्जीवदत्ताख्योऽहं द्विजोत्तमः।
गौरीप्रसादविद्याभ्यां जीवयामि मृतां स्त्रियम् ॥१०४॥
एवमुक्तवतां तेषां शूद्रविट्क्षत्रियास्त्रयः।
रूपं शौर्यं बलं चैव शशंसुः पृथगात्मनः ॥१०५॥
ब्राह्मणो रूपवर्जं तु बलवीर्यं शशंस सः।
ततो महावराहः स्वं क्षत्तारमवदन्नृपः ॥१०६॥
नीत्वा विश्रमयैतांस्त्वं सम्प्रति स्वगृहेऽखिलान्।
तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा क्षत्ता तानानयद्गृहम् ॥१०७॥
ततोऽब्रवीत् स राजा तामनङ्गरतिमात्मजाम्।
एषां चतुर्णां वीराणां पुत्रि कोऽभिमतस्तव ॥१०८॥
शूद्रश्च वायकश्चैकः क्रियते तस्य किं गुणैः।
वैश्यो द्वितीयः पक्ष्यादिरुतैर्ज्ञातैश्च तस्य किम् ॥१०९॥
श्रुत्वैतत्पितरं तं सा प्राहानङ्गरतिस्तदा।
चतुर्णामपि तातैषां न कोऽप्यभिमतो मम ॥११०॥
ताभ्यां कथमहं दद्यामात्मानं क्षत्रिया सती।
तृतीयस्तुल्यवर्णो मे भवति क्षत्रियो गुणी ॥१११॥
किं तु सेवोपजीवी स दरिद्रः प्राणविक्रयी।
पृथ्वीपतिसुता भूत्वा कथं स्यां तस्य गेहिनी ॥११२॥

द्वारपालों द्वारा सूचना पाकर अन्दर आये हुए उनसे राजा महावराह ने अनंगरति के सामने ही पूछा—॥९७॥

'तुम्हारा नाम क्या है, जाति क्या है और कौन-सा विशेष विज्ञान तुमलोग जानते हो ? राजा के प्रश्नों को सुनकर उनमें से एक ने कहा—॥९८॥

'मैं पंचपट्टिक नाम का शूद्र (जुलाहा) हूँ। बुनने का विज्ञान जानता हूँ और प्रतिदिन पाँच जोड़े कपडे बुनता हूँ ॥९९॥

उन पाँच जोड़ों में से एक ब्राह्मण को देता हूँ, दूसरा जोड़ा, ईश्वर को अर्पण करता हूँ, तीसरा स्वयं पहनता हूँ और चौथा जोड़ा, यदि मेरी पत्नी हो, तो उसे दूँ और पाँचवें जोड़े को बेचकर जीवन-निर्वाह करता हूँ ॥१००-१०१॥

तब दूसरा बोला–'मैं भाषाविज्ञानी वैश्य हूँ। सभी मृगों और पक्षियों की बोलियों को जानता हूँ' ॥१०२॥

तब तीसरा बोला–'मैं खड्गधर नाम का क्षत्रिय हूँ और खड्ग के अतिरिक्त मैं अन्य किसी वृत्ति से जीवन-निर्वाह नहीं करता' ॥१०३॥

तदनन्तर, चौथा बोला–'मैं जीवदत्त नाम का ब्राह्मण हूँ। पार्वती की कृपा और विद्या के प्रभाव से मरी हुई स्त्री को जिला देता हूँ' ॥१०४॥

ऐसा कहते हुए शूद्र, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ने अपने रूप, शौर्य और बल की अलग-अलग प्रशंसा की, किन्तु ब्राह्मण ने रूप को छोड़ केवल बल-वीर्य की बात कही। यह सुनकर राजा महावराह ने अपने क्षत्ता (प्रतीहार) से कहा कि तुम इन सब को अपने घर ले जाकर विश्राम कराओ। यह सुनकर 'जो आज्ञा' कहकर क्षत्ता उन्हें अपने घर ले गया ॥१०५—१०७॥

उनके चले जाने पर राजा ने अपनी कन्या अनंगरति से कहा 'बेटी, इन चारों वीरों में से तुम किसे चाहती हो ?' ॥१०८॥

यह सुनकर वह अनंगरति पिता से बोली–'पिता, इन चारों में से एक भी मुझे पसन्द नहीं है ॥१०९॥

इनमें एक शूद्र और जुलाहा है, इस गुण से क्या लाभ ? दूसरा, वैश्य पशुओं की बोलियाँ जानता है, उसके जानने से भी क्या लाभ ? मैं क्षत्रिया होकर अपने को वैश्य और शूद्र को कैसे दे दूँ ? तीसरा, मेरी समान जाति का क्षत्रिय गुणी तो है, किन्तु वह सेवा से जीवन व्यतीत करनेवाला, दरिद्र और प्राणों को बेचनेवाला है। मैं पृथ्वीपति की कन्या होकर उस सेवक की पत्नी कैसे बनूँ ॥११०–११२॥

चतुर्थो ब्राह्मणो जीवदत्तोऽप्यभिमतो न मे।
स विरूपो विकर्मस्थः पतितो वेदवर्जितः ॥११३॥
स ते दण्डयितुं युक्तः किं नु तस्मै ददासि माम्।
वर्णाश्रमाणां धर्मस्य राजा त्वं तात रक्षिता ॥११४॥
खड्गशूराच्च नृपतेर्धर्मशूरः प्रशस्यते।
खड्गशूरसहस्राणां धर्मशूरो भवेत् पतिः ॥११५॥
इत्याद्युक्तवतीमेतां सुतामन्तःपुरं निजम्।
विसृज्य च समुत्तस्थौ स्नानाद्यर्थं स भूपतिः ॥११६॥
द्वितीयेऽह्नि च ते वीरा गृहात् क्षत्तुर्विनिर्गताः।
बभ्रमुर्नगरे तत्र चत्वारोऽपि सकौतुकाः ॥११७॥
तावच्च पद्मकवलो नामात्र व्यालवारणः।
भग्नालानो जनं मथ्नन्शालाया निरगान्मदात् ॥११८॥
सोऽप्यधावच्च तान् दृष्ट्वा वीरान् हन्तुं महागजः।
ते चापि तस्याभिमुखं प्राधावन्नुद्यतायुधाः ॥११९॥
ततः खड्गधराख्यो यस्तन्मध्ये क्षत्रियः स तान्।
अन्यान्निवार्य त्रीनेको गजमभ्यापपात तम् ॥१२०॥
लुलाव च करं तस्य गर्जतोऽग्रप्रसारितम्।
एकेनापि प्रहारेण विकसन् दावहेलया ॥१२१॥
पादमध्ये च निर्गत्य दर्शयित्वा च लाघवम्।
प्रहारं प्रददौ पृष्ठे द्वितीयं तस्य दन्तिनः ॥१२२॥
तृतीयेन च विच्छेद तस्य पादावुभावपि।
ततो मुक्तारटिर्हस्ती[1] पपात च ममार च ॥१२३॥
तं दृष्ट्वा विक्रमं तस्य जनः सर्वो विसिस्मये।
राजा महावराहस्तद्बुध्वा चित्रीयते स्म च ॥१२४॥
अन्येद्युः स गजारूढो मृगयायै नृपो ययौ।
वीराः खड्गधराद्यास्ते चत्वारोऽपि तमन्वगुः ॥१२५॥
तत्र व्याघ्रमृगक्रोडान् ससैन्ये राज्ञि निघ्नति।
अधावन् कुपिताः सिंहाः श्रुतवारणबृंहिताः ॥१२६॥

---

१. चीत्कारं कुर्वन्नित्यर्थः।

चौथा, ब्राह्मण जीवदत्त भी मुझे पसन्द नहीं है। वह कुरूप, कर्महीन, वेदरहित और पतित है ॥११३॥

वह तो तुम्हारे लिए दंड देने योग्य है। हे पिता, तुम तो वर्णों और आश्रमों के रक्षक और धर्म के प्रतिपालक हो ॥११४॥

हे राजन्, खड्गशूर से धर्मशूर अधिक प्रशंसनीय है। हजारों खड्गशूरों का एक धर्मशूर स्वामी हो सकता है' ॥११५॥

इस प्रकार कहती हुई अपनी कन्या को निवास-स्थान के लिए विदा कर, राजा स्नान आदि के लिए उठ गया ॥११६॥

दूसरे दिन, वे चारों दक्षिणी वीर, क्षत्ता के घर से निकले और नगर देखने की इच्छा से भ्रमण करने लगे ॥११७॥

इसी बीच पद्मकवल नाम का मदोन्मत्त दुष्ट हाथी, सीकड़ तोड़कर जनता को रौंदता हुआ गजशाला से बाहर निकल आया ॥११८॥

उस हाथी ने, उन चारों वीरों को देखकर, उन पर आक्रमण कर दिया। वे भी अपने-अपने शस्त्रों को उठाकर हाथी की ओर दौड़ पड़े ॥११९॥

उन में से खड्गधर नामक क्षत्रिय वीर ने, और तीनों को हटाकर अकेले ही हाथी का सामना किया ॥१२०॥

और चिग्घाड़ते हुए हाथी की सूँड को उसने एक ही प्रहार से कमलनाल के समान काट दिया ॥१२१॥

और, पैंतरा दिखाकर उसके पैरों के नीचे से निकलकर उसकी पीठ पर दूसरा प्रहार किया ॥१२२॥

उसने, तीसरे प्रहार में, उसके पैर काट डाले, तो चिल्लाता हुआ हाथी भूमि पर गिर गया और मर गया ॥१२३॥

उसके इस पराक्रम को देखकर सभी लोग चकित रह गये और राजा महावराह भी यह सब सुनकर विस्मित हुआ ॥१२४॥

दूसरे दिन वह राजा हाथी पर बैठकर शिकार के लिए वन में गया और वे चारों वीर भी उसके पीछे गये ॥१२५॥

शिकार के समय सेना के साथ राजा के अनेक बाघों, मृगों और सूअरों के मार देने पर हाथियों के चिग्घाड़ सुनकर क्रुद्ध सिंह चारों ओर से राजा की ओर दौड़ पड़े ॥१२६॥

अभ्यापतन्तमेकं च सिंहं खड्गधरोऽथ सः।
एकेन तीक्ष्णनिस्त्रिंशप्रहारेण द्विधाऽकरोत् ॥१२७॥
द्वितीयं च गृहीत्वैव चरणे वामपाणिना।
आस्फोट्य भूतले सिंहं चकार गतजीवितम् ॥१२८॥
भाषाज्ञो जीवदत्तश्च पञ्चपट्टिक एव च।
एकैकः सिंहमेकैकं तथैवास्फोटयद् भुवि ॥१२९॥
एवं क्रमेण ते राज्ञः पश्यतः पादचारिभिः।
लीलया बहवो धीरैः सिंहव्याघ्रादयो हताः ॥१३०॥
ततः सविस्मयस्तुष्टः कृताखेटः स भूपतिः।
विवेश स्वपुरं तेऽपि वीराः क्षत्तृगृहं ययुः ॥१३१॥
स च राज्ञा प्रविश्यान्तःपुरं श्रान्तोऽपि तत्क्षणम्।
तत्रैवानाययामास तामनङ्गरतिं सुताम् ॥१३२॥
आख्याय तेषां वीराणामेकैकस्य पराक्रमम्।
आखेटके यथादृष्टं तामुवाचातिविस्मिताम् ॥१३३॥
पञ्चपट्टिकभाषाज्ञावसवर्णाविभौ यदि।
विप्रोऽपि जीवदत्तश्चेद्रूपहीनो विकर्मकृत् ॥१३४॥
तत्क्षत्रियस्य दोषोऽस्ति तस्य खड्गधरस्य कः।
सुप्रमाणसुरूपस्य बलविक्रमशालिनः ॥१३५॥
येन हस्ती हतस्तादृग् यः पिनष्टि च भूतले।
गृहीत्वा पादतः सिंहान् खड्गेनान्यान्निहन्ति च ॥१३६॥
दरिद्रः सेवकश्चेति दोषस्तस्योच्यते यदि।
अहं तं सेव्यमन्येषां करिष्यामीश्वरं क्षणात् ॥१३७॥
तत्तं वृणीष्व भर्त्तारं यदि ते पुत्रि रोचते।
इत्युक्ता तेन सानङ्गरतिः पित्रा जगाद तम् ॥१३८॥
तर्ह्यानीतेषु सर्वेषु तेषु वीरेष्विह त्वया।
गणकः पृच्छ्यतां तावत् पश्यामः किं ब्रवीति सः ॥१३९॥
एवं तयोक्तः स नृपो वीरानानाय्य तत्र तान्।
तत्सन्निधौ सानुरोधः पप्रच्छ गणकं स्वयम् ॥१४०॥
पश्यानङ्गरतेरेषां मध्यात् केन समं मिथः।
अस्त्यानुकूल्यं लग्नश्च भवेत् तस्याः तदा शुभः ॥१४१॥

आक्रमण करते हुए एक सिंह को वीर खड्गधर ने तलवार के एक ही प्रहार से दो टुकड़े करके, मार डाला ॥१२७॥

और, दूसरे सिंह के पैरों को बायें हाथ से पकड़कर और घुमाकर पृथ्वी पर पटककर मार डाला ॥१२८॥

इसी प्रकार भाषा-विज्ञानी वैश्य, ब्राह्मण और पंचपट्टिक शूद्र आदि तीनों वीरों ने पैदल चलते हुए ही राजा के सामने अनेक सिंह, बाघ आदि को पृथ्वी पर पटक-पटककर सहज ही में मार डाला ॥१२९—१३०॥

तब आश्चर्य के साथ सन्तुष्ट राजा शिकार खेलकर नगर को लौट आया और वे चारों वीर क्षत्ता के घर पर, अपने निवास-स्थान को चले गये ॥१३१॥

तब राजा ने श्रान्त होते हुए भी उसी समय अपने रनिवास में जाकर वहीं अनंगरति को बुलवाया और शिकार के समय उन वीरों का जो पराक्रम और कौतुक देखा था, सब उसे कह सुनाया। यह सब सुनकर और जानकर वह भी अत्यन्त चकित हुई ॥१३२—१३३॥

राजा ने कहा—'बेटी, पंचपट्टिक और भाषाविज्ञानी, ये दोनों यदि समान वर्ण (जाति) के नहीं हैं और यदि ब्राह्मण जीवदत्त कुरूप और कुत्सित कर्म करनेवाला है, तो क्षत्रिय खड्गधर का क्या दोष है? उसका कद और रूप भी सुन्दर है तथा वह बल और पराक्रम वाला है ॥१३४—१३५॥

जिसने ऐसे मदोन्मत्त और पागल हाथी को मार दिया और जो सिंहों को पकड़कर भूमि पर पछाड़कर, मसल डालता है और खड्ग से उनके दो टुकड़े कर डालता है ॥१३६॥

यदि तुम उसके ये दो दोष बताती हो कि वह दरिद्र है और सेवक है, तो मैं उसे क्षण-भर में दूसरों से सेवा किये जाने योग्य, अर्थात् राजा बना दूँगा ॥१३७॥

इसलिए बेटी, यदि तुम्हें वह अच्छा लगे, तो उसे पति बना लो।' पिता द्वारा इस प्रकार कही गई अनंगरति बोली—॥१३८॥

'ऐसी बात है, तो सब को यहाँ बुलाकर और ज्योतिषियों को भी बुलवाकर पूछें कि वे क्या बतलाते हैं'॥१३९॥

यह सुनकर राजा, ने उन वीरों को बुलवाकर उनके सामने ही ज्योतिषी से अनुरोध के साथ स्वयं पूछा—॥१४०॥

'देखो, इन चारों में अनंगरति के साथ किसकी कुंडली मिलती है और उसके विवाह का लग्न कब शुभ है?' ॥१४१॥

तच्छ्रुत्वा पृष्टनक्षत्रस्तेषां स गणकोत्तमः।
गणयित्वा चिरं कालं राजानं तमभाषत ॥१४२॥
न चेत् कुप्यसि मे देव स्फुटं विज्ञापयामि तत्।
अस्ति त्वद्दुहितुर्नैषामेकेनाप्यनुकूलता ॥१४३॥
न चेहास्ति विवाहोऽस्या एषा शापच्युतात्र यत्।
विद्याधरी स शापोऽस्यास्त्रिभिर्मासैर्निवर्त्स्यति ॥१४४॥
तस्मान् मासत्रयं तावत् प्रतीक्षन्ताममी इह।
नैषां स्वलोकं याता चेत्तत एतद् भविष्यति ॥१४५॥
एतन्मौहूर्त्तिकस्यास्य वचः सर्वेऽपि तत्र ते।
श्रद्दधुस्तत्र चैवासन् वीरा मासत्रयावधि ॥१४६॥
गते मासत्रये राजा तान् वीरान् गणकं च तम्।
स्वाग्रमानाययामास तामनङ्गरतिं च सः ॥१४७॥
दृष्ट्वा चाधिकसौन्दर्यामकस्मात् तां सुतां नृपः।
जहर्ष गणकस्तां तु प्राप्तकालममन्यत ॥१४८॥
इदानीं ब्रूहि यद्युक्तं ते हि मासास्त्रयो गताः।
इति यावच्च तं राजा गणकं पृच्छति स्म सः ॥१४९॥
तावज्जातिं निजां स्मृत्वा सानङ्गरतिराननम्।
आच्छाद्य स्वोत्तरीयेण मानुषीं तां तनुं जहौ ॥१५०॥
एवमेषा स्थिता किंस्विदिति राज्ञा स्वयं मुखम्।
यावदुद्घाट्यते तस्यास्तावत् सा ददृशे मृता ॥१५१॥
व्यावृत्तनेत्रभ्रमरा विवर्णवदनाम्बुजा।
हंसमञ्जुस्वनोन्मुक्ता पद्मिनीव हिमाहिता ॥१५२॥
ततः स सद्यस्तच्छोकवज्रपाताहतो भुवि।
भूभृत्[1] पपात निश्चेष्टः स्वपक्षच्छेदमूर्च्छितः ॥१५३॥
राज्ञी पद्मरतिः सापि व्यामोहपतिता ययौ।
भ्रष्टाभरणपुष्पा क्ष्माभिभग्नेव मञ्जरी ॥१५४॥
मुक्ताक्रन्दे परिजने तेषु वीरेषु दुःखिषु।
लब्धसंज्ञः क्षणाद्राजा जीवदत्तमुवाच तम् ॥१५५॥

---

१. भू-भृतः। राज्ञः पर्वतस्य च श्लेषेण वर्णनम्।

यह सुनकर और गणक ने उन लोगों से नक्षत्र पूछकर और कुछ समय तक विचार कर लेने के उपरान्त राजा से कहा—॥१४२॥

'महाराज, यदि आप क्रोध न करें, तो स्पष्ट ही कहता हूँ कि इन चारों में एक के साथ भी तुम्हारी कन्या की कुंडली नहीं मिलती। और, इस कन्या का विवाह भी इस लोक में न होगा। क्योंकि, यह शाप के कारण मनुष्य-जन्म में उत्पन्न हुई विद्याधरी है। आगामी तीन महीनों में इसका वह शाप दूर होगा ॥१४३—१४४॥

इसलिए, ये लोग तीन मास तक यहाँ रहकर प्रतीक्षा करें, तदनन्तर यह कन्या, यदि अपने विद्याधर-लोक में न गई, तो इसका इस लोक में विवाह हो सकेगा' ॥१४५॥

इस प्रकार, वहाँ उपस्थित सभी लोगों ने ज्योतिषी की बातों में विश्वास प्रकट किया और वे चारों वीर तीन मास तक वहीं रहे ॥१४६॥

तीन महीने बीतने पर राजा ने, उन चारों वीरों, ज्योतिषी और अनंगरति को फिर बुलवाया। ज्योतिषी ने उस समय कन्या को अधिक सुन्दर देखकर उसका अन्तिम समय निकट आया, जान लिया ॥१४७-१४८॥

अब कहो, तीन मास बीत गये। इस प्रकार जैसे ही राजा ने ज्योतिषी से पूछा, तबतक अनंगरति ने अपनी साड़ी के आँचल से अपना मुख ढक लिया और उस मानव-शरीर का परित्याग कर दिया ॥१४९-१५०॥

'यह इस प्रकार मुँह ढककर क्यों बैठी है?' ऐसा सोचकर राजा ने जब उसका मुख स्वयं खोलकर देखा, तब उसे मरी हुई पाया ॥१५१॥

वह हिम से मारी हुई कमलिनी के समान हो गई थी, उसके नेत्र-रूपी भ्रमर उलटे हुए थे, मुख-कमल तेजोहीन था और अब उसके मुख में हंस के समान मधुर वाणी न थी ॥१५२॥

उसे मृत देखकर शोक-रूपी वज्र से मारा हुआ-सा और अपने पक्ष (पंख) के कटने से मूर्च्छित वह राजा (पर्वत) भूमि पर गिर पड़ा ॥१५३॥

उसकी माता पद्मरति भी हाथी से उखाड़ फेंकी गई लता के समान और अपने आभूषण-रूपी पुष्पों के गिर जाने पर शून्य-सी होकर मूर्च्छित हो गई ॥१५४॥

अन्य भी परिजन रोने लगे और वे चारों वीर भी अत्यन्त दुःखी हो गये। इतने में ही राजा ने तुरन्त होश में आकर जीवदत्त से कहा ॥१५५॥

नात्रैषां शक्तिरन्येषामधुनावसरोऽस्ति ते।
प्रतिज्ञातं त्वया नारीं जीवयामि मृतामिति ॥१५६॥
यदि विद्याबलं तेऽस्ति तज्जीवय सुतां मम।
दास्यामि तुभ्यमेवैतां विप्राय प्राप्तजीविताम् ॥१५७॥
इति राज्ञो वचः श्रुत्वा जीवदत्तोऽभिमन्त्रितैः।
अभ्युक्ष्य तोयैस्तां राजपुत्रीमार्यामिमां जगौ ॥१५८॥
'अट्टाट्टहाससहसिते करङ्कमालाकुले दुरालोके।
चामुण्डे विकराले साहाय्यं मे कुरु त्वरितम्' ॥१५९॥
एवं तेन कृते यत्ने जीवदत्तेन सा यदा।
बाला न जीवितं प्राप विषण्णः सोऽवदत्तदा ॥१६०॥
दत्तापि विन्ध्यवासिन्या विद्या मे निष्फला गता।
तदेतेनोपहास्येन किं कार्यं जीवितेन मे ॥१६१॥
इत्युक्त्वा जीवदत्तः स्वं शिरश्छेत्तुं महासिना।
यावत् प्रवर्त्तते तावदुदगाद् भारती दिवः ॥१६२॥
भो जीवदत्त मा कार्षीः साहसं शृणु सम्प्रति।
एषानङ्गरतिर्नाम सा विद्याधरकन्यका ॥१६३॥
पित्रोः शापेन मानुष्यमियन्तं कालमागता।
त्यक्त्वाद्यैतां तनुं याता स्वलोकं स्वतनुं श्रिता ॥१६४॥
तद्विन्ध्यवासिनीमेव गत्वाराधय तां पुनः।
तत्प्रसादादिमां प्राप्स्यस्यपि विद्याधरीं सतीम् ॥१६५॥
न चैषा दिव्यभोगस्था शोच्या राज्ञो न चापि ते।
इत्युदीर्य यथातत्त्वं दिव्या वाग्विरराम सा ॥१६६॥
ततः सुतायाः संस्कारं कृत्वा राजा जहौ शुचम्।
सदारोऽपि ययुस्तेऽन्ये त्रयो वीरा यथागतम् ॥१६७॥
जीवदत्तस्तु जातास्थो गत्वा तां विन्ध्यवासिनीम्।
तपसाराधयामास स्वप्ने साप्यादिदेश तम् ॥१६८॥

अनङ्गप्रभायाः कथा

तुष्टा तवाहमुत्तिष्ठ शृणु चेदं ब्रवीमि ते।
अस्ति वीरपुरं नाम नगरं तुहिनाचले ॥१६९॥
विद्याधराधिराजोऽस्ति समरो नाम तत्र च।
तस्यानङ्गवतीदेव्यां सुतानङ्गप्रभाजनि ॥१७०॥

इस विषय में तुम्हारे इन साथियों की अब शक्ति नहीं है। यह तुम्हारा अवसर है। तुमने पहले ही प्रतिज्ञा की थी कि मैं मरी हुई को जिला देता हूँ ॥१५६॥

तो, यदि तुममें विद्या का बल है तो इस मरी हुई मेरी कन्या को जिलाओ। जीवित हो जाने पर इस कन्या को तुम्हें दे दूँगा' ॥१५७॥

राजा की यह बात सुनकर जीवदत्त ने राजकन्या के मुँह पर जल का छींटा देकर इस आर्या को पढ़ा—॥१५८॥

'अट्टाट्टहासहसिते करङ्कमालाकुले दुरालोके।
चामुण्डे विकराले साहाय्यं मे कुरु त्वरितम् ॥१५९॥"

इस प्रकार, विद्या का प्रयोग करने पर भी जब वह कन्या जीवित न हुई, तब जीवदत्त ने दुःखी होकर कहा—॥१६०॥

विन्ध्यवासिनी द्वारा दी गई भी मेरी विद्या निष्फल हो गई। इसलिए, हँसने के योग्य मेरे इस जीवन से अब क्या लाभ है?' ॥१६१॥

ऐसा कहकर जैसे ही जीवदत्त तलवार से अपना शिर काटने को उद्यत हुआ, वैसे ही इस प्रकार की आकाशवाणी हुई—॥१६२॥

'हे जीवदत्त, साहस मत करो। सुनो, यह अनंगरति विद्याधरकुमारी है ॥१६३॥

माता-पिता के शाप से यह इतने दिनों तक मनुष्य-जीवन में रही। आज वह मनुष्य-देह छोड़कर अपने विद्याधर-देह में चली गई ॥१६४॥

अतः, तुम जाकर फिर उसी विन्ध्यवासिनी देवी की आराधना करो। उसी की कृपा से तुम इस विद्याधरी को प्राप्त करोगे ॥ १६५॥

अब वह दिव्य भोगों को भोग रही है। अतः, राजा और रानी को भी उसके लिए शोक न करना चाहिए।' इतना कहकर दिव्य वाणी शान्त हो गई ॥१६६॥

तदनन्तर, रानी-सहित राजा ने कन्या का दाह आदि संस्कार करके उसका शोक त्याग दिया और वे तीनों वीर जहाँ से आये थे, वहीं लौट गये ॥१६७॥

और जीवदत्त, उस विद्याधरी की प्राप्ति में विश्वास करके विन्ध्यवासिनी की शरण में जाकर तपस्या करने लगा। विन्ध्यवासिनी ने स्वप्न में उसे आदेश दिया—॥१६८॥

अनंगप्रभा की कथा

'मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, उठो और सुनो, मैं तुमसे यह कहती हूँ। हिमालय में वीरपुर नाम का का नगर है। वहाँ समर नाम का विद्याधरों का राजा है। उसकी रानी अनंगवती में अनंगप्रभा नाम की कन्या उत्पन्न हुई।१६९-१७०॥

सा रूपयौवनोत्सेका नैच्छत् कञ्चित् पतिं यदा।
तदातिदुर्ग्रहक्रुद्धौ पितरौ शपतः स्म ताम् ॥१७१॥
मानुष्यं व्रज तत्रापि न भर्तृसुखमाप्स्यसि।
कन्यैव षोडशाब्दा तां त्यक्त्वा तनुमिहैष्यसि ॥१७२॥
मर्त्यो विरूपो भावी च खड्गसिद्धोऽथ ते पतिः।
मुनिकन्याभिलाषेण शापान्मर्त्यत्वमागतः ॥१७३॥
अनिच्छन्तीमपि त्वां च मर्त्यलोकं स नेष्यति।
त्वया तस्य वियोगोऽत्र भविष्यत्यन्यनीतया ॥१७४॥
पूर्वजन्मनि तेनाष्टौ हृता हि परयोषितः।
तेनाष्टजन्मभोगार्हं दुःखं सोऽनुभविष्यति ॥१७५॥
त्वं चात्र जन्मन्येकस्मिन्नष्टानामिव जन्मनाम्।
दुःखं प्राप्स्यसि विद्यानां भ्रंशेन मनुजीकृता ॥१७६॥
सर्वस्यैव हि पापिष्ठसम्पर्कः पापभागदः।
समपापः पुनः स्त्रीणां भर्त्रा पापेन सङ्गमः ॥१७७॥
नष्टस्मृतिः पतीश्च त्वं बहून् प्राप्स्यसि मानुषान्।
त्वयोचितवरद्वेषदुर्ग्रहो विहितो यतः ॥१७८॥
योऽयाचत समानस्त्वां द्युचरो मदनप्रभः।
भूत्वा स मानुषोऽभूभृदन्ते भावी पतिस्तव ॥१७९॥
ततस्त्वं शापनिर्मुक्ता स्वलोकं पुनरागता।
तमेव द्युचरीभूतं सम्प्राप्स्यस्युचितं पतिम् ॥१८०॥
तदेवं पितृशप्ता सा भूत्वानङ्गरतिः क्षितौ।
प्राप्ताद्य पित्रोर्निकटं जातानङ्गप्रभा पुनः ॥१८१॥
अतो वीरपुरं गत्वा जित्वा तत्पितरं रणे।
जानन्तमपि कौलीनरक्षितं तामवाप्नुहि ॥१८२॥
इमं गृहाण खड्गं च येन हस्तगतेन ते।
गतिर्भविष्यत्याकाशे किं चाजेयो भविष्यसि ॥१८३॥
इत्युक्त्वार्पितखड्गा सा तस्य देवी तिरोदधे।
स च प्रबुबुधे दिव्यं खड्गं हस्ते ददर्श च ॥१८४॥
अथोत्थाय प्रहृष्टात्मा जीवदत्तो नताम्बिकः।
तत्प्रसादामृताप्यायशान्ताशेषतपःक्लमः ॥१८५॥

अपने रूप और यौवन के घमंड से उसने किसी भी पति को पसन्द नहीं किया, तो उसके दुराग्रह से क्रुद्ध होकर उसके माता-पिता ने शाप दिया कि वह मनुष्य-योनि में उत्पन्न होगी और-उस योनि में भी उसे पति-सुख न मिलेगा और सोलह वर्ष की अवस्था में ही वह मनुष्य-देह का त्याग कर यहाँ आ जायगी ॥१७१-१७२॥

मुनि-कन्या की अभिलाषा से शाप के कारण मानव-देह को प्राप्त कुरूप मानव खड्गधर तेरा पति होगा। तेरे न चाहने पर भी तुझे वह मर्त्यलोक में ले जायगा। तब दूसरे के द्वारा तुझे ले जाने पर उसके साथ तेरा वियोग होगा ॥१७३-१७४॥

क्योंकि, उस खड्गधर ने पूर्वजन्म में दूसरों की आठ स्त्रियों का अपहरण किया है, इसलिए वह आठ जन्मों तक भोगने के योग्य दुःखों को प्राप्त करेगा ॥१७५॥

तू भी मानव बन जाने से विद्याओं के नष्ट हो जाने के कारण एक ही जन्म में आठ जन्मों का दुःख भोगेगी ॥१७६॥

पापी व्यक्ति का सम्पर्क सभी को उसके पाप का भागी बना देता है। और, स्त्रियों को तो पापी पति के समान ही पाप का भागी होना ही पड़ता है ॥१७७॥

तूने योग्य वर मिलने पर भी उसका दुराग्रहपूर्ण द्वेष किया है। अतः, तू पूर्वजन्मों का स्मरण न करते हुए अनेक मानव-पतियों को प्राप्त करेगी ॥१७८॥

जिस आकाशचारी और समान कुल के मदनप्रभ ने विवाह के लिए तुझे माँगा था, वह मनुष्य-राजा होकर अन्त में तेरा पति बनेगा ॥१७९॥

तदनन्तर, शाप से मुक्त होकर फिर अपने लोक में आई हुई और उसी विद्याधर बने हुए मदनप्रभ को पति-रूप में प्राप्त करेगी ॥१८०॥

इस प्रकार माता पिता द्वारा शाप दी गई अनंगरति, पृथ्वी में उत्पन्न होकर और अब (मरकर) माता-पिता के पास पहुँचकर पुनः अनंगप्रभा हो गई है ॥१८१॥

अतः, अब तुम वीरपुर जाकर और युद्ध में उसके पिता को जीतकर कुलीनता से रक्षित जानते हुए उसे प्राप्त करो। और, इस तलवार को ले लो, जिसके हाथ में रहने पर तेरी आकाश में गति हो जायगी और तू अजेय हो जायगा' ॥१८२-१८३॥

ऐसा कहकर और खड्ग देकर वह देवी अन्तर्हित हो गई। तदनन्तर वह जीवदत्त जाग उठा और उसने अपने हाथ में तलवार देखी ॥१८४॥

तदनन्तर, प्रसन्नचित जीवदत्त ने उठकर माता को प्रणाम किया और माता की कृपा से उसकी तपस्या का सारा क्लेश दूर होगया ॥१८५॥

खड्गहस्तः खमुपत्य परिभ्रम्य हिमालयम्।
प्राप वीरपुरस्थं तं समरं द्युचरेश्वरम्॥१८६॥
तेन युद्धजितेनात्र प्रदत्तां परिणीय सः।
तामनङ्गप्रभां भेजे दिव्यां सम्भोगसम्पदम्॥१८७॥
कञ्चित्कालं स्थितश्चात्र श्वशुरं समरं च तम्।
जीवदत्तो जगादैवं तां चानङ्गप्रभां प्रियाम्॥१८८॥
मनुष्यलोकं गच्छावस्तं प्रत्युत्कण्ठितोऽस्मि यत्।
प्राणिनां हि निकृष्टापि जन्मभूमिः परा प्रिया॥१८९॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य श्वशुरः सोऽन्वमन्यत।
सा त्वनङ्गप्रभा कृच्छ्रादनुमेने विजानती॥१९०॥
अथाङ्कोपात्तया साकमनङ्गप्रभया तया।
जीवदत्तः स नभसा मर्त्यलोकमवातरत्॥१९१॥
दृष्ट्वात्र रम्यमेकं च पर्वतं सा जगाद तम्।
श्रान्तानङ्गप्रभा क्षिप्रमिह विश्राम्यतामिति॥१९२॥
ततस्तथेति तत्रैव सोऽवतीर्य तया सह।
चकाराहारपानादि तत्तद्विद्याप्रभावतः॥१९३॥
ततोऽनङ्गप्रभां जीवदत्तोऽसौ विधिचोदितः।
तामुवाच प्रिये किञ्चिन्मधुरं गीयतां त्वया॥१९४॥
तच्छ्रुत्वा गातुमारेभे सा भक्त्या धूर्जटेः स्तुतिम्।
तेन तद्गीतशब्देन सोऽथ निद्रामगाद्द्विजः॥१९५॥
तावदाखेटकश्रान्तो निर्झराम्भोऽभिलाषुकः।
राजा हरिवरो नाम पथा तेन किलाययौ॥१९६॥
स तेन गीतशब्देन श्रुतेन हरिणो यथा।
आकृष्टोऽभ्यापतत्तत्र रथमुन्मुच्य केवलः॥१९७॥
शकुनैः पूर्वमाख्यातशुभोऽपश्यत् स भूपतिः।
तामनङ्गप्रभां सत्यामनङ्गस्य प्रभामिव॥१९८॥
तदा तद्गीतरूपाभ्यां नीतं तस्य विहस्तताम्[1]।
निर्बिभेद यथाकामं हृदयं मदनः शरैः॥१९९॥

---

१. विहस्ततां=विवशतां नीतं=प्राप्तम्।

वह हाथ में खड्ग लेकर आकाश में उड़ा और समस्त हिमालय में घूमकर वीरपुर में रहनेवाले विद्याधरों के राजा समर को प्राप्त किया ॥१८६॥

युद्ध में जीते हुए समर द्वारा प्रदत्त अनंगप्रभा को प्राप्त कर जीवदत्त दिव्य सम्पत्ति का उपभोग करने लगा ॥१८७॥

तदनन्तर, कुछ दिनों तक वहीं रहने के पश्चात् उसने एक दिन अपने श्वशुर समर और पत्नी अनंगप्रभा से कहा—'हम दोनों (जीवदत्त और अनगप्रभा) मनुष्य-लोक जाते। वहाँ जाने के लिए मैं उत्सुक हो रहा हूँ। प्राणियों को अपनी जन्म-भूमि निकृष्ट होने पर भी बहुत प्यारी लगती है ॥१८८–१८९॥

उसकी यह बात श्वशुर ने मान ली, लेकिन भविष्य को समझती हुई अनंगप्रभा ने कठिनाई से इसे माना ॥१९०॥

तदनन्तर जीवदत्त अनंगप्रभा को गोद में लिये हुए मर्त्यलोक में उतरा। मार्ग में एक रमणीय पर्वत को देखकर अनंगप्रभा ने उससे कहा— 'मैं श्रान्त हो गई हूँ, अतः इस पर्वत पर विश्राम करो' ॥१९१–१९२॥

'ऐसा ही हो', इस प्रकार कहकर जीवदत्त उसके साथ उस पर्वत पर उतर गया और अनंगप्रभा की विद्याओं के प्रभाव से भोजन-पान आदि किया ॥१९३॥

तब दैव से प्रेरित जीवदत्त अनंगप्रभा से बोला—'प्यारी, कुछ मधुर संगीत सुनाओ' ॥१९४॥

यह सुनकर अनंगप्रभा भक्ति से शिव की स्तुति गाने लगी। तब उसके गान के मधुर शब्दों से वह जीवदत्त ब्राह्मण, धीरे-धीरे निद्रावश हो गया ॥१९५॥

तबतक हरिवर नाम का राजा शिकार खेलता हुआ और झरने का जल ढूँढ़ता हुआ उस मार्ग से आ निकला ॥१९६॥

वह राजा हिरण के समान अनंगप्रभा के गीत से खिंचा हुआ रथ को छोड़कर वहाँ आ गया ॥१९७॥

अच्छे सगुनों से पहले ही शुभ सूचना प्राप्त राजा ने, वहाँ कामदेव की कान्ति के समान सुन्दरी अनंगप्रभा को देखा ॥१९८॥

उसे देखते ही उसके गान और रूप से विवश राजा के हृदय को कामदेव ने, बाणों से बींध दिया ॥१९९॥

सापि तं वीक्ष्य सहसा सुभगं पुष्पधन्वनः।
पतिता गोचरेऽनङ्गप्रभा क्षणमचिन्तयत् ॥२००॥
कोऽयं किमयमुन्मुक्तपुष्पचापो मनोभवः।
किं मूर्त्तो गीततुष्टस्य शर्वस्यानुग्रहो मयि ॥२०१॥
इति सञ्चिन्त्य पप्रच्छ सा तं मदनमोहिता।
कस्त्वं कथं वनं चेदमागतोऽस्युच्यतामिति ॥२०२॥
ततो यथागतो यः स सर्वं तस्यै शशंस तत्।
स राजा तामथापृच्छत् का त्वं सुन्दरि शंस मे ॥२०३॥
यश्च सुप्तस्थितोऽत्रायमेष कः कमलानने।
इति तं पृष्टवन्तं च संक्षेपेण जगाद सा ॥२०४॥
अहं विद्याधरी खड्गसिद्धश्चैष पतिर्मम।
दृष्टमात्रे च जातास्मि सानुरागाधुना त्वयि ॥२०५॥
तदेहि तावद् गच्छावस्त्वदीयं नगरं द्रुतम्।
तावत् प्रबुध्यते नायं तत्र वक्ष्यामि विस्तरात् ॥२०६॥
श्रुत्वैतत्तद्वचो राजा प्रतिपद्य तथेति सः।
त्रैलोक्यराज्यसम्प्राप्तिहर्षं हरिवरो दधे ॥२०७॥
नृपमङ्के गृहीत्वेमं गच्छाम्युत्पत्य खं जवात्।
इत्यनङ्गप्रभा सान्तः सत्वरा समचिन्तयत् ॥२०८॥
तावच्च भ्रष्टविद्याभूद्भर्तृद्रोहेण तेन सा।
स्मरन्ती पितृशापं च विषादं सहसा ययौ ॥२०९॥
तद्दृष्ट्वा कारणं पृष्ट्वा स राजा तामभाषत।
न विषादस्य कालोऽयं प्रबुध्येतैष ते पतिः ॥२१०॥
दैवायत्तं च वस्त्वैतच्छोचितुं नार्हसि प्रिये।
को हि स्वशिरसश्छायां विधेश्चोल्लङ्घयेद् गतिम् ॥२११॥
तदेहि याम इत्युक्त्वा तां स श्रद्धिततद्गिरम्।
अङ्के हरिवरश्चक्रे राजानङ्गप्रभां द्रुतम् ॥२१२॥
ततो निधानलब्ध्येव तुष्टो गत्वा जवात्ततः।
राजारुरोह स्वरथं स भृत्यैरभिनन्दितः ॥२१३॥
तेन स्वनगरं प्राग स मनःशीघ्रगामिना।
रथेन रमणीयुक्तः प्रजानां दत्तकौतुकः ॥२१४॥

वह अनंगप्रभा भी सुन्दर राजा को देखकर, कामदेव के बाणों का लक्ष्य बन गई और अपने मन में सोचने लगी—॥२००॥

यह कौन है ? क्या यह धनुषहीन कामदेव है अथवा मेरे गान या स्तुति से सन्तुष्ट शिव का मुझपर मूर्त्तिमान् अनुग्रह है ॥२०१॥

ऐसा सोचकर काम-मोहिता अनंगप्रभा ने उससे पूछा—'तुम कौन हो और इस वन में कैसे आये हो, बताओ' ॥२०२॥

तब राजा वहाँ जैसे आया था, वह सब उसे उसने बताया और राजा ने भी उससे पूछा—'सुन्दरि, तू कौन है ? मुझे बता ॥२०३॥

हे कमलनयनी, यहाँ यह जो सो रहा है, यह कौन है।' ऐसा पूछते हुए राजा को अनंग-प्रभा ने संक्षेप में सब वृत्तान्त सुना दिया ॥२०४॥

'मैं विद्याधरी हूँ और यह खड्गसिद्ध मानव मेरा पति है। किन्तु, मैं तुम्हें देखते ही तुम्हारे प्रति अनुरागिणी हो गई हूँ। तो आओ। शीघ्र ही तुम्हारे नगर को चलें। जबतक यह जगता नहीं, तबतक तुम्हें विस्तार से सब समाचार सुनाती हूँ' ॥२०५–२०६॥

राजा ने उसका प्रस्ताव सुनकर और उसे स्वीकार करके मानों तीनों लोकों का राज्य पा लिया ॥२०७॥

अनंगप्रभा ने राजा को गोद में लेकर, क्या वेग से आकाश में उड़ जाऊँ—ऐसा शीघ्र ही मन में सोचा ॥२०८॥

इतने में ही वह पति-विद्रोह के कारण भ्रष्ट विद्यावाली हो गई, अर्थात् अपनी विद्याओं को भूल गई। तब पिता के शाप का स्मरण करती हुई वह अत्यन्त दुःखी हो गई ॥२०९॥

उसे दुःखी देखकर और उसका कारण पूछकर राजा ने उससे कहा—'यह दुःख करने का समय नहीं है, तेरा पति जग जायगा ॥२१०॥

प्रिये, यह बात तो दैवाधीन है। इस पर सोच न करो। अपने सिर की छाया और दैव की गति का कौन उल्लंघन कर सकता है ? ॥२११॥

तो आओ, अब चलें'—ऐसा कहकर उस पर विश्वास करती हुई अनंगप्रभा को राजा ने शीघ्रता से गोद में उठा लिया ॥२१२॥

तब मानों गड़ा हुआ खजाना प्राप्त किया हुआ-सा वह राजा शीघ्र ही जाकर अपने रथ पर चढ़ गया और सेवकों ने उसका अभिनन्दन किया ॥२१३॥

वह राजा मन के समान शीघ्रगामी उस रथ से उस रमणी के साथ प्रजाओं को कौतुक देता हुआ अपनी राजधानी में जा पहुँचा ॥२१४॥

स्वनामलाञ्छने तस्मिन् सोऽनङ्गप्रभया तया।
सह दिव्यसुखस्तस्थौ ततो हरिवरो नृपः ॥२१५॥
साप्यनङ्गप्रभा तत्रैवासीत्तदनुरागिणी।
विस्मृत्य स्वं प्रभावं तं सर्वं शापविमोहिता ॥२१६॥
अत्रान्तरे स तत्राद्रौ जीवदत्तो न केवलम्।
प्रबुद्धो नैक्षतानङ्गप्रभां यावत् स्वमप्यसिम् ॥२१७॥
क्व साऽनङ्गप्रभा कष्टं क्व स खड्गोऽपि किं नु तम्।
हृत्वा गता सा किं वा तौ नीतौ द्वावपि केनचित् ॥२१८॥
इत्युद्भ्रान्तो बहून् कुर्वन् वितर्कान् स दिनत्रयम्।
गिरिं तं विचिनोति स्म दह्यमानः स्मराग्निना ॥२१९॥
ततोऽवतीर्य चिन्वानो वनानि दिवसान् दश।
स बभ्राम न चापश्यत् तस्याः पादमपि क्वचित् ॥२२०॥
हा दुर्जनविधे कृच्छ्रात् सा दत्तापि कथं त्वया।
खड्गसिद्ध्या सह हृता प्रियानङ्गप्रभा मम ॥२२१॥
इत्याक्रन्दन्निराहारो भ्रमन्नेकमवाप्तवान्।
ग्रामं तत्र विवेशैकमाढ्यं द्विजगृहं च सः ॥२२२॥
गृहिणी तत्र सुभगा सुवस्त्रा चोपवेश्य तम्।
आसने प्रियदत्ताख्या स्वचेटीः शीघ्रमादिशत् ॥२२३॥
त्वरितं जीवदत्तस्य पादौ क्षालयतास्य हि।
निराहारस्य विरहाद्दिनमद्य त्रयोदशम् ॥२२४॥
तच्छ्रुत्वा विस्मितो जीवदत्तोऽन्तर्विममर्श सः।
इहानङ्गप्रभा प्राप्ता किं किमेषाथ योगिनी ॥२२५॥
इति ध्यायन् धौतपादो भुक्ततद्दत्तभोजनः।
प्रणतः प्रियदत्तां तामत्यार्त्या पृच्छति स्म सः ॥२२६॥
एकं ब्रूहि कथं वेत्सि मद्वृत्तान्तमनिन्दिते।
द्वितीयं चापि कथय प्रियाखड्गौ क्व मे गतौ ॥२२७॥
तच्छ्रुत्वा तमवोचत् सा प्रियदत्ता पतिव्रता।
भर्तुरन्यो न मे चित्ते स्वप्नेऽपि कुरुते पदम् ॥२२८॥
पुत्रभ्रातृसमानन्यान् पश्यामि पुरुषानहम्।
न च मेऽनर्चितो याति कदाचिदतिथिर्गृहात् ॥२२९॥

राजा हरिवर, अपने नाम से ही प्रसिद्ध हरिवर नगर, में उस परम सुन्दरी दिव्य रमणी अनंगप्रभा के साथ दिव्य सुख प्राप्त करता हुआ रहने लगा ॥२१५॥

वह अनंगप्रभा भी, राजा के प्रति अनुराग रखती हुई वहीं रहने लगी; किन्तु वह अपने प्रभाव को भूलकर शाप से मोहित हो गई थी ॥२१६॥

इसी बीच उस पर्वत पर सोकर उठे हुए जीवदत्त ने, केवल अनंगप्रभा को ही नहीं देखा, यह नहीं, प्रत्युत अपनी तलवार को भी उसने नहीं देखा ॥२१७॥

वह अनंगप्रभा कहाँ है, वह तलवार भी कहाँ गई ? क्या अनंगप्रभा तलवार लेकर चली गई या उन दोनों को ही कोई तीसरा ले गया ? ॥२१८॥

इस प्रकार, उन्मत्त के समान विविध प्रकार की शंकाएँ करता हुआ वह जीवदत्त कामाग्नि से जलता हुआ तीन दिनों तक सारे पर्वत पर उसे ढूंढता रहा ॥२१९॥

तब पर्वत से उतरकर दस दिनों तक उसके नीचे वन में उसे ढूंढते हुए वह घूमता रहा, किन्तु कहीं उसने उसके चरण का चिह्न भी न पाया ॥२२०॥

'हे दुष्ट दैव, अत्यन्त कठिनाई से दी हुई तूने खड्गसिद्धि के साथ मेरी प्राणप्यारी अनंगप्रभा को भी हर लिया' ॥२२१॥

इस प्रकार, रोते-कलपते और निराहार भ्रमण करते हुए उसे एक ग्राम मिला, वहाँ वह एक सम्पन्न ब्राह्मण के घर में प्रवेश किया ॥२२२॥

उस घर में सुन्दरी और अच्छे वस्त्र पहने हुए गृहिणी प्रियदत्ता ने उसे आसन देकर बैठाया और अपनी दासियों को आज्ञा दी कि शीघ्र ही इस जीवदत्त के चरण धुलाओ। स्त्री के वियोग से निराहार रहते हुए आज इसका तेरहवाँ दिन है ॥२२३-२२४॥

यह सुनकर जीवदत्त मन में सोचने लगा कि क्या अनंगप्रभा यहाँ आई है या यह स्त्री ही कोई योगिनी है ॥२२५॥

ऐसा सोचता हुआ धुले हुए पैरोंवाला और उसके दिये हुए भोजन से तृप्त जीवदत्त ने प्रणाम करते हुए बड़ी ही दीनतापूर्वक प्रियदत्ता से पूछा—॥२२६॥

'हे सदाचारिणी, एक तो यह बताओ कि तुम मेरा वृत्तान्त कैसे जानती हो ? और, दूसरा यह बताओ कि मेरी प्रियतमा और तलवार कहाँ है ?'॥२२७॥

यह सुनकर वह पतिव्रता प्रियदत्ता, उससे बोली—'पति के सिवा दूसरा पुरुष स्वप्न में भी मेरे चित्त में स्थान नहीं पाता ॥२२८॥

दूसरे पुरुषों को मैं पुत्रों और भाइयों के समान समझती हूँ। मेरे घर से कोई भी अतिथि, विना सत्कार प्राप्त किये हुए वापस नहीं जा सकता ॥२२९॥

तत्प्रभावेण जानामि भूतं भव्यं च भावि च।
सा चानङ्गप्रभा नीता राज्ञा हरिवरेण ते॥२३०॥
सुप्ते त्वयि विधेर्योगात् तन्मार्गगामिना तदा।
गीताकृष्टोपयातेन स्वनामपुरवासिना॥२३१॥
सा च शक्या न ते प्राप्तुं स हि राजा महाबलः।
सा पुनस्तमपि त्यक्त्वा कुलटान्यत्र यास्यति॥२३२॥
खड्गं च देवी प्रादात्ते तत्प्राप्त्यै तद्विधाय सः।
तस्यां हृतायां दिव्यत्वाद्देव्या एवान्तिकं गतः॥२३३॥
किं च देव्यैव तेऽनङ्गप्रभाशापोपवर्णने।
स्वप्ने भावि यदादिष्टं तत्कथं विस्मृतं तव॥२३४॥
तदेष भवितव्येऽर्थे व्यामोहस्ते वृथैव कः।
पापानुबन्धं मुञ्चैनं भूयो भूयोऽतिदुःखदम्॥२३५॥
किं वाधुना तव तया पापयान्यानुरक्तया।
मानुषीभूतया भ्रातस्त्वद्द्रोहभ्रष्टविद्यया॥२३६॥
इत्युक्तः स तया साध्व्या त्यक्तानङ्गप्रभास्पृहः।
तच्चापलविरक्तात्मा जीवदत्तो जगाद ताम्॥२३७॥
शान्तस्त्वद्वचसा मोहः सत्येनाम्वामुना मम।
कामं न श्रेयसे कस्य सङ्गमः पुण्यकर्मभिः॥२३८॥
पूर्वपापवशादेतद्दुःखमापतितं मम।
तत्क्षालनाय यास्यामि तीर्थान्युज्झितमत्सरः॥२३९॥
को मेऽनङ्गप्रभाहेतोर्वैरेणार्थः परैः सह।
जितक्रोधेन सर्वं हि जगदेतद्विजीयते॥२४०॥
इति यावत् स वक्त्यत्र तावत्तस्याः पतिर्गृहे।
आययौ प्रियदत्ताया धार्मिकोऽतिथिवत्सलः॥२४१॥
कृतातिथ्येन तेनाऽपि त्याजितो दुःखमत्र सः।
विश्रम्य तीर्थयात्रायै प्रायादापृच्छ्य तावुभौ॥२४२॥
ततः क्रमेण सर्वाणि पृथ्व्यां तीर्थानि सोऽभ्रमत्।
विसोढानेककान्तारकष्टो मूलफलाशनः॥२४३॥
भ्रान्ततीर्थश्च तामेव स ययौ विन्ध्यवासिनीम्।
तत्र तेपे तपस्तीव्रं निराहारः कुशास्तरे॥२४४॥

इसके प्रभाव से ही भूत, भविष्य और वर्तमान को मैं जानती हूँ। तेरी उस अनंगप्रभा को राजा हरिवर ले गया ॥२३०॥

तेरे सोये रहने पर वह राजा हरिवर उसके गान से आकृष्ट होकर उसी मार्ग से आ गया था; किन्तु वह दुराचारिणी उसे भी छोड़कर फिर दूसरे के पास चली जायगी ॥२३१-२३२॥

उस खड्ग को देवी ने तुझे उसी की प्राप्ति के लिए दिया था। उसके हरण हो जाने पर वह दिव्य खड्ग, फिर देवी के पास ही चला गया ॥२३३॥

और, देवी ने ही अनंगप्रभा के शाप का वर्णन करते हुए स्वप्न में तुझे जो उसका भविष्य बताया था, वह तू क्यों भूल गया? ॥२३४॥

तो इस अवश्यंभावी बात में तुझे यह मिथ्या मोह क्यों हो रहा है? तू बार-बार अति दुःख देनेवाले इस पाप के बन्धन को तोड़ दे ॥२३५॥

भाई, दूसरे पुरुष से प्रेम करनेवाली और मनुष्य बनी हुई तथा तुम्हारे साथ धोखा करने के कारण भ्रष्ट विद्यावाली उस पापिन को पाकर भी तुम क्या करोगे?' ॥२३६॥

उस पतिव्रता द्वारा इस प्रकार समझाये गये जीवदत्त ने अनंगप्रभा की आशा छोड़ दी और उसकी चंचलता से विरक्त होकर वह प्रियदत्ता से बोला—॥२३७॥

'हे माता, तेरे इन सत्य वाक्यों से मेरा मोह शान्त हो गया। पुण्यात्माओं का सम्पर्क किसके कल्याण के लिए नहीं होता? ॥२३८॥

मेरे पूर्वजन्म के पापों के कारण मुझे यह दुःख प्राप्त हुआ। अब उन पापों को धोने के लिए राग-द्वेष हीन होकर मैं तीर्थों की यात्रा करूँगा ॥२३९॥

अनंगप्रभा के कारण दूसरों से विरोध करने में मुझे क्या लाभ है? जिसने क्रोध को जीत लिया, उसने सारे संसार को जीत लिया' ॥२४०॥

जीवदत्त के इस प्रकार कहते ही प्रियदत्ता का पति वहाँ आ गया, जो परम धार्मिक और अतिथियों का प्रेमी था ॥२४१॥

उसने भी जीवदत्त का आतिथ्य करके उसके दुःख को दूर किया। तब जीवदत्त, उनके घर में विश्राम करके और उनसे सम्मति लेकर तीर्थयात्रा को चला गया ॥२४२॥

तदनन्तर, निर्जन वनों में अनेक कष्टों का सहन करता हुआ और कन्द-मूल फल खाता हुआ वह पृथ्वी के सभी तीर्थों का भ्रमण करने लगा ॥२४३॥

सभी तीर्थों का पर्यटन करने के उपरान्त, अन्त में, उसी विन्ध्यवासिनी की शरण में आकर निराहार रहकर उसने कुश के आस्तरण पर कठिन तपस्या आरम्भ की ॥२४४॥

तपस्तुष्टा च सा साक्षादुवाचैवं तमम्बिका।
उत्तिष्ठ तत्र यूयं हि चत्वारो मामका गणाः ॥२४५॥
पञ्चमूलचतुर्वक्त्रमहोदरमुखास्त्रयः ।
त्वं चतुर्थश्च विकटवदनाख्यः क्रमोत्तमः ॥२४६॥
ते यूयं जातु गङ्गाया विहर्तुं पुलिनं गताः।
तत्र स्नान्ती च युष्माभिर्दृष्टैका मुनिकन्यका ॥२४७॥
चापलेखेति कपिलजटाख्यस्य मुनेः सुता।
प्रार्थ्यते स्म च सर्वैः स भवद्भिर्मदनातुरैः ॥२४८॥
कन्याहमपयातेति तयोक्ते ते त्रयोऽपरे।
तूष्णीमासंस्त्वया सा तु हठाद्बाहावगृह्यत ॥२४९॥
क्रन्दति स्म च सा 'तात तात त्रायस्व मा' मिति।
तच्छ्रुत्वा निकटस्थोऽत्र स क्रुद्धो मुनिरागमत् ॥२५०॥
तं दृष्ट्वा सा त्वया मुक्ता ततो युष्मान् शशाप सः।
मनुष्ययोनिं पापिष्ठाः सर्वे यातेति तत्क्षणात् ॥२५१॥
प्रार्थितः सोऽथ शापान्तमेवं वो मुनिरभ्यधात्।
यदानङ्गरतीराजसुता युष्माभिरर्थिता ॥२५२॥
गता वैद्याधरं लोकं मोक्ष्याश्चामी तदा त्रयः।
त्वं तु विद्याधरीभूतां प्राप्यैतां हारयिष्यसि ॥२५३॥
ततः प्राप्तासि विकटवदन व्यसनं महत्।
चिराच्च देवीमाराध्य शापादस्माद्विमोक्ष्यसे ॥२५४॥
त्वयास्याश्चापलेखाया हस्तस्पर्शो यतः कृतः।
परदारापहारोत्थं पापमस्ति च ते बहु ॥२५५॥
इति ये मद्गणा यूयं शप्तास्तेन महर्षिणा।
तेऽथ जाताः स्थ चत्वारः प्रवीरा दक्षिणापथे ॥२५६॥
पञ्चपट्टिकभाषाज्ञौ यौ तौ खड्गधरश्च यः।
सखायस्ते त्रयस्त्वं च चतुर्थो जीवदत्तकः ॥२५७॥
ते च त्रयोऽनङ्गरतौ प्रयातायां निजं पदम्।
इहागत्यैव निर्मुक्ता मत्प्रसादेन शापतः ॥२५८॥
त्वया चाराधितास्म्यद्य जातः शापक्षयश्च ते।
तदाग्नेयीं गृहीत्वेमां धारणां स्वतनुं त्यज ॥२५९॥

उसके तप से सन्तुष्ट अम्बिका ने प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष रूप में उससे कहा—'उठो बेटा, तुम चार मेरे गण हो। तीन तो पंचमूल, चतुर्वक्त्र और महोदर हैं और चौथा तुम विकटवदन नाम का है।।२४५-२४६।।

किसी समय तुम चारों गण विहार के लिए गंगा-तट पर गये। वहाँ कपिलजट नाम के मुनि की कन्या चापलेखा स्नान करती हुई तुम्हें दीख पड़ी और तुम लोग उसे देखकर काम से व्याकुल हो गये और उसकी इच्छा करने लगे।।२४७-२४८।।

'मैं अभी कन्या हूँ, तुम लोग यहाँ से दूर हटो', उसके ऐसा कहने पर अन्य तीन गण तो चुप रहे, किन्तु तुमने बलपूर्वक उसके हाथ पकड़ लिये ।।२४९।।

तब 'हे पिता, हे पिता, मुझे बचाओ'–इस प्रकार वह चिल्लाने लगी। उसका चिल्लाना सुनकर पास ही स्थित उसका पिता मुनि वहाँ आया। उसे देखकर तुमने उसे छोड़ दिया। तब मुनि ने तुम चारों को शाप दिया कि 'हे पापियो, तुम मानव-लोक में जाओ' ।।२५०-२५१।।

तब प्रार्थना करने पर मुनि ने इस प्रकार शाप का अन्त किया कि 'जब राजकुमारी अनंग-प्रभा को तुम लोग माँगोगे, तब वह विद्याधर-लोक में चली जायगी। ये तीनों तो उसी समय शाप-मुक्त हो जायेंगे, किन्तु तुम विद्याधरी बनी हुई उसे पाकर भी गँवा दोगे ।।२५२-२५३।।

हे विकटवदन, अब तुम महान् कष्ट प्राप्त करोगे और चिरकाल तक देवी की आराधना करके इस शाप से छूटोगे ।।२५४।।

तुमने इस चापलेखा कन्या के हाथ का स्पर्श किया है। इसलिए, तुम्हें परदारापहरण का भारी पाप लगा है ।।२५५।।

इस प्रकार, उस महर्षि ने मेरे गणों को जो शाप दिया, उसके परिणामस्वरूप तुम चारों दक्षिण दिशा में वीर रूप से उत्पन्न हुए थे। पंचपट्टिक (जुलाहा), भाषाविज्ञानी (वैश्य) और खड्गधर (क्षत्रिय), ये तीनों और चौथा जीवदत्त चारों मित्र हुए ।।२५६-२५७।।

वे तीनों, अनंगरति के अपने पद को प्राप्त कर लेने पर यहाँ आकर ही मेरी कृपा से शाप-मुक्त हुए ।।२५८।।

आज मेरी आराधना से तुम्हारा भी शाप नष्ट हो गया। इसलिए, अब तुम मुझसे अग्नि-सम्बन्धी धारणा लेकर अपना शरीर त्याग करो ।।२५९।।

अष्टजन्मोपभोग्यं च पातकं तत्सकृद्दह।
इत्युक्त्वा धारणां दत्त्वा देवी तस्य तिरोदधे ॥२६०॥
स मर्त्यदेहं पापं च दग्ध्वा धारणया तया।
जीवदत्तश्चिराच्छापमुक्तो जज्ञे गणोत्तमः ॥२६१॥
देवानामप्यहो येन पापेन क्लेश ईदृशः।
परस्त्रीसङ्गमोत्थेन ह्यन्येषां तेन का गतिः ॥२६२॥
तावच्च तत्र सानङ्गप्रभा हरिवरे पुरे।
राज्ञो हरिवरस्यान्तः पुराणां प्राप मुख्यताम् ॥२६३॥
स च राजा तदेकाग्रमनास्तस्थौ दिवानिशम्।
स्वमन्त्रिणि सुमन्त्राख्ये न्यस्तराज्यमहाभरः ॥२६४॥
एकदा तस्य राज्ञश्च निकटं मध्यदेशतः।
आगाल्लब्धवरो नाम नाट्याचार्योऽत्र नूतनः ॥२६५॥
स दृष्टकौशलस्तेन भूभृता वाद्यनाट्ययोः।
सम्मान्यान्तःपुरस्त्रीणां नाट्याचार्यो व्यधीयत ॥२६६॥
तेनानङ्गप्रभा नृत्ते प्रकर्षं प्रापिता तथा।
नृत्यन्त्यपि सपत्नीनां स्पृहणीयाऽभवद्यथा ॥२६७॥
सहवासाच्च तस्याथ नृत्तशिक्षारसादपि।
नाट्याचार्यस्य सानङ्गप्रभाभूदनुरागिणी ॥२६८॥
तस्याश्च रूपनृत्ताभ्यामाकृष्टः स शनैरहो।
नाट्याचार्योऽपि कामेन किमप्यन्यदनृत्यत ॥२६९॥
विजने चैकदानङ्गप्रभा सा नाट्यवेश्मनि।
प्रसह्य नाट्याचार्यं तमुपागाद्रतलालसा ॥२७०॥
सुरतान्ते च सात्यन्तसानुरागा जगाद तम्।
'त्वया विना कृता नाहं स्थातुं शक्ष्याम्यहं क्षणम् ॥२७१॥
राजा हरिवरश्चैतद्बुध्वा नैव क्षमिष्यते।
तदेह्यन्यत्र गच्छावो यत्र राजा न बुध्यते ॥२७२॥
अस्ति हेमहयोष्ट्रादि धनं च तव भूभृता।
नाट्यतुष्टेन यद्दत्तमस्ति चाभरणं मम ॥२७३॥
तत्तत्र त्वरितं यामः स्थास्यामो यत्र निर्भयाः।'
एतत् स तद्वचो हृष्टो नाट्याचार्योऽन्वमन्यत ॥२७४॥

और, आठ जन्मों तक भोगने योग्य पाप को एक ही बार में भस्म कर दो।' ऐसा कहकर और अग्नि की धारणा देकर देवी अन्तर्धान हो गई ॥२६०॥

उस जीवदत्त ने, उस अग्नि की धारणा से अपने पापों और मानव-शरीर को दग्ध करके शाप से मुक्ति प्राप्त की और फिर वह गणों मे श्रेष्ठ हो गया ॥२६१॥

परस्त्री के संगम से होनेवाले पाप के कारण जब देवताओं की भी इतनी दुर्दशा होती है, तब दूसरों की बात ही क्या है? ॥२६२॥

उधर, इतने दिनों तक वह अनंगप्रभा, राजा हरिवर के रनिवास में प्रधान रानी बन कर रही ॥२६३॥

वह राजा रात-दिन उसी की ओर आकृष्ट रहता था और उसने अपने राज्य का कार्य-भार सुमन्त्र नाम के मन्त्री पर डाल दिया ॥२६४॥

एक बार उस राजा के पास मध्यप्रदेश से लब्धवर नाम का नया नाट्याचार्य आया ॥२६५॥

राजा ने वाद्य-नाट्य में उसकी अपूर्व कुशलता देखकर उसे सम्मानित किया और रनिवास का नाट्याचार्य बना दिया ॥२६६॥

उसने अनंगप्रभा को नाट्य-शिक्षा में इतना प्रवीण कर दिया कि वह नाचती हुई भी अपनी सौतों के लिए ईर्ष्या का कारण बनती थी ॥२६७॥

उस नाट्याचार्य के सम्पर्क से और नृत्य की शिक्षा के रस से वह अनंगप्रभा नाट्याचार्य के प्रति प्रेम से आसक्त हो गई ॥२६८॥

नाट्याचार्य भी उसके सौन्दर्य और नृत्य से आकृष्ट होकर कामदेव द्वारा कुछ और ही प्रकार से नचाया जाने लगा ॥२६९॥

एकबार एकान्त में वह अनंगप्रभा, रति की लालसा से नाट्यशाला में ही नाट्याचार्य द्वारा भ्रष्ट हो गई ॥२७०॥

और, काम-क्रीडा के अन्त में अत्यन्त अनुरागवती होकर उससे बोली—'मैं तुम्हारे बिना अब एक क्षण भी नहीं रह सकती। राजा हरिवर यह सब जानकर हमें कदापि क्षमा न करेगा। तो आओ, कहीं दूसरे स्थान पर चलें। जहाँ राजा को हमारा पता न चले ॥२७१-२७२॥

तुम्हारे पास राजा द्वारा प्रदत्त सोना, घोड़े, ऊँट आदि धन है। मेरे नाट्य से प्रसन्न होकर राजा के दिये हुए आभरण मेरे पास हैं ॥२७३॥

तो चलो, वहाँ चलें, जहाँ निर्भय होकर रह सकें। उसकी ये बातें सुनकर प्रसन्न नाट्या-चार्य ने उसे मान लिया ॥२७४॥

ततः पुरुषवेषं सा कृत्वाऽनङ्गप्रभा ययौ।
नाट्याचार्यगृहं चेट्या सह सुस्निग्धयैकया ॥२७५॥
ततस्तदैव तेनोष्ट्रपृष्ठार्पितधनर्द्धिना।
साकं सा तुरगारूढा प्रायान्नाट्योपदेशिना ॥२७६॥
सादौ वैद्याधरीं लक्ष्मीं त्यक्त्वा राजश्रियं पुनः।
शिश्रिये चारणर्द्धिं सा धिक् स्त्रीणां चपलं मनः ॥२७७॥
गत्वा च नाट्याचार्येण तेनानङ्गप्रभा सह।
दूरं सा नगरं प्राप वियोगपुरसंज्ञकम् ॥२७८॥
तत्र तत्सहिता तस्थौ सुखं सा सोऽपि लब्धया।
तया लब्धवराख्यां स्वां सत्यां मेने नटाग्रणीः ॥२७९॥
तावच्च तां गतां क्वाऽपि बुद्ध्वाऽनङ्गप्रभां प्रियाम्।
राजा हरिवरः सोऽभूद्देहत्यागोन्मुखः शुचा ॥२८०॥
ततः सुमन्त्रो मन्त्री तमुवाचाश्वासयन् नृपम्।
देव किं यन्न वेत्सि त्वं पर्यालोचय तत्स्वयम् ॥२८१॥
खड्गविद्याधरं त्यक्त्वा पतिं त्वां दृष्टमेव या।
उपाश्रिता कथं तस्याः स्थैर्यं स्यात् त्वय्यपि प्रभो ॥२८२॥
लघुं कञ्चिद् गृहीत्वा सा गता सद्वस्तुनिःस्पृहा।
तृणरत्नशलाकेव तृणदृष्ट्यनुरागतः ॥२८३॥
नाट्याचार्येण सा नूनं नीता स हि न दृश्यते।
सङ्गीतकगृहे प्रातस्तौ स्थिताविति च श्रुतम् ॥२८४॥
तद्देव वद कस्तस्यां जानतोऽपि तवाग्रहः।
विलासिनी हि सर्वस्य सन्ध्येव क्षणरागिणी[1] ॥२८५॥
इत्युक्तो मन्त्रिणा सोऽथ विचारपतितो नृपः।
अचिन्तयदहो सत्यमुक्तं मे सुधियामुना ॥२८६॥
पर्यन्तविरसा कष्टा प्रतिक्षणविवर्त्तिनी।
भवस्थितिरिवानित्यसम्बन्धा हि विलासिनी ॥२८७॥

---

१. यथा सन्ध्या किञ्चित् कालमेव रक्ता भवति, पुनः कृष्णा। जायते, तथैव विलासिन्यपि किञ्चित् कालमेवानुरागवती भवतीति भावः।

तदनन्तर, अनंगप्रभा, पुरुष का वेष धारण कर एक अत्यन्त अंतरंग दासी के साथ नाट्याचार्य के घर पर गई ॥२७५॥

तब उसी समय नाट्याचार्य ने, सारी धन-सम्पत्ति ऊँट की पीठ पर लाद दी और अनंग-प्रभा, पुरुष के वेष में घोड़े पर सवार होकर नाट्य-शिक्षक के साथ निकल गई ॥२७६॥

उसने पहले विद्याधर की लक्ष्मी का परित्याग करके राजलक्ष्मी को स्वीकार किया; उसके उपरान्त गाने-नाचनेवाले चारण का आश्रय लिया। स्त्रियों के इस प्रकार चंचल मन को धिक्कार है! ॥२७७॥

अनंगप्रभा, नाट्याचार्य के साथ जाकर क्रमशः वियोगपुर नामक नगर में पहुँची और वहाँ नाट्याचार्य के साथ सुख और स्वतन्त्रतापूर्वक रहने लगी ॥२७८॥

उस नाट्याचार्य ने उस सुन्दरी स्त्री को प्राप्त कर अपने लब्धवर नाम को सार्थक समझा ॥२७९॥

उधर राजा हरिवर अनंगप्रभा को कहीं भागी हुई जानकर उसके शोक से अपना शरीर त्याग करने को तैयार हुआ ॥२८०॥

तब सुमन्त्र नाम के मन्त्री ने राजा को धीरज बँधाते हुए कहा—'महाराज, आप क्या नहीं जानते, स्वयं ही विचार कीजिए ॥२८१॥

जो खड्गविद्याधर को छोड़कर तुम्हें देखते ही तुम्हारे साथ भाग आई, वह भला आपके साथ स्थिर होकर कैसे रह सकती है? अच्छी और उत्तम वस्तु से निःस्पृह वह स्त्री, किसी क्षुद्र पुरुष के साथ वैसे ही चली गई, जैसे घास की सलाई घास की ओर ही जाती है। ॥२८२–२८३॥

उसे अवश्य ही नाट्याचार्य भगा ले गया है; क्योंकि वह यहाँ नहीं है। वे दोनों नाट्यशाला में प्रातःकाल उपस्थित थे, ऐसा सुना गया है ॥२८४॥

अतः, हे स्वामिन्, इस प्रकार उसकी चंचलता को जानते हुए भी तुम्हें उसके प्रति इतना आग्रह क्यों है? क्योंकि, विलासिनी स्त्री सन्ध्या के समान क्षण-भर के लिए ही अनुरागिणी होती है ॥२८५॥

मन्त्री द्वारा इस प्रकार कहा गया राजा हरिवर, विचार में पड़ गया और सोचने लगा कि इस बुद्धिमान् मन्त्री ने ठीक ही कहा है ॥२८६॥

विलासिनी स्त्री, संसार की स्थिति के समान अन्त में नीरस, दुःखदायिनी, प्रत्येक क्षण में बदलनेवाली और अनित्य सम्बन्धवाली होती है ॥२८७॥

पतितं मज्जयन्तीषु दर्शितोत्कलिकासु च।
प्राज्ञः पतत्यगाधासु न स्त्रीषु च नदीषु च॥२८८॥
व्यसनेषु निरुद्वेगा विभवेष्वप्यगर्विताः।
कार्येष्वकातरा ये च ते धीरास्तैर्जितं जगत्॥२८९॥
इत्यालोच्य शुचं त्यक्त्वा मन्त्रिणो वचनेन सः।
स्वदारेष्वेव सन्तोषं राजा हरिवरो व्यधात्॥२९०॥
साप्यनङ्गप्रभा तत्र वियोगपुरनामनि।
नाट्याचार्ययुता तावत् कञ्चित्कालं स्थिता पुरे॥२९१॥
तावत्तत्राऽपि संजज्ञे नाट्याचार्यस्य दैवतः।
यूना सुदर्शनाख्येन द्यूतकारेण सङ्गतिः॥२९२॥
तेन द्यूतहृताशेषधनोऽनङ्गप्रभाग्रतः।
कृतः सुदर्शनेनाऽत्र नाट्याचार्योऽचिरेण सः॥२९३॥
तद्दोषादिव निःश्रीकं त्यक्त्वाऽनङ्गप्रभाऽथ तम्।
सा सुदर्शनमेवैतं प्रसह्याऽशिश्रियत् पतिम्॥२९४॥
नष्टदारधनः सोऽथ नाट्याचार्योऽप्रतिश्रयः।
वैराग्यात्तपसे बद्धजटो गङ्गातटं ययौ॥२९५॥
सा त्वनङ्गप्रभा तेन द्यूतकारेण सङ्गता।
सुदर्शनेन तत्रैव तस्थौ नवनवप्रिया॥२९६॥
एकदा च पतिस्तस्यास्तस्करैः स सुदर्शनः।
मुषिताशेषसर्वस्वः प्रविश्य रजनौ कृतः॥२९७॥
ततस्तां द्रविणाभावाद्दुःस्थितामनुतापिनीम्।
दृष्ट्वा सुदर्शनोऽनङ्गप्रभामिदमुवाच सः॥२९८॥
हिरण्यगुप्तनामा यः सुहृन्मेऽस्ति महाधनः।
तत्सकाशादृणं किञ्चिदेह्यद्य मृगयामहे॥२९९॥
इत्युक्त्वा दैवहतधीः स गत्वैव तया सह।
ऋणं हिरण्यगुप्तं तं वणिङ्मुख्यमयाचत॥३००॥
स चानङ्गप्रभां दृष्ट्वा वणिक् साऽपि च तं तदा।
अन्योन्यसाभिलाषौ तौ बभूवतुरुभावपि॥३०१॥
उवाच चैवं स वणिक् तं सुदर्शनमादरात्।
प्रातर्दास्ये हिरण्यं वामद्येहैव तु भुज्यताम्॥३०२॥

गिरे हुए को डुबाती हुई और उत्कंठा को दिखाती हुई अथाह नदियों और स्त्रियों के चक्कर में बुद्धिमान् फँस जाते हैं और उनमें डूब जाते हैं ॥२८८॥

जो विपत्ति में व्याकुल नहीं होते, सम्पत्ति में घमंड नहीं करते और कार्य के समय भागते नहीं, वे ही धीर पुरुष हैं। उन्होंने संसार को जीत लिया है ॥२८९॥

राजा हरिवर ने, ऐसा सोचकर और मन्त्री के कथन से सोच को त्याग कर अपनी अन्य स्त्रियों से ही सन्तोष किया ॥२९०॥

वह अनंगप्रभा भी उस वियोगपुर नगर में नाट्याचार्य के साथ कुछ समय तक रही ॥२९१॥

उस नगर में दैवयोग से उस नाट्याचार्य की एक युवा जुआरी सुदर्शन से मित्रता हो गई ॥२९२॥

उस जुआरी सुदर्शन ने, शीघ्र ही नाट्याचार्य का समस्त धन नष्ट कराकर उसे अनंगप्रभा के सामने दरिद्र बना दिया ॥२९३॥

इस क्रोध से अनंगप्रभा ने उस दरिद्र नाट्याचार्य को त्याग कर सुदर्शन को ही अपना पति बना लिया ॥२९४॥

स्त्री और धन के नाश से निराश होकर नाट्याचार्य, वैराग्य के कारण तपस्या करने के लिए जटा बाँधकर गंगा के तट पर जा बैठा ॥२९५॥

नये-नये पुरुषों को चाहनेवाली वह अनंगप्रभा अब उस जुआरी सुदर्शन के साथ रहने लगी ॥२९६॥

एक बार रात्रि के समय चोरों ने उसके घर में घुसकर अनंगप्रभा के नये पति जुआरी सुदर्शन का सर्वस्व चुराकर उसे कंगाल बना दिया ॥२९७॥

तब धन के अपहरण से दुःख में रहती हुई और पश्चात्ताप करती हुई अनंगप्रभा को देखकर सुदर्शन ने उससे कहा—॥२९८॥

'हिरण्यगुप्त नाम का एक धनवान् मेरा मित्र है। आओ, उससे कुछ धन उधार लें' ॥२९९॥

भाग्य से नष्टबुद्धि सुदर्शन ऐसा कहकर उसके साथ हिरण्यगुप्त के समीप गया और उससे कुछ ऋण माँगा ॥३००॥

वह बनिया और वह अनंगप्रभा, दोनों परस्पर आँखें मिलने पर एक दूसरे के प्रति आसक्त हो गये ॥३०१॥

तब उस वैश्य ने सुदर्शन से आदर के साथ कहा—'प्रातःकाल तुम दोनों को धन दूँगा। आज यहीं रहो और यहाँ भोजन करो' ॥३०२॥

तच्छ्रुत्वान्यादृशं भावमुपलक्ष्य तयोर्द्वयोः।
सुदर्शनोऽब्रवीन्नाहं भोजनेऽद्य पटुः[1] स्थितः ॥३०३॥
वणिक्पतिस्ततोऽवादीर्त्ताहि त्वद्वनिता सखे।
भुङ्क्तां प्रथममस्माकमेषा हि गृहमागता ॥३०४॥
इत्युक्तस्तेन तूष्णीं स बभूव कितवोऽपि सन्।
स चानङ्गप्रभायुक्तो ययावभ्यन्तरं वणिक् ॥३०५॥
तत्र चक्रे तया साकं पानाहारादिनिर्वृतिम्।
अतर्कितोपनतया लसन्मदविलासया ॥३०६॥
सुदर्शनः स तस्याश्च निर्गमं प्रतिपालयन्।
बहिः स्थितः संस्तद्भृत्यैरूचे तत्प्रेरितैस्ततः ॥३०७॥
भुक्त्वा गृहं गता सा ते निर्यान्ती न त्वयेक्षिता।
तत्त्वया किमिहाद्यापि क्रियते गम्यतामिति ॥३०८॥
सान्तः स्थिता न निर्याता न यास्यामीति स ब्रुवन्।
दत्वा पादप्रहारांस्तैस्तद्भृत्यैर्निरकाल्यत ॥३०९॥
ततः सुदर्शनो गत्वा दुःखितः स व्यचिन्तयत्।
कथं मे वणिजा दारा मित्रेणाप्यमुना हृताः ॥३१०॥
इहैवोपनतं वा मे स्वपापफलमीदृशम्।
यन्मया कृतमन्यस्य तदन्येन कृतं मम ॥३११॥
कुप्यामि किं तदन्यस्मै कोपार्हं तत्स्वकर्म मे।
तच्छिनद्मि न येन स्यात्पुनर्मम पराभवः ॥३१२॥
इत्यालोच्य क्रुधं त्यक्त्वा गत्वा बदरिकाश्रमम्।
द्यूतकारस्तदा तत्र भवच्छेदि व्यधात्तपः ॥३१३॥
सा च रूपाधिकं प्राप्य प्रियं तं वणिजं पतिम्।
रेमेऽनङ्गप्रभा भृङ्गी पुष्पात्पुष्पमिवागता ॥३१४॥
क्रमेण तस्य साऽत्राभूद्वणिजो विपुलश्रियः।
स्वामिनी सानुरागस्य प्राणेष्वपि धनेष्वपि ॥३१५॥
राजात्र वीरबाहुश्च तत्रस्थामेकसुन्दरीम्।
बुद्ध्वापि धर्ममर्यादां रक्षन्नैव जहार ताम् ॥३१६॥

---

१. स्वस्थ इत्यर्थः।

यह सुनकर और उन दोनों का परस्पर दूसरा ही भाव समझकर सुदर्शन ने कहा—'आज मैं भोजन के लिए तैयार नहीं हूँ' ॥३०३॥

यह सुनकर बनिये ने कहा—'मित्र, यदि ऐसा है, तो तुम नहीं तो तुम्हारी स्त्री, आज मेरे घर पर भोजन करे। क्योंकि, यह पहले-पहल मेरे घर पर आई है ॥३०४॥

बनिया के ऐसा कहने पर सुदर्शन, धूर्त होते हुए भी, चुप रहा और बनिया उसकी स्त्री को लेकर घर के अन्दर चला गया ॥३०५॥

घर में जाकर उसने एकाएक मिली हुई यौवन-मद से मत्त उस अनंगप्रभा के साथ भोजन, मद्यपान आदि का सुख लिया। उधर सुदर्शन, स्त्री की प्रतीक्षा में बाहर बैठा रहा। कुछ समय बाहर प्रतीक्षा में बैठे हुए सुदर्शन से बनिया के भेजे हुए उसके नौकरों ने आकर कहा—'तुम्हारी स्त्री भोजन करके घर चली गई, तुमने उसे जाते हुए नहीं देखा।' इसलिए तुम यहाँ बैठे हुए क्या कर रहे हो, जाओ अपने घर' ॥३०६—३०८॥

सुदर्शन ने उनसे कहा—'अभी वह अन्दर है। गई नहीं, इसलिए मैं नहीं जाऊँगा' ऐसा कहता हुआ सुदर्शन, बनिया के नौकरों द्वारा लात-घूसों से मारकर बाहर निकाल दिया गया ॥३०९॥

लात खाकर सुदर्शन, अपने घर चला गया और सोचने लगा कि इस बनिये ने, मित्र होकर भी मेरी स्त्री का अपहरण कर लिया ॥३१०॥

मुझे इसी लोक में अपने किये का फल मिल गया ; जो दुष्कर्म मैंने दूसरे के लिए किया, वही दूसरे ने मेरे साथ किया ॥३११॥

अतः, दूसरे पर मैं क्रोध क्या करूँ ? मेरा कर्म ही क्रोध करने योग्य है, इसलिए अपने कर्मों का छेदन करता हूँ, जिससे मेरा पुनर्जन्म और पुनः अपमान न हो ॥३१२॥

ऐसा सोचकर और क्रोध को छोड़कर वह जुआरी बदरिकाश्रम चला गया और वहाँ उसने संसार-बन्धन से मुक्त होने के लिए तपस्या की ॥३१३॥

इधर, वह अनंगप्रभा, अति सुन्दर और प्यारा वैश्य पति प्राप्त कर एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर फिरती हुई भ्रमरी के समान आनन्द लेने लगी ॥३१४॥

धीरे-धीरे अनंगप्रभा ने, विपुल सम्पत्तिशाली उस प्रणयी वैश्य के प्राणों पर और उसकी सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया ॥३१५॥

उस देश के राजा वीरबाहु ने, एकमात्र सुन्दरी उस अनंगप्रभा को वहाँ रहती हुई जानकर भी धर्म की मर्यादा रखते हुए उसका हरण नहीं किया ॥३१६॥

दिनैश्च तद्व्ययैः सोऽभूद्वणिगल्पीभवद्धनः।
म्लायति श्रीः कुलस्त्रीव गृहे बन्धक्यधिष्ठिते॥३१७॥
ततः सुवर्णभूम्याख्यं द्वीपं सम्भृतभाण्डकः।
हिरण्यगुप्तः स वणिक्प्रस्थितोऽभूद्वणिज्यया॥३१८॥
वियोगभीत्या चादाय तामनङ्गप्रभां सह।
व्रजन् पथि क्रमात्प्राप स सागरपुरं पुरम्॥३१९॥
तत्र सागरवीराख्यो वास्तव्यो धीवराधिपः।
नगरेऽम्भोधिनिकटे तस्यैको मिलितोऽभवत्॥३२०॥
तेनाब्धिजीविना साकं सोऽथ गत्वाम्बुधेस्तटम्।
तड्ढौकितं यानपात्रमारुरोह प्रियासखः॥३२१॥
ततोऽब्धौ यानपात्रेण तेन यावत्प्रयाति सः।
व्ययः सागरवीरेण दिनानि कतिचिद्वणिक्॥३२२॥
एकस्मिन्दिवसे तावज्ज्वलद्विद्युद्विलोचनः।
उग्रः संहारभयदः कालमेघः समाययौ॥३२३॥
स्वस्थूलवर्षधारेण वायुना बलिना हृतम्।
ततो मज्जितुमारेभे यानपात्रं तदूर्मिषु॥३२४॥
मुक्ताक्रन्दे परिजने मनोरथ इव स्वके।
मज्यमाने प्रवहणे कक्ष्याबद्धोत्तरीयकः॥३२५॥
वणिग्घि रण्यगुप्तः सोऽदृष्ट्वानङ्गप्रभामुखम्।
हा प्रिये क्व त्वमित्युक्त्वा चिक्षेपात्मानमम्बुधौ॥३२६॥
गत्वा च बाहुविक्षेपात् काञ्चित्प्राप स दैवतः।
वणिक्प्रवहणीमेकां तां चालम्ब्यारुरोह सः॥३२७॥
साप्यनङ्गप्रभा रज्जवा बद्धे फलहकोत्करे।
तेन सागरवीरेण झगित्येवाध्यरोप्यत॥३२८॥
स्वयं चारुह्य तत्रैव भीतामाश्वसयन् स ताम्।
प्लवमानो ययावब्धौ बाहुभ्यां वारि विक्षिपन्॥३२९॥
क्षणात् प्रवहणे भग्ने नष्टाभ्रमभवन्नभः।
साधोः प्रशान्तकोपस्य तुल्योऽभूत्स्तिमितोऽम्बुधिः॥३३०॥
स चारूढः प्रवहणं पञ्चाहेनानिलेरितम्।
हिरण्यगुप्तः प्रापाब्धेः कूलं दैवाद्वणिक्ततः॥३३१॥

कुछ दिनों में अनंगप्रभा के व्यय से, बनिए का धन घटने लगा। क्योंकि, दुराचारिणी स्त्री के घर में रहने पर, लक्ष्मी सदाचारिणी स्त्री के समान मुरझाने लगती है ॥३१७॥

धन का ह्रास देखकर वह वैश्य कुछ सामान एकत्र करके व्यापार के लिए सुवर्ण-द्वीप में जाने के लिए उद्यत हुआ ॥३१८॥

वियोग के भय से वह अनंगप्रभा को भी साथ लेकर चलता हुआ क्रमशः सागरपुर नाम के नगर में पहुँचा ॥३१९॥

वहाँ समुद्र-तट पर बसे हुए उस नगर में रहनेवाला धीवरों का सरदार सागरवीर उस वैश्य से मिला ॥३२०॥

उस समुद्रजीवी सागरवीर के साथ वह वैश्य, समुद्र-तट पर जाकर उससे लाये हुए जहाज पर अपनी पत्नी अनंगप्रभा के साथ सवार हो गया ॥३२१॥

वह वैश्य जब उस सागरवीर के साथ जहाज से जा रहा था, तब एक दिन जलती हुई बिजली-रूपी आँखोंवाला, प्रचंड त्रास तथा भय देनेवाला काला, मेघ आकाश में दीख पड़ा ॥३२२-३२३॥

प्रचंड वायु के कारण मूसलाधार वृष्टि प्रारम्भ हुई। समुद्र में भयंकर तूफान उठा और जहाज समुद्र की लहरों में डूबने लगा ॥३२४॥

इस स्थिति में वैश्य हिरण्यगुप्त के सभी सेवक चिल्लाने लगे, मानों उस जहाज के साथ उनका मनोरथ ही डूब रहा हो। तब हिरण्यगुप्त, अपने दुपट्टे को कमर में बाँधकर अनंगप्रभा के मुँह की ओर देखकर 'हा प्रिये, तू कहाँ', ऐसा कहकर डूबते हुए जहाज से समुद्र में कूद पड़ा ॥३२५—३२६॥

कूदकर हाथ फेंकते हुए उसे, दैवयोग से, बहती हुई एक लकड़ी की पट्टी हाथ लगी। उसे पकड़कर वह उसपर चढ़ गया ॥३२७॥

इधर अनंगप्रभा को भी उस सागरवीर ने बहुत तख्तों को रस्सी से बाँधकर बनाये हुए एक लम्बे-चौड़े काष्ठ-पट्ट पर शीघ्र ही चढ़ा लिया ॥३२८॥

और, स्वयं भी अनंगप्रभा को धीरज देता हुआ उसी पर चढ़ गया तथा हाथों से डाँड़ों का काम लेता हुआ वह समुद्र में तैरने लगा ॥३२९॥

जहाज के टूट जाने और डूब जाने पर पल-भर में आकाश मेघ-रहित तथा निर्मल हो गया। और, समुद्र, क्रोध के शान्त होने पर सज्जन हृदय के समान निश्चल हो गया ॥३३०॥

एक तख्ते पर चढ़ा हुआ हिरण्यगुप्त, अनुकूल वायु के चलने पर बहता हुआ पाँच दिनों में दैवयोग से समुद्र के तट पर आ लगा ॥३३१॥

अवतीर्य तटे सोऽथ प्रियाविरहदुःखितः।
अशक्यप्रतिकारं च मत्वा विधिविचेष्टितम् ॥३३२॥
गत्वा शनैः स्वनगरं बद्ध्वा धीराशयो धृतिम्।
हिरण्यगुप्तो भूयोऽर्थानुपार्ज्यास्त सुनिर्वृतः ॥३३३॥
सा त्वनङ्गप्रभैकाहाच्चित्रं फलहकस्थिता ॥
तेन सागरवीरेण प्रापिताम्भोनिधेस्तटम् ॥३३४॥
तत्राश्वास्य च नीताभूद्धीवरेन्द्रेण तेन सा।
तत्सागरपुरं नाम नगरं भवनं निजम् ॥३३५॥
तत्र राजसमश्रीकं वीरं प्राणप्रदायिनम्।
सुयौवनं सुरूपं च विचिन्त्याज्ञाविधायिनम् ॥३३६॥
तमेव चक्रे सानङ्गप्रभा दाशपतिं पतिम्।
न स्त्री चलितचारित्रा निम्नोन्नतमवेक्षते ॥३३७॥
ततः कैवर्त्तपतिना तेन साकमुवास सा।
तद्वेश्मन्युपभुञ्जाना तत्समृद्धिं तदर्पिताम् ॥३३८॥

अनङ्गप्रभामदनप्रभयोः कथा

एकदा सात्र हर्म्याग्रादपश्यद्रथ्यया तया।
यान्तं विजयवर्माख्यं भव्यं क्षत्रियपुत्रकम् ॥३३९॥
रूपलुब्धावतीर्यैव तमुपेत्य जगाद सा।
दर्शनाकृष्टचित्तां मां भज प्रणयिनीमिति ॥३४०॥
स चाभिनन्द्य हृष्टस्तामाकाशपतितामिव।
गृहीत्वा च जगाम स्वं गृहं त्रैलोक्यसुन्दरीम् ॥३४१॥
सोऽथ सागरवीरस्तां बुद्ध्वा क्वापि गतां प्रियाम्।
त्यक्त्वा सर्वं तनुं त्यक्ष्यंस्तपसा सुरनिम्नगाम् ॥३४२॥
यदगात्तत्कथं मा भूद्दुःखं तस्य तथाविधम्।
क्व दाशत्वं क्व तादृश्या विद्याधर्या हि सङ्गमः ॥३४३॥
सा चानङ्गप्रभा तेन समं विजयवर्मणा।
तस्थौ तत्रैव नगरे यथासुखमनर्गला ॥३४४॥
ततः कदाचित् तत्रत्यः समारूढकरेणुकः।
राजा सागरवर्माख्यो निरगाद्भ्रमितुं पुरम् ॥३४५॥

तट पर तख्ते से उतरा हुआ हिरण्यगुप्त अपनी प्रेयसी अनंगप्रभा के दुःख से दुःखित होकर इस घटना को अवश्यम्भावी दैवयोग समझने लगा ॥३३२॥

इस प्रकार, धीरे-धीरे चलकर वह धैर्यशाली वैश्य अपने नगर को जाकर धीरज बाँधकर निश्चिन्तता पूर्वक व्यापार से धन कमाने लगा ॥३३३॥

आश्चर्य यह है कि तख्तों पर बैठी हुई उस अनंगप्रभा को सागरवीर ने एक ही दिन में, समुद्र के तट पर पहुँचा दिया ॥३३४॥

तट पर पहुँचकर सागरवीर द्वारा धीरज बँधाई गई अनंगप्रभा को उसने सागरपुर मे अपने घर पहुँचा दिया ॥३३५॥

वहाँ पर राजा के समान सम्पत्तिवाले, वीर, प्राण देनेवाले युवक और सुन्दर सागरवीर को अपना आज्ञाकारी समझकर दाशों (धीवरों) के सरदार को ही उस अनंगप्रभा ने अपना पति बना लिया। सच है, चरित्रहीन स्त्री, नीच-ऊँच का विचार नहीं करती ॥३३६-३३७॥

तब वह अनंगप्रभा, उसी दाशों के राजा के साथ उसके ही घर में उसकी धन-सम्पत्ति का उपभोग करती हुई रहने लगी ॥३३८॥

एक बार उस अनंगप्रभा ने अपने ऊँचे महल की छत से किसी गली से जाते हुए विजयवर्मा नामक सुन्दर राजपूत को देखा ॥३३९॥

उसके सुन्दर रूप के लोभ से वह अनंगप्रभा छत से उतरकर और उसके पास जाकर उससे कहने लगी कि तुम्हारे रूप को देखते ही मेरा चित्त तुम्हारी ओर खिंच गया है। इसलिए, तुम मेरा उपभोग करो ॥३४०॥

उसने उसका प्रस्ताव स्वीकार किया और आकाश से गिरी हुई उस त्रैलोक्यसुन्दरी को लेकर वह अपने घर चला गया ॥३४१॥

उसके भाग जाने पर वह सागरवीर उसे भागी हुई समझकर और सब कुछ त्याग कर तपस्या द्वारा शरीर छोड़ने के लिए गंगा के तट पर चला गया। भला, यह दुःख उसे क्यों नही होता; क्योंकि कहाँ वह बेचारा धीवर और कहाँ दिव्य रूपवाली उस विद्याधरी का समागम ॥३४२–३४३॥

वह अनंगप्रभा भी, उस विजयवर्मा के साथ स्वच्छन्द रूप से उसी नगर में रहने लगी ॥३४४॥

किसी समय हस्तिनी पर चढ़ा हुआ उस नगर का राजा सागरवर्मा, नगर में घूमने के लिए निकला ॥३४५॥

स्वनामसंज्ञं स्वकृतं स पश्यंस्तत्पुरं नृपः।
तेनाययौ पथा यत्र गृहं विजयवर्मणा ॥३४६॥
बुद्ध्वा च नृपमायान्तं तद्दर्शनकुतूहलात्।
आरुरोहात्र सानङ्गप्रभा हर्म्यतलं तदा ॥३४७॥

अनंगप्रभामदनप्रभयोः कथा

दृष्ट्वैव सा तं राजानं तथाभूत्तद्वशा यथा।
हठाद्राजकरेणुस्थं हस्त्यारोहमभाषत ॥३४८॥
भो हस्त्यारूढ नैवाहमारूढा जातु हस्तिनम्।
तदारोहय मामत्र वीक्षे तावत् कियत्सुखम् ॥३४९॥
तच्छ्रुत्वाधोरणे तस्मिन् राजाननविलोकिनि।
राजा ददर्श तामिन्दोर्दिवः कान्तिमिव च्युताम् ॥३५०॥
पिबंश्च तामतृप्तेन चकोर इव चक्षुषा।
नृपस्तत्प्राप्तिबद्धाशो हस्त्यारोहमुवाच सः ॥३५१॥
नीत्वा करेणुं निकटं पूरयास्या मनोरथम्।
आरोपयेन्दुवदनामेतामत्राविलम्बितम् ॥३५२॥
इति राज्ञोदिते तेन हस्त्यारोहेण ढौकिता।
अधस्तात्तस्य हर्म्यस्य तत्क्षणं सा करेणुका ॥३५३॥
दृष्ट्वा तां निकटप्राप्तां राज्ञः सागरवर्मणः।
उत्सङ्गे तस्य सानङ्गप्रभात्मानमपातयत् ॥३५४॥
क्वादौ स भर्तृविद्वेषः क्वैषा भर्तृष्वतृप्तता।
हा तस्याः पितृशापेन दर्शितोऽतिविपर्ययः ॥३५५॥
निपातभीतेव च सा कण्ठे तं नृपमग्रहीत्।
तत्स्पर्शामृतसिक्ताङ्गः सोऽपि प्राप परां मुदम् ॥३५६॥
युक्त्या समर्पितात्मानं परिचुम्बनलालसाम्।
तां स राजा गृहीत्वैव जगामाशु स्वमन्दिरम् ॥३५७॥
तत्र तामुक्तवृत्तान्तां तदैव द्युचराङ्गनाम्।
स चकार महादेवीं प्रवेश्यान्तःपुरे नृपः ॥३५८॥
बुद्ध्वा राजहृतामेतामेत्य क्षत्रमिवाथ सः।
बर्हिर्विजयवर्मात्र राजभृत्यानयोधयत् ॥३५९॥
युद्धे च तत्र तत्याज शरीरमपराङ्मुखः।
न शूरा विषहन्ते हि स्त्रीनिमित्तं पराभवम् ॥३६०॥

अपने नाम से प्रसिद्ध और अपने ही बनाये हुए उस नगर को देखता हुआ वह राजा उसी मार्ग से आ निकला; जिस मार्ग पर विजयवर्मा का घर था ॥३४६॥

राजा को उस मार्ग से आते हुए जानकर उसे देखने के कौतूहल से अनंगप्रभा अपने भवन के छत पर जा चढ़ी ॥३४७॥

अनंगप्रभा और मदनप्रभ की कथा

राजा को देखकर, उस पर इस प्रकार आकृष्ट हुई कि वह राजा की हस्तिनी पर चढ़े हुए महावत से बलपूर्वक कहने लगी—॥३४८॥

'हे हाथीवान, मैं हाथी पर कभी नहीं चढ़ी हूँ। इसलिए, तुम मुझे चढ़ा लो, जिससे मैं भी जानूँ कि हाथी पर चढ़ने से क्या सुख होता है ॥३४९॥

यह सुनकर महावत जब राजा का मुँह देखने लगा, तब राजा ने भी पृथ्वी पर स्वर्ग से गिरी हुई चन्द्रमा की कान्ति के समान सुन्दरी अनंगप्रभा की ओर देखा ॥३५०॥

और, चकोर के समान उसे अतृप्त नेत्रों से पीता हुआ राजा उसके पाने की लालसा से महावत को कहने लगा—'हस्तिनी को पास लेजाकर इसकी इच्छा पूर्ण करो। इस चन्द्रमुखी को शीघ्र ही हाथी पर बैठाओ' ॥३५१-३५२॥

राजा के इस प्रकार कहने पर महावत द्वारा चलाई गई हस्तिनी उसी समय उस घर के नीचे आ गई ॥३५३॥

हस्तिनी को घर के समीप आई हुई देखकर अनंगप्रभा ने, अपने को (जान-बूझकर) राजा की गोद में गिरा दिया ॥३५४॥

उसे कहाँ तो पहले पति बनाने में ही द्वेष था और कहाँ अब नये-नये पतियों से भी तृप्ति नहीं होती ! खेद है कि माता-पिता के शाप से कितना उलट-फेर हो गया ? ॥३५५॥

गिरने का भय दिखाकर वह अनंगप्रभा, राजा के गले से चिपक गई। राजा भी उसके शरीर-स्पर्श-रूपी अमृत से सिक्त होकर परम आनन्द को प्रा त किया ॥३५६॥

बड़ी युक्ति से अपने को राजा की गोद में डालती हुई और गले से चिपककर उसका चुंबन करने की इच्छा रखनेवाली उस अनंगप्रभा को लिये हुए राजा शीघ्र अपने महल में आया ॥३५७॥

महल में आकर अपना वृत्तान्त सुनाती हुई उस विद्याधरी को राजा ने, अपने रनिवास में ले जाकर उसी समय उसे अपनी महारानी बना लिया ॥३५८॥

विजयवर्मा ने, घर पर आकर और राजा द्वारा अनंगप्रभा का अपहरण जानकर अपने क्षत्रियपन की आन में आकर राजभवन के बाहर उसके रक्षकों से युद्ध प्रारम्भ कर दिया ॥३५९॥

और, युद्ध में पीठ न दिखाकर वहीं उसने अपना शरीर त्याग दिया; क्योंकि शूर लोग, स्त्री के कारण होनेवाले अपमान को सहन नहीं करते ॥३६०॥

किमेतया वराक्या ते भजास्मानेहि नन्दनम्।
इतीव च सुरस्त्रीभिः स नीतोऽभूत् सुरालयम्॥३६१॥
साप्यनङ्गप्रभा तस्मिन् राज्ञि सागरवर्मणि।
नदीव सागरे स्थैर्यं बबन्धानन्यगामिनी॥३६२॥
भवितव्यबलान्मेने तेन पत्या कृतार्थताम्।
सोऽपि जन्मफलं प्राप्तं तयामन्यत भार्यया॥३६३॥
दिनैश्च तस्य राज्ञी सा राज्ञः सागरवर्मणः।
दध्रेऽनङ्गप्रभा गर्भं काले च सुषुवे सुतम्॥३६४॥
नाम्ना समुद्रवर्माणं तं स राजा पिता शिशुम्।
चकार विहितोदारपुत्रजन्ममहोत्सवः॥३६५॥
क्रमाच्च वृद्धिमायातं सगुणं प्राप्तयौवनम्।
यौवराज्येऽभिषिञ्चत्तं सुतं स भुजशालिनम्॥३६६॥
विवाहहेतोस्तस्याथ सूनोः समरवर्मणः।
राज्ञः कमलवत्याख्यां सुतामाहरति स्म सः॥३६७॥
कृतोद्वाहाय तस्मै च पुत्रायावर्जितो गुणैः।
समुद्रवर्मणे राज्यं निजं प्रादात् स भूपतिः॥३६८॥
सोऽपि प्राप्यैव तद्राज्यमोजस्वी क्षत्रधर्मवित्।
समुद्रवर्मा पितरं प्रणतस्तं व्यजिज्ञपत्॥३६९॥
अनुजानीहि मां तात दिशो जेतुं व्रजाम्यहम्।
अजिगीषुः पतिर्भूमेर्निन्द्यः क्लीव इव स्त्रियः॥३७०॥
धर्म्या कीर्त्तिकरी सा च लक्ष्मीरिह महीभुजाम्।
या जित्वा परराष्ट्राणि निजबाहुबलार्जिता॥३७१॥
किं तेषां तात राजत्वं क्षुद्राणामभिभूतये।
स्वप्रजामेव खादन्ति मार्जारा इव लोलुपाः॥३७२॥
इत्यूचिवान् स तेनोचे पित्रा सागरवर्मणा।
नूतनं पुत्र राज्यं ते तत्तावत्त्वं प्रसाधय॥३७३॥
नास्त्यपुण्यमकीर्त्तिर्वा प्रजा धर्मेण शासतः।
अनवेक्ष्य च शक्तिं स्वां युक्तो राज्ञां न विग्रहः॥३७४॥
वत्स यद्यपि शूरस्त्वं सैन्यमस्ति च ते बहु।
तथापि नैव विश्वासो जयश्रीश्चपला रणे॥३७५॥

'उस दुराचारिणी स्त्री से क्या करोगे ? आओ, नन्दन उद्यान में हमारा उपभोग करो।'—मानों यह कहती हुई दिव्यांगनाएँ आकर उसे (विजयवर्मा को) स्वर्ग ले गईं ॥३६१॥

वह अनंगप्रभा भी उस राजा के पास वैसे ही स्थिर हो गई, जैसे नदी सागर में जाकर स्थिर हो जाती है ॥३६२॥

अनंगप्रभा ने भवितव्य के कारण उस पति (सागरवर्मा) से अपने को कृतार्थ समझा और राजा ने भी, ऐसी सुन्दरी पत्नी पाकर अपना जन्म सफल समझा ॥३६३॥

कुछ दिनों पश्चात् सागरवर्मा की उस रानी ने राजा से गर्भ धारण किया और यथासमय पुत्र को जन्म दिया ॥३६४॥

पिता राजा ने, उस बालक का नाम समुद्रवर्मा रखा और उदारता के साथ पुत्रजन्म का महोत्सव मनाया ॥३६५॥

क्रमशः बड़े हुए, गुणवान्, युवा और बलशाली समुद्रवर्मा को राजा ने युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिया ॥३६६॥

तदनन्तर, उस समुद्रवर्मा के विवाह के लिए राजा ने समरवर्मा राजा की कमलवती नामक कन्या की माँग की ॥३६७॥

और, विवाहित युवराज को उसके गुणों से आकृष्ट राजा सागरवर्मा ने अपना समस्त राज्य दे डाला ॥३६८॥

ओजस्वी और क्षत्रिय-धर्म को जाननेवाले समुद्रवर्मा ने भी, पिता से राज्य पाकर उसे प्रणाम करते हुए निवेदन किया—॥३६९॥

'हे पिता, मुझे आज्ञा दीजिए। मैं दिशाओं को जीतने के लिए जाता हूँ; क्योंकि पृथ्वी को जीतने की इच्छा न करनेवाला राजा पृथ्वी को वैसे ही प्रिय नहीं होता, जैसे स्त्री को नपुंसक पति ॥३७०॥

राजा की वही राजलक्ष्मी धर्मशीला और कीर्त्तिदायिनी होती है, जो परराष्ट्रों को जीतकर अपनी भुजाओं के बल से प्राप्त की जाती है ॥३७१॥

हे पिता, इन क्षुद्र राजाओं का राज्य क्या है, जो लोभी बिलाव के समान अपनी उन्नति के लिए अपनी ही प्रजा को खाते रहते हैं' ॥३७२॥

ऐसा कहते हुए पुत्र से सागरवर्मा ने कहा—'बेटा, तुम्हारा राज्य अभी नया है। अतः, तुम पहले इसे ही ठीक करो। धर्म से प्रजाओं का पालन करनेवाला राजा पापी या निन्दनीय नहीं होता। अपनी शक्ति और सामर्थ्य को बिना देखे-समझे, समस्त राजाओं से विरोध लेना उचित नहीं है ॥३७३-३७४॥

बेटा, यद्यपि तुम शूरवीर हो और तुम्हारे पास सेना भी बहुत है, तो भी विजय पर विश्वास नहीं; क्योंकि युद्ध में विजयलक्ष्मी अस्थिर रहती है, ॥३७५॥

इत्यादि पित्रा प्रोक्तोऽपि तमनुज्ञाप्य यत्नतः।
समुद्रवर्मा स ययौ तेजस्वी दिग्जिगीषया ॥३७६॥
क्रमेण च दिशो जित्वा स्थापयित्वा वशे नृपान्।
प्राप्तहस्त्यश्वहेमादिराययौ नगरं निजम् ॥३७७॥
तत्र पित्रोर्महारत्नैर्नानादेशोद्भवैश्च सः।
चरणौ पूजयामास प्रणतः परितुष्टयोः ॥३७८॥
तदाज्ञया च प्रददौ ब्राह्मणेभ्यो महायशाः।
महादानानि हस्त्यश्वहेमरत्नमयानि सः ॥३७९॥
ततो वसु तथार्थिभ्यो भृत्येभ्यश्च ववर्ष सः।
एको दरिद्रशब्दोऽत्र यथाभूदर्थवर्जितः ॥३८०॥
तद्दृष्ट्वा पुत्रमाहात्म्यमात्मनः कृतकृत्यताम्।
राजा सागरवर्मा स मेनेऽनङ्गप्रभायुतः ॥३८१॥
उत्सवेन च नीत्वा तान्यहानि नृपतिः स तम्।
पुत्रं समुद्रवर्माणमवोचन्मन्त्रिसन्निधौ ॥३८२॥
यन्मया पुत्र कर्त्तव्यं कृतं तदिह जन्मनि।
भुक्तं राज्यसुखं दृष्टः परेभ्यो न पराभवः ॥३८३॥
दृष्टस्त्वं चात्तसाम्राज्यः किमन्यत् प्राप्यमस्ति मे।
तदाश्रयाम्यहं तीर्थं यावन्मे ध्रियते तनुः ॥३८४॥
विनश्वरे शरीरेऽस्मिन् किमद्यापि गृहे तव।
इतीवैषा जरा पश्य कर्णमूले ब्रवीति मे ॥३८५॥
इत्युक्त्वा स सुतेऽनिच्छत्यपि तस्मिन् नृपः कृती।
ययौ सागरवर्माऽथ प्रयागं प्रियया सह ॥३८६॥
तमनुव्रज्य पितरं स चागत्य निजं पुरम्।
समुद्रवर्मा स्वं राज्यं यथाविधि शशास तत् ॥३८७॥
राजा सागरवर्माऽपि सोऽनङ्गप्रभया युतः।
प्रयागे तपसा देवं वृषध्वजमतोषयत् ॥३८८॥
स स्वप्ने तमुवाचैवं त्रिपुरारिर्निशाक्षये।
तुष्टोऽस्मि ते सभार्यस्य तपसा तदिदं शृणु ॥३८९॥
एषानङ्गप्रभा त्वं च युवां विद्याधरावुभौ।
शापक्षयान्निजं लोकं प्रातः पुत्र गमिष्यथः ॥३९०॥

पिता के इस प्रकार कहने पर भी तेजस्वी समुद्रवर्मा पिता से आज्ञा लेकर दिग्विजय के लिए निकल पड़ा ॥३७६॥

तदनन्तर, क्रमशः दिशाओं को जीतकर और राजाओं को वश में करके बहुत-से हाथी, घोड़े, सेना, रत्न आदि प्राप्त करके अपने नगर को लौट आया ॥३७७॥

और, उसने भिन्न-भिन्न देशों में उत्पन्न होनेवाले विविध प्रकार के रत्नों से, प्रसन्न माता-पिता के चरणों में प्रणाम कर उनकी पूजा की ॥३७८॥

उनकी आज्ञा से उस महायशस्वी समुद्रवर्मा ने ब्राह्मणों को हाथी, घोड़े, सोना, रत्न आदि दान में दिये ॥३७९॥

उसने अपने सेवकों और सम्बन्धियों पर अर्थ की ऐसी वर्षा की कि एक केवल 'दरिद्र' शब्द ही अर्थहीन रह गया ॥३८०॥

इस प्रकार, पुत्र की महिमा देखकर अनंगप्रभा से युक्त राजा सागरवर्मा ने अपने को कृतकृत्य समझा ॥३८१॥

इस प्रकार सागरवर्मा ने उन दिनों को उत्सव के साथ व्यतीत करके मंत्रियों के सामने पुनः समुद्रवर्मा से कहा—॥३८२॥

'बेटा, मैंने इस जन्म में जो भी करना था, कर लिया। राज्य का सुख देखा, किन्तु शत्रुओं द्वारा पराजय नहीं देखा ॥३८३॥

और साम्राज्य-प्राप्त तुम्हें भी देखा। अब मुझे क्या चाहिए। अतः, जबतक यह शरीर है, तबतक किसी तीर्थ का आश्रय लेता हूँ ॥३८४॥

यह शरीर नष्ट होनेवाला है। अब घर में मेरा क्या धरा है। देखो, वृद्धावस्था मेरे कानों के पास आकर यही कह रही है' ॥३८५॥

ऐसा कहकर पुत्र के न चाहते हुए भी वह सफल राजा सागरवर्मा, पत्नी अनंगप्रभा के साथ प्रयाग चला गया ॥३८६॥

समुद्रवर्मा कुछ दूर तक पिता को छोड़ने जाकर और फिर राजधानी में लौटकर न्यायपूर्वक अपने राज्य का शासन करने लगा ॥३८७॥

अनंगप्रभा-सहित राजा सागरवर्मा ने भी प्रयाग में जाकर तपस्या करके शिवजी को प्रसन्न किया ॥३८८॥

तपस्या से सन्तुष्ट शिवजी ने रात्रि के अन्त में स्वप्न में आकर कहा—'मैं सपत्नीक तेरे तप से प्रसन्न हूँ। अतः यह सुनो—॥३८९॥

यह अनंगप्रभा और तुम दोनों विद्याधर हो। अब तुम्हारा शाप क्षय होने से प्रातःकाल ही तुम दोनों विद्याधर-लोक को चले जाओगे' ॥३९०॥

तच्छ्रुत्वा स प्रबुबुधे राजानङ्गप्रभा च सा।
तद्वदालोकितस्वप्ना तच्चान्योन्यमथोचतुः ॥३९१॥
ततश्च नृपतिं तं सा हृष्टानङ्गप्रभाभ्यधात्।
आर्यपुत्र मया जातिः कृत्स्नात्मीया स्मृताधुना ॥३९२॥
अहं विद्याधरेन्द्रस्य समरस्यात्मसम्भवा।
एषानङ्गप्रभा नाम पुरे वीरपुराभिधे ॥३९३॥
पितृशापादिहागत्य विद्याभ्रंशेन मानुषी।
भूत्वा विद्याधरीभावं साहं व्यस्मरमात्मनः ॥३९४॥
इदानीं च प्रबुद्धाहमिति यावच्च वक्ति सा।
तावत् सोऽवततारात्र समरस्तत्पिता दिवः ॥३९५॥
नमस्कृतः स तेनात्र राज्ञा सागरवर्मणा।
उवाच पादपतितां तामनङ्गप्रभां सुताम् ॥३९६॥
एहि पुत्रि गृहाणैता विद्याः शापः स ते गतः।
त्वयाष्टजन्मदुःखं हि भुक्तमेकत्र जन्मनि ॥३९७॥
इत्युक्त्वोत्सङ्गमारोप्य विद्यास्तस्यै पुनर्ददौ।
ततः सागरवर्माणं राजानं तमभाषत ॥३९८॥
भवान् विद्याधराधीशो मदनप्रभसंज्ञकः।
अहं च समरो नाम सुतानङ्गप्रभा मम ॥३९९॥
प्रदेया पूर्वमेषा च वरैस्तैस्तैर्ग्याच्यत।
न च तेषां कमप्यैच्छद् भर्त्तारं रूपगर्विता ॥४००॥
ततस्तुल्यगुणेनैषा त्वयात्युत्केन याचिता।
विधियोगाच्च न तदा त्वमप्यङ्गीकृतोऽनया ॥४०१॥
मर्त्यलोकागमायास्यास्तेन शापमदामहम्।
भूयान् मे मर्त्यलोकेऽपि भार्येयमिति रागिणा ॥४०२॥
सङ्कल्प्य हृदये ध्यात्वा वरदं गिरिजापतिम्।
योगेन स्वा तनुस्त्यक्ता ततो वैद्याधरी त्वया ॥४०३॥
ततस्त्वं मानुषो जातो जाता भार्या तवाप्यसौ।
आगच्छतमिदानीं स्वं लोकं युक्तौ युवां मिथः ॥४०४॥
इति समरेण स उक्तः स्मृतजातिस्तां तनुं प्रयागजले।
मुक्त्वा सागरवर्मा बभूव मदनप्रभः सद्यः ॥४०५॥

यह सुनकर राजा की नींद खुल गई और स्वप्न देखती हुई रानी भी जाग उठी। तब दोनों आश्चर्य-चकित होकर परस्पर स्वप्न-समाचार कहने लगे ।।३९१।।

तब प्रसन्न अनंगप्रभा राजा से कहने लगी—'महाराज, मैंने अभी अपनी सम्पूर्ण जाति स्मरण कर ली। मैं विद्याधरों के राजा समर की कन्या हूँ। वीरपुर नाम के नगर में अनंगप्रभा नाम से मैं उत्पन्न हुई। पिता के शाप से मर्त्यलोक में आकर और मानुषी बनकर मैं अपने विद्याधरी-भाव को भूल गई। अब मैं जान गई हूँ। जबतक वह ऐसा कह ही रही थी कि इतने में उसका पिता समर विद्याधर, आकाश से उतरा ।।३९२—३९५।।

राजा सागरवर्मा ने उसे नमस्कार किया, तब वह समर, पैरों पर पड़ी हुई पुत्री अनंग-प्रभा से कहने लगा—।।३९६।।

'आओ बेटी, अपनी इन विद्याओं को ग्रहण करो। तुम्हारा शाप नष्ट हो गया। तूने एक ही जन्म में आठ जन्मों का दुःख भोग लिया ।।३९७।।

इस प्रकार कहकर और उसे गोद में उठाकर समर ने, अपनी विद्याएँ प्रदान की। तब समर ने, राजा सागरवर्मा से कहा—'तुम मदनप्रभ नाम के विद्याधर-राजा हो। मैं समर नाम का विद्याधर-राजा हूँ और यह अनंगप्रभा मेरी कन्या है ।।३९८-३९९।।

पहले इसे जिन वरों ने विवाह के लिए माँगा था, उनमें से इस रूपगर्विता ने किसी एक को भी नही चाहा ।।४००।।

उसी समय इसके समान गुणवाले तू ने भी इसे माँगा था। दैवयोग से उस समय इसने तुझे भी स्वीकार नहीं किया ।।४०१।।

तब मैंने इसे मर्त्यलोक में जाने का शाप दिया। मर्त्यलोक में भी इसके प्रेमी तूने 'यह मेरी पत्नी बने' इस प्रकार का संकल्प करके वरदानी शिव की अराधना की और योग द्वारा अपने विद्याधर-शरीर को छोड़ा ।।४०२-४०३।।

तब तू मनुष्य हुआ और यह भी तेरी मानुषी भार्या बनी। अब तुम दोनों परस्पर मिलकर अपने विद्याधर-लोक को जाओ' ।।४०४।।

समर द्वारा इस प्रकार कहे गये सागरवर्मा ने अपने पूर्वजन्म का स्मरण करके प्रयाग-संगम में अपने मानव-शरीर को छोड़ दिया और वह तुरन्त मदनप्रभ बन गया ।।४०५।।

तच्छ्रुत्वा गोमुखोऽवादीत्साधूक्तं मरुभूतिना।
किं पुनर्नापराधोऽस्ति तव देवात्र कश्चन॥५॥
क्षयो यावन्न वृत्तो हि पापस्य परिपन्थिनः।
तावद्दानप्रवृत्तोऽपि दातुं शक्नोति न प्रभुः॥६॥
परिक्षीणे पुनः पापे वार्यमाणोपि यत्नतः।
ईश्वरः प्रददात्येव कर्मायत्तमिदं किल॥७॥
तथा च लक्षदत्तस्य राज्ञः कार्पटिकस्य च।
लब्धदत्तस्य देवैतां कथामाख्यामि ते शृणु॥८॥

राज्ञो लक्षदत्तस्य लब्धदत्त कार्पटिकस्य च कथा

अभूल्लक्षपुरं नाम नगरं वसुधातले।
तत्रासील्लक्षदत्ताख्यस्त्यागिनामग्रणीर्नृपः॥९॥
लक्षादूनं न दातुं स जानाति स्म किलार्थिने।
सम्बभाषे तु यं तस्मै ददौ लक्षाणि पञ्च सः॥१०॥
तुतोष यस्मै स पुनर्निर्दारिद्र्यं चकार तम्।
लक्षदत्त इति ख्यातं नाम तस्यात एव तत्॥११॥
तस्यैको लब्धदत्ताख्यः सिंहद्वारे दिवानिशम्।
तस्थौ कार्पटिकश्चर्मखण्डैककटिकर्पटः॥१२॥
स निबद्धजटः शीतवर्षे ग्रीष्मातपेऽपि वा।
न चचाल ततः क्षिप्रं स राजा च ददर्श तम्॥१३॥
तथा तस्य चिरं तत्र तिष्ठतः क्लेशवर्त्तिनः।
न स राजा ददौ किञ्चिद्दातापि सकृपोऽपि सन्॥१४॥
अथैकदा स नृपतिर्जगामाखेटकाटवीम्।
स च तं लगुडं बिभ्रदन्वक्कार्पटिको ययौ॥१५॥
तत्र तस्य ससैन्यस्य वाहनस्थस्य धन्विनः।
व्याघ्रान्वराहान्हरिणान्बाणवर्षेण निघ्नतः॥१६॥
अग्रतः पादचारी सन्स कार्पटिक एककः।
जघान लगुडेनैव वराहान्हरिणान्बहून्॥१७॥
स दृष्ट्वा विक्रमं तस्य चित्रं शूरः कियानयम्।
इति दध्यौ स राजान्तर्न त्वस्मै किञ्चिदप्यदात्॥१८॥

यह सुनकर गोमुख ने कहा—'स्वामिन्, मरुभूति ने ठीक ही कहा है। किन्तु महाराज! इसमें आपका कुछ भी अपराध नहीं है। जबतक धन के विरोधी उसके पाप का क्षय न होगा, तबतक देनेवाला स्वामी, चाहने पर भी, उसकी दरिद्रता को दूर नहीं कर सकता ॥५-६॥

पाप के नष्ट हो जाने पर बलपूर्वक रोकने पर भी, ईश्वर, किसी-न-किसी प्रकार दे ही देता है। यह सब कर्म के अधीन है ॥७॥

इस सम्बन्ध में राजा लक्षदत्त और कार्पटिक लब्धदत्त की कथा[1] सुनो ॥८॥

राजा लक्षदत्त और लब्धदत्त भिखारी की कथा

पृथ्वी पर लक्षपुर नाम का एक नगर था। उसमें दानियों में अग्रणी लक्षदत्त नाम का राजा था ॥९॥

वह राजा याचक को एक लाख से कम देना जानता ही न था। जिस याचक से वह बात कर लेता था, उसे पाँच लाख देता था ॥१०॥

जिस पर वह प्रसन्न हो जाता था, उसकी तो वह जन्म-भर की दरिद्रता ही दूर कर देता था। इसीलिए, उसका नाम लक्षदत्त था ॥११॥

उस राजा के सिंह-द्वार पर एक चमड़े के टुकड़े से शरीर को ढके हुए एक भिखारी दिन-रात बैठा रहता था ॥१२॥

सिर पर जटाओं को बाँधे हुए वह भिखारी, शीत में, वर्षा में और कड़ी धूप में भी राजद्वार से जरा भी हिलता न था और राजा सदा उसे उसी स्थिति में देखता था ॥१३॥

इस प्रकार, बहुत समय कष्ट के साथ व्यतीत करने पर राजा ने दयालु और दानी होने पर भी कुछ नहीं दिया ॥१४॥

एक बार, वह राजा शिकार खेलने के लिए घने जंगल में गया। उसके पीछे लट्ठ लेकर वह भिखारी भी गया ॥१५॥

जब कि सेना के साथ वाहन पर बैठा हुआ राजा धनुष धारण किये हुए बाघों, सूअरों और मृगों को बाणों से मार रहा था; तब वह भिखारी कार्पटिक, राजा के आगे रहकर सुदृढ़ (मजबूत) डंडे के प्रहार से ही उन हिंस्र पशुओं को मार डालता था ॥१६-१७॥

उस दरिद्र कार्पटिक के अद्भुत पराक्रम को देखकर, उसे वीर मानता हुआ भी राजा ने उसे कुछ नहीं दिया ॥१८॥

---

१. बुकेशियो डीके मर की दसवें दिन की कथा इससे मिलती-जुलती है।—अनु०

कृताखेटः स नगरं स्वसुखायाविशन्नृपः।
स च कार्पटिकस्तस्थौ सिंहद्वारे च पूर्ववत् ॥१९॥
कदाचिदेकसीमान्तगोत्रजावजयाय सः।
लक्षदत्तो ययौ राजा युद्धं चास्याभवन्महत् ॥२०॥
तत्र युद्धे स तस्याग्रे राज्ञः कार्पटिको बहून्।
दृढखादिरदण्डाग्रप्रहारैरवधीत्परान् ॥२१॥
जितशत्रुः स राजा च निजं प्रत्याययौ पुरम्।
न च तस्मै ददौ किञ्चिदपि दृष्टपराक्रमः ॥२२॥
एवं कार्पटिकस्यात्र लब्धदत्तस्य तिष्ठतः।
व्यतीयुः पञ्च वर्षाणि तस्य काष्ठेन जीवतः ॥२३॥
षष्ठे प्रवृत्ते दृष्ट्वा तमेकदा दैवयोगतः।
स राजा जातकरुणो लक्षदत्तो व्यचिन्तयत् ॥२४॥
नाद्याप्यस्य मया दत्तं चिरक्लिष्टस्य किञ्चन।
तद्युक्त्या किञ्चिदेतस्मै दत्त्वा पश्याम्यहं न किम् ॥२५॥
किं नामास्य वराकस्य वृत्तः पापक्षयो न वा।
किं ददाति न वाद्यापि लक्ष्मीरस्य च दर्शनम् ॥२६॥
इत्यालोच्य नृपः स्वैरं भाण्डागारं प्रविश्य सः।
रत्नैर्भृतं मातुलुङ्गं समुद्गकमिव व्यधात् ॥२७॥
चकार सर्वास्थानं च स विधाय बहिः सभाम्।
तत्र च प्राविशन्सर्वे पौरसामन्तमन्त्रिणः ॥२८॥
तन्मध्ये च प्रविष्टं तं राजा कार्पटिकं स्वयम्।
इतो निकटमेहीति जगाद स्निग्धया गिरा ॥२९॥
ततः कार्पटिकः श्रुत्वा लब्धदत्तः प्रहर्षवान्।
अग्रे सविधमागत्य राज्ञस्तस्योपविष्टवान् ॥३०॥
ततस्तमवदद्राजा ब्रूहि किञ्चित्सुभाषितम्।
तदाकर्ण्य पपाठैतामार्यां कार्पटिकोऽथ सः ॥३१॥
'पूरयति पूर्णमेषा तरङ्गिणीसंहतिः समुद्रमिव।
लक्ष्मीरधनस्य पुनर्लोचनमार्गेऽपि नायाति' ॥३२॥
श्रुत्वैतत्पाठयित्वा च भूयस्तुष्टः स भूपतिः।
सद्रत्नपूर्णं तस्मै तन्मातुलुङ्गफलं ददौ ॥३३॥

इस प्रकार, जंगली पशुओं का शिकार कर राजा अपने नगर में लौट आया और वह भिखारी भी पूर्ववत् सिंहद्वार पर आकर टिक गया ॥१९॥

एक बार, सीमान्तवर्ती एक राजा को जीतने के लिए राजा लक्षदत्त गया। वहाँ दोनों में घनघोर युद्ध हुआ। उस युद्ध में राजा लक्षदत्त के सामने ही उस भिखारी ने मजबूत खैर के डंडे के प्रहार से अनेक शत्रुओं को मार डाला। इस प्रकार, शत्रुओं को जीतकर राजा अपने नगर लौट आया, किन्तु दरिद्र भिखारी के अद्भुत पराक्रम को देखकर भी राजा ने उसे कुछ नहीं दिया ॥२०—२२॥

इस प्रकार, निरन्तर राजद्वार पर रहते हुए और लकड़ियाँ जलाकर अपना जीवन व्यतीत करते हुए उसे पाँच वर्ष बीत गये ॥२३॥

छठा वर्ष प्रारम्भ होने पर दैवयोग से एक बार उसे देखकर राजा लक्षदत्त को दया उत्पन्न हुई और उसने सोचा—॥२४॥

बहुत दिनों से कष्ट पाते हुए इसको मैंने आज तक कुछ भी नही दिया। तो इसे किसी युक्ति से कुछ देकर क्यों न देखूँ ॥२५॥

कि इस बेचारे के पापों का नाश हुआ या नहीं। अब भी लक्ष्मी इसे दर्शन देती है या नहीं ॥२६॥

ऐसा सोचकर राजा अपने कोषागार में गया, वहाँ से उसने एक बिजौरा नींबू में रत्न भरकर के एक डिब्बे के समान उसे बन्द किया ॥२७॥

और, भवन के बाहर उसने एक सार्वजनिक दरबार किया। उस दरबार में सभी नागरिक, सामन्त और मन्त्री एकत्र हुए ॥२८॥

उन लोगों में आये हुए उस कार्पटिक को राजा ने स्नेह-भरी वाणी से कहा—'यहाँ निकट आओ' ॥२९॥

यह सुनकर लब्धदत्त कार्पटिक प्रसन्न हुआ और राजा के पास जाकर उसके आगे बैठ गया ॥३०॥

तब राजा ने उससे कुछ सुभाषित सुनाने के लिए कहा। राजा के यह कहने पर कार्पटिक ने एक आर्या पढ़ी (जिसका अर्थ है—)॥३१॥

'जिस प्रकार नदियों का समूह जल से भरे समुद्र को ही भरता है (और, तालाब आदि सूखे ही रहते हैं), उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी भरे हुए (धनवान्) को ही भरती है और निर्धन की आँखों के सामने भी नहीं आती' ॥३२॥

यह सुनकर और इस आर्या को फिर से उससे पढ़वाकर राजा ने, प्रसन्न होकर रत्न से भरा हुआ एक बिजौरा नींबू को डिब्बे के समान उसे दे दिया ॥३३॥

यस्य तुष्यति राजायं दारिद्र्यं तस्य कृन्तति।
शोच्यः कार्पटिकस्त्वेष यमाहूयैवमादरात् ॥३४॥
मातुलुङ्गमिदं दत्तं तुष्टेनानेन भूभृता।
कल्पवृक्षोऽप्यभव्यानां प्रायो याति पलाशताम् ॥३५॥
इति सर्वेऽपि तद्दृष्ट्वा तत्रास्थाने विषादिनः।
अज्ञातपरमार्थत्वात्स्वैरमूचुः परस्परम् ॥३६॥
स तु कार्पटिको मातुलुङ्गमादाय निर्ययौ।
आययौ चाग्रतस्तस्य भिक्षुरेको विषीदतः ॥३७॥
स राजवन्दिनामा तद्दत्त्वा शाटकमग्रहीत्।
तस्मात्कार्पटिकान् मातुलुङ्गं दृष्ट्वा मनोरमम् ॥३८॥
प्रविश्य च स भिक्षुस्तद्राज्ञे फलमढौकयत्।
राजा च तत्परिज्ञाय श्रमणं पृच्छति स्म तम् ॥३९॥
मातुलुङ्गं कुत इदं भदन्त भवतामिति।
ततः कार्पटिकं सोऽस्मै तद्दातारं शशंस तम् ॥४०॥
अथ राजा विषण्णश्च विस्मितश्च बभूव सः।
अहो अद्यापि न क्षीणं पापं तस्येति चिन्तयन् ॥४१॥
स्वीकृत्य मातुलुङ्गं तदुत्थायास्थानतः क्षणात्।
चकार दिनकर्त्तव्यं लक्षदत्तः स भूपतिः ॥४२॥
सोऽपि कार्पटिको गत्वा सिंहद्वारे यथास्थितः।
कृतभोजनपानादिरासीद्विक्रीतशाटकः ॥४३॥
द्वितीयेऽह्नि स राजा च सर्वास्थानं तथैव तत्।
विदधे तत्र सर्वे च सपौराः प्राविशन् पुनः ॥४४॥
दृष्ट्वा कार्पटिकं तं च प्रविष्टं सोऽथ भूमिभृत्।
तथैवाहूय पुनरप्युपावेशयदन्तिके ॥४५॥
पाठयित्वा च भूयोऽपि तामेवार्यां प्रसादतः।
गूढरत्नं ददौ तस्मै मातुलुङ्गं तदेव सः ॥४६॥
अहो द्वितीये दिवसे तुष्टोऽस्यायं वृथा प्रभुः।
किं तावदेतदित्यत्र सर्वे दध्युः सविस्मयाः ॥४७॥

'यह राजा, जिस पर प्रसन्न होता है, उसके जीवन-भर की दरिद्रता दूर कर देता है; किन्तु यह कार्पटिक शोचनीय (अभागा) है, जिसे इस प्रकार आदर से बुलाकर भी इस प्रसन्न राजा ने यह बिजौरा नींबू दिया। सच है, कि अभागों के लिए कल्पवृक्ष भी पलाश का वृक्ष बन जाता है' ॥३४–३५॥

इस प्रकार, वास्तविक बात को न जानते हुए वहाँ बैठे हुए सभी लोग विषाद के साथ आपस में ऐसी बातें करने लगे ॥३६॥

वह कार्पटिक नींबू को लेकर जैसे ही बाहर निकला, वैसे ही विषाद करते हुए उसके सामने एक याचक आया ॥३७॥

उसका नाम राजबन्दिक था। उसने कार्पटिक को एक साड़ी देकर बदले में वह नींबू उससे ले लिया ॥३८॥

और उस याचक ने सभा में जाकर राजा को वह बिजौरा नींबू भेंट कर दिया। तब राजा ने उसे पहचानकर भिक्षुक से पूछा—॥३९॥

'भदन्त, यह नींबू तुम्हें कहाँ मिला? तब उसने उस कार्पटिक को उसका देने वाला' बताया ॥४०॥

तब राजा खिन्न और चकित होकर सोचने लगा कि इस कार्पटिक का पाप अभी समाप्त नहीं हुआ है ॥४१॥

तब राजा ने उस नींबू की भेंट स्वीकार की और वह उठकर अपने दैनिक कार्यों में लग गया ॥४२॥

याचक की दी हुई साड़ी को बेचकर अपने भोजन आदि का प्रबन्ध करके वह कार्पटिक लब्धदत्त, फिर राजा के सिंहद्वार पर सदा की भाँति आकर खड़ा हो गया ॥४३॥

दूसरे दिन, राजा ने, फिर उसी प्रकार सार्वजनिक सभा की और उसमें पहले के समान नागरिक, दरबारी और मन्त्री एकत्र हुए ॥४४॥

उसी प्रकार उस सभा में आये हुए कार्पटिक को देखकर और पास बुलाकर उसने बैठाया और उसी आर्या को पुनः पढ़वाकर प्रसन्नतापूर्वक दूसरा नींबू उसे प्रदान किया ॥४५-४६॥

आज दूसरे दिन भी, राजा इस प्रकार व्यर्थ ही प्रसन्न हुआ, यह क्या बात है, इस प्रकार सभी उपस्थित व्यक्ति आपस में आश्चर्य के साथ कहने लगे ॥४७॥

स च कार्पटिको विग्नो[1] हस्ते कृत्वा तु तत्फलम्।
राजप्रसादं सफलं मन्वानो निर्ययौ बहिः ॥४८॥
तावत्तस्याययौ कोऽपि विषयाधिकृतो[2]ऽग्रतः।
प्रविविक्षुस्तदास्थानं द्रष्टुकामो महीक्षितम् ॥४९॥
स दृष्ट्वा मातुलुङ्गं तद्वस्त्रे कार्पटिकात्ततः।
आददे शकुनापेक्षी दत्त्वास्मै वस्त्रयोर्युगम् ॥५०॥
प्रविश्य च नृपास्थानं पादनम्रो नृपाय तत्।
मातुलुङ्गं ददावादौ ततोऽन्यत् प्राभृतं[3] निजम् ॥५१॥
परिज्ञाय च तद्राज्ञा फलं स विषयाधिपः।
कुत एतत्तवेत्युक्तोऽवोचत्कार्पटिकादिति ॥५२॥
अहो ददानि नाद्यापि लक्ष्मीस्तस्येह दर्शनम्।
इत्यन्तश्चिन्तयन्सोऽथ राजाऽभूद्विमना भृशम् ॥५३॥
उत्तस्थौ मातुलुङ्गं तद् गृहीत्वास्थानतश्च सः।
सोऽथ कार्पटिको वस्त्रयुग्मं प्राप्यापणं ययौ ॥५४॥
चक्रे भोजनपानादि विक्रीयैकं च शाटकम्।
द्वितीयं च द्विधा कृत्वा वाससी द्वे व्यधत्त सः ॥५५॥
ततस्तृतीयेऽपि दिने सर्वास्थानं स पार्थिवः।
व्यधात्तथैव सर्वोऽत्र प्रविवेश पुनर्जनः ॥५६॥
तस्मै प्रविष्टाय च तन्मातुलुङ्गं तथैव सः।
भूयोऽप्याहूय तामार्यां पाठयित्वा नृपो ददौ ॥५७॥
विस्मितेष्वथ सर्वेषु सोऽपि कार्पटिको बहिः।
गत्वा राजविलासिन्यै तददाद्बीजपूरकम् ॥५८॥
सा तस्मै राजसम्मानतरुवल्लीव जङ्गमा।
जातरूपं ददौ पुष्पमिवाग्रफलसूचकम् ॥५९॥

---

१. व्याकुलः।

२. विषयस्य = देशस्य, अधिकृतः = अधिकारी, प्रशासकः।

३. प्राभृतम् = राज्ञे प्रदेयमुपहारम्, यत् पूर्वोपकल्पितमासीत्।

वह व्याकुल कार्पटिक भी उस फल को हाथ में लेकर उसे ही राजा की कृपा समझता हुआ सभा से बाहर निकला ॥४८॥

उसके बाहर निकलते ही उसके सामने किसी ग्राम का एक अधिकारी राजा के दर्शन के लिए सभा में जाता हुआ आ गया ॥४९॥

उसने कार्पटिक के हाथ में नींबू देखकर और उसे अच्छा शकुन समझकर तथा कार्पटिक को धोती-दुपट्टे के दो जोड़े दे कर उसने उससे नींबू ले लिया और राजसभा में जाकर राजा के चरणों में झुककर उसको पहले नींबू ही उसने भेंट-स्वरूप रखा और उसके पश्चात् दूसरी वस्तुएँ राजा को अर्पित कीं ॥५०-५१॥

राजा ने उस नींबू को पहचानकर उस ग्रामाधिकारी से पूछा कि यह फल तुम्हें कहाँ से प्राप्त हुआ ? उत्तर में उसने कहा —'कार्पटिक से'। यह सुनकर—'आश्चर्य है कि उस अभागे को लक्ष्मी अब भी दर्शन नहीं देना चाहती'—ऐसा सोचता हुआ राजा बहुत खिन्न हुआ ॥५२-५३॥

और, उस नींबू को लेकर वह सभा से उठ गया। उधर उस कार्पटिक ने उन कपड़ों के जोड़ों में एक को दूकान में बेचकर अपने भोजन-पानी का प्रबन्ध किया और बचे हुए जोड़े के दो हिस्से करके अपने पहनने के काम में लिया ॥५४-५५॥

तब तीसरे दिन राजा ने उसी प्रकार सभा की और सभी लोग पहले की भाँति वहाँ एकत्र हुए ॥५६॥

और, सभा में आये हुए कार्पटिक को पहले की भाँति आर्या पढ़वाकर नींबू का फल पुनः उसे प्रदान किया ॥५७॥

यह देखकर सभी उपस्थित व्यक्ति चकित हुए और कार्पटिक ने उस फल को राजा की वेश्या को ले जाकर दिया ॥५८॥

राजा के सम्मान-वृक्ष की चलती-फिरती लता के समान उस वेश्या ने, उस कार्पटिक को भावी फलसूचक सोना, उसके बदले में दिया ॥५९॥

तत्स विक्रीय तदहस्तस्थौ कार्पटिकः सुखम्।
विलासिन्यपि सा राज्ञः प्रविवेशान्तिकं तदा॥६०॥
तस्मै च स्थूलरम्यं तन्मातुलुङ्गमढौकयत्।
सोऽपि तत्प्रत्यभिज्ञाय तां पप्रच्छ तदागमम्॥६१॥
ततो जगाद सा दत्तमिदं कार्पटिकेन मे।
तच्छ्रुत्वा स नृपो दध्यौ लक्ष्म्या सोऽद्यापि नेक्षितः॥६२॥
मन्दपुण्यो न यो वेत्ति मत्प्रसादमनिष्फलम्।
मामेव चैतान्यायान्ति महारत्नान्यहो मुहुः॥६३॥
इति ध्यात्वा गृहीत्वा तत्स्थापयित्वा च रक्षितम्।
मातुलुङ्गं स उत्थाय चक्रे भूपतिराह्निकम्॥६४॥
चतुर्थेऽह्नि च सोऽकार्षीद्राजास्थानं तथैव तत्।
पूर्यते स्म च तत्सर्वैः सामन्तसचिवादिभिः॥६५॥
ततस्तत्र तमायातं भूयः कार्पटिकं नृपः।
उपवेश्याग्रतः प्राग्वत्स तामार्यामपाठयत्॥६६॥
ददौ च मातुलुङ्गं तत्तस्मै तच्च द्रुतोज्झितम्।
तस्य हस्तार्धसम्प्राप्तं द्विधाभूत्पतितं भुवि॥६७॥
पिधानसन्धिभग्नाच्च तस्माद्रत्नानि निर्ययुः।
भासयन्ति तदास्थानं महार्घाणि बहूनि च॥६८॥
तानि दृष्ट्वाऽब्रुवन् सर्वे परमार्थमजानताम्।
श्यहं मृषा भ्रमोऽभून्नः प्रसादस्त्वीदृशः प्रभोः॥६९॥
एतच्छ्रुत्वाब्रवीद्राजा मया युक्त्यानया ह्ययम्।
दर्शनं श्रीर्ददात्यस्य किं न वेति परीक्षितः॥७०॥
पापान्तश्च श्यहं नास्य प्राप्तः प्राप्तोऽस्य सोऽद्य तु।
तेनैव दर्शनं लक्ष्म्या दत्तमेतस्य साम्प्रतम्॥७१॥
इत्युक्त्वा तानि रत्नानि ग्रामान् हस्त्यश्वकाञ्चनम्।
दत्त्वा चकार सामन्तं स तं कार्पटिकं प्रभुः॥७२॥
उत्तस्थौ च ततः स्नातुमास्थानात् संस्तुवज्जनात्[1]।
ययौ कार्पटिकः सोऽपि कृतार्थो वसतिं निजाम्॥७३॥

---

१. संस्तुवन्तः, राज्ञ औदार्यं, जनाः=सभ्या यस्मिन्, तस्मात् आस्थानादित्यर्थः। आस्थानं सभा। 'आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयोः सदः-'इत्यमरः।

वह कार्पटिक उस सोने को बेचकर सुख से रहने लगा और उधर वह वेश्या भी किसी कार्य से राजा के समीप आई। उसने राजा के लिए उस सुन्दर और बड़े नींबू को उपहार-स्वरूप भेंट किया। राजा ने नींबू को पहचानकर उसकी प्राप्ति का समाचार पूछा। तब वेश्या ने कहा—'यह मुझे कार्पटिक ने दिया है।' यह सुनकर राजा सोचने लगा कि वह कार्पटिक अब भी लक्ष्मी से नहीं देखा गया! वह अभागा अब भी मेरी कृपा को सफल नहीं समझ रहा है। ये महान् रत्न बार-बार घूम-फिरकर मेरे ही पास लौट कर आ रहे हैं—॥६०—६३॥

ऐसा सोचकर उस नींबू को लेकर और उसे सुरक्षित रखकर राजा दैनिक कृत्य के लिए उठ गया ॥६४॥

इसी प्रकार, चौथे दिन भी राजा ने वैसा ही दरबार किया और कार्पटिक को सामने बैठाकर उसी आर्या को उससे पढ़वाया ॥६५-६६॥

और उसे, उसी प्रकार वह नींबू दिया, किन्तु आज शीघ्रता से उसके हाथ से छूट जाने के कारण उसके हाथ से भूमि पर गिरकर उस नींबू के दो टुकड़े हो गये ॥६७॥

और, उसके जोड़ खुल जाने के कारण रत्न उसमें से निकलकर बिखर गये। उन बहुमूल्य और उच्च कोटि के रत्नों से वह खाली स्थान भी जगमगाने लगा ॥६८॥

यह दृश्य देखकर वहाँ एकत्र लोग कहने लगे कि 'वास्तविक स्थिति को न जाननेवाले हम लोगों को मिथ्या भ्रम हुआ। राजा की कृपा तो इतनी बहुमूल्य है' ॥६९॥

यह सुनकर राजा ने कहा—'मैंने इस युक्ति से यह जानना चाहा कि लक्ष्मी इसे दर्शन देती है या नहीं। इस प्रकार, इसके भाग्य की परीक्षा की थी' ॥७०॥

तीन दिनों तक उसके पापों का अन्त नहीं हुआ था, वह आज हुआ है, इसीलिए लक्ष्मी ने इसे अभी दर्शन दिया ॥७१॥

ऐसा कहकर राजा ने वे रत्न और गाँव, हाथी, घोड़े, सोना आदि देकर उस कार्पटिक को अपना एक सामन्त बना दिया ॥७२॥

अनन्तर, उसकी प्रशंसा करती हुई उस सभा से उठकर राजा अपने नित्यकर्म के लिए चला गया और कार्पटिक भी अपने निवास-स्थान को गया ॥७३॥

एवं यावन्न पापान्तो वृत्तस्तावन्न लभ्यते।
प्रभुप्रसादो भृत्येन कृतैः कष्टशतैरपि ॥७४॥
इत्याख्याय कथामेतां मन्त्रिमुख्यः स गोमुखः।
नरवाहनदत्तं तं जगाद स्वप्रभुं पुनः ॥७५॥
तद्देव जाने नैतस्य नूनं कार्पटिकस्य ते।
वृत्तः पापक्षयोऽद्यापि येन नास्य प्रसीदसि ॥७६॥
श्रुत्वैतद्गोमुखवचो हन्त साध्वित्युदीर्य च।
तस्मै कार्पटिकाख्याय निजकार्पटिकाय सः ॥७७॥
वत्सेश्वरसुतः सद्यः प्रददौ ग्रामसञ्चयम्।
हस्त्यश्वं हेमकोटिं च सद्वस्त्राभरणानि च ॥७८॥
तदैव राजसदृशः सोऽभूत् कार्पटिकः कृती।
कृतज्ञे सत्परीवारे प्रभौ सेवाफला कुतः ॥७९॥

ब्राह्मणवीरस्य प्रलम्बबाहोः कथा

एवं स्थितस्य तस्यात्र जातु सेवार्थमाययौ।
नरवाहनदत्तस्य दाक्षिणात्यो युवा द्विजः ॥८०॥
प्रलम्बबाहुनामा च स वीरस्तं व्यजिज्ञपत्।
कीर्त्याकृष्टस्तवैषोऽहं पादौ देव समाश्रितः ॥८१॥
पदात्पदं च देवस्य पदातिर्न चलाम्यहम्।
गजवाजिरथैर्भूमौ गच्छतो नाम्बरे पुनः ॥८२॥
विद्याधरेन्द्रता यस्माच्छ्रूयते भाविनी प्रभोः।
दिने दिने स्वर्णशतं दीयतां वृत्तये मम ॥८३॥
एवमुक्तवते तस्मै तत्किलातुलतेजसे।
नरवाहनदत्तस्तां ददौ वृत्तिं द्विजातये ॥८४॥
तत्प्रसङ्गाच्च वक्ति स्म गोमुखो देव सेवकाः।
भवन्त्येवंविधा राज्ञां तथा च श्रूयतां कथा ॥८५॥

वीरवरब्राह्मण कथा

अस्तीह विक्रमपुरं नाम्ना पुरवरं महत्।
तत्र विक्रमतुङ्गाख्यो बभूव नृपतिः पुरा ॥८६॥

इस प्रकार, जबतक पापों का अन्त नहीं होता, तबतक लाखों यत्न करने पर भी स्वामी की कृपा प्राप्त नहीं हो सकती ॥७४॥

इस प्रकार, इस कथा को सुनाकर मन्त्रिश्रेष्ठ गोमुख ने अपने स्वामी नरवाहनदत्त से कहा—'महाराज, मैं समझता हूँ कि इस कार्पटिक का भी अभी पाप नष्ट नहीं हुआ है। इसीलिए, आप इस पर कृपा नहीं कर रहे हैं' ॥७५-७६॥

गोमुख के यह वचन सुनकर और 'हाँ ठीक है'— ऐसा कहकर उस अपने कार्पटिक को वत्सराज के पुत्र नरवाहनदत्त ने बहुत-से ग्राम, हाथी, घोड़े, हजारों मन सोना, कपड़े और आभूषण प्रदान किये ॥७७-७८॥

जिससे वह दरिद्र भिखारी कार्पटिक राजा के समान हो गया। सच है, कृतज्ञ और अच्छे परिवारवाले स्वामी की सेवा निष्फल कैसे हो सकती है ? ॥७९॥

वीर ब्राह्मण प्रलम्बबाहु की कथा

इस प्रकार, कौशाम्बी में रहते हुए नरवाहनदत्त के समीप सेवा के लिए दक्षिणदेशवासी एक युवक आया, जिसका नाम प्रलम्बबाहु था। उस वीर ने राजा से निवेदन किया—'स्वामी मैं आप के यश से आकृष्ट होकर यहाँ आया हूँ। मैं पृथ्वी पर रथ, हाथी और घोड़े पर जाते हुए आपके पीछे-पीछे पैदल चलूँगा, किन्तु आकाश में गमन करते हुए आपके पीछे नहीं चल सकता ॥८०—८२॥

क्योंकि, भविष्यत् काल में आप विद्याधरों के सम्राट् होंगे, ऐसा सुना जाता है। मेरे जीवन-निर्वाह के लिए प्रतिदिन आप एक सौ दीनार (सोने का सिक्का) दीजिए ॥८३॥

नरवाहनदत्त ने ऐसा कहते हुए उस अनुपम तेजस्वी ब्राह्मण के लिए प्रतिदिन एक सौ मुहरों की जीविका प्रदान की ॥८४॥

उसके प्रसंग में गोमुख ने राजा से कहा—'स्वामिन्, इस प्रकार के (अत्यधिक वेतनवाले) राजाओं के जो सेवक होते हैं, उसके सम्बन्ध में एक कथा सुनो ॥८५॥

वीरवर ब्राह्मण की कथा

इस भूलोक में विक्रमपुर नाम का एक महान् नगर है। उसमें प्राचीन समय में विक्रमतुंग नाम का राजा था ॥८६॥

तैक्ष्ण्यं कृपाणे यस्याभून्न दण्डे नयशालिनः।
धर्मे च सततासक्तिर्न तु स्त्रीमृगयादिषु ॥८७॥
तस्मिंश्च राज्ञि कुलयो रजःसु गुणविच्युतिः।
सायकेष्वविचारश्च गोष्ठेषु पशुरक्षिणाम् ॥८८॥
तस्य वीरवरो नाम शूरो मालवदेशजः।
स्वाकृतिश्चाययौ राज्ञो विप्रः सेवार्थमेकदा ॥८९॥
यस्य धर्मवती नाम भार्या वीरवती सुता।
पुत्रः सत्त्ववरश्चेति त्रयं परिकरो गृहे ॥९०॥
सेवापरिकरश्चान्यत्त्रयं कट्यां कृपाणिका।
पाणौ करतलैकस्मिंश्चर्मान्यस्मिन्सुदर्पणम् ॥९१॥
इयन्मात्रे परिकरे वृत्तयेऽर्थयते स्म सः।
प्रत्यहं नृपतेस्तस्माद्दीनारशतपञ्चकम् ॥९२॥
राजा च स ददौ तस्मै वृत्तिं तां लक्षितौजसे।
पश्यामि तावदेतस्य प्रकर्षमिति चिन्तयन् ॥९३॥
ददौ च तस्य चारान्स पश्चाज्जिज्ञासितुं नृपः।
कुर्यादियद्भिर्दीनारैः किं द्विबाहुरसाविति ॥९४॥
स च वीरवरस्तेषां दीनाराणां दिने दिने।
शतं हस्ते स्वभार्याया भोजनादिकृते ददौ ॥९५॥
शतेन वस्त्रमाल्यादि क्रीणाति स्म शतं पुनः।
स्नात्वा हरिहरादीनामर्चनार्थमकल्पयत् ॥९६॥
द्विजातिकृपणादिभ्यो ददावन्यच्छतद्वयम्।
एवं स विनियुङ्क्ते स्म नित्यं पञ्चशतीमपि ॥९७॥
तस्थौ च पूर्वमध्याह्नं सिंहद्वारेऽस्य भूपतेः।
कृत्वाह्निकादि चागत्य तत्रैवासीन्निशां पुनः ॥९८॥
एतां तद्दिनचर्यां च नित्यं चारा न्यवेदयन्।
राज्ञे तस्मै ततस्तुष्टः स तांश्चारान् न्यवर्त्तयत् ॥९९॥
सोऽपि वीरवरस्तस्य राज्ञस्तस्थौ दिवानिशम्।
स्नानादिसमयं मुक्त्वा सिंहद्वारे धृतायुधः ॥१००॥
अथात्र तं वीरवरं जेतुमिच्छन्निवाययौ।
शूरप्रतापासहनो गर्जितोग्रो घनागमः ॥१०१॥

जिस नीतिमान् के कृपाण में तीक्ष्णता थी, दंड में नहीं। धर्म में जिसकी निरन्तर आसक्ति थी, स्त्री, मद्य और आखेट में नहीं। ॥८७॥

गुण का टूटना केवल धनुषों में ही देखा जाता था, अन्यत्र गुणभंग नहीं था। अ-विचार (भेड़ों का चराना) केवल पशु चरानेवालों में देखा जाता था, अन्यत्र अ-विचार नहीं था ॥८८॥

उस राजा के पास एक बार सुन्दर और भव्य स्वरूपवाला मालव-देशवासी ब्राह्मण सेवा (नौकरी) के लिए आया ॥८९॥

उसकी धर्मवती नाम की पत्नी, वीरवती नाम की कन्या और सत्त्वर नाम का बालक था। इस प्रकार इतना ही उसका परिवार था ॥९०॥

इसी प्रकार, उसके पास सेवा के तीन साधन थे—कमर में कृपाण और एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में शीशे के समान चमकती हुई ढाल ॥९१॥

केवल इतने ही बड़े कुटुम्ब के लिए उसने राजा से पाँच सौ दीनार प्रतिदिन का वेतन माँगा ॥९२॥

राजा ने भी उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण 'उसकी विशेषता देखें'—ऐसा सोचते हुए उसे उतना ही वेतन देना स्वीकार कर लिया ॥९३॥

तदनन्तर राजा ने उसके पीछे गुप्तचर लगा दिये कि 'देखो, यह दो हाथोंवाला इतनी मुहरों को कैसे खर्च कर सकता है ?' वह वीरवर उन पाँच सौ मुहरों में से एक सौ मुहरें अपने भोजन आदि की व्यवस्था के लिए अपनी पत्नी को देता था। एक सौ से कपड़े, माला आदि खरीदता था, एक सौ मुहरें प्रतिदिन स्नान करके विष्णु, शिव आदि के पूजन में व्यय करता था और शेष दो सौ मुहरें, प्रतिदिन वह ब्राह्मण और दीन भिक्षुकों को दान देता था। इस प्रकार, वह प्रतिदिन पाँच सौ दीनार व्यय करता था ॥९४—९७॥

और, प्रातःकाल से मध्याह्न तक वह प्रतिदिन राजभवन के मुख्य द्वार पर खड़ा रहता था। तदनन्तर स्नान, भोजन आदि करके शेष दिन और रात में फिर द्वार पर पहरा देता था ॥९८॥

राजा के गुप्तचर उस ब्राह्मण की प्रतिदिन की इस दिनचर्या की सूचना नित्य राजा को दिया करते थे ॥९९॥

कुछ दिनों के पश्चात् सन्तुष्ट राजा ने उससे गुप्तचरों को हटा लिया। वह वीरवर भी स्नान, भोजन आदि के समय को छोड़कर दिन-रात तलवार लिये द्वार पर राजा की सेवा में डटा रहता था ॥१००॥

कुछ दिनों के उपरान्त मानों वीरवर को जीतने की इच्छा से, धीरों के प्रताप को न सहनेवाला वर्षाकाल प्रचंड गर्जना करता हुआ आया ॥१०१॥

तदा च वर्षति घने घोरा धाराशरावलीः।
न स वीरवरः सिंहद्वारात्स्तम्भ इवाचलत् ॥१०२॥
राजा विक्रमतुङ्गश्च प्रासादाद्वीक्ष्य तं सदा।
आरुरोह स जिज्ञासुः प्रासादं तं पुनर्निशि ॥१०३॥
सिंहद्वारे स्थितः कोऽत्रेत्युपरिष्टाज्जगाद सः।
तच्छ्रुत्वाऽहं स्थितोऽत्रेति सोऽपि वीरवरोऽभ्यधात् ॥१०४॥
अहो अयं महासत्त्वः सुमहत्पदमर्हति।
सिंहद्वारं न यो मुञ्चत्यम्बुदे वर्षतीदृशे ॥१०५॥
इति यावच्च स श्रुत्वा विचिन्तयति भूमिभृत्।
तावद्दूरात् सकरुणं रुदतीमशृणोत् स्त्रियम् ॥१०६॥
दुःखितो मे न राष्ट्रेऽस्ति तदेषा का नु रोदिति।
इत्यालोच्याब्रवीद्राजा स तं वीरवरं तदा ॥१०७॥
भो वीरवर कापि स्त्री दूरे रोदित्यसौ शृणु।
कैषा किं दुःखमस्याश्चेत्यत्र गत्वा निरूपय ॥१०८॥
तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा गन्तुं प्रववृते ततः।
धुन्वन्करतलं वीरवरो बद्धासिधेनुकः[1] ॥१०९॥
दृष्ट्वा तं प्रस्थितं मेघे ज्वलद्विद्युति तादृशे।
धारानिपातसंरुद्धरोधोरन्ध्रे सकौतुकः ॥११०॥
सकृपश्चावतीर्यैव प्रासादात्तस्य पृष्ठतः।
अलक्षितः खड्गपाणिः प्रतस्थे सोऽपि भूमिपः ॥१११॥
स चानुसर्पन् रुदितं गुप्तान्वागतभूपतिः[2]।
गत्वा वहिः पुरादेकं प्राप वीरवरः सरः ॥११२॥
हा नाथ हा कृपालो हा शूर त्यक्ता त्वया कथम्।
वत्स्यामीति च तन्मध्ये रुदतीं स्त्रीं ददर्श ताम् ॥११३॥
का त्वं शोचसि कं नाथमिति पृष्टा च तेन सा।
उवाच पुत्र मामेतां विद्धि वीरवर क्षितिम् ॥११४॥
तस्या विक्रमतुङ्गो मे राजा नाथोऽद्य धार्मिकः।
मृत्युश्च भविता तस्य तृतीयेऽहनि निश्चितम् ॥११५॥
एतादृशश्च भूयोऽपि पतिः स्यात्पुत्र मे कुतः।
तेनैतमनुशोचामि स्वात्मानं च सुदुःखिता ॥११६॥

---

१. कटिबद्धच्छुरिकः। २. गुप्तं अन्वागतः पश्चादागतः भूपतिर्यस्येति समासः।

तब, जब कि मेघ, भीषण धारा-रूपी बाण-वर्षा कर रहा था, वह वीरवर राजा के सिंह-द्वार पर खम्भे के समान अविचल भाव से खड़ा रहा ॥१०२॥

राजा विक्रमतुंग, अपने भवन की खिड़की से उसे प्रतिदिन पहरा देते हुए देखकर शयन-गृह में चढ़ता था ॥१०३॥

एक बार, राजा ने, घोर वर्षा के समय ऊपर से कहा—'यहाँ कौन है ? यह सुनकर वीरवर ने उत्तर दिया—'मैं वीरवर उपस्थित हूँ।' ॥१०४॥

आश्चर्य है कि यह महान् बलशाली व्यक्ति है, जो ऐसी घोर वृष्टि में भी सिंहद्वार को नहीं छोड़ता ॥१०५॥

उसका उत्तर सुनकर राजा जब यह सोच ही रहा था कि इतने में ही उसने दूर से किसी स्त्री को करुण स्वर में रोते हुए सुना ॥१०६॥

'मेरे राज्य में कोई भी दुःखी नहीं है, फिर यह कौन रो रही है ?'—ऐसा सोचकर राजा ने उसी समय वीरवर से कहा—'वीरवर, दूसरे स्थान पर कोई स्त्री रो रही है, सुनो। यह कौन है और इसे क्या दुःख है, यह वहाँ जाकर पता लगाओ' ॥१०७–१०८॥

यह सुनकर और 'जो आज्ञा'—कहकर वह वहाँ जाने के लिए तैयार हुआ। उसकी कमर में खंजर बँधा हुआ था और तलवार को हाथ से लपलपा रहा था ॥१०९॥

चमकती हुई बिजलीवाले भीषण मेघ के मूसलाधार वृष्टि के कारण उस समय आकाश और पृथ्वी के एक होने पर भी वीरवर को उधर जाते हुए देखकर दयालु राजा भी महल से उतर-कर और तलवार हाथ में लेकर छिपे-छिपे उसके पीछे-पीछे चला ॥११०-१११॥

छिपकर राजा जिसका पीछा कर रहा था, रोने के शब्द को लक्ष्य करके जाते हुए उस वीरवर ने, नगर के बाहर एक तालाब देखा ॥११२॥

उस सरोवर में उस स्त्री को उसने देखा, जो यह कहती हुई रो रही थी—'हाय नाथ ! हे दयालो ! हे शूर ! तुमसे परित्यक्ता होकर मैं कैसे जिऊँगी' ॥११३॥

'तू कौन है और किस पति को सोचकर विलाप कर रही है ?' इस प्रकार, वीरवर के पूछने पर वह स्त्री कहने लगी—"बेटा, वीरवर, मैं पृथ्वी हूँ। मेरा पति धार्मिक राजा विक्रमतुंग है। आज से तीसरे दिन उसकी अवश्य मृत्यु होगी। इसलिए, सोच, कर रही हूँ कि ऐसा पति फिर मुझे कहाँ मिलेगा ? इस प्रकार, मैं अत्यन्त दुःखी होकर अपने को ही सोच रही हूँ।" ॥११४—११६॥

देवपुत्रस्य सुप्रभस्य कथा

अहं हि भावि पश्यामि दिव्यदृष्ट्या शुभाशुभम्।
त्रिदिवस्थो यथाद्राक्षीत्सुप्रभो देवपुत्रकः॥११७॥
स हि पुण्यक्षयात्स्वर्गात्पतनं भावि दिव्यदृक्।
सप्ताहात्सूकरीगर्भे सम्भवं चैक्षतात्मनः॥११८॥
ततः स सूकरीगर्भवासक्लेशं विभावयन्।
देवपुत्रोऽन्वशोचत्तान्दिव्यान्भोगान्सहात्मना ॥११९॥
हा स्वर्ग हा हाप्सरसो हा नन्दनलतागृहाः।
हा वत्स्यामि कथं क्रोडीगर्भे तदनु कर्दमे॥१२०॥
इत्यादि विलपन्तं तं श्रुत्वाभ्येत्य सुराधिपः।
पप्रच्छ सोऽपि स्वं तस्मै दुःखहेतुमवर्णयत्॥१२१॥
ततः शक्रो जगादैनमस्त्युपायोऽत्र ते शृणु।
व्रजोंनमः शिवायेति जपञ्शरणमीश्वरम्॥१२२॥
तं गत्वा शरणं हित्वा पापं पुण्यमवाप्स्यसि।
येन प्राप्स्यसि न क्रोडयोनिं स्वर्गान्न च च्युतिम्॥१२३॥
इत्युक्तो देवराजेन सुप्रभोऽथ तथेति सः।
उक्त्वा नमःशिवायेति शम्भुं शरणमग्रहीत्॥१२४॥
तन्मयः स दिनैः षड्भिस्तत्प्रसादान्न केवलम्।
निक्षिप्तः सूकरीगर्भे यावत्स्वर्गादुपर्यगात्॥१२५॥
सप्तमेऽह्नि च तं स्वर्गे तत्रापश्य[1] शतक्रतुः।
वीक्षते यावदधिकं लोकान्तरमसौ गतः॥१२६॥
इत्थं शुशोच स यथा दृष्ट्वाघं भावि सुप्रभः।
तथैव भाविनं मृत्युं दृष्ट्वा शोचामि भूभृतः॥१२७॥
एवमुक्तवतीं भूमिं तां स वीरवरोऽब्रवीत्।
यथाम्ब सुप्रभस्याभूदुपायः शक्रवाक्यतः॥१२८॥
तथा यद्यस्ति राज्ञोऽस्य रक्षोपायस्तदुच्यताम्।
इति वीरवरेणोक्ते पृथिवी तमुवाच सा॥१२९॥

---

१. अदृष्ट्वेत्यर्थः। अपश्येति प्रयोगश्चिन्तनीयः पाणिनीयानाम्।

देवपुत्र सुप्रभ की कथा

मैं दिव्यदृष्टि से आगे होनेवाले शुभ और अशुभ को जानती हूँ। जैसे स्वर्ग में स्थित देवपुत्र सुप्रभ जानता था ।।११७।।

उस दिव्य दृष्टिवाले सुप्रभ ने पुण्य-क्षय के कारण स्वर्ग से अपना पतन और एक सप्ताह तक शूकरी के पेट में रहना जान लिया था ।।११८।।

तब शूकरी के गर्भ में रहने के कष्ट की कल्पना करते हुए देवपुत्र अपने साथ स्वर्गीय सुखों के लिए चिन्ता करने लगा—'हाय स्वर्ग, हाय अप्सराओ, और हाय नन्दन-वन के लतागृहो, हाय, मैं अब तुम्हें छोड़कर शूकरी के गर्भ में कैसे रहूँगा और उसके पश्चात् कीचड़ में कैसे जीवन व्यतीत करूँगा' ।।११९–१२०।।

इस प्रकार, रोते हुए देवपुत्र को सुनकर, देवराज इन्द्र ने, आकर उससे विलाप का कारण पूछा और उसने भी अपना दुःख उसे बता दिया ।।१२१।।

तब इन्द्र ने कहा कि 'तेरे लिए एक उपाय है, सुन'। 'ओं नमः शिवाय', इस मन्त्र का जप करता हुआ भगवान् शिव की शरण में जा ।।१२२।।

तू उनकी शरण में जाकर पापों से छूटकर पुण्य प्राप्त करेगा और उस पुण्य के प्रभाव से शूकर की योनि तुझे न मिलेगी और न तू स्वर्ग से ही पतित होगा ।।१२३।।

देवराज के इस प्रकार कहने पर सुप्रभ ने उसे स्वीकार किया और 'ओंनमः शिवाय' कह कर शंभु की शरण ली ।।१२४।।

छः दिनों तक तन्मय होकर शिवजी का जप करके वह शूकर-योनि से ही नहीं बच गया, प्रत्युत स्वर्ग से भी ऊपर चला गया ।।१२५।।
सातवें दिन उसे स्वर्ग में न देखकर इन्द्र ने विशेष दृष्टि डाली तो देखा कि वह स्वर्ग से ऊपर दूसरे लोक में चला गया है ।।१२६।।

इस प्रकार, जैसे सुप्रभ ने भावी अशुभ के लिए शोक किया था, उसी प्रकार मैं भी राजा की होनेवाली मृत्यु के लिए सोच कर रही हूँ'' ।।१२७।।

इस प्रकार, कहती हुई पृथ्वी से उस वीरवर ने कहा—'माता ! जैसे इन्द्र द्वारा मुक्ति बताने पर सुप्रभ पापमुक्त हो गया, उसी प्रकार राजा के भी जीवित रहने का कोई उपाय हो, तो बताओ।' वीरवर के ऐसा कहने पर पृथ्वी बोली— ।।१२८-१२९।।

एक एवास्त्युपायोऽत्र स्वाधीनः स तवैव च।
तच्छ्रुत्वैव च सोऽवादीद्धृष्टो वीरवरो द्विजः॥१३०॥
तर्हि ब्रूहि द्रुतं देवि यदि श्रेयो भवेत्प्रभोः।
प्राणैर्मे पुत्रदारैर्वा तज्जन्म सफलं मम॥१३१॥
इत्युक्तवन्तमवदत् सा तं वीरवरं क्षितिः।
अस्त्यत्र चण्डिकादेवी यैषा राजकुलान्तिके॥१३२॥
तस्यै सत्ववरं पुत्रमुपहारीकरोषि चेत्।
ततो जीवति राजासौ नास्त्युपायोऽपरः पुनः॥१३३॥
श्रुत्वैतद्वसुधावाक्यं धीरो वीरवरस्तदा।
यामि देवि करोम्येतदधुनैवेत्युवाच सः॥१३४॥
कोऽन्यः स्वामिहितस्त्वादृग्भद्रं तेऽस्तु व्रजेति भूः॥
उक्त्वा तिरोऽभूत्सर्वं च राजा सोऽन्वागतोऽशृणोत्॥१३५॥
ततो विक्रमतुङ्गेऽस्मिन् राज्ञि च्छन्नेऽनुगच्छति।
द्रुतं वीरवरस्तस्यां रात्रौ स स्वगृहं ययौ॥१३६॥
तत्र प्रबोध्य भार्यायै धर्मवत्यै शशंस सः।
स्वपुत्रमुपहर्त्तव्यं राजार्थे वचनाद् भुवः॥१३७॥
सा तच्छ्रुत्वाब्रवीत्कार्यमवश्यं स्वामिनो हितम्।
तत्पुत्रश्चाद्य भवता प्रतिबोध्योच्यतामिति॥१३८॥
ततः प्रबोध्य बालाय तस्मै वीरवरेण तत्।
ऊचे तदुपहारान्तं राजार्थे यद् भुवोदितम्॥१३९॥
तच्छ्रुत्वा स यथार्थाख्यो बालः सत्त्ववरोऽभ्यधात्।
प्रभुकार्योपयुक्तासुः पुण्यवांस्तात नास्ति किम्॥१४०॥
भुक्तं मया तदन्नं यच्छोधनीयं मयापि तत्।
तन्नीत्वा तत्कृते देव्या उपहारीकुरुष्व माम्॥१४१॥
इत्यूचिवांसं तं सत्त्ववरं वीरवरः शिशुम्।
'सत्यं भवसि मज्जात' इत्यवोचदविक्लवम्॥१४२॥
एतद्विक्रमतुङ्गः स राजा श्रुत्वा बहिः स्थितः।
अचिन्तयदहो सर्वे समसत्त्वा अमी इति॥१४३॥
ततो वीरवरः स्कन्धे सुतं सत्त्ववरं स तम्।
भार्या धर्मवती चास्य पृष्ठे वीरवतीं सुताम्॥१४४॥
गृहीत्वा जग्मतुस्तौ द्वौ रात्रौ तच्चण्डिकागृहम्।
राजा विक्रमतुङ्गश्च पश्चाच्छन्नो ययौ तयोः॥१४५॥

'इसका एक ही उपाय है और वह तुम्हारे अधीन है।' यह सुनकर वीरवर प्रसन्न होकर बोला—॥१३०॥

'यदि ऐसा है, तो उसे शीघ्र बताओ। जिससे मेरे प्रभु का कल्याण हो। मेरे और मेरी स्त्री तथा पुत्र के प्राणों से भी यदि कोई उपाय हो, तो मेरा जन्म सफल हो' ॥१३१॥

ऐसा कहते हुए वीरवर से पृथ्वी ने कहा—'राजभवन के पास जो चंडिका देवी का मन्दिर है, वहाँ जाकर यदि तुम अपने पुत्र सत्त्ववर को भेंट (बलि) चढ़ा दो, तो यह राजा जीवित रह सकता है और कोई दूसरा उपाय नहीं है'॥१३२–१३३॥

पृथ्वी के वचन को सुनकर धीर वीरवर ने कहा—'देवि, जाता हूँ और अभी इस उपाय को करता हूँ' ॥१३४॥

'तुम्हारे सिवा स्वामी का हित और दूसरा कौन कर सकता है। अच्छा, जाओ तुम्हारा कल्याण हो,'—ऐसा कहकर पृथ्वी अन्तर्हित हो गई और छिपकर पीछे-पीछे आए हुये राजा ने यह सब सुना ॥१३५॥

तदनन्तर, राजा विक्रमतुंग के छिपे-छिपे पीछा करते रहने पर वह वीरवर उसी रात्रि में अपने घर गया ॥१३६॥

तब स्त्री को जगाकर वीरवर ने राजा के जीवन के लिए पुत्र के बलिदान तक का सारा वृत्तान्त, जो पृथ्वी ने कहा था, स्त्री को सुनाया॥१३७॥

यह सुनकर उसकी पत्नी बोली—'स्वामी का हित अवश्य करना चाहिए। इसलिए, पुत्र को जगाकर आप उससे कहिए' ॥१३८॥

तब वीरवर ने बालक को जगाकर उसे वह सब समाचार सुनाया, जो राजा के लिए पृथ्वी ने कहा था ॥१३९॥

यह सुनकर वह यथार्थनाम वाला बालक सत्त्ववर बोला—'पिता! स्वामी के हित में प्राणों का उपयोग करनेवाला क्या मैं धन्य नहीं हूँ?'॥१४०॥

मैंने जो उसका अन्न खाया है, उसका प्रत्युपकार मुझे करना ही चाहिए। इसलिए, मुझे ले जाकर देवी को भेंट करो ॥१४१॥

ऐसा कहते हुए पुत्र से वीरवर ने धीरज के साथ कहा—'तू सचमुच मुझसे उत्पन्न हुआ मेरा पुत्र है' ॥१४२॥

बाहर खड़े हुए राजा विक्रमतुंग ने आश्चर्य के साथ सोचा कि ये सभी समान आत्मबल-वाले प्राणी हैं॥१४३॥

तदनन्तर, वीरवर अपने पुत्र को कन्धे पर रखकर और उसकी पत्नी धर्मवती, अपने पीछे कन्या वीरवती को लेकर उसी रात्रि में चंडिका के मंदिर में गये और छिपा हुआ राजा विक्रमतुंग भी उन लोगों के पीछे गया॥१४४–१४५॥

तत्रावतारितः स्कन्धात्पित्रा सत्त्ववरोऽथ सः।
बालोऽपि धैर्यराशिस्तां नत्वा देवीं व्यजिज्ञपत् ॥१४६॥
देवि मूर्धोपहारेण मम जीवतु नः प्रभुः।
नृपो विक्रमतुङ्गोऽत्र शास्तु च क्ष्मामकण्टकाम् ॥१४७॥
एवमुक्तवतस्तस्य साधु पुत्रेत्युदीर्य सः।
कृष्ट्वा करतलां सूनोश्छित्त्वा वीरवरः शिरः ॥१४८॥
प्रददौ चण्डिकादेव्यै 'राज्ञः श्रेयोऽस्त्विति' ब्रुवन्।
नास्त्यहो स्वामिभक्तानां पुत्रे वात्मनि वा स्पृहा ॥१४९॥
'साधु वीरवर प्रत्तं स्वामिनो जीवितं त्वया।
अपि प्राणैः सुतस्येति' शुश्रुवे वाक्तदा दिवः ॥१५०॥
तच्चातिविस्मिते राज्ञि सर्वं पश्यति शृण्वति।
बाला वीरवती तस्य भ्रातुर्वीरवरात्मजा ॥१५१॥
हतस्योपेत्य मूर्धानमाश्लिष्य परिचुम्ब्य च।
हा भ्रातरिति चाक्रन्द्य हृत्स्फोटेन व्यपादि सा ॥१५२॥
दृष्ट्वा सुतामपि मृतां सा तं वीरवरं तदा।
भार्या धर्मवती दैन्येनाब्रवीद्रचिताञ्जलिः ॥१५३॥
राज्ञः शिवं कृतं तावत्तदनुज्ञां प्रयच्छ मे।
यावदात्तमृतापत्यद्वयाग्निं प्रविशाम्यहम् ॥१५४॥
बाला यत्रेयमज्ञानाप्येवं भ्रातृशुचा मृता।
का शोभा जीवितेनात्र नष्टेऽपत्यद्वयेऽपि मे ॥१५५॥
निश्चयेनेति जल्पन्तीं तां स वीरवरोऽब्रवीत्।
एवं कुरुष्व किं वच्मि नहीदानीमनिन्दिते ॥१५६॥
अपत्यशोकैकमये संसारेऽस्ति सुखं तव।
तत्प्रतीक्षस्व यावत्ते रचयामि चितामहम् ॥१५७॥
इत्युक्त्वात्र स्थितैर्देवीक्षेत्रनिर्माणदारुभिः।
न्यस्तापत्यशवां चक्रे दीपाग्निज्वलितां चिताम् ॥१५८॥
ततो धर्मवती भार्या पादौ तस्य प्रणम्य सा।
'जन्मान्तरेऽपि मे भूयादार्यपुत्र पतिर्भवान् ॥१५९॥

वहाँ जाकर कन्धे से उतारे हुए धैर्यराशि सत्त्ववर ने बालक होते हुए भी देवी को प्रणाम करके निवेदन किया--'हे देवि! मेरे सिर की बलि से हमारा स्वामी विक्रमतुंग जीवित रहे और पृथ्वी का पालन करता रहे' ॥१४६-१४७॥

ऐसा कहते हुए सत्त्ववर को वीरवर ने 'वाह बेटा, ठीक है, इस प्रकार कहा और म्यान से तलवार निकालकर उसका शिर काट दिया ॥१४८॥

और, 'राजा का कल्याण हो'–ऐसा कहते हुए वह शिर देवी को भेंट कर दिया। यह सत्य है कि सच्चे स्वामिभक्त सेवकों को पुत्र की या अपने प्राणों की चाह नहीं होती ॥१४९॥

इतने में ही उसने आकाशवाणी सुनी'–'हे वीरवर बहुत अच्छा। तूने अपने पुत्र के प्राणों से भी स्वामी को जीवन प्रदान किया' ॥१५०॥

तब अत्यन्त चकित राजा के यह सब दृश्य देखते-सुनते सत्त्ववर की बहन वीरवर की कन्या वीरवती, मृत भाई के समीप जाकर और उसके मस्तक को गोद में लेकर, चूमकर और 'हाय भाई'–इस प्रकार चिल्लाने लगी और हृदय फट जाने से मर गई ॥१५१–१५२॥

कन्या को भी मृत देखकर वीरवर की धर्मपत्नी धर्मवती, पति को हाथ जोड़कर अत्यन्त दीनता के साथ बोली—॥१५३॥

'राजा का कल्याण तो किया। अब मुझे भी आज्ञा दो। इन दोनों मृत बच्चों को लेकर मैं अग्नि में प्रवेश करूँ ॥१५४॥

जब कि यह अज्ञान बालिका भी भाई के शोक में मर गई, तब दोनों बच्चों के मरने पर मेरे जीवन की क्या शोभा है' ॥१५५॥

इस प्रकार, दृढतापूर्वक कहती हुई पत्नी से वीरवर ने कहा–'हे सदाचारिणी, ऐसा ही करो। मैं इस समय क्या कहूँ। पुत्रों के शोक से तुझे अब संसार में सुख नहीं है। प्रतीक्षा करो, मैं तुम्हारे लिए चिता बनाता हूँ, ॥१५६–१५७॥

ऐसा कहकर उसने वहाँ देवी के मन्दिर-निर्माण से बची हुई लकड़ी से चिता बनाई और दोनों बच्चों को उस पर रखकर आग लगा दी ॥१५८॥

तब वीरवर की भार्या पतिव्रता धर्मवती, पति के चरणों में प्रणाम करके और हे आर्यपुत्र, अगले जन्म में भी तुम्हीं मेरे पति होना, ॥१५९॥

शिवं राज्ञोऽस्तु' चेत्युक्त्वा साध्वी तस्मिश्चितानले ।
ज्वालाजटाले न्यपतच्छीतलह्रदलीलया ॥१६०॥
तत्स विक्रमतुङ्गश्च दृष्ट्वा गुप्तस्थितो नृपः ।
केनैषामनृणोऽहं स्यामित्यासीद्ध्यानमोहितः ॥१६१॥
ततो वीरवरः सोऽपि धीरचेता व्यचिन्तयत् ।
सम्पन्नं स्वामिकार्यं मे साक्षाद्दिव्या हि वाक्छ्रुता ॥१६२॥
भुक्तान्नपिण्डः संशुद्धः प्रभोस्तदधुना मया ।
सर्वमिष्टं व्ययीकृत्य भरणीयं कुटुम्बकम् ॥१६३॥
एकस्यात्मम्भरित्वेन न चकास्त्येव जीवितम् ।
तत्कि नात्मोपहारेणाप्यर्चयाम्यम्बिकामिमाम् ॥१६४॥
इति वीरवरः सत्त्वनिष्ठः सङ्कल्प्य चण्डिकाम् ।
देवीं तां वरदां पूर्वं स स्तोत्रेणोपतस्थिवान् ॥१६५॥
'महेश्वरि नमस्तुभ्यं प्रणताभयदायिनि ।
संसारपङ्कमग्नं मां शरणागतमुद्धर ॥१६६॥
त्वं प्राणशक्तिर्भूतानां त्वयेदं चेष्टते जगत् ।
सृष्टेरादौ स्वसम्भूता स्वयं दृष्टासि शम्भुना ॥१६७॥
ज्वलन्ती विश्वमुद्भास्य दुर्निरीक्ष्येण तेजसा ।
उच्चण्डाकाण्डबालार्ककोटिपङ्क्तिरिवोदिता ॥१६८॥
भुजानां चक्रवालेन संछादितदिगन्तरा ।
खड्गखेटककोदण्डशरशूलादिधारिणा ॥१६९॥
संस्तुतासि च तेनैव देवेनैवं त्रिशूलिना ।
नमस्ते चण्डि चामुण्डे मङ्गले त्रिपुरे जये ॥१७०॥
एकानंशे शिवे दुर्गे नारायणि सरस्वति ।
भद्रकालि महालक्ष्मि सिद्धे रुरुविदारिणि ॥१७१॥
त्वं गायत्री महाराज्ञी रेवती विन्ध्यवासिनी ।
उमा कात्यायनी च त्वं शर्वपर्वतवासिनी ॥१७२॥
इत्यादिभिर्नामभिस्त्वां देवि स्तुतिपरं हरम् ।
श्रुत्वा स्कन्दो वसिष्ठश्च ब्रह्माद्यास्त्वां च तुष्टुवुः ॥१७३॥
स्तुवन्तस्त्वां च भगवत्यमरा ऋषयो नराः ।
ईप्सिताभ्यधिकान्कामान्प्राप्ताश्च प्राप्नुवन्ति च ॥१७४॥

तथा हमारे राजा का कल्याण हो' इस प्रकार कहकर उठती हुई वह ज्वालाओंवाली चिता में ठंडे ह्रद में जैसे प्रविष्ट हुई ॥१६०॥

छिपे-छिपे राजा विक्रमतुंग, यह सब दृश्य देखकर, 'मैं इससे कैसे उऋण होऊँगा, इसी चिन्ता में मग्न होगया ॥१६१॥

तब धीरचित्त वीरवर ने भी सोचा—'मेरे स्वामी का कार्य तो हो गया। दिव्य वाणी भी सुन ली। राजा के अन्न का बदला अपने पालनीय और प्यारे कुटुंब के बलिदान से चुका दिया ॥१६२-१६३॥

अब केवल अपना पेट भरने के लिए जीवन को रखना अच्छा नहीं। तो क्यों न मैं भी अपने को भगवती चंडिका का उपहार बनाकर पूजन करूँ ॥१६४॥

सात्त्विक वीरवर ने, इस प्रकार निश्चय करके वरदायिनी देवी की इस प्रकार स्तुति प्रारम्भ की—॥१६५॥

'हे प्रणत भक्तों को आश्रय देनेवाली महेश्वरी, तुझे प्रणाम है। संसार के पंक में फँसे हुए मुझे शरणागत का उद्धार करो ॥१६६॥

तू समस्त प्राणियों की प्राणशक्ति है। तेरे ही कारण यह सारा संसार जीवित है। सृष्टि के प्रारम्भ में तू ही पहले उत्पन्न हुई थी। तुझे शिव ने स्वयं देखा। तू विश्व को उत्पन्न करके अपने प्रचंड तेज से उग्र और असमय में उत्पन्न नवीन करोड़ों सूर्यों की पंक्ति के समान प्रादुर्भूत हुई ॥१६७–१६८॥

तू ने खड्ग, खेटक, धनुष और शूल आदि धारण करनेवाले भुजमंडल से आकाश को छा लिया ॥१६९॥

इस प्रकार, स्वयं शिव ने तेरी स्तुति की है। हे चंडि ! हे चामुंडे ! हे मंगले ! हे त्रिपुरे ! हे जये। तुझे प्रणाम करता हूँ। तू एक अंग-रहित शिवा, दुर्गा, नारायणी, सरस्वती, भद्रकाली, महालक्ष्मी, सिद्धा और रुद्र-दानव का नाश करनेवाली है ॥१७०-१७१॥

तू ही गायत्री, महारानी, रेवती, विन्ध्यवासिनी, उमा, कात्यायनी और शर्व-पर्वत की निवासिनी है ॥१७२॥

हे देवि, इन नामों से तेरी स्तुति करते हुए शिवजी को सुनकर स्कन्द, वसिष्ठ और ब्रह्मादि देवों ने तेरी स्तुति की ॥१७३॥

तेरी स्तुति करते हुए देवता, ऋषि और मनुष्य अपनी चाह से भी अधिक फल प्राप्त कर चुके और करते हैं ॥१७४॥

तन्मे प्रसीद वरदे गृहाण त्वमिमामपि।
मच्छरीरोपहारार्चां श्रेयो राज्ञोऽस्तु मत्प्रभो॥१७५॥
इत्युदीर्य शिरश्छेत्तुं यावदिच्छति स स्वकम्।
उदभूद् भारती तावदशरीरा नभस्तलात्॥१७६॥
मा कार्षीः साहसं पुत्र सत्त्वेनैवामुना ह्यहम्।
सुप्रीता तव तन्मत्तः प्रार्थय स्वेप्सितं वरम्॥१७७॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्वीरवरस्तुष्टासि देवि चेत्।
राजा विक्रमतुङ्गस्तज्जीवत्वन्यत्समाशतम् ॥१७८॥
भार्यापत्यानि जीवन्तु मम चेति वरेऽर्थिते।
तेन भूयः समुदभूदेवमस्त्विति वाग्दिवः॥१७९॥
तत्क्षणं ते च जीवन्तस्त्रयोऽप्युत्तस्थुरक्षतैः।
देहैर्धर्मवती सत्त्ववरो वीरवती च सा॥१८०॥
ततो वीरवरो हृष्टो बोधितान् देव्यनुग्रहात्।
नीत्वा तान्स्वगृहं सर्वान् राज्ञो द्वारमगात्पुनः॥१८१॥
नृपो विक्रमतुङ्गश्च तद्दृष्ट्वा हृष्टविस्मितः।
गत्वा पुनस्तं प्रासादमारोहत् स्वमलक्षितः॥१८२॥
सिंहद्वारे स्थितः कोऽत्रेत्युपरिष्टादुवाच च।
तच्छ्रुत्वाधःस्थितो वीरवरस्तं प्रत्युवाच सः॥१८३॥
अहं स्थितोऽत्र तां च स्त्रीं वीक्षितुं गतवानहम्।
देवतेव च सा क्वापि दृष्टनष्टेव मे गता॥१८४॥
श्रुत्वैतत्कृत्स्नवृत्तान्तं दृष्ट्वा सोऽत्यन्तमद्भुतम्।
भूभृद् विक्रमतुङ्गोऽत्र रात्रावेको व्यचिन्तयत्॥१८५॥
अहो अपूर्वः कोऽप्येष पुरुषातिशयो बत।
यः करोतीदृशं श्लाघ्यमुल्लेखं न च शंसति॥१८६॥
गम्भीरोऽपि विशालोऽपि महासत्त्वोऽपि नाम्बुधिः।
अचलेन महावातस्पर्शेऽपि स्पर्धतेऽमुना॥१८७॥
परोक्षं निशि येनैवं पुत्रदारव्ययेन मे।
प्राणाः प्रदत्तास्तस्यास्य कुर्यां कां प्रत्युपक्रियाम्॥१८८॥
इत्याद्याकलयन् राजा प्रासादादवतीर्य सः।
प्रविश्याभ्यन्तरं रात्रिं स्मयमानो निनाय ताम्॥१८९॥

अतः, हे वरदायिनी, मुझ पर कृपा करो और मेरे शरीर से अपनी पूजा स्वीकार करो। मेरे स्वामी राजा विक्रमतुंग का कल्याण हो ॥१७५॥

ऐसा कहकर वह अपना गला काटने के लिए जैसे ही तैयार हुआ, वैसे ही आकाशवाणी हुई—॥१७६॥

'बेटा, ऐसा साहस न करो। तेरी इस वीरता से मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिए तुम अपना मनमाना वर माँगो' ॥१७७॥

यह सुनकर वह वीरवर बोला—'हे देवि ! यदि तू सन्तुष्ट है, तो राजा विक्रमतुंग सौ वर्ष और जिये और मेरी पत्नी तथा बच्चे फिर से जीवित हो जावें ॥१७८॥

ऐसा वर माँगने पर 'ऐसा ही होगा'–इस प्रकार की दिव्यवाणी फिर हुई ॥१७९॥

और, उसी क्षण सम्पूर्ण शरीर के साथ धर्मवती, सत्त्ववर और वीरवती तीनों जी उठे ॥१८०॥

तब प्रसन्नचित्त वीरवर उन सब को घर पहुँचाकर फिर राजद्वार पर उपस्थित हो गया ॥१८१॥

इन सब दृश्यों को देखकर हर्षित और चकित राजा विक्रमतुंग फिर अपने महल में छिपे-छिपे ही जा चढ़ा ॥१८२॥

और,'सिंहद्वार पर कौन है', इस प्रकार ऊपर से ही बोला। यह सुनकर नीचे खड़े वीरवर ने उससे कहा—॥१८३॥

'मैं यहाँ हूँ उस स्त्री को देखने के लिए मैं गया था। किन्तु, वह देखते-ही-देखते अन्तर्धान होकर कहीं चली गई ॥१८४॥

इस सारे आश्चर्यकारी वृत्तान्त को सुनकर राजा विक्रमतुंग एकान्त रात्रि में सोचने लगा—॥१८५॥

ओह! यह वीरवर कोई असाधारण और अपूर्व पुरुष है। ऐसा प्रशंसनीय कार्य करके भी उसकी चर्चा तक नहीं करता ॥१८६॥

गम्भीर, विशाल और महासत्त्वशाली समुद्र भी प्रलयकालीन तूफान से क्षुब्ध हो उठता है, किन्तु इससे समुद्र भी बराबरी नहीं कर सकता; क्योंकि यह उससे भी अधिक गम्भीर है ॥१८७॥

मेरे अनजाने, रात्रि में मेरे लिए इसने पुत्र, पुत्री, स्त्री और अपने भी प्राण दे दिये, अब मैं इसका बदला कैसे दे सकता हूँ ॥१८८॥

इस प्रकार की अनेक बातों को सोचता हुआ राजा राज-भवन से उतरा और अपने शयनागार में आश्चर्यान्वित होकर रात्रि व्यतीत की ॥१८९॥

प्रातश्च स महास्थाने तस्मिन्वीरवरे स्थिते।
तदीयं कथयामास तद्रात्रिचरिताद्भुतम् ॥१९०॥
ततः संस्तूयमानस्य सर्वैर्वीरवरस्य सः।
बबन्ध तस्य ससुतस्यापि पट्टं नराधिपः ॥१९१॥
प्रादाद् बहूंश्च विषयानश्वान् रत्नानि वारणान्।
दश काञ्चनकोटीश्च वृत्तिं षष्टिगुणामपि ॥१९२॥
तत्क्षणाद्राजतुल्यश्च सोऽभूद्वीरवरो द्विजः।
उच्छ्रितेनातपत्रेण कृतार्थः सकुटुम्बकः ॥१९३॥
इति स कथां कथयित्वा विदधानः प्रस्तुतोपसंहारम्।
नरवाहनदत्तं तं पुनरवदद् गोमुखो मन्त्री ॥१९४॥
एवं देव क्ष्माभृतामेकवीरा भृत्याः केचित् पुण्ययोगान्मिलन्ति।
ये स्वाम्यर्थे त्यक्तदेहाद्यपेक्षाः सम्यग्लोकौ द्वौ सुसत्त्वा जयन्ति ॥१९५॥
तदेष तादृग्विध एव दृश्यते द्विजप्रवीरस्तव देव सेवकः।
नवागतः सत्त्वगुणाधिकाधिकः प्रलम्बबाहुः स्थिरसौष्ठवाकृतिः ॥१९६॥
इति निजसचिवादुदारसत्त्वो विपुलमतेरवधार्य गोमुखात्सः।
नरवाहनदत्तराजपुत्रो हृदि परितोषमनुत्तमं बभार ॥१९७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरेऽलङ्कारवतीलम्बके तृतीयस्तरङ्गः।

चतुर्थस्तरङ्गः

नरवाहनदत्तस्य मृगयावर्णनम्

एवं स निवसंस्तत्र वत्सेशस्य पितुर्गृहे।
गोमुखाद्यैः स्वसचिवैः सेव्यमानोऽनुरागिभिः ॥१॥
विहरंश्चाप्यलङ्कारवत्या देव्यानुरक्तया।
मानविघ्नासहोद्गाढतत्प्रेममुषितेर्ष्यया ॥२॥
नरवाहनदत्तोऽथ कदाचिन्मृगकाननम्।
जगाम रथमारुह्य पश्चादारूढगोमुखः ॥३॥
प्रलम्बबाहौ तस्मिंश्च विप्रवीरेऽग्रयायिनि।
चकाराखेटकक्रीडां स तत्र महितोऽनुगैः ॥४॥

प्रातःकाल सार्वजनिक सभा (आम दरबार) में वीरवर के उपस्थित होने पर, राजा ने रात्रि में हुआ वीरवर का सारा आश्चर्यमय वृत्तान्त सभ्यों से कह सुनाया ॥१९०॥

तब राजा ने सभी सभ्यों द्वारा प्रशंसा किए जाते हुए वीरवर को, पुत्र के साथ बैठाकर, उसे अपने हाथ से पट्ट बाँधकर बहुत-से देश उसे दान में दिये और दस करोड़ सोने की मुहरें तथा साठगुनी मासिक वृत्ति उसे प्रदान की ॥१९१-१९२॥

वह वीरवर ब्राह्मण, उसी समय राजा के समान होगया। उस पर श्वेत छत्र लग गया। इस प्रकार अपने कुटुम्ब के साथ वह सफल हुआ ॥१९३॥

मन्त्री गोमुख इस प्रकार नरवाहनदत्त को कथा सुनाकर उसका उपसंहार करते हुए कहने लगा—'स्वामी, इस प्रकार राजाओ के पुण्य के योग से ही कोई अनुपम वीर सेवक उन्हें मिलते हैं; जो स्वामी के लिए अपने शरीर और प्राणों का मोह त्यागकर दोनों लोकों को सिद्ध और सफल बनाते हैं ॥१९४-१९५॥

हे महाराज, यह उत्तम ब्राह्मणवीर, तुम्हारा उसी प्रकार का सेवक प्रतीत होता है; क्योंकि यह नवीन वीर अधिक-से-अधिक सत्त्व गुणवाला, लम्बी भुजाओंवाला और स्थिर एवं सुन्दर आकृतिवाला है ॥१९६॥

उदारहृदय नरवाहनदत्त, अपने मुख्य मन्त्री गोमुख से इस प्रकार की उत्तम कथा सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ ॥१९७॥

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के अलंकारवती लम्बक का

तीसरा तरंग समाप्त

चतुर्थ तरंग

नरवाहनदत्त का मृगया-वर्णन

तदनन्तर, परम स्नेही गोमुख आदि मन्त्रियों के साथ पिता वत्सराज के घर में रहता हुआ और मान के विघ्न को सहन न कर सकने के कारण प्रेम से नष्ट ईर्ष्यावाली अनुरागिणी अलंकारवती के साथ विहार करता हुआ नरवाहनदत्त, पीछे बैठे हुए गोमुख के साथ रथपर बैठकर मृगया-वन (शिकारगाह) को गया ॥१–३॥

आगे-आगे चलते हुए नवीन ब्राह्मण सेवक प्रलम्बबाहु के तथा अपने सैनिकों के साथ वह आखेट करने लगा ॥४॥

सर्वप्राणेन धावत्सु रथाश्वेष्वपि तस्य सः।
प्रलम्बबाहुस्तद्वेगं विजित्य पुरतो ययौ॥५॥
सोऽवधीत्सायकैः सिंहव्याघ्रादीन् स्यन्दने स्थितः।
प्रलम्बबाहुस्त्वसिना पादचारी जघान तान्॥६॥
अहो शौर्यमहो जङ्घाजवोऽस्येति विसिस्मिये।
नरवाहनदत्तश्च दृष्ट्वा दृष्ट्वा स तं द्विजम्॥७॥
कृताखेटः परिश्रान्तः स ससारथिगोमुखः।
प्रलम्बबाहौ सुभटे तस्मिन्नग्रसरे ततः॥८॥
रथारूढस्तृषाक्रान्तः सलिलान्वेषणक्रमात्।
वत्सेश्वरात्मजो दूरं विवेशान्यन्महावनम्॥९॥
तत्रोत्फुल्लहिरण्याब्जं दिव्यं प्राप महत्सरः।
द्वितीयमिव बह्वर्कबिम्बं भूमिगतं नभः॥१०॥
तत्र स स्नातपीताम्भाः कृतस्नानादिसानुगः।
तदेकदेशे चतुरो दूरादैक्षत पूरुषान्॥११॥
दिव्याकृतीन्दिव्यवस्त्रान्दिव्याभरणभूषितान्।
हेमाम्बुजानि सरसस्तस्मादुच्चित्य गृह्णतः॥१२॥
उपागात् कौतुकात्तांश्च पृष्टः कोऽसीति तैरपि।
अन्वयं नाम वृत्तान्तं निजं तेभ्यः शशंस सः॥१३॥

चतुर्णां दिव्यपुरुषाणां कथा

तेऽप्येवं दर्शनप्रीताः पृष्टवन्तं तमब्रुवन्।
अस्ति मध्ये महाम्भोधेः श्रीमद्द्वीपवरं महत्॥१४॥
यन्नारिकेलद्वीपाख्यं ख्यातं जगति सुन्दरम्।
तत्र सन्ति च चत्वारः पर्वता दिव्यभूमयः॥१५॥
मैनाको वृषभश्चक्रो बलाहक इति स्मृताः।
चतुर्षु तेषु चत्वारो निवसाम इमे वयम्॥१६॥
एकोऽस्माकं रूपसिद्धिर्नाम्ना विविधरूपधृत्।
प्रमाणसिद्धिरपरो बृहत्सूक्ष्मप्रमाणदृक्॥१७॥
ज्ञानसिद्धिस्तृतीयश्च भविष्यद्भूतभाव्यवित्।
देवसिद्धिश्चतुर्थोऽपि सर्वदैवतसिद्धिभृत्॥१८॥

रथ के घोड़ों के, पूरे प्राण लगाकर आगे जाने पर भी, प्रलम्बबाहु, उनके वेग को जीतकर, सदा उनके आगे ही रहता था ॥५॥

नरवाहनदत्त, रथ में बैठकर सिंह, व्याघ्र आदि पशुओं को मारता था; किन्तु प्रलम्बबाहु, पैदल ही चलता हुआ तलवार से ही उन्हें मार डालता था ॥६॥

नरवाहनदत्त, प्रलम्बबाहु के कौतुक को, देख-देखकर आश्चर्यचकित होता था और कहता था—'ओह क्या इसकी वीरता है और कितना इसकी जाँघों में बल है ॥७॥

अन्त में प्रलम्बबाहु के आगे रहते-रहते ही नरवाहनदत्त, गोमुख और सारथी के साथ आखेट करके थक गया और रथ पर चढ़ा हुआ ही प्यास से व्याकुल होकर पानी ढूंढते-ढूंढते जंगल में चला गया ॥८-९॥

उस वन में, उसने, खिले हुए सोने के कमलों से शोभित एक सुन्दर सरोवर देखा, जो मानों अनेक सूर्यों से युक्त पृथ्वी पर उतरे आकाश के समान प्रतीत होता था। उस सरोवर में स्नान करके और पानी पीकर बैठे हुए नरवाहनदत्त ने उस वन के एक ओर, चार पुरुषों को देखा ॥१०-११॥

दिव्य रूपवाले, दिव्य वस्त्रों और अलंकारों से आभूषित चारों व्यक्ति, उस सरोवर से, सोने के कमलों को, चुन-चुनकर ले रहे थे ॥१२॥

कौतुकवश नरवाहनदत्त उनके समीप गया और उनके यह पूछने पर कि तू कौन है, उसने अपने नाम, वंश आदि का पूरा परिचय दे दिया ॥१३॥

चार दिव्य पुरुषों की कथा

उसके देखने से प्रसन्न उन चारों ने परिचय पूछने पर कहा—'महासमुद्र के मध्य में बहुत सम्पन्न और विशाल सुन्दर द्वीप है, जो संसार में नारिकेल द्वीप के नाम से विख्यात है। उसमें चार पर्वत मैनाक, वृषभ, चक्र और बलाहक हैं, जो दिव्य भूमिवाले हैं। उन चारों पर्वतों पर हम चारों निवास करते हैं ॥१४–१६॥

हमलोगों में एक का नाम रूपसिद्धि है, जो विविध प्रकार के रूप धारण करता है। दूसरा प्रमाणसिद्धि है, जो बड़े ही सूक्ष्म प्रमाणों को देखता है ॥१७॥

तीसरा ज्ञानसिद्धि है, जिसे भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों का ज्ञान है और चौथा देवसिद्धि है, जिसे सभी देवताओं की सिद्धि प्राप्त है ॥१८॥

ते वयं हेमकमलान्येतान्यादाय साम्प्रतम्।
देवं पूजयितुं यामः श्वेतद्वीपे श्रियः पतिम् ॥१९॥
तद्भक्ता हि वयं सर्वे तत्प्रसादेन चाद्रिषु।
तेषु स्वेष्वाधिपत्यं नः सिद्धियुक्ताश्च सम्पदः ॥२०॥
तदेहि दर्शयामस्ते श्वेतद्वीपे हरिं प्रभुम्।
नयामस्त्वन्तरिक्षेण यदि ते रोचते सखे ॥२१॥
इत्युक्तवद्भिस्तैः साकं देवपुत्रैस्तथेति सः।
नरवाहनदत्तोऽत्र स्वाधीनाम्बुफलादिके ॥२२॥
गोमुखादीनवस्थाप्य श्वेतद्वीपं विहायसा।
ययौ गृहीतः स्वोत्सङ्गे तन्मध्याद्देवसिद्धिना ॥२३॥

नरवाहनदत्तस्य श्वेतद्वीपगमनं विष्णुसेवाप्राप्तिश्च

तत्रावतीर्य गगनाद्दूरादेवोपसृत्य च।
पार्श्वस्थिताब्धिननयं पादान्तस्थवसुन्धरम् ॥२४॥
शङ्खचक्रगदापद्मैः सेव्यमानं सविग्रहैः।
भक्त्योपगीयमानं च गन्धर्वैर्नारदादिभिः ॥२५॥
प्रणम्यमानं देवैश्च सिद्धैर्विद्याधरैस्तथा।
अग्रोपविष्टगरुडं शेषशय्यागतं हरिम् ॥२६॥
स ददर्श चतुर्भिस्तैः प्रापितो देवपुत्रकैः।
कस्य नाम्युदये हेतुर्भवेत्साधुसमागमः ॥२७॥
ततोऽर्चितं देवपुत्रैः कश्यपाद्यैश्च संस्तुतम्।
नरवाहनदत्तस्तमस्तौषीत् प्राञ्जलिः प्रभुम् ॥२८॥
नमोऽस्तु तुभ्यं भगवन् भक्तकल्पमहीरुह।
लक्ष्मीकल्पलताश्लिष्टवपुषेऽभीष्टदायिने ॥२९॥
नमस्ते दिव्यहंसाय सन्मानसनिवासिने।
सततोदितनादाय पराकाशविहारिणे ॥३०॥
तुभ्यं नमोऽतिसर्वाय सर्वाभ्यन्तरवर्त्तिने।
गुणातिक्रान्तरूपाय पूर्णषाड्गुण्यमूर्त्तये ॥३१॥
ब्रह्मा ते नाभिकमले स्वाध्यायोद्यन्मृदुध्वनिः।
तद्भूतानेकचरणोऽप्येष षट्चरणायते ॥३२॥
भूमिपादो द्युमूर्धा त्वं दिक्श्रोत्रोऽर्केन्दुलोचनः।
ब्रह्माण्डजठरः कोऽपि पुरुषो गीयसे बुधैः ॥३३॥

हम चारों इन सोने के कमलों को लेकर श्वेतद्वीप में भगवान् कमलापति (विष्णु) की पूजा के लिए जा रहे हैं ॥१९॥

हमलोग उन्हीं के भक्त हैं और उन्हीं की कृपा से उन पर्वतों पर हमारा राज्य है और सिद्धियों के साथ सम्पत्तियाँ भी प्राप्त हैं ॥२०॥

तो चलो, श्वेतद्वीप में तुम्हें हरि का दर्शन करावें। मित्र, यदि तुम्हें अच्छा लगे, तो हमलोग तुम्हें आकाश-मार्ग से ले चलें, ॥२१॥

इस प्रकार कहते हुए देवपुत्रों को स्वीकृति देकर, फल और जल से स्वाधीन उस स्थान पर गोमुख आदि साथियों को ठहराकर वह उनके साथ जाने को तैयार होगया ॥२२॥

उन चारों में देवसिद्धि ने उसे अपनी गोद में बैठाकर आकाश-मार्ग से श्वेतद्वीप की यात्रा की ॥२३॥

नरवाहनदत्त का श्वेतद्वीप में जाना और विष्णु-सेवा की प्राप्ति

श्वेतद्वीप में पास बैठी हुई लक्ष्मी और चरणों के पास बैठी हुई धरित्री से शोभित, शरीरधारी, शंख, चक्र, गदा और पद्म इन शस्त्रों से सेवित, गन्धर्वों और नारद आदि से गाकर स्तुति किये जाते हुए, सामने बैठे हुए गरुड़ से सेवित और शेषनाग की शय्या पर सोये हुए हरि को, उन चारों देवपुत्रों द्वारा पहुँचाये गये नरवाहनदत्त ने देखा। सच है, सज्जनों का समागम किसके कल्याण के लिए नहीं होता ॥२४–२७॥

तब उन देवपुत्रों और कश्यप आदि द्वारा स्तुति किये गये भगवान् की नरवाहनदत्त ने हाथ जोड़कर स्तुति की—॥२८॥

'हे भक्तों के कल्पवृक्ष! हे लक्ष्मी-रूपी लता से लिपटे हुए शरीरवाले! हे अभीष्ट-फल देनेवाले, तुम्हें प्रणाम है ॥२९॥

सज्जनों के मानस-सरोवर में विहार करनेवाले, निरन्तर नाद करते हुए और अनन्त आकाश में विहार करनेवाले तुम दिव्य हंस के लिए नमस्कार है ॥३०॥

सबसे अतिरिक्त रहनेवाले, सबके अन्तर में विराजमान गुणों से परे रहनेवाले और पूरे छह गुणों की मूर्त्तिवाले तुम्हारे लिए प्रणाम है ॥३१॥

वेदाध्ययन के कारण मृदु ध्वनि करते हुए और उससे उत्पन्न अनेक चरणोंवाले ब्रह्मा भी आपके समीप भ्रमर के समान लगते हैं ॥३२॥

आकाश तुम्हारा शिर है, दिशाएँ तुम्हारे कान हैं, सूर्य और चन्द्रमा तुम्हारे नेत्र हैं और सारा ब्रह्मांड तुम्हारा उदर है। अतः, तुम परमपुरुष कहे जाते हो ॥३३॥

त्वत्तो धामनिधेश्चासौ भूतग्रामो विजृम्भते।
नाथ स्फुलिङ्गसङ्घात इव प्रज्वलतोऽनलात् ॥३४॥
पुनश्च प्रविशत्येष त्वामेव प्रलयागमे।
दिनान्ते विग्रहव्रात इव वासमहाद्रुमम् ॥३५॥
सृजस्युल्लसितः स्वांशांस्त्वमेतान् भुवनेश्वरान्।
अनन्तवेलाक्षुभितस्तरङ्गानिव वारिधिः ॥३६॥
विश्वरूपोऽप्यरूपस्त्वं विश्वकर्मापि चाक्रियः।
विश्वाधारोऽप्यनाधारः कः स तत्त्वमवैति ते ॥३७॥
तां तामृद्धिं सुराः प्राप्तास्त्वत्प्रसन्नेक्षणेक्षिताः।
तत्प्रसीद प्रपन्नं मां पश्य पश्यार्द्रया दृशा ॥३८॥
एवं कृतस्तुतिं दृष्ट्वा सप्रसादेन चक्षुषा।
नरवाहनदत्तं तं हरिर्नारदमभ्यधात् ॥३९॥
गच्छ क्षीरोदसम्भूता या वराप्सरसः पुरा।
न्यासीकृत्य मया हस्ते शक्रस्य स्थापिताः स्वकाः ॥४०॥
तास्तस्मान्मम वाक्येन मृगयित्वा महामुने।
आरोप्य तद्रथे सर्वाः सत्वरं त्वमिहानय ॥४१॥
इत्युक्तो हरिणा गत्वा नारदः स तथेति ताः।
आनिन्येऽप्सरसः शक्रात्तद्रथेन समातलिः ॥४२॥
तेन तासूपनीतासु प्रणतेनाप्सरःस्वथ।
वत्सराजतनूजं तं भगवानादिदेश सः ॥४३॥
नरवाहनदत्तैतास्तुभ्यमप्सरसो मया।
दत्ता विद्याधरेन्द्राणां भविष्यच्चक्रवर्तिने ॥४४॥
त्वमासामुचितो भर्त्ता भार्याश्चैतास्तवोचिताः।
कामदेवावतारो हि निर्मितस्त्वं पुरारिणा ॥४५॥
तच्छ्रुत्वा पादपतिते तस्मिन् वत्सेश्वरात्मजे।
लब्धप्रसादमुदिते हरिर्मातलिमादिशत् ॥४६॥
नरवाहनदत्तोऽसावप्सरःसहितस्त्वया ।
प्राप्यतां स्वगृहं यावत्पथा येनायमिच्छति ॥४७॥
एवं भगवतादिष्टे साप्सरस्कः प्रणम्य तम्।
नरवाहनदत्तः स रथं मातलिसारथिम् ॥४८॥

हे प्रभो, यह समस्त प्राणियों का समूह और तेज का पुंज तुमसे वैसे ही उत्पन्न होता है, जैसे जलती हुई अग्नि से चिनगारियाँ ॥३४॥

यह सारा भूत-संघात (प्राणि-समूह), प्रलयकाल में तुम्हारे ही अन्दर उसी प्रकार समा जाता है, जैसे सायंकाल के समय पक्षियों का समूह महावृक्ष में समा जाता है ॥३५॥

अनन्त वेला से क्षुब्ध होकर समुद्र जैसे तरंग उत्पन्न करता है, वैसे तुम भी अपने अंश से इन्द्र आदि लोकपालों को उत्पन्न करते हो ॥३६॥

तुम विश्वरूप होकर भी अ-रूप (रूपहीन) हो। विश्वकर्मा होकर भी अ-क्रिय (कर्म-रहित) हो। विश्व के अधार होकर भी स्वयं निराधार (आधार-रहित) हो। वह कौन है, जो तुम्हारी वास्तविकता को जान सकता है ॥३७॥

तुम्हारी कृपा-दृष्टि से ही देखे गये देवता उन महान् ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं। अतः, मुझ पर कृपा करो। शरण में आये हुए मुझे करुण दृष्टि से देखो' ॥३८॥

इस प्रकार, स्तुति किये गये नरवाहनदत्त को प्रसन्न दृष्टि से देखकर हरि ने, नारद से कहा—'जाओ, क्षीर-समुद्र से उत्पन्न हुई अप्सराओं को मैंने इन्द्र के पास अपनी धरोहर के रूप में रखा था, उन सबको रथ में बैठाकर तुम शीघ्र मेरे कहने से यहाँ ले आओ' ॥३९—४१॥

विष्णु के इस प्रकार कहने पर नारद मुनि ने 'जो आज्ञा' कहकर तुरन्त ही मातलि के साथ रथ में बैठी अप्सराओं को लाकर उपस्थित किया ॥४२॥

नारद द्वारा अप्सराओं के लाने पर उस वत्सराज के पुत्र को भगवान् ने आदेश दिया—'हे नरवाहनदत्त ! विद्याधर-राजाओं के होनेवाले चक्रवर्त्ती ! तुझे मैंने ये अप्सराएँ दे दीं। तू इनका योग्य पति है और ये तेरी योग्य पत्नियाँ। क्योंकि, शिव ने पहले ही तुझे कामदेव का अवतार बनाया है ॥४३—४५॥

यह सुनकर भगवत्कृपा प्राप्त करने के कारण प्रसन्न उस वत्सेश्वर के पुत्र के चरणों में गिरने पर, हरि ने मातलि को आज्ञा दी कि इस नरवाहनदत्त को, अप्सराओं-सहित जिस मार्ग से यह चाहे, घर पहुँचा दो ॥४६-४७॥

भगवान् के ऐसा आदेश देने पर नरवाहनदत्त, अप्सराओं के साथ, मातलि द्वारा संचालित रथ पर बैठा, ॥४८॥

नरवाहनदत्तस्य नारिकेलद्वीपे गमनम्

आरुह्य देवपुत्रैस्तैः साकं कृतनिमन्त्रणैः।
नारिकेलमगद्द्वीपं देवैश्चैव कृतस्पृहः॥४९॥
तत्र तैरर्चितो रूपसिद्धिप्रभृतिभिः कृती।
चतुर्भिर्दिव्यपुरुषैः शक्रसारथिना युतः॥५०॥
मैनाकवृषभाद्येषु तन्निवासाद्रिषु क्रमात्।
अप्सरोभिः समं ताभिः स्वर्गस्पर्धिष्वरंस्त सः॥५१॥
मधुमासागमोत्फुल्लनानातरुवनासु च।
विजहार तदुद्यानवनभूमिषु कौतुकी॥५२॥
पश्यैतास्तरुमञ्जर्यः पृथुपुष्पविलोचनैः।
कान्तं वसन्तमायान्तं पश्यन्तीव विकस्वरैः॥५३॥
जन्मक्षेत्रेऽत्र मा भून्नः सन्तापोऽर्ककरोष्मजः।
इतीवाच्छादितं पश्य फुल्लैः सरसिजैः सरः॥५४॥
पश्योज्ज्वलं कर्णिकारमुपेत्यापि विसौरभम्।
विमुञ्चन्त्यलयो नीचं श्रीमन्तमिव साधवः॥५५॥
पश्येह किन्नरीगीतैः कोकिलानां च कूजितैः।
रुतैरलीनां सङ्गीतमृतुराजस्य तन्यते॥५६॥
इत्यादि देवपुत्रास्ते ब्रुवाणास्तामदर्शयन्।
नरवाहनदत्ताय तस्मै स्वोपवनावलीम्॥५७॥
तत्पुरेष्वपि चिक्रीड पश्यन् वत्सेश्वरात्मजः।
स वसन्तोत्सवोद्दामप्रनृत्यत्पौरचर्चरीः॥५८॥
बुभुजे साप्सरस्कश्च भोगानत्रामरोचितान्।
सुकृतो यत्र गच्छन्ति तत्रैषामृद्धयोऽग्रतः॥५९॥
एवं स्थित्वा त्रिचतुरान्दिवसान् देवपुत्रकान्।
नरवाहनदत्तस्तान् सुहृदो निजगाद सः॥६०॥
गच्छाम्यहं स्वनगरीं तातसन्दर्शनोत्सुकः॥
तद्यूयं तां पुरीमेत्य कृतार्थयत पश्यत॥६१॥
तच्छ्रुत्वा तेऽब्रुवन् दृष्टः सारस्तस्याः पुरो भवान्।
किमन्यत् प्राप्तविद्येन स्मर्त्तव्यास्तु वयं त्वया॥६२॥

नरवाहनदत्त का नारिकेल-द्वीप में जाना

देवताओं से ईर्ष्या किया जाता हुआ नरवाहनदत्त उन देवपुत्रों से निमन्त्रित होकर उस रथ से नारिकेलद्वीप को गया ॥४९॥

नारिकेल-द्वीप में, रूपसिद्धि आदि चारों देवपुत्रों से सत्कृत नरवाहनदत्त, मैनाक, वृषभ आदि स्वर्ग से होड़ लेनेवाले उन चारों पर्वतों पर अप्सराओं के साथ रमण करने लगा ॥५०-५१॥

कौतुकी वह नरवाहनदत्त, वसन्त के आगमन से विकसित, नाना प्रकार के पुष्पों से शोभित वनों और वृक्षोंवाले उन पर्वतों की उद्यान-भूमि में, विहार करता था ॥५२॥

'देखो, ये वृक्षों की मंजरियाँ, पुष्प-रूपी बड़ी-बड़ी विकसित आँखों से आते हुए अपने कान्त वसन्त को देख रही हैं ॥५३॥

देखो, हमारा जन्म-क्षेत्र इस सरोवर में सूर्य-किरणों का प्रचंड सन्ताप न पहुँच सके, मानों इसीलिए कमलों ने खिलकर तालाब को ढक लिया है ॥५४॥

देखो, खिले हुए कर्णिकार के गन्धहीन पुष्पों को भौंरे उसी प्रकार छोड़ रहे हैं, जैसे श्रीमान् के नीच होने पर सज्जन उसे छोड़ देते हैं ॥५५॥

यहाँ देखो, किन्नरियों के गान, कोकिलों की कूक और भौंरों की गुनगुनाहट मानों ऋतुराज के आगमन के संगीत हैं।' ॥५६॥

इस प्रकार, कहते हुए देवपुत्रों ने नरवाहनदत्त को अपने उद्यानों की पंक्तियाँ दिखाईं ॥५७॥

नरवाहनदत्त, वसन्तोत्सव का आनन्द-नृत्य करती हुई नागरिक स्त्रियों के गान का आनन्द लेता हुआ उस नगर में आनन्द-क्रीडा करता रहा। वह यहाँ अप्सराओं के साथ देवताओं के योग्य आनन्द-भोग करता रहा। भाग्यवान् व्यक्ति जहाँ भी जाता है, भोग उसके साथ पहले ही वहाँ उपस्थित हो जाते हैं ॥५८—५९॥

इस प्रकार, वह तीन-चार दिनों तक वहाँ रुककर अपने उन मित्र देवपुत्रों से कहने लगा—'पिताजी को देखने की उत्कंठा है। अतः, अब मैं अपनी नगरी को जाता हूँ। देखिए, आपलोग मेरी नगरी में आकर मुझे कृतार्थ कीजिए' ॥६०—६१॥

यह सुनकर वे बोले—'उस नगरी के सारभूत आपको हमने देख लिया, और क्या कहें? जब आपको सभी विद्याएँ प्राप्त हो जायँ, तब हम लोगों को आप स्मरण करें' ॥६२॥

इत्युक्त्वा प्रतिमुक्तस्तैरुपनीतेन्द्रसद्रथम् ।
नरवाहनदत्तोऽसौ मातलिं तमभाषत ॥६३॥
यत्र दिव्यसरस्तीरे स्थिता मे गोमुखादयः ।
तेन मार्गेण कौशाम्बीं पुरीं प्रापय मामिति ॥६४॥
ततस्तथेति तेनोक्तः साप्सरस्कः स तद्रथे ।
आरुह्य तत्सरः प्राप गोमुखादीन् ददर्श च ॥६५॥
आयात स्वपथा शीघ्रं सर्वं वक्ष्यामि वो गृहे ।
इत्युक्त्वा तांश्च कौशाम्बीं ययौ शक्ररथेन सः ॥६६॥
तत्रावतीर्य नभसः पूजितं प्रेष्य मातलिम् ।
अप्सरोभिर्युतस्ताभिः स विवेश स्वमन्दिरम् ॥६७॥
स्थापयित्वा च तास्तत्र गत्वा वत्सेश्वरस्य सः ।
तदागमनहृष्टस्य ववन्दे चरणौ पितुः ॥६८॥
मातुर्वासवदत्तायाः पद्मावत्यास्तथैव च ।
अभ्यनन्दंश्च तेऽप्येनं दर्शनातृप्तचक्षुषः ॥६९॥
तावच्च स रथारूढो गोमुखोऽत्र ससारथिः ।
प्रलम्बबाहुना तेन विप्रेण सममाययौ ॥७०॥
अथ स्थिते मन्त्रिवर्गे पित्रा पृष्टः शशंस सः ।
नरवाहनदत्तस्तं स्ववृत्तान्तं महाद्भुतम् ॥७१॥
ददाति तस्य कल्याणमित्रसंयोगमीश्वरः ।
इच्छत्यनुग्रहं यस्य कर्त्तुं सुकृतकर्मणः ॥७२॥
इति शंसत्सु सर्वेषु राजा वत्सेश्वरोऽथ सः ।
चकार तुष्टस्तनयस्याच्युतानुग्रहोत्सवम् ॥७३॥
ददर्श पादपतनायानीता गोमुखेन च ।
हरिप्रसादलब्धास्ताः सदारोऽप्सरसः स्नुषाः ॥७४॥
देवरूपां देवरतिं देवमालां तथैव च ।
देवप्रियां चतुर्थीं च चेटीभिः पृष्टनामकः ॥७५॥
क्वाहं क्व मय्यप्सरसो दिष्ट्याहं राजसूनुना ।
नरवाहनदत्तेन भुवि स्वर्नगरी कृता ॥७६॥
इतीवावकिरन्ती सा सिन्दूरं विततोत्सवा ।
चलद्रक्तपताकाभिः कौशाम्बी ददृशे तदा ॥७७॥

इस प्रकार कहकर उनसे विदा किया हुआ नरवाहनदत्त, इन्द्र के रथ को लेकर आये हुए सारथी मातलि से बोला—'उस दिव्य सरोवर के समीप, जहाँ गोमुख आदि ठहरे हैं, चलकर उसी मार्ग से मुझे कौशाम्बी पहुँचाओ' ॥६३—६४॥

'वैसा ही करूँगा'—मातलि से ऐसा कहा गया वह नरवाहनदत्त अप्सराओं के साथ रथपर चढ़कर उस सरोवर पर पहुँचा और वहाँ गोमुख, प्रलम्बबाहु आदि को उसने देखा ॥६५॥

और उनसे बोला—'आप लोग अपने ही मार्ग से आओ। 'घर पर सब कुछ कहूँगा'—ऐसा कहकर वह इन्द्र के रथ से कौशाम्बी चला गया ॥६६॥

वहाँ पर आकाश से उतरकर और मातलि को सत्कार के साथ विदा करके अप्सराओं के साथ वह अपने भवन में गया ॥६७॥

उन अप्सराओं को वहाँ ठहराकर वह उसके आगमन से प्रसन्न अपने पिता वत्सराज के पास गया और उसके चरणों की वन्दना की ॥६८॥

इसी प्रकार, उसने माता वासवदत्ता और पद्मावती के चरणों में प्रणाम किया। दर्शन से अतृप्त आँखों से उसे देखकर माताओं ने उसे आशीर्वाद दिया ॥६९॥

इतने में ही गोमुख भी रथ पर चढ़ा हुआ सारथी और प्रलम्बबाहु नामक उस ब्राह्मण के साथ वहाँ आ पहुँचा ॥७०॥

तदनन्तर, सभी मन्त्रियों के आ जाने पर पिता द्वारा पूछे गये नरवाहनदत्त ने, अपना अत्यन्त आश्चर्यमय यात्रा-वृत्तान्त उन्हें सुनाया ॥७१॥

'ईश्वर, जिस पुण्यकर्मा पर कृपा करता है, उसे अच्छे और कल्याणकारी मित्रों का संयोग कराता है' ॥७२॥

सब लोगों के ऐसा कहने पर वत्सराज ने, अपने पुत्र पर भगवान् विष्णु की कृपा का महोत्सव मनाया ॥७३॥

तब राजा (वत्सराज) ने विष्णु की कृपा से प्राप्त उन नई वधुओं (अप्सराओं) को देखा, जिन्हें राजा और रानी के चरणों की वन्दना करने के लिए गोमुख वहाँ लाया था ॥७४॥

दासियों द्वारा नाम पूछने पर उन चारों ने अपने नाम देवरूपा, देवरति, देवमाला और देवप्रिया बतलाया ॥७५॥

उस समय वायु से हिलती हुई लाल पताकाओं से उत्सव मनाती हुई कौशाम्बी—'मैं कहाँ और अप्सराएँ कहाँ ? नरवाहनदत्त ने तो पृथ्वी पर मुझे स्वर्ग की नगरी के समान बना दिया'—इस प्रसन्नता से मानों सिन्दूर उड़ाती थी ॥७६-७७॥

नरवाहनदत्तश्च पित्रोर्दत्तोत्सवो दृशोः ।
अन्याः सम्भावयामास भार्या मार्गोन्मुखीर्निजाः ॥७८॥
ताश्चतुर्भिर्दिनैर्वर्षैरिव तं च कृशीकृताः ।
अनन्दयन्वर्णयन्त्यस्तां तां विरहवेदनाम् ॥७९॥
गोमुखो वनवासे च रक्षतो रथवाजिनः ।
प्रलम्बबाहोः सिंहादिवधशौर्यमवर्णयत् ॥८०॥
एवं श्रुतिसुखाञ्शृण्वन् कथालापानयन्त्रणान् ।
निर्वर्णयंश्च कान्तानां रूपं स नयनामृतम् ॥८१॥
कुर्वंश्चाटूनि च पिबन् मधूनि सचिवैर्युतः ।
नरवाहनदत्तोऽत्र तं कालमवसत्सुखी ॥८२॥
एकदान्तरलङ्कारवतीवासगृहे स्थितः ।
सवयस्यः स शुश्राव तूर्यकोलाहलं बहिः ॥८३॥
ततो हरिशिखं सेनापतिं निजमुवाच सः ।
अकस्मात्कुत एतस्यात्तूर्यनादो महानिह ॥८४॥

समुद्रवंश्य कथा

एतच्छ्रुत्वैव निर्गत्य प्रविश्य च स तं क्षणात् ।
व्यजिज्ञपद्धरिशिखो वत्सराजसुतं प्रभुम् ॥८५॥
रुद्रो नाम वणिग्देव नगर्यामिह विद्यते ।
इतः सुवर्णद्वीपं च स जगाम वणिज्यया ॥८६॥
आगच्छतो निजस्तस्य सम्प्राप्तोऽप्यर्थसञ्चयः ।
अब्धौ वहनभङ्गेन निमग्नो नाशमागतः ॥८७॥
उत्तीर्णश्चात्मनैवैको देव जीवन्स वारिधेः ।
प्राप्तश्चाद्य दिनं षष्ठमिहापन्नो निजं गृहम् ॥८८॥
दिनानि कतिचिद्यावदिह तिष्ठति दुःखितः ।
तावत् स्वारामतो दैवात् प्राप्तस्तेन निधिर्महान् ॥८९॥
तद् गोत्रजानां च मुखाज्ज्ञातं वत्सेश्वरेण तत् ।
ततोऽद्यागत्य तेनासौ विज्ञप्तो वणिजा प्रभुः ॥९०॥
सरत्नौघा मया लब्धाश्चतस्रो हेमकोटयः ।
तदादिशति देवश्चेदर्पयिष्यामि ता इति ॥९१॥
जलाशयेन मुषितं दीनं दृष्ट्वैव वेधसा ।
कृपया संविभक्तं त्वां को मुष्णात्यजडाशयः ॥९२॥

माता-पिता की आँखों को आनन्द देनेवाले नरवाहनदत्त ने, प्रतीक्षा करती हुई अपनी अन्यान्य पत्नियों को जाकर प्रसन्न किया ॥७८॥

वे सब चार वर्षों के समान चार दिनों में सूखकर लकड़ी-सी हो गईं थीं? उन्होंने अपनी-अपनी विरह-वेदनाओं का वर्णन करते हुए नरवाहनदत्त को आनन्दित किया ॥७९॥

तब गोमुख ने, वनवास के समय उसके रथ के घोड़ों की रक्षा करते हुए हाथों से ही सिंह आदि हिंसक जन्तुओं को मार डालने की प्रलंबबाहु की वीरता का वर्णन किया ॥८०॥

इस प्रकार, आनन्द देनेवाली इधर-उधर की बातों को सुनते हुए और पत्नियों का नयनामृत पान करके उन्हें रिझाते हुए तथा और मन्त्रियों के साथ मद्यपान करते हुए नरवाहनदत्त के दिन सुखपूर्वक बीतने लगे ॥८१-८२॥

एक बार अलंकारवती के भवन में मित्रों के साथ बैठे हुए नरवाहनदत्त ने, बाहर की ओर से ढोल-नगाड़ों का शब्द सुना ॥८३॥

तब उसने अपने सेनापति हरिशिख से कहा—'यहाँ अकस्मात् यह ढोल-नगाड़ों का शब्द कहाँ से और कैसे हो रहा है?' ॥८४॥

समुद्रवैश्य की कथा

यह सुनकर बाहर निकलकर और तुरन्त लौटकर हरिशिख ने स्वामी नरवाहनदत्त से निवेदन किया—"स्वामी, इस नगरी में समुद्र नाम का एक बनिया है। वह व्यापार के लिए यहाँ से सुवर्ण-द्वीप को गया ॥८—५८६॥

वहाँ से लौटते हुए उसका अपना और कमाया हुआ भी धन, समुद्र में जहाज के डूब जाने से नष्ट हो गया ॥८७॥

इस दुर्घटना में वह बनिया, दैवयोग से जीवित, समुद्र के बाहर निकल आया और अपने घर पहुँच गया। आज उसे घर पहुँचे हुए छठा दिन है। इसी बीच जब वह अत्यन्त दुःखी होकर अपने घर रहता था, तब उसने अपने बगीचे में एक गड़ा हुआ बहुत बड़ा खजाना पाया ॥८८—८९॥

यह बात उसके सगे भाई-बन्धुओं द्वारा महाराज उदयन को ज्ञात हुई। इसलिए, आज उस बनिये ने, स्वयं आकर महाराज से निवेदन किया—॥९०॥

'हे स्वामी मैंने रत्नों के ढेर के साथ सोने के चार करोड़ सिक्के खजाने से पाये हैं, यदि महाराज की आज्ञा हो, तो मैं उन्हें लाकर महाराज की सेवा में अर्पित करूँ ॥९१॥

'समुद्र द्वारा धननाश किये जाने पर तुम्हें दीन देखकर भाग्य ने धन दिया है' तो उसे कौन समझदार लेना चाहेगा? ॥९२॥

गच्छ भुङ्क्ष्व यथाकामं धनं प्राप्तं स्वभूमितः।
इति वत्सेश्वरेणापि व्यादिष्टोऽसौ वणिक्ततः॥९३॥
स एष पादयो राज्ञः पतित्वा हर्षनिर्भरः।
तूर्याणि वादयन् याति स्वगृहं सानुगो वणिक्॥९४॥
एवं हरिशिखेनोक्तां श्रुत्वा धार्मिकतां पितुः।
नरवाहनदत्तः स्वान्सचिवान्विस्मितोऽब्रवीत्॥९५॥
यदि तावद्धरत्यर्थांस्तदन्वेव ददाति किम्।
चित्रमुच्छ्रायपाताभ्यां क्रीडतीव विधिर्नृणाम्॥९६॥
तच्छ्रुत्वा गोमुखोऽवादीदीदृश्येव गतिर्विधेः।
समुद्रशूरस्य कथा तथा चात्र निशम्यताम्॥९७॥

समुद्रशूरवैश्य कथा

बभूव नगरं पूर्वं नृपतेर्हर्षवर्मणः।
स्फीतं हर्षपुरं नाम सौराज्यसुखितप्रजम्॥९८॥
तस्मिन्समुद्रशूराख्यो नगरेऽभून्महावणिक्।
कुलजो धार्मिको धीरसत्त्वो बहुधनेश्वरः॥९९॥
स वणिज्यावशाद् गच्छन् सुवर्णद्वीपमेकदा।
आरुरोह प्रवहणं नटं प्राप्य महाम्बुधेः॥१००॥
गच्छतस्तस्य तेनाब्धौ किञ्चिच्छेषे तदध्वनि।
घोरः समुदभून्मेघो वायुश्च क्षोभितार्णवः॥१०१॥
तेनोर्मिवेगविक्षिप्ते वहने मकराहते।
भग्ने परिकरं बद्ध्वा सोऽम्बुधावपतत्तद्वणिक्॥१०२॥
यावच्च बाहुविक्षेपैर्वीरोऽत्र तरति क्षणम्।
तावच्चिरमृतं प्राप पुरुषं पवनेरितम्॥१०३॥
तदारूढश्च बाहुभ्यां क्षिप्ताम्बुर्विधिनैव सः।
नीतः सुवर्णद्वीपं तदनुकूलेन वायुना॥१०४॥
तत्रावतीर्णः पुलिने स तस्मान्मृतमानुषात्।
कटीनिबद्धं सग्रन्थि तस्यावैक्षत शाटकम्॥१०५॥
उन्मुच्य वीक्षते यावच्छाटकं कटितोऽस्य तत्।
तावत्तदन्तरा दिव्यं रत्नाढ्यं प्राप कण्ठकम्॥१०६॥
तं दृष्ट्वानर्घमादाय कृतस्नानस्तुतोष सः।
मन्वानोऽब्धौ विनष्टं तद्धनं तस्याग्रतस्तृणम्॥१०७॥

इसलिए, तुम जाओ। अपनी भूमि से प्राप्त धन का अपने इच्छानुसार उपभोग करो, वत्सराज द्वारा इस प्रकार कहा गया वह वैश्य, हर्ष से भरकर महाराज वत्सराज के चरणों में गिर पड़ा और अब ढोल-नगाड़े बजाता हुआ अपने परिजनों के साथ अपने घर जा रहा है ॥९३-९४॥

हरिशिख के ऐसा कहने पर और पिता की धार्मिकता सुनकर चकित नरवाहनदत्त अपने मन्त्रियों से बोला—॥९५॥

'दैव मनुष्यों का धन छीनकर, पुनः तुरन्त ही क्यों दे देता है? इस प्रकार दैव मनुष्यों के उत्थान और पतन से खेल करता है, यह आश्चर्य है!'॥९६॥

यह सुनकर गोमुख ने कहा—'दैव की गति ऐसी ही है। इस सम्बन्ध में समुद्र शूर की कथा सुनो' ॥९७॥

समुद्रशूर वैश्य की कथा

पूर्व समय में राजा हर्षवर्मा का हर्षपुर नाम का विशाल नगर था, जिसमें सुराज्य के कारण प्रजा अत्यन्त प्रसन्न थी ॥९८॥

उस नगर में समुद्रशूर नाम का एक बनिया था। वह कुलीन, धार्मिक धैर्यशाली और बहुत धनवाला था ॥९९॥

एक बार समुद्रशूर, व्यापार के लिए स्वर्णद्वीप को जाते हुए माल-सामान लेकर और समुद्र के तट पर पहुँचकर नाव पर चढ़ा ॥१००॥

उस नाव से, समुद्र में जाते हुए कुछ ही मार्ग शेष रहने पर भीषण बादल आकाश में उठा और समुद्र को क्षुब्ध कर देनेवाला भारी तूफान भी आ गया ॥१०१॥

ऊँची-ऊँची लहरों द्वारा नाव के फेंक दिये जाने और अन्ततः उसके डूब जाने के कारण वह बनिया कमर कसकर समुद्र में कूद पड़ा ॥१०२॥

कूदने पर कुछ समय तक वह हाथों को चलाकर समुद्र में तैरता रहा। तब उस समुद्र में तैरते हुए एक मुर्दे का शव उसके हाथ लग गया। वह वैश्य उस पर चढ़कर हाथों से पानी को चलाता हुआ वायु के अनुकूल होने के कारण सुवर्ण-द्वीप के तट पर पहुँच गया ॥१०३-१०४॥

वहाँ पहुँचकर वह उस शव से उतर पड़ा और उसकी कमर में बँधी हुई धोती को वह देखने लगा, जिसमें एक गाँठ बँधी मिली। उसने जब उसकी कमर से धोती निकालकर उस गाँठ को खोलकर देखा, तो उस गाँठ में एक दिव्य और रत्नमय कंठाभरण उसे दिखाई पड़ा ॥१०५-१०६॥

उस अमूल्य कंठाभरण को देखकर वह प्रसन्न हुआ और भली भाँति स्नान करके उस एक हार के सामने उसने, समुद्र में डूबी हुई अपनी सम्पत्ति को तुच्छ समझा ॥१०७॥

ततो गत्वात्र कलशपुराख्यं नगरं क्रमात्।
हस्तस्थकण्ठको देवकुलमेकं विवेश सः ॥१०८॥
तत्र छायोपविष्टः स वारिव्यायामतो भृशम्।
परिश्रान्तः शनैर्निद्रां ययौ विधिविमोहितः ॥१०९॥
सुप्तस्य तत्र चाकस्मादागताः पुररक्षिणः।
ददृशुस्तस्य हस्तस्थं कण्ठकं तमसंवृतम् ॥११०॥
अयं स कण्ठको राजसुताया इह कण्ठतः।
हारितश्चक्रसेनाया ध्रुवं चौरोऽयमेव सः ॥१११॥
इत्युक्त्वा तैः प्रबोध्यासौ निन्ये राजकुलं वणिक्।
तत्र पृष्टः स्वयं राज्ञा स यथावृत्तमभ्यधात् ॥११२॥
मिथ्या वक्त्येष चौरोऽयमिमं पश्यत कण्ठकम्।
इति प्रसार्य तं राजा यावत् सभ्यान् ब्रवीति सः ॥११३॥
तावत् प्रभास्वरं दृष्ट्वा निपत्य नभसो जवात्।
गृध्रस्तं कण्ठकं हृत्वा जगाम क्वाप्यदर्शनम् ॥११४॥
अथात्यार्त्तस्य वणिजः क्रन्दतो शरणं शिवम्।
वधे राज्ञा क्रुधादिष्टे शुश्रुवे भारती दिवः ॥११५॥
मा स्म राजन्वधीरेनमसौ हर्षपुराद्वणिक्।
साधुः समुद्रशूराख्यो विषयेऽस्यागतस्तव ॥११६॥
कण्ठको येन नीतोऽभूत् स चौरः पुररक्षिणाम्।
भयेन विह्वलो नश्यन्निपत्याब्धौ मृतो निशि ॥११७॥
अयं तु तस्य चौरस्य कायं प्राप्याधिरुह्य च।
वणिग्भग्नप्रवहणस्तीर्त्वाम्भोधिमिहागतः ॥११८॥
तदा च तत्कटीबद्धशाटकग्रन्थितोऽमुना।
वणिजा कण्ठकः प्राप्तो न नीतोऽनेन वो गृहात् ॥११९॥
तदचौरमिमं राजन्वणिजं मुञ्च धार्मिकम्।
सम्मान्य प्रहिणुष्वैनमित्युक्त्वा विरराम वाक् ॥१२०॥
एतच्छ्रुत्वा स सन्तुष्य मुक्त्वा तं वणिजं वधात्।
समुद्रशूरं सम्मान्य धनै राजा विसृष्टवान् ॥१२१॥
स च प्राप्तधनः क्रीतभाण्डो भूयो भयङ्करम्।
स्वदेशमेष्यन्वहनेनोत्ततराम्बुधिं वणिक् ॥१२२॥

हाथ में उस कंठहार को लिये हुए वह क्रमशः कलशपुर नामक नगर में पहुँचा और वहाँ एक देव-मन्दिर में गया ॥१०८॥

पानी में तैरते-तैरते थका हुआ वह बनिया भाग्यवश वहाँ अच्छी छाया पाकर धीरे-धीरे सो गया ॥१०९॥

उसके सोते हुए में ही नगर के पहरेदार अकस्मात् उधर आ निकले और उन्होंने उसके हाथ में खुले हुए उस हार को चमकते देखा ॥११०॥

'यह हार हमारी राजकुमारी चक्रसेना का है। इसने ही उसके गले से झपट लिया है, इसलिए यह अवश्य चोर है' ॥१११॥

ऐसा कहकर वे पहरेदार उसे जगाकर राजा के पास ले गये। वहाँ राजा के उससे पूछने पर उसने सब सत्य समाचार राजा से कह दिया ॥११२॥

'यह चोर है, झूठ बोलता है।' ऐसा कहकर और हार को फैलाकर राजा ने सभासदों को दिखलाया ॥११३॥

कान्ति से चमकते हुए उस हार को आकाश में उड़ते हुए एक गीध ने देखा और राजा के हाथ से उसे झपटकर वह आकाश में ले उड़ा तथा अदृश्य हो गया ॥११४॥

तदनन्तर अत्यन्त दीन उस वैश्य के शिव के नाम लेकर चिल्लाहट मचाने पर, राजा ने, क्रुद्ध होकर उसके वध का आदेश दे दिया, किन्तु इतने में ही आकाशवाणी हुई—॥११५॥

'हे राजन् इसे मत मारो। यह सज्जन बनिया समुद्रशूर तुम्हारे देश में व्यापार करने आया है ॥११६॥

हार को जिस चोर ने चुराया था, वह सिपाहियों के डर से घबराया हुआ रात को समुद्र में डूब गया। यह बनिया नाव के टूट जाने पर उसी चोर के शव पर बैठकर हाथों से समुद्र पार करके यहाँ आया है। उस शव की कमर में बँधी हुई धोती की गाँठ से बनिया ने यह हार पाया है। अतः, इसने यह हार तुम्हारे घर से नहीं लिया है ॥११७—११९॥

इसलिए, यह चोर नहीं है। हे राजन्, इस धार्मिक वैश्य को छोड़ दो और सम्मानित करके इसे विदा करो'। इतना कहकर आकाशवाणी बन्द हो गई ॥१२०॥

यह सुनकर सन्तुष्ट हुए राजा ने उसे छोड़ दिया और धन से सम्मानित करके उसे विदा किया। उस वैश्य समुद्रशूर ने भी, उस धन से व्यापार का सामान लेकर स्वदेश आते हुए उस भयंकर महासमुद्र को पार किया ॥१२१-१२२॥

तीर्णाब्धिश्च ततो गत्वा सार्थेन सह स क्रमात् ।
अटवीं प्रापदेकस्मिन्वासरे दिवसात्यये ॥१२३॥
तस्यामावसिते सार्थे रात्रौ तस्मिश्च जाग्रति ।
समुद्रशूरे न्यपतच्चौरसेनात्र दुर्जया ॥१२४॥
हन्यमाने तया सार्थे भाण्डांस्त्यक्त्वा पलाय्य सः ।
समुद्रशूरो न्यग्रोधमारूढोऽभूदलक्षितः ॥१२५॥
हृताशेषधने याते चौरसैन्ये भयाकुलः ।
तत्रैव तां तरौ रात्रिं दुःखार्त्तश्च निनाय सः ॥१२६॥
प्रातस्तस्य तरोः पृष्ठे गतदृष्टिः स दैवतः[1] ।
दीपप्रभामिवापश्यत्स्फुरन्तीं पत्रमध्यगाम् ॥१२७॥
विस्मयात्तत्र चारूढो गृध्रनीडमवैक्षत ।
अन्तःस्थभास्वरानर्घरत्नाभरणसञ्चयम् ॥१२८॥
जग्राह तस्मात्सर्वं तत्तन्मध्ये प्राप कण्ठकम् ।
तं स यं प्राप्तवान् स्वर्णद्वीपे गृध्रोऽहरच्च यम् ॥१२९॥
ततः प्राप्तामितधनो न्यग्रोधादवरुह्य सः ।
हृष्टो गच्छन् क्रमात् प्राप निजं हर्षपुरं पुरम् ॥१३०॥
तत्र तस्थौ वणिक्सोऽथ वीतान्यद्रविणस्पृहः ।
समुद्रशूरः स्वजनैः सह नन्दन्यथेच्छया ॥१३१॥
अब्धौ तत्पतनं सोऽर्थनाशस्तत्तरणं ततः ।
सा कण्ठकस्य च प्राप्तिस्तस्यैवापगमः स च ॥१३२॥
सा निष्कारणनिग्राह्यदशावाप्तिः स तत्क्षणम् ।
तुष्टाद्द्वीपेश्वराल्लाभस्तदब्धेस्तरणं पुनः ॥१३३॥
सोऽथ सर्वापहारश्च पथि चौरैः समागमात् ।
पर्यन्ते तस्य वणिजस्तरुपृष्ठाद्धनागमः ॥१३४॥
तदेवमीदृशं देव विचित्रं चेष्टितं विधेः ।
सुकृती चानुभूयैव दुःखमप्यश्नुते सुखम् ॥१३५॥
इति गोमुखतः श्रुत्वा श्रद्धायोत्थाय च व्यधात् ।
नरवाहनदत्तोऽत्र स्नानादिदिवसक्रियाम् ॥१३६॥

---

१. दैवयोगादित्यर्थः ।

उस किनारे पहुँचकर और नाव से उतरकर वैश्य व्यापारियों के झुंड के साथ क्रमशः स्वदेश जाते हुए एक दिन सायंकाल के समय एक भीषण जंगल में जा पहुँचा ॥१२३॥

उस जंगल में झुंड के डेरा डालने पर और समुद्रशूर के जागते रहने पर वहाँ डाकुओं की बलवती सेना ने आक्रमण कर दिया ॥१२४॥

उस सेना द्वारा व्यापारियों के मारे जाने पर, वह समुद्रशूर अपना सामान छोड़कर चुपचाप एक बड़े बरगद के वृक्ष पर चढ़कर छिप गया ॥१२५॥

समस्त व्यापारियों का माल, लूटकर चले जाने के कारण भय से व्याकुल और दुःख से पीड़ित समुद्रशूर ने वह सारी रात, उसी वृक्ष पर बिताई ॥१२६॥

प्रातःकाल दैववश वृक्ष के ऊपरी भाग में दृष्टि डालते हुए समुद्रशूर ने, पत्तों के झुरमुट में चमकती हुई दीपक की लौ-सी देखी ॥१२७॥

आश्चर्य-चकित वैश्य उसे देखकर, जब ऊपर चढ़ा, तब उसने वहाँ गीध का घोंसला देखा, जिसके भीतर से अमूल्य रत्नों का प्रकाश बाहर छिटक रहा था ॥१२८॥

उस वैश्य ने घोंसले में हाथ डालकर उसे उठा लिया और वही कंठहार उसे वहाँ दीख पड़ा, जिसे उसने सुवर्ण-द्वीप में पाया था और जिसे राजसभा से गीध झपट ले गया था ॥१२९॥

तब उस अनन्त धन को प्राप्त करके बनिया उस वटवृक्ष से नीचे उतरा और प्रसन्न होकर जाता हुआ क्रमशः अपने हर्षपुर नगर में पहुँच गया। वहाँ और धन कमाने की चाह छोड़कर वैश्य समुद्रशूर, अपने परिवार के पास आनन्दपूर्वक रहने लगा। समुद्र में गिरना, धन का डूबकर नाश होजाना, गले का हार पाना, मुर्दे पर बैठकर समुद्र पार करना, फिर उसका छिप जाना, निष्कारण मृत्युदंड मिलना, उसी क्षण प्रसन्न द्वीप के राजा से धन की प्राप्ति होना, मार्ग में फिर डाकुओं द्वारा उसका भी अपहरण हो जाना और अन्त में उस वृक्ष से फिर धन (हार) की प्राप्ति होना---आदि देखकर मानना पड़ता है महाराज, कि दैव की गति विचित्र है। किन्तु, पुण्यवान् व्यक्ति पहले दुःख का अनुभव करके अन्त में सुख पाता है ॥१३०---१३५॥

गोमुख से यह कथा सुनकर और उस पर विश्वास करके नरवाहनदत्त स्नान आदि नित्यकर्म के लिए सभा से उठ गया ॥१३६॥

अन्येद्युरेत्य चास्थानगतं तं बालसेवकः।
शूरः समरतुङ्गाख्यो राजपुत्रो व्यजिज्ञपत् ॥१३७॥
देव संग्रामवर्षेण नाशितो गोत्रजेन मे।
देशश्चतुर्भिर्युक्तेन पुत्रैर्वीरजितादिभिः ॥१३८॥
तदेष गत्वा पञ्चापि बद्ध्वा तानानयाम्यहम्।
प्रभोर्विदितमस्त्वेतदित्युक्त्वा तत्र सोऽगमत् ॥१३९॥
तमल्पसैन्यं तानन्यान् भूरिसैन्यानवेत्य सः।
वत्सेश्वरसुतस्तस्य दिदेशानुबलं निजम् ॥१४०॥
सोऽगृहीत्वैव तन्मानी गत्वा पञ्चापि तान् रिपून्।
स्वबाहुभ्यां रणे जित्वा संयम्यानीतवान्समम् ॥१४१॥
तथा जयिनमायान्तं वीरं सम्मान्य स प्रभुः।
नरवाहनदत्तस्तं प्रशशंस स्वसेवकम् ॥१४२॥
चित्रमाक्रान्तविषयान्सबलानिन्द्रियोपमान्।
जित्वानेन रिपून् पञ्च पुरुषार्थः प्रसाधितः ॥१४३॥
तच्छ्रुत्वा गोमुखोऽवादीच्छ्रुता चेत्र तदीदृशी।
राज्ञश्चमरवालस्य कथा तच्छृणु वच्मि ताम् ॥१४४॥

राज्ञः चमरवालस्य कथा

हस्तिनापुरमित्यस्ति नगरं तत्र चाभवत्।
राजा चामरवालाख्यः कोपदुर्गबलान्वितः ॥१४५॥
बभूवुस्तस्य समरबलाद्या भूम्यनन्तराः।
राजानो गोत्रजास्ते च सम्भूयैवमचिन्तयन् ॥१४६॥
अयं चमरवालोऽस्मानेकैकं बाधते सदा।
तदेते मिलिताः सर्वे विदध्मोऽस्य पराभवम् ॥१४७॥
इति सम्मन्त्र्य पञ्चैते तज्जयाय यियासवः।
प्रस्थानलग्नं क्षितिपाः पप्रच्छुर्गणकं रहः ॥१४८॥
अपश्यन् स शुभं लग्नं पश्यन्नशकुनानि च।
जगाद गणको नास्ति लग्नं संवत्सरेऽत्र वः ॥१४९॥
यथा तथा च यातानां न युष्माकं भवेज्जयः।
किं चात्र वोऽनुबन्धेन समृद्धिं तस्य पश्यताम् ॥१५०॥

दूसरे दिन सभा में बैठे हुए उसके पास उसका बाल-मित्र और शूर राजपूत समरतुंग आकर बोला–'महाराज, मेरे कुटुम्बी दायाद संग्रामवर्ष ने, वीरजित आदि चार पुत्रों की सहायता से मेरे देश जीत लिये हैं ॥१३७–१३८॥

तो, मैं जाकर उन पाँचों को बाँधकर लाता हूँ, आपको यह विदित हो'--ऐसा कहकर वह चला गया ॥१३९॥

नरवाहनदत्त ने, समरतुंग की सेना को न्यून (कम) और संग्रामवर्ष की सेना को अधिक जानकर समरतुंग की सहायता के लिए अपनी सेना भेज दी ॥१४०॥

वह मानी समरतुंग, उस सेना की सहायता लिये बिना ही वहाँ जाकर उन पाँचों शत्रुओं को अपने बाहुबल से जीतकर और एक साथ ही बाँधकर ले आया ॥१४१॥

इस प्रकार आये हुए उस विजयी वीर का सम्मान करके नरवाहनदत्त ने अपने उस सेवक की प्रशंसा की ॥१४२॥

'आश्चर्य है कि विषय (देश) को आक्रान्त किये हुए पाँच इन्द्रियों के समान इन पाँच शत्रुओं को जीतकर इसने पुरुषार्थ की साधना की है' ॥१४३॥

यह सुनकर गोमुख ने कहा–'स्वामिन, यदि तुमने इसी प्रकार की राजा चमरवाल की कथा न सुनी हो, तो कहता हूँ, सुनो'—॥१४४॥

राजा चमरवाल की कथा

हस्तिनापुर नाम का एक नगर है। वहाँ कोष (खजाना), दुर्ग (किला) और बल (सेना) से युक्त चमरवाल नाम का राजा था। उसके साथ ही समरबल आदि उसके गोत्र में उत्पन्न दायादों के राज्य थे। उन लोगों ने एकत्र होकर सोचा—॥१४५-१४६॥

यह चमरवाल हम लोगों में से एक-एक को सदा दबाता रहता है; अतः हम सब मिलकर इसका अपमान करें ॥१४७॥

ऐसी सम्मति करके उस पर चढ़ाई करने के लिए उद्यत उन पाँचों राजाओं ने, एकान्त में ज्योतिषी से चढ़ाई का मुहूर्त्त पूछा ॥१४८॥

वे लोग अशुभ लक्षणों को दूर करके चढ़ाई करने का शुभ लग्न पूछना चाहते थे। तब ज्योतिषी ने कहा–'इस वर्ष-भर चढ़ाई का लग्न नहीं है' ॥१४९॥

यदि किसी प्रकार तुमने चढ़ाई की भी, तो उसमें तुम लोगों की विजय न होगी और उस चमरवाल की समृद्धि को देखकर तुम लोगों का इतना अनुबन्ध क्यों है ? ॥१५०॥

भोगो नाम फलं लक्ष्म्याः स तस्मादधिकोऽस्ति वः।
न चेच्छ्रुता श्रूयतां तत्कथात्र वणिजोर्द्वयोः ॥१५१॥

राज्ञो बहुसुवर्णस्य कथा

बभूव कौतुकपुरं नामेह नगरं पुरा।
तस्मिन्नन्वर्थनामाभूद्राजा बहुसुवर्णकः ॥१५२॥
यशोवर्मेति तस्यासीत्सेवकः क्षत्रियो युवा।
तस्मै दातापि स नृपो नादात्किञ्चित्कदाचन ॥१५३॥
यदा यदा च नृपतिस्तेनार्त्या याच्यते स्म सः।
आदित्यं दर्शयन्नेवं तमुवाच तदा तदा ॥१५४॥
अहमिच्छामि ते दातुं किं पुनर्भगवानयम्।
तुभ्यं नेच्छति मे दातुं किं करोम्युच्यतामिति ॥१५५॥
ततः सोऽवसरं चिन्वन् यावत्तिष्ठति दुःखितः।
सूर्योपरागसमयस्तावदत्रागतोऽभवत् ॥१५६॥
तत्कालं स यशोवर्मा गत्वा सततसेवकः।
नृपं भूरिमहादानप्रवृत्तं तं व्यजिज्ञपत् ॥१५७॥
यो ददाति न ते तुभ्यं दातुं सैष रविः प्रभो।
ग्रस्तोऽद्य वैरिणा यावत्तावत्किञ्चित्प्रयच्छ मे ॥१५८॥
तच्छ्रुत्वा स हसित्वा च दत्तदानो महीपतिः।
ददौ वस्त्रहिरण्यादि तस्मै बहुसुवर्णकम् ॥१५९॥
क्रमात्तस्मिन्धने भुक्ते खिन्नः सोऽददति प्रभो।
मृतजानि[1] यशोवर्मा प्रययौ विन्ध्यवासिनीम् ॥१६०॥
किं निरर्थेन देहेन जीवतापि मृतेन मे।
त्यक्ष्याम्येतं पुरो देव्या वरं प्राप्स्यामि वेप्सितम् ॥१६१॥
इत्यग्रे विन्ध्यवासिन्याः संविष्टो दर्भसंस्तरे।
तन्मनाः स निराहारस्तपो महदतप्यत ॥१६२॥
आदिशत्तं च सा स्वप्ने देवी तुष्टास्मि पुत्र ते।
ददाम्यर्थश्रियं किं ते किं वा भोगश्रियं वद ॥१६३॥

---

१. मृता जाया यस्यासौ, मृतजानिः, मृतभार्य इत्यर्थः।

लक्ष्मी का फल है भोग। वह तो तुम्हारे पास उससे भी अधिक है। यदि नहीं सुनी है, तो इस सम्बन्ध में दो बनियों की कथा सुनो' ॥१५१॥

राजा बहुसुवर्ण की कथा

"प्राचीन काल में इस पृथ्वी पर कौतुकपुर नाम का नगर था। उस नगर में यथार्थ नाम-वाला बहुसुवर्ण नाम का राजा था ॥१५२॥

यशोवर्मा नाम का युवा क्षत्रिय उसका सेवक था। राजा ने दाता होने पर भी उस सेवक को कभी कुछ नहीं दिया ॥१५३॥

वह सेवक, कष्ट पाकर जब-जब राजा से कुछ माँगता था, तब-तब वह राजा, उसे सूर्य को दिखाकर कहता था कि मैं देना चाहता हूँ, किन्तु यह भगवान् तुझे देना नहीं चाहता। कहो, क्या करूँ? ॥१५४-१५५॥

तब दुःखित वह सेवक, अवसर की चिन्ता में था कि इतने में ही सूर्य-ग्रहण का समय आ गया। उस समय वह सेवक यशोवर्मा बड़े-बड़े महान् दान करते हुए राजा से उसने कहा कि मुझे कुछ दो, जो सूर्य तुम्हें देने नहीं देता, वह इस समय जबतक शत्रु से घिरा है, तबतक मुझे कुछ दे दो ॥१५६-१५८॥

और, दान देता हुआ राजा बहुसुवर्ण यह सुनकर पहले हँसा, बाद में वस्त्र, सोना आदि दान में दिये ॥१५९॥

धीरे-धीरे उस धन को समाप्त कर लेने पर और राजा से पुनः न मिलने पर खिन्न वह सेवक यशोवर्मा, पत्नी के मर जाने से विरक्त होकर, विन्ध्यवासिनी को चला गया ॥१६०॥

इस व्यर्थ शरीर से क्या लाभ? मृत के समान इस जीवन से भी क्या लाभ? इसलिए, देवी के सामने इसे त्याग दूँगा अथवा ईप्सित वर ही प्राप्त करूँगा—॥१६१॥

ऐसा सोचकर विन्ध्यवासिनी के आगे कुशास्तरण पर बैठकर और निराहार रहकर वह कठिन तप करने लगा ॥१६२॥

तप से सन्तुष्ट देवी ने, स्वप्न में उसे आशीर्वाद दिया कि क्या तुझे धन-लक्ष्मी दूँ अथवा भोगलक्ष्मी दूँ? ॥१६३॥

तच्छ्रुत्वा स यशोवर्मा देवीं तां प्रत्यभाषत।
एतयोर्निपुणं वेद्मि नाहं भेदं श्रियोरिति ॥१६४॥
ततस्तमवदद्देवी स्वदेशे तर्हि यौ तव।
भोगवर्मार्थवर्माणौ विद्येते वणिजावुभौ ॥१६५॥
तयोर्गत्वा श्रियं पश्य ततो यत्सदृशी च ते।
रोचिष्यते तत्सदृशी त्वयागत्यार्थ्यतामिति ॥१६६॥
एतच्छ्रुत्वा प्रबुध्यैव स प्रातः कृतपारणः।
स्वदेशं कौतुकपुरं यशोवर्मा ततो ययौ ॥१६७॥

भोगवर्मार्थवर्मणोः वणिजोः कथा

तत्रागात् प्रथमं तावत् स गृहानर्थवर्मणः।
असंख्यहेमरत्नादिव्यवहारार्जितश्रियः ॥१६८॥
पश्यंस्तां सम्पदं तस्य यथावत्तमुपाययौ।
कृतातिथ्यश्च तेनासौ भोजनाय न्यमन्त्र्यत ॥१६९॥
ततोऽत्राभुङ्क्त सघृतं समांसव्यञ्जनं च सः।
प्राघुणोचितमाहारं पार्श्वे तस्यार्थवर्मणः ॥१७०॥
अर्थवर्मा तु भुङ्क्ते स्म घृतार्धपलसंयुतान्।
सक्तून् भक्तमपि स्तोकं मांसव्यञ्जनमल्पकम् ॥१७१॥
सार्थवाह किमेतावदश्नासीति सकौतुकम्।
स यशोवर्मणा पृष्टो वणिगेवमभाषत ॥१७२॥
अद्य त्वदुपरोधेन समांसव्यञ्जनं मया।
भुक्तं स्तोकं घृतस्यार्धपलं भुक्तं च सक्तवः ॥१७३॥
सदा तु घृतकर्षं च सक्तूंश्चाश्नामि केवलान्।
अतोऽधिकं मे मन्दाग्नेरुदरे नैव जीर्यते ॥१७४॥
तच्छ्रुत्वा स यशोवर्मा विचिकित्सन्निनिन्द ताम्।
हृदयेन श्रियं तस्य विफलामर्थवर्मणः ॥१७५॥
ततो निशागमे भक्तं क्षीरं चानाययत्पुनः।
अर्थवर्मा वणिक्तस्य स यशोवर्मणः कृते ॥१७६॥
यशोवर्मा च भूयस्तद्यथाकाममभुङ्क्त सः।
अर्थवर्मापि स तदा क्षीरस्यैकं पलं पपौ ॥१७७॥
तत्रैव चैकस्थाने तावास्तीर्णशयनावुभौ।
यशोवर्मार्थवर्माणौ शनैर्निद्रामुपेयतुः ॥१७८॥

यह सुनकर यशोवर्मा ने देवी से कहा–'मैं इन दोनों लक्ष्मियों का भेद भली भाँति नहीं जानता' ।।१६४।।

तब देवी ने उससे कहा—'तेरे देश में जो दो बनिये भोगवर्मा और अर्थवर्मा हैं, जाकर उनकी लक्ष्मी को देखो और बताओ कि तुम्हें किसके समान लक्ष्मी चाहिए। उसे मेरे पास आकर माँगो' ।।१६५-१६६।।

यह सुनकर और जागकर प्रातःकाल पारण करके यशोवर्मा अपने देश कौतुकपुर को गया ।।१६७।।

अर्थवर्मा और भोगवर्मा बनिये की कथा

पहले वह अर्थवर्मा के घर पर गया, जिसने असंख्य सोना और रत्नों का ढेर प्राप्त किया था। उसकी इस सम्पत्ति को देखता हुआ यशोवर्मा उसके पास गया। अर्थवर्मा ने उसका आतिथ्य-सत्कार करके उसे भोजन के लिए निमन्त्रण दिया ।।१६८-१६९।।

तब यशोवर्मा ने अर्थवर्मा के यहाँ घी, मांस, व्यंजन आदि जो अतिथि के भोजन के लिए उचित थे, खाये ।।१७०।।

अर्थवर्मा ने दो तोला घी में सने हुए सत्तू, थोड़ा-सा भात और अत्यल्प मांस का व्यंजन खाया ।।१७१।।

यह देखकर यशोवर्मा ने अर्थवर्मा से आश्चर्यपूर्वक पूछा–'हे व्यापारी, क्या तुम इतना ही भोजन करते हो?' तब बनिया ने कहा–'आज मैंने तुम्हारे कारण थोड़ा-सा मांस का व्यंजन खा लिया और दो तोला घी भी सत्तू के साथ खा लिया ।।१७२-१७३।।

सदा तो मैं एक कर्ष-मात्र घी सत्तू के साथ खाया करता हूँ। इससे अधिक मुझ मन्दाग्निवाले को पचता नहीं' ।।१७४।।

यह सुनकर अर्थवर्मा ने सन्देह करते हुए उसकी निन्दा की और उसकी लक्ष्मी को व्यर्थ समझा ।।१७५।।

तदनन्तर, रात्रि के समय अर्थवर्मा ने यशोवर्मा के लिए दूध और भात मँगवाया। यशोवर्मा ने डटकर भोजन किया, किन्तु अर्थवर्मा ने एक छटाँक भर दूध पिया ।।१७६-१७७।।

भोजन के पश्चात् वे दोनों (अर्थवर्मा और यशोवर्मा) बिस्तर बिछाकर पास ही पास सो गये ।।१७८।।

निशीथे च यशोवर्मा स्वप्नेऽपश्यदशङ्कितम्।
प्रविष्टानत्र पुरुषान् दण्डहस्तान् भयङ्करान्॥१७९॥
धिगल्पाम्यधिकः कर्षो घृतस्य किमिति त्वया।
मांसौदनश्च भुक्तोऽद्य पीतं च पयसः पलम्॥१८०॥
इति क्रोधाद् ब्रुवाणैस्तैराकृष्यैवाथ पादतः।
पुरुषैरर्थवर्मा स लगुडैः पर्यताड्यत॥१८१॥
घृतकर्षपयोमांसभक्तमभ्यधिकं च यत्।
भुक्तं तत्सर्वमुदरादाचकर्षुश्च तस्य ते॥१८२॥
तद्दृष्ट्वा स यशोवर्मा प्रबुद्धो यावदीक्षते।
तावत्तस्याययौ शूलं विबुद्धस्यार्थवर्मणः॥१८३॥
ततः क्रन्दन् परिजनैर्मर्द्यमानोदरश्च सः।
वमति स्मार्थवर्मा तदधिकं यत्स भुक्तवान्॥१८४॥
शान्तशूले ततस्तस्मिन्यशोवर्मा व्यचिन्तयत्।
धिग्धिगर्थश्रियमिमां यस्या भोगोऽयमीदृशः॥१८५॥
स्वीकृतेयमीदृश्या भूयादभवनिःश्रियः।
इत्यन्तश्चिन्तयन्सोऽत्र रात्रिं तामत्यवाहयत्॥१८६॥
प्रातस्तमर्थवर्माणमामन्त्र्य स ययौ ततः।
यशोवर्मा गृहं तस्य वणिजो भोगवर्मणः॥१८७॥
तत्राभ्यागाद्यथावत्तं तेनापि च कृतादरः।
निमन्त्रितोऽभूद्वणिजा तदहर्भोजनाय सः॥१८८॥
न चास्य वणिजोऽपश्यन् स काञ्चिद्धनसम्पदम्।
अपश्यत्तु शुभं वेश्म वासांस्याभरणानि च॥१८९॥
ततः स्थिते यशोवर्मण्यस्मिन्प्रावर्त्ततात्र सः।
भोगवर्मा वणिक्कर्त्तुं व्यवहारं निजोचितम्॥१९०॥
अन्यस्माद् भाण्डमादाय ददावन्यस्य तत्क्षणम्।
विनैव स्वधनं मध्याद्दीनारानुदपादयत्॥१९१॥
त्वरितं तान् स दीनारान्भृत्यहस्ते विसृष्टवान्।
स्वभार्यायै विचित्रान्नपानसम्पादनाय च॥१९२॥

तब यशोवर्मा ने, स्वप्न में देखा कि हाथों में डंडे लिए हुए कुछ भयंकर पुरुष बिना भय और शंका के वहाँ घुस आये ॥१७९॥

'तूने आज एक तोला घी अधिक क्यों खाया, मांस-रस के साथ भात अधिक क्यों खाया और दूध भी एक छटाँक अधिक क्यों पिया ? क्रोध से ऐसा कहते हुए उन पुरुषों ने अर्थवर्मा को डंडों से खूब पीटा ॥१८०-१८१॥

और, उसने जो मांसरस, भात, घी, दूध अधिक खा लिया था, उसे उन्होंने उसके पेट से निकाल लिया ॥१८२॥

स्वप्न में यह देखकर जगे हुए यशोवर्मा ने देखा कि अर्थवर्मा पेट के शूल से व्याकुल है ॥१८३॥

वेदना से चिल्लाता हुआ और सेवकों द्वारा पेट दबाया जाता हुआ अर्थवर्मा अपने अधिक खाये हुए को वमन करने लगा। उसका शूल, शान्त होने पर, यशोवर्मा सोचने लगा कि इस अर्थलक्ष्मी को धिक्कार है, जिसका इस प्रकार का भोग है ॥१८४–१८५॥

यह वैश्य, लक्ष्मी से ऐसे तंग किया जाता है, तो ऐसी लक्ष्मी से दरिद्र रहना ही अच्छा है, मन में इस प्रकार सोचते हुए उसने वह रात्रि व्यतीत की ॥१८६॥

प्रातःकाल यशोवर्मा अर्थवर्मा से मिलकर वहाँ से भोगवर्मा के घर पर गया ॥१८७॥

वहाँ भी भोगवर्मा द्वारा समुचित सत्कार किया गया यशोवर्मा भोगवर्मा से भोजन के लिए निमन्त्रित हुआ ॥१८८॥

उसने उस वैश्य के यहाँ किसी प्रकार की सम्पत्ति का आडम्बर नहीं देखा। केवल सुन्दर स्वच्छ भवन, अच्छे वस्त्र और आभूषण-मात्र देखे ॥१८९॥

तदनन्तर, यशोवर्मा की उपस्थिति में ही भोगवर्मा ने अपना दैनिक व्यापार[1] प्रारम्भ किया ॥१९०॥

एक से माल खरीदकर उसी समय उसने दूसरे को देदिया और अपना धन बिना लगाये ही बीच में (दलाली में) दीनार कमा लिया ॥१९१॥

और, शीघ्र ही उन स्वर्ण-मुद्राओं को नौकर के हाथ अपनी स्त्री के पास भेजकर अच्छा भोजन बनाने के लिए निर्देश दिया ॥१९२॥

---

१. आढ़त का काम।

क्षणाच्च सुहृदेकस्तमिच्छाभरणनामकः।
उपागत्यैव रभसाद् भोगवर्माणमभ्यधात् ॥१९३॥
सिद्धं भोजनमस्माकमुत्तिष्ठागच्छ भुञ्ज्महे।
सुहृदो मिलिता ह्यन्ये त्वत्प्रतीक्षाः स्थिता इति ॥१९४॥
अद्याहं नागमिष्यामि प्राघुणोऽयं स्थितो हि मे।
इति ब्रुवाणं पुनरप्येनं स सुहृदब्रवीत् ॥१९५॥
भवता सममायातु तर्हि प्राघुणिकोऽप्ययम्।
एषोऽपि न किमस्माकं मित्रमुत्तिष्ठ सत्वरम् ॥१९६॥
इत्याग्रहाद् भोगवर्मा नीतो मित्रेण तेन सः।
यशोवर्मयुतो गत्वा भुङ्क्ते स्माहारमुत्तमम् ॥१९७॥
पीत्वा च पानमागत्य सायं स स्वगृहे पुनः।
सयशोवर्मको भेजे विचित्रं पानभोजनम् ॥१९८॥
प्राप्तायां निशि पप्रच्छ निजं परिजनं च सः।
किमद्य रात्रिपर्याप्तमस्ति नः सरकं न वा ॥१९९॥
स्वामिन्नास्तीति तेनोक्तः स भेजे शयनं वणिक्।
पास्यामोऽपररात्रेऽद्य कथं जल्पमिति ब्रुवन् ॥२००॥
यशोवर्माथ तत्पार्श्वे सुप्तः स्वप्नेऽत्र दृष्टवान्।
प्रविष्टान् पुरुषान् द्वित्रानन्यांस्तेषां च पृष्ठतः ॥२०१॥
कस्मादपररात्रार्थं सरकं भोगवर्मणः।
चिन्तितं नाद्य युष्माभिः क्व भवद्भिः स्थितं शठाः ॥२०२॥
इति पश्चात्प्रविष्टास्ते पुरुषा दण्डपाणयः।
पूर्वप्रविष्टान् क्रोधात्तान् दण्डाघातैरताडयन् ॥२०३॥
अपराधोऽयमेको नः क्षम्यतामिति वादिनः।
दण्डाहतास्ते पुरुषास्ते चान्ये निरगुस्ततः ॥२०४॥
यशोवर्माथ तद्दृष्ट्वा प्रबुद्धः समचिन्तयत्।
अचिन्त्योपनतिः श्लाघ्या भोगश्रीर्भोगवर्मणः ॥२०५॥
भोगहीना समृद्धापि नार्थश्रीरर्थवर्मण।
इति चिन्तयतस्तस्य सातिचक्राम यामिनी ॥२०६॥
प्रातश्च स यशोवर्मा तमामन्त्र्य वणिग्वरम्।
जगाम विन्ध्यवासिन्याः पादमूलं पुनस्ततः ॥२०७॥

इतने में ही भोगवर्मा का इच्छाभरण नाम का एक मित्र आकर शीघ्रता से उससे बोला—'हमारा भोजन तैयार है, उठो, आओ। खा लें और भी अनेक मित्र तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठे हैं' ॥१९३–१९४॥

'मैं आज नहीं आऊँगा; क्योंकि मेरा यह मित्र पाहुना बैठा है।' ऐसा कहते हुए भोगवर्मा से उसके मित्र ने कहा–'तुम्हारे साथ तुम्हारा पाहुना भी आवे। क्या यह हमारा मित्र नहीं है? अतः, शीघ्र उठो' ॥१९५-१९६॥

वह मित्र इस प्रकार भोगवर्मा को, आग्रह के साथ ले गया और उसने यशोवर्मा के साथ जाकर उत्तम भोजन किया ॥१९७॥

तदनन्तर, ऊपर से आसव आदि पान करके सायंकाल भोगवर्मा अपने घर आया। घर आकर यशोवर्मा के साथ सायंकालीन भोजन किया ॥१९८॥

रात होने पर उसने अपने सेवकों से पूछा कि आज रात्रि के लिए पूरा जल है या नहीं। 'हाँ प्रभु है'—सेवकों के इस प्रकार कहने पर वह वैश्य भोगवर्मा चारपाई पर यह कहते हुए सो गया कि देखें आज पिछली रात में कैसा पानी मिलता है' ॥१९९–२००॥

उसी के समीप सोये हुए यशोवर्मा ने स्वप्न में देखा कि दो-तीन पुरुष शयनागार में प्रविष्ट हुए और उन के पीछे 'हे दुष्टो, आज तुम लोगों ने भोगवर्मा के लिए पिछली रात में पीने के जल का ध्यान क्यों नहीं रखा' इस प्रकार कहते हुए बहुत से दंडधारी पुरुष घुसे और उन्होंने क्रोध करके डंडों से उन सेवकों को मारा ॥२०१—२०३॥

'यह हमारा पहला अपराध है, क्षमा करो'—ऐसा कहते हुए उन सेवकों को छोड़कर वे चले गये ॥२०४॥

तदनन्तर, यह देखकर और जागकर यशोवर्मा ने सोचा कि विना चिन्ता किये ही आनेवाली भोगवर्मा की भोगश्री प्रशंसनीय है ॥२०५॥

अर्थ से पूर्ण होने पर भी भोग-रहित अर्थवर्मा की अर्थलक्ष्मी ठीक नहीं, ऐसा सोचते-सोचते उसकी वह रात्रि व्यतीत हो गई ॥२०६॥

प्रातःकाल ही यशोवर्मा, वैश्य भोगवर्मा से आज्ञा लेकर वहाँ से फिर विन्ध्यवासिनी के चरणों में गया ॥२०७॥

तपःस्थः स्वप्नदृष्टायास्तस्याः पूर्वोक्तयोर्द्वयोः।
श्रियोर्भोगश्रियं तत्र वव्रे सास्मै ददौ च ताम् ॥२०८॥
अथागत्य यशोवर्मा गृहं देवीप्रसादतः।
अचिन्तितोपगामिन्या तस्थौ भोगश्रिया सुखम् ॥२०९॥
तदेवं भोगसम्पन्ना श्रीरप्यल्पतरा वरम्।
न पुनर्भोगरहिता सुविस्तीर्णाप्यपार्थका ॥२१०॥
तत्किं चमरवालस्य राज्ञः कार्पण्यसम्पदा।
तप्यध्वे दानभोगाढ्यां वीक्षध्वे स्वां श्रियं न किम् ॥२११॥
अतस्तं प्रति युष्माकमवस्कन्दो न भद्रकः।
यात्रालग्नश्च नास्त्यैव नापि वा दृश्यते जयः ॥२१२॥
इत्युक्ता अपि ते तेन पञ्च ज्योतिर्विदा नृपाः।
ययुश्चमरवालं तं नृपं प्रत्यसहिष्णवः ॥२१३॥
सीमाप्राप्तांश्च तान् बुद्ध्वा निर्यास्यन्समराय सः।
राजा चमरवालः प्राक्स्नात्वा हरमपूजयत् ॥२१४॥
अष्टषष्ट्युत्तमस्थाननियतैर्नामभिः शुभैः।
यथावत्तं च तुष्टाव पापघ्नैः सर्वकामदैः ॥२१५॥
राजन्युध्यस्व निःशङ्कं शत्रूञ्जेष्यसि सङ्गरे।
इत्युद्गतां च गगनात्सोऽथ शुश्राव भारतीम् ॥२१६॥
ततः प्रहृष्टः संनह्य तेषां निजबलान्वितः।
राजा चमरवालोऽग्रे युद्धाय निरगाद्द्विषाम् ॥२१७॥
त्रिंशद् गजसहस्राणि त्रीणि लक्षाणि वाजिनाम्।
कोटिः पादभटानां च तस्यासीद्वैरिणां बले ॥२१८॥
स्वबले च पदातीनां तस्य लक्षाणि विंशतिः।
दश दन्तिसहस्राणि हयानां लक्षमप्यभूत् ॥२१९॥
प्रवृत्ते तु महायुद्धे तयोरुभयसेनयोः।
यथार्थनाम्नि वीराख्ये प्रतीहारेऽग्रयायिनि ॥२२०॥
स्वयं चमरवालोऽसौ राजा तत्समराङ्गणम्॥
महावराहो भगवान्महार्णवमिवाविशत् ॥२२१॥
ममर्द चाल्पसैन्योऽपि परसैन्यं महत्तथा।
यथाश्वगजपत्तीनां हयानां राशयोऽभवन् ॥२२२॥

वहाँ तपस्या में बैठे हुए यशोवर्मा ने स्वप्न में आई हुई विन्ध्यवासिनी से भोग-श्री की प्राप्ति के लिए वर माँगा और उसने वही दिया ॥२०८॥

तदनन्तर, यशोवर्मा देवी की कृपा से घर में आकर बिना सोचे ही प्राप्त होनेवाली भोग श्री से सुखपूर्वक रहने लगा ॥२०९॥

इस प्रकार, भोग से सम्पन्न थोड़ी भी श्री अच्छी है और भोगरहित अनन्त लक्ष्मी भी व्यर्थ है ॥२१०॥

इसलिए, तुम लोग राजा चमरवाल की कृपणता से युक्त लक्ष्मी से क्यों ईर्ष्या करते हो ? दान और भोग में लगती हुई अपनी सम्पत्ति को ही क्यों नहीं देखते ? ॥२११॥

इसलिए, उसके प्रति तुम्हारा आक्रमण ठीक नहीं। यात्रा का लग्न भी ठीक नहीं है और तुम्हारी विजय भी नहीं दीखती ॥२१२॥

उस ज्योतिषी से इस प्रकार कहे जाने पर भी वे पाँचों ईर्ष्यालु राजाओं ने नहीं माना और उन्होंने चमरवाल पर चढ़ाई कर दी ॥२१३॥

शत्रुओं को सीमा पर गये हुए जानकर युद्ध के लिए निकलते हुए चमरवाल ने स्नान करके शिव की पूजा की ॥२१४॥

अड़सठ उत्तम स्थानों के प्रसिद्ध नामों से उसने विधिपूर्वक पापहरण करनेवाले शिव की स्तुति की ॥२१५॥

तब उसने 'हे राजन् बिना शंका के जाकर युद्ध करो, शत्रुओं पर अवश्य विजयी होंगे'— 'इस प्रकार आकाशवाणी सुनी ॥२१६॥

तब, प्रसन्न होकर और अपनी सेना को साथ लेकर राजा चमरवाल उन शत्रुओं के आगे आया ॥२१७॥

उसके शत्रुओं की सेना में तीस हजार हाथी, तीन लाख घोड़े और एक करोड़ पैदल सैनिक थे ॥२१८॥

उसकी अपनी सेना में बीस लाख पैदल सैनिक, दस हजार हाथी और एक लाख घोड़े थे ॥२१९॥

दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध प्रारम्भ होने पर राजा का वीर नाम का अंगरक्षक आगे था। तदनन्तर, राजा चमरवाल भी समुद्र में महावराह के समान स्वयं भी उस सेना में धँस पड़ा ॥२२०-२२१॥

छोटी सेनावाला होने पर भी चमरवाल ने शत्रुओं की सेना का खूब संहार किया, जिससे हाथियों घोड़ों और सैनिकों की लाशों के ढेर लग गये ॥२२२॥

धावित्वा चात्र समरबलं तं सम्मुखागतम्।
आहत्य शक्त्या राजानं पाशेनाकृष्य बद्धवान्॥२२३॥
ततः समरशूरं च हृदि बाणाहतं नृपम्।
द्वितीयं तद्वदाकृष्य पाशेनैव बबन्ध सः॥२२४॥
तृतीयं चात्र समरजितं नाम महीपतिम्।
वीराख्यस्तत्प्रतीहारो बद्ध्वा तत्पार्श्वमानयत्॥२२५॥
सेनापतिर्देवबलस्तस्यानीय समर्पयत्।
नृपं प्रतापचन्द्राख्यं चतुर्थं सायकाहतम्॥२२६॥
ततः प्रतापसेनाख्यस्तद्दृष्ट्वा पञ्चमो नृपः।
क्रोधाच्चमरवालं तं भूपमभ्यपतद्रणे॥२२७॥
स तु निर्धूय तद् बाणान् स्वशरौघेण विद्धवान्।
राजा चमरवालस्तं ललाटे त्रिभिराशुगैः॥२२८॥
कण्ठक्षिप्तेन पाशेन तं च काल इवाथ सः।
आकृष्य स्ववशे चक्रे शराघातविघूर्णितम्॥२२९॥
एवं राजसु बद्धेषु तेषु पञ्चस्वपि क्रमात्।
हतशेषाणि सैन्यानि दिशस्तेषां प्रदुद्रुवुः॥२३०॥
अमितं हेमरत्नादि बहून्यन्तःपुराणि च।
राज्ञा चमरवालेन प्राप्तान्येषां महीभुजाम्॥२३१॥
तन्मध्ये च महादेवी यशोलेखेति विश्रुता।
राज्ञः प्रतापसेनस्य प्राप्ता तेनाङ्गनोत्तमा॥२३२॥
ततः प्रविश्य नगरं वीरदेवबलौ च सः।
क्षत्तृसेनापती पट्टं बद्ध्वा रत्नैरपूजयत्॥२३३॥
प्रतापसेनमहिषीं क्षत्रधर्मजितेति नाम्।
यशोलेखां स नृपतिः स्वावरोधवधूं व्यधात्॥२३४॥
भुजार्जिताहमस्येति सेहे सा चपलापि तम्।
काममोहप्रवृत्तानां शबला धर्मवासना॥२३५॥
दिनैश्चाभ्यर्थितो राज्ञ्या स यशोलेखया तया।
राजा चमरवालस्तान् बद्धान् पञ्चापि भूपतीन्॥२३६॥
प्रतापसेनप्रभृतीन्गृहीतविनयान्नतान्।
मुमोच निजराज्येषु सत्कृत्य विससर्ज च॥२३७॥

तब राजा ने आगे दौड़कर सामने आये हुए समरबल को शक्ति से आहृत करके पाश से खींचकर बाँध लिया ॥२२३॥

उसी प्रकार दूसरे समरशूर राजा के हृदय को बाण से बींधकर वैसे ही बाँध लिया ॥२२४॥

तीसरे राजा समरजित को उसके अंगरक्षक वीर ने, बांधकर उसके पास लाकर सौंप दिया ॥२२५॥

चमरवाल के सेनापति देवबल ने, इसी प्रकार बाणों से आहृत चौथे राजा प्रतापचन्द्र को बांधकर अपने राजा को भेंट कर दिया ॥२२६॥

यह देखकर प्रतापसेन नाम का पाँचवाँ राजा क्रोध से भरकर रणभूमि में चमरवाल से भिड़ गया ॥२२७॥

चमरवाल ने उसके बाणों को काटकर तीन बाणों से उसके ललाट का भेदन कर दिया ॥२२८॥

और फिर, गले में डाले हुए पाश से काल के समान चमरवाल ने, उसे खींचकर अपने वश में कर लिया ॥२२९॥

इस प्रकार, क्रम से उन पाँचों राजाओं के बँध जाने पर मरने से बची हुई उसकी सेना इधर-उधर भाग गई ॥ २३०॥

तदनन्तर, इन राजाओं के अनन्त धन, रत्न और सोना के अतिरिक्त बहुत-सी रानियाँ चमरवाल को मिलीं। उन सब रानियों में राजा प्रतापसेन की महारानी यशोलेखा सबसे अच्छी और सुन्दरी थी ॥२३१-२३२॥

तदनन्तर, अंगरक्षक वीर, सेनापति देवबल और राजा चमरवाल विजय करके अपने नगर में पहुँचे। वहाँ जाकर राजा ने अपने सेनापति और अंगरक्षक को पट्ट बाँध करके उन्हें रत्नों से भर दिया ॥२३३॥

राजा चमरवाल ने, प्रतापसेन की महारानी यशोलेखा को क्षात्र धर्म से जीत लेने के कारण अपने अन्तःपुर की एक रानी बना लिया ॥२३४॥

'मैं इसके बाहुबल से जीती गई हूँ'—ऐसा समझकर वह रानी यशोलेखा चंचल होकर भी राजा चमरवाल के पास स्थिर हो गई। काम और मोह से प्रवृत्त लोगों की धर्म-भावना विचित्र होती है ॥२३५॥

कुछ दिनों के बाद रानी यशोलेखा की प्रार्थना पर चमरवाल ने प्रतापसेन आदि विनय से विनम्र उन पाँचों राजाओं को छोड़ दिया और उनका सत्कार करके उन्हें अपने-अपने राज्य में भेज दिया ॥२३६-२३७॥

ततः स तदकण्टकं विजितशत्रु राज्यं निजं
समृद्धमशिषच्चिरं चमरवालपृथ्वीपतिः।
अरंस्त च वराप्सरोभ्यधिकरूपलावण्यया
द्विषज्जयपताकया सह तया यशोलेखया ॥२३८॥

एवं बहूनपि रिपून् रभसप्रवृत्तान्द्वेषाकुलानगणितस्वपरस्वरूपान्।
एकोऽप्यनन्यसमपौरुषभग्नसारदर्पज्वराञ्जयति संयुगमूर्ध्नि धीरः ॥२३९॥

इति गोमुखेन कथितामर्थ्यां श्रुत्वा कथां कृतश्लाघः।
अकरोदथ नरवाहनदत्तः स्नानादि दिनकार्यम् ॥२४०॥

निनाय सङ्गीतरसाच्च तां तथा निशां स गायन्स्वयमङ्गनासखः।
सरस्वती तस्य नभःस्थिता यथा ददौ प्रियाभिश्चिरसंस्तवं वरम् ॥२४१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरेऽलङ्कारवतीलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः।

पञ्चमस्तरङ्गः

मरुभूति कथा

ततोऽन्येद्युरलंकारवतीवासगृहे स्थितम्।
नरवाहनदत्तं तं संनिधौ सर्वमन्त्रिणाम् ॥१॥
एत्य विज्ञापयामास मरुभूतिकसेवकः।
सोदर्यः सौविदल्लस्य तदन्तःपुररक्षिणः ॥२॥
मरुभूतेर्मया देव ! सेवा वर्षद्वयं कृता।
भोजनाच्छादनं दत्तं सभार्यस्यामुना मम ॥३॥
आभाषितास्तु तत्पृष्ठे दीनाराः प्रतिवत्सरम्।
पञ्चाशद्ये ममानेन तानेष न ददाति मे ॥४॥
मृग्यमाणेन चैतेन चरणेनाहमाहतः।
तेनोपविष्टः प्रायेऽहं सिंहद्वारेऽस्य तावके ॥५॥
विचारयति चेन्नात्र देवो मे तत्करोम्यहम्।
अग्निप्रवेशमधिकं किं वच्म्येष हि मे प्रभुः ॥६॥

तदनन्तर, शत्रुओं पर विजयी हुए राजा चमरवाल अपनी उस कंटक-रहित और समृद्धि-सम्पन्न राज्य का चिरकाल तक शासन करता रहा और अप्सराओं से भी अधिक रूप-लावण्यवाली विजय-पताका के समान यशोलेखा के साथ आनन्द भी उठाया ॥२३८॥

इस प्रकार, आवेग से प्रवृत्त, द्वेष से व्याकुल और अपने-पराये स्वरूप को न जाननेवालों और असाधारण पुरुषार्थ के आगे चूर-चूर घमंडवालों को भी एक धीर पुरुष जीत लेता है ॥२३९॥

इस प्रकार-गोमुख से कही गई यथार्थता से भरी कथा को सुनकर उसकी प्रशंसा करता हुआ नरवाहनदत्त अपने स्नान आदि दैनिक कृत्यों में लग गया ॥२४०॥

नरवाहनदत्त ने अपनी सभी पत्नियों के साथ संगीत-रस का पान करते हुए उस रात को भी बिताया। आकाश में गूँजती हुई उसकी स्वर-सरस्वती 'चिरजीवी हो', मानों ऐसा आशीर्वाद देती थी ॥२४१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के अलंकारवती लम्बक का
चौथा तरंग समाप्त

पंचम तरंग

मरुभूति की कथा

किसी एक दिन, अलंकारवती के निवास-भवन में बैठे हुए नरवाहनदत्त के पास सभी मन्त्रियों की उपस्थिति में आकर मरुभूति के सेवक ने निवेदन किया। वह सेवक, राजा के रनिवास के रक्षक कंचुकी का सहोदर भाई था ॥१–२॥

उसने कहा–'महाराज, मैंने दो वर्षों तक मरुभूति की सेवा की और इसने उन दो वर्षों तक सपत्नीक मुझे भोजन-वस्त्र दिया ॥३॥

इसने कहा था कि प्रतिवर्ष तुझे पचास दीनार (सोने की मुहरें) दिया करूँगा, किन्तु इसने वे मुझे नहीं दिये ॥४॥

मेरे माँगने पर इसने मुझे पैरों से ठोकर मारी, इसलिए मैं आपके सिंहद्वार पर अनशन करने के लिए बैठा हूँ। यदि आप मेरा विचार न करेंगे, तो मैं अग्नि-प्रवेश करूँगा; क्योंकि यह मेरा स्वामी है' ॥५–६॥

इत्युक्त्वा विरते तस्मिन् मरुभूतिरभाषत।
देया मयास्मै दीनाराः साम्प्रतं तु न सन्ति मे ॥७॥
इत्युक्तवन्तं सर्वेषु प्रहसत्सु स्वमन्त्रिणम्।
नरवाहनदत्तस्तं मरुभूतिमभाषत ॥८॥
किमेवं मूर्खभावस्ते नाधिकेयं मतिस्तव।
उत्तिष्ठ दीनारशतं देह्यस्मा अविलम्बितम् ॥९॥
एतत्प्रभोर्वचः श्रुत्वा मरुभूतिर्विलज्जितः।
तदैवानीय तत्तस्मै स दीनारशतं ददौ ॥१०॥
ततोऽत्र गोमुखोऽवादीन्न वाच्यो मरुभूतिकः।
विचित्रचित्तवृत्तिर्यत् सर्गो देव प्रजापतेः ॥११॥
युष्माभिरेषा किञ्चात्र चिरदातुर्महीपतेः।
तत्सेवकस्य च कथा प्रसङ्गाख्यस्य न श्रुता ॥१२॥

चिरदातुर्नृपस्य तद्भृत्यस्य प्रसङ्गाख्यस्य च कथा

चिरदातेत्यभूत् पूर्वं राजा चिरपुरेश्वरः।
सुजनस्यापि तस्यासीत् परिवारोऽतिदुर्जनः ॥१३॥
देशान्तरागतस्तस्य प्रसङ्गो नाम भूपतेः।
मित्राभ्यां सहितो द्वाभ्यां बभूव किल सेवकः ॥१४॥
सेवां च कुर्वतस्तस्य व्यतीतं वर्षपञ्चकम्।
न स राजा ददौ किञ्चिन्निमित्तेऽप्युत्सवादिके ॥१५॥
स च तस्य न सम्प्राप विज्ञप्त्यवसरं प्रभोः।
परिवारस्य दौरात्म्यात् सख्योः प्रेरयतोः सदा ॥१६॥
एकदा तस्य राज्ञश्च बालः पुत्रो व्यपद्यत।
दुःखितं चैत्य सर्वेऽपि भृत्यास्तं पर्यवारयन् ॥१७॥
तन्मध्ये च प्रसङ्गाख्यः शोकादेव स सेवकः।
सखिभ्यां वार्यमाणोऽपि राजानं तं व्यजिज्ञपत् ॥१८॥
बहुकालं वयं देव सेवका न च नस्त्वया।
दत्तं किञ्चित्तथापीह स्थिताः स्मस्त्वत्सुताशया ॥१९॥
त्वया यदि न दत्तं त्वत्पुत्रोऽस्मासु दास्यति।
सोऽपि दैवेन नीतश्चेत् तन्नः किमिह साम्प्रतम् ॥२०॥

इतना कहकर उसके चुप हो जाने पर मरुभूति ने कहा—'महाराज, मुझे इसे दीनार देने हैं, किन्तु इस समय मेरे पास नहीं हैं।' मरुभूति के इस प्रकार कहने पर और अन्य सभी मन्त्रियों के हँसने पर नरवाहनदत्त ने मरुभूति से कहा—'यह क्या तुम्हारी मूर्खता है? तुम्हारी ऐसी बुद्धि अच्छी नहीं है। जाओ, इसे तुरन्त दीनार दो' ॥७–९॥

स्वामी की यह बात सुनकर मरुभूति लज्जित हुआ और उसने उसी समय लाकर सौ दीनार उसे दिये ॥१०॥

तब गोमुख ने कहा—'इस सम्बन्ध में मरुभूति निन्दनीय नहीं हो सकता; क्योंकि यह ब्रह्मा की सृष्टि ही विचित्र चित्तवृत्तिवालों की है॥११॥

आप लोगों ने विलम्ब से वेतन देनेवाले राजा और उसके सेवक के प्रसंग की कथा नहीं सुनी? ॥१२॥

राजा चिरदाता और उसके प्रसंग नामक भृत्य की कथा

पूर्वकाल में चिरपुर नगर का राजा विलम्ब से वेतन देनेवाला था। उसके स्वयं सज्जन होने पर भी उसका परिवार अत्यन्त दुष्ट था॥१३॥

किसी दूसरे देश से आकर प्रसंग नाम का सेवक, अपने दो मित्रों के साथ, उस राजा के यहाँ आकर सेवा करने लगा॥१४॥

सेवा करते हुए उसके पाँच वर्ष व्यतीत हो गये, किन्तु राजा ने उत्सव, त्योहार आदि के समय भी उसे कुछ नहीं दिया। उस सेवक को, दोनों साथियों के प्रेरित करने पर भी अन्य अधिकारियों की दुष्टता के कारण अपने स्वामी से निवेदन करने का अवसर नहीं मिला ॥१५-१६॥

एक बार उस राजा का छोटा-सा पुत्र मर गया। उस समय दुःखित राजा को सभी नौकरों ने आकर घेर लिया॥१७॥

उसी समय वह प्रसंग नामक सेवक, साथियों से रोके जाने पर भी शोक के आवेग में राजा से बोला—॥१८॥

'स्वामिन्! हमलोग बहुत समय से सेवक हैं, किन्तु आपने कभी हमें कुछ नहीं दिया। फिर भी, हमलोग आपके इस पुत्र की आशा से आजतक रुके थे कि यदि आपने हमें कभी कुछ नहीं दिया, तो यह हम लोगों को देगा, पर उसे भी जब दैव ने ले लिया, तब यहाँ अब हमारा क्या रह गया? ॥१९-२०॥

व्रजाम इति जल्पित्वा पतित्वा सोऽस्य पादयोः।
राज्ञः प्रसङ्गो निरगात् सखिद्वययुतस्ततः ॥२१॥
अहो पुत्रेऽपि बद्धास्थाः सेवका मे दृढा इमे।
तदेते मम न त्याज्या इति सञ्चिन्त्य तत्क्षणम् ॥२२॥
स राजा तान् प्रसङ्गादीनानाय्यैव तथा धनैः।
अपूरयद्यथा भूयो नैतान् दारिद्र्यमस्पृशत् ॥२३॥
एवं विचित्रा दृश्यन्ते स्वभावा देव देहिनाम्।
यत्काले स नृपो नादादकाले तु ददौ तथा ॥२४॥
इत्याख्याय कथाख्यानपटुर्भूयः स गोमुखः।
वत्सेश्वरसुतादेशादिमामकथयत्कथाम् ॥२५॥

राज्ञः कनकवर्षस्य कथा

आसीद् गङ्गातटे पूर्वं पूतपौरं तदम्बुभिः।
सौराज्यरम्यं कनकपुराख्यं नगरोत्तमम् ॥२६॥
यत्र बन्धः[1] कविगिरां छेदः पत्रेष्वदृश्यत।
भङ्गोऽलकेषु नारीणां सस्यसंग्रहणे खलः[2] ॥२७॥
तत्र वासुकिनागेन्द्रतनयात् प्रियदर्शनात्।
जातो यशोधराख्यायां राजपुत्र्यां महायशाः ॥२८॥
आसीत् कनकवर्षाख्यो नगरे नृपतिः पुरा।
कृत्स्नभूभारवोढापि योऽशेषगुणभूषितः ॥२९॥
लुब्धो यशसि न त्वर्थे भीतः पापान्न शत्रुतः।
मूर्खः परापवादेषु न च शास्त्रेषु योऽभवत् ॥ ३०॥
अल्पत्वं यस्य कोपेऽभून्न प्रसादे महात्मनः।
चापे च बद्धमुष्टित्वं न दाने धीरचेतसः ॥ ३१॥
येनात्यद्भुतरूपेण रक्षता चाखिलं जगत्।
मारव्यथाकुलश्चक्रे[3] दृष्टेनैवाबलाजनः ॥३२॥

---

१. काव्येष्वेव गोमूत्रिकाकमलादयो बन्धा दृश्यन्ते स्मनापराधिनां बाधनमभूत्। राज्येऽपराधाभावात्।

२. खलः=यत्र कृषकैरन्नसंग्रहः क्रियते क्षेत्रादानीय। अन्यत्र खलो दुर्जनः, धूर्तः।

३. अतिसौन्दर्यादिति भावः।

हम अब जाते हैं।' ऐसा कहकर और राजा के पैरों में पड़कर वह प्रसंग अपने दोनों साथियों के साथ निकलकर चला गया ॥२१॥

ओह! ये मेरे सेवक मेरे पुत्र पर भी आशा बाँधे हुए थे, अतः इन्हें न छोड़ना चाहिए, इस प्रकार राजा उसी समय सोचने लगा ॥२२॥

और, उन प्रसंग आदि सेवकों को बुलाकर उसने धन से इतना भर दिया कि फिर उन्हें दरिद्रता ने कभी छुआ तक नहीं ॥२३॥

महाराज! मनुष्यों के इस प्रकार विचित्र स्वभाव देखे जाते हैं कि राजा ने उत्सव आदि दान के अवसरों पर तो उन सेवकों को कुछ नहीं दिया, किन्तु पुत्र-शोक के समय उन्हें धन से इस प्रकार परिपूर्ण कर दिया ॥२४॥

ऐसा कहकर, कथा कहने में कुशल गोमुख ने वत्सराज के पुत्र की आज्ञा से दूसरी कथा आरम्भ की ॥२५॥

राजा कनकवर्ष की कथा

प्राचीन काल में गंगा के तट पर गंगाजल से पवित्र नागरिकोंवाला कनकपुर नाम का एक उत्तम नगर था ॥२६॥

उस नगर में यदि बन्ध था, तो कवियों की वाणी में, नियम और चरित्र में नहीं। यदि छेदन था, तो सजावट (बन्दनवार आदि) के पत्तों में, शिर और वृत्ति में नहीं, भंग था। तो नारियों के केशों में, वचन या प्रतिज्ञा में नहीं। खल (खलिहान) धानों के संग्रह के लिए थे, जनता में नहीं ॥२७॥

उस नगर का राजा कनकवर्ष महायशस्वी था, जो नागराज वासुकि के पुत्र राजा प्रियदर्शन से यशोधरा नाम की राजकुमारी से उत्पन्न हुआ था और जो समस्त भूमि के भार को वहन करते हुए भी अ-शेष (समस्त गुणों से भूषित) था ॥२८-२९॥

राजा कनकवर्ष यश का लोभी था, धन का नहीं; पाप से डरता था, शत्रुओं से नहीं; दूसरों की निन्दा करने में मूर्ख था, शास्त्रों में नहीं ॥३०॥

जिस महात्मा राजा के क्रोध में अल्पता थी, प्रसन्नता में नहीं; और जिसकी मुट्ठी धनुष में बँधी रहती थी, दान में नहीं ॥३१॥

जिस आश्चर्यजनक सौन्दर्यशाली और संसार की रक्षा करनेवाले राजा के देखने मात्र से सुन्दरियाँ काम-वेदना से विह्वल हो जाती थीं ॥३२॥

स कदाचिच्छरत्काले सोष्मण्युन्मदवारणे।
राजहंसपरीवारे सोत्सवानन्दितप्रजे ॥३३॥
आत्मतुल्यगुणे रन्तुं चित्रप्रासादमाविशत्।
आकृष्टकमलामोदवहन्मारुतशीतलम् ॥३४॥
तत्र निर्वर्णयन् यावत्तच्चित्रं स प्रशंसति।
तावत् प्रविश्य भूपं तं प्रतीहारो व्यजिज्ञपत् ॥३५॥
इहागतो विदर्भेभ्योऽपूर्वश्चित्रकरः प्रभो।
अनन्यसममात्मानं चित्रकर्मण्युदाहरन् ॥३६॥
रोलदेवाभिधानेन सिंहद्वारेऽत्र तेन च।
एतद्देवाभिलिख्याद्य चीरिकोल्लम्बिता[1] किल ॥३७॥
तच्छ्रुत्वैवादराद् भूपेनादिष्टानयनं स तम्।
आनिनाय प्रतीहारो गत्वा चित्रकरं क्षणात् ॥३८॥
स प्रविश्य ददर्शात्र चित्रालोकनलीलया।
स्थितं कनकवर्षं तं नृपं चित्रकरो रहः ॥३९॥
वरनारीकुचासङ्गसमर्पिततनूभरम् ।
सहेलोदञ्चितकरोपात्तताम्बूलवीटिकम् ॥४०॥
प्रणम्य चोपविष्टस्तं राजानं विहितादरम्।
शनैर्विज्ञापयामास रोलदेवः स चित्रकृत् ॥४१॥
चीरिकोल्लम्बिता देव त्वत्पादाब्जदिदृक्षया।
मया न विज्ञानमदात् तत्क्षन्तव्यमिदं मम ॥४२॥
आदिश्यतां च चित्रे किमालिखामीह रूपकम्।
भवत्वेतत्कलाशिक्षायत्नो मे सफलः प्रभो ॥४३॥
इति चित्रकरेणोक्ते स राजा निजगाद तम्।
उपाध्याय यथाकामं किञ्चिदालिख्यतां त्वया ॥४४॥
ह्लादयामो वयं चक्षुर्भ्रान्तिस्त्वत्कौशले तु का।
इत्युक्ते तेन राज्ञाऽत्र तत्पार्श्वस्था बभाषिरे ॥४५॥
राजैवालिख्यतामन्यैर्विरूपैः किं प्रयोजनम्।
तच्छ्रुत्वा चित्रकृत्तुष्टः स तं राजानमालिखत् ॥४६॥

---

१. पुराकाले विज्ञापनार्थं पटे विलिख्य लम्ब्यते स्म। साम्प्रतं साईनबोर्ड 'पोस्टर' इत्यादि कथ्यते।

वह राजा कनकवर्ष, एक समय जब प्रकृति में कुछ ऊष्मा रहती है, हाथी मदोन्मत्त हो जाते हैं, राजहंसों के परिवार, अपनी प्रसन्नता से प्रजाजनों को आनन्दित करते रहते हैं, ऐसे अपने गुणों के समान गुणवाले शरत्काल में विहार करने के लिए चित्र-महल में गया, जो कमल के पराग से सुगन्धित और शीतल वायु से रमणीय हो रहा था।।३३–३४।।

उस चित्र-भवन में, राजा, जबतक एक चित्र को भली भाँति देखकर उसकी प्रशंसा कर रहा था, तबतक द्वारपाल ने आकर निवेदन किया—'महाराज, विदर्भ देश से एक चित्रकार यहाँ आया है, वह चित्रकला में अपने को अद्वितीय कुशल बताता है।।३५-३६।।

उस रोलदेव नामक चित्रकार ने राजभवन के द्वार पर चित्रपट में एक चित्र बनाकर लटका रखा है।।३७।।

यह सुनकर राजा ने आदर के साथ उसे बुलाने के लिए आदेश दिया और द्वारपाल भी क्षण-भर में उस चित्रकार को लेकर वहाँ उपस्थित हो गया।।३८।।

उस चित्रकार ने, चित्र-भवन में प्रवेश करके, चित्रों को देखने के विनोद में लगे हुए राजा कनकवर्ष को एकान्त में देखा।।३९।।

तदनन्तर, सुन्दरी स्त्री के कुचों के बीच शरीर का भार दिये हुए, आसन पर बैठे हुए और हाथ में पान का बीड़ा उठाये हुए राजा से उस चित्रकार रोलदेव ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया।।४०-४१।।

'महाराज, मैंने आपके चरण-कमलों के दर्शन के लिए राजद्वार पर एक चित्र लटका रखा था, न कि अपने कौशल के घमंड से। आप आज्ञा दें कि चित्र में किसका रूप अंकित करूँ, जिससे चित्रकला सीखने का मेरा यत्न सफल हो।।४२-४३।।

चित्रकार के ऐसा कहने पर राजा ने उससे कहा—हे उपाध्याय, जो तुम्हारी इच्छा हो, लिखो। हमें तो अपनी आँखों को आनन्दित करना है। तुम्हारी कुशलता में सन्देह ही क्या है।' राजा के इस प्रकार कहने पर उसके समीप बैठे (दरबारी) लोग कहने लगे—'तुम राजा का ही चित्र बनाओ। अन्य किसी विरूप का चित्र बनाने से क्या लाभ?' यह सुनकर सन्तुष्ट चित्रकार ने पट पर राजा का चित्र बनाया।।४४—४६।।

तुङ्गेन नासावंशेन दीर्घरक्तेन चक्षुषा।
विपुलेन ललाटेन कुन्तलैः कुञ्चितासितैः ॥४७॥
विस्तीर्णेनोरसा रूढबाणादिव्रणशोभिना।
भुजयुग्मेन दिग्दन्तिकराकारेण हारिणा ॥४८॥
मध्येन मुष्टिमेयेन केसरीन्द्रकिशोरकैः।
उपायनीकृतेनेव पराक्रमपराजितैः ॥४९॥
यौवनद्विरदालाननिभेनोरुयुगेण च।
अशोकपल्लवनिभेनाङ्घ्रियुग्मेन चारुणा ॥५०॥
दृष्ट्वैव स्वानुरूपेण रूपेणालिखितं नृपम्।
साधुवादं ददुः सर्वे तस्य चित्रकृतस्तदा ॥५१॥
जगदुस्तं च नेच्छामो द्रष्टुमेकाकिनं प्रभुम्।
चित्रभित्तौ तदेतस्यामेतास्वालिखितास्विह ॥५२॥
राज्ञीषु मध्यादेकां त्वं सुविचार्यानुरूपिकाम्।
लिखोपाध्याय पार्श्वेऽस्य पूर्णो नेत्रोत्सवोऽस्तु नः ॥५३॥
तच्छ्रुत्वा स विलोक्यात्र चित्रं चित्रकरोऽब्रवीत्।
भूयसीष्वपि नैतासु तुल्या राज्ञोऽस्ति काचन ॥५४॥
जाने च पृथ्व्यामेवास्य तुल्यरूपास्ति नाङ्गना।
अस्त्येका राजपुत्री तु शृणुताख्यामि तां च वः ॥५५॥
विदर्भेष्वस्ति नगरं श्रीमत्कुण्डिनसंज्ञकम्।
देवशक्तिरिति ख्यातस्तत्रास्ति च महीपतिः ॥५६॥
तस्यानन्तवतीत्यस्ति राज्ञी प्राणाधिकप्रिया।
तस्यां तस्य सुतोत्पन्ना नाम्ना मदनसुन्दरी ॥५७॥
यस्या वर्णयितुं रूपमेकया जिह्वयानया।
मादृशः कः प्रगल्भेत किं त्वेतावद्वदाम्यहम् ॥५८॥
तां निर्माय विधिर्मन्ये सञ्जातेच्छोऽपि तद्वसात्।
निर्मातुमन्यां तद्रूपां युगैरपि न वेत्स्यति ॥५९॥
सैकास्य राज्ञः सदृशी पृथिव्यां राजकन्यका।
रूपलावण्यविनयैर्वयसा च कुलेन च ॥६०॥
अहं तया हि तत्रस्थः कदाचित् प्रेष्य चेटिकाम्।
आहूतोऽन्तःपुरं तस्या राजपुत्र्या गतोऽभवम् ॥६१॥

चित्रकार ने राजा के शरीर के अनुसार उसकी उठी हुई नाक बनाई, लम्बी और लाल आँखें, ऊँचा और चौड़ा ललाट तथा घुंघराले केश बनाये। चौड़ी छाती बनाई, जिसमें बाण आदि शस्त्रों के घाव स्पष्ट दीख रहे थे। दिग्गजों की सूँड़ों के समान उसने सुन्दर भुजाएँ बनाईं ॥४७-४८॥

कमर इस प्रकार पतली बनाई, मानों सिंह-शावकों ने (राजा के पराक्रम से) पराजित होकर उपहार-स्वरूप भेंट कर दी हो। जवान हाथियों के बाँधने के निमित्त बने खम्भों की तरह दोनों जाघें बनाईं और अशोक के नये पत्तों के समान सुन्दर दोनों पैर बनाये ॥४९-५०॥

सामने ही राजा के सर्वथा अनुरूप चित्र को बने देखकर सभी लोग उस चित्रकार को धन्यवाद देने लगे ॥५१॥

और बोले—'हमें अकेले राजा को देखकर सन्तोष नहीं है। इसलिए, दीवार में चित्रित इन रानियों में से किसी एक का चित्र राजा के साथ बनाओ। जिससे हमारी आँखों को आनन्द मिले' ॥५२-५३॥

यह सुनकर और दीवार पर चित्रित रानियों के चित्रों को देखकर चित्रकार ने कहा—'इन रानियों में राजा के समान रूपवाली एक भी रानी नहीं है ॥५४॥

मैं समझता हूँ कि सारे भूमंडल में राजा के समान रूपवाली सुन्दरी स्त्री है ही नहीं। हां, एक राजकुमारी है, सुनिए, मैं बताता हूँ,— ॥५५॥

विदर्भ देश में कुंडिनपुर नाम का एक सम्पन्न नगर है, वहाँ पर देवशक्ति नाम से प्रसिद्ध एक राजा है ॥५६॥

उसकी प्राणों से भी प्यारी अनंतशक्ति नाम की रानी है। उस रानी में राजा से उत्पन्न मदनसुन्दरी नाम की कन्या है। एक ही जिह्वा से उसके सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए मेरे जैसा व्यक्ति समर्थ नहीं है। फिर भी, मैं इतना ही कहता हूँ कि ब्रह्मा, उसे बनाकर अब पुनः इच्छा होने पर भी, युगों तक ऐसी सुन्दरी को नहीं बना सकता ॥५७——५९॥

सारी पृथ्वी में वही एक इस राजा के सदृश सुन्दरी कन्या है। रूप, लावण्य, अवस्था, कुल आदि सभी से वह इस राजा के उपयुक्त है ॥६०॥

एक बार वहाँ रहते हुए मैं, दासी द्वारा बुलाये जाने पर उसके रनिवास में गया था ॥६१॥

तत्रापश्यमहं तां च चन्दनार्द्रविलेपनाम्।
मृणालहारां बिसिनीपत्रशय्याविवर्त्तिनीम्[1] ॥६२॥
कदलीपत्रपवनैर्वीज्यमानां सखीजनैः।
पाण्डुक्षामामभिव्यक्तस्मरसंज्वरलक्षणाम् ॥६३॥
हे सख्यश्चन्दनालेपकदलीदलमारुतैः।
कृतमेभिः किमेतेन विफलेन श्रमेण वः ॥६४॥
एते हि मन्दपुण्यां मां दहन्ति शिशिरा अपि।
एवं निवारयन्तीं च सखीराश्वासनाकुलाः ॥६५॥
विलोक्य तदवस्थां तां तद्वितर्कसमाकुलः।
कृतप्रणामस्तस्याश्च पुरतोऽहमुपाविशम् ॥६६॥
उपाध्यायेदृगालिख्य चित्रे मे देहि रूपकम्।
इत्युक्त्वा वेपमानेन पाणिना धृतवर्त्तिना ॥६७॥
शनैरालिख्य सा भूमौ दर्शयन्ती नृपात्मजा।
अलेखयन् मया कञ्चिद्युवानं रूपवत्तरम् ॥६८॥
आलिख्य सुन्दरं तं च देव चिन्तितवानहम्।
काम एवानया साक्षादयमालेखितो मया ॥६९॥
किन्तु पुष्पमयश्चापो हस्ते यन्नास्य लेखितः।
तेन जाने न कामोऽयं तद्रूपः कोऽप्यसौ युवा ॥७०॥
अयं च नूनमनया दृष्टः क्वापि श्रुतोऽपि वा।
एतन्निबन्धनं चेदमस्याः स्मरविजृम्भितम् ॥७१॥
तदितो मेऽपयातव्यमुग्रदण्डो ह्ययं नृपः।
एतत्पिता देवशक्तिर्बुद्ध्वेदं न क्षमेत मे ॥७२॥
इत्यालोच्येव नत्वा तामहं मदनसुन्दरीम्।
राजकन्यां निरगमं तया सम्मानितस्ततः ॥७३॥
श्रुतं चात्र महाराज मया परिजनान्मिथः।
स्वैरं कथयतो यत्सा सानुरागा श्रुते त्वयि ॥७४॥
ततश्चित्रपटे गुप्तं लिखितां तां नृपात्मजाम्।
आदायाहं भवत्पादमूलं त्वरितमागतः ॥७५॥

---

१. लुठन्तीं स्मरसन्तापेन।

वहाँ उसे मैंने शरीर में चन्दन का लेप किये हुए, मृणाल का हार पहने हुए, कमल के पत्तों की शय्या पर करवटें बदलते हुए और सखियों द्वारा केले के पत्तों से हवा की जाती हुई, पीली और दुर्बल शरीरवाली तथा प्रकट होते हुए कामज्वर के लक्षणोंवाली देखा। वह सखियों से कह रही थी—'सखियो, 'चन्दन के लेप और कदलीदल की वायु आदि से किये गये सब उपचार ठंडे होने पर भी मुझे जलाते हैं। इन्हें बन्द करो। इन विफल प्रयत्नों से क्या लाभ ?' धीरज देती हुई सखियों को वह इस प्रकार मना कर रही थी॥६२—६५॥

इस अवस्था में पड़ी हुई उसे देखकर और उसी से सम्बद्ध विभिन्न तर्कों से व्याकुल मैं उसे प्रणाम कर उसके सामने बैठ गया॥६६॥

'उपाध्याय, ऐसा चित्र बनाकर मुझे दो।' इस प्रकार कहकर काँपते हुए हाथ में कूची लिये हुए उसने धीरे-धीरे पृथ्वी पर चित्र लिखकर दिखाते हुए मुझे किसी अनन्त रूपशाली युवा को लिखवाया॥६७-६८॥

महाराज, उसके निर्देशानुसार चित्र बनाकर मैंने सोचा कि उसने मुझसे साक्षात् कामदेव का ही चित्र लिखवाया है। किन्तु, उसने चित्र के हाथ में काम का बाण नहीं लिखवाया, इससे मैं समझता हूँ, वह कामदेव नहीं, किन्तु उसी के समान रूपवाला कोई युवा मनुष्य है॥६९-७०॥

उसने इस युवक को अवश्य कहीं देखा या सुना है और इसी के सम्बन्ध से उसे यह काम-ज्वर की व्यथा भी है॥७१॥

अतः, मुझे यहाँ से शीघ्र ही चला जाना चाहिए; क्योंकि यह राजा उग्र दंड देनेवाला है। यदि इसके पिता देवशक्ति को पता लगे, तो वह कदापि क्षमा न करेगा॥७२॥

ऐसा सोचकर और उस मदनसुन्दरी को नमस्कार करके उससे सम्मानित मैं वहाँ से निकल गया॥७३॥

और महाराज, मैंने उसके परिजनों से यह भी सुना कि वह आपको सुनकर आपके लिए प्रेम करती है॥७४॥

इसीलिए, चित्रपट पर गुप्त रूप से उसे लिखकर और लेकर तुरन्त आपकी सेवा में आया हूँ॥७५॥

दृष्ट्वा च देवस्याकारं निवृत्तः संशयो मम।
देव एव तया चित्रे मद्धस्तेनाभिलेखितः ॥७६॥
सा चासकृन्न सदृशी शक्त्या लिखितुमित्यहम्।
चित्रे देवस्य पार्श्वे तां न लिखामि समामपि ॥७७॥
इत्युक्तवन्तं तं रोलदेवं राजा जगाद सः।
तर्हि त्वया सा तच्चित्रपटस्था दर्श्यतामिति ॥७८॥
ततो वल्गुलिकातस्तं[1] कृष्ट्वा पटमदर्शयत्।
स चित्रकृत्तां चित्रस्थां राज्ञे मदनसुन्दरीम् ॥७९॥
राजा कनकवर्षोऽपि तां स चित्रगतामपि।
विचित्ररूपामालोक्य सद्यः स्मरवशं ययौ ॥८०॥
पूरयित्वा च बहुना हेम्ना चित्रकरं स तम्।
आत्तप्रियाचित्रपटो विवेशाभ्यन्तरं नृपः ॥८१॥
तत्र तद्रूपलावण्यदर्शनातृप्तलोचनः।
त्यक्तसर्वक्रियस्तस्थौ तदेकमयमानसः ॥८२॥
बबाधे धैर्यहारी तं निघ्नॅल्लब्धान्तरः शरैः।
रूपस्पर्धासमुद्भूतमात्सर्य इव मन्मथः ॥८३॥
या दत्ता रूपलुब्धानां स्मरार्तिस्तेन योषिताम्।
फलितेव च सैवास्य शतशाखं महीक्षितः ॥८४॥
ततो दिनैश्च विरहक्षामपाण्डुः शशंस सः।
आप्तेभ्यः सचिवेभ्यस्तत्पृच्छद्भ्यः स्वं मनोगतम् ॥८५॥
मन्त्रयित्वा च तैः साकं कन्यां मदनसुन्दरीम्।
याचितुं प्राहिणोद्दूतं स राज्ञे देवशक्तये ॥८६॥
सङ्गमस्वामिनामानं कालज्ञं कार्यवेदिनम्।
विप्रमाप्तं कुलीनं च मधुरोदात्तभाषिणम् ॥८७॥
स गत्वा सुमहार्हेण विप्रः परिकरेण तान्।
विदर्भान् सङ्गमस्वामी प्राविशत्कुण्डिनं पुरम् ॥८८॥
यथावत् तत्र राजानं देवशक्तिं ददर्श तम्।
स स्वामिनोऽर्थे तस्माच्च प्रार्थयामास तत्सुताम् ॥८९॥

---

१. पुराकाले पुस्तकपत्राविरक्षणार्थं वंशस्य, लोहस्य वा गोलाकारं किमपि प्रचलति स्म, तदेव वल्गुलिका भवेत्। पटचित्राणां कृते वेष्टनदण्डोऽपि भवति। तदेव वा भवेत्।

अब आपका स्वरूप देखकर मेरा सन्देह दूर हो गया है। उस राजकुमारी ने मेरे हाथों से आपको ही लिखवाया था ॥७६॥

उसे मैं बार-बार नहीं लिख सकता; इसलिए आपके तुल्य होने पर भी चित्रपट में आपके साथ उसे नहीं किया जा सकता ॥७७॥

इस प्रकार कहते हुए रोलदेव से राजा ने कहा—'चित्रपट पर लिखी गई उसे तुम मुझे दिखाओ। तब चित्रकार ने चोंगे (मंजूषा) से उस चित्र को खींचकर निकाला और मदनसुन्दरी का वह रूप राजा को दिखा दिया ॥७८–७९॥

राजा कनकवर्ष, चित्र में लिखी रहने पर भी विचित्र रूपवाली उसे देखकर उसी क्षण काम के वशीभूत हो गया ॥८०॥

तब राजा ने उस चित्रकार को प्रचुर सुवर्ण-मुद्राओं से सम्मानित करके, उससे अपनी प्रियतमा का चित्र लेकर वह अपने निवास-कक्ष में चला गया ॥८१॥

वहाँ एकान्त में उसके रूप और लावण्य को देखते-देखते अतृप्त नेत्रोंवाला वह राजा राज्य के सभी काम-काज छोड़कर निरन्तर उसी में तन्मय होकर ध्यान करने लगा ॥८२॥

उसी समय अवसर पाकर रूप की स्पर्धा से ईर्ष्या करनेवाले कामदेव ने भी बाणों की मार से राजा को अधीर बना दिया ॥८३॥

उस राजा ने अपने रूप पर आसक्त स्त्रियों को जैसा सन्ताप दिया था, उसका सहस्र-गुणित परिणाम राजा को अब मिल रहा था ॥८४॥

इस प्रकार, कुछ ही दिनों में राजा, विरह से व्यथित होकर पीला पड़ गया और दुर्बल हो गया। तब उसके मन की बात जानने के लिए पूछने हुए हार्दिक मित्रों और विश्वस्त मन्त्रियों से उसने अपने हृदय की व्यथा स्पष्ट कह दी ॥८५॥

और, उन लोगों से सम्मति करके मदनसुन्दरी कन्या की मँगनी के लिए राजा देवशक्ति के पास एक दूत भेजने का निश्चय किया गया ॥८६॥

तदनुसार, कार्य के महत्त्व को जाननेवाले, परम विश्वस्त, कुलीन, मधुर तथा स्पष्ट भाषण करनेवाले संगमस्वामी नामक ब्राह्मण को दूत नियुक्त किया गया ॥८७॥

वह ब्राह्मण बहुमूल्य साज-सामान के साथ विदर्भ देश को गया और वहाँ से कुंडिनपुर नगर पहुँचा ॥८८॥

वहाँ पहुँचकर वह नियमानुसार राजा देवशक्ति से मिला और उसने अपने स्वामी राजा कनकवर्ष के लिए उसकी कन्या की माँग की ॥८९॥

देया तावन्मयान्यस्मै दुहितैषा स चोचितः।
भूपः कनकवर्षोऽस्मादृशोऽप्येतां च याचते॥९०॥
तदेतस्मै ददाम्येनामिति सम्मन्त्र्य सोऽपि च।
श्रद्दधे देवशक्तिस्तत्सङ्गमस्वामिनो वचः॥९१॥
दर्शयामास तस्मै च तस्या रूपमिवाद्भुतम्।
नृत्तं मदनसुन्दर्याः सुतायाः स महीपतिः॥९२॥
ततस्तद्दर्शनप्रीतं सङ्गमस्वामिनं स तम्।
प्रतिपन्नसुतादानः सम्मान्य प्राहिणोन्नृपः॥९३॥
निश्चित्य लग्नमुद्वाहहेतोरागम्यतामिह।
सन्दिश्येति समं तेन प्रतिदूतं समर्ज च॥९४॥
आगत्य सङ्गमस्वामी प्रतिदूतयुतोऽथ सः।
राज्ञे कनकवर्षाय सिद्धं कार्यं न्यवेदयत्॥९५॥
ततो लग्नं विनिश्चित्य प्रतिदूतं प्रपूज्य तम्।
असकृत्तां च विज्ञाय रक्तां मदनसुन्दरीम्॥९६॥
तद्विवाहाय दुर्वारवीर्यो निःशङ्कमानसः।
राजा कनकवर्षोऽसौ प्रायात्तत्कुण्डिनं पुरम्॥९७॥
अशोकलतयारूढः प्रत्यन्तारण्यवासिनः।
प्राणिप्राणहरान्निघ्नन्सिंहादीञ्शबरानिव ॥९८॥
विदर्भान् प्राप्य नगरं कुण्डिनं तद्विवेश सः।
निर्गतेनाग्रतो राज्ञा महितो देवशक्तिना॥९९॥
तत्र पौरपुरन्ध्रीणां विलब्धनयनोत्सवः।
सज्जितोद्वाहसम्भारं प्राविशद्राजमन्दिरम्॥१००॥
विश्राम्यति स्म तत्रैतत् स दिनं सपरिच्छदः।
देवशक्तिनृपोदारकृताचारानुरञ्जितः ॥१०१॥
अन्येद्युर्देवशक्तिस्तां तस्मै मदनसुन्दरीम्।
सुतां राज्यैकशेषेण सर्वस्वेन समं ददौ॥१०२॥
स्थित्वा च तत्र सप्ताहं स राजा नगरं निजम्।
आगात् कनकवर्षोऽथ नववध्वा समं तया॥१०३॥
प्राप्ते कान्तायुते तस्मिन् जगदानन्ददायिनि।
सकौमुदीके शशिनीवासीत्तत्सोत्सवं पुरम्॥१०४॥

यह कन्या किसी को तो देनी ही है, राजा कनकवर्ष उसके लिए उपयुक्त वर है। फिर, वह हमारे ऐसों से कन्या की माँग करता है। अतः, उसे ही कन्या देता हूँ—इस प्रकार, विचार कर राजा देवशक्ति ने संगमस्वामी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया ॥९०–९१॥

और राजा ने उस कन्या के रूप के समान उस कन्या का नृत्य भी संगमस्वामी को दिखाया ॥९२॥

तब दर्शन से प्रसन्न संगमस्वामी को कन्या देने की स्वीकृति प्रदान करके और उसका यथोचित सत्कार करके राजा ने उसे भेज दिया ॥ ९३॥

और, संगमस्वामी के साथ ही अपना सन्देश देकर अपने दूत को भी भेजा कि लग्न का निश्चय करके आप बरात के साथ विवाह के लिए आइए ॥९४॥

तब राजा के दूत के साथ आकर संगमस्वामी ने राजा कनकवर्ष की कार्य-सिद्धि की बात उससे निवेदित की ॥९५॥

तदनन्तर, लग्न का निश्चय करके और राजा के दूत का सत्कार करके उस मदनसुन्दरी को अपने प्रति अनुरक्त जानकर वह प्रचंड बलशाली राजा कनकवर्ष विवाह के लिए कुंडिनपुर गया ॥९६-९७॥

राजा कनकवर्ष ने सीमान्त के वनों में रहनेवाले सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं और भील आदि दस्युओं को मार्ग में मारते हुए विदर्भ देश में प्रवेश किया ॥९८॥

विदर्भ में जाकर राजा देवशक्ति से अगवानी किये जाते हुए कनकवर्ष ने कुंडिनपुर नगर में प्रवेश किया ॥९९॥

उस नगर की नागरिक स्त्रियों के नेत्रों को आनन्द देता हुआ वह विवाह की सजावट से सुसज्जित राजभवन में गया ॥१००॥

राजा देवशक्ति द्वारा किये गये उदारतापूर्ण आतिथ्य-सत्कार से प्रसन्न राजा कनकवर्ष अपने बरातियों के साथ उस दिन आनन्दपूर्वक वहीं रहा ॥१०१॥

दूसरे दिन, देवशक्ति ने उस मदनसुन्दरी कन्या को, केवल एक राज्य को छोड़कर, सर्वस्व के साथ उसे प्रदान किया ॥१०२

विवाह के उपरान्त राजा कनकवर्ष, एक सप्ताह तक वहाँ ठहरकर नई वधू मदनसुन्दरी के साथ अपने नगर को वापस आया ॥१०३॥

चन्द्रिका के साथ चन्द्रमा के समान, मदनसुन्दरी के साथ जगत् को आनन्द देनेवाले राजा कनकवर्ष के अपने नगर में पहुँचने पर सारा नगर उत्सवमय हो रहा था ॥१०४॥

साथ प्राणाधिका तस्य राज्ञो मदनसुन्दरी।
आसीद्बह्ववरोधस्याप्यच्युतस्येव रुक्मिणी ॥१०५॥
अन्योन्यवदनासक्तलोचनैः स्मरसायकैः।
कीलिताविव तौ चास्तां दम्पती चारुपक्ष्मभिः ॥१०६॥
एकदा चाजगामात्र विकसत्केसरावलिः।
दलयन्मानिनीमानमातङ्गं मधुकेसरी ॥१०७॥
लग्नालिमालामौर्वीकाः पुष्पेषोः कुसुमाकरः।
सज्जीचकार चोत्फुल्लचूतवल्लीधनुर्लताः ॥१०८॥
ववौ चोपवनानीव चेतांस्यध्वगयोषिताम्।
समुद्दीपितकामानि कम्पयन्मलयानिलः ॥१०९॥
पूरा नदीनां पुष्पाणि तरूणां शशिनः कलाः।
क्षीणानि पुनरायान्ति यौवनानि न देहिनाम् ॥११०॥
भो मुक्तमानकलहा रमध्वं दयितान्विताः।
इतीव मधुरालापाः कोकिला जगदुर्जनान्[1] ॥१११॥
तत्काले च मधूद्यानं विहर्तुं प्रविवेश सः।
राजा कनकवर्षोऽत्र सर्वैरन्तःपुरैः सह ॥११२॥
मुष्णञ्छ्रियमशोकानां रक्तैः परिजनाम्बरैः।
गीतैर्वराङ्गनानां च कोकिलभ्रमरध्वनिम् ॥११३॥
देव्या मदनसुन्दर्या समं तत्र स भूपतिः।
चिक्रीड सावरोधोऽपि कुसुमावचयादिभिः ॥११४॥
विहृत्य चात्र सुचिरं स्नातुं गोदावरीं नृपः।
अवतीर्य जलक्रीडां सान्तःपुरजनो व्यधात् ॥११५॥
मुखैः पद्मानि नयनैरुत्पलानि पयोधरैः।
रथाङ्गनाम्नां युग्मानि नितम्बैः पुलिनस्थलीः ॥११६॥
विजित्य तस्याः सरितः क्षोभयामासुराशयम्।
तरङ्गदर्शितामर्षभ्रूभङ्गायास्तदङ्गनाः ॥११७॥
अम्भोविहारविचलद्वस्त्रव्यक्ताङ्गभङ्गिषु।
रेमे कनकवर्षस्य तासु तस्य तदा मनः ॥११८॥

---

१. माघेन तुलना कार्या—त्यजत मानमलं बत! विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः।
परभृताभिरितीव समीरिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥—माघ

वहाँ वह रानी मदनसुन्दरी, अनेक रानियोंवाले उस राजा के भवन में इस प्रकार प्रधान थी, जैसे कृष्ण भगवान् की अनेक रानियों में रुक्मिणी ॥१०५॥

वे दम्पती परस्पर मुखों पर सुन्दर पलकोंवाली आँखें गड़ाये हुए ऐसे लगते थे, मानों कामदेव के बाणों से कीलित कर दिये गये हों ॥१०६॥

इस प्रकार, परस्पर आनन्द लेते हुए उस दम्पती के जीवन में, मानवती स्त्रियों के मान-रूपी हाथी का मर्दन करता हुआ और केसर-पुष्पों की सटा (गर्दन के केश) वाला वसन्त-केसरी (सिंह) आया। अर्थात्, प्रथम वसन्त का आगमन हुआ ॥१०७॥

वसन्त ऋतु ने, कामदेव के, खिली हुई आम्रमंजरी-रूपी धनुषों को भौंरों की पंक्ति-रूपी डोरी से सज्जित कर दिया ॥१०८॥

पथिकों की स्त्रियों के हृदयों के समान काम को उत्तेजित करनेवाले उपवनों को कँपाता हुआ मलयानिल बहने लगा ॥१०९॥

'नदियों की बाढ़, वृक्षों के पुष्प, चन्द्र की चाँदनी, ये सब नष्ट होकर फिर आ जाते हैं, किन्तु प्राणियों का यौवन जाकर फिर नहीं लौटता, इसलिए हे सुन्दरियो, मान-कलह को छोड़कर अपने प्रियतम पतियों के साथ रमण करो,—कोकिलों की कूकें प्राणियों को मानों, इस प्रकार कह रही थीं ॥११०-१११॥

ऐसे समय में राजा कनकवर्ष अपनी सभी रानियों के साथ वसन्तोद्यान में विहार करने के लिए गया ॥११२॥

अपने सेवकों के रक्तिम परिधानों से अशोक की शोभा को हरण करता हुआ और सुन्दरियों के गीतों से कोयलों और भ्रमरों की मधुर ध्वनि का अपहरण करता हुआ राजा, सभी रानियों के साथ रहने पर भी मदनसुन्दरी के साथ पुष्प-चयन आदि क्रीड़ाएँ करने लगा ॥११३-११४॥

इस प्रकार, उद्यान में बहुत समय तक विहार करके राजा कनकवर्ष स्नान करने के लिए अपनी सभी रानियों के साथ गोदावरी नदी में प्रविष्ट होकर जलक्रीडा करने लगा ॥११५॥

मुखों से नदी के कमलों को, नेत्रों से कुमुदों को, कुचों से चक्रवाक-युगलों को और अपने-अपने नितम्बों से गोदावरी के पुलिनों या तटों को राजा की रानियों ने जीत लिया था। अतः, गोदावरी नदी क्रोध से अपनी तरंग-रूपी भौंहें टेढ़ी करके मानों उन्हें देख रही थी ॥११६-११७॥

जल-विहार के कारण इधर-उधर अस्त-व्यस्त होते हुए, गीले और सूक्ष्म वस्त्रों से स्पष्ट दीखते हुए रानियों के उन-उन अंगों की शोभा देखने में राजा का मन अत्यन्त प्रसन्न होता था ॥११८॥

एकां चाताडयद्राज्ञीं हेमकुम्भद्वयोपमे।
कुचयुग्मे च विस्रस्तवसने करवारिणा ॥११९॥
तद्दृष्ट्वा सा चुकोपास्यै सेर्ष्या मदनसुन्दरी।
कियत्क्षोभ्या नदीत्येव सोद्वेगेव जगाद च ॥१२०॥
उत्तीर्य चाम्भसः प्रायादात्तवस्त्रान्तरा रुषा।
प्रियापराधं शंसन्ती तं सखीभ्यः स्वमन्दिरम् ॥१२१॥
ततो ज्ञाताशयस्तस्या जलक्रीडां विमुच्य सः।
राजा कनकवर्षोऽपि तद्वासगृहमाययौ ॥१२२॥
वार्यमाणो रुषा तत्र पञ्जरस्थैः शुकैरपि।
प्रविश्य स ददर्शान्तर्देवीं तां मन्युपीडिताम् ॥१२३॥
वामहस्ततलन्यस्तविषण्णवदनाम्बुजाम् ।
स्वच्छमुक्ताफलनिभैः पतद्भिर्बाष्पबिन्दुभिः ॥१२४॥
'जइ विरहो ण सहिज्जइ माणो (सुहा वि) परिवज्जणीओ ते।
विरहो हिअअ सहिज्जइ माणो (एव्व) परिवढ्ढणीओ ते ॥१२५॥
इअ जाणिऊण णिउणं चिट्ठसु ओलम्बिऊण इक्कदरम्।
उहअतडदिण्णपाओ मज्भणिविडिओ धुवं विणिस्सिहसि[1] ॥१२६॥'
इतीमं द्विपदीखण्डं पठन्तीं साश्रुगग्ददम्।
निर्यद्दन्तांशुहारिण्या गिरापभ्रंशमुग्धया ॥१२७॥
विलोक्य च तथाभूतां तां कोपेऽपि मनोरमाम्।
उपाययौ सलज्जश्च सभयश्च स भूपतिः ॥१२८॥
पराङमुखीमथाश्लिष्य वचोभिः प्रीतिपेशलैः।
प्रवृत्तोऽभूत्सविनयैस्तां प्रसादयितुं च सः ॥१२९॥
वक्रोक्तिसूचितावद्ये परिवारे पपात च।
तस्याश्चरणयोर्निन्दन्नात्मानमपराधिनम् ॥१३०॥

---

१. यदि विरहो न सह्यते मानः (सुखादपि) परिवर्जनीयस्ते।
विरहो हृदय सह्यते मानः (एव) परिवर्धनीयस्ते ॥
इति ज्ञात्वा निपुणं तिष्ठस्वावलम्ब्यैकतरम्।
उभयतटदत्तपादो मध्यनिपतितो ध्रुवं विनशिष्यसि इति च्छाया।

इसी समय वह राजा, एक रानी के दो स्वर्ण-कलशों के समान वस्त्ररहित उत्तुंग कुचों को पानी के छीटों से मारने लगा ॥११९॥

यह देखकर मदनसुन्दरी के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वह कहने लगी, तुम नदी को कितना क्षुब्ध करोगे' इतना कहकर और जल से बाहर निकलकर, क्रोध के साथ वस्त्र बदलकर अपनी सखियों से राजा की शिकायत करती हुई वह अपने भवन को चली गई॥ १२०–१२१॥

तब उसके भाव को समझकर राजा भी जलक्रीड़ा छोड़कर उसके (मदनसुन्दरी) निवास-भवन को गया ॥१२२॥

वहाँ पर पिंजरों में टँगे हुए शुकों से भी रोके जाते हुए राजा ने, भीतर जाकर क्रोधातुर रानी को देखा ॥१२३॥

बाईं हथेली पर खिन्न और म्लान मुख-कमल को रखी हुई, आँखों से बड़े-बड़े स्वच्छ मोतियों, के समान आँसुओं की बूँदों को गिराती हुई, रुँधे हुए कंठ से अस्पष्ट उच्चारण करती हुई और दाँतों की किरणों से मनोहर लगती हुई वह रानी अपभ्रंश भाषा में सुन्दर द्विपदी के इस टुकड़े को गा रही थी–

'यदि विरह नहीं सहा जाता, तो तुझे मान छोड़ना चाहिए। हे हृदय! यदि विरह सहा जाय, तो मान को बढ़ाओ। ऐसा जानकर दोनों में से एक का निश्चय कर लो। अन्यथा, दोनों किनारों पर पैर रखने से बीच में गिरकर अवश्य नष्ट हो जाओगे' ॥१२४–१२७॥

इस प्रकार, क्रोध में भी मनोहर लगती हुई मदनसुन्दरी के पास, राजा कनकवर्ष डरता और लजाता हुआ गया ॥१२८॥

मुँह फेरकर बैठी हुई उसे वह राजा अपने आलिंगन और मधुर वचनों द्वारा नम्रता के साथ मनाने लगा ॥१२९॥

वक्रोक्तियों से उसके अपराध को बताती हुई सखियों के सामने ही मदनसुन्दरी के चरणों पर वह राजा अपने अपराधी आत्मा की निन्दा करता हुआ गिर पड़ा ॥१३०॥

ततस्तन्मन्युनेवाश्रुवारिणा गलितेन सा।
सिञ्चन्ती कण्ठलग्नास्य प्रससाद महीपतेः॥१३१॥
अथैष हृष्टो नीत्वा तद्दिनं कुपिततुष्टया[1]।
राजा तया सहासेव्य रतं निद्रामगान्निशि॥१३२॥
सुप्तो ददर्श चाकस्मात् स्वप्ने विकृतया स्त्रिया।
हृतामेकावलीं कण्ठाच्चूडारत्नं च मूर्धतः॥१३३॥
ततोऽप्यपश्यद्वेतालं नानाप्राण्यङ्गविग्रहम्[2]।
बाहुयुद्धे प्रवृत्तं च तं स भूमावपातयत्॥१३४॥
पृष्ठोपविष्टश्चोड्डीय पक्षिणेव विहायसा।
नीत्वा तेन नृपोऽम्भोधौ वेतालेन स चिक्षिपे॥१३५॥
ततः कथञ्चिदुत्तीर्णः परमेकावलीं गले।
चूडामणिं च तं मूर्ध्नि पूर्ववत्स्थितमैक्षत॥१३६॥
एतद्दृष्ट्वा प्रबुद्धः स प्रातः परिचयागतम्।
अस्य क्षपणकं राजा फलं स्वप्नस्य पृष्टवान्॥१३७॥
. . . .।[3]
न वाच्यमप्रियं किं तु कथं पृष्टो न वच्मि ये॥१३८॥
या त्वयैकावली दृष्टा हृता चूडामणिस्तथा।
सैष देव्या वियोगस्ते पुत्रेण च भविष्यति॥१३९॥
प्राप्ते चैकावलीरत्ने यदुत्तीर्णाब्धिना त्वया।
दुःखान्ते सोऽपि भावी ते देवीपुत्रसमागमः॥१४०॥
इति क्षपणकेनोक्ते विमृश्य स नृपोऽब्रवीत्।
पुत्रो मेऽद्यापि नास्त्येव स तावज्जायतामिति॥१४१॥
अथोपयातादश्रौषीत्स रामायणपाठकात्।
पुत्रार्थं विहितक्लेशं राजा दशरथं नृपम्॥१४२॥
तेनोद्भूतसुतप्राप्तिचिन्तः क्षपणके गते।
राजा कनकवर्षस्तन्निनाय विमना दिनम्॥१४३॥

---

१. आदौ कुपिता, पश्चात् तुष्टा तय।
२. 'मोहन-जो-दड़ो'स्थाने पुरातत्त्वान्वेषिभिः नानाप्राण्यङ्ग विग्रहा मूर्तयः समुपलब्धाः सन्ति।
३. मूलपुस्तके त्रुटितमिदं पद्यार्धम्।

तब उस क्रोधाग्नि से ही मानों पिघलकर गिरते हुए आँसुओं से राजा को भिगोती हुई रानी गले से लिपट गई ॥१३१॥

तदनन्तर, राजा क्रुद्ध होकर प्रसन्न हुई रानी के ही पास उस दिन को व्यतीत कर रात्रि में भी उसके साथ आनन्द-विलास करके सो गया ॥१३२॥

सोये हुए उसने अकस्मात् एक स्वप्न देखा कि एक कुरूपा स्त्री ने उसके गले से मोतियों की एक लड़ी माला और मुकुट के रत्न निकाल लिये हैं। उसके पश्चात् विविध प्राणियों के अंग-वाले उसने दो बेतालों को देखा। उनके साथ बाहुयुद्ध होने पर राजा ने उन्हें भूमि पर पटक दिया और उनकी पीठ पर वह चढ़ बैठा। बेताल ने पीठ पर बैठे हुए राजा को पक्षी के समान उड़कर समुद्र में लेजाकर फेंक दिया, तदनन्तर किसी प्रकार समुद्र से निकले हुए राजा ने गले में मोतियों की माला और मुकुट में चूडामणि आदि रत्नों को पहले के ही समान देखा ॥१३३–१३६॥

यह स्वप्न देखकर प्रातःकाल जगे हुए राजा ने, मिलने के लिए आए हुये बौद्ध भिक्षु को देखकर स्वप्न का फल पूछा ॥१३७॥

बौद्ध भिक्षु ने कहा—'महाराज, आपके सामने अप्रिय बात नहीं कहनी चाहिए; किन्तु आपसे पूछे जाने पर कैसे न कहूँ ॥१३८॥

आपने जो मोतियों की माला और चूडामणि का अपहरण देखा, वह आपके पुत्र और महारानी के साथ वियोग का सूचक है। समुद्र से निकलकर जो तुमने उन दोनों वस्तुओं को पा लिया, यह दुःख के अन्त में फिर से उन दोनों के मिलने का सूचक है'—॥१३९-१४०॥

क्षपणक के इस प्रकार कहने पर कुछ सोचकर राजा ने कहा—'मुझे अभी तक पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ, अब पहले वह उत्पन्न तो हो' ॥१४१॥

इसके उपरान्त, आये किसी हुए रामायण की कथा कहनेवाले से राजा ने सुना कि राजा दशरथ ने पुत्र के लिए बहुत कष्ट उठाया ॥१४२॥

क्षपणक के चले जाने पर, राजा के मन में पुत्रोत्पत्ति की चिन्ता बढ़ गई। और, उसने उस दिन को बड़े खिन्न मन से बिताया ॥१४३॥

रात्रावकस्माच्चैकाकी विनिद्रः शयनस्थितः।
द्वारेऽनुद्घाटितेऽप्यन्तः प्रविष्टां स्त्रियमैक्षत ॥१४४॥
विनीता सौम्यरूपा च सा तं साश्चर्यमुत्थितम्।
कृतप्रणामं दत्ताशीः क्षितीश्वरमभाषत ॥१४५॥
पुत्र मां विद्धि तनयां नागराजस्य वासुकेः।
त्वत्पितुर्भगिनीं ज्येष्ठां नाम्ना रत्नप्रभामिमाम् ॥१४६॥
रक्षार्थं तेऽन्तिके शश्वददृष्टा च वसाम्यहम्।
अद्य दृष्ट्वा सचिन्तं त्वामात्मा ते दर्शितो मया ॥१४७॥
न द्रष्टुमुत्सहे ग्लानिं तव तद्ब्रूहि कारणम्।
इत्युक्तः स तया राजा पितृष्वस्रा जगाद ताम् ॥१४८॥
धन्योऽहमम्ब यस्यैवं त्वं प्रसादं करोषि मे।
अनिर्वृतिं च मे विद्धि पुत्रासम्भवहेतुकाम् ॥१४९॥
अपि राजर्षयो यत्र पुरा दशरथादयः।
स्वर्गार्थमैच्छंस्तत्राम्ब कथं नेच्छन्तु मादृशाः ॥१५०॥
एतत्कनकवर्षस्य नृपतेस्तस्य सा वचः।
श्रुत्वा रत्नप्रभा नागी भ्रातुः पुत्रमुवाच तम् ॥१५१॥
तर्हि पुत्र वदाम्येकं यमुपायं कुरुष्व तम्।
गत्वा स्वामिकुमारं त्वमेतदर्थं प्रसादय ॥१५२॥
कुमारधारां विघ्नाय पतन्तीं मूर्ध्नि दुःसहाम्।
शरीरान्तःप्रविष्टायाः प्रभावान्मे सहिष्यसे ॥१५३॥
विघ्नजातं विजित्यान्यदपि प्राप्स्यसि वाञ्छितम्।
इत्युक्त्वान्तर्दधे नागी राजा हृष्टोऽक्षिपत्क्षपाम् ॥१५४॥
प्रातर्मन्त्रिषु विन्यस्य राज्यं पुत्राभिकाङ्क्षया।
ययौ स्वामिकुमारस्य पादमूलं स भूपतिः ॥१५५॥
तत्र तीव्रं तपश्चक्रे तमाराधयितुं प्रभुम्।
तयार्पितबलो नाग्या शरीरान्तःप्रविष्टया ॥१५६॥
ततोऽशनिनिभा राज्ञः पतितुं तस्य मूर्धनि।
कुमारवारिधारा सा प्रवृत्ताभूदनारतम् ॥१५७॥
स च सेहे शरीरान्तर्गतनागीबलेन ताम्।
ततस्तस्याधिविघ्नार्थं हेरम्बं प्रैरयद्गुहः ॥१५८॥

एक बार रात्रि में शयनागार में अकेले सोये हुए राजा ने पलंग पर पड़े-पड़े ही द्वार बन्द रहने पर भी सहसा अन्दर आई हुई एक स्त्री को देखा ॥१४४॥

वह स्त्री, नम्र और शान्त-स्वरूप थी। उसने शय्या से उठे और प्रणाम करते हुए राजा को आशीर्वाद देकर कहा—॥१४५॥

'बेटा, मैं तुम्हारे पिता की बड़ी बहन और नागराज वासुकि की कन्या हूँ। मेरा नाम रत्नप्रभा है॥१४६॥

मैं अदृश्य रूप से तेरी रक्षा के लिए सदा तेरे पास रहती हूँ। आज तुम्हें अधिक चिन्तित देखकर तेरे सामने प्रकट हुई हूँ। मैं तुझे खिन्न नहीं देख सकती। दुःखी होने का कारण क्या है बताओ।' पिता की बहन (बुआ) के इस प्रकार कहने पर राजा ने उससे कहा–॥१४७-१४८॥

'माता, मैं धन्य हूँ, कि तुम मेरी रक्षा का ध्यान रखती हो। किन्तु, पुत्र न होने का मुझे दुःख है। जब कि प्राचीन काल के राजर्षि दशरथ ऐसे महान् व्यक्तियों ने, स्वर्ग के लिए पुत्र की इच्छा की, तो मेरे ऐसे व्यक्ति क्यों न करें' ॥१४९-१५०॥

राजा कनकवर्ष के यह वचन सुनकर वह रत्नप्रभा नागिन, भाई के पुत्र (राजा) से बोली—॥१५१॥

'यदि ऐसा है, तो हे पुत्र, मैं तुझसे कहती हूँ कि तू जाकर पुत्र के लिए स्वामी कार्तिक से प्रार्थना कर ॥१५२॥

उनकी आराधना में विघ्न करने के लिए शिर पर कुमार-धारा गिरती है, तू मेरे शरीर में प्रविष्ट हो जाने के कारण उस धारा का सहन कर लेगा ॥१५३॥

और भी अन्यान्य विघ्नों को जीतकर तू अपना ईप्सित फल प्राप्त कर लेगा।' इतना कहकर वह नागिन अन्तर्धान हो गई। और, राजा ने वह रात्रि प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत की ॥१५४॥

प्रातःकाल, राजा ने, राज्य का भार मन्त्रियों पर छोडकर पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से स्वामी कार्तिक के चरणों में प्रस्थान किया ॥१५५॥

वहाँ जाकर उसने कार्त्तिक की आराधना के लिए कठोर तप प्रारम्भ किया; क्योंकि शरीर में प्रविष्ट नागिन (बुआ) का बल उसे प्राप्त था ॥१५६॥

तब राजा के शिर पर वज्र के समान तीव्र कुमार-धारा निरन्तर गिरने लगी ॥१५७॥

शरीर के अन्दर प्रविष्ट नागिन के बल से राजा ने धारा के वेग का सहन कर लिया। तब उसकी तपस्या में विघ्न करने के लिए कार्त्तिकेय ने गणेशजी को प्रेरित किया ॥१५८॥

हेरम्बश्चासृजत्तत्र धारामध्ये महाविषम्।
तस्याजगरमत्युग्रं न स तेनाप्यकम्पत ॥१५९॥
ततो विनायकः साक्षाद्दन्ताघातानुरःस्थले।
एत्य दातुं प्रववृते तस्याजय्यः सुरैरपि ॥१६०॥
मत्वा तं दुर्जयं देवं सोऽथ स्तुतिभिरर्चितुम्।
राजा कनकवर्षस्तद्विघ्नेशोपचक्रमे ॥१६१॥
नमः सर्वार्थसंसिद्धिनिधिकुम्भोपमात्मने।
लम्बोदराय विघ्नेश व्यालालङ्करणाय ते ॥१६२॥
लीलोत्क्षिप्तकराघातविधुतासनपङ्कजम्।
ब्रह्माणमपि सोत्कम्पं कुर्वञ्जय गजानन ॥१६३॥
सुरासुरमुनीन्द्राणामपि सन्ति न सिद्धयः।
अतुष्टे त्वयि लोकैकशरण्ये शङ्करप्रिय ॥१६४॥
घटोदरः शूर्पकर्णो गणाध्यक्षो मदोत्कटः।
पाशहस्तोऽम्बरीषश्च जम्बकस्त्रिशिखायुधः ॥१६५॥
एवमाद्यैः स्तुवन्ति स्म पापघ्नैरष्टषष्टिभिः।
तत्संख्यस्थाननियतैर्नामभिस्त्वां सुरोत्तमाः ॥१६६॥
स्मरतः स्तुवतश्च त्वां विनश्यन्ति भयं प्रभो।
रणराजकुलद्यूतचौराग्निश्वापदादिजम् ॥१६७॥
इति स्तुतिपदैरेतैरन्यैर्बहुविधैश्च सः।
नृपः कनकवर्षस्तं विघ्नेश्वरमपूजयत् ॥१६८॥
तुष्टोऽस्मि न करिष्यामि विघ्नं ते पुत्रमाप्नुहि।
इत्युक्त्वान्तर्दधे तत्र राज्ञस्तस्य स विघ्नजित् ॥१६९॥
ततः स्वामिकुमारस्तं तद्धाराधारिणं नृपम्।
उवाच धीर तुष्टोऽस्मि तव याचस्व तद्वरम् ॥१७०॥
तच्छ्रुत्वा स प्रहृष्टस्तं देवं राजा व्यजिज्ञपत्।
त्वत्प्रसादेन मे नाथ सूनुरुत्पद्यतामिति ॥१७१॥
एवमस्तु सुतो भावी भवतो मद्गणांशजः।
नाम्ना हिरण्यवर्षश्च भविष्यति स भूपते ॥१७२॥
इत्युक्त्वा गर्भगेहान्तः प्रवेशाय तमाह्वयत्।
सविशेषप्रसादेप्सुर्नृपतिं बर्हिवाहनः ॥१७३॥

गणेश ने, उस धारा में महाविष मिला दिया और एक भीषण अजगर को उत्पन्न किया। किन्तु, उससे राजा जरा भी विचलित न हुआ ॥१५९॥

तब विनायक ने स्वयं आकर राजा के पेट में दाँतों से प्रहार किया। जिस प्रहार का देवता भी सहन नहीं कर सकते थे, राजा ने उसका भी सहन किया ॥१६०॥

तब राजा कनकवर्ष ने, गणेशजी को दुर्जय जानकर उस दन्त-प्रहार का सहन करने के उपरान्त उनकी स्तुति प्रारम्भ की— ॥१६१॥

'हे सभी इच्छित अर्थों की सिद्धि के कोष-स्वरूप कुम्भ के समान गणपति, तुम्हारे लिए नमस्कार है। हे लम्बोदर, हे विघ्नविनाशक, हे सर्प का यज्ञोपवीत धारण करनेवाले, तुम्हें प्रणाम करता हूँ ॥१६२॥

लीला (क्रीडा) करते समय अपनी सूँड़ से ब्रह्मा के भी आसन-कमल को कँपानेवाले गजानन, तुम्हारी जय हो ॥१६३॥

तुम्हारे अप्रसन्न होने पर देवता, दैत्य और मुनिराजों को भी सिद्धियाँ प्राप्त नहीं हो सकतीं। अतः, हे समस्त लोकों के एकमात्र शरण देनेवाले शंकर के दुलारे, तुम्हें प्रणाम है ॥१६४॥

हे घटोदर, हे शूर्पकर्ण, हे गणाध्यक्ष, हे मदोत्कट, हे पाशहस्त, हे अम्बरीष, हे जम्बक और हे त्रिशिखायुध, इस प्रकार उन-उन स्थानों में प्रसिद्ध अड़सठ नामों से देवता और दैत्य तुम्हारा स्मरण और स्तुति करते हैं। इन नामों से तुम्हारी स्तुति करनेवाले को संग्राम, राजकुल, जूआ, चोर, अग्नि और हिंस्र जन्तुओं का भय नहीं रहता' ॥१६५—१६७॥

उस राजा कनकवर्ष ने, इस प्रकार की अन्यान्य स्तुतियों से विघ्नेश्वर गणेश की प्रार्थना की ॥१६८॥

'मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। अब विघ्न न करूँगा। तू पुत्र प्राप्त कर।' राजा से इस प्रकार कहकर गणेशजी अन्तर्धान हो गये ॥१६९॥

तब कुमार-धारा का सहन किये हुए उस राजा को दर्शन देकर स्वामी कार्त्तिकेय ने कहा—'हे धीर, मैं तुझसे प्रसन्न हूँ, वर माँग' ॥१७०॥

यह सुनकर हर्षित राजा ने उनसे निवेदन किया—'हे प्रभो, आपकी कृपा से मुझे पुत्र-प्राप्ति हो' ॥१७१॥

'ऐसा ही हो। तुझे मेरे गण के अंश से पुत्र-प्राप्ति होगी। वह संसार में हिरण्यवर्ष नाम से विख्यात होगा' ॥१७२॥

ऐसा कहकर मयूरवाहन कार्त्तिकेय ने, उस पर विशेष कृपा करने की इच्छा से राजा को मन्दिर के गर्भगृह में बुलाया ॥१७३॥

तेनादृश्यास्य निरगान् नागी देहान्नृपस्य सा।
विशन्ति शापभीता हि न कुमारगृहं स्त्रियः ॥१७४॥
ततः कनकवर्षोऽसौ स्वेन मानुषतेजसा।
विवेश गर्भभवनं तस्य देवस्य पावकेः ॥१७५॥
स तं नाग्यनधिष्ठानात् पूर्वतेजोविनाकृतम्।
दृष्ट्वा नृपं किमेतत् स्यादिति देवोऽप्यचिन्तयत् ॥१७६॥
ज्ञात्वा नागीबलव्याजनिर्व्यूढविषमव्रतम्।
प्रणिधानाच्च तं क्रुद्धः शशाप स नृपं गुहः ॥१७७॥
व्याजस्त्वया कृतो यस्मादतो जातेन सूनुना।
महादेव्या च दुर्दान्तो वियोगस्ते भविष्यति ॥१७८॥
निर्घातदारुणं श्रुत्वा शापमेतं स भूपतिः।
सूक्तैस्तुष्टाव तं देवं मोहं मुक्त्वा महाकविः ॥१७९॥
स सुभाषिततुष्टोऽथ षण्मुखस्तमभाषत।
राजंस्तुष्टोऽस्मि सूक्तैस्ते शापान्तं तव वच्मि तत् ॥१८०॥
भविष्यत्यब्दमेकं ते पत्नीपुत्रवियुक्तता।
मुक्तोऽपमृत्युत्रितयात्तौ च प्राप्स्यस्यतः परम् ॥१८१॥
इत्युक्त्वा विरतालापे षण्मुखे स प्रणम्य तम्।
तत्प्रसादसुधातृप्तो राजा स्वपुरमाययौ ॥१८२॥
तत्र तस्यामृतस्यन्दो ज्योत्स्नायामिव शीतगोः।
देव्यां मदनसुन्दर्यां क्रमात्सूनुरजायत ॥१८३॥
दृष्ट्वा सुतमुखं सोऽथ राजा राज्ञी च सा मुहुः।
अत्यानन्दसमायुक्ते नावर्त्तेतां तदात्मनि ॥१८४॥
तत्कालं चोत्सवं चक्रे वसु वर्षन् स भूपतिः।
निजां कनकवर्षाख्यां नयन्भुवि यथार्थताम् ॥१८५॥
पञ्चरात्रे गते षष्ठ्यां रजनौ जातवेश्मनि।
कृते रक्षाविधौ तत्र मेघोऽशङ्कितमागतः ॥१८६॥
तेन वृद्धिमवाप्तेन तत्रावव्रे नभः क्रमात्।
शत्रुणोपेक्षितेनेव राज्यं राज्ञः प्रमादिनः ॥१८७॥
मदस्येव क्षिपन्धारा वर्षम्योन्मूलितद्रुमः।
ततो धावितुमारेभे वातमत्तमतङ्गजः ॥१८८॥

यह जानकर वह अदृश्य नागिन उसके शरीर से बाहर निकल गई; क्योंकि शाप के भय से स्त्रियाँ कुमार के गर्भगृह में प्रवेश नहीं करतीं ।।१७४।।

तब वह राजा कनकवर्ष नागिन के तेज से रहित होकर केवल अपने मानव-तेज के साथ ही वह कार्त्तिकेय देवता के गर्भगृह में प्रविष्ट हुआ ।।१७५।।

कुमार ने नागिन के निकल जाने के कारण तेजोहीन राजा को देखकर सोचा कि यह क्या बात है ।।१७६।।

और ध्यान लगाकर नागिन के बल से कठोर तपस्या में उत्तीर्ण हुए उसे जानकर क्रोध से शाप दिया—।।१७७।।

'राजा, तूने मेरे साथ -कपट व्यवहार किया है। इसलिए, तुझे उत्पन्न हुए बालक और महारानी से भीषण वियोग होगा ।।१७८।।

वज्रपात के समान भयंकर शाप को सुनकर महाकवि राजा ने, मोह त्याग कर सुन्दर-सुन्दर सूक्तियों से स्वामी कार्त्तिकेय की स्तुति प्रारम्भ की ।।१७९।।

उसकी सूक्तियों से सन्तुष्ट होकर षण्मुख ने उससे कहा–'राजन्, तेरी सूक्तियों से मैं प्रसन्न हुआ। अब तेरे उस शाप का अन्त करता हूँ ।।१८०।।

तुझे रानी और पुत्र का वियोग एक वर्ष के लिए होगा। तू तीन बार अपमृत्यु से बचकर उन्हें प्राप्त करेगा' ।।१८१।।

कार्त्तिकेय स्वामी के ऐसा कहकर चुप हो जाने पर राजा उन्हे प्रणाम करके उनकी कृपा से सन्तुष्ट होकर अपने नगर को गया ।।१८२।।

नगर में पहुँचने पर कुछ दिनों के उपरान्त चन्द्रमा की चाँदनी से अमृत-वर्षा के समान मदनसुन्दरी से पुत्र उत्पन्न हुआ ।।१८३।।

राजा और रानी पुत्र के मुख को देखकर अत्यन्त आनन्द से अपने में ही फूले न समाये। उस राजा ने, धन बरसाते हुए उसी समय महान् उत्सव किया और स्वर्ण की वर्षा करके अपना कनकवर्ष नाम सार्थक किया ।।१८४-१८५।।

पाँच रात्रियों के बीतने पर छठी रात्रि में प्रसूति-भवन में पर्याप्त रक्षा का प्रबन्ध करने पर भी अकस्मात् विना शंका के ही मेघ घिर गये ।।१८६।।

धीरे-धीरे बढ़ते हुए बादल ने आकाश को ऐसे घेर लिया, जैसे प्रमादी राजा के राज्य को अपेक्षित शत्रु घेर लेता है ।।१८७।।

वायु-रूपी मदोन्मत्त हाथी, मानों मद की धारा के समान मूसलाधार वृष्टि से वृक्षों को उखाड़ता हुआ बहने लगा ।।१८८।।

तत्क्षणं सार्गलमपि द्वारमुद्घाट्य भीषणा।
स्त्री कापि क्षुरिकाहस्ता जातवेश्म विवेश तत् ॥१८९॥
सा तं मदनसुन्दर्याः स्तनासक्तमुखं सुतम्।
हृत्वा देव्याः प्रदुद्राव संमोह्यैव परिच्छदम् ॥१९०॥
हा हा हृतो मे राक्षस्या सुत इत्यथ विह्वला।
क्रन्दन्ती चान्वधावत्तां राज्ञी सा स्त्रीं तमस्यपि ॥१९१॥
सा च गत्वा पपात स्त्री सरस्यन्तः सबालका।
राज्ञी चान्वपतत्सापि तत्रैवापत्यतृष्णया ॥१९२॥
क्षणान्मेघो निववृते जगामान्तं च यामिनी।
जातवेश्मनि चाक्रन्दः परिवारस्य शुश्रुवे ॥१९३॥
राजा कनकवर्षोऽथ तच्छ्रुत्वा जातवासकम्।
एत्य पुत्रप्रियाशून्यं दृष्ट्वा मोहं जगाम सः ॥१९४॥
समाश्वस्य च हा देवि हा पुत्रक शिशो इति।
विलपन्नथ सस्मार शापं तं वत्सरावधिम् ॥१९५॥
भगवञ्शापसम्पृक्तो मन्दपुण्यस्य मे वरः।
कथं स्कन्द त्वया दत्तः सविषामृतसन्निभः ॥१९६॥
हा हा युगसहस्राभं कथं नेष्यामि वत्सरम्।
देव्या मदनसुन्दर्या जीवितनाधिकया विना ॥१९७॥
इत्याक्रन्दंश्च स ज्ञातवृत्तान्तैर्मन्त्रिभिर्नृपः।
बोध्यमानोऽपि न प्राप देव्या सह गतां धृतिम् ॥१९८॥
क्रमाच्च मदनावेगविवशो निर्गतः पुरात्।
विवेश विन्ध्यकान्तारमुन्मनोभय स भ्रमन् ॥१९९॥
तत्र बालमृगीनेत्रैः प्रियाया लोचनश्रियम्।
कबरीभारसौन्दर्यं चमरीवालसञ्चयैः ॥२००॥
दृष्टैः करिकरेणूनां गतैर्मन्थरतां गतेः।
स्मरतस्तस्य जज्वाल सुतरां मदनानलः ॥२०१॥
भ्राम्यंस्तृष्णातपक्लान्तो विन्ध्यपादमवाप्य सः।
पीतनिर्झरपानीयस्तरुमूल उपाविशत् ॥२०२॥
तावद् गुहामुखाद्विन्ध्यस्याट्टहास इवोन्नदन्।
सिंहः सटालो निर्गत्य हन्तुमभ्युत्पपात तम् ॥२०३॥

उस समय साँकलों से बन्द द्वार को भी खोलकर कटार हाथ में लेकर कोई स्त्री उस प्रसूति-भवन में घुसी ॥१८९॥

और, भीतर घुमकर वह स्त्री मदनसुन्दरी के स्तन में मुंह लगाये हुए शिशु को छीनकर और रानी की सेविकाओं को मूर्च्छित करके बाहर की ओर भाग गई ॥१९०॥

'हाय, हाय, राक्षसी मेरे बच्चे को ले भागी'–इस प्रकार चिल्लाती हुई और व्याकुल रानी बच्चे के मोह से अँधेरे में भी उसके पीछे दौड़ गई ॥१९१॥

वह स्त्री आगे-आगे भागती हुई अँधेरे में एक तालाब में गिर पड़ी और उसके पीछे दौड़ती हुई बच्चे के लिए पागल रानी मदनसुन्दरी भी उसी तालाब में जा गिरी ॥१९२॥

कुछ ही समय में बादल हट गये और रात्रि भी प्रायः समाप्त हो गई और प्रसूति-गृह में सेविकाओं और दाइयों की चिल्लाहट सुन पड़ी ॥१९३॥

यह सब सुनकर राजा कनकवर्ष, प्रसूति-गृह में आया और उसे पत्नी तथा पुत्र के बिना, सूना देखकर वह संज्ञाहीन (बेहोश) हो गया ॥१९४॥

होश में आने के पश्चात् राजा ने 'हाय बेटा! हाय रानी!' कहकर चिल्लाते हुए एक वर्ष की अवधि के शाप का स्मरण किया ॥१९५॥

और बोला–'हे भगवान् स्कन्द, मुझ अभागे को तुमने शाप से युक्त वरदान ही क्यों दिया, जो विषाक्त अमृत के समान है ॥१९६॥

हाय, प्राणों से भी प्यारी मदनसुन्दरी के बिना सहस्रों युगों के समान एक वर्ष के समय को मैं कैसे बिताऊँगा ?'॥१९७॥

सब समाचार जान लेने के बाद इस प्रकार रोने, विलाप करते हुए राजा को मन्त्रियों द्वारा समझाये जाने पर भी, उसका धैर्य, जो रानी के साथ ही चला गया था, फिर नहीं लौटा ॥१९८॥

क्रमशः काम के आवेग से राजा उदास होकर नगर से निकलकर विंध्याचल के जंगल में चला गया ॥१९९॥

उस वन की छोटी-छोटी हरिणियों के नेत्रों में वह रानी की नेत्र-शोभा को, चमरी-मृगों के बालों के झुंड में रानी के केश-कलाप के सौन्दर्य को और हस्तिनियों की चाल में रानी की गति की मन्थरता को देखते हुए उसकी कामाग्नि अत्यधिक भड़क उठी ॥२००–२०१॥

घूमता हुआ भूख और प्यास से व्याकुल राजा विन्ध्य की तलहटी में झरने का पानी पीकर एक वृक्ष की जड़ में बैठ गया ॥२०२॥

इतने में ही एक गुफा के मुँह से विन्ध्य पर्वत के अट्टहास के समान निकला हुआ जटाओं-वाला सिंह राजा को मारने के लिए उछला ॥२०३॥

तत्क्षणं गगनायातः कोऽपि विद्याधरो जवात्।
निपत्यासिप्रहारेण सिंहं तमकरोद्द्विधा ॥२०४॥
समीपमेत्य चापृच्छद्राजानं तं स खेचरः।
राजन्कनकवर्षैवं प्राप्तोऽस्येतां कथं भुवम् ॥२०५॥
तच्छ्रुत्वा संस्मृतिं लब्ध्वा स राजा प्रत्युवाच तम्।
विरहानलविक्षिप्तं कुतस्त्वं वेत्सि मामिति ॥२०६॥
ततो विद्याधरोऽवादीदहं प्रव्राजकोऽभवम्।
मानुषो बन्धुमित्राख्यस्त्वत्पुरे न्यवसं पुरा ॥२०७॥
सेवया प्रार्थितेनात्र त्वया साहायके कृते।
विद्याधरत्वं प्राप्तोऽस्मि वीरवेतालसाधनात् ॥२०८॥
तेन त्वां प्रत्यभिज्ञाय कर्तुं ते प्रत्युपक्रियाम्।
त्वज्जिघांसुरयं दृष्ट्वा सिंहो व्यापादितो मया ॥२०९॥
नाम्ना बन्धुप्रभश्चाद्य संवृत्तोऽस्मीति वादिनम्।
राजा कनकवर्षस्तं जातप्रीतिरभाषत ॥२१०॥
हन्त स्मरामि सा चेह मैत्री निर्वाहिता त्वया।
तद् ब्रूहि मे कदा भावी भार्यापुत्रसमागमः ॥२११॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा बुद्ध्वा विद्याप्रभावतः।
विद्याधरोऽब्रवीद् बन्धुप्रभस्तं स महीभृतम् ॥२१२॥
दृष्टया विन्ध्यवासिन्या पत्नीपुत्रौ त्वमाप्स्यसि।
तत्तत्र गच्छ सिद्ध्यै त्वं स्वर्लोकं च व्रजाम्यहम् ॥२१३॥
इत्युक्त्वा खं गते तस्मिन् राजा लब्धधृतिः शनैः।
प्रायात् कनकवर्षोऽसौ द्रष्टुं तां विन्ध्यवासिनीम् ॥२१४॥
गच्छन्तमभ्यधावत्तं नृपं वन्यो महान् पथि।
आधूतमस्तको मत्तः प्रसारितकरः करी ॥२१५॥
तं दृष्ट्वा श्वभ्रमार्गेण स राजापासरत्तथा।
यथानुधावन् स गजो विपेदे श्वभ्रपाततः ॥२१६॥
ततः सोऽध्वश्रमायासक्लान्तो राजा व्रजन् क्रमात्।
उद्दण्डपुण्डरीकाढ्यं प्रापदेकं महत्सरः ॥२१७॥
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च जलं जग्धमृणालकः।
विश्रान्तः पादपतले क्षणं जह्रे स निद्रया ॥२१८॥

उसी क्षण, आकाश से आते हुए किसी विद्याधर ने वेग से नीचे उतरकर तलवार के एक ही प्रहार से उस सिंह के दो टुकड़े कर दिये ॥२०४॥

और पास में आकर उस आकाशचारी ने राजा से पूछा–'हे राजा कनकवर्ष, तुम इस स्थिति में क्यों पहुँच गये हो?' ॥२०५॥

यह सुनकर और अपनी स्थिति का स्मरण करके राजा ने उससे कहा–'वियोग की अग्नि से पागल बने हुए मुझे क्या तुम नहीं जानते?' ॥२०६॥

तब विद्याधर ने कहा–'मैं पहले बन्धुमित्र नामक मनुष्य परिव्राजक होकर तुम्हारे नगर में रहता था। सेवा से प्रार्थना करने पर तुम्हारी सहायता से वीर वेताल की सिद्धि द्वारा विद्याधर-पद को प्राप्त हुआ हूँ ॥२०७-२०८॥

इसी कारण तुम्हें पहचानकर तुम्हारा प्रत्युपकार करने के लिए, तुम्हें मारने के लिए उद्यत इस सिंह को, मैंने मार डाला ॥२०९॥

अब मैं आज नाम से बन्धुप्रभ हो गया।' इस प्रकार कहकर उस पर प्रेम प्रकट करते हुए राजा कनकवर्ष ने कहा–'हाँ, हाँ, मुझे स्मरण है। आज तुमने मित्रता निभा दी। अब यह बताओ कि पत्नी और पुत्र से मेरा मिलन कब होगा?'॥२१०–२११॥

राजा की यह बात सुनकर और अपनी विद्या के प्रभाव से सब बात जानकर बन्धुप्रभ नामक विद्याधर ने राजा से कहा–'विन्ध्यवासिनी का दर्शन प्राप्त करने पर पत्नी और पुत्र का मिलन तुम्हें हो सकेगा। अतः, तू अपनी कार्य-सिद्धि के लिए जा। मैं अपने विद्याधर-लोक को जाता हूँ ॥२१२-२१३॥

इस प्रकार कहकर उस विद्याधर के आकाश में उड़ जाने पर धीरे-धीरे धैर्य धारण किया हुआ वह राजा कनकवर्ष, विन्ध्यवासिनी के दर्शन को गया ॥२१४॥

वन-मार्ग में जाते हुए राजा पर, मस्तक और सूंड़ को हिलाते हुए एक बड़े जंगली हाथी ने आक्रमण कर दिया ॥२१५॥

उसे देखकर राजा ने एक गड्ढे के मार्ग से दौड़ना आरम्भ किया, इस प्रकार राजा के पीछे दौड़ता हुआ वह हाथी, उस गड्ढे में गिरकर, मर गया ॥२१६॥

तब मार्ग की थकावट से व्याकुल और प्यासे राजा को मार्ग में ऊँचे-ऊँचे और खिले कमलों-वाला एक तालाब मिला। उसमें स्नान करके, जल पीकर और कमल-नालों को खाकर तृप्त राजा थकावट के कारण एक वृक्ष के नीचे विश्राम करते-करते सो गया ॥२१७–२१८॥

तावच्च तेन मृगयानिवृत्ताः शवराः पथा।
आगता ददृशुः सुप्तं तं राजानं सुलक्षणम् ॥२१९॥
ते च देव्युपहारार्थं बद्ध्वा निन्युस्तदैव तम् ॥
स्वस्य मुक्ताफलाख्यस्य पार्श्वं शबरभूभृतः ॥२२०॥
सोऽप्येनं शबराधीशः प्रशस्तं वीक्ष्य नीतवान्।
केतनं विन्ध्यवासिन्याः पशूकर्त्तुं नराधिपम् ॥२२१॥
दृष्ट्वैव च स देवीं तां प्रणमंस्तदनुग्रहात्।
राजा स्कन्दप्रसादाच्च बभूव स्रस्तबन्धनः ॥२२२॥
तदालोक्याद्भुतं मत्वा तस्य तं देव्यनुग्रहम्।
मुमोच तं स राजानं शबराधिपतिर्वधात् ॥२२३॥
एवं कनकवर्षस्य तृतीयादपमृत्युनः।
अतिक्रान्तस्य तस्याभूत्पूर्णं तच्छापवत्सरम् ॥२२४॥
तावच्च तस्य सा नागी राज्ञो मदनसुन्दरीम्।
देवीं सपुत्रामादाय तत्रैवागात् पितृष्वसा ॥२२५॥
जगाद तं च भो राजन् ज्ञानकौमारशापया।
एतौ ते रक्षितौ युक्त्या नीत्वा स्वभवनं मया ॥२२६॥
तस्मात्कनकवर्ष स्वौ गृहाणेतौ प्रियासुतौ।
भुङ्क्ष्वेदं पृथिवीराज्यं क्षीणशापोऽधुना ह्यसि ॥२२७॥
इत्युक्त्वा प्रणतं सा तं नृपं नागी तिरोदधे।
नृपोऽपि स्वप्नमिव तन्मेने भार्यासुतागमम् ॥२२८॥
ततोऽस्य राज्ञो राज्याश्च चिरादाश्लिष्टयोर्मिथः।
अगलद्विरहक्लेशो हर्षबाष्पाम्बुभिः सह ॥२२९॥
ततः कनकवर्षं तं बुद्ध्वा पृथ्वीपतिं प्रभुम्।
मुक्ताफलोऽपत्रस्य शबरेन्द्रः स पादयोः ॥२३०॥
क्षमयित्वा च पल्लीं स्वां प्रवेश्य च निजोचितैः।
तैस्तैः ससुतदारं तमुपचारैरुपाचरत् ॥२३१॥
सोऽथ तत्र स्थितो राजा दूतैरानाययन्नृपम्।
श्वशुरं देवशक्तिं तं स्वसैन्यं च निजात्पुरात् ॥२३२॥
अथास्थितकरेणुका मदनसुन्दरी तां प्रियां
सुतं च शरजन्मनोदितहिरण्यवर्षाभिधम्।
विधाय पुरतस्ततः श्वशुरवेश्मवासादितः
चचाल स तदन्वितः कनकवर्षपृथ्वीपतिः ॥२३३॥

इतने में ही शिकार से लौटे हुए भील उस मार्ग से आ निकले और उन्होंने अच्छे लक्षणों से सम्पन्न राजा को वहाँ सोये हुए देखा ॥२१९॥

तब वे उसे बलिदान के योग्य समझकर देवी को भेंट करने के लिए बाँधकर अपने राजा मुक्ताफल के पास ले गये। वह भील सरदार भी उसे अच्छे लक्षणोंवाला जानकर पशु बनाने के लिए विन्ध्यवासिनी के मन्दिर में ले गया ॥२२०-२२१॥

देवी का दर्शन करते ही राजा ने उसे प्रणाम किया और देवी की कृपा तथा स्वामी कार्त्तिकेय के वरदान के कारण उसी समय वह बन्धन से छूट गया। यह देखकर और उसे देवी की अद्भुत और आश्चर्यजनक कृपा समझकर भील-सरदार ने, राजा का वध न करके उसे मुक्त कर दिया ॥२२२-२२३॥

इस प्रकार अपमृत्यु के तीसरे दौर से छूटे हुए राजा के शाप का एक वर्ष व्यतीत हो गया ॥२२४॥

तबतक राजा की बुआ वह नागिन पुत्र-सहित रानी मदनसुन्दरी को लेकर उपस्थित हुई ॥२२५॥

और उससे बोली—'हे राजन्, कुमार के शाप को जानकर मैंने तुम्हारी पत्नी और पुत्र को युक्ति से अपने घर ले जाकर सुरक्षित रखा था। अब तुम इन दोनों को लो और शाप से मुक्त होकर अपनी भूमि के राज्य का उपभोग करो।' इस प्रकार कहकर, और प्रणाम करते हुए राजा को आशीर्वाद देकर, वह नागिन अन्तर्हित हो गई। राजा ने भी पत्नी और पुत्र के उस मिलन को एक सपना-सा समझा ॥२२६—२२८॥

तदनन्तर, चिरकाल के वियोग के उपरान्त मिलकर आलिंगन करते हुए राजा और रानी का वियोग-कष्ट, प्रसन्नता के आँसुओं के साथ बह निकला ॥२२९॥

तब भीलों का सरदार मुक्ताफल ने उसे राजा कनकवर्ष समझकर पैर पर गिर पड़ा और उससे क्षमा माँगी। तदनन्तर, पत्नी तथा पुत्र-सहित उसे अपने ग्राम में ले जाकर समुचित साधनों से उसकी सेवा करने लगा ॥२३०-२३१॥

वहाँ रहते हुए राजा ने दूतों द्वारा अपने श्वशुर देवशक्ति को तथा अपनी सेना को वहीं बुलवा लिया ॥२३२॥

उन सब के आने पर राजा कनकवर्ष, स्वामी कार्त्तिकेय के कहे हुए हिरण्यवर्ष नाम के पुत्र के साथ रानी मदनसुन्दरी को हस्तिनी पर बैठाकर और आगे रखकर ससुराल जाने के लिए वहाँ से चला ॥२३३॥

कुछ समय बाद वह राजा विदर्भदेश-स्थित कुंडिनपुर नामक समृद्ध नगर में श्वसुर-गृह को पहुँचा। वहाँ श्वसुर द्वारा सत्कार प्राप्त कर स्त्री और पुत्र के साथ कुछ दिनों तक वह वहीं ठहर गया ॥२३४॥

तदनन्तर, वहाँ से धीरे-धीरे चलकर स्त्री मदनसुन्दरी और पुत्र हिरण्यवर्ष के साथ प्रजाओं के लिए मूर्तिमान् उत्सव के समान और प्रसन्नचित्त वह राजा, अपनी राजधानी कनकपुर में पहुँचा ॥२३५–२३६॥

वहाँ पहुँचकर प्रसन्न प्रजाओं का अभिनन्दन स्वीकार कर राजा कनकवर्ष ने, रानी मदन-सुन्दरी का पट्टाभिषेक करके उसे सभी रानियों में प्रमुख, अर्थात् महारानी बना दिया ॥२३७॥

तदनन्तर राजा कनकवर्ष, महारानी और पुत्र के साथ प्रतिदिन उत्सव मनाता हुआ सदा के लिए वियोग से मुक्त होकर, अपने निष्कंटक सार्वभौम राज्य का पालन करने लगा ॥२३८॥

अलंकारवती के साथ नरवाहनदत्त, अपने मुख्य मंत्री गोमुख से इस प्रकार की मनोरंजक कथा को सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ ॥२३९॥

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के अलंकारवती लंबक का
पंचम तरंग समाप्त

षष्ठ तरंग

तदनन्तर, गोमुख द्वारा कही गई कथा के सुनने से सन्तुष्ट राजा नरवाहनदत्त ने, मरुभूति को गोमुख की ईर्ष्या से कुछ क्रुद्ध-सा देखकर उसे प्रसन्न करते हुए कहा—'हे मरुभूति तुम भी एक कथा क्यों नहीं कहते?' ॥१–२॥

तब मरुभूति ने 'बहुत अच्छा, कहता हूँ'—इस प्रकार उत्तर देकर कथा आरम्भ की ॥३॥

कुछ समय बाद वह राजा विदर्भदेश-स्थित कुंडिनपुर नामक समृद्ध नगर में श्वशुर-गृह को पहुँचा। वहाँ श्वशुर द्वारा सत्कार प्राप्त कर स्त्री और पुत्र के साथ कुछ दिनों तक वह वहीं ठहर गया ॥२३४॥

तदनन्तर, वहाँ से धीरे-धीरे चलकर स्त्री मदनसुन्दरी और पुत्र हिरण्यवर्ष के साथ प्रजाओं के लिए मूर्तिमान् उत्सव के समान और प्रसन्नचित्त वह राजा, अपनी राजधानी कनकपुर में पहुँचा ॥२३५–२३६॥

वहाँ पहुँचकर प्रसन्न प्रजाओं का अभिनन्दन स्वीकार कर राजा कनकवर्ष ने, रानी मदन-सुन्दरी का पट्टबन्धन करके उसे सभी रानियों में प्रमुख, अर्थात् महारानी बना दिया ॥२३७॥

तदनन्तर राजा कनकवर्ष, महारानी और पुत्र के साथ प्रतिदिन उत्सव मनाता हुआ सदा के लिए वियोग से मुक्त होकर, अपने निष्कंटक साम्राज्य का पालन करने लगा ॥२३८॥

अलंकारवती के साथ नरवाहनदत्त, अपने मुख्य मंत्री गोमुख से इस प्रकार की मनोरंजक कथा को सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ ॥२३९॥

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के अलंकारवती लंबक का
पंचम तरंग समाप्त

षष्ठ तरंग

तदनन्तर, गोमुख द्वारा कही गई कथा के सुनने से सन्तुष्ट राजा नरवाहनदत्त ने, मरुभूति को गोमुख की ईर्ष्या से कुछ क्रुद्ध-सा देखकर उसे प्रसन्न करते हुए कहा—'हे मरुभूति तुम भी एक कथा क्यों नहीं कहते?' ॥१–२॥

तब मरुभूति ने 'बहुत अच्छा, कहता हूँ'—इस प्रकार उत्तर देकर कथा आरम्भ की ॥३॥

चन्द्रस्वामिनस्तत्सूनोर्महीपालस्य च कथा

चन्द्रस्वामीत्यभूत् पूर्वं राज्ञः कमलवर्मणः ।
नगरे देव कमलपुराख्ये ब्राह्मणोत्तमः ॥४॥
तस्य लक्ष्मीसरस्वत्योस्तृतीया विनयोज्ज्वला ।
भार्या देवमतिर्नाम समाना सुमतेरभूत् ॥५॥
तस्यां तस्य च विप्रस्य पत्न्यां जज्ञे सुलक्षणः ।
पुत्रः स यस्य जातस्य वागेवमुदगाद्दिवः ॥६॥
चन्द्रस्वामिन् महीपालो नाम्ना कार्यः सुतस्त्वया ।
राजा भूत्वा चिरं यस्मात् पालयिष्यत्ययं महीम् ॥७॥
एतद्दिव्यं वचः श्रुत्वा स महीपालमेव तम् ।
चन्द्रस्वामिसुतं नाम्ना चकार रचितोत्सवः ॥८॥
क्रमाच्च स महीपालो विवृद्धो ग्राहितोऽभवत् ।
शस्त्रास्त्रवेदं विद्यासु सम सर्वासु शिक्षितः ॥९॥
तावच्च सुषुवे तस्य सा चन्द्रस्वामिनः पुनः ।
भार्या देवमतिः कन्यां सर्वावयवसुन्दरीम् ॥१०॥
सा च चन्द्रवती नाम महीपालः स च क्रमात् ।
भ्रातरौ ववृधाते तौ स्वपितुस्तस्य वेश्मनि ॥११॥
अथावृष्टिकृतस्तत्र देशे दुर्भिक्षविप्लवः ।
उदपद्यत दग्धेषु सस्येषु रविरश्मिभिः ॥१२॥
तद्दोषेण च राजात्र प्रारेभे तस्करायितुम् ।
अधर्मेण प्रजाभ्योऽर्थमाकर्षन्मुक्तसत्पथः ॥१३॥
ततोऽवसीदत्यत्यर्थं देशे तस्मिन्नुवाच सा ।
भार्या देवमतिर्विप्रं चन्द्रस्वामिनमत्र तम् ॥१४॥
आगच्छ मत्पितृगृहं व्रजामो नगरादितः ।
एते ह्यपत्ये नश्येतामावयोरिह जातुचित् ॥१५॥
तच्छ्रुत्वा तां स वक्ति स्म चन्द्रस्वामी स्वगेहिनीम् ।
मैवं पापं महद्गेहाद्दुर्भिक्षे हि पलायनम् ॥१६॥
तदहं बालकावेतौ नीत्वा त्वत्पितृवेश्मनि ।
स्थापयामि त्वमास्वेह शीघ्रं चैष्याम्यहं पुनः ॥१७॥

चन्द्रस्वामी और उसके पुत्र महीपाल की कथा

राजन्, प्राचीन काल में राजा कमलवर्मा के कमलपुर नामक नगर में चन्द्रस्वामी नाम का एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहता था ॥४॥

उस सद्बुद्धिवाले ब्राह्मण की लक्ष्मी और सरस्वती के समान तीसरी नम्रता की मूर्ति देवमति नाम की पत्नी थी ॥५॥

उस ब्राह्मण को उस पत्नी में शुभ लक्षणोंवाला एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके उत्पन्न होते ही आकाशवाणी हुई कि हे चन्द्रस्वामी, तू इस बालक का नाम महीपाल रखना। क्योंकि, यह राजा होकर चिरकाल तक पृथ्वी का पालन करेगा ॥६–७ ॥

इस प्रकार दिव्य वाणी को सुनकर चन्द्रस्वामी ने पुत्र-जन्मोत्सव करके उस शिशु का नाम महीपाल ही रख दिया ॥८॥

क्रमशः बड़े होते हुए महीपाल को पिता ने, शस्त्र, अस्त्र, वेद तथा अन्यान्य विद्याओं में समान रूप से शिक्षित कर दिया ॥९॥

इसी बीच, चन्द्रस्वामी की पत्नी देवमति ने एक सर्वांगसुन्दरी कन्या को जन्म दिया ॥१०॥

उसका नाम चन्द्रवती रखा गया और वे दोनों भाई-बहन माता-पिता के घर में क्रमशः बढ़ने लगे ॥११॥

कुछ दिनों के अनन्तर उस देश में वर्षा न होने के कारण दुर्भिक्ष पड़ गया। खेतों में पड़ा अन्न सूर्य की किरणों से (गरमी से) जल गया ॥१२॥

दुर्भिक्ष के कारण उस देश का राजा सन्मार्ग को छोड़कर अधर्म-पथ से प्रजा का धन लूटने लगा ॥१३॥

इस अत्याचार और दुर्भिक्ष के कारण उस देश के अत्यन्त दुःखित हो जाने पर देवमति ने चन्द्रस्वामी से कहा–'आओ, इस नगर से मेरे पिता के घर चलो। अन्यथा, इस कष्ट से किसी समय भी इन दोनों बच्चों को हानि पहुँच सकती है' ॥१४–१५॥

यह सुनकर चन्द्रस्वामी ने, अपनी पत्नी से कहा—'ऐसा न करो। दुर्भिक्ष के समय घर से भागना महापाप है ॥१६॥

इसलिए, मैं इन दोनों बच्चों को ले जाकर तुम्हारे पिता के घर रखकर शीघ्र ही लौट आता हूँ' ॥१७॥

इत्युक्त्वा स्थापयित्वा तां तथेत्युक्तवतीं गृहे।
भार्यां स चन्द्रस्वामी तौ गृहीत्वा दारकौ निजौ॥१८॥
महीपालं च तं तां च कन्यां चन्द्रवतीमुभौ।
ततः प्रतस्थे नगरात् पत्नीं पितृगृहं प्रति॥१९॥
गच्छन् क्रमात्त्रिचतुरैर्दिनैः प्राप महाटवीम्।
अर्कांशुतप्तसिकतां विशुष्कविरलद्रुमाम्॥२०॥
तस्यां तृषाभिभूतौ तौ स्थापयित्वा स दारकौ।
चन्द्रस्वामी ययौ दूरमन्वेष्टुं वारि तत्कृते॥२१॥
तत्र तस्याययावग्रे सानुगः शबराधिपः।
अकस्मात् सिंहदंष्ट्राख्यः कार्याय प्रस्थितः क्वचित्॥२२॥
स तं दृष्ट्वात्र पृष्ट्वा च बुद्ध्वा भिल्लो जलार्थिनम्।
संज्ञां कृत्वाब्रवीद् भृत्यान्नीत्वाम्भः प्राप्यतामयम्॥२३॥
तच्छ्रुत्वा तस्य भृत्यास्ते द्वित्रा लब्धाशया ऋजुम्।
ते चन्द्रस्वामिनं पल्लीं नीत्वा बद्धमकुर्वन॥२४॥
नरोपहारायात्मानं तेभ्यो बुद्ध्वा स संयतम्।
चन्द्रस्वामी शुशोच स्वौ दारकावटवीगतौ॥२५॥
हा महीपाल हा वत्से चन्द्रवत्यपदे कथम्।
मयारण्ये युवां त्यक्त्वा सिंहव्याघ्रामिषीकृतौ॥२६॥
आत्मा च घातितश्चौरैर्न चास्ति शरणं मम।
इत्याक्रन्दन्स विप्रोऽर्कं व्योम्न्यपश्यदसंमदात्॥२७॥
हन्त मोहं विहायैनं स्वं प्रभुं शरणं श्रये।
इत्यालोच्य द्विजः सूर्यं स स्तोतुमुपचक्रमे॥२८॥
तुभ्यं परापराकाशशायिने ज्योतिषे विभो।
आभ्यन्तरं च बाह्यं च तमः प्रणुदते नमः॥२९॥
त्वं विष्णुस्त्रिजगद्व्यापी त्वं शिवः श्रेयसां निधिः।
सुप्तं विचेष्टयन्विश्वं परमस्त्वं प्रजापतिः॥३०॥
अप्रकाशौ प्रकाशेतामेतावित्यग्निचन्द्रयोः।
न्यस्तात्मतेजा दययेवाब्धिं यासि यामिनीम्॥३१॥
विद्रवन्त्यपि रक्षांसि प्रभवन्ति न दस्यवः।
प्रमोदन्ते च गुणिनो भास्वन्नभ्युदिते त्वयि॥३२॥

ऐसा कहकर और पत्नी को घर सौंपकर चन्द्रस्वामी, अपने दोनों बच्चों—पुत्र महीपाल और पुत्री चन्द्रवती को लेकर ससुराल की ओर गया ॥१८–१९॥

जाते हुए उसे तीन-चार दिनों के अनन्तर क्रमशः मार्ग में एक बड़ा जंगल मिला। उस जंगल की रेत सूर्य की किरणों से जल रही थी और उसमें कहीं-कहीं सूखे और इक्के-दुक्के ही वृक्ष दीख रहे थे ॥२०॥

चन्द्रस्वामी प्यास से व्याकुल उन दोनों बच्चों को एक छायावाले स्थान पर बैठाकर उनके लिए जल की खोज में दूरतक चला गया ॥२१॥

जाते हुए उसे सामने भीलों का राजा सिंहदंष्ट्र, अपने सेवकों के साथ, कहीं जाता हुआ, अकस्मात् मिल गया ॥२२॥

उस भीलराज ने उस ब्राह्मण को देखकर और पूछकर और उसे जलाभिलाषी समझकर अपने सेवकों से इशारा करके कहा–'इसे ले जाकर पानी पिलाओ' ॥२३॥

यह सुनकर उसके दो-तीन सेवकों ने, उसके भाव को समझकर उस सीधे-सादे विद्वान ब्राह्मण को, अपने गाँव में ले जाकर और बाँधकर रख दिया ॥२४॥

उन सेवकों द्वारा नरबलि के लिए अपने को बाँधा हुआ जानकर चन्द्रस्वामी उस जंगल में अकेले छोड़ हुए अपने दोनों बच्चों की चिन्ता करने लगा ॥२५॥

'हाय महीपाल! हाय चन्द्रवती! मैंने तुम्हें सहसा जंगल में छोड़कर शेर और बाघों का भोजन बना डाला और चोरों से अपना भी नाश कराया। अब मेरे लिए कहीं शरण नहीं है।' इस प्रकार, रोते-चिल्लाते उस ब्राह्मण ने, आकाश में, यों ही सूर्य को देखा ॥२६–२७॥

'हन्त! अब मैं मोह त्याग कर इसी अपने प्रभु की शरण में जाता हूँ'—ऐसा सोचकर वह ब्राह्मण सूर्य की स्तुति करने लगा—॥२८॥

'हे उच्च आकाश में शयन करनेवाले, परम ज्योति-स्वरूप प्रभो, आन्तरिक और बाह्य अन्धकार को दूर करनेवाले, तुझे नमस्कार है ॥२९॥

तू ही तीनों जगत् में व्याप्त विष्णु है, तू ही कल्याणों का कोश शिव-रूप है। सोये हुए विश्व को कार्य में प्रवृत्त करानेवाले परम प्रजापति, तुम्हें प्रणाम है ॥३०॥

प्रकाशहीन अग्नि और चन्द्रमा प्रकाश करेंगे, इसलिए तुम इन दोनों में अपना तेज रखकर रात्रि में अन्तर्हित हो जाते हो ॥३१॥

हे चमकीले सूर्य, तुम्हारे उदय होने पर राक्षस भाग जाते हैं। दस्यु प्रभाव-हीन हो जाते हैं और गुणी आमोद-प्रमोद करते हैं ॥३२॥

तद्रक्ष शरणापन्नं त्रैलोक्यैकप्रदीप माम्।
इदं दुःखान्धकारं मे विदारय दयां कुरु ॥३३॥
इत्यादिभिस्तदा वाक्यैर्भक्त्या स्तुतवतो रविम्।
चन्द्रस्वामिद्विजस्यास्य गगनादुच्चचार वाक् ॥३४॥
तुष्टोऽस्मि चन्द्रस्वामिंस्ते न त्वं वधमवाप्स्यसि।
मत्प्रसादाच्च पुत्रादिसङ्गमस्ते भविष्यति ॥३५॥
इत्युक्तो दिव्यया वाचा जातास्थस्तत्र तस्थिवान्।
चन्द्रस्वामी स शबरोपाहृतस्नानभोजनः ॥३६॥
तावच्च तं महीपालं स्वस्रा युक्तमरण्यगम्।
पितर्यनायत्याक्रन्दविधुरं शङ्कितागुभम् ॥३७॥
ददर्श तेन मार्गेण सार्थवाहः समागतः।
महान् सार्थधरो नाम वृत्तान्तं पृच्छति स्म च ॥३८॥
स तमाश्वास्य कृपया शिशुं दृष्ट्वा सुलक्षणम्।
सार्थवाहो निनाय स्वं देशं स्वसृसमं ततः ॥३९॥
तत्रासीत् स महीपालो बाल्येऽप्यग्निक्रियारतः।
सदने तस्य वणिजः पुत्रस्नेहेन पश्यतः ॥४०॥
एकदा नृपतेर्मन्त्री तारापुरनिवासिनः।
ताराधर्माभिधानस्य कार्यात्तेनागतः पथा ॥४१॥
विवेश सार्थवाहस्य तस्य मित्रं द्विजोत्तमः।
गृहाननन्तस्वामीति महस्त्यश्वपदातिकः ॥४२॥
स विश्रान्तोऽत्र तं दृष्ट्वा महीपालं शुभाकृतिम्।
जपाग्निकार्यादिरतं वृत्तान्तं परिपृच्छ्य च ॥४३॥
अनपत्यो विदित्वा च सवर्णं सार्थवाहतः।
तस्माद्ययाचेऽपत्यार्थी मन्त्री तद् भगिनीं च ताम् ॥४४॥
ततस्तौ तेन वैश्येन दत्तावादाय दारकौ।
सार्थवाहेन सोऽनन्तस्वामी तारापुरं ययौ ॥४५॥
तत्र पुत्रीकृतस्तेन महीपालः स मन्त्रिणा।
तस्थौ तद् भवनेऽप्यस्य विद्याविपुलसम्पदि ॥४६॥
अत्रान्तरे च बद्धं तं चन्द्रस्वामिनमेत्य सः।
भिल्लाधिपः सिंहदंष्ट्रः पल्ल्यां तस्याममाषत ॥४७॥

हे तीनों लोकों के एकमात्र प्रदीप, शरण में आये हुए मेरी रक्षा करो। मेरे इस दुःख-रूपी अँधेरे को नष्ट करो। दया करो' ॥३३॥

इत्यादि स्तुति-वाक्यों द्वारा भक्ति-भाव से सूर्य की प्रार्थना करते हुए चन्द्रस्वामी ब्राह्मण को आकाशवाणी सुन पड़ी—॥३४॥

'हे चन्द्रस्वामिन्, मैं तुझसे प्रसन्न हूँ। तू मारा नहीं जायगा और मेरी कृपा से पुत्र आदि के साथ तेरा मिलन भी होगा' ॥३५॥

दिव्य वाणी द्वारा इस प्रकार कहा गया चन्द्रस्वामी, विश्वासपूर्वक वहाँ भीलों द्वारा लाये गये भोजन, जल आदि ग्रहण कर वहीं ठहरा रहा ॥३६॥

उधर वह महीपाल, छोटी बहन के साथ जंगल में बैठा-बैठा पिता के न आने पर किसी सार्थधर[1] ने अशुभ आशंका से रोने लगा ॥३७॥

इतने में ही उस मार्ग से व्यापारियों का एक दल आ निकला। उस दल के प्रधान सार्थधर[1] ने उस बालक से सारा समाचार पूछा ॥३८॥

वह व्यापारी उस बालक को शुभ लक्षणोंवाला जानकर धीरज बँधा या और उसे बहन के साथ अपने घर ले गया ॥३९॥

वहीं पर बनिये के घर में पुत्र के समान स्नेह को प्राप्त करता हुआ वह महीपाल, बाल्यावस्था में ही, स्नान, सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि क्रिया में निपुण होने के कारण वैश्य के घर में नित्य-क्रिया करता हुआ रहने लगा ॥४०॥

एक बार तारापुर के ताराधर्म नामक राजा का मंत्री किसी कार्यवश उसी मार्ग से वहाँ आया ॥४१॥

वह श्रेष्ठ ब्राह्मण मंत्री अनन्तस्वामी, हाथी, घोड़े, नौकर-चाकर आदि के साथ उसी अपने मित्र व्यापारी के घर विश्राम के लिए ठहर गया ॥४२॥

उस घर में ठहरे हुए उसने सुन्दर आकृतिवाले जप, अग्निहोत्र आदि में लगे हुए महीपाल को देखा और उसका परिचय पूछा ॥४३॥

उस सन्तानहीन मन्त्री ने, व्यापारी से उसका परिचय पाकर और उसे ब्राह्मण जानकर, उसे अपना पोष्य-पुत्र बनाने के लिए उसकी बहन के साथ उसे माँग लिया ॥४४॥

तब वह मन्त्री अनन्तस्वामी, व्यापारी से, उन बालकों को, लेकर, तारापुर चला आया ॥४५॥

वहाँ विधिवत् पुत्र बनाया हुआ महीपाल विद्या और धन से भरे हुए उसके घर में सुखपूर्वक रहने लगा ॥४६॥

इसी बीच भीलों का राजा सिंहदंष्ट्र उस ग्राम में आकर और चन्द्रस्वामी के पास जाकर बोला—॥४७॥

---

१. सौदागरों का मुखिया, सरदार।

ब्रह्मन् स्वप्नेऽहमादिष्टस्तथा देवेन भानुना।
यथा सम्पूज्य भोक्तव्यो न हन्तव्यो मया भवान् ॥४८॥
तदुत्तिष्ठ व्रज स्वेच्छमित्युक्त्वा स मुमोच तम्।
प्रत्तमुक्तामृगमदं क्लृप्तारण्यानुयात्रिकम् ॥४९॥
सोऽथ मुक्तस्ततश्चन्द्रस्वामी तमनुजायुतम्।
अप्राप्यारण्यतः पुत्रं महीपालं गवेषयन् ॥५०॥
भ्रमन्नब्धेस्तटे प्राप्य नाम्ना जलपुरं पुरम्।
प्रविवेशातिथिर्भूत्वा गृहं विप्रस्य कस्यचित् ॥५१॥
तत्र मुक्तोत्तराख्यातस्ववृत्तान्तं समासतः।
तं स विप्रो गृहपतिश्चन्द्रस्वामिनमभ्यधात् ॥५२॥
वणिक्कनकवर्माख्योऽतीतेष्वागाद्दिनेष्विह।
तेनाटव्यां स्वसृसखः प्राप्तो ब्राह्मणदारकः ॥५३॥
तौ चादायातिभव्यौ द्वौ दारकौ स इतो गतः।
नारिकेलमहाद्वीपे नोक्तं तन्नाम तेन तु ॥५४॥
तच्छ्रुत्वा मामकावेव नूनं ताविति चिन्तयन्।
चन्द्रस्वामी मतिं चक्रे गन्तुं द्वीपवरं सतम् ॥५५॥
नीत्वा च रात्रिमन्विष्य वणिजा विष्णुवर्मणा।
स व्यधात् सङ्गतिं द्वीपं नारिकेलं प्रयास्यता ॥५६॥
तेनैव च महारुह्य यानपात्रं जगाम सः।
चन्द्रस्वामी सुतस्नेहाद् द्वीपमब्धिपथेन तम् ॥५७॥
तत्र पृच्छन्तमूचुस्तं वणिजस्तन्निवासिनः।
वणिक्कनकवर्माख्यः काममासीदिहागतः ॥५८॥
सुरूपावटवीप्राप्तावादाय द्विजदारकौ।
गतः कटाहद्वीपं तु नद्युक्तः स इतोऽधुना ॥५९॥
तच्छ्रुत्वा स ततो विप्रो वणिजा दानवर्मणा।
पोतेन गच्छता साकं कटाहद्वीपमभ्यगात् ॥६०॥
तत्रापि स द्विजोऽश्रौषीद् गतं तं वणिजं ततः।
द्वीपात् कनकवर्माणं द्वीपं कर्पूरसंज्ञकम् ॥६१॥
एवं क्रमेण कर्पूरसुवर्णद्वीपसिंहलान्।
वणिग्भिः सह गत्वापि तं प्राप वणिजं न सः ॥६२॥

हे ब्रह्मदेव, मुझे स्वप्न में भगवान् भास्कर ने आदेश दिया है कि मैं तुम्हें सत्कृत करके छोड़ दूँ। तुम्हारा वध न करूँ ॥४८॥

इसलिए, उठो और जहाँ चाहो, जाओ।' ऐसा कहकर भील ने, चन्द्रस्वामी को मोती और कस्तूरी देकर जंगल में मार्ग बतानेवाले सेवकों के साथ आदरपूर्वक विदा कर दिया ॥४९॥

तब वह चन्द्रस्वामी छोटी बहन के साथ, अपने पुत्र महीपाल को ढूंढ़ता हुआ उन्हें जंगल में न पाकर घूमते-घामते समुद्र के किनारे जलपुर नामक नगर में जा पहुँचा। वहाँ जाकर वह किसी ब्राह्मण के घर में अतिथि के रूप में ठहर गया ॥५०–५१॥

वहाँ पर भोजन के उपरान्त अपना वृत्तान्त सुनाते हुए चन्द्रस्वामी से गृह के स्वामी ब्राह्मण ने कहा—॥५२॥

'पिछले दिनों में कनकवर्मा नाम का एक व्यापारी बनिया यहाँ आया था। उसने जंगल में छोटी बहन के साथ एक ब्राह्मण बालक को प्राप्त किया। वह उन दोनों अति सुन्दर बच्चों को लेकर यहाँ से नारिकेल-द्वीप में गया है, किन्तु उसने उस बालक का नाम नहीं बताया' ॥५३–५४॥

यह सुनकर और वे अवश्य ही मेरे बालक हैं, ऐसा सोचकर चन्द्रस्वामी ने, नारिकेल-द्वीप जाने का विचार किया ॥५५॥

किसी प्रकार रात्रि व्यतीत कर उसने प्रातःकाल ही नारिकेल-द्वीप जाते हुए वणिक् विष्णुवर्मा से अपना ताल-मेल बैठाया ॥५६॥

और, उसी के साथ नाव में बैठकर चन्द्रस्वामी, बच्चों के प्रेम से, समुद्र-मार्ग द्वारा नारिकेल-द्वीप को गया ॥५७॥

वहाँ पर कनकवर्मा को पूछते हुए उसे वहाँ के व्यापारी बनियों ने बताया कि कनकवर्मा नाम का व्यापारी, जंगल में मिले हुए दो सुन्दर ब्राह्मण-बालकों को लेकर यहाँ आया अवश्य था, किन्तु इस समय वह उन बच्चों के साथ यहाँ से कटाह-द्वीप को चला गया ॥५८–५९॥

व्यापारियों से इस प्रकार सुनकर चन्द्रस्वामी, जलयान द्वारा कटाह-द्वीप जाते हुए व्यापारी दानवर्मा के साथ, कटाह-द्वीप को गया ॥६०॥

वहाँ भी उस ब्राह्मण ने सुना कि कनकवर्मा यहाँ से कर्पूर-द्वीप को चला गया। उसी क्रम से कर्पूर, सुवर्ण और सिंहल-द्वीपों में वैश्यों के साथ जाने पर भी वह कनकवर्मा को न पा सका ॥६१–६२॥

सिंहलेभ्यस्तु शुश्राव गतं तं वणिजं निजम्।
देशं कनकवर्माणं चित्रकूटाभिधं पुरम्॥६३॥
ततः कोटीश्वराख्येन वणिजा स समं ययौ।
चन्द्रस्वामी चित्रकूटं तत्पोतोत्तीर्णवारिधिः॥६४॥
तस्मिन् कनकवर्माणं वणिजं तमवाप सः।
आचख्यौ चाखिलं तस्मै स्वोदन्तं दारकोत्सुकः॥६५॥
ततः कनकवर्मा तौ ज्ञातार्त्तिः सोऽस्य दारकौ।
दर्शयामास यौ तेन लब्ध्वा नीतावरण्यतः॥६६॥
चन्द्रस्वामी च तौ यावद्वीक्षते दारकावुभौ।
तावन्नैव तदीयौ तौ तावन्यावेव कौचन॥६७॥
ततः सबाष्पं शोकार्त्तो निराशो विललाप सः।
इयद् भ्रान्त्वापि हा नाप्तो न पुत्रो न सुता मया॥६८॥
धात्रा कुप्रभुणेवाशा दर्शिता मे न पूरिता।
भ्रामितोऽस्मि च मिथ्यैव दूराद्दूरं दुरात्मना॥६९॥
इत्यादि शोचन् वणिजा क्रमान् कनकवर्मणा।
आश्वासितः स तेनाथ चन्द्रस्वामी शुचाऽब्रवीत्॥७०॥
वत्सरेणात्मजौ तौ चेन्न प्राप्स्यामि भुवं भ्रमन्।
ततस्त्यक्ष्यामि तपसा गङ्गातीरे शरीरकम्॥७१॥
इत्युक्तवन्तं तत्रस्थो ज्ञानी कोऽपि तमभ्यधात्।
नारायण्याः प्रसादात्तौ प्राप्स्यस्येवात्मजौ व्रज॥७२॥
तच्छ्रुत्वा स प्रहृष्टात्मा भास्करानुग्रहं स्मरन्।
वणिग्भिः पूजितः प्रायाच्चन्द्रस्वामी पुरात्ततः॥७३॥
ततोऽग्रहारान् ग्रामांश्च चिन्वन् स नगराणि च।
भ्रमन् प्रापैकदा सायं वनं प्रांशुवहुद्रुमम्॥७४॥
तत्र क्षपयितुं रात्रिं कृत्वा वृत्तिं फलाम्बुभिः।
स तस्थौ तरुमारुह्य सिंहव्याघ्रादिशङ्कया॥७५॥
अनिद्रश्च निशीथेऽत्र ददर्श स तरोरधः।
महन्नारायणीमुख्यं मातृचक्रं समागतम्॥७६॥
उपाहारान् समाहृत्य नानारूपान्निजोचितान्।
प्रतीक्षमाणं देवस्य भैरवस्य किलागमम्॥७७॥

सिंहल-द्वीपवालों से उसने सुना कि कनकवर्मा अपने देश चित्रकूट को चला गया। तब चन्द्रस्वामी कोटीश्वर नामक वैश्य के साथ सिंहल से समुद्र पार करके चित्रकूट को आया ॥६३–६४॥

और, वहाँ आकर उसने कनकवर्मा वैश्य को ढूँढ़ लिया। उसके पास जाकर बच्चों के लिए उत्सुक उसने अपना सारा वृत्तान्त सुना दिया ॥६५ ॥

उसकी वेदना का अनुभव करके कनकवर्मा ने उन दोनों बालकों को उसे दिखा दिया, जिन्हें वह जंगल से लाया था ॥६६॥

चन्द्रस्वामी ने, उन दोनों बच्चों को देखा, तो वे उसके बच्चे नहीं थे, बल्कि दूसरे ही कोई थे ॥६७॥

तब शोक सन्तप्त और निराश चन्द्रस्वामी रो पड़ा और विलाप करने लगा—हाय! मैं इतना घूमने पर भी न लड़का पाया, न लड़की ॥६८॥

दुष्ट स्वामी के समान भाग्य ने आशा दी, किन्तु पूरी न की। इस दुराशा ने व्यर्थ ही दूर से दूर भटकाया ॥६९॥

इस प्रकार सोचते हुए चन्द्रस्वामी को कनकवर्मा ने धीरे-धीरे धीरज बँधाया। तब चन्द्रस्वामी शोक से बोला—॥७०॥

'सारी पृथ्वी पर घूमते-भटकते हुए मैंने यदि एक वर्ष के भीतर उन दोनों बच्चों को नहीं पाया, तो मैं गंगा-तीर पर तपस्या करके शरीर त्याग दूँगा' ॥७१॥

इस प्रकार कहते हुए चन्द्रस्वामी से वहाँ बैठे हुए किसी ज्ञानी ने कहा—'नारायणी की कृपा से तू बच्चों को प्राप्त करेगा, जा' ॥७२॥

यह सुनकर प्रसन्नचित्त चन्द्रस्वामी सूर्य भगवान् की कृपा का स्मरण करता हुआ कनकवर्मा द्वारा सत्कार किये जाने पर चित्रकूट नगर से चला ॥७३॥

वह चन्द्रस्वामी, अग्रहारों, ग्रामों और नगरों में भटकता-भटकता सायंकाल बहुत ऊँचे-ऊँचे और घने वृक्षोंवाले एक जंगल में पहुँचा ॥७४॥

वहाँ रात बिताने के लिए, फल और जल से तृप्ति पाकर सिंह, बाघ आदि पशुओं के भय से वह एक वृक्ष पर चढ़कर बैठ गया ॥७५॥

उसे नींद नहीं आई और जागते-ही-जागते उसने आधी रात के समय उस वृक्ष के नीचे देखा कि नारायणी की प्रमुखता में एक मातृचक्र वहाँ आया ॥७६॥

वह मातृचक्र, नाना प्रकार के अपने योग्य आहार लाकर भैरव देव की प्रतीक्षा करने लगा ॥७७॥

चिरयत्यद्य किं देव इति तत्र च मातरः।
नारायणीमथापृच्छन् सा जहास तु नाब्रवीत् ॥७८॥
अतिनिर्बन्धपृष्टा च ताभिस्ताः प्रत्युवाच सा।
लज्जावहं यदप्येतत् सख्यस्तदपि वच्म्यहम् ॥७९॥
अस्तीह सुरसेनाख्यो राजा सुरपुरे पुरे।
तस्य विद्याधरी नाम ख्यातरूपास्ति चात्मजा ॥८०॥
प्रदेयायाश्च तेनास्या राज्ञा रूपसमः श्रुतः।
विमलाख्यस्य तनयो राज्ञो नाम्ना प्रभाकरः ॥८१॥
तस्मै दित्सति तां तस्मिन् राज्ञि तेनापि सा श्रुता।
विमलेन सुता तस्य निजपुत्रानुरूपिका ॥८२॥
ततः स विमलस्तस्मात् सुरसेनादयाचत।
विद्याधरीं दूतमुखात् पुत्रार्थे तां तदात्मजाम् ॥८३॥
सोऽप्यपेक्षितसम्पत्त्या तत्सुताय सुतामदात्।
प्रभाकराय तस्मै तां सुरसेनो यथाविधि ॥८४॥
ततः सा प्राप्य विमलपुराख्यं श्वाशुरं पुरम्।
विद्याधरी समं भर्त्रा शयनीयमगान्निशि ॥८५॥
तत्रासम्भोगसुप्तं सा पतिं सोत्का प्रभाकरम्।
यावन्निरीक्षते तावत्तमपश्यन्नपुंसकम् ॥८६॥
हा हताऽस्मि कथं पण्ढः पतिः प्राप्तो मयेति सा।
शोचन्ती चेतसा रात्रिं राजपुत्री निनाय ताम् ॥८७॥
नपुंसकाय दत्ताहमन्विष्य कथं त्वया।
इति लेखं लिखित्वा च पित्रे सा प्रहिणोत् ततः ॥८८॥
स लेखं वाचयित्वैव विमलेनास्मि वञ्चितः।
छद्मनेत्यगमत् क्रोधं तत्पिता विमलं प्रति ॥८९॥
सुतां नपुंसकायाहं यद्व्याजाद्दापितस्त्वया।
पुत्राय तत्फलं भुङ्क्ष्व पश्य त्वामेत्य हन्म्यहम् ॥९०॥
इति तस्मै स्वलेखेन सन्दिदेश स भूपतिः।
सुरसेनो बलोद्रिक्तो विमलाय महीक्षिते ॥९१॥
विमलश्चाधिगत्यैतं तल्लेखार्थं समन्त्रिकः।
विमृशन् दुर्जये तस्मिन्नोपायं कञ्चिदैक्षत ॥९२॥

'आज भैरव देव क्यों विलम्ब कर रहे हैं,' इस प्रकार माताओं ने नारायणी देवी से पूछा। किन्तु, वह हँसती थी, कुछ बोलती न थी ॥७८॥

उन माताओं द्वारा अत्यन्त आग्रह के साथ पूछे जाने पर नारायणी ने कहा—'यद्यपि यह लज्जाजनक बात है, फिर भी सहेलियो, मैं तुमसे कहती हूँ' ॥७९॥

सूरपुर नगर में सूरसेन नाम का राजा है। सौन्दर्य में प्रसिद्ध उसकी विद्याधरी नाम की कन्या है ॥८०॥

उसे देने की इच्छा करनेवाले राजा सूरसेन ने सुना कि उसके रूप के समान सुन्दर राजा विमल का पुत्र प्रभाकर है ॥८१॥

राजा सूरसेन, प्रभाकर को, कन्या देना चाहता है, यह राजा विमल ने भी सुना। और, उस कन्या को अपने पुत्र के समान ही सुन्दर जानकर राजा विमल ने राजा सेनसूर से दूत भेजकर, उसकी पुत्री विद्याधरी की अपने पुत्र प्रभाकर केलिए माँग की ॥८२–८३॥

सूरसेन ने भी, आवश्यक सम्पत्ति के साथ विमल के पुत्र प्रभाकर को विधिपूर्वक अपनी कन्या प्रदान कर दी ॥८४॥

तब वह कन्या विद्याधरी, अपने श्वशुर के नगर विमलपुर में जाकर अपने पति प्रभाकर के साथ रात्रि में मिली ॥८५॥

वहाँ, उत्कंठिता विद्याधरी ने जब पति प्रभाकर को बिना किसी चेष्टा के सोया देखा, तब उसने आश्चर्य से उसकी परीक्षा की और उसे नपुंसक पाया ॥८६॥

'हाय! हाय! मैं मारी गई, मुझे नपुंसक पति मिला' इस प्रकार सोचती हुई राजकुमारी ने किसी प्रकार रात्रि व्यतीत की ॥८७॥

प्रातःकाल ही उसने पत्र लिखकर अपने पिता के पास भेजा कि तुमने बिना जाँच किये ही मुझे नपुंसक को कैसे दे दिया ॥८८॥

उस पत्र को पढ़कर राजा सूरसेन ने सोचा कि राजा विमल ने मुझे ठग लिया है। इसलिए, उसे क्रोध आ गया और उसने विमल के प्रति क्रोध प्रकट करते हुए उसे यह लिखित सन्देश भेजा कि तूने छल से अपने नपुंसक लड़के के लिए जो मेरी पुत्री को दिला दिया है, अब उसका फल भोगो। मैं सेना लेकर आता हूँ और तुझे मार डालता हूँ ॥८९–९०॥

बल के मद से उन्मत्त सूरसेन ने, राजा विमल के लिए इस प्रकार सन्देश भेज दिया। राजा विमल भी इस सन्देश को पाकर मन्त्रियों के साथ उसके लेख का तत्त्व विचारने लगा; क्योंकि सूरसेन, बल में विमल से अधिक होने के कारण उसके लिए अजेय था ॥९१–९२॥

ततस्तं पिङ्गदत्ताख्यो मन्त्री विमलमभ्यधात्।
एक एवास्त्युपायोऽत्र तं देव श्रेयसे कुरु॥९३॥
अस्ति स्थूलशिरा नाम यक्षस्तस्य च वेद्म्यहम्।
मन्त्रमाराधनं येन वरमिष्टं ददाति सः॥९४॥
तेनोपात्तेन मन्त्रेण यक्षमाराध्य सम्प्रति।
लिङ्गं याचस्व पुत्रार्थं सद्यः शाम्यतु विग्रहः॥९५॥
इत्युक्तो मन्त्रिणा तस्मान्मन्त्रमादाय तं नृपः।
सुतार्थं यक्षमाराध्य स तं लिङ्गमयाचत॥९६॥
तेन सम्प्रति दत्ते च लिङ्गे यक्षेण तत्सुतः।
पुमान्प्रभाकरः सोऽभूद्यक्षस्त्वासीन्नपुंसकः॥९७॥
सा तु विद्याधरी दृष्ट्वा पुमांसं तं प्रभाकरम्।
तेन पत्या सहावाप्तरतसौख्या व्यचिन्तयत्॥९८॥
भ्रान्ताहं मददोषेण न मे भर्ता नपुंसकः।
पुमानेवैष सुभगो नात्र कार्यान्यथा मतिः॥९९॥
इत्यालोच्यैनमेवार्थं लिखित्वा लज्जिता पुनः।
पित्रे सा प्राहिणोल्लेखं शम भेजे न तेन सः॥१००॥
एतं ज्ञात्वा च वृत्तान्तं भैरवेणाद्य कुप्यता।
आनाय्य स स्थूलशिराः शप्तो देवेन गुह्यकः॥१०१॥
लिङ्गत्यागेन पण्डत्वमाश्रितं यत्त्वया ततः।
पण्ढ एव भवाजीवं पुमान् सोऽस्तु प्रभाकरः॥१०२॥
एवं नपुंसकीभूतो गुह्यकः सोऽद्य दुःखभाक्।
प्रभाकरश्च पुरुषीभूतो भोगसुखाय सः॥१०३॥
तदेतेनाद्य कार्येण देवस्यागमने मनाक्।
जातो विलम्बः क्षिप्राच्च जानीतागतमेव तम्॥१०४॥
इति नारायणी देवी मातृर्याविदब्रवीति सा।
देवश्चक्रेश्वरस्तावदाययौ सोऽत्र भैरवः॥१०५॥
सम्पूजितश्च सर्वाभिरुपहारैः स मातृभिः।
ताण्डवेन क्षणं नृत्यन्नक्रीडद्योगिनीसखः॥१०६॥
तच्च सर्वं तरोः पृष्ठाच्चन्द्रस्वामी विलोकयन्।
नारायण्या ददर्शैकां दासीं सापि तमैक्षत॥१०७॥

जब उसे कोई उपाय नहीं सूझा, तब पिंगदत्त नामक मन्त्री ने राजा विमल से कहा--'स्वामिन्, एक ही उपाय कल्याण के लिए है। उसे करो ॥९३॥

स्थूलशिरा नाम का एक यक्ष है। उसका मन्त्र और आराधना-विधि मैं जानता हूँ, जिससे वह अभीष्ट वर देता है ॥९४॥

उसके मन्त्र को ग्रहण करके उससे पुत्र के लिए जननेन्द्रिय की याचना करो। इससे विरोध दूर होजायगा' ॥९५॥

मन्त्री के इस प्रकार कहने पर राजा ने उससे मन्त्र ग्रहण किया और उससे यक्ष की आराधना करके पुत्र के लिए जननेन्द्रिय की याचना की ॥९६॥

उस यक्ष द्वारा जननेन्द्रिय प्राप्त हो जाने पर, वह नपुंसक पुत्र प्रभाकर पूर्ण पुरुष हो गया, किन्तु वह यक्ष नपुंसक हो गया ॥९७॥

अब वह विद्याधरी, प्रभाकर को पुरुषत्व से युक्त देखकर और उसके साथ यौन सुख का आनन्द लेकर सोचने लगी---॥९८॥

मैं अपने यौवन-मद से भूल कर गई। मेरा पति नपुंसक नहीं है। यह तो पूर्ण पुरुष है। अतः, इसके सम्बन्ध में विपरीत मति नहीं करनी चाहिए ॥९९॥

इस प्रकार विचार कर और इसी बात को पुनः पिता को लिखकर, साथ ही लज्जित होकर भी उसने यह सन्देश भेजा, जिससे उसका पिता शान्त हो गया ॥१००॥

यह समाचार सुनकर आज क्रुद्ध हुए भैरव ने स्थूलशिरा यक्ष को बुलाकर शाप दिया--॥१०१॥

कि जननेन्द्रिय का त्याग करने से तूने नपुंसकता धारण की है, अतः अब तू आजीवन नपुंसक ही बना रहेगा और वह प्रभाकर सदा के लिए पुरुष हो जायगा ॥१०२॥

इसलिए, नपुंसक बना हुआ वह यक्ष आज बहुत दुःखी है और प्रभाकर भोग-सुख के लिए पुरुष बनकर सुखी है ॥१०३॥

इसी काम से आज भैरव को आने में कुछ विलम्ब होगया है। किन्तु, फिर भी उन्हें आया ही समझो ॥१०४॥

नारायणी देवी जबतक उन योगिनी माताओं को यह कह रही थी कि इतने में ही चक्रेश्वर भैरवदेव, आ ही गये और उन योगिनियों ने, लाये हुए सभी उपहारों से उनका पूजन किया। भैरव ने भी कुछ समय तक उन योगिनियों के साथ तांडव नृत्य किया ॥१०५-१०६॥

चन्द्रस्वामी ने वृक्ष पर बैठे-बैठे यह सब कुछ दृश्य देखते हुए नारायणी की एक दासी को देखा। उसने भी चन्द्रस्वामी को देखा॥१०७॥

अन्योन्यसाभिलाषौ च दैवाद्द्वौ तौ बभूवतुः।
सा च नारायणी देवी तथाभूतौ विवेद तौ॥१०८॥
गतेऽथ मातृसहिते भैरवे सा विलम्ब्य तम्।
नारायणी पादपस्थं चन्द्रस्वामिनमाह्वयत्॥१०९॥
अवरुह्यागतं तं च स्वदासीं तां च सा ततः।
पप्रच्छ कच्चिदन्योन्यमभिलाषोऽस्ति वामिति॥११०॥
अस्ति देवीति विज्ञप्ता ताभ्यां तथ्यं ततश्च सा।
देवी विमुक्तकोपा तं चन्द्रस्वामिनमभ्यधात्॥१११॥
सत्येनोक्तेन तुष्टाहं युवयोर्न शपामि वाम्।
ददाम्येतां तु दासीं ते भवतं निर्वृतौ युवाम्॥११२॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्विप्रो देवि यद्यपि चञ्चलम्।
मनो रुणध्मि तदपि स्पृशामि न परस्त्रियम्॥११३॥
मनसः प्रकृतिर्ह्येषा रक्ष्यं पापं तु कायिकम्।
इत्यूचिवांसं तं धीरं विप्रं देवी जगाद सा॥११४॥
प्रीतास्मि ते वरश्चायं पुत्रादीञ्शीघ्रमाप्स्यसि।
इदं चोत्पलमम्लायि विषादिघ्नं गृहाण मे॥११५॥
इत्युक्त्वा नीरजं दत्त्वा चन्द्रस्वामिद्विजस्य सा।
नारायणी सदासीका देवी तस्य तिरोदधे॥११६॥
स च प्राप्तोत्पलो रात्रौ क्षीणायां प्रस्थितस्ततः।
तारापुरं तन्नगरं प्राप विप्रः परिभ्रमन्॥११७॥
यत्रास्य स स्थितः पुत्रो महीपालः सुता च सा।
अनन्तस्वामिनस्तस्य गृहे विप्रस्य मन्त्रिणः॥११८॥
तत्र गत्वा स तस्यैव मन्त्रिणो भोजनेप्सया।
द्वारे प्राध्ययनं चक्रे श्रुत्वा तमतिथिं प्रियम्॥११९॥
स च मन्त्री प्रतीहारैरावेद्यान्तः प्रवेशितम्।
न्यमन्त्रयत दृष्ट्वैव विद्वांसं भोजनाय तम्॥१२०॥
निमन्त्रितोऽथ स श्रुत्वा तत्र पापहरं सरः।
चन्द्रस्वामी ययौ स्नातुमनन्तह्रदसंज्ञकम्॥१२१॥
आगच्छति ततः स्नात्वा यावत्तावत्समन्ततः।
हाकष्टशब्दं शुश्राव नगरे तत्र स द्विजः॥१२२॥

दैवयोग से वे दोनों परस्पर अभिलाषा-युक्त हो गये और नारायणी देवी ने दोनों के भाव को ताड़ लिया ॥१०८॥

तदनन्तर, माताओं के साथ भैरव के चले जाने पर नारायणी कुछ विलम्ब करके वहीं रुक गई और उसने वृक्ष पर बैठे हुए चन्द्रस्वामी को बुलाया ॥१०९॥

नारायणी देवी ने वृक्ष से उतरकर आये हुए चन्द्रस्वामी तथा उस दासी दोनों से पूछा कि 'क्या तुम दोनों को परस्पर मिलने की अभिलाषा है?' ॥११०॥

'हाँ देवि, है।' ऐसा उन दोनों ने सत्य-सत्य कह दिया। तब नारायणी देवी ने क्रोध-रहित होकर चन्द्रस्वामी से कहा—'तुम लोगों ने सत्य कहा, इसलिए शाप नहीं देती हूँ, वरन् तुझे यह दासी देती हूँ। तुम दोनों सुखी रहो' ॥१११–११२॥

यह सुनकर वह ब्राह्मण बोला— 'भगवती, यद्यपि मैं चंचल मन को रोकता हूँ। किसी परस्त्री का स्पर्श नहीं करता। यद्यपि चंचलता मन की प्रकृति है, तथापि शारीरिक पाप से उसकी रक्षा करनी चाहिए।' इस प्रकार कहते हुए उस धीर ब्राह्मण से नारायणी देवी ने कहा—'बेटा, तुझ पर प्रसन्न हूँ और मेरा तो कहना है कि अपने बच्चों को प्राप्त कर और यह कभी न म्लान होनेवाला कमल तुझे देती हूँ, जो विष आदि को दूर करता है। इसे ले' ॥११३–११५॥

इस प्रकार कहकर और चन्द्रस्वामी को कमल देकर वह नारायणी देवी दासी के साथ अन्तर्धान हो गई ॥११६॥

वह चन्द्रस्वामी देवी के दिये हुये कमल को पाकर और रात्रि के व्यतीत होने पर वहाँ से चलकर घूमते-फिरते तारापुर नगर पहुँचा ॥११७॥

वहाँ पर उसका पुत्र महीपाल और कन्या राजा के ब्राह्मण-मन्त्री अनन्तस्वामी के यहाँ ठहरे हुए थे ॥११८॥

इस नगर में जाकर वह चन्द्रस्वामी उसी मन्त्री के घर भोजन प्राप्त करने की इच्छा से गया और उसे अतिथि-प्रिय जानकर उसके द्वार पर बैठकर वेदपाठ करने लगा। द्वारपालों द्वारा सूचना देकर अन्दर ले जाये गये चन्द्रस्वामी को मन्त्री अनन्तस्वामी ने, भोजन के लिए आमन्त्रित किया ॥११९–१२०॥

वह निमन्त्रित चन्द्रस्वामी पाप हरण करनेवाले अनन्तह्रद नामक सरोवर में स्नान करने के लिए गया ॥१२१॥

जब वह स्नान करके आया, तब इतने में ही उसे 'हाय! हाय! बहुत दुःख है', सारे नगर में इस प्रकार का कोलाहल सुनाई पड़ा ॥१२२॥

तत्कारणं च पृच्छन्तं तमेवमवदज्जनः।
इह स्थितो महीपालो नाम ब्राह्मणपुत्रकः॥ १२३॥
अटव्याः सार्थवाहेन प्राप्तः सार्थधरेण सः।
तस्मात् सुलक्षणो दृष्ट्वा याचित्वा भगिनीसखः॥ १२४॥
अनन्तस्वामिना यत्नादिहानीतः स मन्त्रिणा।
पुत्रीकृतश्चापुत्रेण स तेन प्रियतां गतः॥१२५॥
तारावर्मनृपस्येह राष्ट्रस्यास्य च सद्गुणः।
सोऽद्य कृष्णाहिना दष्टस्तेन हाहारवः पुरे॥१२६॥
एतच्छ्रुत्वा स एवैष मत्पुत्र इति चिन्तयन्।
आययौ त्वरितश्चन्द्रस्वामी मन्त्रिगृहं स तत्॥१२७॥
तत्र सर्वैर्वृतं दृष्ट्वा परिज्ञाय च तं सुतम्।
नन्दति स्म स हस्तस्थदेवीदत्तागदोत्पलः॥१२८॥
अढौकयच्च नासायां महीपालस्य तस्य तत्।
नीलोत्पलं तदैवाभूत्तद्गन्धेन स निर्विषः॥१२९॥
उत्तस्थौ च महीपालो निद्रायुक्त इवास्त सः।
पुरे चात्रोत्सवं चक्रे जनः सर्वः सराजकः॥१३०॥
चन्द्रस्वामी च स तदा देवांशः कोऽप्ययमाविति।
अनन्तस्वामिना पौरै राज्ञा चार्थैरपूज्यत॥१३१॥
तस्थौ च तत्रैव सुखं मन्त्रिवेश्मनि सोऽर्चितः।
पश्यन्पुत्रं महीपालं सुतां चन्द्रवती च ताम्॥१३२॥
परिज्ञायापि चान्योन्यं तूष्णीं तस्थुस्त्रयोऽपि ते।
कुर्वन्त्यकालेऽभिव्यक्ति न कार्यापेक्षिणो बुधाः॥१३३॥
अथ तस्मै महीपालायान्तः सन्तोषितो गुणैः।
राजा बन्धुमतीं नाम तारावर्मा ददौ सुताम्॥१३४॥
प्रदत्तनिजराज्यार्धे तस्मिन्नेव व्यधात्तदा।
सुखी राज्यभरं कृत्स्नं स नृपोऽनन्यपुत्रकः॥१३५॥
महीपालोऽपि स प्राप्तराज्यः प्रख्याप्य तं निजम्।
पितरं स्वानुजां स्थाने दत्त्वा तस्थौ यथासुखम्॥१३६॥
एकदा तं पिता चन्द्रस्वामी स्वैरमभाषत।
एहि स्वदेशं गच्छावो मातुरानयनाय ते॥१३७॥

इसका कारण पूछने पर लोगों ने उसे बताया कि यहाँ महीपाल नाम का एक ब्राह्मण-कुमार रहता है। उसे व्यापारी सार्थवर ने शून्य जंगल में पाया था। उसके अच्छे लक्षणों को देखकर उसकी बहन के साथ उसे मन्त्री अनन्तस्वामी, व्यापारी से माँग लाये थे और पुत्रहीन मन्त्री ने उसे अपना पुत्र बना लिया था। इसलिए, वह उसका बहुत प्रिय हो गया था ॥१२३–१२५॥

वह सद्गुण बालक यहाँ के राजा का बहुत प्रिय था। उसे आज काले साँप ने काट लिया, इसलिए आज सारे नगर में हाहाकार मच रहा है ॥१२६॥

यह समाचार सुनकर चन्द्रस्वामी ने सोचा कि यह तो मेरा ही पुत्र है। इस प्रकार सोचता हुआ चन्द्रस्वामी शीघ्र ही मन्त्री के घर पर आया ॥१२७॥

वहाँ सब लोगों से घिरे हुए उसे देखकर और पहचानकर हाथ में देवी के दिये हुए ओषधि-रूप कमल को लिया हुए चन्द्रस्वामी प्रसन्न हुआ ॥१२८॥

उसने उस कमल को महीपाल की नाक में लगा दिया, जिससे वह बालक उसी समय विष-हीन हो गया ॥१२९॥

और, इस प्रकार उठ बैठा, मानों नींद में सो रहा था। तब उस नगर में उसके जीवित होने का उत्सव राजा-सहित सारी प्रजा ने मनाया ॥१३०॥

तदनन्तर, चन्द्रस्वामी भी किसी देवता का अवतार है, ऐसा समझा जाकर जनता से और राजा से धन आदि द्वारा सम्मान किया गया ॥१३१॥

वह चन्द्रस्वामी मन्त्री के घर पर अपने पुत्र महीपाल और कन्या चन्द्रवती को देखता हुआ सम्मान के साथ रहने लगा ॥१३२॥

वे तीनों परस्पर एक दूसरे को पहचानते हुए भी मौन रहे। कार्य की अपेक्षा करके बुद्धिमान् व्यक्ति असमय में प्रकट नहीं होते ॥१३३॥

कुछ दिनों के अनन्तर महीपाल के गुणों से मुग्ध राजा तारावर्मा ने, उसे तारावती नाम की अपनी कन्या दे दी ॥१३४॥

और, साथ ही उस पुत्रहीन राजा ने अपने राज्य का आधा भाग और सारे राज्य का भार भी उसे देकर स्वयं शान्ति प्राप्त की ॥१३५॥

महीपाल भी राज्य प्राप्त करके और चन्द्रस्वामी को अपना वास्तविक पिता घोषित करके तथा अपनी छोटी बहन का योग्य पात्र के साथ विवाह कराके सुखपूर्वक रहने लगा ॥१३६॥

एकबार महीपाल के पिता चन्द्रस्वामी ने उससे कहा—'चलो, अपनी माता को लाने के लिए अपने गाँव को चलें ॥१३७॥

राज्यस्थं त्वां हि बुद्ध्वा सा कथं तेनास्मि विस्मृता।
इति क्रुद्धा शपेज्जातु पुत्रातिचिरदुःखिता ॥१३८॥
मातापितृभ्यां शप्तः सन्न जातु सुखमश्नुते।
तथा चैतां पुरावृत्तां वणिक्पुत्रकथां शृणु ॥१३९॥

चक्रखड्गनाम्नोर्वैश्यपुत्रयोः कथा

चक्रो नाम वणिक्पुत्रो धवलाख्येऽभवत्पुरे।
सोऽनिच्छतोरगात्पित्रोः स्वर्णद्वीपं वणिज्यया ॥१४०॥
ततः स पञ्चभिर्वर्षैरुपार्जितमहाधनः।
आगच्छन्नारुरोहाब्धौ वहनं रत्नपूरितम् ॥१४१॥
अल्पावशेषे गन्तव्ये वारिधौ तस्य चोन्नदन्।
उदतिष्ठन् महावातवर्षवेगाकुलोऽम्बुदः ॥१४२॥
पितरावममन्यैष किमायात इतीव तत्।
क्रोधात्प्रवहणं तस्य निर्बभञ्जुर्महोर्मयः ॥१४३॥
तत्स्थाः केऽपि हृतास्तोयैर्मकरैः केऽपि भक्षिताः।
चक्रस्त्वायुर्बलान्नीत्वा तीरे क्षिप्तश्च वीचिभिः ॥१४४॥
तत्रस्थो निःसहः स्वप्न इव रौद्रासिताकृतिम्।
पाशहस्तं ददर्शैकं पुरुषं स वणिक्सुतः ॥१४५॥
तेनोत्क्षिप्य च नीतोऽभूत्स चक्रः पाशवेष्टितः।
दूरं सिंहासनस्थेन पुरुषेणास्थितां सभाम् ॥१४६॥
तस्याज्ञयासनस्थस्य तेनैव स वणिक्सुतः।
नीत्वा पाशभृता लोहमये गेहे न्यवेश्यत ॥१४७॥
तत्रान्तः पीड्यमानं स चक्रः पुरुषमैक्षत।
मूर्ध्नि तप्तेन लौहेन चक्रेण भ्रमतानिशम् ॥१४८॥
कस्त्वं केनाशुभेनेदं तव जीवस्यहो कथम्।
इत्यपृच्छत् स चक्रस्तं सोऽप्येवं प्रत्युवाच तम् ॥१४९॥
खड्गाख्योऽहं वणिक्पुत्रः पित्रोर्यच्च वचो मया।
न कृतं तेन संक्रुद्धौ तौ मामशपतां क्रुधा ॥१५०॥
शिरःस्थायससन्तप्तचक्राभौ नौ दुनोषि यत्।
तदीदृश्येव ते पीडा दुराचार भविष्यति ॥१५१॥
इत्युक्त्वा तौ विरम्योभौ रुदन्तं मामवोचताम्।
मा रोदीरेकमेवास्तु मासं पीडा तवेदृशी ॥१५२॥

तुमको राजा हुए जानकर, उसने मुझे कैसे भुला दिया, यह सोचकर चिरदु:खिता माता क्रोध करके कभी तुम्हें शाप न दे दे ॥१३८॥

माता और पिता से शापित व्यक्ति कभी सुख नहीं पाता, इस सम्बन्ध में एक पुरानी कहानी कहता हूँ, सुनो, ॥१३९॥

चक्र और खड्ग नामक वैश्यपुत्रों की कथा

प्राचीन समय में धवलपुर में चक्र नाम का एक वैश्य-पुत्र था। वह माता-पिता के द्वारा मना किये जाने पर भी, उनकी इच्छा के विरुद्ध व्यापार के लिए सुवर्णद्वीप चला गया ॥१४०॥

पाँच वर्षों में वहाँ से पर्याप्त द्रव्य उपार्जित करके लौटते हुए वह रत्नों से भरी नाव पर चढ़ा ॥१४१॥

जब स्वदेश का किनारा कुछ ही शेष रह गया, तब आकाश में सहसा आँधी-पानी की बौछार के साथ भारी बादल-दल उमड़ पड़ा ॥१४२॥

यह माता-पिता की आज्ञा के विरुद्ध व्यापार करने क्यों आया, मानों इसी क्रोध से समुद्र की ऊँची-ऊँची तरंगों ने उसकी नाव को तोड़-फोड़ डाला ॥१४३॥

नाव में बैठे हुए अनेक व्यक्ति पानी में बह गये, कितनों को मगर निगल गये और आयु शेष रहने के कारण लहरों ने चक्र को किनारे पर ला पटका ॥१४४॥

किनारे पर बेहोश और असहाय पड़े हुए स्वप्न में जैसे उसने हाथ में फाँस लिये हुए एक भयंकर पुरुष को देखा ॥१४५॥

वह पुरुष चक्र को पाश से बाँधकर एक सभा में ले गया, जहाँ दूर पर एक व्यक्ति सिंहासन पर बैठा था ॥१४६॥

उसी सिंहासन पर बैठे हुए व्यक्ति की आज्ञा से पाशधारी पुरुष ने, उसे एक लोहे की कोठरी में पटक दिया ॥१४७॥

उस कोठरी के अन्दर चक्र ने, शिर पर घूमते हुए लोहे के गरम चक्र से पीड़ित एक दूसरे पुरुष को देखा ॥१४८॥

और पूछा—'तू कौन है तथा इस कष्ट से किस प्रकार तू जी रहा है?' तब उसने कहा—॥१४९॥

"मैं खड्ग नाम का वैश्यपुत्र हूँ। मैंने माता-पिता की बात नहीं मानी, इससे क्रुद्ध होकर उन्होंने मुझे शाप दिया कि तू शिर पर रखे हुए लोहे के चक्र के समान हम लोगों को त्रास देता है, इसलिए हे दुराचारी, तुझे भी ऐसी ही अदृश्य पीड़ा होगी ॥१५०-१५१॥

ऐसा कहकर और रोते हुए मुझे रोककर वे बोले—'रोओ मत, ऐसी पीड़ा तुझे केवल एक मास तक ही होगी' ॥१५२॥

तच्छ्रुत्वाहं शुचा नीत्वा तद्दिनं शयनाश्रितः।
निशि स्वप्न इवाद्राक्षं भीमं पुरुषमागतम् ॥१५३॥
तेनादाय बलेनाहमस्मिँल्लोहमये गृहे।
क्षिप्तो न्यस्तं च मे मूर्ध्नि ज्वलच्चक्रमिदं भ्रमत् ॥१५४॥
इति मे पितृशापोऽयं तेन प्राणा न यान्ति मे।
स च मासोऽद्य सम्पूर्णो न च मुच्ये तथाप्यहम् ॥१५५॥
इत्युक्तवन्तं तं खड्गं स चक्रः सकृपोऽब्रवीत्।
पित्रोः प्रवसतार्थार्थं मयापि न कृतं वचः ॥१५६॥
प्राप्तं नङ्क्ष्यति ते वित्तमिति मां शपतः स्म तौ।
तेनाब्धौ मे धनं नष्टं कृत्स्नं द्वीपान्तरार्जितम् ॥१५७॥
एषैव वार्त्ता चान्यत्र तत्कोऽर्थो जीवितेन मे।
देह्येतन्मूर्ध्नि मे चक्रं खड्ग शापोऽप्ययातु ते ॥१५८॥
इति चक्रे वदत्येव वाणी दिव्यात्र शुश्रुवे।
खड्ग मुक्तोऽसि चक्रस्य मूर्ध्न्येतच्चक्रमर्पय ॥१५९॥
तच्छ्रुत्वा चक्रशिरसि न्यस्तचक्रस्तदैव सः।
खड्गः केनाप्यदृश्येन निन्ये पितृगृहं ततः ॥१६०॥
तत्रासीत् स पुनः पित्रोरनुल्लङ्घितशासनः।
चक्रस्त्वादाय तन्मूर्ध्नि चक्रं तत्रैवमभ्यधात् ॥१६१॥
पापिनोऽन्येऽपि मुच्यन्तां पृथ्व्यां तत्पातकैरपि।
आ पापक्षयमेतन्मे चक्रं भ्राम्यतु मूर्धनि ॥१६२॥
इत्युक्तवन्तं तं चक्रं धीरसत्त्वं नभःस्थिताः।
पुष्पवृष्टिमुचो देवाः परितुष्यैवमब्रुवन् ॥१६३॥
साधु साधु महासत्त्व शान्तं करुणयानया।
पापं ते व्रज वित्तं च तवाक्षय्यं भविष्यति ॥१६४॥
इत्युक्तवत्सु देवेषु चक्रस्य शिरसः क्षणात्।
आयसं तस्य तच्चक्रं जगाम क्वाप्यदर्शनम् ॥१६५॥
तथोपेत्याम्बरादेको विद्याधरकुमारकः।
तुष्टेन्द्रप्रेषितं दत्त्वा महार्घं रत्नसञ्चयम् ॥१६६॥
अङ्के कृत्वैव तं चक्रं नगरं धवलाभिधम्।
निजं तत्प्रापयामास जगाम च यथागतम् ॥१६७॥

यह सुनकर उस दिन को मैंने बड़े दुःख के साथ बिताया और रात में स्वप्न के समान आये हुए एक भयंकर पुरुष को देखा ॥१५३॥

उस पुरुष ने मुझे बलपूर्वक उठाया और इस लोहे की कोठरी में लाकर पटक दिया और तब मेरे शिर पर इस घूमते हुए गरम चक्र को लगा दिया ॥१५४॥

इस प्रकार, यह मुझे मेरे माता-पिता का शाप है। मेरे प्राण ही नहीं निकल रहे हैं, यद्यपि भयंकर वेदना हो रही है। शाप की अवधि का एक मास आज पूरा होगया, फिर भी मैं इस कष्ट से नहीं छूट रहा हूँ" ॥१५५॥

इस प्रकार कहते हुए खड्ग से दयालु चक्र बोला—'धन के लिए द्वीपान्तर जाते हुए मैंने माता-पिता की बात नहीं मानी थी, तो उन्होंने शाप दिया था कि तेरा कमाया हुआ भी धन नष्ट हो जायगा। इसी कारण द्वीपान्तर से कमाया हुआ मेरा सारा धन समुद्र में डूब गया। ॥१५६–१५७॥

यही वृत्तान्त मेरा है। अब इस जीवन मे क्या लाभ है! इस चक्र को मेरे शिर पर रख दो। तुम्हारा शाप नष्ट हो' ॥१५८॥

वह जब इस प्रकार कहा ही रहा था कि इतने में उसने आकाशवाणी सुनी कि 'हे खड्ग, तू छूट गया। इस चक्र को चक्र के शिर पर रख दे' ॥१५९॥

यह सुनकर अपने शिर के चक्र को चक्र के शिर पर रखकर, खड्ग किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा पिता के घर ले जाया गया ॥१६०॥

अब वह अपने घर में माता-पिता की आज्ञा का पालन करता हुआ रहने लगा। उधर चक्र को शिर पर लेकर चक्र ने यह कहा—'पृथ्वी पर और जो भी मेरे समान पापी हों, वे पाप से छूट जाँय, जबतक पापों का नाश न हो, तबतक यह चक्र मेरे शिर पर घूमता रहे' ॥१६१–१६२॥

इस प्रकार के धैर्यशाली चक्र पर आकाश से देवताओं ने पुष्पों की वर्षा की और वे प्रसन्न होकर बोले—॥१६३॥

'हे महापुरुष, ठीक है, ठीक है, तेरी इस अपार करुणा से तेरे पाप नष्ट हो गये। अब जाओ, तुम्हारे पास अक्षय धन होगा ॥१६४॥

देवताओं के इस प्रकार कहने पर चक्र के शिर से वह लोहे का जलता चक्र अदृश्य हो गया ॥१६५॥

और, आकाश से उतरकर आये हुए एक विद्याधर ने इन्द्र द्वारा भेजे गये अमूल्य रत्नों का ढेर उसे दिया ॥१६६॥

और, चक्र को गोद में उठाकर, उसे उसके धवलपुर में पहुँचाकर वह विद्याधर जैसे आया था, वैसे ही चला गया ॥१६७॥

सोऽथ चक्रोऽन्तिकं पित्रोः प्राप्यानन्दितबान्धवः।
तस्थावाख्यातवृत्तान्तस्तत्र धर्मापरिच्युतः ॥१६८॥
इत्याख्याय महीपालं चन्द्रस्वाम्यवदत् पुनः।
इदृक्पापफलं पुत्र मातापित्रोर्विरोधनम् ॥१६९॥
कामधेनुस्तु तद्भक्तिस्तत्राप्येतां कथां शृणु।

गर्विणो मुनेः पतिव्रताया धर्मव्याधस्य च कथा

आसीत्कोऽपि मुनिः पूर्वं वनचारी महातपाः ॥१७०॥
तरुच्छायोपविष्टस्य तस्योपरि बलाकया।
विष्ठा कदाचिन्मुक्ताभूत्सोऽथ क्रुद्धो ददर्श ताम् ॥१७१॥
दृष्टमात्रैव सा तेन बलाका भस्मसादभूत्।
तपःप्रभावाहङ्कारं स च भेजे ततो मुनिः ॥१७२॥
एकदा नगरे क्वापि स ब्राह्मणगृहं मुनिः।
एकं प्रविश्य गृहिणीं तत्र भिक्षामयाचत ॥१७३॥
प्रतीक्षस्व मनाग्भर्तुः परिचर्यां समापये।
इति तं सा च गृहिणी निजगाद पतिव्रता ॥१७४॥
ततस्तं क्रुद्धया दृष्ट्या वीक्षमाणं विहस्य सा।
अभाषत मुने नाहं बलाका मृष्यतामिति ॥१७५॥
श्रुत्वैतत्स मुनिस्तस्थावुपविश्यात्र साद्भुतः।
एतत्कथमिव ज्ञातमनयेति विचिन्तयन् ॥१७६॥
ततः कृत्वाग्निकार्यादेः शुश्रूषां भर्तुरत्र सा।
साध्वी भिक्षां समादाय तस्यागादन्तिकं मुनेः ॥१७७॥
सोऽथ बद्धाञ्जलिर्भूत्वा मुनिस्तामवदत्सतीम्।
कथं बलाकावृत्तान्तः परोक्षोऽपि मम त्वया ॥१७८॥
ज्ञात इत्यादितो ब्रूहि भिक्षां गृह्णाम्यहं ततः।
इत्युक्तवन्तं तमृषिं सावोचत् पतिदेवता ॥१७९॥
न भर्तृभक्तेरपरं धर्मं कञ्चन वेद्म्यहम्।
तेन मे तत्प्रसादेन विज्ञानबलमीदृशम् ॥१८०॥
किं चेह धर्मव्याधाख्यं मांसविक्रयजीविनम्।
गत्वा पश्य ततः श्रेयो निरहङ्कारमाप्स्यसि ॥१८१॥
एवं सर्वविदा प्रोक्तः स पतिव्रतया मुनिः।
गृहीतातिथिभागस्तां प्रणम्य निरगात्ततः ॥१८२॥

वह चक्र भी माता-पिता को सब वृत्तान्त सुनाकर और बन्धु-बान्धवों को आनन्दित करके अपने धर्म पर दृढ होकर रहने लगा ॥१६८॥

महीपाल को यह कथा सुनाकर चन्द्रस्वामी ने फिर कहा—'माता-पिता के विरोध करने का तो इतना दुष्परिणाम होता है और इनकी भक्ति भी इसी प्रकार कामधेनु है। इस सम्बन्ध में भी कथा सुनो—' ॥१६९–१७०॥

अहंकारी मुनि, पतिव्रता स्त्री और धर्मव्याध की कथा

प्राचीन काल में वन में रहनेवाला एक महातपस्वी मुनि था। एकबार वह वृक्ष की छाया में बैठा था कि उसके शिर पर एक बगुली ने बीट कर दी, तो मुनि ने क्रुद्ध होकर उसे देखा ॥१७०–१७१॥

मुनि के इस प्रकार देखते ही वह बगुली जलकर भस्म हो गई। तब मुनि को अपने तप पर अहंकार उत्पन्न होगया ॥१७२॥

एक बार वह मुनि, भिक्षा के लिए नगर में, एक ब्राह्मण के घर गया। वहाँ जाकर उसने गृहिणी से भिक्षा माँगी ॥१७३॥

पतिव्रता गृहिणी ने कहा—'जरा ठहरो, मैं पति की सेवा समाप्त कर लूं, तो भिक्षा दूं ॥१७४॥

तब क्रोध-भरी दृष्टि से देखते हुए उस मुनि को देखकर वह पतिव्रता हँसकर बोली—'मुनि, मैं बगुली नहीं हूँ। प्रतीक्षा करो' ॥१७५॥

यह सुनकर वह मुनि आश्चर्य के साथ वहाँ बैठकर सोचने लगा कि इस स्त्री ने यह कैसे जान लिया ? ॥१७६॥

तब वह पतिव्रता स्त्री, पति की अग्निहोत्र-सम्बन्धी सेवा समाप्त करके और भिक्षा लेकर मुनि के समीप आई ॥१७७॥

तब वह मुनि हाथ जोड़कर उस सती स्त्री से बोला—'माता, तुमने अपने परोक्ष के इस बगुली के वृत्तान्त को कैसे जान लिया ? ॥१७८॥

यह प्रारम्भ से कहो, तो मैं भिक्षा ग्रहण करूँगा ?' इस प्रकार कहते हुए मुनि से वह पतिव्रता कहने लगी ॥१७९॥

मैं पति-भक्ति के सिवा और दूसरा धर्म नहीं जानती। अतः, उसी की कृपा से मुझे यह विज्ञान-बल मिला है ॥१८०॥

और यहाँ मांस बेचकर जीवन-निर्वाह करनेवाला एक धर्मव्याध है, उससे जाकर मिलो। इससे तुम्हें अहंकार-रहित कल्याण मिलेगा' ॥१८१॥

इस प्रकार उस सर्वज्ञ पतिव्रता से कहा गया वह मुनि भिक्षा लेकर और प्रणाम करके वहाँ से निकला ॥१८२॥

अन्येद्युः स मुनिर्धर्मव्याधमन्विष्य तत्र तम्।
विपणिस्थमुपागच्छत् कुर्वाणं मांसविक्रयम् ॥१८३॥
धर्मव्याधश्च दृष्ट्वैव स तं मुनिमभाषत।
किं पतिव्रतया ब्रह्मन्निह त्वं प्रेषितस्तया ॥१८४॥
तच्छ्रुत्वा विस्मितोऽवादीद्धर्मव्याधमृषिः स तम्।
ईदृशं ते कथं ज्ञानं मांसविक्रयिणः सतः ॥१८५॥
इत्युक्तवन्तं तमृषिं धर्मव्याधो जगाद सः।
मातापित्रोरहं भक्तस्तौ ममैकं परायणम् ॥१८६॥
तयोः स्नपितयोः स्नामि भुञ्जे भोजितयोस्तयोः।
शये शयितयोस्तेन ज्ञानमीदृग्विधं मम ॥१८७॥
मांसं चान्यहतस्याहं मृगादेर्वृत्तये परम्।
स्वधर्मनिरतो भूत्वा विक्रीणे नार्थगर्धतः[1] ॥१८८॥
ज्ञानविघ्नमहङ्कारमहं सा च पतिव्रता।
नैव कुर्वो मुने तेन निर्बाधज्ञानमावयोः ॥१८९॥
तस्मात्त्वमप्यहङ्कारं मुक्त्वा शुद्ध्यै मुनिव्रतः॥
स्वधर्मं चर येनाशु परं ज्योतिरवाप्स्यसि ॥१९०॥
इति तेनानुशिष्टश्च धर्मव्याधेन तद्गृहान्।
गत्वा दृष्ट्वा च तच्चर्यां मुनिस्तुष्टो वनं ययौ ॥१९१॥
सिद्धस्तदुपदेशाच्च सोऽभूत्तावपि जग्मतुः।
सिद्धिं पतिव्रताधर्मव्याधौ तद्धर्मचर्यया ॥१९२॥
एष प्रभावो भक्तानां पत्यौ पितरि मातरि।
तदेहि सम्भावय तां मातरं दर्शनोत्सुकाम् ॥१९३॥
एवं पित्रा महीपालः स चन्द्रस्वामिनोदितः।
प्रतिपेदे स्वदेशाय गन्तुं मात्रनुरोधतः ॥१९४॥
अनन्तस्वामिने सर्वं धर्मपित्रे निवेद्य तत्।
तेनात्तभारः स ततः प्रायात्पितृसखो निशि ॥१९५॥
क्रमात् प्राप्य स्वदेशं च जननीं दर्शनेन ताम्।
अनन्दयद्देवमतिं मधुः पिकवधूमिव ॥१९६॥

---

१. नार्थलोभेनेत्यर्थः। गर्धा=लोभः।

दूसरे दिन वह मुनि, उस नगर में धर्मव्याध को ढूँढ़कर, दूकान पर बैठे हुए और मांस बेचते हुए उससे मिला ॥१८३॥

धर्मव्याध मुनि को देखते ही बोला—'क्या तुम्हें उस पतिव्रता ने भेजा है ?' ॥१८४॥

यह सुनकर आश्चर्य से भरा हुआ ऋषि उस धर्मव्याध से कहने लगा—' मांस बेचनेवाला होकर भी तुझे इतना ज्ञान कैसे हुआ ?' ॥१८५॥

इस प्रकार, पूछते हुए ऋषि से उस धर्मव्याध ने कहा—'मैं एकमात्र माता-पिता का भक्त हूँ। वे ही मेरे देवता हैं ॥१८६॥

उन्हें स्नान कराकर स्नान करता हूँ, उनके भोजन कर लेने पर भोजन करता हूँ और उनके सो जाने पर सोता हूँ, इसलिए मुझे ऐसा ज्ञान है ॥१८७॥

दूसरों के द्वारा मारे गये पशुओं का मांस अपनी आजीविका के लिए बेचता हूँ। यह कार्य भी अपना धर्म (कर्त्तव्य) समझकर करता हूँ, धन कमाने के लिए नहीं। मैं और वह पतिव्रता स्त्री, दोनों ज्ञान के विघ्न अहंकार को पास नहीं फटकने देते। इसलिए, हम लोगों को आसानी से यह ज्ञान होजाता है। ॥१८८—१८९॥

इसलिए, तुम भी मुनियों का व्रत धारण करके अपनी शुद्धि के लिए अहंकार का परित्याग कर अपने धर्म का पालन करो। इससे तुम्हें वह परम प्रकाश प्राप्त हो जायगा ॥१९०॥

इस प्रकार उस धर्मव्याध से आदिष्ट मुनि उसके साथ उसके घर गया और उसकी दिनचर्या से प्रसन्न होकर (तप के लिए) वन को गया ॥१९१॥

उनके उपदेश से मुनि ने सिद्धि प्राप्त की और मुनि की धर्मचर्या से वह पतिव्रता और व्याध भी सिद्धि को प्राप्त हुए ॥१९२॥

माता और पिता में भक्ति रखनेवालों का ऐसा चमत्कारी प्रभाव होता है, इसलिए चलो और तुम्हें देखने के लिए लालायित अपनी माता को धीरज बँधाओ' ॥१९३॥

पिता चन्द्रस्वामी से इस प्रकार कहा गया महीपाल, पिता के अनुरोध से अपने देश जाने को तैयार हुआ ॥१९४॥

महीपाल ने, अपने धर्मपिता से सब बातें करके और राज्य का सारा प्रबन्ध, उसे सौंपकर रात्रि के समय पिता के साथ अपने देश को प्रस्थान किया ॥१९५॥

क्रमशः अपने गाँव में पहुँचकर उस महीपाल ने अपनी माता को उसी प्रकार प्रसन्न किया, जैसे वसन्त कोयल को प्रसन्न करता है ॥१९६॥

कञ्चित्कालं महीपालस्तस्थौ बान्धवसत्कृतः।
तत्र मातृयुतः पित्रा वृत्तान्ताख्यायिना सह॥१९७॥
तावत्तारापुरे तत्र तद्भार्या तु नृपात्मजा।
निशाक्षये बन्धुमती सान्तः सुप्ता व्यबुध्यत॥१९८॥
बुद्ध्वा च तं पतिं क्वापि गतं विरहविक्लवा।
न लेभे सा रतिं क्वापि प्रासादोपवनादिषु॥१९९॥
द्विगुणीकृतहारेण बाष्पेण रुदती परम्।
आसीत् प्रलापैकमयी वाञ्छन्ती मृत्युना सुखम्॥२००॥
यामि कार्येण केनापि शीघ्रमेष्यामि चेति मे।
स्वैरमुक्त्वैव स गतस्तन्मा पुत्रि शुचं कृथा॥२०१॥
इत्याशादर्शिभिर्वाक्यैरनन्तस्वामिना ततः।
मन्त्रिणाश्वासिताभ्येत्य कृच्छ्रात्सा धृतिमाददे॥२०२॥
ततः प्रवृत्तिज्ञानार्थं भर्त्तुर्देशान्तरागतान्।
पूजयन्ती सदैवासीद्दानैः सा द्विजपुङ्गवान्॥२०३॥
तेन सङ्गमदत्ताख्यं दीनं दानागतं द्विजम्।
भर्त्तुः पप्रच्छ सा वार्त्तामुक्त्वाभिज्ञाननामनी॥२०४॥
ततस्तां स द्विजोऽवादीद्दृष्टो नैवंविधो मया।
कश्चित्तथापि देव्यत्र कार्या नैवाधृतिस्त्वया॥२०५॥
चिरादवाप्यतेऽभीष्टसंयोगः शुभकर्मभिः।
तथा च यन्मया दृष्टमाश्चर्यं वच्मि तच्छृणु॥२०६॥
तीर्थान्यटन्नहं प्रापं हिमाद्रौ मानसं सरः।
तत्रादर्शमिवापश्यमन्तर्मणिमयं गृहम्॥२०७॥
ततोऽकस्माच्च निर्गत्य खड्गपाणिः पुमान् गृहात्।
अध्यारोहत्सरस्तीरं दिव्यनारीगणान्वितः॥२०८॥
तत्रोद्याने सह स्त्रीभिः सोऽक्रीडत् पानलीलया।
दूरात् सकौतुकश्चाहं पश्यन्नासमलक्षितः॥२०९॥
तावत्कुतोऽपि तत्रागात् सुभगः पुरुषोऽपरः।
मिलिताय च तत्तस्मै यथादृष्टं मयोदितम्॥२१०॥
दर्शितश्च स सस्त्रीकः पुमान् दूरात्कुतूहलात्।
तद्दृष्ट्वैव स्ववृत्तान्तमेवमाख्यातवान् मम॥२११॥

वह महीपाल बन्धु-बान्धवों से सत्कृत होकर समस्त वृत्तान्त सुनानेवाले पिता के साथ माता के पास कुछ दिनों तक रहा ॥१९७॥

उधर तारापुर में प्रातःकाल शयनागार में सोई हुई महीपाल की पत्नी बन्धुमती उठी ॥१९८॥

और यह जानकर कि 'उसका पति कहीं चला गया है', विरह से व्याकुल होकर महल में, उद्यान में कहीं भी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकी ॥१९९॥

आँसू की धार से हार को दुहरा भारवाला बना करके दिनरात रोती हुई और उसी के नाम पर प्रलाप करती हुई वह मृत्यु में ही सुख मानने लगी ॥२००॥

''मैं किसी कार्य से जा रहा हूँ, शीघ्र ही आऊँगा', ऐसा मुझे गुप्त रूप से कहकर वह महीपाल गया है, इसलिए बेटी, सोच मत करो'' ॥२०१॥

इस प्रकार धीरज देनेवाले मन्त्री अनन्तस्वामी की बातों से किसी प्रकार समझाने-बुझाने पर वह धैर्य रख सकी ॥२०२॥

तब भी पति का समाचार जानने के लिए दूसरे देशों से आनेवाले ब्राह्मणों को वह सदा सत्कार आदि से सन्तुष्ट करती थी ॥२०३॥

एक बार दान लेने के लिए आये हुए संगमदत्त नामक निर्धन ब्राह्मण से उसने चिह्न और नाम बताकर पति का समाचार पूछा ॥२०४॥

तब वह ब्राह्मण उससे बोला कि मैंने ऐसा व्यक्ति कहीं देखा तो नहीं है, तो भी महारानी, तुम्हें अधीर न होना चाहिए ॥२०५॥

प्रिय का समागम शुभ कार्यों के कारण विलम्ब से ही होता है। इस सम्बन्ध में मैंने जो आश्चर्य देखा है, वह तुम्हें कहता हूँ, सुनो ॥२०६॥

एक बार तीर्थ-यात्रा करता हुआ मैं हिमालय पर स्थित मानस-सरोवर में पहुँचा। वहाँ पर मैंने मानों काँच से बने हुए मणि से रचित एक भवन को देखा ॥२०७॥

और देखा कि उस भवन से अकस्मात् ही निकलकर तलवार हाथ में लिये हुए एक पुरुष दिव्य नारियों से युक्त होकर मानस-सर के तट पर गया और मद्यपान आदि करके उन स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करने लगा। मैं भी बड़े ही कौतुक से छिपकर उसे देख रहा था। इतने में ही वहाँ कहीं से दूसरा सुन्दर पुरुष आ निकला। उसके मिलने पर मैंने जो कुछ देखा, सो सब उसे सुनाया ॥२०८—२१०॥

और, उन स्त्रियों-सहित पुरुष को भी उसे दिखाया। यह देखकर उस पुरुष ने अपना वृत्तान्त मुझे इस प्रकार सुनाया—॥२११॥

पुरे त्रिभुवनाख्येऽहं राजा त्रिभुवनाभिधः।
तत्र मे सुचिरं सेवामेकः पाशुपतो व्यधात् ॥२१२॥
....।
....॥२१३॥
स पृष्टः कारणं स्वैरं बिलखड्गप्रसाधने।
सहायं प्रार्थयत मां प्रतिपन्नं मया च तत् ॥२१४॥
ततो मया सहारण्यं गत्वा होमादिना निशि।
प्रकटीकृत्य विवरं स मां पाशुपतोऽभ्यधात् ॥२१५॥
वीर प्रविश पूर्वं त्वं खड्गं प्राप्य च मामपि।
प्रवेशयेस्त्वं निर्गत्य समयं चात्र मे कुरु ॥२१६॥
इत्युक्तस्तेन तस्याहं कृत्वा समयमाशु तत्।
प्रविश्य विवरं प्रापमेकं रत्नमयं गृहम् ॥२१७॥
ततो निर्गत्य मां चैका प्रधानासुरकन्यका।
अन्तः प्रावेशयत्प्रेम्णा प्रादात्खड्गं च सात्र मे ॥२१८॥
सर्वसिद्धिप्रदमिमं खड्गं खगतिदायिनम्।
रक्षेरित्युक्तवत्याहं तया तत्रावसं सह ॥२१९॥
स्मृत्वाथ खड्गहस्तोऽहं निर्गत्य विवरेण तम्।
प्रावेशयं पाशुपतं तस्मिन्नसुरमन्दिरे ॥२२०॥
तत्राहमाद्यया साकं तया सपरिवारया।
सोऽपि द्वितीयया साकमासीदसुरकन्यया ॥२२१॥
एकदा पानमत्तस्य स मे पाशुपतश्छलात्।
हृत्वा पार्श्वस्थितं खड्गमकरोन्निजहस्तगम् ॥२२२॥
तस्मिन् हस्तस्थिते लब्धमहासिद्धिः स पाणितः।
मामादायैव निष्काल्य विवरात् प्राक्षिपद्बहिः ॥२२३॥
ततो द्वादशवर्षाणि मया त्रिलसुखेषु सः।
गवेषितः कदाचित्तं निर्गतं प्राप्नुयामिति ॥२२४॥
सोऽयमद्येह मे दृष्टिपथे निपतितः शठः।
मदीययैतया साकं क्रीडन्नसुरकन्यया ॥२२५॥
इति यावत्त्रिभुवनः स राजा देवि वक्ति माम्।
तावत्पानमदान्निद्रामगात्पाशुपतोऽत्र सः ॥२२६॥

त्रिभुवनपुर नामक नगर में मैं त्रिभुवन नाम का राजा था। वहाँ पर एक पाशुपत (शैव) ने बहुत दिनों तक मेरी सेवा की ॥२१२॥

२१३वाँ श्लोक त्रुटित है ॥१३॥

एकबार मैंने एकान्त में उसकी सेवा का कारण पूछा, तो उसने गुफा-स्थित खड्ग (तलवार) की सिद्धि के लिए मेरी सहायता माँगी और मैंने उसे स्वीकार भी किया ॥२१४॥

तब उसने मेरे साथ जंगल में जाकर रात्रि में हवन आदि करके एक गुफा प्रकट की और मुझसे कहा—॥२१५॥

'हे वीर, पहले इस गुफा में प्रवेश करो। प्रवेश करने पर तुम्हें एक खड्ग मिलेगा। तब तुम बाहर निकलकर मुझे भी अन्दर ले जाना। मेरे साथ प्रतिज्ञा करो ॥२१६॥

उसके इस प्रकार कहने पर मैं प्रतिज्ञा करके उसके साथ उस बिल में घुसा और वहाँ जाकर मैंने रत्नों से बना एक भवन देखा ॥२१७॥

तब उस भवन से निकलकर एक असुर-कन्या मुझे प्रेम से अन्दर ले गई और वहाँ पर उसने मुझे एक खड्ग प्रदान किया ॥२१८॥

और कहा, यह खड्ग सब सिद्धियों को देनेवाला तथा आकाश में गति प्रदान करनेवाला है। भली भाँति इसकी रक्षा करना। ऐसा कहती हुई उसके साथ मैं वहीं रहा ॥२१९॥

तदनन्तर, पाशुपत के साथ की गई प्रतिज्ञा स्मरण करके खड्ग हाथ में लिये हुए मैं उस बिल से बाहर निकला और मैं अपने साथ उस पाशुपत को भी उस असुर-मन्दिर में ले गया ॥२२०॥

उस मन्दिर में पहली असुर-कन्या के साथ मैं और दूसरी असुर-कन्या के साथ वह पाशुपत रहने लगे ॥२२१॥

एक बार मद्यपान से मत्त पाशुपत ने मेरी, बगल में रखे हुए खड्ग को अपने हाथ में कर लिया। उस खड्ग के हाथ आते ही उस पाशुपत को महान् सिद्धि प्राप्त हुई और उसने मुझे हाथ से पकड़कर उस बिल से बाहर फेंक दिया ॥२२२-२२३॥

तब मैं बारह वर्षों तक बिल के बाहर उसकी प्रतीक्षा करता हुआ बैठा रहा कि कभी वह बाहर निकले और मैं उसे पकड़ूँ ॥२२४॥

सो वह दुष्ट आज मेरी ही असुर-कन्या के साथ क्रीड़ा करता हुआ दीख पड़ा है ॥२२५॥

हे देवि, राजा त्रिभुवन, जब मेरे साथ वार्तालाप कर ही रहा था कि इतने में ही मद्य के नशे में विह्वल पाशुपत पुरुष सो गया ॥२२६॥

सुप्तस्य तस्य गत्वैव पार्श्वात्खड्गं तमग्रहीत्।
स राजा तेन भूयश्च प्रभावं दिव्यमाप्तवान् ॥२२७॥
ततः पाशुपतं पादप्रहारेण प्रबोध्य तम्।
निरभर्त्संयदापन्नं स वीरो नावधीत्पुनः ॥२२८॥
प्राविशच्चासुरपुरं सपरिच्छदया तया।
प्राप्तया स स्वया साकं सिद्ध्यैवासुरकन्यया ॥२२९॥
स च पाशुपतः सिद्धिभ्रष्टः कष्टमगात् परम्।
कृतघ्नाश्चिरसिद्धार्था अपि भ्रश्यन्ति हि ध्रुवम् ॥२३०॥
एतत्साक्षाद्विलोक्याहमिह प्राप्तः परिभ्रमन्।
तद्देवि प्रियसंयोगस्तव भावी चिरादपि ॥२३१॥
यथा त्रिभुवनस्याभूच्छुभकृन्नहि सीदति।
इति तस्माद्द्विजाच्छ्रुत्वा तोषं बन्धुमती ययौ ॥२३२॥
चकार च कृतार्थं तं विप्रं दत्त्वा धनं बहु।
अन्येद्युश्च द्विजोऽपूर्वस्तत्रागाद्दूरदेशजः ॥२३३॥
तं च बन्धुमती सोत्का प्रोक्ताभिज्ञाननामका।
भर्तुर्वार्त्तामपृच्छत्सा सोऽथ तां ब्राह्मणोऽभ्यधात् ॥२३४॥
न स देवि मया दृष्टस्त्वद्भर्त्ता क्वापि किं त्वहम्।
अन्वर्थः सुमनोनामा तवाद्य गृहमागतः ॥२३५॥
तदासु सौमनस्यं ते भावीत्याख्याति मे मनः।
भवत्येव च संयोगश्चिरविश्लेषिणामपि ॥२३६॥
तथा च कथयाम्येनामत्र देवि कथां शृणु।

नलदमयन्तीकथा

निषधाधिपती[1] राजा नलो नामाभवत्पुरा ॥२३७॥
यस्य रूपेण विजितः कामो मन्येऽवमानतः।
कोपितत्रिपुरारातिनेत्राग्नावजुहोत्तनुम् ॥२३८॥
तेनाभार्येण सदृशी भार्याश्चावि विचिन्वता।
दमयन्तीति भीमस्य विदर्भाधिपतेः सुता ॥२३९॥

---

१. अत्रोल्लिखिता नलकथा महाभारतादिवर्णितकथातो किञ्चिदिव भिन्ना विलोक्यते।

तब राजा त्रिभुवन ने सोये हुए उसके पास आकर उस खड्ग को उठा लिया और उसके साथ ही उस राजा को दिव्य प्रभाव भी प्राप्त हो गया ॥२२७॥

तब राजा ने मदोन्मत्त होकर सोये हुए उस पाशुपत को लात मारकर उठाया और खूब डाँटा-फटकारा। किन्तु, वीर होने के कारण राजा ने उसका वध नहीं किया ॥२२८॥

और, सहेलियों के सहित अपनी उस असुर-कन्या के साथ वह बिल में चला गया ॥२२९॥

सिद्धि से भ्रष्ट वह पाशुपत, अत्यन्त दुःखी हुआ। कृतघ्न व्यक्ति चिरकाल में सिद्धि प्राप्त करके भी अवश्य भ्रष्ट हो जाते हैं॥२३०॥

इस घटना को अपनी आँखों से देखकर भ्रमण करता हुआ मैं यहाँ आया हूँ। इसलिए, हे देवि, चिरकाल के बाद भी तुझे पति का समागम अवश्य होगा ॥२३१॥

जैसे कि त्रिभुवन राजा को हुआ। क्योंकि, कल्याण करनेवाला व्यक्ति कभी कष्ट नहीं पाता। इस प्रकार ब्राह्मण का उपदेश सुनकर बन्धुमती को कुछ सन्तोष हुआ ॥२३२॥

और उसने बहुत धन देकर उसे कृतार्थ किया। दूसरे दिन वहाँ दूर देश का रहनेवाला एक और ब्राह्मण रानी के पास आया ॥२३३॥

उत्कंठिता बन्धुमती ने, परिचय और नाम बताकर उससे भी पति का समाचार पूछा। तब उस ब्राह्मण ने उससे कहा—॥२३४॥

हे देवि, मैंने तेरे पति को तो कहीं नहीं देखा, किन्तु यथार्थ नामवाला मैं सुमन तेरे घर पर आया हूँ, इसलिए शीघ्र ही तेरा मन प्रसन्न होगा। ऐसा मेरा मन कहता है। क्योंकि, चिरकाल के वियोगियों का भी समागम होना ही है॥२३५-२३६॥

नल और दमयन्ती की कथा

मैं इस सम्बन्ध में तुझे एक कथा सुनाता हूँ, सुनो। प्राचीन काल में नल नाम का एक राजा था ॥२३७॥

वह राजा इतना सुन्दर था कि उसके रूप से अपमानित होकर कामदेव, मानों (उसी दुःख से) क्रुद्ध शिवजी के नेत्र की आग में जलकर भस्म हो गया ॥२३८॥

पत्नी-रहित उस राजा ने, अपने ही समान सुन्दरी पत्नी की खोज करते हुए विदर्भ देश के राजा भीम की कन्या दमयन्ती का नाम सुना ॥२३९॥

भीमेनापि विचित्य क्ष्मां ददृशे तेन राजसु।
न नलादपरो राजा तुल्यः स्वदुहितुः पतिः॥२४०॥
अत्रान्तरे स्वनगरे दमयन्ती सरोवरम्।
भीमात्मजा जलक्रीडाहेतोरवततार सा॥२४१॥
तत्रैकं राजहंसं सा दृष्ट्वा दष्टोत्पलाम्बुजम्।
बबन्ध क्रीडया बाला युक्तिक्षिप्तोत्तरीयका॥२४२॥
स बद्धो दिव्यहंसस्तामुवाच व्यक्तया गिरा।
राजपुत्र्युपकारं ते करिष्यामि विमुञ्च माम्॥२४३॥
नैषधोऽस्ति नलो नाम राजा हृदि वहन्ति यम्।
सद्गुणैर्गुम्फितं हारमिव दिव्याङ्गना अपि॥२४४॥
तस्य त्वं सदृशी भार्या भर्त्ता स सदृशस्तव।
तदत्र तुल्यसंयोगे कामदूतो भवामि वाम्॥२४५॥
तच्छ्रुत्वा दिव्यहंसं सा मत्वा सत्याभिभाषिणम्।
मुमोच दमयन्ती तमेवमस्त्विति वादिनी॥२४६॥
न मया वरणीयोऽन्यो नलादिति जगाद च।
श्रुतिमार्गप्रविष्टेन तेनापहृतमानसा॥२४७॥
स च हंसस्ततो गत्वा निषधेष्वाशु शिश्रिये।
जलक्रीडाप्रवृत्तेन नलेनाध्यासितं सरः॥२४८॥
नलः स राजा दृष्ट्वा तं राजहंसं मनोरमम्।
बबन्ध स्वोत्तरीयेण लीलाक्षिप्तेन कौतुकात्॥२४९॥
सोऽथ हंसोऽब्रवीन्मुञ्च नृपते मामहं यतः।
इह त्वदुपकारार्थमागतः शृणु वच्मि ते॥२५०॥
विदर्भेष्वस्ति भीमस्य राज्ञः क्षितितिलोत्तमा।
दमयन्तीति दुहिता स्पृहणीया सुरैरपि॥२५१॥
त्वमेव च मदाख्यातगुणो बद्धानुरागया।
तया भर्त्ता वृतस्तच्च तवाहं वक्तुमागतः॥२५२॥
इति हंसोत्तमस्यास्य वचोभिः सत्फलोज्ज्वलैः।
विशिखैश्च स पुष्पेषोर्नलः सममविध्यत॥२५३॥
अब्रवीत् स च हंसं तं धन्योऽहं विहगोत्तम।
यो मनोरथसम्पत्त्या मूर्तयेव वृतस्तया॥२५४॥

सारी पृथ्वी पर ढूंढ़ते हुए राजा भीम को भी राजा नल के सिवा अपनी कन्या के योग्य दूसरा पति नहीं मिला ॥२४०॥

इसी बीच एक बार राजा भीम की कन्या दमयन्ती जलक्रीडा के लिए एक तालाब में उतरी ॥२४१॥

उस सरोवर में उसने, कमल की नाल को खाते हुए एक राजहंस को युक्ति से अपनी चादर फेंककर पकड़ लिया ॥२४२॥

उससे इस प्रकार पकड़ा गया वह दिव्य राजहंस, मनुष्यों की वाणी में उससे कहने लगा– 'हे राजकुमारी, मैं तेरा उपकार करूँगा। मुझे छोड़ दे। निषध देश का राजा नल है। अच्छे गुणों से गूँथे हुए हार के समान जिसे दिव्य रमणियाँ भी हृदय में धारण करती हैं ॥२४३-२४४॥

तू उसके समान पत्नी है और वह तेरे समान पति है। अतः, यह समान पति-पत्नी-संयोग कराने में मैं तेरा प्रणय-दूत बनूंगा' ॥२४५॥

यह सुनकर और उस दिव्य हंस को सत्य बोलनेवाला समझकर, दमयन्ती ने 'ठीक है, तुम दूत बनो' यह कहते हुए उसे छोड़ दिया ॥२४६॥

और बोली कि 'मैं नल के सिवा दूसरे को नहीं करूँगी; क्योंकि उसने, कान के मार्ग से प्रविष्ट होकर, मेरा मन हर लिया है' ॥२४७॥

उस हंस ने वहाँ से चलकर शीघ्र ही जलक्रीडा में लगे हुए नलवाले सरोवर का आश्रय लिया ॥२४८॥

राजा नल ने भी, उस मनोहर राजहंस को देखकर खिलवाड़ के साथ फेंके हुए अपने दुपट्टे से उसे बाँध लिया ॥ २४९॥

तदनन्तर, वह हंस उससे बोला–'राजन्, मुझे छोड़ दो। मैं तो तुम्हारे उपकार के लिए ही यहाँ आया हूँ। सुनो, तुम्हें कहता हूँ—॥२५०॥

विदर्भ देश में राजा भीम की पृथ्वी की तिलोत्तमा और देवताओं से भी चाही जानेवाली दमयन्ती नाम की कन्या है ॥२५१॥

मेरे द्वारा तेरे गुणों का बखान करने पर तुममें सुदृढ़ प्रेम रखनेवाली उस दमयन्ती ने तुझे ही अपने पति के रूप में वरण किया है। यही कहने के लिए मैं आया हूँ' ॥२५२॥

इस प्रकार, शुभ फल को प्रकट करनेवाले हंस के वचनों से और कामदेव के पुष्प-बाणों से वह राजा नल एक साथ ही बिंध गया ॥२५३॥

और उस हंस से बोला–'हे पक्षिश्रेष्ठ, मैं धन्य हूँ, मूर्त्तिमती मनोरथ-सम्पत्ति के समान जिसने मुझे वरण कर लिया है' ॥२५४॥

इत्युक्त्वा तेन मुक्तः स हंसो गत्वा शशंस तत्।
दमयन्त्यै यथावस्तु यथाकामं जगाम च॥२५५॥
दमयन्ती च सोत्कण्ठा युक्त्या मातृमुखेन सा।
पितुः स्वात्प्रार्थयामास नलप्राप्त्यै स्वयंवरम्॥२५६॥
अनुमन्य स तस्याश्च स्वयंवरकृते पिता।
भीमः पृथिव्यां सर्वेषां राज्ञां दूतान्विसृष्टवान्॥२५७॥
प्राप्तदूताश्च निखिला विदर्भान्प्रति भूमिपाः।
व्रजन्ति स्म नलोऽप्युत्को रथारूढश्चचाल सः॥२५८॥
ततश्च दमयन्त्यास्तौ नलप्रेमस्वयंवरौ।
इन्द्रादयो लोकपालाः शुश्रुवुर्नारदान्मुनेः॥२५९॥
तेषां च बलभिद्वायुयमाग्निवरुणास्ततः।
सम्मन्त्र्य दमयन्त्युक्त्या नलस्यैवान्तिकं ययुः॥२६०॥
ऊचुश्च प्राप्य तं प्रह्वं विदर्भान्प्रस्थितं पथि।
गत्वास्मद्वचनाद् ब्रूहि दमयन्तीमिदं नृप॥२६१॥
पञ्चानां वरयैकं नः किं मर्त्येन नलेन ते।
मर्त्या मरणधर्माणस्त्रिदशास्त्वमरा इति॥२६२॥
अस्मद्वराच्च तत्पार्श्वमदृष्टोऽन्यैः प्रवेक्ष्यसि।
तथेत्येनां च देवाज्ञां प्रतिपेदे नलोऽथ सः॥२६३॥
गत्वा चान्तःपुरं तस्याः प्रविश्यादृष्ट एव च।
दमयन्त्याः शशंसैव देवादेशं तथैव तम्॥२६४॥
सा तं श्रुत्वाब्रवीत्साध्वी देवास्ते सन्तु तादृशाः।
तथापि मे नलो भर्त्ता न कार्यं त्रिदशैर्मम॥२६५॥
इति सम्यग्वचस्तस्याः श्रुत्वात्मानं प्रकाश्य च।
नलो गत्वा तथैवैतदिन्द्रादिभ्यः शशंस सः॥२६६॥
वश्या वयमिदानीं ते स्मृतमात्रोपगामिनः।
तथ्यवादिन्निति च ते तुष्टास्तस्मै ददुर्वरान्॥२६७॥
ततो हृष्टे नले याते विदर्भान्वञ्चनेप्सुभिः।
दमयन्त्याः सुरेशाद्यैर्नलरूपमकारि तैः॥२६८॥
गत्वा च भीमस्य सभां मर्त्यधर्मानुपाश्रिताः।
स्वयंवरे प्रस्तुते ते नलान्तिक उपाविशन्॥२६९॥

ऐसा कहकर राजा से छोड़े गये उस हंस ने, उसी समय विदर्भ देश में जाकर दमयन्ती से सच्ची बात बता दी और वह इच्छानुसार चला गया ॥२५५॥

नल के लिए उत्कंठित दमयन्ती ने, माता द्वारा नल की प्राप्ति के लिए पिता से अपना स्वयंवर कराने की प्रार्थना की ॥२५६॥

राजा ने भी, इस बात की स्वीकृति देकर, दमयन्ती के स्वयंवर के लिए, पृथ्वी के सभी राजाओं के पास दूत भेज दिये ॥२५७॥

दूतों के द्वारा स्वयंवर-समाचार प्राप्त होने पर सभी राजा, विदर्भ के प्रति जाने लगे और उत्कंठित नल भी, रथ पर सवार होकर विदर्भ के लिए चला ॥२५८॥

तदनन्तर, नल-दमयन्ती के प्रेम-स्वयंवर का समाचार इन्द्र आदि सभी लोकपालों ने नारद मुनि से सुना। यह सुनकर इन्द्र, वायु, यम, अग्नि, वरुण पाँचों लोकपाल, आपस में सम्मति करके नल के पास गये ॥२५९-२६०॥

और, विदर्भ को जाते हुए विनम्र नल से मार्ग में ही मिलकर वे बोले—'तुम हमारी ओर से हमारे सन्देश दमयन्ती को जाकर सुना दो ॥२६१॥

कि तू हम पाँचों में से किसी एक लोकपाल को वर ले। मानव नल से तुझे क्या सुख मिलेगा? क्योंकि, मनुष्य मरणधर्मा होते हैं और देवता अमर हैं ॥२६२॥

और तू हमारे वरदान से अदृश्य होकर उसके पास जा सकेगा। दूसरे व्यक्ति तुझे न देख सकेंगे।' नल ने देवताओं की इस आज्ञा को 'ठीक है' कहकर मान लिया ॥२६३॥

और, दमयन्ती के भवन में अदृश्य रूप से जाकर उसे देवताओं का सन्देश उसी प्रकार उसने सुना दिया ॥२६४॥

यह सुनकर वह पतिव्रता बोली—'वह देवता भले ही अमर हों, मेरा पति तो नल ही होगा। मुझे देवताओं से क्या प्रयोजन? ॥२६५॥

दमयन्ती का यह उत्तर सुनकर नल ने उसके सामने अपने को प्रकट कर दिया, फिर जाकर इन्द्र आदि लोकपालों से उसका उत्तर उसी प्रकार कह दिया ॥२६६॥

तब प्रसन्न देवताओं ने नल से कहा—'हे सत्यवादी, हमलोग तेरे वश में हैं। तू जब भी हमें स्मरण करेगा, तभी हम तेरे समीप आवेंगे।' इस प्रकार का वर उसे देकर वे देवता चले गये ॥२६७॥

तब नल के प्रसन्न होकर विदर्भ की ओर चले जाने पर दमयन्ती को ठगने की इच्छा से देवताओं ने नल का रूप धारण कर लिया ॥२६८॥

और, राजा भीम की सभा में जाकर मनुष्यों का-सा व्यवहार करनेवाले वे देवता, स्वयंवर प्रारम्भ होने पर, नल के पास ही बैठ गये ॥२६९॥

अथैत्य दमयन्ती सा भ्रात्रा स्वेनैकशो नृपान्।
आवेद्यमानानुज्झन्ती क्रमात् प्राप नलान्तिकम् ॥२७०॥
दृष्ट्वा छायानिमेषादिगुणांस्तत्र च षण्नलान्।
सा भ्रातरि समुद्भ्रान्ते व्याकुला समचिन्तयत् ॥२७१॥
नूनं मे लोकपालैस्तैर्मायेयं पञ्चभिः कृता।
षष्ठं मन्ये नलं त्वत्र न चान्यत्रास्ति मे गतिः ॥२७२॥
इत्यालोच्यैव साध्वी सा नलैकासक्तमानसा।
आदित्याभिमुखी भूत्वा दमयन्त्येवमब्रवीत् ॥२७३॥
भो लोकपालाः स्वप्नेऽपि नलादन्यत्र चेन्न मे।
मनस्तत्तेन सत्येन स्वं दर्शयत मे वपुः ॥२७४॥
वरात्पूर्ववृताच्चान्ये कन्यायाः परपूरुषाः।
परदाराश्च सा तेषां तत्कथं मोह एष वः ॥२७५॥
श्रुत्वैतपञ्च शक्राद्याः स्वेन रूपेण तेऽभवन्।
षष्ठः सत्यनलश्चाभूत्स्वरूपस्थः स भूपतिः ॥२७६॥
तस्मिन् सा दमयन्ती तां फुल्लेन्दीवरसुन्दरीम्।
दृशं वरणमालां च हृष्टा राज्ञि नले न्यधात् ॥२७७॥
पपात पुष्पवृष्टिश्च नभोमध्यात्ततो नृपः।
विवाहमङ्गलं भीमश्चक्रे तस्या नलस्य च ॥२७८॥
विहितोचितपूजाश्च तेन वैदर्भभूभृता।
नृपा यथागतं जग्मुर्देवाः शक्रादयश्च ते ॥२७९॥
शक्रादयस्तु ददृशुर्द्वौ कलिद्वापरौ पथि।
बुद्ध्वा च दमयन्त्यर्थमागतौ तौ च तेऽब्रुवन् ॥२८०॥
न गन्तव्यं विदर्भेषु तत एवागता वयम्।
वृत्तः स्वयंवरो राजा दमयन्त्या नलो वृतः ॥२८१॥
तच्छ्रुत्वैवोचतुः पापौ तौ कलिद्वापरौ रुषा।
देवान्भवादृशांस्त्यक्त्वा यत्स मर्त्यो वृतस्तया ॥२८२॥
तदवश्यं करिष्यावो वियोगमुभयोस्तयोः।
एवं कृतप्रतिज्ञौ तौ निवर्त्य ययतुस्ततः ॥२८३॥
नलश्च सप्त दिवसान् स्थित्वा श्वशुरवेश्मनि।
दमयन्त्या समं वध्वा कृतार्थो निषधानगात् ॥२८४॥

तदनन्तर, अपने भाई के द्वारा एक-एक करके परिचित कराये जाते हुए अनेक राजाओं को छोड़ती हुई दमयन्ती, क्रमशः नल के पास पहुँची ॥२७०॥

वहाँ जाकर छाया (परछाईं), पलक गिरना आदि मानव गुणों से युक्त छह नलों को देखकर भाई के व्याकुल हो जाने पर दमयन्ती सोचने लगी—॥२७१॥

अवश्य ही उन पाँचों लोकपालों ने, यह माया फैलाई है। इसलिए, इनमें छठे को ही मैं वास्तविक नल समझूँ और कोई दूसरा उपाय नहीं है॥२७२॥

ऐसा सोचकर एकमात्र नल में लगे हुए मनवाली दमयन्ती सूर्य की ओर मुंह करके इस प्रकार बोली—॥२७३॥

'हे लोकपालो, यदि स्वप्न में भी मेरा मन नल को छोड़कर किसी दूसरे पुरुष में न गया हो, तो इसी सत्य के प्रभाव से मुझे अपना स्वरूप दिखाओ ॥२७४॥

विवाह से पहले ही वर लिये गये पुरुष के अतिरिक्त कन्या के लिए और सभी पर-पुरुष हैं और दूसरों के लिए, वह कन्या परस्त्री के समान है। तब तुम लोगों का यह कैसा अज्ञान है' ॥२७५॥

यह सुनकर इन्द्र आदि पाँचों लोकपाल, अपने वास्तविक रूप में आ गये और छठा राजा नल, अपने यथार्थ रूप में स्पष्ट हुआ ॥२७६॥

तब प्रसन्न दमयन्ती ने, खिले हुए नीलकमलों के समान अपनी दृष्टि और वरमाला, दोनों ही राजा नल को डाल दिये ॥२७७॥

इतने में आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई। तब राजा भीम ने दमयन्ती का नल के साथ विधिपूर्वक विवाह कर दिया ॥२७८॥

इसके बाद भीम के द्वारा उचित शिष्टाचार और सत्कार किये गये अन्यान्य राजा और इन्द्र आदि देवता भी अपने-अपने स्थानों को गये ॥२७९॥

इन्द्र आदि देवताओं ने जाते हुए मार्ग में द्वापर और कलियुग को देखा। उन दोनों को दमयन्ती के स्वयंवर के निमित्त आये हुए जानकर उनसे वे देवता बोले—॥२८०॥

'अब तुमलोग विदर्भ की ओर न जाओ। हम लोग वहीं से आ रहे हैं। स्वयंवर हो गया और दमयन्ती ने राजा नल को वर लिया ॥२८१॥

यह सुनते ही वे दोनों पापी क्रोध से बोले—'आप लोगों के समान देवताओं को छोड़कर उसने मनुष्य का वरण किया, इसलिए हम उन दोनों का वियोग अवश्य करायेंगे', इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वे दोनों वहीं से लौट गये ॥२८२–२८३॥

उधर राजा नल, सात दिनों तक ससुराल में रहकर, नई वधू दमयन्ती के साथ निषध देश को आ गया ॥२८४॥

तत्रासीत् प्रेम दम्पत्योर्गौरीशर्वाधिकं तयोः।
शर्वस्य गौरी देहार्धं तस्य त्वात्मैव साभवत् ॥२८५॥
कालेन चन्द्रसेनाख्यं दमयन्ती नलात्सुतम्।
प्रसूते स्म तदन्वेकामिन्द्रसेनां च कन्यकाम् ॥२८६॥
तावच्च स कलिश्छिद्रं तस्यानुच्छास्त्रवर्त्तिनः।
नलस्यासीच्चिरं चिन्वन्प्रतिज्ञातार्थनिश्चितः ॥२८७॥
अथैकदानुपास्यैव सन्ध्यामक्षालिताङ्घ्रिकः।
स सुष्वाप नलः पानमदेन मुषितस्मृतिः ॥२८८॥
छिद्रमेतदवाप्यैव दत्तदृष्टिर्दिवानिशम्।
कलिस्तस्य शरीरान्तर्नलस्य प्रविवेश सः ॥२८९॥
तेन देहप्रविष्टेन कलिना स नलो नृपः।
विहाय धर्म्यमाचारमाचचार यथारुचि ॥२९०॥
अक्षैरदीव्यद्दासीभिररंस्तासत्यमब्रवीत्।
असेवत दिवा स्वप्नं स जजागार रात्रिषु ॥२९१॥
चकाराकारणं कोपमन्यायेनार्थमाददे।
अवमानं सतां चक्रे सम्मानमसतां च सः ॥२९२॥
तद्भ्रातरं पुष्कराख्यं तथैवोत्क्रान्तसत्पथम्।
छिद्रं प्राप्य शरीरान्तःप्रविष्टो द्वापरो व्यधात् ॥२९३॥
कदाचित्पुष्कराख्यस्य गृहे तस्यानुजस्य सः।
नलो ददर्श दान्ताख्यं सुन्दरं धवलं वृषम् ॥२९४॥
लोभान्मृगयमानाय तं तस्मै ज्यायसे न सः।
द्वापरग्रस्तत्तद्भक्तिः पुष्कराख्यो वृषं ददौ ॥२९५॥
जगाद तं च यद्यस्ति वाञ्छास्मिन्वृषभे तव।
तद्द्यूतेन विजित्यैनं मत्तः स्वीकुरु मा चिरम् ॥२९६॥
तच्छ्रुत्वा स नलो मोहात् प्रतिपेदे तथेति तत्।
ततः प्रववृते द्यूतं तयोर्भ्रात्रोः परस्परम् ॥२९७॥
पुष्कराख्यस्य स वृषो नलस्येभादयः पणः।
जिगाय पुष्कराख्यश्च नलो मुहुरजीयत ॥२९८॥
दिनैर्द्वित्रैर्बले कोषे हारितेऽपि दुरोदरात्।
न नलो वार्यमाणोऽपि चचाल कलिविप्लुतः ॥२९९॥

यहाँ उन दोनों का प्रेम गौरी और शंकर के प्रेम से भी अधिक था; क्योंकि गौरी, शंकर का आधा (बायाँ) भाग थी, किन्तु दमयन्ती तो नल का सर्वस्व ही, अर्थात् पूरी आत्मा थी ॥२८५॥

कुछ समय के अनन्तर दमयन्ती ने, नल से, पहले चन्द्रसेन नामक पुत्र और उसके उपरान्त इन्द्रसेन नाम की कन्या को जन्म दिया ॥२८६॥

इतने दिनों तक कलियुग अपनी पूर्व प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहकर शास्त्र-मर्यादा का पालन करनेवाले नल का छिद्र (दोष) खोजने में लगा रहा ॥२८७॥

कुछ दिनों के अनन्तर एक बार मद्य के नशे की मस्ती में स्मृतिहीन राजा नल, बिना सन्ध्या किये और बिना पैर धोये ही जाकर सो गया ॥२८८॥

रात-दिन मौका ढूंढ़ते हुए कलि ने यह अच्छा अवसर देखकर नल के शरीर में प्रवेश किया ॥२८९॥

इस प्रकार, कलियुग के अपने शरीर में प्रविष्ट हो जाने से वह नल धार्मिक आचार-विचारों को छोड़कर मनमाना आचरण करने लगा ॥२९०॥

जैसे, जूआ खेलने लगा, दासियों के साथ रमण करने लगा, झूठ बोलने लगा, दिन में सोने और रात्रि में जागने लगा ॥२९१॥

बिना कारण क्रोध करने लगा, अन्याय से धन कमाने लगा, सज्जनों का अपमान और दुष्टों का सम्मान करने लगा ॥२९२॥

ऐसे ही उसके भाई पुष्कर के भी सन्मार्ग का परित्याग करने पर, अवसर पाकर, द्वापर ने उसके भी शरीर में प्रवेश किया ॥२९३॥

एक बार, नल ने अपने छोटे भाई पुष्कर के घर पर दान्त नाम के सुन्दर श्वेत बैल को देखा ॥२९४॥

लोभ के कारण उस बैल को माँगते हुए बड़े भाई नल को, द्वापर से ग्रसे हुए पुष्कर ने वह बैल नहीं दिया ॥२९५॥

और बोला—'यदि इस बैल पर तुम्हारी इच्छा है, तो तुम जूए में जीतकर मुझसे इसे ले लो। देर न करो'। यह सुनकर कलि से ग्रसे हुए नल ने, यह प्रस्ताव स्वीकार किया और उन दोनों भाइयों का परस्पर जूआ आरम्भ हुआ ॥२९६-२९७॥

पुष्कर की ओर से बैल दाँव पर था और नल की ओर से हाथी-घोड़े आदि दाँव पर लगाये गये थे। अन्त में, पुष्कर जीत गया और नल हार गया ॥२९८॥

इस प्रकार दो-तीन दिनों तक निरन्तर चलते हुए जूए में सारी सेना, खजाना आदि हार जाने पर भी, नल ने, कलिग्रस्त होने के कारण मना किये जाने पर भी, किसी की एक न मानी ॥२९९॥

तेन मत्वा गतं राज्यं दमयन्ती निजौ शिशू।
रथोत्तमं समारोप्य प्राहिणोत्स्वपितुर्गृहम् ॥३००॥
तावन्नलेन राज्यं स्वं समग्रमपि हारितम्।
ततः स पुष्कराख्येन जगदे जितकाशिना ॥३०१॥
त्वयान्यद्धारितं सर्वं तत्तस्योक्षणः पणस्य मे।
दमयन्तीमिदानीं त्वं द्यूते प्रतिपणं कुरु ॥३०२॥
इत्युक्तिवात्यया तस्य नलोऽनल इव ज्वलन्।
न चाकालेऽब्रवीत्किञ्चिन्न च चक्रे पणक्रियाम् ॥३०३॥
ततः स पुष्कराख्यस्तमवादीन्न करोषि चेत्।
भार्यां पणं तदस्मान्मे देशान्निर्याहि तत्सखः ॥३०४॥
तच्छ्रुत्वैव नलो देशाद्दमयन्त्या समं ततः।
निरगाद्राजपुरुषैरा सीमान्तं प्रवासितः ॥३०५॥
हा नलस्यापि यत्रेदृगवस्था कलिना कृता।
तत्रोच्यतां किमन्येषां क्रिमीणामिव देहिनाम् ॥३०६॥
धिग्धिङ्निर्धर्मं निःस्नेहं राजर्षीणामपीदृशाम्।
विपदामास्पदं द्यूतं कलिद्वापरजीवितम् ॥३०७॥
अथ भ्रातृहृतैश्वर्यो विदेशं स नलो व्रजन्।
दमयन्त्या सह प्राप क्षुधाक्लान्तो वनान्तरम् ॥३०८॥
तत्र साकं तया दर्भभिन्नपेशलपादया।
स विश्रान्तः सरस्तीरे हंसौ द्वावैक्षतागतौ ॥३०९॥
आहारार्थं च स तयोर्ग्रहणायोत्तरीयकम्।
चिक्षेप तच्च हृत्वैव हंसौ तौ तस्य जग्मतुः ॥३१०॥
हंसरूपेण तावेतावक्षौ वासोऽप्युपेत्य ते।
हृत्वा गताविति नलः स वाचं चाशृणोद्दिवः ॥३११॥
उपविश्यैकवस्त्रोऽथ स युक्त्या विमना नृपः।
पन्थानं दर्शयामास दमयन्त्याः पितुर्गृहे ॥३१२॥
अयं मार्गो विदर्भेषु प्रिये पितृगृहे तव।
अयमङ्गेषु मार्गोऽयमपरः कोशलेषु च ॥३१३॥
तच्छ्रुत्वा दमयन्ती सा शङ्कितेवाभवत्तदा।
त्यक्ष्यन्निवार्यपुत्रो मे मार्गं किं वक्त्यसाविति ॥३१४॥

तब, दमयन्ती ने राज्य को चौपट हुआ समझकर दोनों बच्चों को उत्तम रथ में बैठाकर अपने पिता के घर भेज दिया ॥३००॥

धीरे-धीरे, नल सारा राज्य हार गया। तब उससे जितेन्द्रिय पुष्कर ने कहा—'तुम सब कुछ तो हार चुके हो, अब उस बैल के दाँव पर दमयन्ती को लगाओ ॥३०१-३०२॥

उसकी इन बातों की आँधी से आग की तरह जलता हुआ नल, उस बुरे समय में भी उससे कुछ नहीं बोला और न दमयन्ती को ही दाँव पर लगाया ॥३०३॥

तब उसके भाई पुष्कर ने कहा—'यदि दाँव पर दमयन्ती को नहीं लगाते हो, तो तुम उसके साथ ही मेरे देश से निकल जाओ' ॥३०४॥

तब राजा नल दमयन्ती के साथ उस देश से निकल गया और राज्य के सिपाही उसे राज्य की सीमा तक छोड़ आये ॥३०५॥

'हाय ! जहाँ कलि ने नल की भी ऐसी दुर्दशा कर डाली, वहाँ अन्यान्य कीड़ों के समान साधारण प्राणियों की कथा ही क्या है ॥३०६॥

ऐसे धर्महीन और स्नेह-रहित जूए को बार-बार धिक्कार है, जो नल-जैसे राजर्षियों को भी विपत्ति में डाल देता है और जो कलि तथा द्वापर का जीवन है ॥३०७॥

तदनन्तर, भाई द्वारा विजित विदेश को जाता हुआ, भूख से व्याकुल वह नल, एक वन के मध्य में एक तलाब पर पहुँचा ॥३०८॥

वहाँ पर कुशों से कटे हुए कोमल पैरोंवाली दमयन्ती के साथ, उस जंगली सरोवर के तट पर उस नल ने दो हंसों को देखा ॥३०९॥

उनको पकड़ने के लिए उसने उन पर अपना दुपट्टा डाला, परन्तु वे हंस उसे भी अपने साथ लेकर उड़ गए ॥३१०॥

तब नल ने आकाश से यह वाणी सुनी कि ये दोनों हंस जूए के दो पासे थे, जो तेरा वस्त्र भी ले गये ॥३११॥

अब केवल एक वस्त्र (धोती) ही पहना हुआ नल दुःखित मन से बैठा हुआ, दमयन्ती को उसके पिता के घर का मार्ग बताने लगा—॥३१२॥

'हे प्रिये, यह मार्ग विदर्भ की ओर तेरे पिता के घर को जाता है और यह कोशल देश की ओर' ॥३१३॥

यह सुनकर दमयन्ती को यह शंका हुई कि क्या आर्यपुत्र ! मुझे मार्ग बताकर छोड़ना चाहते हैं ॥३१४॥

ततस्तौ फलमूलाशौ वने तत्र निशागमे।
श्रान्तौ संविशतः स्मोभौ दम्पती कुशसंस्तरे॥३१५॥
दमयन्ती शनैर्निद्रामध्वखिन्ना जगाम सा।
नलो गन्तुमनास्त्वासीदनिद्रः कलिमोहितः॥३१६॥
उत्थाय चैकवस्त्रां तां दमयन्तीं विमुच्य सः।
छिन्नं तदुत्तरीयार्धं प्रावृत्य च ततो ययौ॥३१७॥
दमयन्ती च रात्र्यन्ते प्रबुद्धा तं पतिं वने।
अपश्यन्ती गतं त्यक्त्वा विललाप विचिन्त्य सा॥३१८॥
हार्यपुत्र महासत्त्व रिपावपि कृपापर।
हा मद्वत्सल केनासि मयि निष्करुणीकृतः॥३१९॥
एकाकी च कथं पद्भ्यामटवीषु प्रयास्यसि।
कस्ते श्रमापनोदाय परिचर्यां करिष्यति॥३२०॥
मौलिमालापरागेण रञ्जितौ यौ महीभुजाम्।
तौ ते पथि कथं पादौ धूलिः कलुषयिष्यति॥३२१॥
हरिचन्दनचूर्णेनाप्यालिप्तं सहते न यत्।
अङ्गं सहिष्यते तत्ते मध्याह्नार्कातपं कथम्॥३२२॥
किं मे बालेन पुत्रेण किं दुहित्रा किमात्मना।
तवैकस्य शिवं देवाः कुर्वतां यद्यहं सती॥३२३॥
इत्येककानुशोचन्ती दमयन्ती नलं तदा।
तत्पूर्वदर्शितेनैव प्रतस्थे सा ततः पथा॥३२४॥
कथञ्चिच्चातिचक्राम नदीशैलवनाटवीः।
नातिचक्राम भक्ति तु सा भर्त्तरि कथञ्चन॥३२५॥
सतीतेजश्च मार्गे तामरक्षद्येन लुब्धकः।
भस्मीकृतोऽहेस्त्रातायां तस्यां गतमनाः क्षणात्॥३२६॥
ततो दैवाद्वणिक्सार्थेनान्तरा मिलितेन सा।
सह गत्वा पुरं प्राप सुबाह्वाख्यस्य भूपतेः॥३२७॥
तत्र सा राजसुतया दूराद्दृष्ट्वैव हर्म्यतः।
सौन्दर्यप्रीतयानाय्य स्वमात्रे प्राभृतीकृता॥३२८॥
तस्याः पार्श्वे महादेव्याः सा तस्थौ च तदादृता।
त्यक्त्वा गतो मां भर्त्तेति पृष्टा चैतावदब्रवीत्॥३२९॥

तब वे दोनों पति-पत्नी, सायंकाल में फल, मूल, जल आदि खा-पीकर कुशा के आस्तरण पर श्रान्त होकर सो गये ॥३१५॥

मार्ग-श्रम से श्रान्त दमयन्ती, धीरे-धीरे गहरी नींद में सो गई, किन्तु कलियुग से मोहित नल, उसे छोड़कर भागने की चिन्ता में जागता ही रहा ॥३१६॥

तदनन्तर, उसे सोई हुई जानकर, एक वस्त्र पहने हुए दमयन्ती को छोड़कर, उसकी चादर के फटे हुए आधे टुकड़े को ओढ़कर वह नल वहाँ से चला गया ॥३१७॥

रात बीतने पर जगी हुई दमयन्ती ने, वन में पति को न देखकर और उसे त्याग कर गया हुआ जानकर विलाप करना आरम्भ किया—॥३१८॥

'हाय, आर्यपुत्र! हाय महासत्त्वशालिन्! हाय शत्रुओं पर भी कृपा करनेवाले! हाय मेरे प्यारे! किसने तुझे मेरे प्रति इतना निर्दय बना दिया? ॥३१९॥

तू अकेला इन घोर जंगलों में कैसे जायगा, तेरी थकावट दूर करने के लिए कौन सेवा करेगा। राजाओं के सिर पर धारण की हुई मालाओं के पराग से जो तेरे चरण रँग जाते थे, उन तेरे चरणों को अब मार्ग की धूल कलुषित करेगी! ॥३२०–३२१॥

जो तेरा शरीर, चन्दन के लेप का भी सहन नहीं कर सकता था, वह अब दोपहर के सूर्य की प्रचंड गरमी को कैसे सहन करेगा ॥३२२॥

मुझे शिशु बालक से क्या करना है, लड़की से क्या और अपनी आत्मा से भी क्या लाभ है? यदि मैं सती हूँ, तो उसके प्रभाव से देवता तेरा कल्याण करें' ॥३२३॥

इस प्रकार, एक-एक बात के लिए नल की चिन्ता करती हुई वह सती दमयन्ती, नल द्वारा पहले दिन दिखाये हुए मार्ग से आगे चल पड़ी ॥३२४॥

मार्ग में जाते हुए उसने, नदियों, पहाड़ों और जंगलों को किसी प्रकार पार किया; किन्तु पति-भक्ति को वह किसी प्रकार पार न कर सकी ॥३२५॥

मार्ग में उसके सतीत्व के तेज ने उसकी रक्षा की; जिससे वह सर्प से बच गई और उस पर आसक्त व्याध (बहेलिया) भस्म होगया ॥३२६॥

तब दैवयोग से मार्ग में मिले हुए व्यापारियों के एक दल के साथ वह सुबाहु नाम के राजा के नगर में जा पहुँची ॥३२७॥

वहाँ पर राजकुमारी ने, अपने महल से बैठे-बैठे दमयन्ती को दूर से ही देख लिया और उसकी सुन्दरता से प्रसन्न होकर उसे बुलवाकर और भेंट-रूप में उसे अपनी माता को सौंप दिया ॥३२८॥

तब वह दमयन्ती उस, महारानी से समादृत होकर उसी के पास रहने लगी। समाचार पूछने पर उसने इतना ही कहा कि मेरा पति मुझे छोड़कर चला गया ॥३२९॥

तावच्च तत्पिता भीमो नलोदन्तमवेत्य तम्।
तयोरन्वेषणायाप्तान्नरान् दिक्षु विसृष्टवान् ॥३३०॥
तन्मध्याच्च सुषेणाख्य एकस्तत्सचिवो भ्रमन्।
सुबाहो राजधानीं तां प्राप ब्राह्मणरूपभृत् ॥३३१॥
स तत्र दमयन्तीं तामागन्तूंश्चिन्वतीं सदा।
अद्राक्षीत् साप्यपश्यत्तं दुःखिता पितृमन्त्रिणम् ॥३३२॥
अन्योन्यं प्रत्यभिज्ञाय समेत्य रुदतः स्म तौ।
तथा यथात्र राज्ञी सा सुबाहोस्तदबुध्यत ॥३३३॥
यावच्चानाय्य सा देवी तौ यथावस्तु पृच्छति।
बुबुधे दमयन्तीं तां तावत्स्वभगिनीसुताम् ॥३३४॥
ततः सा भर्त्तुरावेद्य तां सम्मान्य पितुर्गृहम्।
रथेऽधिरोप्य व्यसृजत्ससुषेणां ससैनिकाम् ॥३३५॥
तत्र सा दमयन्त्यासीत् प्राप्तापत्यद्वया ततः।
पित्रापि दृश्यमाना सा भर्त्तुर्वार्त्तां विचिन्वती ॥३३६॥
तत्पिता व्यसृजच्चारानन्वेष्टुं तं च तत्पतिम्।
सूदस्यन्दनविद्याभ्यां दिव्याभ्यामुपलक्षितम् ॥३३७॥
'बालां वने प्रसुप्तां नृशंस सन्त्यज्य कुमुदिनीकान्ताम्।
प्राप्यैवाम्बरखण्डं चन्द्रादृश्यः क्व यातोऽसि' ॥३३८॥
एवं भवद्भिर्वक्तव्यं स्थितः शङ्क्येत यत्र सः।
इत्यादिदेश चारांस्तान्स च भीमो महीपतिः ॥३३९॥
अत्रान्तरे स राजा च नलस्तस्मिन् वने निशि।
प्रावृतार्धपटो दूरं गत्वा दावाग्निमैक्षत ॥३४०॥
भो महासत्त्व यावन्न दह्येऽहमबलोऽमुना।
अपसारय मां तावद्दावाग्नेर्निकटादितः ॥३४१॥
इत्यत्र तद्वचः श्रुत्वा दत्तदृष्टिर्ददर्श सः।
आबद्धमण्डलं नागं नलो दावानलान्तिके ॥३४२॥
फणारत्नप्रभाजालजटिलं । वनवह्निना।
गृहीतमिव तेनोग्रहेतिहस्तेन मूर्धनि ॥३४३॥
उपेत्य कृपयांसे तं कृत्वा नीत्वा च दूरतः।
त्यक्तुमिच्छति यावत्स तावन्नागोऽब्रवीत्स तम् ॥३४४॥

उधर दमयन्ती के पिता भीम ने नल का समाचार जानकर, नल और दमयन्ती के कुशल जानने के लिए चारों ओर दूत भेजे ॥३३०॥

उन दूतों में सुषेण नाम का एक मन्त्री, घूमता हुआ ब्राह्मण के वेश में सुबाहु की राजधानी में आ पहुँचा ॥३३१॥

वहाँ मन्त्री ने, आगन्तुकों में अपने परिचितों को ढूँढ़ती हुई दमयन्ती को देखा और उस दुखिया दमयन्ती ने भी पिता के मन्त्री को देखा ॥३३२॥

वे दोनों, परस्पर पहचानकर इस प्रकार रोने लगे कि सुबाहु राजा की रानी ने उन्हें जान लिया ॥३३३॥

जब उसने उन दोनों को अपने पास बुलाकर विस्तृत समाचार पूछा, तब उसे पता चला कि वह उसकी बहन की कन्या दमयन्ती है ॥३३४॥

तब महारानी ने, अपने पति से कहकर और दमयन्ती का सम्मान करके उसे रथ पर बैठाकर सैनिक, सिपाहियों और सुषेण मन्त्री के साथ पिता के घर भेज दिया ॥३३५॥

पिता के घर पहुँचकर और अपने दोनों बच्चों को पाकर पिता के संरक्षण में पति की प्रतीक्षा करती हुई दमयन्ती वहाँ रहने लगी ॥३३६॥

नल को पाक-विद्या और रथ चलाने की कला में विशेषज्ञ बताते हुए उसका परिचय देकर उसे ढूँढ़ने के लिए दमयन्ती के पिता भीम ने, चारों ओर अपने गुप्तचर भेजे ॥३३७॥

और, गुप्तचरों से राजा भीम ने कहा—"जहाँ तुम्हें नल के होने का सन्देह हो, वहाँ तुम इस आर्या को पढ़ना—वन में सोई हुई कुमुदिनी के समान सुन्दरी नवयुवती पत्नी को क्रूरता से छोड़कर अम्बर (वस्त्र और आकाश) का टुकड़ा पाकर हे चन्द्र, तू अदृश्य होकर कहाँ चला गया?" ॥३३८-३३९॥

उधर, राजा नल, उस वन में, रात्रि के समय, दमयन्ती को छोड़कर आधा दुपट्टा ओढ़े हुए दूर चला गया और आगे जाकर उसने वन में लगी हुई आग देखी ॥३४०॥

'हे महापुरुष, विवश मुझे जबतक यह दावाग्नि जला नहीं देती, उसके पहले ही मुझे इससे निकाल लो' ॥३४१॥

ऐसा वचन सुनकर राजा ने ध्यान से देखा कि दावानल के पास कुंडली मारे हुए एक नाग बैठा है ॥३४२॥

वनाग्नि की लपटों से उस नाग के फण की मणि की किरणें जटिल हो रही हैं, मानों वनाग्नि ने हाथ में प्रचंड शस्त्र लेकर उसकी खोपड़ी पकड़ ली हो ॥३४३॥

राजा नल ने दया करके उसके समीप जाकर और उसे कंधे पर रखकर दूर ले जाकर जैसे ही छोड़ना चाहा, वैसे ही वह नाग बोला—॥३४४॥

गणयित्वा दशान्यानि पदानि नय मामितः।
ततः स प्रययावेवं पदानि गणयन्नलः ॥३४५॥
एकं द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च षट् सप्त शृण्वहे।
अष्टौ नव दशेत्युक्तवन्तमुक्तिच्छलेन तम् ॥३४६॥
नलं स्कन्धस्थितो नागो ललाटान्ते ददंश सः।
तेन ह्रस्वभुजः कृष्णो विरूपः सोऽभवन्नृपः ॥३४७॥
ततोऽवतार्य स्कन्धात्तं स राजा पृष्टवानहिम्।
को भवान् का कृता चेयं त्वया मे प्रत्युपक्रिया ॥३४८॥
एतन्नलवचः श्रुत्वा स नागः प्रत्युवाच तम्।
राजन् कार्कोटनामानं नागराजमवेहि माम् ॥३४९॥
दंशो गुणाय च मया दत्तस्ते तच्च वेत्स्यसि।
गूढवासे च वैरूप्यं महतां कार्यसिद्धये ॥३५०॥
गृहाण चाग्निशौचाख्यमिदं वस्त्रयुगं मम।
अनेन प्रावृतेनैव स्वं रूपं प्रतिपत्स्यसे ॥३५१॥
इत्युक्त्वा दत्तवद्वस्त्रयुगे कार्कोटके गते।
नलस्तस्माद्वनाद् गत्वा क्रमेण प्राप कोशलान् ॥३५२॥
कोशलाधिपतेस्तत्र ऋतुपर्णस्य भूपतेः।
स ह्रस्वबाहुनामा सन् सूदत्वं शिश्रिये गृहे ॥३५३॥
भोजनानि च यत्तस्य चक्रे दिव्यरसानि सः।
तेन प्रसिद्धिं प्रापात्र रथविज्ञानतस्तथा ॥३५४॥
तत्रस्थे ह्रस्वबाह्वाख्ये नले तस्मिन् कदाचन।
विदर्भराजचारेषु तेष्वेकोऽत्र किलाययौ ॥३५५॥
ह्रस्वबाहुरितीहास्ति स्वविद्यारथविद्ययोः।
नलतुल्यो नवः सूद इति चारोऽत्र सोऽशृणोत् ॥३५६॥
नलं सम्भाव्य तं बुद्ध्या चास्थाने नृपतेः स्थितम्।
युक्त्या स तत्र गत्वैतां पपाठार्यां प्रभूदिताम् ॥३५७॥
'बालां वने प्रसुप्तां नृशंस सन्त्यज्य कुमुदिनीकान्ताम्।
प्राप्यैवाम्बरखण्डं चन्द्रादृश्यः क्व यातोऽसि' ॥३५८॥
तच्छ्रुत्वोन्मत्तवाक्याभं तत्रस्था अवजज्ञिरे।
सूदच्छद्मस्थितस्त्वत्र स नलः प्रत्युवाच तम् ॥३५९॥

'यहाँ से और दस पग आगे ले जाकर मुझे छोड़ो।' तब नल एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह सात, इस प्रकार गिनकर दस पग आगे गया। जब राजा ने दस (दश)[1] कहा, तब छल से कंधे पर बैठे हुए उस नाग ने ललाट के पास उसे डँस लिया। इस कारण, वह राजा, छोटे हाथोंवाला काला और विरूप हो गया—॥३४५–३४७॥

तब राजा ने क्रोध से नाग को उतारकर कहा—'तू कौन है और तूने मेरे साथ यह क्या प्रत्युपकार किया है?'॥३४८॥

नल के यह वचन सुनकर वह नाग उत्तर देता हुआ बोला—'राजन्, मुझे नागों का राजा कर्कोटक नाम से जानो। गुप्त निवास करने में रूप का बदल जाना महान् पुरुषों की कार्यसिद्धि के लिए ही होता है। इसलिए, मैंने तुम्हारे ललाट पर डँसा है, जो तेरे लाभ के लिए ही होगा॥३४९–३५०॥

और, यह अग्निशौच नाम के वस्त्र का जोड़ा लो। इसे ओढ़ते ही तुम अपने पूर्वरूप में आ जाओगे'॥३५१॥

ऐसा कहकर और उसे शौचवस्त्र का जोड़ा देकर, कर्कोटक चला गया। उसके चले जाने पर, नल क्रमशः कोशल देश में जा पहुँचा॥३५२॥

वहाँ जाकर वह नल, कोशलराज ऋतुपर्ण के घर में ह्रस्वबाहु के नाम से पाचक (रसोइया) बन गया॥३५३॥

वह जो दिव्य रसवाले भोजन बनाता था और रथ चलाने की विशेषता रखता था, इससे उसने उस राज्य में पर्याप्त यश प्राप्त कर लिया॥३५४॥

जब कि नल ह्रस्वबाहु के नाम से वहाँ नौकरी कर रहा था, इसी बीच विदर्भ-राज्य के गुप्तचरों में से एक वहाँ आया॥३५५॥

निर्दिष्ट चिह्नों से वह नल को जानकर और उसे राजसभा में बैठे हुए देखकर, वह गुप्तचर युक्ति से वहाँ जा पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अपने स्वामी भीम द्वारा कही हुई आर्या पढ़ी—॥३५६-३५७॥

'वन में सोई कुमुदिनी के समान सुन्दरी नवयुवती पत्नी को क्रूरता से छोड़कर अम्बर (वस्त्र और आकाश) का टुकड़ा पाकर हे चन्द्र, तू अदृश्य होकर कहाँ चला गला गया?'॥३५८॥

उसे सुनकर सभासदों ने उसे पागल का प्रलाप समझा, किन्तु रसोइए के वेश में प्रच्छन्न नल ने उसे उत्तर दिया॥३५९॥

---

१. संस्कृत में, 'दश्, धातु से लोट्, मध्यम पुरुष एकवचन में निष्पन्न 'दश' का अर्थ होता है—डँसो। संख्या के अर्थ में दश—दस के लिए प्रसिद्ध है। —अनु०

'क्षीणोऽम्बरैकदेशं चन्द्रः प्राप्यान्यमण्डलं प्रविशन्।
कुमुदिन्या यददृश्यो जातस्तत्का नृशंसता तस्य' ॥३६०॥
एतत्तदुत्तरं श्रुत्वा सत्यं सम्भाव्य तं नलम्।
विपदुद्भूतवैरूप्यं चारः सोऽथ ययौ ततः ॥३६१॥
विदर्भान् प्राप्य भीमाय राज्ञे भार्यायुताय सः।
दमयन्त्यै च तत्सर्वं दृष्टश्रुतमवर्णयत् ॥३६२॥
ततोऽत्र दमयन्ती सा पितरं स्वैरमब्रवीत्।
निःसन्देहं स एवार्यपुत्रः सूदमिषं श्रितः ॥३६३॥
तत्तदानयने युक्तिर्मन्मता क्रियतामिह।
ऋतुपर्णस्य नृपतेस्तस्य दूतो विसृज्यताम् ॥३६४॥
प्राप्तमात्रश्च तं भूपमेवं तत्र ब्रवीतु सः।
गतः क्वापि नलो राजा प्रवृत्तिर्नास्य बुध्यते ॥३६५॥
तत्प्रातः कुरुते भूयो दमयन्ती स्वयंवरम्।
अतोऽद्यैव विदर्भेषु शीघ्रमागम्यतामिति ॥३६६॥
ततः श्रुतैतद्वार्त्तेन स रथज्ञानिना नृपः।
एकाह्नेनार्यपुत्रेण साकं ध्रुवमिहैष्यति ॥३६७॥
एवं सपितृकालोच्य सन्दिश्य च तथैव सा।
कोशलान् व्यसृजद्दूतं दमयन्ती यथोचितम् ॥३६८॥
तेनर्तुपर्णो गत्वा स तथैवोक्तः समुत्सुकः।
जगाद सूदरूपं तं प्रणयात् पार्श्वगं नलम् ॥३६९॥
ह्रस्वबाहो रथज्ञानं ममास्तीत्यवदद् भवान्।
तत्प्रापय विदर्भान् मामद्यैवोत्सहसे यदि ॥३७०॥
तच्छ्रुत्वैव नलो बाढं प्रापयामीत्युदीर्य सः।
गत्वा वराश्वान् संयोज्य सज्जं चक्रे रथोत्तमम् ॥३७१॥
स्वयंवरप्रवादोऽयं जाने मत्प्राप्तये तया।
कृतो न दमयन्ती तु सा स्वप्नेऽपीदृशी भवेत् ॥३७२॥
तत्तत्र तावद् गच्छामि पश्यामीति विचिन्त्य सः।
राज्ञस्तस्यर्तुपर्णस्य सज्जं रथमुपानयत् ॥३७३॥
आरूढे च नृपे तस्मिंस्तं संवाहयितुं रथम्।
नलः प्रववृते तार्क्ष्यजवजैत्रेण रंहसा ॥३७४॥

'क्षीण चन्द्रमा, अम्बर (वस्त्र और आकाश) के एक देश से दूसरे (सूर्य-मंडल) मंडल में जाकर यदि कुमुदिनी के लिए अदृश्य हो जाता है, तो उसमें उसकी क्या क्रूरता है ?' ॥३६०॥

यह उत्तर सुनकर और उसे विपत्ति के कारण विकृत रूपवाला नल समझकर वह गुप्तचर वहाँ से चला गया ॥३६१॥

और, विदर्भ की राजधानी में पहुँचकर उसने महारानी के सहित राजा भीम तथा दमयन्ती से, जो कुछ उसने देखा-सुना था, सब कह सुनाया ॥३६२॥

यह सुनकर दमयन्ती, एकान्त में अपने पिता से बोली—'पाचक के रूप में छिपा हुआ वह अवश्य ही मेरा पति है ॥३६३॥

अब उसके यहाँ बुलाने में मेरी युक्ति कीजिए । उस राजा ऋतुपर्ण के पास दूत भेजिए, वह दूत राजा ऋतुपर्ण के पास पहुँचते ही राजा से यह कहे कि राजा नल कहीं चला गया है। उसका पता अब नहीं लग रहा है ॥३६४–३६५॥

अब दमयन्ती प्रातःकाल ही फिर स्वयंवर करेगी। इसलिए, आप स्वयंवर के लिए आज ही विदर्भ देश में पधारें ॥३६६॥

यह सुनकर वह राजा, रथ चलाने में कुशल आर्यपुत्र (नल) के साथ एक दिन में अवश्य ही यहाँ आ जायगा' ॥३६७॥

पिता के साथ उसने इस प्रकार विचार कर और तदनुसार उसने कोसलराज के पास उपयुक्त दूत को भिजवाया ॥३६८॥

उस दूत ने, राजा ऋतुपर्ण को उसी प्रकार जाकर सन्देश दे दिया। उत्सुक राजा ऋतुपर्ण ने भी, सूत के रूप में अपने पास में स्थित नल से कहा ॥३६९॥

हे ह्रस्वबाहु, तुमने मुझसे कहा था कि मुझे रथ चलाने का ज्ञान भी है, तो यदि तुम्हें उत्साह है, तो मुझे आज ही विदर्भ देश की राजधानी में पहुँचा दो ॥३७०॥

यह सुनकर नल ने कहा, 'ठीक है, पहुँचाता हूँ।' इस प्रकार कहकर और अच्छे-अच्छे घोड़ों को जोड़कर उसने एक उत्तम रथ तैयार किया ॥३७१॥

यह स्वयंवर का प्रचार, मेरी प्राप्ति के लिए एक बहाना मात्र है, ऐसा मैं समझता हूँ; क्योंकि दमयन्ती तो स्वप्न में भी ऐसी नहीं है (कि वह पुनः स्वयंवर करे) ॥३७२॥

तो अब वहाँ जाकर देखता हूँ—ऐसा सोचकर उसने, राजा ऋतुपर्ण के लिए, सजा-सजाया तैयार रथ ला दिया ॥३७३॥

राजा के रथ पर आरूढ हो जाने पर नल ने, गरुड को जीतनेवाले वेग से रथ को हाँका ॥३७४॥

रथवेगच्युतं वस्त्रं प्राप्तं रथविधारणम्।
ब्रुवाणमथ मार्गे तमृतुपर्णं नलोऽब्रवीत् ॥३७५॥
राजन् क्व तव तद्वस्त्रमनेनैव क्षणेन हि।
बहूनि योजनान्येष व्यतिक्रान्तो रथस्तव ॥३७६॥
श्रुत्वैतदृतुपर्णस्तमवादीदङ्ग देहि मे।
रथज्ञानमिदं तुभ्यमक्षज्ञानं ददाम्यहम् ॥३७७॥
येन वश्या भवन्त्यक्षाः संख्याज्ञानं च जायते।
सम्प्रत्येव च पश्यात्र वदामि प्रत्ययं तव ॥३७८॥
दृश्यतेऽग्रे तरुर्योऽयं संख्यामेतस्य तेऽधुना।
वच्म्यहं फलपर्णानां गणयित्वा च पश्य ताम् ॥३७९॥
इत्युक्त्वा फलपर्णानि यावन्त्येव जगाद सः।
नलेन गणितान्यासंस्तावन्त्येवात्र शाखिनः ॥३८०॥
ततो नलो रथज्ञानमृतुपर्णाय तद्ददौ।
ऋतुपर्णोऽप्यदादक्षज्ञानं तस्मै नलाय तत् ॥३८१॥
परीक्षते स्म तज्ज्ञानं नलो गत्वाऽपरे तरौ।
सम्यक् च बुबुधे संख्या पत्रादिष्वत्र तेन सा ॥३८२॥
ततो हृष्यति यावत् स तावत्तस्य शरीरतः।
निरगात् पुरुषः कृष्णस्तं स कोऽसीति पृष्टवान् ॥३८३॥
अहं कलिः शरीरान्तर्दमयन्तीवृतस्य ते।
ईर्ष्यया प्राविशं तेन भ्रष्टा द्यूतेन ते श्रियः ॥३८४॥
ततस्त्वां दशता तेन कार्कोटेन तदा वने।
न दग्धस्त्वमहं त्वेष पश्य दग्धस्त्वयि स्थितः ॥३८५॥
मिथ्या परोपकारो हि कृतः स्यात् कस्य शर्मणे।
तद्गच्छाम्यवकाशो हि नास्त्यन्येषु न वत्स मे ॥३८६॥
इत्युक्त्वा स कलिस्तस्य तिरोऽभूत् सोऽपि तत्क्षणम्।
जातधर्ममतिः प्राप्ततेजाः प्राग्वदभून्नलः ॥३८७॥
आगत्य चारुह्य रथं तस्मिन्नेवाह्नि तं जवात्।
विदर्भानृतुपर्णं तं प्रापयामास भूपतिम् ॥३८८॥
स चोपहस्यमानोऽत्र पृष्टागमनकारणैः।
ऋतुपर्णो जनै राजगृहासन्ने समावसत् ॥३८९॥

रथ के वेग से राजा ऋतुपर्ण का वस्त्र गिर गया। तब रथ को रोकने के लिए कहते हुए राजा ऋतुपर्ण से नल ने कहा कि 'राजन्, तुम्हारा वह वस्त्र कहाँ गिरा, यह पता नहीं लगेगा; क्योंकि यह रथ, अनेक योजन आगे आ चुका है' ॥३७५-३७६॥

यह सुनकर राजा ऋतुपर्ण नल से बोला—'तू मुझे रथ चलाने की क्रिया बता। मैं तुझे पासा फेंकने का तरीका बताता हूँ और उसका ज्ञान भी अभी कराता हूँ, जिससे पासे अपने वश में हो जाते है और संख्या भी मालूम हो जाती है ॥३७७-३७८॥

यह सामने जो वृक्ष दीख रहा है, उसके पत्तों और फलों को गिनकर मैं तुम्हें बताता हूँ और फिर तुम भी उसे गिनकर देखो' ॥३७९॥

ऐसा कहकर ऋतुपर्ण ने, उस पेड़ के जितने पत्ते और फल बताये थे, नल के गिनने पर उतने ही निकले ॥३८०॥

तब राजा नल ने ऋतुपर्ण को रथ-संचालन-विद्या बता दी और राजा ऋतुपर्ण ने उसे अक्ष-विद्या (द्यूत-कला) ॥३८१॥

तब नल ने, उस विद्या की परीक्षा, एक दूसरे पेड़ पर की और उसने उसे भली भाँति सही पाया ॥३८२॥

यह जानकर राजा नल, जब प्रसन्न हुआ, तब उसके शरीर से एक काला पुरुष निकला। राजा ने उससे फिर पूछा—'तू कौन है'॥ ३८३॥

वह बोला—'मैं कलियुग हूँ। दमयन्ती के द्वारा तेरा वरण करने पर मैं ईर्ष्या से तेरे शरीर में घुसा। इसी कारण जुआ खेलने से तेरी सम्पत्ति नष्ट हो गई ॥३८४॥

तदनन्तर, वन में तुझे डँसते हुए कार्कोटक ने तुझे नहीं डँसा, बल्कि मुझे डँसा। देख, यह जला हुआ मैं तेरे सामने खड़ा हूँ ॥३८५॥

व्यर्थ ही दूसरे का अपमान करना किसके लिए कल्याणकारी होता है। इसलिए, बेटा, अब मैं जाता हूँ। अब दूसरों में मेरे रहने का स्थान नहीं है' ॥३८६॥

ऐसा कहकर वह कलि अदृश्य होगया और नल भी, उसी समय पहले के समान धर्मात्मा और तेजस्वी हो गया ॥३८७॥

तब नल ने आकर और रथ पर बैठकर वेग से उसी दिन, उस राजा ऋतुपर्ण को विदर्भ देश में पहुँचा दिया ॥३८८॥

वह राजा ऋतुपर्ण वहाँ के लोगों द्वारा हँसी का पात्र बनाया जाता हुआ वहीं राजभवन के पास ठहरा ॥३८९॥

प्राप्तं तं तत्र बुद्ध्वा सा श्रुताश्चर्यरथस्वना॥
दमयन्ती जहर्षान्तः सम्भावितनलागमा॥३९०॥
विससर्जाथ सा तत्त्वमन्वेष्टुं चेटिकां निजाम्।
सा चान्विष्यागता चेटी तामुवाच प्रियोत्सुकाम्॥३९१॥
देवि गत्वा मयान्विष्टमेष यः कोशलेश्वरः।
स्वयंवरप्रवादं ते मिथ्या श्रुत्वा किलागतः॥३९२॥
आनीतो रथवाहेन सूदेन ह्रस्वबाहुना।
एकेनैव दिनेनाद्य रथविज्ञानशालिना॥३९३॥
स च तत्सूदशालायां गत्वा सूदो मयेक्षितः।
कृष्णवर्णो विरूपश्च प्रभावः कोऽपि तस्य तु॥३९४॥
अक्षिप्तमेव यत्तस्य पानीयं चरुपृद्गतम्।
काष्ठान्यर्नापिताग्नीनि स्वयं प्रज्वलितानि च॥३९५॥
क्षणाच्च भोजनैस्तैस्तैर्निष्पन्नं दिव्यमेव च।
एतद्दृष्ट्वा महाश्चर्यं ततश्चाहमिहागता॥३९६॥
एतच्चेटीमुखाच्छ्रुत्वा दमयन्ती व्यचिन्तयत्।
वश्याग्निवरुणः सूदो रथविद्यारहस्यवित्॥३९७॥
आर्यपुत्रो भवत्येष गतो वैरूप्यमन्यथा।
जाने मद्विप्रयोगार्त्त जिज्ञासेऽहं तदप्यमुम्॥३९८॥
इति सङ्कल्प्य युक्त्या स्वौ सह चेट्या तयैव सा।
तस्यान्तिकं दर्शयितुं प्राहिणोद्दारकावुभौ॥३९९॥
स तौ निजशिशू दृष्ट्वा कृत्वा चाङ्के नलश्चिरम्।
बद्धधाराप्रवाहेण तूष्णीमरुददश्रुणा॥४००॥
ईदृशावेव मे बालौ मातामहगृहे स्थितौ।
जातं मे तत्स्मृतेर्दुःखमित्युवाच स चेटिकाम्॥४०१॥
सा शिशुभ्यां सहागत्य चेटी सर्वं शशंस तत्।
दमयन्त्यै ततः सापि जातास्था सुतरामभूत्॥४०२॥
अपरेद्युश्च तां प्रातः स्वचेटीमादिदेश सा।
गत्वा तमृतुपर्णस्य सूदं मद्वचनाद्वद॥४०३॥
श्रुतं मया यद्भवता तुल्यो नान्योऽस्ति सूपकृत्।
तन्ममाद्य त्वयागत्य व्यञ्जनं साध्यतामिति॥४०४॥

आश्चर्यजनक रथ की ध्वनि को सुनकर नल के आने की सम्भावना करती हुई दमयन्ती, हृदय से प्रसन्न हुई ॥३९०॥

तदनन्तर उसने वास्तविक बात जानने के लिए उसके पास एक दासी को भेजा। वह दासी सब जानकर नल के लिए उत्सुक दमयन्ती से बोली—॥३९१॥

'हे देवि, मैंने जाकर पता लगाया कि यह राजा ऋतुपर्ण, तेरे झूठे स्वयंवर का निमन्त्रण पाकर आया है। उसे ह्रस्वबाहु नाम का सारथी एक दिन में ही यहाँ ले आया है। क्योंकि, वह रथ-संचालन-विज्ञान का विशेषज्ञ है ॥३९२-३९३॥

तो, मैंने रसोईघर में जाकर उस रसोइए को देखा। वह काले रंग और विकृत रूप का कोई व्यक्ति है ॥३९४॥

उसका चमत्कार मैंने देखा कि उसने चावलों में पानी नहीं डाला था, किन्तु उनमें स्वयं पानी आ गया लकडियों में आग न लगाने पर भी लकड़ियाँ अपने-आप जल उठीं और पलक मारते ही उसने अनेक प्रकार के दिव्य भोजन तैयार कर दिये। यह सब देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ और मैं यहाँ आई ॥३९५—३९६॥

दासी के मुँह से यह सब सुनकर दमयन्ती सोचने लगी–'अग्नि और जल जिसके वश में हों और जो रथ-विद्या के रहस्य को जानता है, आर्यपुत्र (नल) इतना विरूप कैसे हो गया। मैं समझती हूँ, मेरे वियोग से पीड़ित होने के कारण ऐसा हुआ होगा। तो मैं अब उसी से पूछती हूँ ॥३९७-३९८॥

ऐसा सोचकर दमयन्ती ने, उस दासी के साथ अपने दोनों बच्चों को नल के पास भेजा ॥३९९॥

उन्हें देखकर और दोनों बच्चों को गोद में लेकर बहुत समय तक धारा-प्रवाह आँसू बहाते हुए नल मौन रोता रहा ॥४००॥

कुछ समय बाद वह चेटी (दासी) से बोला—ऐसे ही मेरे दो बच्चे, अपने नाना के घर में हैं। उन्हें स्मरण करके मुझे दुःख हुआ' ॥४०१॥

तब उस दासी ने, उन बच्चों के साथ लौटकर दमयन्ती को सारा समाचार सुनाया। तब दमयन्ती को भी पूर्ण विश्वास होगया ॥४०२॥

दूसरे दिन, प्रातःकाल उसने दासी को आज्ञा दी कि तू जाकर राजा ऋतुपर्ण के रसोइए से कह दे—॥४०३॥

कि मैंने सुना है, 'तेरे समान दूसरा कोई रसोईदार नहीं है, अतः आज तू मेरे यहाँ आकर व्यंजन बना' ॥४०४॥

तथेति स तदा गत्वा नलश्चेट्या तयार्थितः।
ऋतुपर्णमनुज्ञाप्य दमयन्तीमुपाययौ ॥४०५॥
सत्यं ब्रूहि नलो राजा यदि त्वं सूदरूपभृत्।
चिन्ताब्धिमग्नां पारं मां प्रापयाद्येत्युवाच सा ॥४०६॥
तच्छ्रुत्वा स नलः स्नेहहर्षदुःखत्रपाकुलः।
अवाङ्मुखः प्राप्तकालं तामुवाचाश्रुगद्गदम् ॥४०७॥
स एवास्मि नलः सत्यं पापः कुलिशकर्कशः।
त्वां सन्तापयता येन व्यामोहादनलायितम् ॥४०८॥
इत्युक्तवान्स पृष्टोऽभूद्दमयन्त्या तया नलः।
यद्येवं तर्ह्यरूपत्वं कथं प्राप्तो भवानिति ॥४०९॥
ततः स तस्यै स्वोदन्तं नलः कृत्स्नमवर्णयत्।
कार्कोटसख्यादारभ्य कलिनिर्गमनावधिम् ॥४१०॥
तदैव चाग्निशौचं तद्दत्तं कार्कोटकेन सः।
प्रावृत्य वस्त्रयुगलं रूपं स्वं प्रत्यपद्यत ॥४११॥
दृष्ट्वा नलं पुनरवाप्तनिजाभिरामरूपं तमाशु विकसद्वदनारविन्दा।
नेत्राम्बुभिः शमितदुःखदवानलेव हर्षं कमप्यनुपमं दमयन्त्यवाप ॥४१२॥
बुद्ध्वा च तत्परिजनात्प्रमदप्रवृत्तादागत्य तत्र सहसा स विदर्भराजः।
भीमो नलं समभिनन्द्य कृतानुरूपपूजं महोत्सवमयं स्वपुरं चकार ॥४१३॥
हसता हृदि भीमभूभुजा कृतसंवृत्युपचारसत्क्रियः।
ऋतुपर्णनृपोऽपि तं नलं प्रतिपूज्याथ जगाम कोशलान् ॥४१४॥
अथ निषधनरेश्वरो निजं कलिदौरात्म्यविजृम्भितं नलः।
श्वशुराय स तत्र वर्णयन्नवसत् प्राणसमासखः सुखम् ॥४१५॥
गत्वाल्पैश्च दिनैस्ततः स निषधान्सैन्यैः सह श्वाशुरै–
रक्षज्ञानजितं विधाय विनतं तं पुष्कराख्यं पुनः।
धर्मात्मा कृतसंविभागमनुजं देहाद् गतद्वापरं
राज्यं स्वं दमयन्त्यवाप्तिसुखितो भेजे यथावन्नलः ॥४१६॥
इति स व्याख्याय कथां नगरे तारापुरे द्विजः सुमनाः।
राजसुतां बन्धुमतीं प्रोषितपतिकामुवाच तां भूयः ॥४१७॥
एवं देवि महान्तो विषह्य दुःखं भजन्ति कल्याणम्।
अनुभूयास्तमनं किल दिनकृत्प्रमुखा व्रजन्त्युदयम् ॥४१८॥

'ठीक है' ऐसा कहकर दासी द्वारा प्रार्थित किया गया पाचक, ऋतुपर्ण से आज्ञा लेकर दमयन्ती के पास आया ॥४०५॥

तब उसे देखकर दमयन्ती बोली—'रसोइए का रूप धारण किये हुए तुम यदि राजा नल हो, तो चिन्ता-समुद्र में डूबी हुई मुझे आज पार लगाओ' ॥४०६॥

यह सुनकर स्नेह, दुःख और लज्जा से आकुल राजा नल नीचे मुँह किये हुए आँसुओं से रुँधे गले से अवसर की बात बोला—॥४०७॥

'हाँ, मैं वही वज्र-सा कठोर पापी नल हूँ। तुम्हें सन्तप्त करते हुए मैंने नल होकर भी अ-नल (अग्नि) का काम किया है' ॥४०८॥

इस प्रकार कहते हुए नल से दमयन्ती ने पूछा कि यदि ऐसा है, तो तुम इतने कुरूप कैसे हो गये ? ॥४०९॥

इस प्रकार पूछती हुई दमयन्ती को नल ने अपना पिछला सारा समाचार—कार्कोटक को आग से निकालने से लेकर कलियुग के शरीर से निकलने तक का—सुना डाला ॥४१०॥

और, उसी समय कार्कोटक के दिये हुए अग्नि से शुद्ध वस्त्रों को पहनकर वह नल, फिर से अपने पुराने और वास्तविक रूप में आ गया ॥४११॥

पुनः अपने सच्चे रूप में आये हुये सुन्दर नल को देखकर खिले हुए कमल के समान मुख-वाली दमयन्ती ने आँखों के आँसुओं से दुःख-दावानल के शान्त हो जाने पर अवर्णनीय आनन्द का अनुभव किया ॥४१२॥

नल के मिल जाने से अत्यन्त प्रसन्न सेवक-सेविकाओं द्वारा नल का सहसा प्रकट हो जाना जानकर, उस विदर्भराज भीम ने, वहाँ आकर नल का समुचित अभिनन्दन और समुचित आदर-सत्कार करके अपने नगर को महोत्सवमय बना दिया ॥४१३॥

तदनन्तर, मन-ही-मन हँसते हुए राजा भीम के द्वारा समुचित रूप से सत्कृत राजा ऋतुपर्ण भी नल को बधाई देकर कोसल देश को चला गया ॥४१४॥

इसके पश्चात् निषध देश के राजा नल ने, कलियुग की दुष्टता के कारण होनेवाले उपद्रव को, राजा भीम को सुनाकर, अपनी प्राणप्यारी दमयन्ती के साथ वहीं सुखपूर्वक निवास किया ॥४१५॥

कुछ ही दिनों के अनन्तर धर्मात्मा राजा नल ने अपने श्वशुर की सेनाओं के साथ निषध देश में जाकर और अपने भाई पुष्कर को पासों के विज्ञान से जीतकर उसे आज्ञाकारी बना लिया। देह से द्वापर के निकल जाने पर, शान्त हुए छोटे भाई पुष्कर को, उसका अपना भाग देकर नल अपनी प्राणप्रिया दमयन्ती के साथ अपने राज्य का पुनः विधिपूर्वक शासन करने लगा ॥४१६॥

तारापुर नगर में, इस प्रकार कथा सुना कर ब्राह्मण सुमन ने प्रोषितपतिका राजकुमारी बन्धुमती से फिर कहा—॥४१७॥

'हे राजपुत्री, बड़े-बड़े लोग भी, इस प्रकार का असह्य कष्ट भोगकर पुनः कल्याण प्राप्त करते हैं। सूर्य के समान प्रचंड तेजस्वी भी, अस्त का अनुभव करके फिर उदय लेते हैं ॥४१८॥

तस्मात्त्वमपि तमाप्स्यसि पतिमनघे प्रोषितागतं नचिरात् ।
कुरु धृतिमरतिं परिहर विहर च पतिकामनालाभैः ।।४१९।।
इति तं द्विजमुक्तयुक्तवाक्यं बहुनाभ्यर्च्य धनेन सद्गुणं सा ।
अवलम्ब्य धृतिं प्रतीक्षमाणा दयितं बन्धुमती स्वमत्र तस्थौ ।।४२०।।
अल्पैरेव च तस्या दिनैः स पतिराययौ महीपालः ।
देशान्तरे स्थितां तां जननीमादाय पितृसहितः ।।४२१।।
आगत्य चामृतांशुः पार्वण इव वारिराशिजललक्ष्मीम् ।
जननयनोत्सवदायी बन्धुमतीं नन्दयामास ।।४२२।।
अथ तत्र तया सहितस्तत्पित्रा पूर्वदत्तराज्यधुरः ।
स महीपालो बुभुजे राजा मन्त्रीप्सितान् भोगान् ।।४२३।।
इत्यात्ममन्त्रिमरुभूतिमुखान्निशम्य चित्रां कथामनुपमामनुरागरम्याम् ।
रामासखः स नरवाहनदत्तदेवो वत्सेश्वरस्य तनयो भृशमभ्यतुष्यत् ।।४२४।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरेऽलङ्कारवतीलम्बके
षष्ठस्तरङ्गः ।

समाप्तश्चायमलङ्कारवतीलम्बको नवमः ।

इसलिए हे सदाचारिणी, तू भी यात्रा से लौटने पर अपने पति को अवश्य प्राप्त करेगी। धैर्य रख, उद्विग्नता छोड़। और, पति-प्राप्ति की कामना पूर्ण होने से आनन्द प्राप्त कर' ॥४१९॥

इस प्रकार, कहते हुए उस ब्राह्मण को बहुत धन, वस्त्र आदि से सत्कृत कर वह सद्गुणोंवाली बन्धुमती धैर्य-धारण करके अपने पति के आगमन की प्रतीक्षा में पिता के घर में निवास करती थी ॥४२०॥

कुछ ही दिनों के पश्चात् उसका पति महीपाल, दूसरे देश में रहनेवाली अपनी माता को साथ लेकर पिता-सहित पुनः अपनी राजधानी (तारापुर) में लौट आया ॥४२१॥

प्रजा के नेत्रों को आनन्द देनेवाले महीपाल ने, अपनी पत्नी बन्धुमती को इस प्रकार आनन्दित किया, जैसे पूर्णिमा का चन्द्र, समुद्र की लक्ष्मी को आनन्दित करता है ॥४२२॥

तदनन्तर महीपाल, बन्धुमती के साथ, उसके पिता द्वारा दिये गये राज्य के भार को वहन करता हुआ और अभीष्ट भोगों को प्राप्त करता हुआ अपनी पृथ्वी का शासन करने लगा ॥४२३॥

वत्सेश्वर उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त, अपनी पत्नियों के साथ, मन्त्री मरुभूति के मुँह से इस विचित्र और राग-मनोहर कथा को सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ ॥४२४॥

महाकवि श्रीसोमदेव भट्ट-विरचित कथासरित्सागर के अलंकारवती-लम्बक का

षष्ठ तरंग समाप्त

नवम अलंकारवती-लम्बक समाप्त

शक्तियशो नाम दशमो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

प्रथमस्तरङ्गः

मङ्गलाचरणम्

अवारणीयं' रिपुभिर्वारणीयं करं नुमः।
हेरम्बस्य ससिन्दूरमसिं दूरमघच्छिदम्॥१॥
पायाद्वः पुरदाहाय शम्भोः सन्दधतः शरम्।
समं व्यग्रेषु नेत्रेषु तृतीयमधिकं स्फुरत्॥२॥
रक्तारुणा नृसिंहस्य कुटिला विद्विषो वधे।
नखश्रेणी च दृष्टिश्च निहन्तु दुरितानि वः॥३॥

नरवाहनदत्तकथा (पूर्वानुवृत्ता)

एवं वत्सेश्वरसुतः कौशाम्ब्यां सचिवैः सह।
नरवाहनदत्तः स तस्थौ भार्यासखः सुखी॥४॥
एकदा चास्थिते तस्मिन्नास्थानस्थस्य तत्पितुः।
वत्सेश्वरस्य विज्ञप्त्यै तद्वासी वणिगाययौ॥५॥
स रत्नदत्तनामा तं प्रतीहारनिवेदितः।
प्रविश्य नत्वा राजानं वणिगेवं व्यजिज्ञपत्॥६॥

अत्र मङ्गले विरोधाभासोऽलङ्कारः। यथा—अ-वारणीयम्, वारणीयम्; स-सिन्दूरम्, असिन्दूरम्—इति। अत्र वारणस्य=गजस्येवं वारणीयम्=गजसम्बन्धि। न वारणीयम्-अवारणीयम्, अप्रतिरोध्यम्। सिन्दूरेण सहितं ससिन्दूरम्=सिन्दूरलिप्तम्, असिं=खड्गं दूरं=दूरे इत्यर्थः, ईदृशं करं=शुण्डादण्डं नुमः=नमामि।

शक्तियश नामक दशम लम्बक

[प्रारम्भिक पद्य का अर्थ सप्तम लम्बक के प्रथम तरंग के प्रारम्भ में देखें।]

प्रथम तरङ्ग

मंगलाचरण

हम गणेशजी के उस शुंडादंड को प्रणाम करते हैं, जिसे शत्रु (विघ्न) रोक नहीं सकते, जिस पर सिन्दूर पुता है और जो पापों (विघ्नों) का नाश करने के लिए दूर से ही ही तलवार के समान है ॥१॥

त्रिपुरासुर का नाश करने के लिए धनुष पर बाण चढ़ाते हुए और बाण के साथ व्याकुल होते हुए शिव के नेत्रों में अधिक चमकीला तीसरा नेत्र आपकी रक्षा करे ॥२॥

शत्रु (हिरण्यकशिपु) के वध में नृसिंह भगवान् की लाल और टेढ़ी नखों की पंक्ति तथा दृष्टि आप लोगों के पापों को दूर करे ॥३॥

नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत)

इस प्रकार, सपत्नीक नरवाहनदत्त, कौशाम्बी नगरी में मन्त्रियों के सहित सुखपूर्वक रहता था ॥४॥

एक बार नरवाहनदत्त की ही उपस्थिति में सभा(दरबार) में बैठे हुए उसके पिता वत्सराज के पास उसी नगरी का निवासी एक वैश्य आया ॥५॥

रत्नदत्त नामक उस वैश्य ने द्वारपाल के सूचित करने पर सभा में आकर और राजा को प्रणाम करके इस प्रकार निवेदन किया—॥६॥

भारवाहिनः कथा

नाम्ना वसुधरो देव दरिद्रोऽस्तीह भारिकः।
अकस्माच्च ददत्खादन्पिबंश्चाद्य स दृश्यते ॥७॥
कौतुकाच्च गृहं नीत्वा यथेष्टं पानभोजनम्।
दत्त्वा स क्षीबतां नीत्वा मया पृष्टोऽब्रवीदिदम् ॥८॥
लब्धं राजकुलद्वारात् सरत्नं कटकं मया।
उत्पाट्य रत्नमेकं च ततो विक्रीतवानहम् ॥९॥
तच्च दीनारलक्षेण मूल्येन वणिजो मया।
दत्तं हिरण्यगुप्तस्य तेनाद्याहं सुखं स्थितः ॥१०॥
इत्युक्त्वा दर्शितं तेन देवनामाङ्कितं मम।
कटकं यत्ततो देव विज्ञप्तोऽद्य मया प्रभुः ॥११॥
एतच्छ्रुत्वा स वत्सेशस्तत्रानाययति स्म तौ।
भारिकं तं सवलयं सरत्नं वणिजं च तम् ॥१२॥
हन्त स्मृतं प्रकोष्ठान्मे भ्रष्टमेतत्पुरभ्रमे।
इति तत्कटकं दृष्ट्वा स राजाभिदधे स्वयम् ॥१३॥
निर्हृतं राजनामाङ्कं लब्ध्वा किं कटकं त्वया।
इति पृष्टोऽथ सभ्यैः स राजाग्रे भारिकोऽभ्यधात् ॥१४॥
भारजीवी कुतो वेद्मि राजनामाक्षराण्यहम्।
दारिद्र्यदुःखदग्धेन लब्ध्वैतत् स्वीकृतं मया ॥१५॥
इत्युक्ते तेन रत्नार्थमाक्षिप्तः सोऽब्रवीद् वणिक्।
प्रसह्य[1] मूल्येन मया गृहीतं रत्नमापणे ॥१६॥
न चास्य[2] राजाभिज्ञानमस्ति तन्मयमुच्यते[3]।
मूल्यात् पञ्चसहस्री तु नीतानेन परं स्थितम् ॥१७॥
एतद्धिरण्यगुप्तस्य वचो यौगन्धरायणः।
श्रुत्वा तत्र स्थितोऽवादीन्नात्र दोषोऽस्ति कस्यचित् ॥१८॥
दरिद्रस्यालिपिज्ञस्य भण्यतां भारिकस्य किम्।
दारिद्र्यात् क्रियते चौर्यं लब्धं केनोज्झितं पुनः ॥१९॥

---

१. 'मूल्येना प्रसह्य मया'—इति पुस्तकान्तरपाठः।
२. 'न चास्ति' इति पुस्तकान्तरपाठः।
३. 'तदयमुच्यते'—इति पुस्तकान्तरपाठः।

एक भारवाहक (मजदूर) की कथा

महाराज, इस नगरी में वसुधर नाम का एक दरिद्र भारवाहक है। आज वह अकस्मात् ही लेता-देता और खाता-पीता दीखता है ॥७॥

एक-बार उसकी इस स्थिति को जानने की इच्छा से मैंने उसे खूब खिला-पिलाकर और नशे में मत्त बनाकर पूछा, तो उसने यह बताया—॥८॥

'मैंने राजभवन के द्वार पर रत्नों से भरा एक कंकण (हाथ का आभूषण) पाया और उसमें से एक रत्न निकालकर मैंने बेच दिया ॥९॥

उस रत्न को मैंने, हिरण्यगुप्त नामक जौहरी के पास एक लाख दीनार मूल्य पर बेचा। इसी कारण मैं आनन्द कर रहा हूँ' ॥१०॥

ऐसा कहकर उसने आपके नाम से अंकित उस कंकण को मुझे दिखाया, इसीलिए मैंने महाराज से निवेदन किया है ॥११॥

यह सुनकर वत्सराज ने कड़े के साथ उस भारवाहक (मजदूर) को और रत्न के साथ साथ हिरण्यगुप्त वैश्य को वहाँ बुलवाया ॥१२॥

और, उस कंकण को देखकर राजा ने अपने-आप ही कहा—'ओह ! अब स्मरण आ गया, यह कंकण मेरे नगर-भ्रमण करते समय हाथ से निकलकर गिर गया था' ॥१३॥

तब सभासदों ने उस भारवाहक से राजा के सामने ही पूछा कि 'राजा के नाम खुदे हुए इस कंकण को तूने कहाँ से चुराया ?' तब वह बोला–'बोझा ढोकर जीवन-निर्वाह करनेवाला मैं राजा के नाम के अक्षर को कैसे जान सकता हूँ? दरिद्रता के दुःख से जले हुए मैंने इसे ले लिया ॥१४-१५॥

भारवाहक के ऐसा कहने पर, रत्न खरीदने के अपराधी हिरण्यगुप्त ने, कहा, 'मैंने बाजार में बिना जोर-दबाव के अधिक मूल्य देकर इस रत्न को इससे खरीदा है' ॥१६॥

इस रत्न पर राजा का कोई चिह्न नहीं है। इसलिए, मैंने खरीदा और इसने मूल्य के रूप में पाँच हजार रुपये मुझसे लिये ॥१७॥

हिरण्यगुप्त का यह वचन सुनकर वहाँ बैठा हुआ राजमंत्री यौगन्धरायण बोला—'इस विषय में किसी का दोष नहीं है। दरिद्र और निरक्षर भारवाहक को क्या कहा जा सकता है ? दरिद्रता के कारण ही चोरी की जाती है। फिर मिले हुए धन को किसने छोड़ा है ?' ॥१८-१९॥

मूल्येन रत्नग्राही च न वाच्यो वणिगप्यसौ।
एतन्महामन्त्रिवचो वत्सेशः श्रद्दधे तदा ॥२०॥
दत्वा पञ्चसहस्रीं च भारिकेण व्ययीकृताम्।
हिरण्यगुप्ताद्वणिजो रत्नं तस्मात् स्वमाददे ॥२१॥
भारिकं चाकरोन्मुक्तं गृहीत्वा कटकं निजम्।
भुक्तपञ्चसहस्रीको गतभीः सोऽप्यगाद् गृहम् ॥२२॥
विश्वस्तघाती पापोऽयमिति चान्तर्द्विषन्नृपः।
रत्नदत्तं स वणिजं कार्यार्थं तममानयत् ॥२३॥
गतेषु तेषु राजाग्रगतोऽथोचद्वसन्तकः।
अहो दैवाभिशप्तानां प्राप्तोऽप्यर्थः पलायते ॥२४॥

भद्रघटकथा

अस्य भद्रघटोदन्तः संवृत्तो भारिकस्य यत्।
तथाहि कश्चिदासीत्प्राक्पुरे पाटलिपुत्रके ॥२५॥
शुभदत्तः स नाम्ना च प्रत्यहं काष्ठभारकम्।
वनादानीय विक्रीय पुष्णाति स्म कुटुम्बकम् ॥२६॥
एकदा चागतो दूरं वनं दैवाद्ददर्श सः।
तत्रस्थांश्चतुरो यक्षान् दिव्याभरणवाससः ॥२७॥
ते भीतं वीक्ष्य तं प्रीत्या सर्वे पृष्ट्वा यथातथम्।
बुद्ध्वा दरिद्रमुत्पन्नकृपा[1] यक्षा बभाषिरे ॥२८॥
इहास्मदन्तिके तिष्ठ भद्र कर्मकरो भवान्।
अक्लेशं गृहनिर्वाहं करिष्यामो वयं तव ॥२९॥
इत्युक्तस्तैस्तथेत्यासीच्छुभदत्तस्तदन्तिके।
स्नानादिपरिचर्यां च कृत्स्नां तेषां चकार सः ॥३०॥
सञ्जाते भोजनस्थाने यक्षास्ते जगदुश्च तम्।
आहारमस्मानमुतो देहि भद्रघटादिति ॥३१॥
अन्तःशून्यं स तं दृष्ट्वा घटं यावद्विलम्बते।
तावत्ते गुह्यका भूयस्तमाहुः सस्मिताननाः ॥३२॥

---

१. उत्पन्ना कृपा दया येषान्ते, सञ्जातकरुणाः।

मूल्य देकर रत्न खरीदनेवाले वैश्य का भी इसमें क्या अपराध है। राजा उदयन ने मन्त्री की बातों का समर्थन किया ॥२०॥

और, भारवाहक द्वारा व्यय कर दिये गये पाँच हजार रुपये वैश्य को देकर उससे रत्न ले लिया और पाँच हजार रुपये खा जानेवाले मजदूर से कंकण लेकर राजा ने, उसे मुक्त कर दिया। वह मजदूर भी अपने घर गया ॥२१-२२॥

यह रत्नदत्त–'विश्वासघाती और दुष्ट है', मन में इस प्रकार समझते हुए भी राजा ने प्रयोजनवश उसका सम्मान किया ॥२३॥

उन सब के चले जाने पर राजा के सम्मुख बैठा हुआ वसन्तक बोला—'ओह! भाग्य से मारे हुए व्यक्तियों से मिला हुआ धन भी नष्ट हो जाता है' ॥२४॥

इस विषय में भद्रघट की भी इस भारवाहक के ही समान स्थिति हुई। सुनिए—

भद्रघट की कथा

पाटलिपुत्र नामक नगर में शुभदत्त नाम का एक लकड़हारा था। वह जंगल से लकड़ी काटकर लाता और उसे बेचकर अपने परिवार का पालन करता था ॥२५–२६॥

एकबार वह जंगल में दूर तक चला गया और उसने दैवयोग से वहाँ रहनेवाले और दिव्य वस्त्रालंकार धारण किये हुए चार यक्षों को देखा ॥२७॥

उन्हें देखकर डरे हुए शुभदत्त को उन (यक्षों) ने ऐसा-वैसा ही दरिद्र समझकर दया करके कहा—॥२८॥

'हे भद्र, तू यहाँ हमलोगों के पास सेवक होकर रह। हमलोग विना किसी कष्ट के तेरे घर का निर्वाह करेंगे ॥२९॥

उनके इस प्रकार कहने पर शुभदत्त ने स्वीकार कर लिया और स्नान आदि कराने के कार्य से उनकी सेवा करने लगा ॥३०॥

तब भोजन का समय आने पर, भोजन के लिए बैठे हुए यक्षों ने उससे कहा कि इस सामने रखे भद्रघट से हमको भोजन लाओ ॥३१॥

उस घट को अन्दर से सूना देखकर वह चुप खड़ा हुआ कुछ विलम्ब करने लगा। तब वे यक्ष मुस्कराते हुए फिर उससे बोले–॥३२॥

शुभदत्त न वेत्सि त्वं क्षिप हस्तं घटान्तरे।
यथेष्टं लप्स्यसे सर्वं घटः कामप्रदो ह्यसौ ॥३३॥
तच्छ्रुत्वा प्रक्षिपत्यन्तः पाणिं यावद् घटान्तरे।
तावदाहारपानादि कामितं दृष्टवानसौ ॥३४॥
. . . . । [1]
शुभदत्तो ददौ तेभ्यो बुभुजे च स्वयं ततः ॥३५॥
एवं परिचरन् यक्षान् भक्त्या भीत्या च सोऽन्वहम्।
तस्थौ कुटुम्बचिन्तार्त्तः शुभदत्तस्तदन्तिके ॥३६॥
तत्कुटुम्बं च दुःखार्त्तं स्वप्नादेशेन गुह्यकैः।
आश्वासितं तत्प्रसादाद्रमते स्म ततश्च सः ॥३७॥
मासमात्रेण यक्षास्ते शुभदत्ते तमभ्यधुः।
तुष्टाः स्मस्तेऽनया भक्त्या ब्रूहि किञ्चिद्ददाम ते ॥३८॥
तच्छ्रुत्वा स जगादैतांस्तुष्टाः स्थ यदि सत्यतः।
एष भद्रघटस्तन्मे युष्माभिर्दीयतामिति ॥३९॥
ततस्तमूचुर्यक्षास्ते नैतं शक्ष्यसि रक्षितुम्।
भङ्क्ते पलायते ह्येष तद्वृणीष्वापरं वरम् ॥४०॥
इत्युक्तोऽपि स यक्षैस्तैः शुभदत्तोऽपरं यदा।
वरं नैच्छत्तदा तस्मै ते तं भद्रघटं ददुः ॥४१॥
ततः प्रणम्य तान् हृष्टो घटमादाय तं जवात्।
गृहं स शुभदत्तः स्वं प्राप नन्दितबान्धवः ॥४२॥
तत्र तस्माद्घटाल्लब्ध्वा भोजनादि निवेश्य तत्।
गुप्त्यर्थमन्यभाण्डेषु सोऽभुङ्क्त स्वजनैः सह ॥४३॥
भारमुक्तो भजन्भोगान्पानमत्तोऽथ जातु सः।
कुतस्तवैषा भोगश्रीरित्यपृच्छयत बन्धुभिः ॥४४॥
स व्यक्तमब्रुवन् मूढो गर्वेणेप्सितकामदम्।
गृहीत्वा घटकं स्कन्धे प्रारेभे बत नर्त्तितुम् ॥४५॥
नृत्यतस्तस्य च स्कन्धान्मदोद्रेकस्खलद्गतेः[2]।
स भद्रघटको यातः पतित्वा भुवि खण्डशः ॥४६॥

---

१. एतत्पद्यार्धं मूलपुस्तके त्रुटितमस्ति।
२. मद्यमदमत्ततया स्खलितचरणस्येत्यर्थः।

'शुभदत्त ! तुझे मालूम नहीं है। घड़े के अन्दर हाथ डालोगे, तो जो चाहोगे, इच्छानुसार मिलेगा; क्योंकि यह घड़ा इच्छित भोजन-वस्तु देनेवाला है ॥३३॥

यह सुनकर शुभदत्त ने जैसे ही घड़े के अन्दर हाथ डाला, इच्छित अन्न, पान आदि उसे प्राप्त हुए। उसे उसने उन चार यक्षस्वामियों को खिलाया और उसी से निकालकर स्वयं भी उसने खाया ॥३४–३५॥

इस प्रकार, भक्ति और भय से यक्षों की सेवा करता हुआ शुभदत्त, केवल अपने कुटुम्ब के लिए से चिन्तित रहता था ॥३६॥

उसके दुःखित परिवार को भी यक्षों ने, स्वप्न में आदेश देकर निश्चिन्त कर दिया, इसलिए शुभदत्त और भी मग्न रहने लगा ॥३७॥

एक मास के पश्चात् उन यक्षों ने उससे कहा—'हमलोग तेरी सेवा से सन्तुष्ट हैं, बोल तुझे क्या दें' ॥३८॥

यह सुनकर वह यक्षों से बोला—'यदि आपलोग मुझसे प्रसन्न हैं, तो मुझे आपलोग भ[illegible]े दें ॥३९॥

तब उसे यक्षों ने कहा—'तू इसे रख न सकेगा; क्योंकि टूट जाने पर यह भाग जाता है, इसलिए दूसरा वर माँग' ॥४०॥

यक्षों के इस प्रकार कहने पर भी जब शुभदत्त ने नहीं माना, तब उनलोगों ने उसे भद्र घट दे दिया ॥४१॥

तब वह प्रसन्न शुभदत्त, उन लोगों को प्रमाण करके और घड़े को उठाकर तेजी के साथ अपने घर आया और अपने कुटुम्ब को आनन्दित किया ॥४२॥

वहाँ घर पर छिपकर वह उस घड़े से भोजन-सामग्री निकालकर दूसरे पात्रों में रखकर अपने कुटुम्बियों के साथ खाता था ॥४३॥

बोझ उठाने के भार से मुक्त और विविध प्रकार के भोगों को भोगता हुआ वह एक बार जब मद्यपान करके नशे में चूर हो रहा था, तभी उसके बन्धुओं ने उससे पूछा कि तुम्हें भोगने के लिए यह लक्ष्मी कहाँ से मिली ? ॥४४॥

वह मूर्ख, मुख से कुछ उन्हें न बताकर अभिमान के मद से मनचाहा फल देनेवाले उस घट को ही कन्धे पर लेकर नाचने लगा ॥४५॥

नशे में झूमते और नाचते हुए उसके पैर फिसल जाने के करण कन्धे से पृथ्वी पर गिरकर वह घड़ा टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया ॥४६॥

तदैव चाक्षतीभूय स जगाम यथागतम्।
पूर्वावस्थां च स प्राप शुभदत्तो विषादवान् ॥४७॥
तदेवं पानदोषादिप्रमादाहृतबुद्धयः।
अभव्याः प्राप्तमप्यर्थं नैव जानन्ति रक्षितुम् ॥४८॥
इति भद्रघटाख्यानहासं श्रुत्वा वसन्तकात्।
उत्थाय चक्रे वत्सेशः स्नानाहारादिकाः क्रियाः ॥४९॥
नरवाहनदत्तोऽपि स्नात्वा भुक्त्वान्तिके पितुः।
दिनान्ते सखिभिः साकं जगाम भवनं निजम् ॥५०॥
तत्र रात्रावनिद्रं तं शयनीयगतं सुहृत्।
शृण्वत्सु सचिवेष्वेतेष्ववोचन् मरुभूतिकः ॥५१॥
दासीसङ्गेच्छया देव जाने नान्तःपुरं त्वया।
आहूतं सापि नाहूता तेन निद्राद्य नास्ति ते ॥५२॥
तत्किमद्यापि वेश्यासु जानन्नप्यनुरज्यसे।
न ह्यासां चास्ति सद्भावस्तथा चैतां कथां शृणु ॥५३॥

आलजालकथा

अस्तीह चित्रकूटाख्यमृद्धिमन्नगरं महत्।
तत्राभूद्रत्नवर्माख्यो महाधनपतिर्वणिक् ॥५४॥
ईश्वराराधनादेकस्तस्य सूनुरजायत।
अन्तश्चेश्वरवर्माणं नाम्ना चक्रे स तं सुनम् ॥५५॥
अधीतविद्यमासन्नयौवनं वीक्ष्य तं च सः।
एकपुत्रो वणिङ्मुख्यो रत्नवर्मा व्यचिन्तयत् ॥५६॥
रूपिणी कुसृतिः[1] सृष्टा धनप्राणापहारिणी।
आढ्यानां यौवनान्धानां वेश्या नामेह वेधसा ॥५७॥
तदर्पयामि कुट्टन्याः कस्याश्चिदमुमात्मजम्।
वेश्याव्याजोपशिक्षार्थं[2] येन ताभिर्न वञ्च्यते ॥५८॥

---

१. साक्षान्नरकरूपिणीत्यर्थः।

२. पुराकाले वेश्याव्याजशिक्षार्थं धनिकपुत्राः कुट्टनीभिः शिक्ष्यन्ते स्म। तद्यथा श्रूयते—
देशाटनं पण्डितमित्रता च वाराङ्गना राजसभाप्रवेशः।
अनेकशास्त्राणि विलोकितानि चातुर्यमूलानि भवन्ति पञ्च॥

तदनन्तर, वह घड़ा, फूटने पर भी फिर उसी तरह का होकर उन यक्षों के पास ही पहुँच गया और वह शुभदत्त फिर विषाद-युक्त होकर अपनी (लकड़हारे की) स्थिति में आ गया ॥४७॥

इस प्रकार मद्यपान करने की बुरी आदतों से अभागे व्यक्ति, अच्छी सम्पत्ति पाकर भी उसे रख नहीं सकते ॥४८॥

राजा उदयन, इस प्रकार वसन्तक से भद्र घट की हास्यपूर्ण कहानी सुनकर स्नान, आहार आदि क्रिया में लग गया ॥४९॥

नरवाहनदत्त भी, स्नान करके और पिता के समीप ही भोजन करके वहीं रह गया। सायंकाल में अपने मित्रों, मन्त्रियों के साथ अपने भवन को गया ॥५०॥

अपने भवन में रात्रि के समय पलंग पर पड़े हुए, निद्रा-रहित नरवाहनदत्त को उसका मित्र मरुभूति, अन्य सभी मन्त्रियों को सुनाते हुए बोला—'स्वामिन्, ऐसा प्रतीत होता है कि आज दासी (वेश्या) से संगम करने की इच्छा से तुमने रानियों को नहीं बुलाया और न उस दासी को ही बुलाया, इसीलिए तुम्हें नींद नहीं आ रही है ॥५१-५२॥

तुम सब कुछ समझते हुए भी वेश्याओं का साथ क्यों नहीं छोड़ते ? वेश्याओं के हृदय में सद्भाव नहीं रहता। इस सम्बन्ध में एक कथा सुनो—॥५३॥

आलजाल की कथा

इस पृथ्वी पर चित्रकूट नाम का बहुत धन-सम्पन्न नगर है। वहाँ रत्नवर्मा नाम का एक बड़ा ही धनपति वैश्य था ॥५४॥

ईश्वर की आराधना से उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ, इसलिए उसने उसका नाम ईश्वर-वर्मा रख दिया ॥५५॥

पढ़े-लिखे और जवानी में पैर रखते हुए उस पुत्र को देखकर रत्नवर्मा ने सोचा—॥५६॥

'ब्रह्मा ने इस संसार में यौवन से अंधे धनवालों के लिए वेश्या को धन और प्राणों का हरण करनेवाला सुन्दर रूपशाली नरक बना दिया है ॥५७॥

इसलिए, इस पुत्र को वेश्याओं के छल-कपट सीखने के लिए किसी कुट्टनी को सौंप देता हूँ, जिससे कि यह वेश्याओं द्वारा ठगा न जा सके' ॥५८॥

इत्यालोच्य स पुत्रेण सहैवेश्वरवर्मणा।
यमजिह्वाभिधानायाः कुट्टन्याः सदनं ययौ ॥५९॥
तत्र स्थूलहनुं दीर्घदशनां भुग्ननासिकाम्।
शिक्षयन्तीं दुहितरं कुट्टनीं तां ददर्श सः ॥६०॥
'धनेन पूज्यते पुत्रि सर्वो वेश्या विशेषतः।
तच्च नास्त्यनुरागिण्या रागं वेश्या त्यजेदतः ॥६१॥
दोषाग्रदूतो रागो हि वेश्यापश्चिमसन्ध्ययोः।
मिथ्यैव दर्शयेद्वेश्याः तं नटीव सुशिक्षिता ॥६२॥
रञ्जयेत्तेन मा पूर्वं दुह्याद्रक्तं ततो धनम्।
दुग्धार्थं च त्यजेदन्ते प्राप्तार्थं पुनराहरेत् ॥६३॥
समो यूनि शिशौ वृद्धे विरूपे रूपवत्यपि।
वेश्याजनो यो मुनिवत्स चार्थं परमश्नुते ॥६४॥
इति ब्रुवाणां दुहितुस्तामुपागात्स कुट्टनीम्।
रत्नवर्मा कृतातिथ्यस्तया च समुपाविशत् ॥६५॥
अब्रवीत्ताञ्च पुत्रो मे त्वयार्थे शिक्ष्यतामयम्।
वेशयोपित्कला येन वैदग्ध्यं प्राप्नुयादसौ ॥६६॥
दीनाराणां सहस्रं च निष्क्रयं ते ददाम्यहम्।
तच्छुत्वा तस्य कामं तं प्रतिपेदे तथेति सा ॥६७॥
ततो वितीर्य दीनारान् पुत्रं तस्यै समर्प्य च।
स तमीश्वरवर्माणं रत्नवर्मा ययौ गृहम् ॥ ६८॥
अथात्रेश्वरवर्मा स यमजिह्वागृहे कलाः।
वर्षेणैकेन शिक्षित्वा पितुस्तस्य गृहं ययौ ॥६९॥
प्राप्तषोडशवर्षश्च पितरं तमुवाच सः।
अर्थाद्धि धर्मकामौ नः पूजार्थादर्थतः प्रथा'[1] ॥७०॥
एवमुक्तवते तस्मै श्रद्धाय स तथेति तत्।
पञ्चानां द्रव्यकोटीनां भाण्डं[2] प्रीतो ददौ पिता ॥७१॥
तदादाय वणिक्पुत्रः ससार्थः स शुभेऽह्नि।
प्रायादीश्वरवर्माथ स्वर्णद्वीपाभिवाञ्छया ॥७२॥

१. अत्र किञ्चित्त्रुटितं भाति। २. विक्रेयद्रव्यम्। त्रुटितोऽयं पाठः।

ऐसा सोचकर वह रत्नवर्मा, अपने पुत्र ईश्वरवर्मा को साथ लेकर यमजिह्वा नाम की कुट्टनी के पास गया ।।५९।।

वहाँ उसने मोटी ठुड्डीवाली, लम्बे दाँतोंवाली, बीच में बैठी हुई (चिपटी) नाकवाली कुट्टनी को अपनी पुत्री को इस प्रकार की शिक्षा देते हुए देखा ।।६०।।

'बेटी, धन से ही सबकी पूजा होती है। विशेष करके वेश्या-प्रेमी व्यक्ति धन नहीं रख सकता। अतः, वेश्या को प्रेम से दूर रहना चाहिए। राग (प्रेम) वेश्या और सायंकालीन सन्ध्या के लिए दोषों का अग्रदूत है, इसलिए सुशिक्षिता वेश्या को नटी के समान कृत्रिम प्रेम प्रदर्शित करना चाहिए ।।६१-६२।।

पहले तो उसे अपने प्रति आसक्त व्यक्ति का मनोरंजन करना चाहिए, तब उसका रक्त और उसके बाद उसका धन दुहना चाहिए उसका धन दुह लेने पर उसे त्याग देना चाहिए और यदि उसे धन मिल जाय, तो फिर उसे दुहना चाहिए ।।६३।।

जो वेश्या मुनियों के समान, युवक मे, बालक में, वृद्ध में, कुरूप में और सुन्दर में समान भाव रखती है, वह परम अर्थ (प्रचुर धन) प्राप्त करती है' ।।६४।।

अपनी कन्या को इस प्रकार की शिक्षा देती हुई कुट्टनी के पास वह रत्नवर्मा गया और उसके स्वागत-सत्कार करने पर उसके पास जाकर बैठ गया ।।६५।।

और कहने लगा-'हे आर्ये, मेरे इस पुत्र को वेश्याओं की कला सिखाओ। जिससे यह चतुर नागरिक बन सके। इसकी शिक्षा के मूल्य-रूप में एक सहस्र दीनार तुझे देता हूँ।' यह सुनकर उसने वैश्य की बात स्वीकार कर ली ।।६६-६७।।

तदनन्तर, वह दीनार देकर और पुत्र ईश्वरवर्मा को उसे सौंपकर रत्नवर्मा अपने घर आ गया ।।६८।।

तत्पश्चात् ईश्वरवर्मा, एक वर्ष तक यमजिह्वा के घर में रहकर शिक्षा ग्रहण करके सोलहवाँ वर्ष प्राप्त होने पर अपने पिता के घर लौट आया ।।६९।।

घर आकर वह पिता से बोला 'धर्म' और 'अर्थ'—ये दोनों पुरुषार्थ, अर्थ से ही सिद्ध होते हैं। अर्थ की उपासना से बढ़कर दूसरी कोई उपासना नहीं है ।।७०।।

इस प्रकार कहते हुए पुत्र पर शिक्षित होने का विश्वास करके उसने उसे प्रसन्नतापूर्वक व्यापार के लिए पाँच करोड़ मुद्रा का माल दिया ।।७१।।

उसे लेकर वह वैश्य का पुत्र, व्यापारियों के दल के साथ, शुभ दिन में स्वर्णद्वीप जाने की इच्छा से चला ।।७२।।

तस्या रूपेण नृत्तेन गीतेन त हृतात्मनः।
वणिजोऽत्र स्थितस्याथ तस्य मासद्वयं ययौ ॥८८॥
तावच्च तस्यै सुन्दर्यै कोट्यौ द्वे स ददौ क्रमात्।
अथोपेत्यार्थदत्ताख्यः सखा स्वैरमुवाच तम् ॥८९॥
सखे किं कुट्टनीशिक्षा सा यत्नोपार्जितापि ते।
कातरस्यास्त्रविद्येव[1] निष्फलावसरे गता ॥९०॥
वेश्याप्रेमणि सद्भावो यदस्मिन् बुध्यते त्वया।
सत्यं भवति किं जातु जलं मरुमरीचिषु ॥९१॥
तत्सर्वं क्षीयते यावदिहैव न धनं तव।
तावद्व्रजामो बुध्वा हि क्षमेतैतत्पिता न ते ॥९२॥
इत्युक्तस्तेन मित्रेण वणिक्पुत्रो जगाद सः।
सत्यं न वेश्यास्वाश्वासः सुन्दरी तु न तादृशी ॥९३॥
क्षणं हि मामपश्यन्ती मुञ्चेत् प्राणानसौ सखे।
तद्गत्वा बोधयत्वेतां गन्तव्यं यदि सर्वथा ॥९४॥
एवमुक्तः स तेनार्थदत्तस्तस्यैव सन्निधौ।
मातुर्मकरकट्याश्च सुन्दरीमवदत्ततः ॥९५॥
तव तावदसामान्या प्रीतिरीश्वरवर्मणि।
गन्तव्यं चाधुनावश्यं स्वर्णद्वीपं वणिज्यया ॥९६॥
ततः प्राप्स्यत्ययं लक्ष्मीं ययागत्य त्वदन्तिके।
यावत्कालं सुखं स्थास्यत्यनुमन्यस्व तत्सखि ॥९७॥
तच्छ्रुत्वा साश्रुनयना पश्यन्तीश्वरवर्मणः।
मुखं कृतविषादा सा सुन्दरी च तमभ्यधात् ॥९८॥
यूयं जानीत किमहं वच्म्यन्तमनवेक्ष्य कः।
कस्य प्रत्येति तदलं यद्विधत्तां विधिर्मम ॥९९॥
तच्छ्रुत्वोवाच माता तां मा दुःखं धृतिरस्तु ते।
एष्यत्येव प्रियोऽयं ते सिद्धार्थस्त्वां न हास्यति ॥१००॥
इति माता किलाश्वास्य कृतसंवित्तया सह।
मार्गाग्रे गुप्तमेकस्मिन् कूपे जालमकारयत् ॥१०१॥

---

१. भीरोरित्यर्थः।

उसके सौन्दर्य, नृत्य, संगीत आदि पर मुग्ध ईश्वरवर्मा को वहाँ रहते-रहते दो महीने बीत गये ॥८८॥

तब तक वह सुन्दरी को दो करोड़ मुद्रा का धन दे चुका था। तब उसका मित्र अर्थदत्त एकान्त में आकर उससे कहने लगा—॥८९॥

'मित्र, इतने प्रयत्न से प्राप्त की गई उस कुट्टनी की शिक्षा क्या डरपोक की अस्त्र-विद्या के समान समय पर ही निष्फल हो गई ॥९०॥

यदि तुम इस वेश्या के प्रेम में सच्ची भावना का अनुभव कर रहे हो, तो यह समझना उचित है कि मरुस्थल की मृगतृष्णा में जल अवश्य है ॥९१॥

इसलिए, यह सारा धन जबतक समाप्त नहीं होता, तबतक यहाँ से निकल चलें। तुम्हारे पिता इस सारे धन का अपव्यय जानकर कभी तुम्हें क्षमा नहीं करेंगे' ॥९२॥

उस मित्र के इस प्रकार कहने पर ईश्वरवर्मा ने कहा—'सच है, वेश्या पर विश्वास न करना चाहिए, किन्तु यह सुन्दरी ऐसी अविश्वास्य नहीं है' ॥९३॥

वह तो मुझे एक क्षण भी न देखकर प्राण छोड़ देगी। इसलिए, यदि चलना है, तो उसे चलकर समझाओ' ॥९४॥

ईश्वरवर्मा से इस प्रकार कहा गया अर्थवर्मा उस सुन्दरी के पास गया और उसकी माता मकरकटी के सामने ही उससे बोला—॥९५॥

'यह सच है कि ईश्वरवर्मा पर, तुम्हारा असाधारण प्रेम है। किन्तु, व्यापार के लिए स्वर्णद्वीप जाना भी अब आवश्यक हो गया है ॥९६॥

वहाँ से यह धन कमायेगा, तो बहुत समय तक तुम्हारे पास रहेगा। इसलिए, उसे जाने दो' ॥॥९७॥

यह सुनकर आँखों में आँसू भरकर ईश्वरवर्मा के मुँह की ओर देखती हुई सुन्दरी अर्थदत्त से बोली—॥९८॥

'आपलोग ही जानें, मैं क्या कहूँ। अन्त देखे विना कौन किसका विश्वास करता है? भाग्य जो न कराये' ॥९९॥

यह सुनकर उसकी माता कहने लगी—'यह तुम्हारा प्रेमी, धन कमाकर फिर आयगा, यह तुझे छोड़ेगा नहीं' ॥१००॥

उसकी माता ने इस प्रकार उसे आश्वासन देकर और उससे सम्मति करके रास्ते में पड़नेवाले एक गुप्त कुएँ में जाल बँधवा दिया ॥१०१॥

तदा चेश्वरवर्माभूत्तद्दोलारूढमानसः।
शुचेवाल्पाल्पमाहारपानं चक्रे च सुन्दरी ॥१०२॥
गीतवादित्रनृत्तेषु न बबन्ध रतिं च सा।
आश्वास्यते स्म प्रणयैस्तैस्तैरीश्वरवर्मणा ॥१०३॥
ततो दिने वयस्योक्ते सुन्दरीमन्दिरात्ततः।
चचालेश्वरवर्मा स कुट्टनीकृतमङ्गलः ॥१०४॥
अनुवव्राज चोदश्रुः सुन्दरी तं समातृका।
नगराद्बहिराकूपाद्बद्धान्तर्जालकात्ततः । ॥१०५॥
ततो निवर्त्य यावच्च सुन्दरीं तां प्रयाति सः।
तावदात्मा तया कूपे जालपृष्ठे निचिक्षिपे ॥१०६॥
हा हा स्वामिनि हा पुत्रीत्याक्रन्दः सुमहांस्ततः।
दासीनां भृत्यवर्गस्य तन्मातुश्चात्र शुश्रुवे ॥१०७॥
तेन प्रतिनिवृत्त्यैव समित्रः स वणिक्सुतः।
कूपे क्षिप्ततनुं कान्तां बुद्ध्वा मोहमगात्क्षणम् ॥१०८॥
सप्रलापं च शोचन्ती तस्मिन् मकरकट्यथ।
स्वानवातारयद् भृत्यान्कूपे स्निग्धान् ससंविदः[1] ॥१०९॥
रज्जुभिस्तेऽवतीर्यैव दिष्ट्या जीवति जीवति।
इत्युक्त्वा तां ततः कूपादुत्क्षिपन्ति स्म सुन्दरीम् ॥११०॥
उत्क्षिप्ता मृतकल्पं सा कृत्वात्मानं निवेदिनम्।
प्रत्यागतं वणिक्पुत्रमालापं शनकैर्ददौ ॥१११॥
समाश्वस्तां समादाय हृष्टस्तां सानुगः प्रियाम्।
अगादीश्वरवर्मासौ प्रत्यावृत्त्यैव तद्गृहम् ॥११२॥
निश्चित्य सुन्दरीप्रेमप्रत्ययं जन्मनः फलम्।
तत्प्राप्तिमेव मत्वा स यात्राबुद्धिं पुनर्जहौ ॥११३॥
ततो बद्धस्थितिं तत्र सोऽर्थदत्तः सखा पुनः।
तमभ्यधात् सखे मोहात्किमात्मा नाशितस्त्वया ॥११४॥
मा भूत्ते सुन्दरीस्नेहप्रत्ययः कूपपातनः।
अतर्क्या कुट्टनीकूटरचना हि विधेरपि ॥११५॥

---

१. प्रथममेव शिक्षितान्।

तब ईश्वरवर्मा का चित्त संशय में पड़ गया। उधर उसके शोक से ही मानों सुन्दरी के भोजन आदि की मात्रा भी घट गई। अर्थात्, उसने शोक प्रकट करने के लिए अपना खाना-पीना कम कर दिया ॥१०२॥

अब नाचने, गाने और बजाने में वह उतना प्रेम प्रदर्शित नहीं करती थी। ईश्वरवर्मा उसे विविध प्रकार से धीरज और आश्वासन देता था ॥१०३॥

तदनन्तर, मित्र के बताये हुए दिन, वह ईश्वरवर्मा, सुन्दरी के घर से यात्रा के लिए निकला और कुट्टनी ने यात्रा के सगुन आदि करके मंगलाचार किया ॥१०४॥

रोती हुई सुन्दरी माता के साथ उस कुएँ तक उसे पहुँचाने के लिए गई, जिसके ऊपर जाल बँधा हुआ था ॥१०५॥

तदनन्तर, जब ईश्वरवर्मा, सुन्दरी को लौटाकर आगे चला, तब सुन्दरी ने अपने को उस बँधे हुए जालवाले कूप में गिरा दिया ॥१०६॥

तब 'हाय मालकिन! हाय बेटी! —'इस प्रकार की चिल्लाहट उसकी सेविकाएँ और माता करने लगीं। चिल्लाहट सुनकर मित्र के साथ वह वैश्यपुत्र लौट आया और अपनी प्रेयसी को कुएँ में गिरा जानकर मूर्च्छित हो गया ॥१०७—१०८॥

तदनन्तर, प्रलाप के साथ कन्या के लिए शोक प्रकट करती हुई मकरकटी ने, पहले से ही साधे हुए अपने सेवकों को रस्सी के सहारे उस कूप में उतारा। उन्होंने 'भाग्य से जी रही है, जी रही है, इस प्रकार कहकर सुन्दरी को कुएँ से बाहर निकाला। वह अपने को मुर्दे के समान बनाये हुए थी। लौटे हुए ईश्वरवर्मा से उसने टूटे-फूटे शब्दों में धीरे-धीरे कुछ अस्पष्ट-सी बात कही ॥१०९—१११॥

कुछ समय के पश्चात् स्वस्थ हुई उस प्रेयसी को लेकर ईश्वरवर्मा, प्रसन्नचित्त होकर अपने अनुयायियों के साथ लौटकर फिर सुन्दरी के ही घर में आ गया ॥११२॥

और, सुन्दरी के प्रेम का विश्वास प्राप्त कर उसने अपने जन्म को सफल समझा तथा उसकी प्राप्ति को ही अर्थप्राप्ति समझकर यात्रा का विचार त्याग दिया ॥११३॥

तब वहीं जमकर रहते हुए ईश्वरवर्मा को, उसके मित्र अर्थदत्त ने, फिर उससे कहा— 'मित्र, मोह में पड़कर तुमने फिर अपना नाश कर लिया ॥११४॥

कूप में गिरने से तुम्हें सुन्दरी के स्नेह का विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। कुट्टनी की कपट-रचना को ब्रह्मा भी नहीं समझ सकता ॥११५॥

पितुश्च क्षपितार्थः किं वक्ष्यसे यास्यसि क्व वा।
तदितोऽद्यापि निर्याहि कल्याणे चेन्मतिस्तव॥११६॥
एतत्तस्य वचः सख्युरवधीर्यं वणिग्युवा।
मासेनान्यद्व्ययीचक्रे तत्र कोटित्रयं स तत्॥११७॥
ततो हृतस्वो दत्तार्धचन्द्रकः सुन्दरीगृहात्।
तया मकरकटयाथ कुट्टन्या निरवास्यत॥११८॥
अर्थदत्तादयस्ते च गत्वा स्वनगरं द्रुतम्।
तत्पित्रे तत्समाचख्युर्यथावृत्तमशेषतः॥११९॥
स तत्पिता रत्नवर्मा तद्बुद्ध्वा दुःखितो भृशम्।
कुट्टनीं यमजिह्वां तां गत्वावोचद्वणिक्पतिः॥१२०॥
गृहीत्वा मूल्यमीदृक्स त्वया मे शिक्षितः सुतः।
हृतं मकरकटया यत्सर्वस्वं तस्य हेलया॥१२१॥
इत्युक्त्वा पुत्रवृत्तान्तं तस्यै स तमवर्णयत्।
ततः सा यमजिह्वां तं वृद्धकुट्टन्यभाषत॥१२२॥
आनाययेह पुत्रं ते करिष्यामि तथा यथा।
तस्या मकरकटयास्तत्सर्वस्वं स हरिष्यति॥१२३॥
एवं तया प्रतिज्ञाते कुट्टन्या यमजिह्वया।
तदैव शीघ्रं सन्दिश्य वृत्त्या दानपुरःसरम्॥१२४॥
रत्नवर्मा ततस्तस्य पुत्रस्यानयनाय सः।
तन्मित्रमर्थदत्तं च प्रजिघाय हितैषिणम्॥१२५॥
अर्थदत्तः स गत्वा च तत्काञ्चनपुरं पुरम्।
तस्मै तं सर्वसन्देशं शशंसेश्वरवर्मणे॥१२६॥
पुनस्तं चाब्रवीन्मित्र नाकार्षीस्त्वं वचो हि मे।
तदद्य वेश्यासद्भावो दृष्टः प्रत्यक्षतस्त्वया॥१२७॥
अर्धचन्द्रस्त्वया प्राप्तो दत्त्वा तत्कोटिपञ्चकम्।
कः प्राज्ञो वाञ्छति स्नेहं वेश्यासु सिकतासु च॥१२८॥
किमुच्यते वा भवतो वस्तुधर्मोऽयमीदृशः।
तावद्विदग्धो वीरश्च नरो भागी शुभस्य च॥१२९॥
यावत्पतति नैवासो रामाविभ्रमभूमिषु।
तदागच्छ पितुः पार्श्वं मन्युप्रतिकृतिं कुरु॥१३०॥

पिता का धन, नष्ट करने के बाद उनसे क्या कहोगे और कहाँ जाओगे ? इसलिए, यदि अपना कल्याण चाहते हो, तो अब भी यहाँ से निकल चलो' ॥११६॥

उस युवक ने मित्र का कहना न मानकर शेष तीन करोड़ मुद्रा भी व्यय कर डाली ॥११७॥

सारा धन समाप्त होने पर कुट्टनी कमरकटी ने, ईश्वरवर्मा को सेवकों (नौकरों) द्वारा अर्धचन्द्र (गरदनिया) दिलवाकर निकलवा दिया ॥११८॥

तब अर्थदत्त आदि उसके साथियों ने, अपने नगर में जाकर उसके पिता को सम्पूर्ण समाचार यथावत् सुना दिया ॥११९॥

यह समाचार सुनकर व्यापारियों का चौधरी रत्नवर्मा, अत्यन्त दुःखी होकर यमजिह्वा कुट्टनी के पास जाकर बोला—॥१२०॥

'तूने इतना धन लेकर मेरे पुत्र को शिक्षा दी और मकरकटी ने, सरलता के साथ उससे पाँच करोड़ मुद्रा ठग ली' ॥१२१॥

इस प्रकार कहकर उसने पुत्र का सम्पूर्ण समाचार उसे सुना दिया। तब उस वृद्धा कुट्टनी यमजिह्वा ने कहा—॥१२२॥

'अपने पुत्र को तुम यहाँ बुलवाओ। मैं उसे ऐसी शिक्षा दूँगी कि वह मकरकटी का सारा धन (सर्वस्व) हरण कर लेगा' ॥१२३॥

कुट्टनी यमजिह्वा के इस प्रकार प्रतिज्ञा करने पर रत्नवर्मा ने, पुत्र के हितैषी मित्र अर्थदत्त को दान आदि का प्रलोभन देकर ईश्वरवर्मा को बुलाने के लिए भेजा ॥१२४-१२५॥

वह अर्थदत्त, उस कांचनपुर में आकर ईश्वरवर्मा से फिर बोला कि 'तूने मेरी बात नहीं मानी। आज वेश्या का सच्चा प्रेम तूने देख लिया। पाँच करोड़ मुद्रा देकर अर्धचन्द्र पाया। कौन बुद्धिमान् वेश्या में और बालू में स्नेह (प्रेम और तेल) चाहता है ॥१२६—१२८॥

तुम्हें क्या कहूँ ? यह वस्तु का स्वाभाविक धर्म है। चतुर और वीर व्यक्ति तभी तक कल्याण के भागी होते हैं, जबतक स्त्री को विलास-वासना में नहीं पड़ते। इसलिए, अब चलो और अपने पिता के शोक को दूर करो' ॥१२९—१३०॥

इत्युक्त्वा सोऽर्थदत्तेन तेनानीयत सत्वरम्।
आश्वास्येश्वरवर्मासौ पितुः पार्श्वमुपागतः॥१३१॥
पित्रा चैकसुतस्नेहात् सान्त्वयित्वैव तेन सः।
नीतोऽभूद्यमजिह्वायाः कुट्टन्या निकटं पुनः॥१३२॥
पृष्टश्चात्र तयाचख्यौ सोऽर्थदत्तमुखेन तम्।
स्वोदन्तं सुन्दरीकूपनिपातान्तं धनक्षयम्॥१३३॥
यमजिह्वा ततोऽवादीदहमेवापराधिनी।
यद्विस्मृत्य मया मायामेतामेष न शिक्षितः॥१३४॥
कूपे मकरकट्या हि जालमन्तर्न्यबध्यत।
तत्पृष्ठे सुन्दरी देहमक्षिपन्न ममार यत्॥१३५॥
तदत्रास्ति प्रतीकार इत्युक्त्वा सापि कुट्टनी।
आनाययत्स्वदासीभिरालं नाम स्वमर्कटम्॥१३६॥
दत्त्वाग्रे स्वं च दीनारसहस्रं तमुवाच सा।
निगिलेति ततः सोऽपि शिक्षितस्तन्निगीर्णवान्॥१३७॥
पुत्रास्मै विंशतिं देहि देह्यस्मै पञ्चविंशतिम्।
षष्टिमस्मै शतं चास्मा इति नानाव्ययेषु च॥१३८॥
दाप्यमानो निगीर्णांस्तांस्तयात्र यमजिह्वया।
उद्गीर्योद्गीर्य दीनारांस्तथैव स कपिर्ददौ॥१३९॥
आलयुक्तिं प्रदर्श्यैतां यमजिह्वाब्रवीत्पुनः।
गृहाणेश्वरवर्मस्त्वमेतं मर्कटपोतकम्॥१४०॥
पुनस्तत्सुन्दरीवेश्म प्राग्वद् गत्वा दिने दिने।
एवं गुप्तनिगीर्णांस्तान्मृगयस्वामुतो व्यये॥१४१॥
दृष्ट्वा चिन्तामणिप्रख्यं सैतमालं च सुन्दरी।
दत्त्वा ते प्रार्थ्य सर्वस्वं कपिमेकं ग्रहीष्यति॥१४२॥
गृहीततद्धनो दत्त्वा निगीर्णाहर्द्वयव्ययम्।
इमं तस्यै ततो दूरं यायास्त्वमविलम्बितम्॥१४३॥
इत्युक्त्वा यमजिह्वा तत्तस्मायीश्वरवर्मणे।
मर्कटं तं ददौ भाण्डं पिता कोटिद्वयस्य च॥१४४॥
तद्गृहीत्वैव स प्रायात्तत्काञ्चनपुरं पुनः।
सृष्टाग्रदूतः सुन्दर्या तद्गृहं प्रविवेश च॥१४५॥

वह ईश्वरवर्मा, अर्थदत्त के इस प्रकार समझाने और आशा दिलाने पर, किसी प्रकार पिता के पास लाया गया ॥१३१॥

उसका पिता, एकमात्र पुत्र के स्नेह के कारण. उसे फिर यमजिह्वा कुट्टनी के पास ले गया ॥१३२॥

पूछने पर ईश्वरवर्मा ने, सुन्दरी के कूप में गिरने और धनक्षय आदि का सारा वृत्तान्त अर्थदत्त के मुँह से पिता को सुना दिया ॥१३३॥

तब यमजिह्वा बोली कि मैं ही इसकी अपराधिनी हूँ, जो मैंने वेश्याओं की भाषा इसे नहीं सिखाई ॥१३४॥

मकरकटी ने, कूप के अन्दर जाल बँधवा दिया था, उसी पर सुन्दरी गिरी और मरी नहीं ॥१३५॥

तो अब इसका भी उपाय है, ऐसा कहकर कुट्टनी ने अपने 'आल' नामक बन्दर को वहाँ बुलवाया ॥१३६॥

उसके आगे अपना एक हजार दीनार रखकर बन्दर से वह बोली कि इसे निगल जा। वह शिक्षित बन्दर देखते ही उसे निगल गया ॥१३७॥

'बेटा, इसे बीस दीनार दो, इसे पच्चीस दो, इसे साठ दो और हमें सौ दो' इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यय-भागों में यमजिह्वा द्वारा दिलाये हुए दीनारों को उस बन्दर ने उगलकर दे दिया ॥१३८–१३९॥

आल नामक बन्दर की यह युक्ति दिखाकर कुट्टनी फिर बोली—'बेटा, ईश्वरवर्मा, तुम इस बन्दर के बच्चे को ले लो। और फिर, उस सुन्दरी के घर में पहले की भाँति रहना प्रारम्भ कर दो। और, व्यय के लिए इसी प्रकार समय-समय पर बन्दर से धन माँगा करना ॥१४०-१४१॥

तब वह सुन्दरी चिन्तामणि के समान इस बन्दर को अपना सर्वस्व देकर भी तुमसे लेना चाहेगी ॥१४२॥

इस प्रकार, उसका धन लेकर और इससे दो दिनों का व्यय निकलवाकर तुम शीघ्र ही उससे दूर चले जाना' ॥१४३॥

ऐसा कहकर, उस यमजिह्वा ने उस बन्दर को ईश्वरवर्मा के लिए दे दिया। और, उसके पिता ने भी दो करोड़ रुपये का धन उसे दिया ॥१४४॥

यह सब लेकर ईश्वरवर्मा फिर से कांचनपुर गया और दूत के द्वारा पहले उसे (सुन्दरी वेश्या को) सूचित करके उसके घर पर गया ॥१४५॥

सा तं साधनसर्वस्वं निर्बन्धमिव सुन्दरी।
अभ्यनन्दत् । ससुहृदं कण्ठाश्लेषादिसम्भ्रमैः ॥१४६॥
विश्वास्येश्वरवर्माथ तत्समक्षं क्षणान्तरे।
आलमानय गत्वेति सोऽर्थदत्तमभाषत ॥१४७॥
तथेति तेन गत्वा च समानीयत मर्कटः।
निगीर्णपूर्वदीनारसहस्रं स जगाद तम् ॥१४८॥
आल पुत्र प्रयच्छाद्य दीनाराणां शतत्रयम्।
आहारपानस्य कृते ताम्बूलादिव्यये शतम् ॥१४९॥
शतं मकरकट्यै च देह्यम्बायै द्विजातिषु।
शतं शेषं सहस्राद्यत्सुन्दर्यै तत्समर्पय ॥१५०॥
एवमीश्वरवर्मोक्तो मर्कटः स तथैव तान्।
उद्गीर्योद्गीर्य दीनारान् प्राङ्निगीर्णान्व्ययेष्वदात् ॥१५१॥
इत्थं युक्त्यानया नित्यं यावदीश्वरवर्मणा।
आलो व्ययेषु दीनारान्दाप्यते पक्षमात्रकम् ॥१५२॥
तावन्मकरकट्येवं सुन्दरी च व्यचिन्तयत्।
अहो चिन्तामणिरयं सिद्धोऽस्य कपिरूपधृत् ॥१५३॥
दिने दिने सहस्रं यो दीनाराणां प्रयच्छति।
एषोऽमुना चेदस्माकं दत्तः सिद्धं मनोरथैः ॥१५४॥
इत्यालोच्य समं मात्रा विजनेऽर्थयते स्म तम्।
सुन्दरीश्वरवर्माणं भुक्तोत्तरसुखस्थितम् ॥१५५॥
प्रसादो मयि सत्यं चेदालमेतं प्रयच्छ मे।
तच्छ्रुत्वेश्वरवर्मा तां निजगाद हसन्निव ॥१५६॥
असौ तातस्य सर्वस्वं तच्च दातुं न युज्यते।
इत्यूचिवांसं च पुनः सुन्दरी तमुवाच सा ॥१५७॥
ददामि पञ्चकोटीर्वस्तदयं दीयतामिति।
तत ईश्वरवर्मा च निश्चित्यैव जगाद तम् ॥१५८॥
ददासि यदि सर्वस्वमिदं वा नगरं मम।
तथापि युज्यते नैष दातुं किमिति कोटिभिः ॥१५९॥
श्रुत्वैतत्सुन्दरी स्माह सर्वस्वं ते ददाम्यहम्।
देह्येतं मर्कटं मह्यमम्बा कुप्यतु नाम मे ॥१६०॥

उस सुन्दरी ने, ईश्वरवर्मा को फिर सब साधनों से युक्त देखकर मित्र के साथ उसका स्वागत-अभिनन्दन किया और उसे गले से लगाकर पूर्ववत् प्रेम प्रदर्शित किया ॥१४६॥

ईश्वरवर्मा ने भी, उस समय की उचित बातों से उसे विश्वास दिलाकर अपने मित्र अर्थदत्त से कहा कि 'आल' बन्दर को ले आओ ॥१४७॥

'अच्छा', कहकर अर्थदत्त बन्दर को ले आया। पहले से ही एक हजार दीनारों को निगले हुए बन्दर से ईश्वरवर्मा ने कहा- 'बेटा आल, दो सौ भोजन-पानी के लिए और एक सौ पान-इत्र आदि के लिए, इस प्रकार तीन सौ दीनार दो ॥१४८-१४९॥

एक सौ माता मकरकटी को ब्राह्मणों को बाँटने के लिए और हजार में से शेष सौ सुन्दरी को दे दो ॥१५०॥

ईश्वरवर्मा से, इस प्रकार कहे गये बन्दर ने, उसी प्रकार उगल-उगलकर पहले निगले हुए दीनारों को उन-उन व्ययों के लिए दे दिया ॥१५१॥

इस प्रकार, ईश्वरवर्मा से कहा गया बन्दर एक पक्ष तक व्यय के लिए प्रतिदिन दीनार देता रहा ॥१५२॥

यह देखकर मकरकटी और सुन्दरी ने सोचा—ओह ! ईश्वरवर्मा को बन्दर के रूप में यह चिन्तामणि सिद्ध है ॥१५३॥

जो प्रतिदिन इसे एक हजार दीनार देता है, यदि इसे ही यह हमें दे दे, तो हमारा मनोरथ ही सिद्ध हो जाय ॥१५४॥

माता से सुन्दरी ने इस प्रकार विचार करके एकान्त में भोजन के बाद सुखपूर्वक बैठे हुए ईश्वरवर्मा से उस बन्दर की माँग की ॥१५५॥

'यदि मुझ पर तेरी कृपा या सच्चा प्रेम है, तो इस आल को मुझे दे दो।' यह सुनकर ईश्वरवर्मा बनावटी हँसी हँसता हुआ बोला—॥१५६॥

'यह मेरे पिता का सर्वस्व है, इसलिए इसे मैं नहीं दे सकता।' इस प्रकार कहते हुए ईश्वरवर्मा से सुन्दरी ने कहा- 'मैं तुम्हें पाँच करोड़ मुद्रा देती हूँ, इसे मुझे दे दो।' तब ईश्वरवर्मा, मानों निश्चय करके बोला—'यदि तू मुझे अपना सर्वस्व दे दे या सारा नगर भी दे दे, तो भी मैं इसे नहीं दे सकता। करोड़ों से क्या होता है ॥१५७-१५९॥

यह सुनकर सुन्दरी बोली—'मैं अपना सर्वस्व तुम्हें दे दूँगी। मुझे यह बन्दर दे दे। भले ही माता मुझ पर कुपित हो' ॥१६०॥

इत्युक्त्वा सुन्दरी पादौ जग्राहेश्वरवर्मणः।
ऊचुस्ततोऽर्थदत्ताद्या दीयतां यद्भवत्विति॥१६१॥
ततश्चेश्वरवर्मा तं तथा दातुममन्यत।
अनयत्सह सुन्दर्या दिनं तच्च प्रहृष्टया॥१६२॥
प्रातश्चाभ्यर्थमानायै सुन्दर्यै मर्कटं स तम्।
निगीर्णगुप्तदीनारसहस्रद्वितयं ददौ॥१६३॥
तन्मूल्यं गृहसर्वस्वं तस्याश्चादाय तत्क्षणम्।
ततः प्रायाद्द्रुतं चागात् स्वर्णद्वीपं वणिज्यया॥१६४॥
सुन्दर्यै च प्रहृष्टायै ददावालो दिनद्वयम्।
स सहस्रं सहस्रं तान् दीनारान्याचितः कपिः॥१६५॥
तृतीयेऽह्नयसकृत्प्रीत्या याच्यमानोऽप्यसौ यदा।
नादात्किञ्चित्तदा मुष्ट्या सुन्दरी तमताडयत्॥१६६॥
स ताडितः क्रुधोत्पत्य मर्कटो दशनैर्नखैः।
सुन्दर्यास्तज्जनन्याश्च घ्नन्त्योः पाटितवान् मुखम्॥१६७॥
ततस्तज्जननी सा तं स्रवद्रक्तमुखी क्रुधा।
लगुडैस्ताडयामास तेनालोऽत्र ममार सः॥१६८॥
तं मृतं वीक्ष्य सर्वस्वं नष्टमालोच्य दुःखिता।
प्राणत्यागोद्यता साभूज्जनन्या सह सुन्दरी॥१६९॥
जालं मकरकट्या तत्कृत्वा यस्य हृतं धनम्।
आलं कृत्वाद्य तेनाऽस्याः सर्वस्वं सुधिया हृतम्॥१७०॥
तयान्यस्य कृतं जालमालं ज्ञातं तु नात्मनः।
इत्युवाचात्र विज्ञातवृत्तान्तो विहसञ्जनः॥१७१॥
ततः सा सुन्दरी कृच्छ्राद्देहत्यागान्न्यवर्त्यत।
स्वजनैर्जननीयुक्ता नष्टार्था पाटितानना॥१७२॥
स चार्जिताधिकश्रीकः स्वर्णद्वीपात्ततोऽचिरात्।
आगादीश्वरवर्मा तच्चित्रकूटे पितुर्गृहम्॥१७३॥
तमुपागतमर्जितामितार्थं सुतमालोक्य पिता च रत्नवर्मा।
अभिपूज्य स कुट्टनीं धनेन यमजिह्वां सुमहोत्सवं चकार॥१७४॥
स च विदितातुलमायो विरक्तचेता विलासिनीसङ्गे।
आसीदीश्वरवर्मा ततोऽत्र कृतदारसंग्रहः स्वगृहे॥१७५॥

इस प्रकार कहकर सुन्दरी ने ईश्वरवर्मा के पैर पकड़ लिये। तब अर्थदत्त आदि ने, ईश्वरवर्मा से कहा–'दे दो, जाने दो' ॥१६१॥

ईश्वरवर्मा ने, इस प्रकार (सुन्दरी का सर्वस्व लेकर) उसे देना स्वीकार कर लिया और उस दिन को प्रसन्न सुन्दरी के साथ आनन्द में बिता दिया ॥१६२॥

प्रातःकाल ही माँगती हुई सुन्दरी को दो हजार दीनार निगले हुए बन्दर ने दे दिये ॥१६३॥

और, उसके मूल्य में सुन्दरी के घर का सर्वस्व लेकर वह व्यापार के लिए स्वर्णद्वीप को चला गया ॥१६४॥

बन्दर को पाकर प्रसन्न सुन्दरी को वह आल, दो दिनों तक माँगने पर दीनार देता रहा ॥१६५॥

तीसरे दिन, प्रेमपूर्वक बार-बार माँगने पर भी जब उसने कुछ नहीं दिया, तब सुन्दरी ने उसे मुक्कों से मारा ॥१६६॥

मुक्कों से मारे गये बन्दर ने क्रोध से उछलकर मारती हुई सुन्दरी और उसकी माता का मुख दाँतों और नखों से नोंच डाला ॥१६७॥

तब मुँह से बहते हुए रक्तवाली मकरकटी ने डंडों से उस बन्दर को ऐसा मारा, कि वह मर गया ॥१६८॥

आल को मृत और अपने सर्वस्व को अपहृत देखकर वह सुन्दरी माता के साथ मरने के लिए तैयार हो गई ॥१६९॥

"मकरकटी ने कुएँ में जाल लगाकर जिसका धन हरण कर लिया था, उस बुद्धिमान् ने आल के द्वारा उसका सर्वस्व हरण कर लिया ॥१७०॥

"कुट्टनी ने दूसरे के लिए जाल बिछाया, किन्तु अपने लिए आल को नहीं समझा", उसका समाचार जाननेवाले सभी लोग, ऐसा कहकर हँसने लगे ॥१७१॥

तब बन्दर से नोंचे गये मुखवाली सुन्दरी को माँ के साथ मरने के लिए उद्यत देखकर उसके कुटम्बियों ने बड़ी कठिनाई से उन्हें रोका ॥१७२॥

वह ईश्वरवर्मा, स्वर्णद्वीप से अधिक धन कमाकर शीघ्र ही लौटकर अपने पिता के पास चित्रकूट नगर में पहुँचा ॥१७३॥

अनन्त धन कमाकर लौटे हुए पुत्र ईश्वरवर्मा को देखकर उसके पिता रत्नवर्मा ने, यमजिह्वा कुट्टनी को पुरस्कार आदि देकर बड़ा उत्सव मनाया ॥१७४॥

वह ईश्वरवर्मा भी वेश्याओं के छल और कपट को देखकर उनसे विरक्त होकर और विवाह करके अपने घर में आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥१७५॥

एवं नरेश वनिताहृदये न जातु कूटादृते वसति सत्यकथालवोऽपि।
तत्सार्थसाध्यगमनासु सदैव तासु शून्याटवीष्विव रमेत न भूतिकामः ॥१७६॥
इति मरुभूतेर्वदनाच्छ्रुत्वा स यथावदालजालकथाम्।
नरवाहनदत्तस्तच्छ्रद्धाय जहास गोमुखादियुतः ॥१७७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शक्तियशोलम्बके प्रथमस्तरङ्गः।

द्वितीयस्तरङ्गः

राज्ञो विक्रमसिंहस्य कुमुदिकावेश्यायाश्च कथा

एवं वेश्यास्वसद्भावे कथिते मरुभूतिना।
आचख्यौ गोमुखो धीमांस्तद्वत्कुमुदिकाकथाम् ॥१॥
आसीद्विक्रमसिंहाख्यः प्रतिष्ठाने महीपतिः।
व्यधायि विधिनान्वर्थो यः सिंह इव विक्रमे ॥२॥
यस्येश्वरस्य सुभगा नदीनप्रभवा प्रिया।
अलङ्कारतनुर्देवी शशिलेखेव नित्याभवत् ॥३॥
तमेकदा स्वनगरे स्थितं सम्भूय गोत्रजाः।
पञ्चषा गृहमागत्य राजानं पर्यवेष्टयन् ॥४॥
महाभटो वीरबाहुः सुबाहुः सुभटस्तथा।
नृपः प्रतापादित्यश्च सर्वेऽप्येते महाबलाः ॥५॥
तेषु सामादि युञ्जानं निराकृत्य स्वमन्त्रिणम्।
राजा विक्रमसिंहोऽसौ युद्धायैषां विनिर्ययौ ॥६॥
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते स नृपः सैन्ययोर्द्वयोः।
शौर्यदर्पाद्गजारूढः प्रविवेशाहवं स्वयम् ॥७॥
धनुर्द्वितीयं दृष्ट्वा तं दलयन्तं द्विषच्चमूम्।
महाभटाद्याः पञ्चापि राजानोऽभ्यपतन्समम् ॥८॥
तद्बले च समं भूयस्यखिलेऽप्यभिधावति।
बलं विक्रमसिंहस्य तदतुल्यमभज्यत ॥९॥
ततोऽनन्तगुणाख्यस्तं मन्त्री पार्श्वस्थितोऽब्रवीत्।
भग्नमस्मद्बलं तावज्जयो नास्तीह साम्प्रतम् ॥१०॥

हे राजन्! इस प्रकार की स्त्री के हृदय में छल-कपट के सिवा सत्य बात का लेश भी नहीं रहता, इसलिए ऐश्वर्य चाहनेवाले व्यक्ति को अर्थसाध्य सूने जंगल के समान भीषण विलासिनी स्त्रियों से प्रेम नहीं करना चाहिए ।।१७६।।

मरुभूति के मुँह से इस प्रकार आल-जाल की कथा सुनकर और उस पर विश्वास करके नरवाहनदत्त गोमुख आदि मन्त्रियों के साथ हँसने लगा ।।१७७।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शक्तियश लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त

द्वितीय तरंग

विक्रमसिंह और कुमुदिका वेश्या की कथा

इस प्रकार, मरुभूति द्वारा वेश्याओं के कृत्रिम प्रेम की कथा सुनाये जाने पर बुद्धिमान् गोमुख ने राजा विक्रमसिंह और कुमुदिका वेश्या की कथा इस प्रकार कही—।।१।।

प्रतिष्ठान नगर में विक्रमसिंह नाम का राजा था, जिसे विधाता ने नाम के अनुसार पराक्रम में भी सिंह के समान बनाया था ।।२।।

उस राजा की शशिलेखा नाम की रानी थी, जो उच्च वंश में उत्पन्न और सर्वांग-सुन्दरी थी ।।३।।

एक बार अपने नगर में रहते हुए उसके पाँच-छह भाई-बन्धुओं ने मिलकर उसे घेर लिया। उन पाँचों के नाम इस प्रकार थे—महाभट, वीरबाहु, सुबाहु, सुभट और राजा प्रतापादित्य। (छठा स्वयं विक्रमसिंह था।) ये सभी महा बलवान् थे ।।४-५।।

जब राजा के मन्त्री, उनके साथ सन्धि आदि करके उन्हें शान्त करने का यत्न कर रहे थे, तभी राजा विक्रमसिंह मन्त्री के परामर्श का अनादर कर युद्ध के लिए बाहर निकल पड़ा ।।६।।

दोनों सेनाओं के बीच शस्त्रों की वर्षा शुरू होने पर, वीरता के घमण्ड के साथ राजा स्वयं हाथी पर चढ़कर सेना में आ घुसा। केवल धनुष लेकर शत्रु की सेना को कुचलते देख विक्रमसिंह के ऊपर पाँचों महाभट आदि राजा एक साथ ही टूट पड़े ।।७–८।।

शत्रुओं की भारी सेना के युद्ध में उतर जाने पर, उनसे छोटी विक्रमसिंह की सेना वहाँ से भाग निकली ।।९।।

तब उसके पास बैठे हुए अनन्तगुण नामक मन्त्री ने उससे कहा—'हमारी सेना में भगदड़ मच गई। इस समय विजय नहीं होगी, ।।१०।।

विधूयास्मान् कृतश्चायं बलवद्विग्रहस्त्वया।
तच्छिवायाधुनापीदं मदीयं वचनं कुरु॥११॥
अवरुह्य द्विपादस्मादारुह्य च तुरङ्गमम्।
एह्यन्यविषयं यावो जीवन् जेतास्यरीन् पुनः॥१२॥
इति मन्त्रिगिरा स्वैरमवतीर्य स वारणात्।
हयारूढः समं तेन स्वबलान्निर्ययौ पुनः॥१३॥
ययौ च वेषच्छन्नः सन् सहितस्तेन मन्त्रिणा।
राजा विक्रमसिंहोऽसौ क्रमादुज्जयिनीं पुरीम्॥१४॥
तस्यां कुमुदिकाख्यायाः प्रख्यातवसुसम्पदः।
मन्त्रिद्वितीयो वसतिं विलासिन्या विवेश सः॥१५॥
अकस्मात्तं गृहायातं दृष्ट्वा सापि व्यचिन्तयत्।
पुरुषातिशयः कोऽपि ममायं गृहमागतः॥१६॥
तेजसा लक्षणैश्चैष महान् राजेति सूच्यते।
तन्मे यथेप्सितं सिध्येदीदृक्चेत्स्वीकृतो भवेत्॥१७॥
इत्यालोच्य तमुत्थाय स्वगतेनाभिनन्द्य च।
चकार महदातिथ्यं राज्ञः कुमुदिकास्य सा॥१८॥
विश्रान्तं च जगादैनं राजानं सा क्षणान्तरे।
धन्याहमद्य सुकृतं प्राक्तनं फलितं मम॥१९॥
देवेन स्वयमागत्य यद्गृहं मे पवित्रितम्।
तदनेन प्रसादेन क्रीता दासीयमस्मि ते॥२०॥
यदस्ति मे हस्तिशतं हयानां द्वे तथायुते।
मन्दिरं पूर्णरत्नं च तदायत्तमिदं तव॥२१॥
इत्युक्त्वा सा कुमुदिका राजानं तमुपाचरत्।
स्नानादिनोपचारेण महार्हेण समन्त्रिकम्॥२२॥
ततस्तन्मन्दिरे साकं तया तत्रार्पितस्वया।
राजा विक्रमसिंहोऽसौ खिन्नस्तस्थौ यथासुखम्॥२३॥
बुभुजे द्रविणं तस्या याचकेभ्यो ददौ च सः।
न च सादर्शयत्तस्य विकारं तुष्यति स्म तु॥२४॥
अहो मय्यनुरक्तेयमिति तुष्टं ततो नृपम्।
तं सोऽनन्तगुणो मन्त्री रहोऽवादीत् सहस्थितः॥२५॥

हमारी बात न मान कर तुमने बलवानों से युद्ध ठान लिया, इसलिए अब भी अवसर है कि बात मान जाओ। आओ, इस हाथी से उतरकर और घोड़े पर बैठकर हम दोनों दूसरे देश को निकल चलें। जीते रहोगे, तो शत्रुओं को फिर जीत लोगे ॥११–१२॥

मन्त्री के इस प्रकार कहने पर राजा धीरे से हाथी से उतरकर और घोड़े पर चढ़कर मन्त्री के साथ अपनी सेना से निकल गया और अपना वेश बदलकर उस मन्त्री के साथ वह उज्जयिनी नगरी को गया ॥१३–१४॥

उस नगरी में धन-सम्पत्तिवाली प्रसिद्ध वेश्या कुमुदिका के घर पर वह मन्त्री के साथ जाकर ठहर गया ॥१५॥

अकस्मात् ही राजा को अपने घर आया जानकर वेश्या ने भी समझा कि यह कोई आसाधारण पुरुष है ॥१६॥

प्रताप से और लक्षणों से तो यह महाराजा-सा प्रतीत होता है। तब तो मेरा मनोरथ अवश्य ही सिद्ध होगा यदि इसने मेरा कार्य स्वीकार कर लिया ॥१७॥

इस प्रकार सोचकर, उठकर और स्वागत के साथ अगवानी करके कुमुदिका ने उस राजा का बहुत तरह से आतिथ्य-सत्कार किया ॥१८॥

आनंदपूर्वक विश्राम करते हुए राजा से कुमुदिका ने कहा–'आज मैं सौभाग्यशालिनी हूँ और पूर्वजन्म के मेरे पुण्य आज सफल हुए, जो महाराज ने स्वयं पधारकर मेरा घर पवित्र किया है। आपकी इस कृपा से मैं अब आपकी क्रीतदासी हो गई ॥१९–२०॥

मेरे सौ हाथी, बीस हजार घोड़े और रत्नों से भरा हुआ यह भवन सभी अब आपके ही अधीन हैं ॥२१॥

इस प्रकार, कहकर वह कुमुदिका राजा की सेवा में लग गई और मन्त्री के साथ राजा को बहुमूल्य स्नान, भोजन आदि कराया ॥२२॥

तब आत्मसमर्पण किये हुए उस कुमुदिका के साथ राजा, खिन्न होने पर भी सुख से रहने लगा ॥२३॥

वह उसकी सम्पत्ति का उपभोग करता था और भिक्षुओं को भी दान देता था। फिर भी, वेश्या ने तनिक विकार नहीं दिखाया; बल्कि इसके लिए वह सन्तुष्ट थी ॥२४॥

तब 'ओह ! यह तो मेरे प्रति अत्यन्त आसक्त है', इस प्रकार कहते हुए राजा से साथ बैठे हुए मन्त्री अनन्तगुण ने, एकान्त में कहा—॥२५॥

वेश्यानां देव सद्भावो नास्त्येव कुरुते पुनः।
यत्ते कुमुदिका भक्ति न जाने तत्र कारणम् ॥२६॥
एतत्तस्य वचः श्रुत्वा स राजा निजगाद तम्।
मैवं कुमुदिका प्राणानपि मुञ्चति मत्कृते ॥२७॥
न चेत्प्रत्येषि तदहं प्रत्ययं दर्शयामि ते।
इत्युक्त्वा तं स्वसचिवं राजा व्याजमिमं व्यधात् ॥२८॥
शनैः कृशीकृत्य तनुं मितपानोऽल्पभोजनः।
चकार मृतमात्मानं निश्चेष्टं लुठिताङ्गकम् ॥२९॥
ततोऽधिरोप्य शिबिकां निन्ये परिजनेन सः।
श्मशानं शोचतानन्तगुणे कृतकदुःखिते ॥३०॥
सा च शोकात्कुमुदिका वार्यमाणापि बान्धवैः।
आगत्य तेनैव समं समारोहच्चितोपरि ॥३१॥
यावन्न दीप्यते वह्निस्तावदन्वागतां स ताम्।
बुद्ध्वा कुमुदिकां राजा समुत्तस्थौ सजृम्भिकम् ॥३२॥
प्रत्युज्जीवित एषोऽत्र दिष्ट्या दिष्ट्येति वादिनः।
सर्वे कुमुदिकायुक्तं निन्युस्तं स्वगृहं मुदा ॥३३॥
अथोत्सवे कृते प्राप्तः स राजा प्रकृतिं रहः।
कच्चिद्दृष्टोऽनुरागोऽस्या इति तं स्माह मन्त्रिणम् ॥३४॥
ततस्तं सोऽब्रवीन्मन्त्री न प्रत्येम्येवमप्यहम्।
अस्त्यत्र कारणं नूनं तत्पश्यामोऽत्र निश्चयम् ॥३५॥
प्रकाशयामस्त्वात्मानमस्यै येनैनदर्पितम्।
बलं मित्रबलं चान्यत्प्राप्य हन्मो रिपून् रणे ॥३६॥
एवं तस्मिन् वदत्येव मन्त्रिण्यत्रायये पुनः।
स गुप्तप्रहितश्चारः स च पृष्टोऽब्रवीदिदम् ॥३७॥
वैरिभिर्विषयो व्याप्तः शशिलेखा तु लोकतः।
देवी राज्ञो मृषा श्रुत्वा विपत्तिं वह्निमाविशत् ॥३८॥
एतच्चारवचः श्रुत्वा शोकाशनिहतस्तदा।
हा देवि हा सतीत्यादि विललाप स भूपतिः ॥३९॥
ततः क्रमेण विज्ञाततत्त्वा कुमुदिकात्र सा।
एत्य विक्रमसिंहं तमाश्वास्योवाच भूपतिम् ॥४०॥

'महाराज, वेश्याओं में तो सच्चा प्रेम होता ही नहीं है, फिर भी यह कुमुदिका तुम्हारे प्रति जो सद्भाव प्रकट कर रही है, पता नहीं, इसमें क्या रहस्य है ?' ॥२६॥

मन्त्री की बातें सुनकर राजा ने उससे कहा—'ऐसी बात नहीं है। कुमुदिका मेरे लिए प्राण भी दे सकती है। यदि तुम विश्वास नहीं करते, तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ।' मन्त्री को इस प्रकार कहकर राजा ने कपट-माया रची। राजा ने, अपना भोजन-पान नियमित करके अपने को दुर्बल बना दिया और धीरे-धीरे अपने हाथ-पैर ढीले करके अपने को मुर्दा बना लिया। तब दिखावटी दुःख प्रकट करते हुए मन्त्री अनन्तगुण की आज्ञा से, सेवक राजा के शव को, पालकी में डालकर, श्मशान ले गये ॥२७–३०॥

और, राजा के शोक से वह कुमुदिका, बन्धुओं, से रोके जाने पर भी श्मशान में आकर राजा के साथ चिता पर चढ़ गई ॥३१॥

चिता फूँकने की तैयारी हो ही रही थी कि राजा कुमुदिका को सती होते जानकर जँभाई लेकर उठ गया ॥३२॥

तब ओह ! हमलोगों के भाग्य से यह (राजा) जी उठा, इस प्रकार कहते हुए श्मशान में उपस्थित व्यक्ति कुमुदिका के साथ राजा को घर ले गये ॥३३॥

तदनन्तर, प्रसन्नता से उत्सव मनाये जाने पर राजा धीरे-धीरे स्वस्थ हो गया और उसने एकान्त में मन्त्री अनन्तगुण से कहा—'देखा तुमने कुमदिका का प्रेम !' ॥३४॥

तब मन्त्री ने राजा से कहा—'राजन्, मैं तो अब भी नहीं विश्वास करता। इसमें कुछ कारण अवश्य है। अब आगे और निश्चय करते हैं ॥३५॥

और जिसने इतना दिया, उसके सामने अपने को प्रकट कर देना चाहिए, जिससे कि इसकी सेना और अन्य मित्रों की सेना लेकर युद्ध में शत्रुओं पर विजय की जाय' ॥३६॥

मन्त्री अनन्तगुण ऐसा कह ही रहा था कि इतने में गुप्त रूप से भेजा हुआ एक गुप्तचर वहाँ आया। उससे पूछने पर उसने कहा—'शत्रुओं ने देश को आक्रान्त कर लिया और रानी शशिलेखा ने झूठे ही राजा के मरने का समाचार सुनकर अग्नि-प्रवेश कर लिया। गुप्तचर के ये वचन सुनकर वज्र से आहत के समान वह राजा विह्वल होकर 'हाय रानी! हाय सती !—इस प्रकार कहकर विलाप करने लगा ॥३७–३९॥

तब क्रमशः सब बात जानकर कुमुदिका राजा के पास आकर और उसे धीरज देकर बोली—॥४०॥

प्रागेव मम नादिष्टं किं देवेनाधुनापि यत्।
धनैर्मदीयैः सबलैः क्रियतामरिनिग्रहः ॥४१॥
इत्युक्तः स तया कृत्वा तद्धनैरधिकं बलम्।
ययौ राजा स्वमित्रस्य राज्ञो बलवतोऽन्तिकम् ॥४२॥
तद्बलैः स्वबलैस्तैश्च सह गत्वा निहत्य तान्।
पञ्चाप्यरिनृपान् युद्धे तद्राज्यान्यप्यवाप सः ॥४३॥
ततस्तुष्टः कुमुदिकां सोऽब्रवीत्तां सह स्थिताम्।
प्रीतोऽस्मि ते तवाभीष्टं किं करोम्युच्यतामिति ॥४४॥
अथावोचत्कुमुदिका सत्यं तुष्टोऽसि चेत्प्रभो।
तदुद्धरेदं हृच्छल्यमेकं मम चिरस्थितम् ॥४५॥
उज्जयिन्यां द्विजसुतं श्रीधरं नाम मे प्रियम्।
राज्ञाल्पेनापराधेन बद्धं तस्माद्विमोचय ॥४६॥
दृष्ट्वा त्वां भाविकल्याणमुत्तमैं राजलक्षणैः।
एतत्कार्यक्षमं देव भक्त्या सेवितवत्यहम् ॥४७॥
अभीष्टसिद्धिनैराश्यादारोहं त्वच्चितामपि।
विफलं जीवितं मत्वा विना तं विप्रपुत्रकम् ॥४८॥
एवमुक्तवतीं तां स राजावोचद्विलासिनीम्।
साधयिष्याम्यहं तत्ते धीरा सुवदने भव ॥४९॥
इत्युक्त्वा मन्त्रिवचनं संस्मृत्याचिन्तयच्च सः।
सत्यं वेश्यास्वसद्भावः प्रोक्तोऽनन्तगुणेन मे ॥५०॥
अतस्तु पूरणीयैषा वराक्याः कामना मया।
इति सङ्कल्प्य सबलः स तामुज्जयिनीमगात् ॥५१॥
श्रीधरं मोचयित्वा तं दत्त्वा च द्रविणं बहु।
व्याधात् कुमुदिकां तत्र प्रियसङ्गमसुस्थिताम् ॥५२॥
आगत्य च स्वनगरं मन्त्रिमन्त्रमलङ्घयन्।
क्रमाद्विक्रमसिंहोऽसौ बुभुजे सकलां महीम् ॥५३॥
एवं हृदयमज्ञेयमगाधं वेशयोषिताम्।
. . . . ॥५४॥[1]

---

१. मूलपुस्तके पद्यार्धं त्रुटितमस्ति।

'महाराज! मुझे पहले ही आज्ञा क्यों नहीं दी। अब भी आप मेरी सेना और मेरे धन की सहायता से शत्रुओं का नाश करें' ॥४१॥

कुमुदिका से इस प्रकार कहे गये राजा ने कुमुदिका के धन से उसकी सेना को बढ़ाया और अपने एक बलवान् मित्र के पास वह गया। उससे भी सेना की सहायता ली ॥४२॥

इस प्रकार, उनकी सेना और अपनी सेना को साथ लेकर राजा ने उन पाँचों शत्रु-राजाओं को युद्ध में जीतकर अपना राज्य प्राप्त किया ॥४३॥

तब राजा ने, साथ में बैठी हुई कुमुदिका से कहा—'यह सच है कि मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। बताओ कौन, सा तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध करूँ?' ॥४४॥

यह सुनकर कुमुदिका ने कहा—'हे देव, यदि सचमुच आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो चिरकाल से मेरे हृदय में धँसा हुआ एक काँटा निकाल दें ॥४५॥

उज्जैन में श्रीधर नाम का ब्राह्मण-पुत्र मेरा प्रेमी है। उसे राजा ने, एक छोटे-से अपराध के कारण कारागार का दंड दिया है। उसे छुड़ा दीजिए। मैंने आपके शुभ लक्षणों से पहले ही आपको असाधारण और इस कार्य के योग्य व्यक्ति समझकर ही अपने भविष्य की कल्याण-कामना की थी और इसीलिए आपकी सेवा भी की थी ॥४६–४७॥

अपनी इष्टसिद्धि के प्रति निराश होकर और उस युवक के बिना अपने जीवन को निष्फल समझकर ही मैं आपकी चिता पर चढ़ी थी' ॥४८॥

इस प्रकार कहती हुई उस वेश्या से राजा ने कहा—'हे सुमुखि, धैर्य रख। मैं तेरा कार्य सिद्ध करूँगा।' इतना उससे कहकर और मन्त्री की बात का स्मरण करके राजा ने सोचा—'अनन्तगुण ने वेश्याओं में सद्भावना न होने की जो बात कही थी, वह सत्य थी' ॥४९–५०॥

अब तो इस बेचारी की इच्छा पूरी करनी ही होगी। ऐसा सोचकर वह सेना के साथ उज्जयिनी पर चढ़ गया और वहाँ से श्रीधर को छुड़ाकर, कुमुदिका को बहुत-सा धन देकर उसे प्रिय-समागम से सुखी बना दिया ॥५१-५२॥

तदनन्तर, अपने नगर में आकर मन्त्रियों की मन्त्रणा का उल्लंघन किए बिना पृथ्वी का उपभोग करने लगा ॥५३॥

इस प्रकार वेश्याओं का हृदय अगम और अथाह होता है, ॥५४॥

इत्याख्याय कथां तस्मिन्विरते तत्र गोमुखे।
नरवाहनदत्ताग्रे जगादाथ तपन्तकः ॥५५॥
देवि न प्रत्ययः स्त्रीषु चपलास्वखिलास्वपि।
चिरण्टीष्वपि[1] न ग्राह्यो वेशस्त्रीष्विव सर्वदा ॥५६॥

चन्द्रश्रीशीलहरयोः कथा

इहैव यन्मया दृष्टमाश्चर्यं वच्मि तच्छृणु।
बलवर्माभिधानो भूदस्यामेव वणिक्पुरि ॥५७॥
चन्द्रश्रीस्तस्य भार्याभूत्सा च वातायनाग्रतः॥
भव्यं शीलहरं नाम ददर्शैकं वणिक्सुतम् ॥५८॥
सखिगृहं तमानीय तन्मुखेनैव तत्क्षणम्।
अरंस्त मदनाक्रान्ता तेन साकमलक्षिता ॥५९॥
प्रत्यहं च समं तेन यावत्सा रमते तथा।
तावत्तत्सङ्गिनी ज्ञाता समग्रैर्भृत्यबान्धवैः ॥६०॥
एकस्तु बलवर्मा तां नाज्ञासीदसतीं पतिः।
प्रायेण भार्यादौःशील्यं स्नेहान्धो नेक्षते जनः ॥६१॥
अथ दाहज्वरस्तस्य समभूद्बलवर्मणः।
तेन चान्त्यामवस्थां स क्रमात् सम्प्राप्तवान् वणिक् ॥६२॥
तदवस्थेऽपि तस्मिंश्च तद्भार्या सा दिने दिने।
अगादुपपतेस्तस्य निकटं स्वसखीगृहे ॥६३॥
तत्रैव चास्यां तिष्ठन्त्यामन्येद्युस्तत्पतिर्मृतः।
अगच्छत् सा च तद्बुद्ध्वा तमापृच्छ्याशु कामुकम् ॥६४॥
आरोहच्च समं तेन पत्या सा तच्छुचा चिताम्।
स्वजनैर्वार्यमाणापि शीलज्ञैः[2] कृतनिश्चया ॥६५॥
इत्थं दुरवधार्यैव स्त्रीचित्तस्य गतिः किल।
अन्यासङ्गं च कुर्वन्ति म्रियन्ते च पतिं विना ॥६६॥
एवं तपन्तकेनोक्ते क्रमाद्धरिशिखोऽभ्यधात्।
अत्रापि देवदासस्य यद्वृत्तं तन्न किं श्रुतम् ॥६७॥

---

१. गृहपत्नीष्वपि। २. तस्या दुश्चरित्राभिज्ञैः।

इस कथा के कह लेने के पश्चात् गोमुख के मौन हो जाने पर नरवाहनदत्त के सम्मुख तपन्तक बोला ॥५५॥

महाराज, इन सभी स्त्रियों का ही विश्वास नहीं, प्रत्युत पतिवाली स्त्रियों का भी वेश्याओं के समान विश्वास नहीं करना चाहिए ॥५६॥

चन्द्रश्री और शीलहर वैश्य की कथा

इस सम्बन्ध में मैंने इसी नगर में जो आश्चर्य देखा, उसे सुनाता हूँ, सुनो। इसी नगरी में बलवर्मा नाम का एक वैश्य था। उसकी भार्या का नाम चन्द्रश्री था। एकबार उस स्त्री ने अपने झरोखे (खिड़की) से शीलहर नाम के एक सुन्दर वैश्यपुत्र को देखा ॥५७–५८॥

तब सहेली के द्वारा उसे सहेली के घर पर ही बुलवाकर कामोन्मत्त उस स्त्री ने छिपकर उसके साथ समागम किया ॥५९॥

जब वह प्रतिदिन उसके साथ चोरी-चोरी रमण करने लगी, तब घर के सेवकों और उसके भाई-बन्धुओं ने उसे जान लिया ॥६०॥

केवल उसका पति, बलवर्मा ही, उसके दुराचार को नहीं जान सका। सच है, प्रेमान्ध व्यक्ति पत्नी के भी दुराचार को नहीं जान सकता ॥६१॥

कुछ दिनों के उपरान्त उस बलवर्मा को दाहज्वर हुआ और वह वैश्य धीरे-धीरे अन्तिम अवस्था में पहुँच गया ॥६२॥

उसकी उस अवस्था में भी उसकी पत्नी सहेली के घर पर उस प्रेमी के पास जाती रही ॥६३॥

एक दिन उसके वहीं रहते हुए उसका पति मर गया। यह जानकर उसकी स्त्री अपने प्रेमी (जार) से पूछकर तुरन्त आई और पति के शोक में उसकी चिता पर, उसके चरित्र को जानने-वाले भाई-बन्धुओं द्वारा रोके जाने पर भी, जलकर मर गई ॥६४–६५॥

इस प्रकार, स्त्रियों के चित्त की गति नहीं जानी जा सकती। वह दूसरों से व्यभिचार भी कराती हैं और पति के मरने पर उसके साथ सती भी हो जाती हैं ॥६६॥

तपन्तक के इस प्रकार कहने पर क्रमशः हरिशिख बोला—'इसी सम्बन्ध में देवदास का जो वृत्तान्त हुआ, उसे सुनो—' ॥६७॥

दुःशीलादेवदासयोः कथा

कुटुम्बी देवदासाख्यो ग्रामे स ह्यभवत् पुरा।
दुःशीलेति च तस्यासीन्नाम्नान्वर्थेन गेहिनी ॥६८॥
तां चान्यपुरुषासक्तां विविदुः प्रातिवेशिकाः।
एकदा देवदासोऽसौ कार्याद्राजकुलं ययौ ॥६९॥
आनीय सा च तत्कालं तद्भार्या तद्वधैषिणी।
गृहस्योपरिभूमौ तं निदधे परपूरुषम् ॥७०॥
आगतं च ततस्तं सा देवदासं निजं पतिम्।
निशीथे तेन जारेण भुक्तसुप्तमघातयत् ॥७१॥
विसृज्योपपतिं तं च स्थित्वा तूष्णीं निशात्यये।
निर्गत्य चक्रन्द हतो भर्ता मे तस्करैरिति ॥७२॥
ततोऽत्र बन्धवोऽभ्येत्य दृष्ट्वावोचन्नयं यदा।
चौरैर्हतः कथं नीतं न किञ्चिदपि तैरितः ॥७३॥
इत्युक्त्वात्र स्थितं बालं पप्रच्छुस्ते तदात्मजम्।
तातो हतस्ते केनेति ततः स स्पष्टमब्रवीत् ॥७४॥
पृष्ठभूमाविहारुह्य कोऽप्यासीद्दिवसे युवा।
रात्रौ तेनावतीर्यैव तातो मे पश्यतो हतः ॥७५॥
अम्बा तु मां गृहीत्वादौ तातपार्श्वात्तदोत्थिता।
इत्युक्ते शिशुना बुद्ध्वा भार्या जारेण तं हतम् ॥७६॥
जघ्नुस्तद्बन्धवोऽन्विष्य तज्जारं तं तदैव ते।
स्वीकृत्य तं शिशुं तां च दुःशीलां निरवासयन् ॥७७॥
इत्यन्यरक्तचित्ता स्त्री भुजङ्गी हन्त्यसंशयम्।
एवं हरिशिखेनोक्ते बभाषे गोमुखः पुनः ॥७८॥
किमन्येनेह यद्वृत्तं वज्रसारस्य सम्प्रति।
वत्सेश सेवकस्येह हास्यं तच्छ्रूयतामिदम् ॥७९॥

वज्रसारस्य तत्स्त्रियश्च कथा

तस्य शूरस्य कान्तस्य सुरूपा मालवोद्भवा।
वज्रसारस्य भार्याभूत् स्वशरीराधिकप्रिया ॥८०॥

दुःशीला और देवदास की कथा

प्राचीन समय में, किसी गाँव में देवदास नाम का कुटुम्बवाला एक व्यक्ति था । दुःशीला यथार्थ नामवाली उसकी स्त्री थी ॥६८॥

'वह स्त्री, दूसरे पुरुष के साथ फँसी थी' यह बात उसके सभी पड़ोसी जानते थे। एक बार देवदास किसी कार्यवश राजकुल में गया। उसी समय उसका वध चाहनेवाली स्त्री ने अपने जार को लाकर अपने घर की छत पर उसे छिपा दिया ॥६९–७०॥

तब वहाँ से आये हुए और भोजन करके सोये हुए अपने पति देवदास को आधी रात में उसने अपने जार से मरवा डाला ॥७१॥

और अपने जार को घर से निकालकर शान्त बैठी रही। प्रातःकाल होते ही, घर से बाहर निकलकर चिल्लाने लगी कि मेरे पति को चोरों ने रात में मार डाला ॥७२॥

तब उसके सम्बन्धी बन्धु-बान्धव वहाँ आकर सारी स्थिति देखकर बोले—'यदि तेरे पति को चोरों ने मारा, तो वे यहाँ से तुम्हारी कुछ भी सम्पत्ति क्यों नहीं चुरा ले गये' ? ॥७३॥

इस प्रकार कहकर उन्होंने वहाँ खड़े उसके बालक से पूछा कि 'तुम्हारे पिता को किसने मारा?' तब वह स्पष्ट बोला—॥७४॥

'घर की छत पर कोई जवान पुरुष, चढ़कर दिन में छिपा था। उसी ने रात में उतरकर मेरे देखते-देखते पिता को मार डाला ॥७५॥

मेरी माँ मुझे पिता के पास से पहले ही उठाकर ले गई।' बालक के इस प्रकार कहने पर उनलोगों ने जान लिया कि इसी दुष्टा के यार ने यह हत्या की है ॥७६॥

तब उसके बन्धु-बान्धवों से यार को ढुंढ़वाकर उसी समय मरवा डाला और उस बालक को अपने संरक्षण में लेकर दुःशीला को गाँव से बाहर निकाल दिया ॥७७॥

इस प्रकार दूसरे पुरुष से प्रेम करनेवाली नागिन औरत अवश्य पति का घात करती है। हरिशिख के इस प्रकार कहने पर गोमुख ने फिर कहा—॥७८॥

'दूसरों की बात छोड़िए, यहीं के वत्सराज के ही सेवक वज्रसार की हास्योत्पादक कहानी सुनिए—'॥७९॥

वज्रसार और उसकी स्त्री की कथा

उस सुन्दर और शूरवीर वज्रसार की स्त्री मालव देश की थी और वह रूपवती भी थी। वह वज्रसार को अपने शरीर से भी अधिक प्यारी थी ॥८०॥

एकदा तस्य भार्यायास्तस्याः पुत्रान्वितः पिता।
निमन्त्रणार्थं मालव्यः सोत्कण्ठोऽभ्याययौ स्वयम् ॥८१॥
वज्रसारोऽथ सत्कृत्य तं स राज्ञे निवेद्य च।
निमन्त्रितस्तेन समं सभार्यो मालवं ययौ ॥८२॥
मासमात्रं च विश्रम्य सोऽत्र श्वशुरवेश्मनि।
इहागाद्राजसेवार्थं तद्भार्या त्वास्त तत्र सा ॥८३॥
ततो दिनेषु यातेषु वज्रसारमुपेत्य तम्।
अकस्मात् क्रोधनो नाम सुहृदेवमभाषत ॥८४॥
भार्यां पितृगृहे त्यक्त्वा किं गृहं नाशितं त्वया।
तत्रान्यपुरुषासङ्गः पापया हि कृतस्तया ॥८५॥
आगतेन ततोऽद्यैतदाप्तेन कथितं मम।
मा मंस्था वितथं तस्मान्निगृह्यैतां वहापराम् ॥८६॥
इत्युक्त्वा क्रोधने याते स्थित्वा मूढ इव क्षणम्।
अचिन्तयद्वज्रसारः शङ्के सत्यं भवेदिदम् ॥८७॥
आह्वायके विसृष्टेऽपि मान्यथा नागता कथम्।
तदेतां स्वयमानेतुं यामि पश्यामि किं भवेत् ॥८८॥
इति सङ्कल्प्य गत्वैव मालवं श्वशुरौ स तौ।
अनुज्ञाप्य गृहीत्वैतां भार्यां प्रस्थितवांस्ततः ॥८९॥
गत्वा च दूरमध्वानं स युक्त्या वञ्चितानुगः।
उत्पथेनाविशद्भार्यामादाय गहनं वनम् ॥९०॥
तत्रोपवेश्य मध्ये तां विजने वदति स्म सः।
त्वमन्यपुरुषासक्तेत्याप्तान्मित्रान्मिया श्रुतम् ॥९१॥
मया चात्र स्थितेनैव यदाहूतासि नागता।
तत्सत्यं ब्रूहि नो चेद्वा करिष्ये निग्रहं तव ॥९२॥
तच्छ्रुत्वा तमवादीत् सा तवैष यदि निश्चयः।
तत्किं पृच्छसि मां यत्ते रोचते तत्कुरुष्व मे ॥९३॥
इति सावज्ञमाकर्ण्य वचस्तस्याः स कोपतः।
वज्रसारस्तरौ बद्ध्वा लताभिस्तामताडयत् ॥९४॥
वस्त्रं हरति यावच्च तस्यास्तावद्विलोक्य ताम्।
नग्नां रिरंसा मूढस्य तस्याजायत रागिणः ॥९५॥

एक बार उसकी पत्नी का पिता (श्वशुर) अपने पुत्र (उसके साले) के साथ मालव देश से, उसे निमन्त्रण देने के लिए बड़ी ही उत्सुकता के साथ आया ॥८१॥

तब वज्रसार ने, उसका सत्कार करके और उसके द्वारा निमन्त्रित होकर राजा से प्रार्थना करके (अवकाश लेकर) उसके साथ मालव देश को प्रस्थान किया ॥८२॥

और, वह एक मास तक श्वसुरालय में विश्राम करके, राजसेवा के लिए कौशाम्बी लौट आया; किन्तु उसकी स्त्री वहीं रह गई ॥८३॥

कुछ दिन बीतने पर वज्रसार का मित्र क्रोधन अकस्मात् आकर उससे बोला–'तूने अपनी स्त्री को उसके बाप के घर पर छोड़कर अपने घर का नाश क्यों कर दिया ! वहाँ उस पापिन ने दूसरे पुरुष का साथ कर लिया है ॥८४–८५॥

आज ही उधर से आये हुए एक विश्वस्त व्यक्ति ने मुझसे कहा है । इसे झूठ न समझना । इसलिए, उसे दंड देकर दूसरी स्त्री से विवाह कर लो' ॥८६॥

इस प्रकार कहकर क्रोधन के चले जाने पर कुछ समय तक कर्तव्यविमूढ होकर वज्रसार सोचता रहा–मैं समझता हूँ, यह बात सत्य है ॥८७॥

नहीं तो बुलाने के लिए आदमी भेजने पर भी वह क्यों नहीं आई ? इसलिए, उसे लाने के लिए स्वयं जाता हूँ । देखता हूँ, क्या होना है ॥८८॥

इस प्रकार निश्चय करके, मालव देश को जाकर और सास-ससुर से आज्ञा लेकर अपनी स्त्री के साथ वह वहाँ से घर की ओर चला ॥८९॥

दूर मार्ग निकल जाने पर अपने साथी सेवक से बहाना करके विपरीत पथ से स्त्री को लेकर वह एक घने जंगल में पहुँचा ॥९०॥

उस बियाबान (भीषण) सूने जंगल में स्त्री को बैठाकर उसने पूछा–'तू पर-पुरुष पर आसक्त है, ऐसा मैंने किसी विश्वासी मित्र से सुना है ॥९१॥

मैंने कौशाम्बी में रहते हुए तुझे लाने के लिए वहाँ से एक दूत भेजा, तो भी तू न आई । इसलिए अब सत्य बता । अन्यथा तेरा नाश कर दूँगा' ॥९२॥

यह सुनकर वह बोली–'यदि तुम्हें मेरे चरित्र नष्ट होने का विश्वास ही है, तो फिर मुझसे क्या पूछते हो, जो तुम्हें उचित प्रतीत हो, वह करो' ॥९३॥

इस प्रकार, उसके उपेक्षायुक्त वचन सुनकर वज्रसार ने उसे एक वृक्ष से बाँधकर लताओं से मारना आरम्भ किया ॥९४॥

क्रोध में आकर जब उसने उसकी साड़ी खींच ली, तब उसे नंगी देखकर वज्रसार का मन विचलित हो उठा और उस मूर्ख कामी को उससे समागम करने की इच्छा जग उठी ॥९५॥

ततो निवेश्य बद्धां तां रन्तुमाश्लिष्यति स्म सः।
नेच्छति स्म च सा तेन प्रार्थ्यमाना जगाद च ॥९६॥
लताभिस्ताडिता बद्ध्वा यथाहं भवता तथा।
यद्यहं ताडयेयं त्वां तत इच्छामि नान्यथा ॥९७॥
तथेति प्रतिपेदे तत्स च व्यसनमोहितः।
तृणसारीकृतश्चित्रं वज्रसारो मनोभुवा ॥९८॥
ततः सहस्तपादं तं सा बबन्ध दृढं तरौ।
तच्छस्त्रेणैव बद्धस्य कर्णनासं चकर्त्त सा ॥९९॥
गृहीत्वा तस्य शस्त्रं च वासांसि च विधाय च।
पापा पुरुषवेषं सा यथाकाममगात्ततः ॥१००॥
वज्रसारस्तु तत्रासीच्छिन्नश्रवणनासिकः।
गलता शोणितौघेन मानेन च नताननः ॥१०१॥
अथ तत्रागतः कश्चिदोषध्यर्थं वने भिषक्।
दृष्ट्वा तं कृपयोन्मुच्य साधुः स्वं नीतवान्गृहम् ॥१०२॥
तत्र चाश्वासितस्तेन शनैः स्वगृहमागमत्।
स वज्रसारो न च तां चिन्वन्प्राप कुगेहिनीम् ॥१०३॥
अवर्णयच्च तं तस्मै वृत्तान्तं क्रोधनाय सः।
तेनापि वत्सराजाग्रे कथितं सर्वमेव तत् ॥१०४॥
अयं निष्पौरुषामर्षः स्त्रीभृत इति भार्यया।
पुंवेषोऽस्य हृतो नूनं निग्रहस्योचितः कृतः ॥१०५॥
इति राजकुले सर्वजनोपहसितोऽपि सः।
वज्रसार इहैवास्ते वज्रसारेण चेतसा ॥१०६॥
तदेवं कस्य विश्वासः स्त्रीषु देवेति गोमुखे।
उक्तवत्यथ भूयोऽपि जगाद मरुभूतिकः ॥१०७॥

राज्ञः सिंहबलस्य राज्ञ्यः कल्याणवत्याश्च कथा

अप्रतिष्ठं मनः स्त्रीणामत्रापि श्रूयतां कथा।
पूर्वं सिंहबलो नाम राजाभूद्दक्षिणापथे ॥१०८॥
तस्य कल्याणवत्याख्या सर्वान्तःपुरयोषिताम्।
प्रिया मालवसामन्तसुता भार्या बभूव च ॥१०९॥

जब वह बँधी हुई उसे बैठाकर आलिंगन करने की इच्छा प्रकट करने लगा, तब उस स्त्री ने उसका विरोध करके उसे रोक दिया। उसके बहुत प्रार्थना करने पर वह बोली—'जिस प्रकार तूने लताओं से बाँधकर मुझे मारा है, उसी प्रकार मैं भी तुझे बाँधकर मारूँगी, तब तेरी इच्छा पूरी करूँगी, अन्यथा नहीं' ॥९६–९७॥

व्यसन से मोहित उस मूर्ख ने उसकी बात मान ली। आश्चर्य तो यह कि कामदेव ने उस वज्रसार को तृणसार बना डाला ॥९८॥

तब उस स्त्री ने अपने कामुक पति के हाथ-पैर उस वृक्ष से बाँध दिये और उसी के शस्त्र से उसके नाक-कान भी काट लिये ॥९९॥

तदनन्तर, उसका शस्त्र और वस्त्र लेकर, पुरुष का वेश बनाकर वह पापिन, स्वेच्छापूर्वक चली गई ॥१००॥

कटे हुए नाक-कानवाला वज्रसार टपकते हुए रक्त से नहाया हुआ, मुँह लटकाये उसी तरह वहीं बँधा रह गया ॥१०१॥

कुछ समय के पश्चात् उस जंगल में ओषधि लेने के लिए एक वैद्य आया। वह सज्जन, दया करके उसे बन्धन से छुड़ाकर अपने घर ले गया ॥१०२॥

वहाँ उसके धीरज बँधाने पर वज्रसार धीरे-धीरे अपने घर आ गया और बहुत ढूँढ़ने पर भी अपनी उस दुष्ट स्त्री को न पा सका ॥१०३॥

उसने सारा समाचार अपने मित्र क्रोधन को सुनाया और क्रोधन ने वत्सराज उदयन से कह सुनाया। यह वज्रसार पौरुष और आत्माभिमान-रहित स्त्री के समान है। इसलिए इसकी स्त्री ने इसका वेश छीनकर इसे उचित दंड दिया ॥१०४–१०५॥

इस प्रकार, राजभवन के सभी व्यक्तियों द्वारा हँसा जाता हुआ वह वज्रसार वज्र के समान सुदृढ़ चित्त से आज भी यहीं रहता है ॥१०६॥

इसलिए, महाराज! स्त्रियों में किसका विश्वास किया जाय? गोमुख के इस प्रकार कहने पर मरुभूति ने फिर कहा—॥१०७॥

राजा सिंहबल और रानी कल्याणवती की कथा

स्त्रियों का मन चंचल होता है, इस सम्बन्ध में भी एक कथा सुनो। प्राचीन समय में दक्षिण दिशा में सिंहबल नाम का एक राजा था। उसकी रानी कल्याणवती सभी रानियों में उसे प्रिय थी, जो मालव देश के किसी सामन्त की पुत्री थी ॥१०८-१०९॥

तया सह स राज्यं स्वं शासन्नृपतिरेकदा।
निष्कासितोऽभूद्बलिभिर्देशात् सम्भूय गोत्रजैः ॥११०॥
देवीद्वितीयः प्रच्छन्नं सायुधोऽल्पपरिच्छदः।
स प्रतस्थे ततो राजा मालवं श्वशुरास्पदम् ॥१११॥
गच्छन् पथि च सोऽटव्यां सिंहमाधावितं पुरः।
शरः खड्गप्रहारेण द्विधा चक्रेऽवहेलया ॥११२॥
वनद्विपं च गर्जन्तमायान्तं मण्डलैर्भ्रमन्।
खड्गच्छिन्नकराङ्घ्रीकं मुक्तारटिमपातयत् ॥११३॥
एकाकी तस्करचमूर्विदलन्नवपङ्कजाः।
ममाथारण्यविक्रान्तः करी कमलिनीरिव ॥११४॥
एवं मार्गमनिक्रम्य दृष्टान्यद्भर्तृविक्रमाम्।
मालवं प्राप्य देवीं स्वां सोऽब्रवीत् सत्त्वसागरः ॥११५॥
न मार्गवृत्तमेतन्मे वाच्यं पितृगृहे त्वया।
लज्जैषा देवि का श्लाघा क्षत्रियस्य हि विक्रमे ॥११६॥
इत्युक्त्वा च तया साकं प्राविशत्तत्पितुर्गृहम्।
सम्भ्रमात्तेन पृष्टश्च निजं वृत्तान्तमुक्तवान् ॥११७॥
सम्मान्य दत्तहस्त्यश्वस्तेनैव श्वशुरेण सः।
गजानीकाभिधस्यागाद्राज्ञोऽतिबलिनोऽन्तिकम् ॥११८॥
देवीं तु कल्याणवतीं भार्यां तां पितृवेश्मनि।
तत्रैव स्थापयामास विपक्षविजयोद्यतः ॥११९॥
तस्मिन्प्रयाते यातेषु दिवसेष्वेकदात्र सा।
देवी वातायनाग्रस्था कञ्चित्पुरुषमैक्षत ॥१२०॥
स दृष्ट एव रूपेण तस्याश्चित्तमपाहरत्।
स्मरेणाकृष्यमाणा च तत्क्षणं सा व्यचिन्तयत् ॥१२१॥
जानेऽहं नार्यपुत्राद्यत्सुरूपोऽन्यो न शौर्यवान्।
धावत्येव तथाप्यस्मिन् पुरुषे बत मे मनः ॥१२२॥
तदद्यैव भजाम्येनमिति सञ्चिन्त्य सा तदा।
सख्यै रहस्यधारिण्यै स्वाभिप्रायं शशंस तम् ॥१२३॥
तयैवानाय्य नक्तं च वातायनपथेन सा।
अन्तःपुरं तं पुरुषं रज्जूत्क्षिप्तं न्यवेशयत् ॥१२४॥

रानी के साथ, राज्य के शासक उस राजा को, एकबार उसके प्रबल कुटुम्बी बन्धुओं ने मिलकर राज्य से निकाल दिया ॥११०॥

तब वह राजा रानी और कुछ सेवकों के साथ गुप्त रूप से वहाँ से चला और अपनी ससुराल आ गया ॥१११॥

मार्ग में जाते हुए जंगल में उसने, अपने ऊपर आक्रमण करते हुए एक सिंह को, अनायास तलवार के प्रहार से, दो टुकड़े करके मार डाला ॥११२॥

और, उसने पैंतरे के साथ घूमते हुए तथा आक्रमण करते एवं चिग्घाड़ते हुए हाथी के पैर और सूंड़ काटकर उसे गिरा दिया ॥११३॥

आगे चलकर मिले हुए चोरों के दल को उसने इस प्रकार काटकर गिरा दिया, जैसे जंगली हाथी, कमल के जंगल को रौंद डालता है ॥११४॥

इस प्रकार, रानी के द्वारा देखा गया पराक्रमवाला वह राजा, मार्ग तय करके मालव देश पहुँचा। तब बल का समुद्र वह राजा रानी से कहने लगा--॥११५॥

'मार्ग का यह समाचार तुम अपने पिता के घर में न कहना। यह तो एक लज्जा की बात है। पराक्रम करने में क्षत्रिय की क्या प्रशंसा ?' ॥११६॥

ऐसा रानी से कहकर वह राजा उसके साथ उसके पिता के भवन में गया। और, घबराकर समाचार पूछने पर उसने अपना समाचार (बन्धुओं द्वारा राज्य छीने जाने का) सुना दिया ॥११७॥

तब श्वशुर द्वारा सत्कृत होकर और हाथी, घोड़े आदि सेना की सहायता प्राप्त कर वह अत्यन्त बलवान् राजा गजानीक के समीप गया ॥११८॥

और, शत्रुओं को जीतने में प्रयत्नशील राजा ने, रानी कल्याणवती को वहीं पिता के ही घर पर रख दिया ॥११९॥

उस राजा के चले जाने पर और कुछ दिन बीतने पर एक बार, भवन की खिड़की में बैठी हुई रानी ने, किसी पुरुष को देखा ॥१२०॥

उस पुरुष ने देखते ही रानी के मन को मोह लिया और काम-वासना से प्रेरित रानी उस समय सोचने लगी---॥१२१॥

'मैं भली भाँति यह जानती हूँ कि मेरे पतिदेव के समान सुन्दर और पराक्रमी दूसरा पुरुष नहीं है। फिर भी, इस पुरुष की ओर मेरा मन खिंच रहा है। यह खेद है॥१२२॥

अब जो भी हो, मैं इसे भोगती हूँ।' इस प्रकार सोचकर उसने अपना गुप्त भेद जाननेवाली सहेली से अपने मन का भाव प्रकट किया ॥१२३॥

और उसी के द्वारा उसे रात्रि के समय खिड़की के मार्ग से रस्से के सहारे ऊपर चढ़ाकर अपने घर में बुला लिया ॥१२४॥

स प्रविष्टोऽत्र पुरुषो नैवाध्यासितुमोजसा।
शशाक तस्याः पर्यङ्कं न्यषीदत् पृथगासने॥१२५॥
तद्दृष्ट्वा बत नीचोऽयमिति यावद्विषीदति।
राज्ञी सा तावदत्रागादुपरिष्टाद् भ्रमन्नहिः॥१२६॥
तं विलोक्य भियोत्थाय सहसा पुरुषोऽत्र सः।
धनुरादाय भुजगं जघान विशिखेन तम्॥१२७॥
विपन्नपतितं तं च गवाक्षेणाक्षिपद्बहिः।
हर्षेण तद्भयोत्तीर्णो ननर्त स च कातरः॥१२८॥
नृत्यन्तं वीक्ष्य तं विग्ना सा कल्याणवती भृशम्।
दध्यौ धिग्धिक्किमेतेन निःसत्त्वेनाधमेन मे॥१२९॥
दृष्टवैव तद्विरक्तां तां चित्तज्ञा सा च तत्सखी।
निर्गत्याशु प्रविश्यात्र जगाद कृतसम्भ्रमा॥१३०॥
आगतस्ते पिता देवि तदयं यातु सम्प्रति।
यथागतेनैव पथा स्वगृहं त्वरितं युवा॥१३१॥
एवं तयोक्ते निर्याते रज्ज्वा वातायनाद्बहिः।
भयाकुलः स पतितो न दैवात् पञ्चतां गतः॥१३२॥
गते तस्मिन्नवोचत्तां सा कल्याणवती सखीम्।
सखि सुष्ठु कृतं नीचो यत्त्वयेष बहिःकृतः॥१३३॥
ज्ञातं त्वया मे हृदयं चेतो हि मम दूयते।
भर्ता मे व्याघ्रसिंहादीन्निपात्यापह्नुते ह्रिया॥१३४॥
अयं तु भुजगं हत्वा हीनसत्त्वः प्रनृत्यति।
तत्तादृशं तं हित्वा किमस्मिन्मे प्राकृते रतिः॥१३५॥
तदप्रतिष्ठितमतिं धिङ् मां धिगथवा स्त्रियः।
या धावन्त्यशुचिं हित्वा कर्पूरं मक्षिका इव॥१३६॥
इति जातानुतापा सा राज्ञी नीत्वा निशां ततः।
प्रतीक्षमाणा भर्तारमासीत्तत्र पितुर्गृहे॥१३७॥
तावत्स दत्तान्यबलो गजानीकेन भूभुजा।
गत्वा तान्गोत्रजान्पञ्च पापान्सहबलोऽवधीत्॥१३८॥
ततः स सम्प्राप्य पुनः स्वराज्यमानीय भार्यां च पितुर्गृहात्ताम्।
प्रपूर्य तं च श्वशुरं धनोघैर्निष्कण्टकां क्ष्मां सुचिरं शशास॥१३९॥

वह पुरुष उसके शयनागार में आकर भी उसके तेज से प्रभावित होकर उसके पलँग पर न बैठकर भूमि पर बिछे हुए अलग आसन पर ही बैठ गया ॥१२५॥

यह देखकर, जब रानी यह सोच रही थी कि 'अरे, यह तो कायर है, तो मन में दुःख करने लगी। इतने में ही छत के ऊपर से घूमता हुआ एक सर्प वहाँ आ निकला ॥१२६॥

उसे देखकर, भय से उठकर और धनुष लेकर उस पुरुष ने बाण से सर्प को मार डाला ॥१२७॥

मरने के बाद गिरे हुए उस सर्प को उसने झरोखे से बाहर फेंक दिया। फलतः, उस भय से छूट जाने पर वह कायर प्रसन्न होकर नाचने लगा ॥१२८॥

उसे नाचते हुए देखकर व्याकुल वह कल्याणवती गम्भीर चिन्ता करने लगी कि 'मुझे धिक्कार है! ऐसे बलहीन और नीच पुरुष से मैं क्या समागम करूँ?' ॥१२९॥

उस पुरुष को देखते ही रानी को विरक्त जानकर, उसके मनोभाव को जाननेवाली सहेली ने उस कमरे में तुरन्त आकर घबराहट के साथ कहा—'हे देवि, तुम्हारे पिता आये हैं, इसलिए यह युवा पुरुष, जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से अपने घर चला जाय' ॥१३०–१३१॥

उस सहेली के ऐसा कहने पर खिड़की से बाहर लटकती हुई रस्सी के सहारे वह निकला, किन्तु भय के कारण गिर पड़ा, भाग्यवश मरा नहीं ॥१३२॥

उसके चले जाने पर कल्याणवती अपनी सहेली से कहने लगी—'सखि, अच्छा किया तुमने, जो इस अधम और कायर को बाहर निकाला ॥१३३॥

तुमने, मेरे हृदय को जान लिया। मेरा चित्त दुःखी हो रहा है। मेरा पति तो सिंह, जंगली हाथी और डाकुओं के दल का नाश करके भी लज्जा से उसे छिपाता है। और, यह कायर तो साँप को मारकर नाचता है! इसलिए, ऐसे शूर-वीर पति को छोड़कर ऐसे पामर व्यक्ति से मैं क्या प्रेम करूँ?' ॥१३४–१३५॥

इस प्रकार चंचल बुद्धिवाली मुझे धिक्कार है। या उन सभी स्त्रियों को धिक्कार है, जो मक्खियों की भाँति सुगन्धित कपूर को छोड़कर गन्दगी की ओर दौड़ती हैं ॥१३६॥

इस प्रकार पश्चात्ताप करती हुई रानी, उस रात्रि को व्यतीत करके, पति की प्रतीक्षा करती हुई पिता के घर में रहने लगी ॥१३७॥

उधर, राजा सिंहबल ने, राजा गजानीक से और भी सेना की सहायता लेकर, चढ़ाई करके अपने महाबली पाँचों कुटुम्बियों को पराजित किया ॥१३८॥

तदनन्तर, राजा सिंहबल ने, पुनः अपने राज्य को पाकर, अपनी रानी कल्याणवती को पिता के घर से लाकर और श्वशुर को पर्याप्त धन देकर अपने निष्कंटक राज्य का चिरकाल तक शासन किया ॥१३९॥

इति प्रवीरे सुभगे च सत्पतौ विवेकिनीनामपि देव योषिताम् ।
चलं मनो धावति यत्र कुत्रचिद्विशुद्धसत्त्वा विरलाः पुनः स्त्रियः ॥१४०॥
इति मरुभूतिनिगदितामाकर्ण्य कथां स वत्सराजसुतः ।
नरवाहनदत्तस्तां सुखसुप्तो नीतवान् रजनीम् ॥१४१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शक्तियशोलम्बके द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

नरवाहनदत्तकथा (पूर्वानुवृत्ता)

ततः प्रातः कृतावश्यकार्यः स सचिवैः सह ।
नरवाहनदत्तः स्वमुद्यानं विहरन्ययौ ॥१॥
तत्रस्थश्च प्रभापुञ्जमादौ व्योम्नोऽप्यनन्तरम् ।
ततो विद्याधरीर्बह्वीरवतीर्णा ददर्श सः ॥२॥
तासां मध्ये च दीप्तानां ददर्शैकां स कन्यकाम् ।
ताराणामिव शीतांशुलेखां लोचनहारिणीम् ॥३॥
विकसत्पद्मवदनां लोललोचनषट्पदाम् ।
सलीलहंसगमनां वहदुत्पलसौरभाम् ॥४॥
तरङ्गहारित्रिवलीलतालङ्कृतमध्यमाम् ।
साक्षादिव स्मरोद्यानवापीशोभाधिदेवताम् ॥५॥
स्मरसञ्जीवनीं तां च दृष्ट्वा सोत्कलिकामनः ।
चान्द्रीं मूर्त्तिमिवाम्भोधिश्चुक्षुभे स नृपात्मजः ॥६॥
अहो सुन्दरनिर्माणवैचित्री काप्यसौ विधेः ।
इति शंसन् स सचिवैः सहितस्तामुपाययौ ॥७॥
तिर्यक्प्रेमार्द्रया दृष्ट्या पश्यन्तीं तां च स क्रमात् ।
पप्रच्छ का त्वं कल्याणि किमिहागमनं च ते ॥८॥
तच्छ्रुत्वा साब्रवीत्कन्या शृणुतैतद्वदामि वः ।

शक्तियशसः कौशाम्ब्यागमनम्

अस्ति काञ्चनशृङ्गाख्यं पुरं हैमं हिमाचले ॥९॥
तत्रास्ति नाम्ना स्फटिकयशा विद्याधरेश्वरः ।
धार्मिकः कृपणानाथशरणागतवत्सलः ॥१०॥

हे स्वामी, इस प्रकार वीर, सदाचारी और सुन्दर पति के रहने पर भी, विचारशील युवतियों का भी मन चंचल होकर जहाँ-तहाँ दौड़ता है। विशुद्ध मनवाली स्त्रियाँ विरल ही होती हैं ॥१४०॥

मरुभूति द्वारा इस प्रकार कही गई कथा को सुनकर वत्सराज-पुत्र नरवाहनदत्त ने, सुखपूर्वक सोकर रात बिताई ॥१४१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शक्तियश लम्बक का
द्वितीय तरंग समाप्त

तृतीय तरंग

नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत)

सुबह में सोकर उठने के बाद आवश्यक कर्मों से निवृत्त होकर नरवाहनदत्त अपने मन्त्रियों के साथ उद्यान में विहार करने के लिए गया ॥१॥

उद्यान में भ्रमण करते हुए उसने आकाश में पहले तेज का पुंज और उसके पश्चात् ही आकाश से उतरी हुई बहुत-सी विद्याधरियों को देखा ॥२॥

उन चमकती हुई विद्याधरियों के मध्य उसने, एक कन्या को, इस प्रकार देखा, मानों तारिका-मंडल के मध्य चमकती हुई नयनहारिणी चन्द्रमा की रेखा हो ॥३॥

उसका मुख-कमल खिला हुआ था और उसके चंचल नयन भ्रमरों के समान झूम रहे थे। हंस के समान लीलायुक्त गमन करती हुई उसके शरीर से कमल के समान सुगन्धि निकल रही थी ॥४॥

तरंग-युक्त त्रिवली-लता से उसकी कमर अलंकृत थी, मानों काम-रूपी बावली की शोभा की वह मूर्तिमती अधिदेवता थी ॥५॥

कामदेव की संजीवनी-विद्या के समान और उत्कंठित चन्द्रमा की मूर्ति के समान उसे देखकर समुद्र के समान वत्सराज का पुत्र वह नरवाहनदत्त क्षुब्ध हो उठा ॥६॥

'ओह! यह तो ब्रह्मा के सौन्दर्य-सृष्टि की विचित्र रचना है', इस प्रकार कहता हुआ वह युवराज मन्त्रियों के साथ उसके पास आ गया ॥७॥

वह भी, स्नेह से स्निग्ध और तिरछी आँखों से उसे देखती थी। क्रमशः समीप आकर उसने उस सुन्दरी से पूछा कि तू कौन है और यहाँ कैसे आई? ॥८॥

शक्तियशा का कौशाम्बी में आगमन

यह सुनकर वह कन्या बोली, सुनो, मैं तुम्हें बताती हूँ। हिमाचल पर्वत पर कांचन-शृंग नाम का सुवर्ण-निर्मित नगर है ॥९॥

वहाँ स्फटिकयश नाम का विद्याधरों का राजा है। वह बहुत धर्मात्मा है और दीन, अनाथों एवं शरणागतों का पालन-रक्षण करनेवाला है ॥१०॥

तस्य हेमप्रभादेव्यां जातां गौरीवरोद्भवाम् ।
मां शक्तियशसं नाम जानीहि तनयामिमाम् ॥११॥
पितुः प्राणप्रिया साहं पञ्चभ्रातृकनीयसी ।
अतोषयं तदादेशाद् व्रतैः स्तोत्रैश्च पार्वतीम् ॥१२॥
तुष्टा सा सकला विद्या दत्त्वा मामेवमादिशत् ।
पितुर्दशगुणं पुत्रि भावि विद्याबलं तव ॥१३॥
नरवाहनदत्तश्च भर्त्ता तव भविष्यति ।
वत्सराजसुतो भाविचक्रवर्त्ती द्युचारिणाम् ॥१४॥
इत्युक्त्वा शर्वपत्नी मे तिरोऽभूत्तत्प्रसादतः ।
लब्धविद्याबला चाहं सम्प्राप्ता यौवनं क्रमात् ॥१५॥
अद्यादिशच्च सा रात्रौ देवी मां दत्तदर्शना ।
प्रातः पुत्रि त्वया गत्वा द्रष्टव्यः स निजः पतिः ॥१६॥
आगन्तव्यमिहैवाद्य मासेन हि पिता तव ।
चित्तस्थितैतत्सङ्कल्पो विवाहं संविधास्यति ॥१७॥
इत्यादिश्य तिरोऽभून् सा देवी याता च यामिनी ।
ततोऽहमार्यपुत्रैषा त्वमिह द्रष्टुमागता ॥१८॥
तत्सम्प्रति व्रजामीति गदित्वा गगनोज्ज्वला ।
उत्पत्य खं शक्तियशाः सा जगाम पुरं पितुः ॥१९॥
नरवाहनदत्तश्च तद्विवाहोत्सुकस्ततः ।
विवेशाभ्यन्तरं खिन्नः पश्यन् मासं युगोपमम् ॥२०॥
तत्र दृष्ट्वा विमनसं सोऽथ तं गोमुखोऽब्रवीत् ।
शृणु देव कथामेकां वक्ष्यामि विनोदिनीम् ॥२१॥

विद्याधर्याः कथा[1]

बभूव काञ्चनपुरीत्याख्यया नगरी पुरा ।
तस्यां च सुमना नाम महानामीन्महीपतिः ॥२२॥
आक्रान्तदुर्गकान्तारभूमिना येन चक्रिरे ।
चित्रं विराजमानेन तादृशा अपि शत्रवः ॥२३॥
तमेकदास्थानगतं प्रतीहारो व्यजिज्ञपत् ।
देव मुक्तालता नाम निषादाधिपकन्यका ॥२४॥
पञ्जरस्थितमादाय शुकं द्वारि बहिः स्थिता ।
वीरप्रभेणानुगता भ्रात्रा देवं दिदृक्षते ॥२५॥

---
१. इयमेव कथा कादम्बरीमूलभूता ।

उस राजा की हेमप्रभा नाम की रानी में, पार्वती की कृपा से उत्पन्न हुई शक्तियशा नाम की कन्या मुझे जानो ॥११॥

पाँच भाइयों में सबसे छोटी और अपने पिता की प्राणों से भी प्यारी कन्या मैंने, अपने पिता की आज्ञा से व्रतों और स्तोत्रों से पार्वती को सन्तुष्ट किया ॥१२॥

उस प्रसन्न पार्वती ने, मुझे सभी विद्याएँ देकर आज्ञा दी कि 'बेटी, तुझे पिता से दसगुना विद्याओं का बल प्राप्त होगा और वत्सराज का पुत्र तथा विद्याधरों का भावी चक्रवर्ती नरवाहनदत्त तेरा पति होगा' ॥१३–१४॥

इस प्रकार कहकर पार्वती अन्तर्धान हो गई और विद्याबल को प्राप्त कर मैं क्रमश युवती हो गई ॥१५॥

आज रात मुझे स्वप्न में दर्शन देकर पार्वती देवी ने आज्ञा दी कि "बेटी, प्रातःकाल ही तुम अपने पति को देखना ॥१६॥

और, एक मास के पश्चात् आज के ही दिन यहाँ फिर आना। तब चित्त में इस निश्चय को ठाने हुए तुम्हारा पिता तुम्हारा विवाह-संस्कार सम्पन्न करेगा" ॥१७॥

इस प्रकार की आज्ञा देकर देवी चली गई और रात भी बीत गई। इसलिए, "हे आर्यपुत्र, मैं तुम्हें देखने के लिए यहां आई हूँ ॥१८॥

तुम्हारा दर्शन हुआ, अतः अब मैं जाती हूँ।" यह कहकर शक्तियशा अपनी सहेलियों के साथ आकाश में उड़कर पिता के नगर को चली गई ॥१९॥

तब उसके विवाह के लिए व्याकुल नरवाहनदत्त, एक मास को एक युग के समान समझता हुआ अपने भवन को गया ॥२०॥

घर आकर उसे उदास देखकर गोमुख ने कहा—'हे स्वामी, तुम्हारे मन को बहलाने के लिए मैं एक कथा कहता हूँ, सुनो—' ॥२१॥

दो विद्याधरियों की कथा

प्राचीन समय में कांचनपुरी नाम की एक नगरी थी। उसमें सुमना नाम का महान् राजा था ॥२२॥

दुर्गम भूमियों को आक्रान्त करके उस राजा ने शत्रुओं को भी ऐसा ही कर दिया (अर्थात्, उसके शत्रु भी दुर्गम भूमि की शरण में चले गए) ॥२३॥

एक बार सभा (आम दरबार) में बैठे हुए राजा से द्वारपाल ने आकर निवेदन किया—'महाराज, निषादों की राजकन्या मुक्तलता, पिंजरे में रखे हुए शुक (तोते) को लेकर बाहर द्वार पर खड़ी है। उसके साथ उसका बड़ा भाई वीरप्रभ है। वह आपको देखना चाहती है' ॥२४-२५॥

प्रविशत्विति राज्ञोक्ते प्रतीहारनिदेशतः।
भिल्लकन्या नृपास्थानप्राङ्गणं प्रविवेश सा ॥२६॥
न मानुषीयं दिव्यस्त्री कापि नूनमसाविति।
सर्वेऽप्यचिन्तयंस्तत्र दृष्ट्वा तद्रूपमद्भुतम् ॥२७॥
सा च प्रणम्य राजानमेवं व्यज्ञापयत्तदा।
देवायं शास्त्रगञ्जाख्यश्चतुर्वेदधरः शुकः ॥२८॥
कविः कृत्स्नासु विद्यासु कलासु च विचक्षणः।
मयेश्वरोपयोगित्वादिहानीतोऽद्य गृह्यताम् ॥२९॥
इत्यर्पितस्तयादाय प्रतीहारेण कौतुकात्।
नीतोऽग्रे नृपतेरेतं शुकः श्लोकं पपाठ सः ॥३०॥
'राजन्युक्तमिदं सदैव यदयं देवस्य सन्धुक्ष्यते।
धूमश्याममुखो द्विषद्विरहिणीनिःश्वासवातोद्गमैः।
एतत्त्वद्भुतमेव यत्परिभवाद्बाष्पाम्बुपूरप्लवै-
स्तासां प्रज्वलतीह दिक्षु दशसु प्राज्यः प्रतापानलः ॥३१॥'
एवं पठित्वा व्याख्याय शुकोऽवादीत् पुनश्च सः।
किं प्रमेयं कुतः शास्त्राद्ब्रवीम्यादिश्यतामिति ॥३२॥
ततोऽतिविस्मिते राज्ञि मन्त्री नम्याब्रवीदिदम्।
शङ्के शापाच्छुकीभूतः पूर्वं यः कोऽप्ययं प्रभो ॥३३॥
जातिस्मरो धर्मवशात् पुराधीतं स्मरत्यतः।
इत्युक्ते मन्त्रिणा राजा स शुकं पृच्छति स्म तम् ॥३४॥
कौतुकं भद्र मे ब्रूहि स्ववृत्तान्तं क्व जन्म ते।
शुकत्वे शास्त्रविज्ञानं कुतः को वा भवानिति ॥३५॥

शुकस्यात्मकथा

ततः स बाष्पमुत्सृज्य वदति स्म शुकः शनैः।
अवाच्यमपि देवैतच्छृणु वच्मि त्वदाज्ञया ॥३६॥
हिमवन्निकटे राजन्नस्त्येको रोहिणीतरुः।
आम्नाय इव दिग्व्यापिभूरिशाखाश्रितद्विजः[1] ॥३७॥

---

१. आम्नायपक्षे—भूरिशाखाश्रिता द्विजाः यस्य; तरुपक्षे—भूरिशाखासु आश्रिता, द्विजाः=पक्षिणो यस्य।

'वे आयें,' राजा के इस प्रकार कहने पर, द्वारपाल के बताये मार्ग से, वह भिल्लकन्या, राजसभा-भवन के आँगन में आई। उसके आश्चर्यजनक रूप को देखकर सभी सभासद सोचने लगे कि क्या यह मानुषी है अथवा कोई दिव्य स्त्री ॥२६–२७॥

वह कन्या राजा को प्रणाम करके बोली–'महाराज, शास्त्रगंज नाम का चारों वेदों का ज्ञाता यह शुक है। यह कवि है। सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओं में यह कुशल है। मैं इसे महाराज के उपयुक्त समझकर यहाँ ले आई हूँ। आप इसे स्वीकार करें' ॥२८-२९॥

इस प्रकार, भिल्लकन्या द्वारा समर्पित शुक को द्वारपाल ने कौतुकवश राजा के सामने प्रस्तुत कर दिया। तब उस शुक ने एक श्लोक पढ़ा, जिसका अर्थ है—॥३०॥

'राजन्, यह तो उचित ही है कि आपके शत्रुओं की विरहिणी स्त्रियों के लम्बे श्वासों के साथ निकलते हुए वायु से, धुएँ से श्याम मुखवाली प्रताप-अग्नि सदा धधकती रहती है; किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि शत्रु-स्त्रियों के दुःख के कारण निकले हुए आँसुओं की बाढ़ से, वह प्रताप अग्नि दसों दिशाओं में और भी प्रचंड रूप से जलती रहती है' ॥३१॥

यह श्लोक पढ़कर और उसकी व्याख्या करके वह सुग्गा बोला–'महाराज, किस शास्त्र से किस विषय का वर्णन करूँ, आज्ञा दीजिए' ॥३२॥

तब राजा के आश्चर्य में निमग्न हो जाने पर उसका मन्त्री बोला–'प्रभो, यह पूर्वजन्म का कोई ऋषि, शापवश सुग्गा बन गया है। इसे पूर्वजन्म की स्मृति है और उस जन्म के पढ़े हुए विषयों का भी यह स्मरण करता है' ॥३३–३४॥

'हे भद्र, मुझे यही कौतूहल है कि तुम अपना ही वृत्तान्त बताओ तुम्हारा जन्म कहाँ हुआ और शुक होने पर भी तुम्हारा शास्त्रों का ज्ञान कैसा? साथ ही, तुम कौन हो?' ॥३५॥

शुक की आत्मकथा

तब वह शुक[1] आँसू गिराकर धीरे से बोला–'यह बात यद्यपि कहने योग्य नहीं है, फिर भी आपकी आज्ञा से कहता हूँ, सुनिए' ॥३६॥

हे राजन्! हिमालय के समीप रोहिणी का एक वृक्ष है। वेदों के समान जिसकी अनेक शाखाओं[2] में द्विज[3] गण (पक्षी और ब्राह्मण) आश्रय लेते हैं॥३७॥

---

१. यही कादम्बरी का वैशंपायन शुक है।

२. वृक्ष के पक्ष में शाखा=डालें। वेद के पक्ष में शाखा=भाग।

३. द्विज के पक्ष में=पक्षी। वेद के पक्ष में=त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य)।

तस्मिन्नेकः समं शुक्या शुकस्तस्थौ कृतालयः।
तस्मादेषोऽहमुत्पन्नस्तस्यां दुष्कर्मयोगतः ॥३८॥
जातस्यैव च मे माता शुकी सा पञ्चतां गता।
तातस्तु वृद्धः पक्षान्तः क्षिप्त्वा वर्धयति स्म माम् ॥३९॥
निटस्थशुकानीतभुक्तशेषफलानि च।
अश्नन् मह्यं च वितरन्नथ तत्रास्त मत्पिता ॥४०॥
एकदा तत्र तूर्याभिध्मातगोशृङ्गनादिनी।
आखेटकाय समगाद् भिल्लसेना भयङ्करी ॥४१॥
वित्रस्तकृष्णसाराक्षी धूलिव्यालुलितांशुका।
सम्भ्रमोद्वेलचमरीविस्रस्तकबरीभरा ॥४२॥
विद्रुतव्याकुलेवाभूत्सहसा सा महाटवी।
पुलिन्दवृन्दे विविधप्राणिघाताय धावति ॥४३॥
कृतान्तक्रीडितं कृत्वा दिनमाखेटभूमिषु।
आगाच्छबरसैन्यं तदात्तैः पिशितभारकैः ॥४४॥
एकस्तु वृद्धशबरस्तत्रानामादितामिषः।
अद्राक्षीत् स तरुं सायं क्षुधितस्तमुपागतम् ॥४५॥
आरुह्य च स तत्राशु शुकानन्यांश्च पक्षिणः।
आकृष्याकृष्य नीडेभ्यो हत्वा हत्वा भुवि न्यधात् ॥४६॥
तथायान्तं च निकटं यमकिङ्करसन्निभम्।
तं दृष्ट्वाहं भयाल्लीनः शनैः पक्षान्तरे पितुः ॥४७॥
तावच्चास्मत्कुलायं स प्राप्याकृष्यैव पातकी।
तातं मे पीडितग्रीवं हत्वा तरुतलेऽक्षिपत् ॥४८॥
अहं च तातेन समं पतित्वा तस्य पक्षतेः।
निर्गत्य तृणपर्णान्तः सभयः प्राविशं शनैः ॥४९॥
अथावतीर्य भिल्लोऽसावग्नौ भृष्टानभक्षयत्।
शुकानन्यान्समादाय पापः पल्लीं निजामगात् ॥५०॥
ततः शान्तभयो दुःखदीर्घां नीत्वा निशामहम्।
प्रातर्भूयिष्ठमुदिते जगच्चक्षुषि भास्वति ॥५१॥
अगच्छं पक्षसंरुद्धवसुधः प्रस्खलन्मुहुः।
तृषार्त्तः पद्मसरसस्तीरमासन्नवर्त्तिनः ॥५२॥

उस वृक्ष में एक सुग्गा, सुग्गी के साथ घोंसला बनाकर रहता था। उसी सुग्गी के गर्भ से, अपने दुष्कर्मों के कारण मैं उत्पन्न हुआ ॥३८॥

मेरे उत्पन्न होते ही वह माता सुग्गी मर गई। पिता वृद्ध थे, वे अपने पंखों के भीतर मुझे रखकर मेरा पालन-पोषण करते थे ॥३९॥

आसपास सुग्गों के खाकर बचे (फेंके हुए) फलों को खाते हुए और मुझे देते हुए मेरे पिता, मेरा पालन करने लगे ॥४०॥

एक बार शिकार करने के लिए तुरही, गोमुख आदि वाद्यों से भीषण शब्द करती हुई भीलों की भयंकर सेना, शिकार करने के लिए उस वन में आई ॥४१॥

उस सेना के भील, जब जंगली प्राणियों के विनाश के लिए चारों ओर दौड़-धूप कर रहे थे, तब भागते हुए कृष्णसार मृग-रूपी आँखोंवाली, धूल से भरे हुए पत्तोंवाली, भाग्य से घबराकर इधर-उधर भागते हुए चमरी मृगों के पूँछ-रूपी केशोंवाली यह वनभूमि सहसा व्याकुल हो उठी ॥४२–४३॥

सारे दिन उस शिकार की भूमि में विनाश-लीला करके, मारे हुए पशुओं के बोझ को लादे हुए वह भील-सेना सायंकाल के समय उस वृक्ष के नीचे आ गई ॥४४॥

उसमें एक वृद्ध भील था, जिसे मांस नहीं मिला था। उस भूखे भील ने, सायंकाल के समय उस वृक्ष पर दृष्टि डाली और वृक्ष के समीप आ गया ॥४५॥

आकर, तुरन्त ही वृक्ष पर चढ़कर उसने सुग्गों तथा अन्यान्य पक्षियों को घोसलों से निकाल-निकालकर और मार-मारकर वृक्ष के नीचे फेंकना प्रारम्भ किया ॥४६॥

उसे यम के किंकर की तरह निकट आया देख मैं भय से अपने पिता के पंखों के बीच चुपके-से दुबक गया ॥४७॥

अब उस पापी ने, क्रमशः मेरे घोंसले को देखकर मेरे पिता को घोंसले से बाहर खींचकर, गला दबाकर मार डाला और फेंक दिया ॥४८॥

मैं भी अपने पिता के साथ भूमि पर गिरकर और उनके पंखों से निकलकर घास और पत्तों के भीतर धीरे-धीरे घुस गया ॥४९॥

तब वह भील, नीचे उतरकर और मारे हुए पक्षियों को आग में भून-भूनकर खाने लगा। शेष कुछ सुग्गों को लेकर वह पापी अपने गाँव को चला गया ॥५०॥

तब भय-रहित होकर मैंने लम्बी रात किसी तरह बिताई और प्रातःकाल संसार के नेत्र के समान भगवान् भास्कर के उदय होने पर, पंखों के भूमि में लगने के कारण लड़खड़ाता हुआ मैं, प्यास से व्याकुल होकर, समीप-स्थित पद्म सरोवर तक किसी प्रकार पहुँचा ॥५१–५२॥

तत्रापश्यं कृतस्नानमहं तत्सैकतस्थितम्।
मुनिं मरीचिनामानं पूर्वपुण्यमिवात्मनः ।।५३।।
स मां दृष्ट्वा समाश्वास्य मुखक्षिप्तोदबिन्दुभिः।
कृत्वा पत्रपुटेऽनैषीदाश्रमं कृपया मुनिः ।।५४।।
तत्र दृष्ट्वा कुलपतिर्मां पुलस्त्यः किलाहसत्।
तेनान्यमुनिभिः पृष्टो दिव्यदृष्टिरुवाच सः ।।५५।।
इमं शापशुकं दृष्ट्वा दुःखेन हसितं मया।
वक्ष्यामि चैतत्सम्बद्धां कथां वो विहिताह्निकः ।।५६।।
जातिं यच्छ्रवणादेष प्राग्वृत्तं च स्मरिष्यति।
इत्युक्त्वा स पुलस्त्यर्षिराह्निकायोत्थितोऽभवत् ।।५७।।
कृताह्निकश्च मुनिभिः पुनरभ्यर्थितोऽत्र सः।
मत्सम्बद्धां कथामेतां महामुनिरवर्णयत् ।।५८।।

सोमप्रभमकरन्दिकामनोरथप्रभाणां कथा

आसीज्ज्योतिष्प्रभो नाम राजा रत्नाकरे पुरे।
आरत्नाकरमुर्वीं यः शशासोर्जितशासनः ।।५९।।
तस्य तीव्रतपस्तुष्टगौरीपतिवरोद्भवः।
हर्षवत्यभिधानायां पुत्रो देव्यामजायत ।।६०।।
स्वप्ने मुखप्रविष्टं यत्सोमं देवी ददर्श सा।
तेन सोमप्रभं नाम्ना तं चक्रे स्वसुतं नृपः ।।६१।।
ववृधे च स तन्वानः प्रजानां नयनोत्सवम्।
राजपुत्रोऽमृतमयैर्गुणैः सोमप्रभः क्रमात् ।।६२।।
दृष्ट्वा भरक्षमं शूरं युवानं प्रकृतिप्रियम्।
यौवराज्येऽभ्यषिञ्चत्तं प्रीतो ज्योतिष्प्रभः पिता ।।६३।।
प्रभाकराभिधानस्य तनयं निजमन्त्रिणः।
ददौ प्रियङ्करं नाम मन्त्रित्वे चास्य सद्गुणम् ।।६४।।
तत्कालमम्बरादश्वं दिव्यमादाय मातलिः।
अवतीर्णस्तमभ्येत्य सोमप्रभमभाषत ।।६५।।
विद्याधरः सखा शक्रस्यावतीर्णो भवानिह।
तेन चाशुश्रवा नाम शक्रेणोच्चैःश्रवःसुतः ।।६६।।
पूर्वस्नेहेन ते राजन् प्रहितस्तुरगोत्तमः।
अत्राधिरूढः शत्रूणामजेयस्त्वं भविष्यसि ।।६७।।

उस सरोवर में स्नान करके तट की बालू पर बैठे हुए मैंने अपने पूर्वजन्मों के पुण्यों के समान मरीचि नाम के मुनि को देखा ॥५३॥

वह मुनि मुझे देखकर और जल की बूँदों को मेरे मुँह पर डालकर, मुझे धीरज बँधाकर और पत्तों के दोनों में मुझे रखकर कृपापूर्वक अपने आश्रम में ले गये ॥५४॥

वहाँ मुझे देखकर आश्रम के कुलपति पुलस्त्य ऋषि ने हँस दिया। तब अन्य ऋषियों द्वारा उनके हँसने का कारण पूछने पर पुलस्त्य ने कहा—'मैं अपना दैनिक कृत्य समाप्त करके इसकी कथा आप लोगों से कहूँगा। इस कथा को सुनने से यह सुग्गा अपने पूर्वजन्म का स्मरण करेगा और अपना पिछला वृत्तान्त भी स्मरण करेगा'। ऐसा कहकर पुलस्त्य मुनि, नित्य-कर्म में लग गये ॥५५–५७॥

नित्यकर्म करने के उपरान्त अन्य मुनियों द्वारा पुनः पूछे गये पुलस्त्य महामुनि ने, मेरे सम्बन्ध की कथा का वर्णन किया ॥५८॥

सोमप्रभ, मकरन्दिका और मनोरथप्रभा की कथा

रत्नाकर नगर में ज्योतिष्प्रभ नाम का राजा था। वह प्रचंडशासन राजा समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी का शासन करता था ॥५९॥

उस राजा की तीव्र तपस्या से प्रसन्न शिवजी के वर से उसकी रानी हर्षवती के पुत्र उत्पन्न हुआ ॥६०॥

रानी ने स्वप्न में चन्द्रमा को अपने मुँह में प्रवेश करते देखा था, इसलिए राजा ने उस पुत्र का नाम सोमप्रभ[1] रखा ॥६१॥

प्रजाओं के नेत्रों के आनन्द को बढ़ाता हुआ वह बालक सोमप्रभ अपने अमृतमय गुणों के साथ क्रमशः बढ़ने लगा ॥६२॥

कुछ दिनों के पश्चात् पुत्र सोमप्रभ को शूर, युवा और प्रजा का प्रिय देखकर पिता ज्योतिष्प्रभ ने उसे युवराज के पद पर बैठा दिया ॥६३॥

और प्रभाकर[2] नाम के अपने मन्त्री के सद्गुण पुत्र प्रियंकर को उसका मन्त्री बना दिया ॥६४॥

उसी समय मातलि दिव्य घोड़े को लेकर आकाश से उतरा और सोमप्रभ के समीप आकर बोला—॥६५॥

'तुम इन्द्र के मित्र विद्याधर-भूमि पर अवतरे हो, इसलिए इन्द्र ने उच्चैःश्रवा नामक अपने घोड़े के पुत्र आशुश्रवा[3] को तुम्हारे लिए भेजा है ॥६६॥

यह घोड़ा, तुम्हें प्राचीन स्नेह के कारण भेजा गया है। इस पर चढ़कर तुम शत्रुओं के लिए अजेय हो जाओगे' ॥६७॥

---

१. यही कादम्बरी का चन्द्रापीड है।
२. कादम्बरी का शुकनास।
३. यही कादम्बरी का इन्द्रायुध है।

इत्युक्त्वा वाजिरत्नं तद्दत्त्वा सोमप्रभाय सः।
आत्तपूजः समुत्पत्य ययौ वासवसारथिः ॥६८॥
ततो नीत्वैव दिवसं तमुत्सवमनोरमम्।
सोमप्रभस्तमन्येद्युरुवाच पितरं नृपम् ॥६९॥
तात न क्षत्रियस्यैष धर्मो यदजिगीषुता।
तदाज्ञां देहि मे यावद्दिग्जयाय व्रजाम्यहम् ॥७०॥
तच्छ्रुत्वा स पिता तुष्टस्तथेति प्रत्यभाषत।
चक्रे ज्योतिष्प्रभस्तस्य यात्रासंविदमेव च ॥७१॥
ततःप्रणम्य पितरं दिग्जयाय बलैः सह।
प्रायाच्छक्रहयारूढः शुभे सोमप्रभोऽहनि ॥७२॥
जिगाय सोऽश्वरत्नेन तेन दिक्षु महीपतीन्।
आजहार च रत्नानि तेभ्यो दुर्वारविक्रमः ॥७३॥
नामितं स्वधनुस्तेन विद्विषां च शिरः समम्।
उन्नतिं तद्धनुः प्राप न तु तद्द्विषतां शिरः ॥७४॥
आगच्छन् कृतकार्योऽथ हिमाद्रिनिकटे पथि।
सन्निविष्टबलश्चक्रे मृगयां स वनान्तरे ॥७५॥
दैवात् सद्रत्नखचितं तत्रापश्यत्स किन्नरम्।
अभ्यधावच्च तं प्राप्तुं तेन शाक्रेण वाजिना ॥७६॥
स किन्नरो गिरिगुहां प्रविश्यादर्शनं ययौ।
सोमप्रभस्तु तेनाश्वेनातिदूरमनीयत ॥७७॥
तावत्प्रकीर्य काष्ठासु प्रकाशं तिग्मतेजसि।
प्राप्ते प्रतीचीं ककुभं सन्ध्यासङ्गमकारिणीम् ॥७८॥
श्रान्तः कथञ्चिदावृत्य स ददर्श महत्सरः।
तत्तीरे तां निशां नेतुकामश्चाश्वादवातरत् ॥७९॥
दत्त्वा तृणोदकं तस्मायाहृताम्बुफलोदकः।
विश्रान्तश्चैकतोऽकस्मादशृणोद् गीतनिःस्वनम् ॥८०॥
गत्वा तदनुसारेण कौतुकान्नातिदूरतः।
सोऽपश्यच्छिवलिङ्गाग्रे गायन्तीं दिव्यकन्यकाम् ॥८१॥
केयमद्भुतरूपा स्यादिति तं च सविस्मयम्।
साप्युदाराकृतिं दृष्ट्वा कृत्वातिथ्यमवोचत ॥८२॥

इस प्रकार कहकर और उस अश्वरत्न को सोमप्रभ के लिए देकर तथा सोमप्रभ से सत्कृत होकर इन्द्र का सारथी वह मातलि आकाश में उड़कर चला गया ॥६८॥

तब युवराज सोमप्रभ ने उत्सव से मनोहर उस दिन को, व्यतीत कर दूसरे दिन अपने पिता से कहा—॥६९॥

'पिता, क्षत्रिय का यह धर्म नहीं है कि वह विजय की इच्छा न करे। इसलिए, मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं दिग्विजय करने जाऊँ' ॥७०॥

यह सुनकर प्रसन्न उसके पिता ने 'अच्छा' कहकर उसके दिग्विजय की तैयारी की ॥७१॥

तब युवराज सोमप्रभ, माता-पिता को प्रणाम कर, सेनाओं के साथ इन्द्र के उस घोड़े पर चढ़कर शुभ दिन में दिग्विजय के लिए निकल पड़ा ॥७२॥

उस अश्वरत्न से सभी दिशाओं में राजाओं को जीतकर, उस अनन्त शक्तिवाले सोमप्रभ ने, उनसे अनेक रत्न प्राप्त किये ॥७३॥

उसने अपने धनुष के साथ शत्रुओं के शिर भी झुका दिये। वह धनुष तो फिर तन गया, किन्तु शत्रुओं के शिर फिर न उठ सके ॥७४॥

दिग्विजय करके लौटते हुए युवराज ने मार्ग में हिमालय के समीप सेना का शिविर लगाया और वन में आखेट करना प्रारम्भ किया ॥७५॥

दैवयोग से उसने सुन्दर रत्नों से अलंकृत एक किन्नर को देखा और उसे पकड़ने के लिए इन्द्र के घोड़े से उसका पीछा किया; किन्तु वह किन्नर पर्वत की किसी गुफा में घुसकर अदृश्य हो गया। सोमप्रभ को वह घोड़ा बहुत दूर ले गया ॥७६-७७॥

सभी दिशाओं को प्रकाशित करके जब प्रचंडरश्मि भगवान् भास्कर सन्ध्या से संगम करानेवाली पश्चिमा दिशा में पहुँचे, तब थके हुए सोमप्रभ ने, एक सरोवर को देखा और उसी के किनारे रात बिताने की इच्छा से वह घोड़े से उतर पड़ा ॥७८-७९॥

घोड़े को घास-पानी देकर और स्वयं फल तथा जल ग्रहण कर एक ओर विश्राम करते हुए उसने गाने का शब्द सुना ॥८०॥

कौतुकवश गान-ध्वनि के अनुसार कुछ ही दूर जाकर उसने शिवलिंग के आगे गाती हुई एक दिव्य कन्या को देखा ॥८१॥

'यह आश्चर्यजनक रूपवाली कन्या कौन है!' विस्मय के साथ वह यह सोच ही रहा था कि उस कन्या ने भी सोमप्रभ को प्रभावशाली स्वरूपवाला देखकर और उसका आतिथ्य-सत्कार करके उससे कहा—॥८२॥

कस्त्वं कथमिमां भूमिमेकः प्राप्तोऽसि दुर्गमाम्।
एतच्छ्रुत्वा स्ववृत्तान्तमुक्त्वा पप्रच्छ सोऽपि ताम् ॥८३॥
त्वं मे कथय कासि त्वं वनेऽस्मिन् का च ते स्थितिः।
इति तं पृष्टवन्तं च दिव्यकन्या जगाद सा ॥८४॥
कौतुकं चेन्महाभाग तद्वच्मि शृणु मत्कथाम्।
इत्युक्त्वा सा लसद्बाष्पपूरा वक्तुं प्रचक्रमे ॥८५॥

मनोरथप्रभाकथा

अस्तीह काञ्चनाभाख्यं हिमाद्रिकटके पुरम्।
पद्मकूटाभिधानोऽस्ति तत्र विद्याधरेश्वरः ॥८६॥
तस्य हेमप्रभादेव्यां राज्ञः पुत्राधिकप्रियाम्।
मनोरथप्रभां नाम विद्धि मां तनयामिमाम् ॥८७॥
साहं विद्याप्रभावेण सखीभ्यः सममाश्रमान्।
द्वीपानि कुलशैलांश्च वनान्युपवनानि च ॥८८॥
क्रीडित्वा प्रत्यहं चैवमाहारसमये पितुः।
आगच्छामि स्वभवनं वासरप्रहरैस्त्रिभिः ॥८९॥
एकदाहमिह प्राप्ता विहरन्ती सरस्तटे।
मुनिपुत्रकमद्राक्षं सवयस्यमिह स्थितम् ॥९०॥
तद्रूपशोभयाकृष्टा दूत्येवाहं तमभ्यगाम्।
सोऽपि साकूतया दृष्ट्यैवाकरोत् स्वागतं मम ॥९१॥
ततो ममोपविष्टायाः सखी ज्ञातोभयाशया।
कस्त्वं ब्रूहि महाभागेत्यपृच्छत्तद्वयस्यकम् ॥९२॥
स चाब्रवीत्तद्वयस्यो नातिदूरमितः सखि।
निवसत्याश्रमपदे मुनिर्दीधितिमानिति ॥९३॥
स ब्रह्मचारी सरसि स्नातुमत्र कदाचन।
आगतो ददृशे देव्या तत्कालागतया श्रिया ॥९४॥
सा तं शरीरेणाप्राप्यं प्रशान्तं मनसैव यत्।
सकामा चकमे तेन पुत्रं सम्प्राप मानसम् ॥९५॥
त्वद्दर्शनान्ममोत्पन्नः पुत्रोऽयं प्रतिगृह्यताम्।
इति नीत्वैव तज्जातं सा दीधितिमतः सुतम् ॥९६॥
बालकं मुनये तस्मै समर्प्य श्रीस्तिरोदधे।
सोऽप्यनायासलब्धं तं पुत्रं हृष्टोऽग्रहीन्मुनिः ॥९७॥

'तुम कौन हो और अकेले ही इस दुर्गम भूमि में कैसे पहुँचे ?' यह सुनकर सोमप्रभ ने अपना परिचय देकर उससे भी पूछा—॥८३॥

'तू मुझे बता कि तू कौन है और इस वन में तेरी क्या स्थिति है?' ऐसा पूछते हुए राजकुमार से वह दिव्य कन्या बोली—'हे महापुरुष, यदि तुम्हें मेरे सम्बन्ध में जिज्ञासा है, तो कहती हूँ, सुनो। ऐसा कहकर आंसुओं की निरन्तर धारा बहाती हुई वह कहने लगी—॥८४-८५॥

मनोरथप्रभा की कथा

हिमालय के मध्यभाग में कांचनाभ नाम का नगर है। वहाँ पद्मकूट नाम का विद्याधरों का राजा है। उस राजा की प्रभा नाम की रानी से उत्पन्न हुई मैं मनोरथप्रभा[1] नाम की कन्या हूँ ॥८६-८७॥

मैं विद्याओं के प्रभाव से अपनी सहेलियों के साथ प्रतिदिन, आश्रमों, द्वीपों, कुलपर्वतों, वनों और उपवनों में दिन के तीन पहरों तक मनोविनोद करके चौथे पहर (सायंकाल) पिता के भोजन के समय घर आ जाती थी। एक बार मैं विहार करती हुई यहाँ सरोवर के तीर पर आई और मैंने इस तीर पर, अपने मित्र के साथ बैठे हुए एक मुनिकुमार को देखा ॥८८-९०॥

उसकी शोभा से आकृष्ट मैं दूती के समान उसके समीप गई। उसने भी भाव-भरे नेत्रों से मेरा स्वागत किया ॥९१॥

तब मेरे बैठ जाने पर, दोनों के मनोभाव को समझती हुई मेरी सहेली ने, उसके मित्र से उसके सम्बन्ध में पूछा ॥९२॥

तब उसका वह मित्र बोला—'हे सखि, यहाँ समीप ही, आश्रम में दीधितिमान् नाम का मुनि रहता है ॥९३॥

सरोवर में स्नान करने के लिए आये हुए उस ब्रह्मचारी मुनि को उसी समय आई हुई लक्ष्मी ने देखा और वह उस पर आसक्त (अनुरक्त) हो गई ॥९४॥

लक्ष्मी ने उस जितेन्द्रिय मुनि को शरीर से अप्राप्य समझकर मन से ही जो उसकी कामना की, उससे उसे मानस-पुत्र उत्पन्न हुआ। तब लक्ष्मी उस मानस-पुत्र को मुनि को समर्पित करके अन्तर्धान हो गई। उस मुनि ने भी विना प्रयास और प्रयत्न के पाये हुए उस पुत्र को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया ॥९५—९७॥

---

१. यही कादम्बरी की महाश्वेता है।

रश्मिमानिति नाम्ना च कृत्वा संवर्ध्य च क्रमात् ।
उपनीय समं सर्वा विद्याः स्नेहादशिक्षयत् ॥९८॥
तं रश्मिमन्तं जानीतमेतं मुनिकुमारकम् ।
श्रियः सुतं मया साकं विहरन्तमिहागतम् ॥९९॥
इत्युक्त्वा तद्वयस्येन पृष्टा तेनापि मत्सखी ।
सा सनामान्वयं सर्वं मदुक्तं तं तदब्रवीत् ॥१००॥
ततोऽन्योन्यान्वयज्ञानान्नितरामनुरागिणौ ।
मुनिपुत्रः स चाहं च यावत्तत्र स्थितावुभौ ॥१०१॥
तावदेत्य द्वितीया मां स्वगृहादवदत्सखी ।
उत्तिष्ठाहारभूमौ त्वां पिता मुग्धे प्रतीक्षते ॥१०२॥
तच्छ्रुत्वा शीघ्रमेष्यामीत्युक्त्वावस्थाप्य चात्र तम् ।
मुनिपुत्रं गताभूवं भीत्याहं पितुरन्तिकम् ॥१०३॥
तत्र किञ्चित्कृताहारा यावच्चाहं विनिर्गता ।
तावदाद्या सखी सा मामागत्य स्वैरमब्रवीत् ॥१०४॥
आगतो मुनिपुत्रस्य तस्येह स सखा सखि ।
स्थितश्च प्राङ्गणद्वारि सत्वरश्च ममावदत् ॥१०५॥
मनोरथप्रभापार्श्वमहं रश्मिमताधुना ।
प्रेषितो व्योमगमनीं विद्यां दत्त्वैव पैतृकीम् ॥१०६॥
प्राणेश्वरीं विना तां हि मदनेन स दारुणाम् ।
दशां नीतो न शक्नोति प्राणान् धारयितुं क्षणम् ॥१०७॥
तच्छ्रुत्वैवास्मि निर्गत्य तेन युक्ताग्रयायिना ।
मुनिपुत्रकमित्रेण सख्या चाहमिहागता ॥१०८॥
प्राप्ता च तमिहाद्राक्षं मुनिपुत्रं विना मया ।
चन्द्रोद्गमेनैव समं वृत्तप्राणोद्गमान् मृतम् ॥१०९॥
ततोऽहं तद्वियोगार्त्ता निन्दन्ती तनुमात्मनः ।
प्रवेष्टुमैच्छमनलं गृहीत्वा तत्कलेवरम् ॥११०॥
तावद्दिवोऽवतीर्यैव तेजःपुञ्जाकृतिः पुमान् ।
आदाय तच्छरीरं स चोत्पत्य गगनं ययौ ॥१११॥
अथाहं केवलैवाग्नौ पतितुं यावदुद्यता ।
तावदुच्चरति स्मैवं गगनादिह भारती ॥११२॥

और, उसका नाम रश्मिमान्[1] रखकर, उसका पालन-पोषण करके स्नेहपूर्वक उसे सभी विद्याएँ सिखाईं ॥९८॥

इसलिए, यह वही मुनिकुमार रश्मिमान् है, जो लक्ष्मी का पुत्र है और मेरे साथ भ्रमण करते हुए यहाँ आ गया है ॥९९॥

ऐसा कहकर उसके साथी ने मेरी सखी से मेरा परिचय पूछा। उसने मेरा नाम और कुल का परिचय देकर मुझसे कही गई सभी बातें उससे कह दीं ॥१००॥

इस प्रकार परस्पर नाम, कुल आदि जानने के पश्चात्, अधिक बढ़े हुए मुनिकुमार और मैं, दोनों परस्पर एक-दूसरे को देखते हुए बैठे रहे ॥१०१॥

इतने में ही दूसरी सहेली मेरे घर से आकर बोली—'चलो, उठो, भोजनालय में तुम्हारे पिता तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं' ॥१०२॥

यह सुनकर 'तुरन्त आऊँगी' ऐसा कहकर और मुनिपुत्र को वहाँ बैठाकर मैं डरती हुई पिता के पास गई ॥१०३॥

वहाँ भोजन करके मैं जैसे ही जाने को तैयार हुई, वैसे ही मेरी पहली सखी ने आकर एकान्त में मुझसे कहा—॥१०४॥

'सखि, इस मुनिपुत्र का मित्र यहाँ आया है और आँगन के द्वार पर खड़ा है।' वह शीघ्रता-पूर्वक मुझसे बोला—॥१०५॥

'मुझे रश्मिमान् ने, अभी ही मनोरथप्रभा के पास पिता से प्राप्त आकाशगामिनी विद्या देकर भेजा है और कहा है कि मैं उस प्राणेश्वरी के विना कामदेव के द्वारा भीषण स्थिति में पहुँचा दिया गया हूँ। अब क्षण-भर भी मैं अपने प्राणों का धारण नहीं कर सकता' ॥१०६–१०७॥

ऐसा सुनकर मैं तुरन्त आये हुए उस मुनिपुत्र और सखी के साथ मैं यहाँ आई ॥१०८॥

आने पर मैंने देखा कि वह मुनिपुत्र रश्मिमान्, चन्द्रमा के उदय के साथ ही मेरे विना प्राणों के निकल जाने से मर चुका है ॥१०९॥

तब मैं उसके वियोग से पीड़ित होकर अपने शरीर की निन्दा करती हुई, उसके शरीर को लेकर चिता में जलने (सती होने) की इच्छा करने लगी ॥११०॥

इतने में तेज के पुंज के समान देदीप्यमान कोई पुरुष आकाश से उतरकर और उसके शरीर को उठाकर आकाश में उड़ गया ॥१११॥

फिर भी जब मैं अकेली ही आग में जलने के लिए उद्यत हुई, तब मुझे आकाशवाणी सुन पड़ी—॥११२॥

---

१. कादम्बरी का पुण्डरीक।

मनोरथप्रभे मैवं कृथा भूयो भविष्यति।
एतेन मुनिपुत्रेण तव कालेन सङ्गमः॥११३॥
एतच्छ्रुत्वा परावृत्य मरणात्तत्प्रतीक्षिणी।।
स्थितास्मीहैव बद्धाशा शङ्करार्चनतत्परा॥११४॥
मुनिपुत्रसुहृत्सोऽपि गतो मे क्वाप्यदर्शनम्।
इति तां वादिनीं विद्याधरीं सोमप्रभोऽभ्यधात्॥११५॥
स्थितास्येकाकिनी तर्हि कथं सापि सखी क्व ते।
एतच्छ्रुत्वा तमाह स्म सा विद्याधरकन्यका॥११६॥
सिंहविक्रम इत्यस्ति नाम्ना विद्याधरेश्वरः।
तस्यानन्यसमा चास्ति तनया मकरन्दिका॥११७॥
सा मे सखी प्राणसमा कन्या मद्दुःखदुःखिता।
तया सखी प्रेषिताभूद्वार्त्तां ज्ञातुमिहाद्य मे॥११८॥
ततो मयापि तत्सख्या समं सा प्रहिता निजा।
सखी तदन्तिकं तेन स्थितास्म्येकैव सम्प्रति॥११९॥
एवं वदन्ती गगनादवतीर्णां तदैव ताम्।
स्वसखीं दर्शयामास तस्मै सोमप्रभाय सा॥१२०॥
तामथोक्तसखीवार्त्तां पर्णशय्यामकारयत्।
सोमप्रभस्य तद्वाहस्यापि घासमदापयत्॥१२१॥
ततो नीत्वा निशां सर्वे तत्र ते प्रातरुत्थिताः।
व्योम्नोऽवतीर्ण ददृशुर्विद्याधरमुपागतम्॥१२२॥
स च विद्याधरो देवजयो नाम कृतानतिः।
मनोरथप्रभामेवमुपविश्य जगाद ताम्॥१२३॥
मनोरथप्रभे राजा वक्ति त्वां सिंहविक्रमः।
यावत्तव न निष्पन्नो वरस्तावन्न मत्सुता॥१२४॥
विवाहमिच्छति स्नेहात्त्वत्सखी मकरन्दिका।
तदेतां बोधयागत्य येनोद्वाहे प्रवर्त्तते॥१२५॥
एतच्छ्रुत्वा सखीस्नेहात्तं विद्याधरकन्यकाम्।
गन्तुं प्रवृत्तां वक्ति स्म राजा सोमप्रभोऽथ सः॥१२६॥
द्रष्टुं वैद्याधरं लोकमनघे कौतुकं मम।
तत्तत्र नय मामश्वो दत्तघासोऽत्र तिष्ठतु॥१२७॥

'हे मनोरथप्रभे, ऐसा न करो। इस मुनिकुमार के साथ तेरा यथासमय पुनः संगम होगा' ॥११३॥

यह सुनकर, मरने से लौटकर और उसकी प्रतीक्षा में आशा बाँधकर शिवजी की आराधना करती हुई बैठी हूँ ॥११४॥

मुनिकुमार का वह मित्र भी न जाने कहाँ अदृश्य हो गया। इस प्रकार कहती हुई विद्याधरी से सोमप्रभ ने कहा–'तो तू अकेली क्यों है? तेरी वह सखी कहाँ है?' इस प्रकार कहते हुए सोमप्रभ से वह विद्याधरी मनोरथप्रभा बोली—॥११५–११६॥

'सिंहविक्रम नाम का विद्याधरों का राजा है। उसकी असाधारण सुन्दरी मकरन्दिका[1] नाम की कन्या है ॥११७॥

वह मेरी प्राणों के समान प्यारी और मेरे दुःख से दुःखिता उस कुमारी मकरन्दिका ने, मेरा समाचार जानने के लिए आज एक सहेली को भेजा था। मैंने उसकी सखी के साथ अपनी सखी को भी भेज दिया है। इसलिए, इसी समय मैं यहाँ अकेली हूँ' ॥११८–११९॥

इस प्रकार कहती हुई मनोरथप्रभा ने, उसी समय आकाश से उतरी हुई अपनी सहेली को, सोमप्रभा के लिए दिखाकर उसका परिचय कराया ॥१२०॥

और, मकरन्दिका का वृत्तान्त सुनानेवाली उस सखी द्वारा सोमप्रभ के लिए पत्तों का बिछावन बनवाया और उसके घोड़े को घास दिलवाई ॥१२१॥

तब वहीं सरोवर के तट पर रात्रि व्यतीत कर, प्रातःकाल, वे सब उठे और उन लोगों ने आकाश से उतरे हुए एक विद्याधर को देखा ॥१२२॥

वह देवजय नाम का विद्याधर, प्रणाम करके और पास में बैठकर मनोरथप्रभा से इस प्रकार बोला—॥१२३॥

'हे मनोरथप्रभे, तुमसे राजा सिंहविक्रम यह कहता है कि जबतक तुम्हारे पति का निश्चय नहीं होता, तबतक मेरी कन्या मकरन्दिका भी विवाह नहीं करना चाहती। इसलिए, आकर इसे समझाओ कि यह विवाह के लिए तैयार हो ॥१२४-१२५॥

यह सुनकर मनोरथप्रभा, सखी के स्नेह के कारण जब उसके पास जाने को उद्यत हुई, तब सोमप्रभ ने उससे कहा—॥१२६॥

'हे पवित्र चरित्रवाली, मुझे भी विद्याधरों का लोक देखने का कुतूहल है। इसलिए, मुझे भी ले चलो। घास दिया हुआ घोड़ा यहीं रहे ॥१२७॥

---

१. यही बाणभट्ट की कादम्बरी है।—अनु०

तच्छ्रुत्वा सा तथेत्युक्त्वा व्योम्ना सद्यः सखीयुता।
तेन देवजयोत्सङ्गारोपितेन समं ययौ ॥१२८॥
प्राप्ता तत्र कृतातिथ्या मकरन्दिकया तया।
दृष्ट्वा सोमप्रभं कोऽयमिति स्वैरमपृच्छ्यत ॥१२९॥
तयोक्ततदुदन्ता च ततः सा मकरन्दिका।
सोमप्रभेण तेनाभूत् सद्योऽपहृतमानसा ॥१३०॥
सोऽपि तां मनसा प्राप्य लक्ष्मीं रूपवतीमिव।
स तु कः सुकृती योऽस्या वरः स्यादित्यचिन्तयत् ॥१३१॥
ततः स्वैरं कथालापे तामाह मकरन्दिकाम्।
मनोरथप्रभा 'चण्डि कस्मान्नोद्वाहमिच्छसि' ॥१३२॥
तच्छ्रुत्वा साप्यवोचत्तां त्वयानङ्गीकृते वरे।
कथं विवाहमिच्छेयं त्वं शरीराधिका हि मे ॥१३३॥
एवं तया सप्रणयं मकरन्दिकयोदिते।
मनोरथप्रभावादीद्वृतो मुग्धे मया वरः ॥१३४॥
तत्सङ्गमप्रतीक्षा हि तिष्ठामीत्युदिते तया।
करोमि तर्हि त्वद्वाक्यमित्याह मकरन्दिका ॥१३५॥
मनोरथप्रभा साथ ज्ञातचित्ता जगाद ताम्।
सखि सोमप्रभः पृथ्वीं भ्रान्त्वा प्राप्तोऽतिथिस्तव ॥१३६॥
तदस्यातिथिसत्कारः कर्त्तव्यः सुन्दरि त्वया।
इत्याकर्ण्यैव जगदे मकरन्दिकया तया ॥१३७॥
आ शरीरान्मया सर्वमिदमेतस्य साम्प्रतम्।
अर्घपात्रीकृतं कामं स्वीकरोतु यदीच्छति ॥१३८॥
एवं तयोक्ते तत्प्रीतिं क्रमादावेद्य तत्पितुः।
मनोरथप्रभा चक्रे तयोरुद्वाहनिश्चयम् ॥१३९॥
ततः सोमप्रभो लब्धधृतिस्तुष्टो जगाद ताम्।
त्वदाश्रममहं यामि साम्प्रतं तत्र जातु मे ॥१४०॥
चिन्वानं पदवीं सैन्यमागच्छेन्मन्त्र्यधिष्ठितम्।
मामप्राप्याहिताशङ्कि तच्च गच्छेत् पराङ्मुखम् ॥१४१॥
तद्गत्वा सैन्यवृत्तान्तं बुद्ध्वागत्य ततः पुनः।
निश्चित्य परिणेष्यामि शुभेऽह्नि मकरन्दिकाम् ॥१४२॥

यह सुनकर और 'ऐसा ही होगा' इस प्रकार कहकर देवजय की गोद में बैठे हुए सोमप्रभ और सखी के साथ मनोरथप्रभा मकरिन्दका के घर गई ॥१२८॥

और, मकरन्दिका द्वारा आतिथ्य-सत्कार किये जाने पर एकान्त में सोमप्रभः के सम्बन्ध में 'यह कौन है', इस प्रकार पूछी गई मनोरथप्रभा ने, जब मकरन्दिका से सोमप्रभ का समाचार कहा, तब मकरन्दिका सोमप्रभ पर हृदय से आसक्त हो गई ॥१२९-१३०॥

सोमप्रभ भी मूर्त्तिमती लक्ष्मी के समान उस मकरन्दिका पर मन से आसक्त होकर सोचने लगा कि 'वह कौन पुण्यात्मा (धन्य) होगा, जो इसका पति होगा ॥१३१॥

तदनन्तर, अन्यान्य बातों के प्रसंग में मनोरथप्रभा ने मकरन्दिका से पूछा—'हे चंडि, तू विवाह करना क्यों नही चाहती ?' ॥१३२॥

यह सुनकर मकरन्दिका मनोरथप्रभा से बोली—'मैं कैसे विवाह करूं; क्योंकि तू मुझे अपने शरीर से भी अधिक प्यारी है। जबतक तू वर को स्वीकार नहीं करती, तबतक मैं कैसे विवाह कर लूं' ? ॥१३३॥

मकरन्दिका के प्रेम के साथ, ऐसा कहने पर, मनोरथप्रभा उससे बोली—'अरी पगली, मैंने तो वर का वरण कर लिया है ॥१३४॥

अब केवल उसके समागम की प्रतीक्षा कर रही हूँ !' मनोरथप्रभा के इस प्रकार कहने पर मकरन्दिका ने कहा—'तब ठीक है, मैं तेरी बात मानूंगी' ॥१३५॥

तब मनोरथप्रभा मकरन्दिका के मनोभाव को जानकर बोली—'सखि, देखो, यह सोम-प्रभ, सारी पृथ्वी का भ्रमण (विजय) करके तुम्हारे अतिथि के रूप में यहां आया है ॥१३६॥

तो हे सुन्दरि, तुझे इसका अतिथि-सत्कार करना चाहिए।' ऐसा सुनते ही मकरन्दिका ने, मनोरथप्रभा से कहा—'शरीर से लेकर मेरा सब कुछ इसी का है। मैंने सब कुछ देने के लिए इसे अर्घ का पात्र बना दिया है। यदि यह चाहे, तो स्वीकार करे' ॥१३७-१३८॥

इस प्रकार, मकरन्दिका के कहने पर, मनोरथप्रभा ने क्रमशः उसके पिता सिंहविक्रम से सब कहकर उन दोनों के विवाह की बात पक्की कर दी ॥१३९॥

तब सोमप्रभ भी, धैर्य धारण करके मनोरथप्रभा से प्रसन्नतापूर्वक बोला—'मैं अब तुम्हारे आश्रम को जाता हूँ, वहां पर कदाचित् मुझे ढूंढती हुई मेरी सेना और मन्त्री आ गये होंगे, वे मुझे वहां न पाकर अहित की आशंका से उलटे लौट जायेंगे ॥१४०-१४१॥

इसलिए, वहां जाकर और सेना का समाचार जानकर तथा उधर से निश्चिन्त होकर मकरन्दिका से विवाह करूँगा' ॥१४२॥

तच्छ्रुत्वा सा तथेत्युक्त्वा तमनैषीन्निजाश्रमम्।
मनोरथप्रभा देवजयाङ्कारोपितं पुनः ॥१४३॥
तावत् प्रियङ्करो मन्त्री तस्य सोमप्रभस्य सः।
विचिन्वानश्च पदवीं तत्रैवागात् ससैनिकः ॥१४४॥
मिलिताय ततस्तस्मै प्रहृष्टो निजमन्त्रिणे।
सोमप्रभः स्ववृत्तान्तं यावत्सर्वं स शंसति ॥१४५॥
तावत्तस्याययौ दूतः शीघ्रमागम्यतामिति।
लेखे लिखित्वा सन्देशमादाय पितुरन्तिकात् ॥१४६॥
तेन सैन्यं समादाय सचिवानुमतेन सः।
पित्राज्ञामनतिक्रामञ्जगाम नगरं निजम् ॥१४७॥
तातं दृष्ट्वाहमेष्यामि नचिरादित्युवाच च।
मनोरथप्रभां तां च तं च देवजयं व्रजन् ॥१४८॥
सोऽथ देवजयो गत्वा तत्सर्वं मकरन्दिकाम्।
तथैवाबोधयत्तेन जज्ञे सा विरहातुरा ॥१४९॥
नोद्याने सा रतिं लेभे न गीते न सखीजने।
शुकानामपि शुश्राव न विनोदवनीर्गिरः ॥१५०॥
नाहारमपि सा भेजे का कथा मण्डनादिके।
प्रयत्नैर्बोध्यमानापि पितृभ्यां नाग्रहीद्धृतिम् ॥१५१॥
उत्सृज्य बिसिनीपत्रशयनं चाचिरेण सा।
उन्मादिनीव बभ्राम पित्रोरुद्वेगदायिनी ॥१५२॥
यदा न प्रतिपेदे सा समाश्वासयतोस्तयोः।
वचस्तदा तौ कुपितौ पितरौ शपतः स्म ताम् ॥१५३॥
निषादमध्ये निःश्रीके कञ्चित्कालं पतिष्यसि।
अनेनैव शरीरेण स्वजातिस्मृतिवर्जिता ॥१५४॥
इति शप्ता पितृभ्यां सा निषादभवनं गता।
निषादकन्या सम्पन्ना तदैव मकरन्दिका ॥१५५॥
स चानुतप्य तच्छोकात्तत्पिता सिंहविक्रमः।
विद्याधरेश्वरः पत्न्या सह पञ्चत्वमाययौ ॥१५६॥
स च विद्याधरेन्द्रोऽभूत्प्रागृषिः सर्वशास्त्रवित्।
केनापि प्राक्तनापुण्यशेषेण शुकतां गतः ॥१५७॥

यह सुनकर और 'ठीक है', इस प्रकार कहकर मनोरथप्रभा, सोमप्रभ को देवजय की गोद में बैठाकर फिर अपने आश्रम को ले गई ॥१४३॥

जैसे ही वे लोग आश्रम में पहुँचे, वैसे ही सोमप्रभ का मन्त्री प्रियंकर, उसे ढूंढता हुआ वहाँ आया ॥१४४॥

इतने में ही, उसके पिता के पास से 'शीघ्र आओ', इस प्रकार का सन्देश लेकर एक दूत भी वहाँ आ पहुँचा ॥१४५॥

तब सोमप्रभ, मन्त्री की सम्मति से सारी सेना को लेकर पिता की आज्ञा का पालन करता हुआ अपने नगर को गया ॥१४६॥

'पिताजी का दर्शन करके मैं तुरन्त आऊँगा', इस प्रकार जाते हुए सोमप्रभ ने मनोरथ-प्रभा और देवजय से कहा ॥१४७॥

तदनन्तर, देवजय ने जाकर यह सब समाचार मकरन्दिका से कहा। इससे वह विरह से व्याकुल हो उठी ॥१४८॥

उसे (मकरन्दिका को) न तो उद्यान में शान्ति मिलती थी; न संगीत में, और न सहेलियों के बीच में। वह अब सुग्गों की भी विनोदपूर्ण वाणियाँ नहीं सुनती थी ॥१४९-१५०॥

वह भोजन भी न करती थी, शृंगार आदि करने की तो बात ही कहाँ? माता और पिता द्वारा अनेक प्रयत्नों से समझाने पर भी उसकी अधीरता नहीं गई ॥१५१॥

वह कमलिनी के पत्तों की शय्या त्याग कर और पागलों की भाँति तुरन्त उठकर घूमने लगती थी। इस कारण उसके माता-पिता व्याकुल होते थे ॥१५२॥

बार-बार समझाते हुए माता-पिता की बातों को जब उसने नहीं माना, तब क्रुद्ध माता-पिता ने, उसे शाप दिया ॥१५३॥

तू अपने पूर्वजन्म की स्मृति को भूलकर इसी शरीर से दरिद्र निषादों (भीलों) के बीच कुछ समय तक रहेगी ॥ १५४॥

माता-पिता से,इस प्रकार शापित मकरन्दिका उसी समय निषाद के घर पर जाकर भील-कन्या बन गई ॥१५५॥

और उसी शोक से संतप्त उसका पिता सिंहविक्रम, अपनी पत्नी के साथ ही मर गया ॥१५६॥

और वह पूर्वजन्म का ऋषि, विद्याधरों का राजा, जो सब शास्त्रों का ज्ञाता था, पूर्वजन्म के किसी पाप के शेष रह जाने के कारण सुग्गा बन गया ॥१५७॥

तथैव तस्य भार्या च सा जातारण्यसूकरी।
सोऽयं शुकः पुराधीतं वेत्ति चैव तपोबलात् ॥१५८॥
अथ कर्मगतिं चित्रां दृष्ट्वास्य हसितं मया।
एतां राजसदस्युक्त्वा कथां चैष विमोक्ष्यते ॥१५९॥
सोमप्रभस्य तामस्य सुतां द्युचरजन्मनि।
प्राप्स्यत्येव निषादीत्वमागतां मकरन्दिकम् ॥१६०॥
मनोरथप्रभा तं च जातं सम्प्रति भूमिपम्।
रश्मिमन्तं मुनिसुतं तदैव पतिमाप्स्यति ॥१६१॥
सोमप्रभोऽपि पितरं दृष्ट्वा गत्वा तदाश्रमे।
साम्प्रतं स प्रियाप्राप्त्यै शर्वमाराधयन्स्थितः ॥१६२॥
इत्याख्याय कथां तत्र पुलस्त्यो व्यरममन्मुनिः।
अहं च जातिमस्मार्षं हर्षशोकपरिप्लुतः ॥१६३॥
ततो येनाहमभवं नीतस्तत्कृपयाश्रमम्।
स मरीचिमुनिस्तत्र गृहीत्वा मामवर्धयत् ॥१६४॥
जातपक्षश्च पक्षित्वसुलभाच्चापलादहम्।
इतस्ततः परिभ्राम्यन् विद्याश्चर्यं प्रदर्शयन् ॥१६५॥
निषादहस्ते पतितः क्रमात्प्राप्तस्त्वदन्तिकम्।
इदानीं च मम क्षीणं दुष्कृतं पक्षियोनिजम् ॥१६६॥

इति सदसि कथामुदीर्य तस्मिन् विदुषि शुके विरते विचित्रवाचि।
सपदि स सुमनोमहीभृदासीत्प्रमदतरङ्गितविस्मृतान्तरात्मा ॥१६७॥
अत्रान्तरे तं परितुष्य शम्भुः स्वप्ने च सोमप्रभमादिदेश।
उत्तिष्ठ राजन् सुमनोनृपस्य पार्श्वं व्रज प्राप्स्यसि तत्र कान्ताम् ॥१६८॥
मुक्तालताख्या पितृशापतो हि भूत्वा निषादी मकरन्दिकाख्या।
आदाय तं स्वं पितरं गतास्य राज्ञोऽन्तिकं सा शुकतामवाप्तम् ॥१६९॥
स्मरिष्यति त्वां तु विलोक्य जातिं विद्याधरी सा विनिवृत्तशापा।
अन्योन्यविज्ञानविवृद्धहर्षशोभी भविष्यत्यथ सङ्गमो वाम् ॥१७०॥
इति भूमिपतिं निगद्य तं गिरिशः स्वाश्रमगां तथैव ताम्।
अपरां स मनोरथप्रभां भगवान्भक्तकृपालुरब्रवीत् ॥१७१॥
यो रश्मिमान्मुनिसुतोऽभिमतो वरस्ते जातः स सम्प्रति पुनः सुमनोभिधानः।
तत्तत्र गच्छ तमवाप्नुहि स स्वजातिं सद्यः स्मरिष्यसि शुभे तव दर्शनेन ॥१७२॥

और, उसकी पत्नी जंगल की सूकरी बन गई वही सुग्गा, तप के प्रभाव से पहले पढ़ा हुआ सब कुछ जानता है। इसलिए, इस सुग्गे की इस विचित्र कर्मगति को देखकर ही मैं हँसा था। इस कथा को राजसभा में कहकर वह मुक्त हो जायगा ॥१५८-१५९॥

सोमप्रभ भी, विद्याधर बनकर उस भीलकन्या-शरीर को प्राप्त मकरन्दिका को प्राप्त करेगा ही ॥१६०॥

और, वह मनोरथप्रभा भी, इस समय राजा बने हुए मुनिकुमार रश्मिमान् को पति के रूप में प्राप्त करेगी ॥१६१॥

सोमप्रभ भी, पिता से मिलकर और फिर उसके आश्रम में जाकर प्रिया (मकरन्दिका) की प्राप्ति के लिए शिवजी की आराधना कर रहा है ॥१६२॥

पुलस्त्य मुनि, इस प्रकार कथा कहकर चुप हो गये और हर्ष तथा शोक से भरे हुए मैंने, अपने पूर्वजन्म का स्मरण किया ॥१६३॥

तब जो मुनि कृपा करके मुझे आश्रम तक ले गये थे, उस मरीचि मुनि ने मुझे पाल-पोस कर बड़ा किया ॥१६४॥

पंखों के लग जाने पर पक्षियों की स्वाभाविक चंचलता के कारण इधर-उधर घूमता और अपनी विद्या के आश्चर्य दिखाता हुआ मैं एक निषाद के हाथ लग गया और क्रमशः आपके पास भी आ पहुंचा। अब पक्षियोनि में मेरा पाप क्षीण हो गया ॥१६५-१६६॥

इस प्रकार, उस राजसभा में अपनी कथा सुनाकर उस विद्वान् और विचित्र वाणीवाले सुग्गे के मौन हो जाने पर, वह राजा सुमन, अत्यन्त हर्ष के कारण आत्मविस्मृत-सा हो गया ॥१६७॥

इसी बीच तपस्या से प्रसन्न शिव ने स्वप्न मे सोमप्रभ को आदेश दिया—'राजन्! उठो, राजा सुमन के पास चलो। वहाँ अपनी पत्नी मकरन्दिका को प्राप्त करोगे, जो पिता के शाप से मुक्तालता नाम की भीलकन्या हो गई है और सुग्गा बने हुए अपने पिता को लेकर वह राजा के पास गई है! वह, विद्याधरी, तुम्हें देखकर शापमुक्त होकर अपने पूर्वजन्म का स्मरण करेगी! परस्पर परिचय से बढ़े हुए हर्ष से शोभित तुम दोनों का संगम होगा' ॥१६८—१७०॥

भक्तवत्सल शिवजी ने राजा से इस प्रकार कहकर, अपने आश्रम में तप करती हुई उस दूसरी मनोरथप्रभा से भी कहा—॥१७१॥

'जिसे तू चाहती थी, वह इस समय सुमन नाम के राजा के रूप में अवतीर्ण हुआ, इसलिए तू वहाँ जा। हे कल्याणी, वह तुझे देखते ही अपने पूर्वजन्म का स्मरण करेगा' ॥१७२॥

एवं ते सोमप्रभविद्याधरकन्यके पृथग्विभुना।
स्वप्नादिष्टे नृपतेस्तस्य सदः सुमनसस्तदा ययतुः ॥१७३॥
सोमप्रभं तत्र च तं विलोक्य संस्मृत्य जातिं मकरन्दिका स्वाम्।
दिव्यं प्रपद्यैव निजं वपुस्तज्जग्राह कण्ठे चिरशापमुक्ता ॥१७४॥
सोऽपि प्रसादाद् गिरिजापतेस्तां सम्प्राप्य विद्याधरराजपुत्रीम्।
सोमप्रभः साकृतिदिव्यभोगलक्ष्मीमिवाश्लिष्य कृती बभूव ॥१७५॥
स चापि दृष्ट्वैव मनोरथप्रभां स्मृतस्वजातिः सुमनोमहीपतिः।
प्रविश्य पूर्वां नभसश्च्युतां तनुं मुनीन्द्रपुत्रश्च बभूव रश्मिमान् ॥१७६॥
तया च सङ्गम्य पुनः स्वकान्तया चिरोत्सुकः स प्रययौ स्वमाश्रमम्।
ययौ स सोमप्रभभूपतिश्च तां प्रियां समादाय निजां निजं पुरम् ॥१७७॥
शुकोऽपि मुक्त्वैव स वैहगीं तनुं जगाम धाम स्वतपोभिरर्जितम्।
इतीह दूरान्तरितोऽपि देहिनां भवत्यवश्यं विहितः समागमः ॥१७८॥
इति नरवाहनदत्तो निजसचिवाद् गोमुखात्कथां श्रुत्वा।
अद्भुतविचित्ररुचिरां शक्तियशः सोत्सुकस्तुतोष तदा ॥१७९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शक्तियशोलम्बके तृतीयस्तरङ्गः समाप्तः।

चतुर्थस्तरङ्गः

ततो विद्याधरीयुग्मकथामाख्याय गोमुखः।
नरवाहनदत्तं तमुवाच सचिवाग्रणीः ॥१॥
केचिदेव सहन्तेऽत्र लोकद्वयहितैषिणः।
सामान्या अपि कामादेरावेगं कृतबुद्धयः ॥२॥

राज्ञः कुलधरस्य सेवकस्य कथा

तथा च शूरवर्माख्यो बभूव कुलपुत्रकः।
राज्ञः कुलधराख्यस्य सेवकः ख्यातपौरुषः ॥३॥
स ग्रामादागतो जातु प्रविष्टोऽशङ्कितं गृहे।
भार्यां स्वेनैव मित्रेण ददर्श स्वैरसङ्गताम् ॥४॥

इसी प्रकार, शिवजी से स्वप्न में पृथक्-पृथक् आदिष्ट वे सभी, राजा सुमन की सभा में आये ॥१७३॥

उस सभा में आये हुए सोमप्रभ को देखकर और अपने पूर्वजन्म का स्मरण करके मकरन्दिका फिर उसी दिव्य विद्याधरी के रूप में आ गई और उसने सोमप्रभा के गले से मिलकर आलिंगन किया ॥१७४॥

वह सोमप्रभ भी, शिवजी की कृपा से उस विद्याधर-राजकुमारी मकरन्दिका को पाकर मूर्तिमती दिव्य भोगलक्ष्मी के समान उसका आलिंगन करके सफल हुआ ॥१७५॥

वह राजा सुमनस् भी, जो पूर्वजन्म में रश्मिमान् नामक मुनिपुत्र था, मनोरथप्रभा को देखकर और अपने पूर्वजन्म का स्मरण करके आकाश से गिरे हुए अपने पूर्व शरीर में प्रवेश करके फिर मुनिपुत्र रश्मिवान् बन गया। और, उस अपनी प्रियतमा मनोरथप्रभा को चिरकालीन उत्सुकता के पश्चात् प्राप्त करके उसके साथ अपने आश्रम को गया वह राजा सोमप्रभ भी अपनी प्रियतमा मकरन्दिका को लेकर अपने नगर को गया ॥१७६-१७७॥

इसी प्रकार वह शुक (सुग्गा) भी अपने शरीर को छोड़कर अपने तपोबल से प्राप्त अपने स्थान (विद्याधर पुर) को गया। इस प्रकार, बहुत दूरी का अन्तर रहने पर भी विधि से विहित प्रणियों का समागम होता ही है ॥१७८॥

इस प्रकार, शक्तियशा के लिए उत्सुक नरवाहनदत्त, गोमुख मन्त्री से सुनाई गई आश्चर्यमयी और रुचिकर कथा को सुनकर प्रसन्न हुआ ॥१७९॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शक्तियशोलम्बक का
तृतीय तरंग समाप्त

चतुर्थ तरंग

मन्त्रियों में श्रेष्ठ गोमुख ने इस प्रकार दो विद्याधरियों (मकरन्दिका और मनोरथ प्रभा) की कथा सुनाकर नरवाहनदत्त से कहा--॥१॥

'स्वामी, इस लोक और परलोक—दोनों लोकों—का हित चाहनेवाले कुछ ही ऐसे विद्वान् व्यक्ति होते हैं, जो साधारण होकर भी काम, क्रोध, लोभ आदि की उत्तेजना का सहन करते हैं ॥२॥

राजा कुलधर के सेवक की कथा

इस प्रसंग में एक कथा सुनो—राजा कुलधर का प्रसिद्ध पराक्रमी शूरवर्मा नाम का एक सेवक था ॥३॥

वह किसी समय, अपने गाँव से लौटकर सहसा अपने घर में घुसा, तो उसने अपनी स्त्री को अपने एक मित्र के साथ एकान्त में स्वच्छन्दता-पूर्वक विहार करते देखा ॥४॥

दृष्ट्वा नियम्य स क्रोधं चिन्तयामास धैर्यतः।
किं मित्रद्रोहिणैतेन पशुना निहतेन मे ॥५॥
दुश्चारिण्यानया वापि पापया निगृहीतया।
किं करोम्यहमप्येनमात्मानं पापभागिनम् ॥६॥
इत्यालोच्य परित्यज्य तावुभावप्युवाच सः।
हन्यामहं तं युवयोर्यं पश्येयं पुनः पुनः ॥७॥
नागन्तव्यमितो भूयो मम लोचनगोचरम्।
इत्युक्त्वा तेन मुक्तौ तौ ययतुः क्वापि दूरतः ॥८॥
स त्वन्यां परिणीयाभूच्छूरवर्मा सुनिर्वृतः।
एवं देव जितक्रोधो न दुःखस्यास्पदीभवेत् ॥९॥
कृतप्रज्ञश्च विपदा देव जातु न बाध्यते।
तिरश्चामपि हि प्रज्ञा श्रेयसे न पराक्रमः ॥१०॥
तथा च शृण्विमां सिंहवृषभादिगतां कथाम्।

सञ्जीवकवृषभस्य पिङ्गलकसिंहस्य च कथा

आसीत् कोऽपि वणिक्पुत्रो धनवान् नगरे क्वचित् ॥११॥
तस्यैकदा वणिज्यार्थं गच्छतो मथुरां पुरीम्।
भारवोढा युगं कर्षन् भरेण युगभङ्गतः ॥१२॥
गिरिप्रस्रवणोद्भूतकर्दमे स्खलितः पथि।
सञ्जीवकाख्यो वृषभः पपाताङ्गैर्विचूर्णितैः ॥१३॥
दृष्ट्वाभिघातनिश्चेष्टमसिद्धोत्थापनक्रमः।
निराशस्तं चिरात् त्यक्त्वा वणिक्पुत्रो जगाम सः ॥१४॥
स च सञ्जीवको दैवात् समाश्वस्तो वृषः शनैः।
उत्थाय शष्पान् सुमृदूनश्नन्प्रकृतिमाप्तवान् ॥१५॥
गत्वा च यमुनातीरं हरितानि तृणानि सः।
खादन् स्वच्छन्दचारी सन् पुष्टाङ्गो बलवानभूत् ॥१६॥
व्यचरत् पीनककुदो माद्यन् हरवृषोपमः।
शृङ्गोत्पाटितवल्मीकः स च तत्रोन्नदन् मुहुः ॥१७॥
तत्कालं चाभवत्तत्र नातिदूरे वनान्तरे।
सिंहः पिङ्गलको नाम विक्रमाक्रान्तकाननः ॥१८॥
मृगराजस्य तस्यास्तां मन्त्रिणौ जम्बुकावुभौ।
एको दमनको नाम तथा करटकोऽपरः ॥१९॥

यह देखकर और क्रोध को रोककर वह धैर्यपूर्वक सोचने लगा कि इस मित्रद्रोही पशु को मारने से क्या लाभ ? और, इस दुष्टा स्त्री को मारकर भी क्या होगा ? मैं भी इन्हें मारकर पाप का भागी क्यों बनूं ॥५–६॥

इस प्रकार सोचकर और उन दोनों को छोड़कर वह बोला—'मैं तुम दोनों में से उसे मार डालूंगा, जिसे बार-बार देखूंगा। अब यहाँ मेरी आँखों के आगे कभी न आना'। इस प्रकार, कहकर उसके द्वारा छोड़े गये वे दोनों कहीं दूर चले गये ॥७-८॥

तदनन्तर, दूसरी स्त्री से विवाह करके वह शूरवर्मा निश्चिन्त हो गया

हे महाराज, सन्तुलित बुद्धिवाला व्यक्ति, विपत्तियों से कभी बाधित नहीं होता। पशुओं की भी बुद्धि ही कल्याणकारिणी होती है, पराक्रम नहीं ॥९-१०॥

संजीवक बैल और पिंगलक सिंह की कथा[1]

सिंह, बैल आदि की कथा इस सम्बन्ध में सुनो। किसी नगर में एक धनी वैश्यपुत्र था ॥११॥

एक बार व्यापार के लिए मथुरा को जाते हुए उसके रथ का भार ढोनेवाला संजीवक नाम का एक बैल, पहाड़ के टपकते जल से कीचड़वाले मार्ग में जाते हुए, गाड़ी का जुआ टूट जाने से, दलदल में गिरकर फँस गया और उसके अंग क्षत-विक्षत हो गये ॥१२-१३॥

उसे गिरकर बेहोश हुए देखकर और उसके उठाने के सभी प्रयत्नों को विफल जानकर निराश वैश्य ने, बहुत समय के पश्चात् उसे वहीं छोड़ दिया और आगे की यात्रा की ॥१४॥

दैवयोग से, वह अनाथ और असहाय संजीवक बैल, धीरे-धीरे कुछ स्वस्थ होकर नई कोमल घासों को खाता हुआ दलदल से निकलकर पहले के समान स्वस्थ हो गया और यमुना के तट पर जाकर, वहाँ भी हरी-हरी घासों को खाता हुआ स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने लगा और महा बलवान् होगया ॥१५-१६॥

उठी हुई और मोटी डीलवाला शिव के वाहन नन्दी के समान मस्त संजीवक, सींगों से मिट्टी के ढूहों को उखाड़ता हुआ बार-बार रँभाया करता था ॥१७॥

उस स्थान के समीप ही अपने पराक्रम से सारे जंगल पर छाया हुआ पिंगलक नाम का एक सिंह रहता था। दो शृगाल उस मृगराज के मन्त्री थे, जिनमें एक का नाम करटक और दूसरे का नाम दमनक था ॥१८-१९॥

---

१. पंचतन्त्र के मित्रभेद नामक प्रथम तन्त्र की कथा, जिसका प्रारम्भ इस श्लोक से होता है—

वर्धमानो महान् स्नेहः सिंहगोवृषयोर्वने।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः॥

यही कथा, बगदाद के शाह हारूँ रशीद के समय, कलीला दिमना के नाम से अरबी में अनूदित हुई है।—अनु०

स सिंहो जातु तोयार्थमागच्छन् यमुनातटम्।
तस्यारान्नादमश्रौषीत् सञ्जीवकककुद्मतः ॥२०॥
श्रुत्वा चाश्रुतपूर्वं तं तन्नादं दिक्षु मूर्च्छितम्।
स सिंहोऽचिन्तयत् कस्य बत नादोऽयमीदृशः ॥२१॥
नूनमत्र महत्सत्त्वं किञ्चित्तिष्ठत्यवैमि तत्।
तद्धि दृष्ट्वैव मां हन्याद्वनाद्वापि प्रवासयेत् ॥२२॥
इति सोऽपीतपानीय एव गत्वा वनं द्रुतम्।
भीतः सिंहो निगूह्यासीदाकारमनुयायिषु ॥२३॥
अथ प्राज्ञो दमनकः स मन्त्री तस्य जम्बुकः।
तमवोचत् करटकं द्वितीयं मन्त्रिणं रहः ॥२४॥
अस्मत्स्वामी पयः पातुं गतो पीत्वैव तत्कथम्।
आगतस्त्वरितं भद्र प्रष्टव्योऽत्रैष कारणम् ॥२५॥
ततः करटकोऽवादीद् व्यापारोऽस्माकमेष कः।
श्रुतस्त्वया न वृत्तान्तः किं कीलोत्पाटिनः कपेः ॥२६॥

कीलोत्पाटिनो वानरस्य कथा

नगरे क्वापि केनापि वणिजा देवतागृहम्।
कर्तुमारब्धमभवद् भूरिसम्भृतदारुकम् ॥२७॥
तत्र कर्मकराः काष्ठं क्रकचोर्ध्वार्धपाटितम्।
दत्तान्तःकीलयन्त्रं ते स्थापयित्वा गृहं ययुः ॥२८॥
तावदागत्य तत्रैको वानरश्चापलोत्प्लुतः।
कीलव्यस्तविभागेऽपि काष्ठे तस्मिन्नुपाविशत् ॥२९॥
नाड्यन्तरे मुखे मृत्योरिव तत्रोपविश्य च।
कीलमुत्पाटयामास हस्ताभ्यां निष्प्रयोजनम् ॥३०॥
निपत्योत्खातकीलेन सह काष्ठेन तेन च।
तद्भागद्वयसङ्कट्टपीडिताङ्गो ममार सः ॥३१॥
एवं न यस्य यत्कर्म स तत्कुर्वन् विनश्यति।
तस्मात् किं मृगराजस्य विज्ञातेनाशयेन नः ॥३२॥
एतत्करटकाच्छ्रुत्वा धीरो दमनकोऽब्रवीत्।
अन्तर्भूय प्रभोः प्राप्यो विशेषः सर्वदा बुधैः ॥३३॥

उस सिंह ने एकबार पानी पीने के लिए यमुना के किनारे की ओर आते हुए उस बड़ी डील-वाले बैल की गर्जना सुनी ॥२०॥

चारों दिशाओं में फैलनेवाले और इस प्रकार कभी उसे न सुनाई पड़नेवाले शब्द को सुनकर वह सिंह सोचने लगा कि 'यह किसका शब्द है ! मालूम होता है कि यहाँ कोई बलवान् प्राणी रहता है ! वह मुझे देखते ही मार डालेगा या इस वन से निकाल देगा" ॥२१-२२॥

ऐसा सोचकर सिंह, विना पानी पिये ही, वन को लौटा और अपने अनुचरों में, अपने को छिपाकर बैठ गया ॥२३॥

उसकी यह दशा देखकर उसका बुद्धिमान् शृगाल मन्त्री दमनक दूसरे मन्त्री करटक से एकान्त में बोला—॥२४॥

'हमारा स्वामी, सिंह पानी पीने के लिए गया था; किन्तु वह विना पानी पिये ही क्यों लौट आया, इसका कारण पूछना चाहिए ॥२५॥

तब करटक ने कहा—'यह हमारा व्यापार (काम) नहीं है, क्या तू ने खूँटा उखाड़नेवाले बन्दर की कहानी नहीं सुनी ? ॥२६॥

कील उखाड़नेवाले बन्दर की कथा[1]

कहीं किसी नगर में एक बनिया ने देवता का मन्दिर बनाने के लिए बहुत-सी लकड़ियाँ एकत्र कर रखीं थीं ॥२७॥

वहाँ पर काम करनेवाले मिस्त्रियों ने,एक लकड़ी को आरे से, ऊपरकी ओर से आधा चीर कर, उसके बीच में एक खूँटा लगाकर उसे छोड़ दिया और वे सायंकाल काम बन्द करके अपने घरों को चले गये ॥२८॥

इतने में ही एक बन्दर वहाँ आकर अपनी चंचलता के कारण आधी चीरी हुई उस लकड़ी के बीच में उछलकर बैठ गया ॥२९॥

उसमें बैठे हुए उसने व्यर्थ ही बीच में लगे हुए उस खूँटे को हाथों से खींचना प्रारम्भ किया ॥३०॥

खूँटे के सहसा उखड़ जाने के कारण लकड़ी के दोनों चीरे हुए हिस्से आपस में मिल गये और उन दोनों के बीच बैठा हुआ बन्दर दबकर मर गया ॥३१॥

इस प्रकार, जो जिसका काम नहीं है, उसे करनेवाला विनाश को प्राप्त होता है। इसलिए, राजा का आशय जानकर हमें क्या लाभ है ?'॥३२॥

करटक से यह सुनकर धीर दमनक उससे बोला—'बुद्धिमान् सेवकों को स्वामी का अन्तरंग बनकर उसके विशेष भावों को सदा जानना चाहिए ॥३३॥

---

१. पंचतन्त्र में यह कथा इस प्रकार प्रारम्भ होती है—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति।
स एव निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः॥

दमनककरटकयोः संवादः

को हि नाम न कुर्वीत केवलोदरपूरणम्।
एवं दमनकेनोक्ते साधुः करटकोऽब्रवीत् ॥३४॥
स्वेच्छयातिप्रवेशो यो न धर्मः सेवकस्य सः।
इति चोक्तः करटकेनेदं दमनकोऽभ्यधात् ॥३५॥
मैवमात्मानुरूपं हि फलं सर्वोऽपि वाञ्छति।
श्वा तुष्यत्यस्थिमात्रेण केसरी धावति द्विपे ॥३६॥
एतच्छ्रुत्वा करटकोऽवादीदेवं कृते यदि।
कुप्यति प्रत्युत स्वामी तद्विशेषफलं कुतः ॥३७॥
अतीव कर्कशाः स्तब्धाः हिंस्रैर्जन्तुभिरावृताः।
दुरासदाश्च विषमा ईश्वराः पर्वता इव ॥३८॥
ततो दमनकोऽवादीत् सत्यमेतद्बुधस्तु यः।
स्वभावानुप्रवेशेन स्वीकरोति शनैः प्रभुम् ॥३९॥
एवं कुर्वित तनोक्तस्ततः करटकेन सः।
ययौ दमनकस्तस्य सिंहस्य स्वामिनोऽन्तिकम् ॥४०॥
प्रणिपत्योपविष्टश्च सिंहं पिङ्गलकं स तम्।
स्वामिनं कृतनमस्कारं क्षणादेवं व्यजिज्ञपत् ॥४१॥
अहं क्रमागतस्तावद्देव भृत्यो हितस्तव।
हितः परोऽपि स्वीकार्यो हेयः स्वोऽप्यहितः पुनः ॥४२॥
क्रीत्वान्यतोऽपि मूल्येन मार्जारः पोष्यते हितः।
अहितो हन्यते यत्नाद् गृहजातोऽपि मूषकः ॥४३॥
श्रोतव्यं च हितैषिभ्यो भृत्येभ्यो भूतिमिच्छता।
अपृष्टैरपि कर्त्तव्यं तैश्च काले हितं प्रभोः ॥४४॥
तद्विश्वसिषि चेद्देव न कुप्यसि न निह्नुषे।
पृच्छामि तदहं किञ्चिन्न चोद्वेगं करोषि चेत् ॥४५॥
एवं दमनकेनोक्तः सिंहः पिङ्गलकोऽब्रवीत्।
विश्वासार्होऽसि भक्तोऽसि तन्निःशङ्कं त्वयोच्यताम् ॥४७॥
इति पिङ्गलकेनोक्तेऽवोचद्दमनकोऽथ सः।
देव पानीयपानार्थं तृषितो गतवानसि ॥४७॥
तदपीतजलः किं त्वमागतो विमना इव।
एतत्तद्वचनं श्रुत्वा स मृगेन्द्रो व्यचिन्तयत् ॥४८॥

दमनक और करटक का संवाद

केवल पेट भरना कौन नहीं जानता ? दमनक के ऐसा कहने पर सरलहृदय करटक बोला---॥३४॥

'अपनी इच्छा से राजा की अंतरंग बातों में अधिक घुसना सेवक का धर्म नहीं है।' करटक के इस प्रकार कहने पर दमनक बोला---'ऐसा नहीं ! सभी अपने योग्य फल पाना चाहते हैं। कुत्ता, हड्डी का एक टुकड़ा पाकर सन्तुष्ट हो जाता है; किन्तु सिंह हाथी पर दौड़ता है' ॥३५-३६॥

यह सुनकर करटक बोला---'ऐसा सुनकर स्वामी उल्टे ही क्रोध करने लगे, तो उसका विशेष फल कैसे मिल सकता है ॥३७॥

क्योंकि, स्वामी जन, पर्वतों के समान अत्यन्त कठिन, हिंस्रक प्राणियों से घिरे होने के कारण कठिनाई से वश में आते हैं ॥३८॥

तब दमनक ने कहा---'यह सच है, किन्तु जो समझदार है, वह मालिक के स्वभाव के अनुसार चलकर उसे धीरे-धीरे वश में कर लेते हैं' ॥३९॥

'तब ऐसा ही करो', इस प्रकार करटक ने उससे कहा। तदनन्तर दमनक, अपने राजा सिंह के पास गया ॥४०॥

प्रणाम करके पास में बैठे हुए दमनक ने, अपने स्वामी पिंगलक सिंह द्वारा 'आओ, बैठो', कहकर स्वागत किये जाने पर, इस प्रकार निवेदन किया---॥४१॥

'स्वामी, मैं आपका कुल-परम्परागत सेवक हूँ। दूसरा व्यक्ति भी, यदि आपका हितैषी हो, तो उसे स्वीकार करना चाहिए। और, आपका आत्मीय व्यक्ति भी यदि अ-हितचिन्तक हो, तो उसे छोड़ देना चाहिए ॥४२॥

अपना हित चाहनेवाले बिलाव को भी मूल्य देकर घर में लाकर रखा जाता है और हानि पहुंचानेवाले चूहे को अपने घर में ही उत्पन्न होने पर भी मार दिया जाता है ॥४३॥

अपना कल्याण चाहनेवाले राजा को अपने हितैषी सेवकों की बात सुननी चाहिए। और सेवकों को भी चाहिए कि वे विना पूछे भी, अपने स्वामी का हित-चिन्तन करें और उसे हित बात कहें ॥४४॥

इसलिए स्वामिन्, यदि आप विश्वास करते हैं, साथ ही क्रोध न करें और छिपावें नहीं, तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ ॥४५॥

दमनक के इस प्रकार पूछने पर पिंगलक सिंह उससे बोला---'तुम विश्वास करने योग्य और हमारे भक्त सेवक हो, इसलिए जो भी कहना हो, निश्शंक होकर कहो' ॥४६॥

पिंगलक के इस प्रकार कहने के पश्चात् दमनक बोला---'देव, तुम प्यासे होकर पानी पीने के लिए गये थे ॥४७॥

किन्तु, आप विना पानी पिये ही, कुछ उदास-से होकर क्यों लौट आये ? दमनक की यह बात सुनकर पिंगलक सिंह सोचने लगा ॥४८॥

लक्षितोऽस्म्यमुना तत्किं भक्तस्यास्य निगूह्यते।
इत्यालोच्याब्रवीत्तं स शृणु गोप्यं न तेऽस्ति मे॥४९॥
जलपार्श्वगतेनात्र नादोऽपूर्वः श्रुतो मया।
स चास्मदधिकस्योग्रो जाने सत्त्वस्य कस्यचित्॥५०॥
भाव्यं शब्दानुरूपेण प्रायेण प्राणिना यतः।
प्रजापतेर्विचित्रो हि प्राणिसर्गोऽधिकाधिकः॥५१॥
तेन चेह प्रविष्टेन न शरीरं न मे वनम्।
तस्मादितो मयान्यत्र गन्तव्यं कानने क्वचित्॥५२॥
इति वादिनमाह स्म सिंहं दमनकोऽथ तम्।
शूरः सन्नियता देव किं वनं त्यक्तुमिच्छसि॥५३॥
जलेन भज्यते सेतुः स्नेहः कर्णजपेन तु।
अरक्षणेन मन्त्रश्च शब्दमात्रेण कातरः॥५४॥
यन्त्रादिशब्दस्ते ते हि भवन्त्येव भयङ्कराः।
परमार्थमविज्ञाय न भेतव्यमतः प्रभो॥५५॥

भेरीगोमायुकथा

तथा च भेरीगोमायुकथेयं श्रूयतां त्वया।
कोऽपि क्वापि वनोद्देशे गोमायुरभवत्पुरा॥५६॥
स भक्ष्यार्थी भ्रमन्वृत्तयुद्धां प्राप्य भुवं ध्वनिम्।
गम्भीरमेकतः श्रुत्वा भीतो दृष्टिं ततो ददौ॥५७॥
तत्रादृष्टचरां भेरीमपश्यत् पतितस्थिताम्।
किमीदृशोऽयं प्राणी स्यात् कोऽप्येवंरूपशब्दकृत्॥५८॥
इति सञ्चिन्तयन् दृष्ट्वा निःस्पन्दां तामुपागतः।
यावत्पश्यति तावत्स नायं प्राणीत्यबुध्यत॥५९॥
वातवेल्लच्छरस्तम्बहतचर्मपुटोद्भवम्।
शब्दं निरूप्य तस्यां च स गोमायुर्जहौ भयम्॥६०॥
स्यात्किञ्चिद्भक्ष्यमत्रान्तरित्युत्पाट्य स पुष्करम्।
प्रविश्य वीक्षते यावत् केवले दारुचर्मणी॥६१॥
तद्देव शब्दमात्रेण किं बिम्यति भवादृशाः।
मन्यसे यदि तत्तत्र तद्विज्ञातुं व्रजाम्यहम्॥६२॥

इसने मुझे ताड़ लिया है, अब तो इस अपने भक्त से क्या छिपाया जाय ? ऐसा सोचकर वह बोला—'सुन, तेरे लिए कुछ छिपाने की बात नहीं है॥४९॥

जल के पास गये हुए मैंने एक अपूर्व शब्द सुना, जो पहले कभी नहीं सुना था। वह शब्द मुझसे भी अधिक उग्र किसी प्राणी का था॥५०॥

क्योंकि, वह प्राणी भी शब्द के ही अनुरूप होगा। ब्रह्मा की सृष्टि विचित्र है। उसमें एक-से-एक बढ़कर प्राणी हैं॥५१॥

ऐसे प्राणी के मेरे इस वन में घुस आने पर यह शरीर और वन अब मेरे नहीं रहे। इसलिए, अब मुझे यहाँ से किसी दूसरे वन में चला जाना चाहिए'॥५२॥

ऐसा कहते हुए सिंह से दमनक ने कहा—'स्वामिन्! आप शूर हैं और अच्छे नेता (राजा) हैं, तो वन को क्यों छोड़ना चाहते हैं?॥५३॥

पानी के प्रवाह से पुल टूटता है और कानाफूसी से प्रेम टूटता है! बिना रक्षा किये मन्त्र (नीति) फूट पड़ता है और कायर व्यक्ति केवल शब्द से ही टूट जाता है॥५४॥

और, यंत्र आदि के शब्द भी भयंकर होते हैं। इसलिए, वास्तविक बात को बिना जाने डरना नहीं चाहिए॥५५॥

नगाड़ा और सियार की कथा

इस प्रसंग में आप 'नगाड़ा और एक सियार की कथा सुनें'। प्राचीन समय में किसी जंगल में एक सियार रहता था॥५६॥

उसने भोजन की खोज में घूमते हुए पहले की पुरानी युद्ध-भूमि में पहुँचकर और उसके एक ओर से गम्भीर शब्द सुनकर डरते हुए उधर देखा। वहाँ उसने पहले कभी न देखे हुए और गिरकर भूमि में पड़े हुए एक नगाड़े को देखा। तब उसे देखकर उसने सोचा, क्या यह इस प्रकार का शब्द करनेवाला कोई प्राणी है?॥५७-५८॥

ऐसा सोचता हुआ वह एकदम स्थिर पड़े हुए उस नगाड़े के पास गया और जब उसे भली भाँति देखा, तब उसे मालूम हुआ कि यह कोई प्राणवाली वस्तु नहीं है॥५९॥

वायु से हिलते हुए सरकंडों के आघात से बोलते हुए नगाड़े के चमड़े के उस शब्द को सुनकर उस सियार ने भय छोड़ दिया॥६०॥

उसके भीतर कुछ खाने योग्य वस्तु मिलेगी, इस प्रकार सोचकर, उसके चमड़े को उधेड़कर जब उसने देखा, तब तो उसे केवल लकड़ी और चमड़ा ही उसे दीखा॥६१॥

अतः, हे स्वामी, आप-जैसे व्यक्ति भी, क्या केवल शब्द से डरते हैं? यदि आप वहाँ भय का कारण समझते हैं, तो मैं उसे जानने के लिए जाता हूँ॥६२॥

इत्युचिवान्दमनको गच्छ शक्तोऽसि चेदिति।
गदितस्तेन सिंहेन स ययौ यमुनातटम् ॥६३॥
तत्र शब्दानुसारेण यावत्स्वैरं स गच्छति।
तावत्तृणानि खादन्तं वृषभं तं ददर्श सः ॥६४॥
उपेत्य चान्तिकं तस्य कृत्वा तेन च संविदम्।
गत्वा तस्मै स सिंहाय यथावस्तु शशंस तत् ॥६५॥
महोक्षः स त्वया दृष्टः संस्तवश्च कृतो यदि।
तदिहानय तं युक्त्या तावत्पश्यामि कीदृशः ॥६६॥
इत्युक्त्वा स प्रहृष्टस्तं सिंहः पिङ्गलकस्ततः।
वृषस्य प्राहिणोत्तस्य पार्श्वं दमनकं पुनः ॥६७॥
एह्याह्वयति तुष्टस्त्वामस्मत्स्वामी मृगाधिपः।
इति गत्वा दमनकेनोक्तः स वृषभो भयात् ॥६८॥
यदा न प्रतिपेदे तत्तदा गत्वा पुनर्वनम्।
तं निजस्वामिनं सिंहं तस्याभयमदापयत् ॥६९॥
एत्याभयेन चाश्वास्य ततः सञ्जीवकं स तम्।
वृषभं तं दमनकोऽनैषीत् केसरिणोऽन्तिकम् ॥७०॥
स चागतं तं प्रणतं दृष्ट्वा सिंहः कृतादरः।
उवाचेहैव तिष्ठ त्वं मत्पार्श्वे निर्भयोऽधुना ॥७१॥
तथेति तेन तत्रस्थेनाहृतः स तथा क्रमात्।
उक्ष्णा यथान्यविमुखस्तद्वशोऽभूत्स केसरी ॥७२॥
ततो दमनकोऽवादीत्खिन्नः करटकं रहः।
पश्य सञ्जीवकहृतः स्वामी नावामवेक्षते ॥७३॥
एक एवामिषं भुङ्क्ते न भागं नौ प्रयच्छति।
मूढबुद्धिः प्रभुश्चायमुक्ष्णानेनाद्य शिक्ष्यते ॥७४॥
कृतो मयैव दोषोऽयं यदेवं वृषमानयम्।
तत्तथाहं करिष्यामि यथोक्षायं विनङ्क्ष्यति ॥७५॥
अस्थानव्यसनाच्चायं निवर्त्स्यति यथा प्रभुः।
एतद्दमनकाच्छ्रुत्वा वचः करटकोऽथ सः ॥७६॥
सखे न कर्तुमधुना शक्ष्यस्येतद्भवानपि।
ततो दमनकोऽवादीच्छक्ष्यामि प्रज्ञया ध्रुवम् ॥७७॥

दमनक के इस प्रकार कहने पर सिंह ने कहा कि 'तुम समर्थ हो तो जाओ।' स्वामी से यह सुनकर वह यमुना-तट पर गया ॥६३॥

वहाँ पर जब वह शब्द के अनुसार चुपचाप जा रहा था, तब उसने घास चरते हुए एक बैल को देखा ॥६४॥

तब वह उस बैल के पास जाकर और उससे बातचीत करके सिंह के पास लौट आया और उसे उसने वास्तविक समाचार दिया ॥६५॥

'यदि तूने बड़े साँड़ को देखा है और उससे बातचीत की है, तो उसे युक्तिपूर्वक समझा-बुझाकर यहाँ ले आ। 'मैं भी देखूं वह कैसा है ?॥६६॥

इस प्रकार कहकर उस प्रसन्न पिंगलक ने दमनक को फिर उस बैल के पास भेजा ॥६७॥

'आओ, आओ, हमारा प्रसन्न स्वामी मृगराज, तुम्हें बुलाता है।' दमनक ने जाकर बैल से इस प्रकार कहा, किन्तु उसने भय के कारण विश्वास नहीं किया। तब, दमनक ने फिर से वन में जाकर अपने स्वामी सिंह द्वारा उस बैल को अभयदान दिलवाया ॥६८-६९॥

और फिर, बैल के पास आकर उसे अभयदान द्वारा विश्वास दिलाकर और उसे धीरज बँधाकर दमनक बैल को सिंह के पास ले आया ॥७०॥

सिंह ने आये हुए और प्रणाम करते हुए बैल से आदर के साथ कहा—'तुम अब यहाँ मेरे पास निडर होकर रहो' ॥७१॥

'ठीक है, ऐसा कहकर उसके पास आदर से रहते हुए बैल ने, धीरे-धीरे सिंह को इस प्रकार वश में कर लिया कि वह दूसरों से उदासीन हो गया ॥७२॥

तब उपेक्षा के कारण दुःखी दमनक ने एकान्त में करटक से कहा—'देखो, संजीवक की ओर खिंचा हुआ स्वामी, अब हम दोनों की उपेक्षा करता है ॥७३॥

शिकार मारकर सब मांस अकेले ही खा जाता है, हम लोगों को नहीं देता। आज यह मूर्ख सिंह, इस बैल से सिखाया जा रहा है ॥७४॥

यह दोष मेरा ही है कि मैं इस बैल को यहाँ लाया। अब मैं ऐसा करूँगा कि यह बैल नष्ट हो जायगा ॥७५॥

और हमारा स्वामी भी इस अनुचित व्यसन से दूर हो जायगा। दमनक के ये वचन सुनकर करटक बोला—'मित्र अब यह कार्य तुम भी नहीं कर सकते।' उसके ऐसा कहने पर दमनक ने कहा—'बुद्धि द्वारा अवश्य कर सकता हूँ' ॥७६-७७॥

न स शक्नोति किं यस्य प्रज्ञा नापदि हीयते।
तथा च मकरस्यैतां बकहन्तुः कथां शृणु ॥७८॥

बककर्कटयोः कथा

आसीत् कोऽपि बकः पूर्वं मत्स्याढ्ये सरसि क्वचित्।
मत्स्यास्तत्र पलायन्त तस्य दृष्टिपथाद्भयात् ॥७९॥
अप्राप्नुवंश्च मिथ्या तान्स मत्स्यानब्रवीद्बकः।
इहागतो मत्स्यघाती पुरुषः कोऽपि जालवान् ॥८०॥
स जालेनाचिराद्युष्मान् गृहीत्वा निहनिष्यति।
तत्कुरुध्वं मम वचो विश्वासो वोऽस्ति चेन्मयि ॥८१॥
अस्त्येकान्ते सरः स्वच्छमज्ञातमिह धीवरैः।
एते तत्र निवासार्थं नीत्वैकैकं क्षिपामि वः ॥८२॥
तच्छ्रुत्वा सभयैरुचे मत्स्यैस्तैर्जडबुद्धिभिः।
एवं कुरुष्व विश्वस्ता वयं त्वय्यखिला इति ॥८३॥
ततो बकस्तानेकैकं मत्स्यान् नीत्वा शिलातले।
विन्यस्य भक्षयामास स बहून् विप्रलम्भकः ॥८४॥
दृष्ट्वा मीनान्नयन्तं तं [1]मकरस्तत्सरोगतः।
एको बकं तं पप्रच्छ नयसि क्व तिमीनिति ॥८५॥
ततस्तं स तदेवाह बको मत्स्यानुवाच यत्।
तेन भीतो झषोऽवोचत् स मामपि नयेति तम् ॥८६॥
सोऽपि तन्मांसगर्धान्धबुद्धिरादाय तं बकः।
उत्पत्य प्रापयति तद्यावद्वध्यशिलातलम् ॥८७॥
तावत्तज्जग्धमीनास्थिशकलान्यत्र वीक्ष्य सः।
तं बुध्यते स्म मकरो बकं विश्वास्य भक्षकम् ॥८८॥
ततः शिलातलन्यस्तमात्रस्तस्य स तत्क्षणम्।
बकस्य मकरो धीमांश्चकर्त्ताविह्वलः शिरः ॥८९॥
गत्वा च शेषमत्स्यानां यथावत् स शशंस तत्।
तेऽप्याप्यभिननन्दुस्तं तुष्टाः प्राणप्रदायिनम् ॥९०॥

---

१. हितोपदेशे पञ्चतन्त्रादिषु मकरस्थाने कर्कटस्योल्लेखो दृश्यते। स एव च सङ्गतः प्रतीयते। मकरस्य बकेन मैत्री, तस्योद्वहनं च दुर्घटमेव प्रतीयते।

आपत्ति के समय जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं होती, वह क्या नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में बगुले को मारनेवाले मगर[1] की कथा सुनो ॥७८॥

बगुला और केकड़े की कथा

किसी समय मछलियों से भरे हुए तालाब में एक बगुला रहता था। उसके चंगुल में न फंसे, इसलिए मछलियाँ उसकी आँखों से ओझल रहती थीं ॥७९॥

इस प्रकार, उन मछलियों को न पाकर बगुले ने, मछलियों से झूठ कहा कि 'यहाँ पर जाल लेकर कोई मछली मारनेवाला पुरुष आया है। वह शीघ्र ही तुमलोगों को जाल से पकड़कर मार डालेगा। इसलिए, यदि तुम लोगों को मुझपर विश्वास है, तो मेरी बात मानो ॥८०–८१॥

यहाँ पर एकान्त में एक तालाब है, जिसे धीवर नहीं जानते। तुमलोग रहने के लिए वहाँ चलो। मैं तुमलोगों को एक-एक करके वहाँ पहुँचा दूंगा ॥८२॥

यह सुनकर उन मूर्ख मछलियों ने डरते हुए उससे कहा—'ऐसा ही करो। हम सब तुम्हारे प्रति विश्वास करते हैं' ॥८३॥

तब वह ठग बगुला, उन मछलियों को एक-एक करके ले जाकर एक चट्टान पर पटककर खाने लगा। इस प्रकार, धीरे-धीरे वह बहुत-सी मछलियों को खा गया ॥८४॥

मछलियों को इस प्रकार ले जाते हुए बगुले को देखकर उस तालाब में रहनेवाले एक मगर (केंकड़े) ने उस बगुले से पूछा कि 'तुम इन मछलियों को कहाँ ले जाते हो?' ॥८५॥

यह सुनकर बगुले ने उसे भी वही उत्तर दिया, जो मछलियों को दिया था। तब उस डरे हुए मगरमच्छ (केकड़े) ने भी कहा कि 'मुझे भी ले चलो' ॥८६॥

उसके मांस के लालच में अन्धी बुद्धिवाला बगुला, उसे भी लेकर अब मछलियों का वध करनेवाली चट्टान पर पहुँचा, तो उन खाई हुई मछलियों के बची और बिखरी हुई हड्डियों के टुकड़ों को देखकर वह मगरमच्छ (केकड़ा) बगुले को विश्वासघाती भक्षक समझ गया ॥८७–८८॥

तब उस बुद्धिमान मगर (केकड़े) ने उस बगुले द्वारा चट्टान पर रखते ही, बगुले का गला काट लिया ॥८९॥

और, जाकर बची हुई मछलियों को सब समाचार सुनाया। उन सब ने भी प्राणदान देनेवाले उसका अभिवादन करके कृतज्ञता स्वीकार की ॥९०॥

---

१. पंचतन्त्र में यहाँ केकड़ा लिखा है; जो उचित मालूम पड़ता है। अतः, आगे मगर के स्थान पर केकड़ा ही कोष्ठक में लिखा गया है।—अनु०

प्रज्ञा नाम बलं तस्मात् निष्प्रज्ञस्य बलेन किम्।
एतां च सिंहशशयोः कथामत्रापरां शृणु ॥९१॥

सिंहशशकयोः कथा

अभूत् क्वापि वने सिंह एकवीरोऽपराजितः।
स च यं यं ददर्शात्र सत्त्वं तं तं न्यपातयत् ॥९२॥
ततः सोऽभ्यर्थितः सर्वैः सम्भूयात्र मृगादिभिः।
आहाराय तवैकैकं प्रेषयामो दिने दिने ॥९३॥
सर्वान्नो युगपद्धत्वा स्वार्थहानिं करोषि किम्।
इति तद्वचनं सिंहः स तथेत्यन्वमन्यत ॥९४॥
ततः प्राणिनमेकैकं तस्मिन्नन्वहमश्नति।
एकदा शशकस्यागाद्वार एकस्य तत्कृते ॥९५॥
स सर्वैः प्रेषितो गच्छञ्शशो धीमानचिन्तयत्।
स धीरो यो न संमोहमापत्कालेऽपि गच्छति ॥९६॥
उपस्थितेऽपि मृत्यौ तद्युक्तिं तावत्करोम्यहम्।
इत्यालोच्य स तं सिंहं विलम्ब्य शशकोऽभ्यगात् ॥९७॥
आगतं तु विलम्बेन केसरी निजगाद सः।
अरे वेला व्यतिक्रान्ता ममाहारे कथं त्वया ॥९८॥
वधादप्यधिकं किं वा कर्त्तव्यं ते मया शठ।
इत्युक्तवन्तं तं सिंहं प्रह्वः स शशकोऽब्रवीत् ॥९९॥
न मे देवापराधोऽयं स्ववशो नाहमद्य यत्।
मार्गे विधार्य सिंहेन द्वितीयेनोज्झितश्चिरात् ॥१००॥
तच्छ्रुत्वास्फाल्य लाङ्गूलं सिंहः क्रोधारुणेक्षणः।
सोऽब्रवीत्को द्वितीयोऽसौ सिंहो मे दर्श्यतां त्वया ॥१०१॥
आगत्य दृश्यतां देवेत्युक्त्वा सोऽपि निनाय तम्।
तथेत्यन्वागतं सिंहं दूरं कूपान्तिकं शशः ॥१०२॥
इहान्तःस्थं स्थितं पश्येत्युक्तस्तत्र च तेन सः।
शशकेन क्रुधा गर्जन्सिंहोऽन्तःकूपमैक्षत ॥१०३॥
दृष्ट्वा स्वच्छे च तोये स्वं प्रतिबिम्बं निशम्य च।
स्वगर्जितप्रतिरवं मत्वा तत्रातिगर्जितम् ॥१०४॥

इसलिए बुद्धि ही वास्तविक बल है। बुद्धिहीन व्यक्ति के पास बल होने पर भी उससे क्या लाभ ? इस सम्बन्ध में भी सिंह और शश (खरगोश) की एक कथा सुनो ॥९१॥

सिंह और शश की कथा

किसी जंगल में एकमात्र वीर और अपराजित सिंह रहता था। वह जंगल में जिस-जिस जीव को देखता था, उसे मार डालता था ॥९२॥

तब एक बार जंगल के सभी मृग आदि पशुओं ने, एकत्र होकर, उससे प्रार्थना की कि हमलोग तुम्हारे भोजन के लिए प्रतिदिन एक-एक जीव को भेजेंगे। एक साथ ही हम सब को मारकर तुम अपने ही स्वार्थ की हानि क्यों करते हो ?' उन लोगों के इस प्रस्ताव को सिंह ने 'ठीक है' कहकर मान लिया ॥९३-९४॥

इस निश्चय के पश्चात् एक-एक जीव को प्रतिदिन जब वह खा रहा था, तब एक दिन उसके लिए एक शश (खरगोश) की बारी आई ॥९५॥

सब जानवरों से भेजे गये उस शश ने जाते हुए सोचा कि 'धीर व्यक्ति वही है, जो आपत्ति-काल में भी नही घबराता ॥९६॥

इसलिए, अब मृत्यु के सिर पर मँडराते हुए भी एक युक्ति करता हूँ। ऐसा सोचकर वह शश देर करके सिंह के पास पहुंचा ॥९७॥

विलम्ब से आए हुये उसे देखकर सिंह बोला—'क्यों रे, तूने आज मेरे भोजन का समय क्यों बिता दिया ? अरे दुष्ट, वध करने के सिवा और मैं तेरा अब कर ही क्या सकता हूँ।' इस प्रकार कहते हुए उस सिंह से वह विनम्र शश (खरगोश—बोला) ॥९८-९९॥

'हे स्वामी, मेरा दोष नहीं है। आज मैं अपने वश में नहीं रह गया था। आते हुए मार्ग में मुझे दूसरे सिंह ने देर तक रोकने के बाद छोड़ा' ॥१००॥

यह सुनकर पूंछ को उठाकर हिलाता हुआ और क्रोध से आँखें लाल करके गुर्राता हुआ वह सिंह बोला—'वह कौन दूसरा सिंह है ? तू उसे मुझे दिखा' ॥१०१॥

'स्वामी, आकर देखिए।' यह कहकर पीछे आते हुए सिंह को वह शश उसे एक कुएँ के पास ले गया ॥१०२॥

और बोला—'इस कुएँ के अन्दर बैठे हुए उसे देखो'। शश के ऐसा कहने पर सिंह ने कुएं के भीतर देखा और स्वच्छ जल में अपनी परछाईं को देखकर, अपनी गर्जना की प्रति-ध्वनि को ही, दूसरे सिंह की अपने से भी तेज गर्जना समझ ली ॥१०३–१०४॥

---

१. पंचतन्त्र में इस कथा का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥

प्रतिसिंहं स कोपेन तद्वधाय मृगाधिपः।
आत्मानमक्षिपत्कूपे मूढोऽत्रैव व्यपादि च॥१०५॥
शशः स प्रज्ञयोत्तीर्य मृत्योरुत्तार्य चाखिलान्।
मृगान् गत्वा तदाख्याय स्ववृत्तंताननन्दयत्॥१०६॥
एवं प्रज्ञैव परमं बलं न तु पराक्रमः।
यत्प्रभावेण निहतः शशकेनापि केसरी'॥१०७॥
तदहं साधयाम्येव प्रज्ञया स्वमभीप्सितम्।
एवं, दमनकेनोक्ते तूष्णीं करटकोऽभवत्॥१०८॥
ततो दमनकश्चापि तस्य पिङ्गलकस्य सः।
सिंहस्य स्वप्रभोरासीदन्तिके दुर्मना इव॥१०९॥
पृष्टश्च कारणं तेन तमुवाच जनान्तिकम्।
बुद्ध्वा न युज्यते तूष्णीं स्थातुं देव वदाम्यतः॥११०॥
अनियुक्तोपि च ब्रूयाद्यदीच्छेत् स्वामिनो हितम्।
तद्विहायान्यथाबुद्धिं मद्विज्ञप्तिमिमां शृणु॥१११॥
वृषः सञ्जीवकोऽयं त्वां हत्वा राज्यं चिकीर्षति।
मन्त्रिणा हि सतानेन त्वं भीरुरिति निश्चितः॥११२॥
धुनोति त्वां जिघांसुश्च शृङ्गयुग्मं निजायुधम्।
निर्भया जीवथ सुखं मयि राज्ञि तृणाशने॥११३॥
तदेत हन्मो युक्त्यामुं मृगेन्द्रं मांसभोजनम्।
आश्वास्योपजपत्येवं प्राणिनश्च वने वने॥११४॥
तदेतं चिन्तय वृषं नास्त्यस्मिन्सति शर्म ते।
एवं दमनकेनोक्तः सतं पिङ्गलकोऽभ्यधात्॥११५॥
बलीवर्दो वराकोऽयं किं कुर्यात्तृणभुङ्मम।
दत्ताभयं कथं हन्यामेनं च शरणागतम्॥११६॥

---

१. पञ्चतन्त्रहितोपदेशयोरियं कथा—
बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः॥
—इति शीर्षकेणोल्लिखिताद्रष्टव्या।

वह मूर्ख सिंह उस दूसरे सिंह पर आक्रमण करने की दृष्टि से उस कुएँ में कूद पड़ा और मर गया ॥१०५॥

इस प्रकार, उस शश ने अपनी मृत्यु को पार कर और अन्यान्य पशुओं को भी मृत्यु से बचाकर और उस जंगल के सभी पशुओं को यह शुभ समाचार सुनाकर उन्हें आनन्दित किया ॥१०६॥

'इस प्रकार, बुद्धि ही वास्तविक बल है। शारीरिक बल, उसके आगे कुछ नहीं है। जिस बुद्धि के प्रभाव से शश ने सिंह को भी मार डाला ॥१०७॥

इसलिए, मैं अपने इस कार्य को बुद्धि के बल से सिद्ध करता हूँ।', दमनक के इस प्रकार कहने पर करटक चुप हो गया ॥१०८॥

तदनन्तर, दमनक अपने स्वामी सिंह के पास जाकर उदास होकर बैठ गया। जब सिंह ने उसकी उदासीनता का कारण उससे पूछा, तब उसने एकान्त में उससे कहा—'स्वामी, किसी बात को जानकर चुप नहीं बैठा जा सकता। इसलिए कहता हूँ कि सेवक का धर्म है स्वामी के हित को बिना अधिकार के भी कहे। इसलिए, आप इसे अन्यथा न समझकर मेरे निवेदन को सुनें ॥१०९–१११॥

यह संजीवक बैल, तुम्हें मारकर इस वन का राज्य चाहता है। इसके मन्त्री हो जाने पर इसने निश्चय कर लिया है कि 'तुम डरपोक हो' ॥११२॥

वह तुम्हें मारने की इच्छा से अपने शस्त्र-रूपी सींगों को पैना करता रहता है और जंगल के जीवों को घूम-घूमकर धीरज दिलाकर यह समझाता रहता है कि 'घास खानेवाले मेरे जीते रहते तुम निर्भय रहो और मेरे साथ आओ और इस मांसभोजी सिंह को किसी प्रकार मार डालो।' दमनक से इस प्रकार कहा गया पिंगलक बोला–'घास खानेवाला बेचारा यह बैल, मेरा क्या कर सकता है? किन्तु यही एक बात है कि अभय दिये हुए और शरण में आये हुए इसे कैसे मारूँ? ॥११३–११६॥

एतच्छ्रुत्वा दमनकः प्राह मा स्मैवमादिश।
यस्तुल्यः क्रियते राज्ञा न तद्वच्छ्रीः प्रसर्पति ॥११७॥
द्वयोर्दत्तपदा सा च तयोरुच्छ्रितयोश्चला[1]।
न शक्नोति चिरं स्थातुं ध्रुवमेकं विमुञ्चति ॥११८॥
प्रभुश्च यो हितं द्वेष्टि सेवते चाहितं सदा।
स वर्जनीयो विद्वद्भिर्वैद्यैर्दुष्टातुरो यथा ॥११९॥
अप्रियस्य प्रथमतः परिणामे हितस्य च।
वक्ता श्रोता च यत्र स्यात्तत्र श्रीः कुरुते पदम्[2] ॥१२०॥
न शृणोति सतां मन्त्रमसतां च शृणोति यः।
अचिरेण स सम्प्राप्य विपदं परितप्यते ॥१२१॥
तदस्मिन्भृङ्गिण कः स्नेहस्तव देव किमस्य वा।
द्रुह्यतोऽभयदानं तच्छरणागतता च का ॥१२२॥
किं चैतस्य भवत्पार्श्वे नित्यसन्निहितस्य गोः।
देव कीटाः प्रजायन्ते ये तन्मूत्रपुरीषयोः ॥१२३॥
ते चेद्विशन्ति मत्तेभदन्ताघातव्रणावृते।
शरीरे भवतः किं न वृत्तः स्याद्युक्तितो वधः ॥१२४॥
दुर्जनश्चेत् स्वयं दोषं विपश्चिन्न करोति तत्।
उत्पद्यते स तत्सङ्गादत्र च श्रूयतां कथा ॥१२५॥

मन्दविसर्पिण्या यूकाया मत्कुणस्य च कथा

राज्ञः कस्यापि शयने चिरमासीदलक्षिता।
यूका कुतश्चिदागत्य नाम्ना मन्दविसर्पिणी ॥१२६॥
अकस्मात्तत्र चोपेत्य कुतोऽपि पवनेरितः।
विवेश शयनीयं तट्टीटिभो नाम मत्कुणः ॥१२७॥
मन्निवासमिमं कस्मादागतस्त्वं व्रजान्यतः।
इति मन्दविसर्पिण्या स दृष्ट्वा जगदे तया ॥१२८॥

---

१. अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्री स्वभावादसहाभरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥
—मुद्राराक्षसे।

२. अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः।
—इति भारविरनुसन्धेयः।

यह सुनकर दमनक बोला—'ऐसा न करना चाहिए। जिसे राजा अपने समान बनाता है, उसे राजा के समान ही राजलक्ष्मी नहीं प्राप्त होती। जब वे दोनों ही राजमद से उच्छृंखल हो जाते हैं, तब चंचल लक्ष्मी, दोनों ओर पैर रखकर अधिक समय तक नहीं ठहरती। और, उनमें से एक को अवश्य ही छोड़ देती है'॥११७–११८॥

जो स्वामी हितैषियों से भी द्वेष करता है और अहितचिन्तकों को ही सदा चाहता है, वह बुद्धिमानों के लिए उसी प्रकार छोड़ देने के योग्य हो जाता है, जिस प्रकार वैद्य के लिए दुष्ट रोगी॥११९॥

प्रारम्भ में कड़वी और अन्त (परिणाम) में मधुर बातों का कहने और सुननेवाला जहाँ होता है, वहाँ लक्ष्मी निवास करती है॥१२०॥

जो राजा, सज्जनों की बात नहीं सुनता और दुर्जनों की बातों पर ध्यान देता है, वह शीघ्र ही, विपत्ति में पड़कर पश्चात्ताप और सन्ताप करता है॥१२१॥

हे स्वामी, उस बैल पर आपका स्नेह व्यर्थ है। इस द्रोही के लिए अभय-दान क्या और इस शरणागत की रक्षा कैसी! ॥१२२॥

और भी बात है। सदा आपके पास रहनेवाले इस बैल के गोबर और गोमूत्र में कीड़े उत्पन्न होते हैं। वे कीड़े हाथियों के दाँतों से हुए आपके घावों में प्रविष्ट होकर आपके शरीर को हानि पहुँचाते हैं। अतः, उपाय द्वारा ऐसे व्यक्ति का वध करना ही उचित है॥१२३-१२४॥

विद्वान् व्यक्ति यदि स्वयं कोई अपराध नहीं करता, तो भी दुष्ट के संसर्ग से उसमें भी दोष उत्पन्न हो ही जाते हैं। इस प्रसंग में एक कथा सुनो' ॥१२५॥

मन्दविसर्पिणी जूँ और खटमल की कथा

किसी राजा के पलंग में मन्दविसर्पिणी नाम की एक यूका (जूँ) कहीं से आकर छिपी रहती थी। एक बार सहसा वायु के वेग से उड़ाया गया टिट्टिभ नाम का एक खटमल उस पलंग में आकर घुस गया॥१२६–१२७॥

उसे देखकर मन्दविसर्पिणी ने कहा—'तू मेरे रहने के स्थान में क्यों घुस आया? कहीं दूसरे स्थान पर जा॥१२८॥

---

१. इसी भाव का मुद्राराक्षस नाटक में आया हुआ श्लोक संस्कृत-टिप्पणी में द्रष्टव्य है।

अपीतपूर्वं पास्यामि राजासृक्[1] तत्प्रसीद मे।
देहीह वस्तुमिति तामवादीत्सोऽपि टीटिभः ॥१२९॥
ततोऽनुरोधादाह स्म सा तं यद्येवमास्स्व तत्।
किं त्वस्य राज्ञो नाकाले दंशो देयस्त्वया सखे॥१३०॥
देयोऽस्य दंशः सुप्तस्य ःतासक्तस्य वा लघु।
तच्छ्रुत्वा टीटिभः सोऽत्र तथेत्युक्त्वा व्यतिष्ठत॥ ३१॥
नक्तं शय्याश्रितं तं च नृपमाशु ददंश सः।
उत्तस्थौ च ततो राजा 'हा दष्टो स्मीति' म ब्रुवन्॥१३२॥
ततः पलायिते तस्मिन्स्त्वरितं मत्कुणे शठे।
विचित्य राजभृत्यैः सा लब्धा यूका व्यपाद्यत॥१३३॥
एवं टीटिभसम्पर्कान्नष्टा मन्दविसर्पिणी।
तत्सञ्जीवकसङ्गस्ते न शिवाय भविष्यति॥१३४॥
न मे प्रत्येषि चेत्तत्त्वं स्वयं द्रक्ष्यस्युपागतम्।
शिरो धुनानं दर्पेण शृङ्गयोः शूलशातयोः॥१३५॥
इत्युक्त्वा विकृतिं तेन नीतो दमनकेन सः।
सिंहः पिङ्गलकश्चक्रे वध्यं सञ्जीवकं हृदि॥१३६॥
लब्ध्वा तस्याशयं स्वैरं क्षणाद्दमनकस्ततः।
तस्य सञ्जीवकस्यागात् स विषण्ण इवान्तिकम्॥१३७॥
किमीदृगसि किं मित्र शरीरे कुशलं तव।
इति पृष्टश्च तेनात्र वृषेण स जगाद तम्॥१३८॥
किं सेवकस्य कुशलं कश्च राज्ञां सदा प्रियः।
कोऽर्थी न लाघवं यातः कः कालस्य न गोचरः॥१३९॥
इत्युक्तवन्तं पप्रच्छ तं स सञ्जीवकः पुनः।
किमुद्विग्न इवैवं त्वं वयस्याद्योच्यतामिति॥१४०॥
ततो दमनकोऽवादीच्छृणु प्रीत्या वदामि ते।
मृगराजो विरुद्धोऽसौ जातः पिङ्गलकोऽद्य ते॥१४१॥
निरपेक्षोऽस्थिरस्नेहो हत्वा त्वां भोक्तुमिच्छति।
हिंस्रं परिच्छदं चास्य पश्यामि प्रेरकं सदा॥१४२॥

---

१. रक्तम्।

मैं पहले कभी नहीं पिया हुआ राजा का रक्त-पान करूँगा, इसलिए कृपा कर, और मुझे यहाँ रहने दे।' इस प्रकार, उस खटमल ने जूँ से कहा ॥१२९॥

तब खटमल के अनुरोध से वह जूँ कहने लगी—'यदि ऐसा है, तो रहो। लेकिन मित्र, राजा को अनवसर (बे-मौके) न काटना। जब वह सोया हो या आनन्द-विलास में तन्मय हो, तो धीरे से काटना। यह सुनकर वह टिट्टिभ खटमल, ऐसा ही करूँगा, कहकर वहीं रहने लगा ॥१३०–१३१॥

एक बार टिट्टिभ ने, रात में सोये हुए राजा को, शीघ्रता में जोर से काट लिया। तब राजा 'हाय ! काट लिया !' इस प्रकार कहकर उठ गया। इतने में उस दुष्ट खटमल के भागने पर और राजा के सेवकों के ढूँढ़ने पर उसे तो नहीं पाया, किन्तु उस जूँ को पा लिया और उसे मसल डाला ॥१३२–१३३॥

इस प्रकार, टिट्टिभ नामक खटमल के सम्पर्क से, बेचारी मन्दविसर्पिणी नामक जूँ मारी गई। अतः, इस संजीवक का साथ तुम्हारे लिए कल्याणकारी नहीं होगा ॥१३४॥

यदि आप मेरा विश्वास नहीं करते हैं, तो उसे स्वयं आये हुए देखेंगे कि वह शूल के समान तीखे सींगों को घुमाता हुआ तुम्हारे सामने आवेगा ॥१३५॥

इस प्रकार, दमनक द्वारा उभाड़े गये सिंह ने मन ही-मन संजीवक को मारने की सोच ली ॥१३६॥

सिंह के मन के भाव को समझकर दमनक वहाँ से चुपचाप खिन्न-सा होकर संजीवक के पास गया ॥१३७॥

'कहो मित्र, कैसे हो ? तुम्हारा शरीर तो ठीक है?' बैल संजीवक के इस प्रकार पूछने पर दमनक उससे बोला–॥१३८॥

'सेवक का क्या कुशल ? राजा का सदा प्यारा कौन रहा ? कौन याचक (माँगनेवाला) लघुता को प्राप्त नहीं होता और कौन मौत का शिकार नहीं होता ? ॥१३९॥

इस प्रकार कहते हुए दमनक से संजीवक ने फिर पूछा–'आज तुम इस प्रकार की विरक्ति की बातें क्यों कर रहे हो ?' ॥१४०॥

तब दमनक ने कहा–'सुनो। प्रेम के कारण तुमसे कहता हूँ। आज वह मृगराज (सिंह) पिंगलक तुम्हारे विरुद्ध हो गया है। वह निरपेक्ष, चंचल प्रेमवाला तुम्हें मारकर खाना चाहता है और मैं उसके हिंसक वृत्तिवाले सेवक साथियों को सदा तुम्हारे विरुद्ध प्रेरणा देते हुए देखता हूँ' ॥१४१-१४२॥

वचो दमनकस्यैतत् स पूर्वप्रत्ययादृजुः ।
सत्यं विचिन्त्य वृषभो विमना निजगाद तम् ॥१४३॥
धिक्सेवाप्रतिपन्नोऽपि क्षुद्रः क्षुद्रपरिग्रहः ।
प्रभुर्वैरित्वमेवैति तथा चेमां कथां शृणु ॥१४४॥

मदोत्कटसिंहकथा

आसीन्मदोत्कटो नाम सिंहः क्वापि वनान्तरे ।
त्रयस्तस्यानुगाश्चासन् द्वीपिवायसजम्बुकाः ॥१४५॥
स सिंहोऽत्र वनेऽद्राक्षीददृष्टचरमेकदा ।
करभं सार्थविभ्रष्टं प्रविष्टं हासनाकृतिम् ॥१४६॥
कोऽयं प्राणीति साश्चर्यं वदत्यस्मिन् मृगाधिपे ।
उष्ट्रोऽयमिति वक्ति स्म देशद्रष्टात्र वायसः ॥१४७॥
ततो दत्ताभयस्तेन सिंहेनानाय्य कौतुकात् ।
उष्ट्रा सोऽनुचरीकृत्य स्वान्तिके स्थापितोऽभवत् ॥१४८॥
एकदा व्रणितोऽस्वस्थः स सिंहो गजयुद्धतः ।
उपवासान् बहूंश्चक्रे स्वस्थैस्तैः सहितोऽनुगैः ॥१४९॥
ततः क्लान्तः स भक्ष्यार्थं भ्रमन् सिंहोऽनवाप्य तत् ।
किं कार्यमित्यपृच्छत्तानुष्ट्रं मुक्त्वानुगान्हः ॥१५०॥
ते तमूचुः प्रभो वाच्यमस्माभिर्युक्तमापदि ।
उष्ट्रेण साकं किं सख्यं किं नासावेव भक्ष्यते ॥१५१॥
तृणाशी चायमस्माकं भक्ष्य एवामिषाशिनाम् ।
बहूनामामिषस्यार्थे किं चैकस्त्यज्यते न किम् ॥१५२॥
दत्ताभयं कथं हन्मीत्युच्यते प्रभुणा यदि ।
दापयामः स्ववाचा तद्युक्त्या तनुममुं वयम् ॥१५३॥
इत्युक्ते तैरनुज्ञातस्तेन सिंहेन वायसः ।
वधाय संविदं कृत्वा करभं तमभाषत ॥१५४॥
एष स्वामी क्षुधाक्रान्तोऽप्यस्मान् वक्ति न किञ्चन ।
तदस्यात्मप्रदानोक्त्या प्रियं कुर्मो यथा वयम् ॥१५५॥
तथा त्वमपि कुर्वीथा येनासौ प्रीयते त्वयि ।
इत्युक्तो वायसेनोष्ट्रः साधुस्तत्प्रत्यपद्यत ॥१५६॥

पहले के विश्वास के कारण सरल और उदासीन संजीवक बैल, दमनक की बात सुनकर और उसे सत्य मानकर बोला—॥१४३॥

'खेद है कि नीच परिजनों से घिरा हुआ नीच स्वामी, सदा शत्रु ही बनता है। इस सम्बन्ध में यह कथा सुनो' ॥१४४॥

मदोत्कट सिंह की कथा

किसी वन में मदोत्कट नाम का सिंह था और उसके तीन अनुचर थे—बाघ, कौआ और सियार ॥१४५॥

उस सिंह ने, एक बार वन में पहले कभी न देखे हुए, अपने झुंड से अलग हुए और हँसने योग्य स्वरूपवाले ऊबड़-खाबड़ ऊँट के एक बच्चे को देखा ॥१४६॥

'यह कौन जीव है!', मृगराज के आश्चर्य के साथ ऐसा पूछने पर, अनेक देशों में भ्रमण किया हुआ कौआ बोला, 'यह ऊँट है'॥ १४७॥

तब सिंह ने, उस विचित्र प्राणी को, अभयदान देकर अपने पास रख लिया ॥१४८॥

एक बार हाथी के साथ युद्ध करने में सिंह आहत होकर अस्वस्थ हो गया और उसने उन स्वस्थ अनुचरों के साथ अनेक उपवास किये ॥१४९॥

तब भूख से व्याकुल सिंह ने, घूमते हुए, कुछ न पाया, तब ऊँट को छोड़कर अन्य तीन अनुचरों से एकान्त में उसने पूछा कि अब क्या करना चाहिए? ॥१५०॥

वे सब बोले–'स्वामिन्! हमलोगों को आपत्ति के समय उचित ही कहना चाहिए। ऊँट के साथ हमलोगों की क्या मित्रता? तो क्यों न उसे ही खाया जाय ॥१५१॥

यह घास खानेवाला, हम मांस खानेवालों का भक्ष्य तो है ही। बहुतों को मांस खाने के लिए एक का ही बलिदान क्यों न किया जाय ॥१५२॥

यदि स्वामी यह कहें कि अभय दिये गये प्राणी को कैसे मारा जाय, तो हम लोग उपाय करके उसकी ही वाणी द्वारा उसका शरीर आपको अर्पण करा दें। इस प्रकार कहने पर सिंह द्वारा स्वीकृति पाकर कौआ, अपने साथियों से ऊँट के वध का विचार करके, उस ऊँट के बच्चे से बोला—॥१५३-१५४॥

कि हमारा यह स्वामी भूख से व्याकुल होने पर भी, हम लोगों से कुछ नहीं कह रहा है। अतः, अपने को प्रदान करने की बात कहकर हमलोगों को उसका प्रिय करना चाहिए ॥१५५॥

हमलोग तो ऐसा करेंगे ही, पर तुम्हें भी ऐसा ही करना चाहिए, जिससे स्वामी हम पर प्रसन्न हों। कौए के इस प्रकार कहने पर ऊँट के उस सरल बच्चे ने, उसकी इस बात को स्वीकार कर लिया ॥१५६॥

उपाययौ च तं सिंहं सह काकेन तेन सः।
ततः काकोऽब्रवीद्देव स्वायत्तं भुङ्क्ष्व मामिमम् ॥१५७॥
किं त्वया स्वल्पकायेनेत्युक्ते सिंहेन जम्बुकः।
मां भुङ्क्ष्वेत्यवदत्तं च स तथैव निराकरोत् ॥१५८॥
द्वीपी तमब्रवीद्देव मां भुङ्क्ष्वेति तमप्यसौ।
नाभुङ्क्त हरिरुष्ट्रोऽथ बभाषे भुङ्क्ष्व मामिति ॥१५९॥
वाक्छलेन स तेनैव हत्वा कृत्वा च खण्डशः।
उष्ट्रस्तैर्भक्षितः सद्यः ससिंहैर्वायसादिभिः ॥१६०॥
एवं केनापि पिशुनेनैष पिङ्गलको मयि।
प्रेरितोऽकारणं राजा प्रमाणमधुना विधिः ॥१६१॥
गृध्रोऽपि हि वरं राजा सेव्यो हंसपरिच्छदः।
न गृध्रपरिवारस्तु हंसोऽपि किमुतापरः ॥१६२॥
एतत् सञ्जीवकाच्छ्रुत्वाऽवादीद्दमनकोऽनृजुः[1]।
धैर्येण साध्यते सर्वं शृणु वच्म्यत्र ते कथाम् ॥१६३॥

टिट्टिभदम्पतीकथा

कोऽप्यासीट्टिट्टिभः पक्षी सभार्यो वारिधेस्तटे।
धृतगर्भा सती भार्या टिट्टिभी निजगाद तम् ॥१६४॥
एहि क्वाप्यन्यतो यावः प्रसूताया ममेह हि।
हरेदपत्यानम्भोधिः कदाचिदयमूर्मिभिः ॥१६५॥
एतद् भार्यावचः श्रुत्वा टिट्टिभः स जगाद ताम्।
न शक्नोति मया साकं विरोधं कर्त्तुमम्बुधिः ॥१६६॥
तच्छ्रुत्वा टिट्टिभी प्राह मैवं का ते तुलाब्धिना।
हितोपदेशोऽनुष्ठेयो विनाशः प्राप्यतेऽन्यथा ॥१६७॥

कूर्महंसकथा

तथा च कम्बुग्रीवाख्यः कूर्मः क्वापि सरस्यभूत्।
तस्यास्तां सुहृदौ हंसौ नाम्ना विकटसङ्कटौ ॥१६८॥

---

१. कुटिलः।

और, वह कौए के साथ ही सिंह के पास आया। अब कौए ने सिंह से कहा—'स्वामी, मैं आपके अधीन हूँ, मुझे खाओ' ॥१५७॥

'छोटे-से शरीरवाले तुझे मारकर ही क्या होगा?'—सिंह के ऐसा कहने पर सियार बोला, 'मैं भी आपके अधीन हूँ, अतः मुझे मारकर खा लें।' तब सिंह ने उसे भी छोटे शरीरवाला बता-कर दूर कर दिया ॥१५८॥

तब बाघ ने कहा,—'मुझे मारकर खालो।' किन्तु सिंह ने, उसे भी नहीं मारा। तब ऊँट ने कहा—'मुझे खाओ' ॥१५९॥

इस प्रकार, वाणी के कपट से बाघ ने ही, उसे मारकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया और उन सिंह, बाघ, सियार तथा कौओं ने मिलकर उसे खा डाला ॥१६०॥

इसी प्रकार किसी चुगलखोर ने, बिना किसी कारण ही, मेरे विरुद्ध राजा पिंगलक को उभाड़ा है। अब जो भाग्य में होगा, वह होगा ॥१६१॥

यदि हंसों के परिवारवाला गीध भी राजा हो, तो उसकी सेवा करनी चाहिए, किन्तु गीधों से सेवित हंसराज की भी सेवा नहीं करनी चाहिए। दूसरों की तो बात ही क्या है ॥१६२॥

संजीवक से यह सुनकर कुटिल दमनक बोला—'धीरज से सब काम सिद्ध होते हैं। इस विषय में कथा कहता हूँ, सुनो'—॥१६३॥

टिट्टिभ-दम्पती की कथा

समुद्र के किनारे एक टिटिहरा अपनी टिटिहरी के साथ रहता था। टिटिहरी गर्भवती होने पर अपने टिटिहरे से बोली—॥१६४॥

'चलो, कहीं दूसरी जगह चलें; क्योंकि यहाँ पर मेरे प्रसव होने पर कभी समुद्र अपनी लहरों से मेरे अंडों का हरण न कर लें' ॥१६५॥

टिटिहरी की यह बात सुनकर टिटिहरा उससे बोला कि समुद्र मेरे साथ विरोध नहीं कर सकता ॥१६६॥

यह सुनकर टिटिहरी बोली, ऐसा न कहो। समुद्र के साथ तेरी क्या बराबरी! इसलिए, हितकारी उपदेश को मानना चाहिए। नहीं तो विनाश होगा ॥१६७॥

कछुए और हंस की कथा

किसी तालाब में कम्बुग्रीव नाम का एक कछुआ था। उसी तालाब में रहनेवाले विकट और संकट नाम के दो हंस उसके मित्र थे ॥१६८॥

एकदावग्रह[1]क्षीणजले सरसि तत्र तौ।
हंसावन्यत् सरो गन्तुकामौ कूर्मो जगाद सः ॥१६९॥
युवां यत्रोद्यतौ गन्तुं नयतं तत्र मामपि।
तच्छ्रुत्वा तावुभौ हंसौ कूर्मं तं मित्रमूचतुः ॥१७०॥
सरो दूराद्दवीयस्तद्यत्रावां गन्तुमुद्यतौ।
तत्रागन्तुं तवेच्छा चेत्कार्यमस्मद्वचस्त्वया ॥१७१॥
अस्मद्धृतां गृहीत्वैव दन्तैर्यष्टिं दिवि व्रजन्।
निरालापोऽवतिष्ठेथा भ्रष्टो व्यापत्स्यसेऽन्यथा ॥१७२॥
तथेति तेन दन्तात्तयष्टिना सह तौ नभः।
कूर्मेणोत्पेततुर्हंसौ प्रान्तयोरात्तयष्टिकौ ॥१७३॥
क्रमाच्च तत् सरोऽभ्यर्णं प्राप्तौ तौ कूर्महारिणौ।
ददृशुस्तदधोवर्त्तिनगराश्रयिणो जनाः ॥१७४॥
किमेतन्नीयते चित्रं हंसाभ्यामिति तैर्जनैः।
क्रियमाणं कलकलं स कूर्मश्चपलोऽशृणोत् ॥१७५॥
कुतः कलकलोऽधस्तादिति वक्त्राद्विहाय ताम्।
यष्टिं स पृच्छन्हंसौ तौ भ्रष्टो जघ्ने जनैर्भुवि ॥१७६॥
एवं बुद्धिच्युतो नश्येत्कूर्मो यष्टिच्युतो यथा।
इत्थं तयोक्तष्टिट्टिभ्या टिट्टिभः स जगाद ताम् ॥१७७॥

त्रयाणां मत्स्यानां कथा

सत्यमेतत्प्रिये किं तु त्वमप्येतां कथां शृणु।
नद्यन्तःस्थे ह्रदेऽभूवन्क्वापि मत्स्याः पुरा त्रयः ॥१७८॥
अनागतविधातैकः प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
तृतीयो यद्भविष्यश्च त्रयस्ते सहचारिणः ॥१७९॥
ते दाशानां[2] वचो जातु तेन मार्गेण गच्छताम्।
अहो अस्मिन् ह्रदे मत्स्याः सन्तीति किल शुश्रुवुः ॥१८०॥
तेनाशङ्क्य वधं दाशैर्नदीस्रोतः प्रविश्य सः।
अनागतविधाताथ बुद्धिमानन्यतो ययौ ॥१८१॥

---

१. अनावृष्टिः। २. मत्स्यजीविनाम्, धीवराणाम्।

एक बार सूखा पड़ने के कारण तालाब के सूख जाने पर वे दोनों हंस किसी दूसरे तालाब में जाने को तैयार हुए। तब कछुए ने उनसे कहा ॥१६९॥

तुम लोग जहाँ जाने को तैयार हो, वहाँ मुझे भी ले चलो। यह सुनकर वे दोनों हंस उस मित्र कछुए से बोले–॥१७०॥

'यह तालाब दूर है, जहाँ हमलोग, जाने को उद्यत हैं। यदि तुम्हारी इच्छा वहाँ चलने की है, तो हमारी बात मानो ॥१७१॥

हम दोनों से पकड़ी गई लकड़ी को तुम बीच में दाँतों से पकड़कर लटक जाओ। किन्तु, उड़ते समय आकाश में चुप रहना, नहीं तो गिरकर मर जाओगे' ॥१७२॥

उनकी इस बात को स्वीकार कर दाँतों से लकड़ी को दोनों ओर से पकड़े हुए दोनों हंस आकाश में उड़ चले ॥१७३॥

क्रमशः उस तालाब के पास पहुँचने पर, कछुए को ले जाते हुए हंसों को देखकर नगर-निवासी लोगों ने शोर मचाना शुरू किया कि देखो, 'यह कैसा आश्चर्य है! हंस यह क्या ले जा रहे हैं! इस प्रकार के कोलाहल को चंचल कछुए ने सुना ॥१७४–१७५॥

'नीचे यह कोलाहल क्यों हो रहा है ?', कछुए ने दाँतों से लकड़ी को छोड़कर हंसों से पूछा और लकड़ी से छूटने पर नीचे आ गिरा और लोगों ने उसे मार डाला ॥१७६॥

बुद्धिहीन व्यक्ति इसी प्रकार नष्ट होते हैं, जैसे लकड़ी से गिरा कछुआ मारा गया। टिटिहरी के ऐसा कहने पर टिटिहरा उससे बोला–॥१७७॥

तीन मच्छों की कथा।

'प्रिये, यह तो सत्य है; किन्तु तुम भी इस कथा को सुनो। किसी स्थान पर एक नदी के गड्ढे में तीन मच्छ रहते थे ॥१७८॥

एक का नाम अनागतविधाता, दूसरे का नाम प्रत्युत्पन्नमति और तीसरे का नाम यद्भविष्य था। वे तीनों परस्पर सहयोगी और सहचारी थे ॥१७९॥

उन तीनों ने, उस जलाशय के मार्ग से जाते हुए कुछ धीवरों (मछुओं) को यह कहते सुना कि इस जलाशय में मच्छ हैं ॥१८०॥

मछलीमारों की यह बात सुनकर उसके द्वारा मारे जाने के भय से बुद्धिमान् अनागत-विधाता नाम का मच्छ नदी के प्रवाह में घुसकर दूसरे स्थान पर चला गया ॥१८१॥

प्रत्युत्पन्नमतिस्त्वासीत्स तत्रैवाविकम्पितः।
अहं प्रतिविधास्यामि भयं चेदापतेदिति ॥१८२॥
यन्मे भविष्यतीत्यासीद्यद्भविष्यस्तु तत्र सः।
अथागत्याक्षिपञ्जालं तत्र ते धीवरा ह्रदे ॥१८३॥
जालोत्क्षिप्तस्तु तैः सद्यः प्रत्युत्पन्नमतिः सुधीः।
कृत्वा निस्पन्दमात्मानं तिष्ठति स्म मृतो यथा ॥१८४॥
स्वयं मृतोऽयमिति तेष्वघ्नत्सु तिमिघातिषु।
पतित्वा स नदी स्रोतस्यगच्छद्द्रुतमन्यतः ॥१८५॥
यद्भविष्यस्तु जालान्तरुद्वर्त्तनविवर्त्तने।
कुर्वन् गृहीत्वा निहतो मन्दबुद्धिः स धीवरैः ॥१८६॥
तस्मात्प्रतिविधास्येऽहं न यास्याम्यम्बुधेर्भयात्।

टिट्टिभदम्पतीकथा (पूर्वानुसृता)

इत्युक्त्वा टिट्टिभो भार्यां तत्रैवासीत् स्वनीडके ॥१८७॥
तत्राश्रौषीद्वचस्तस्य साहङ्कारं महोदधिः।
दिवसैश्च प्रसूता सा तद्भार्या तत्र टिट्टिभी ॥१८८॥
जहार स ततोऽण्डानि तस्य जलधिरूर्मिणा।
पश्यामि टिट्टिभोऽयं मे किं कुर्यादिति कौतुकात् ॥१८९॥
प्राप्तं तदेतद्व्यसनं यन्मयोक्तमभूत्तव।
इत्याह रुदती सा तं टिट्टिभी टिट्टिभं पतिम् ॥१९०॥
ततः स टिट्टिभो धीरस्तां स्वभार्यामभाषत।
पश्येह किं करोम्यस्य पापस्य जलधेरहम् ॥१९१॥
इत्युक्त्वा पक्षिणः सर्वान् सङ्घाट्योक्तपराभवः।
गत्वा तैः सह चक्रन्द शरणं गरुडं प्रभुम् ॥१९२॥
अब्धिनाण्डापहारेण वयं नाथे सति त्वयि।
अनाथवत्पराभूता इत्यूचुस्तं च ते खगाः ॥१९३॥
ततः क्रुद्धेन तार्क्ष्येण विज्ञप्तो हरिरम्बुधिम्।
आग्नेयास्त्रेण संशोष्य टिट्टिभाण्डान्यदापयत् ॥१९४॥
तस्मादत्यक्तधैर्येण भाव्यमापदि धीमता।
उपस्थितमिदानीं तु युद्धं पिङ्गलकेन ते ॥१९५॥

प्रतिभासम्पन्न प्रत्युत्पन्नमति नाम का मच्छ, निडर होकर वहीं रह गया। उसने सोचा कि जब भय शिर पर आ जायगा, तब उसी समय उसका प्रतीकार किया जायगा ॥१८२॥

और, तीसरा यद्भविष्य, यही सोचता रहा कि जैसा मेरा भविष्य होगा, देखा जायगा। कुछ समय के पश्चात् धीवरों ने वहाँ आकर जाल लगाया ॥१८३॥

उन धीवरों ने जाल में फँसे हुए प्रत्युत्पन्नमति को मुर्दे के समान निश्चेष्ट देखकर मरा हुआ-सा समझा और अपने-आप मरा जानकर उसे मारा नहीं, बल्कि किनारे पर रख दिया; किन्तु वह उछलकर फिर नदी के प्रवाह में गिरकर दूसरी ओर भाग गया ॥१८४-१८५॥

और, मन्दबुद्धि यद्भविष्य, जाल में फँसकर इधर-उधर तड़फता हुआ धीवरों द्वारा मार डाला गया ॥१८६॥

इसलिए, मैं भी समय आने पर प्रतीकार करूँगा, किन्तु समुद्र के भय से यहाँ से भागूँगा नहीं' ॥१८७॥

टिट्टिभ-दम्पती की कथा (क्रमागत)

ऐसा कहकर और पत्नी को धीरज बँधाकर टिटिहरा अपने घोंसले में ही डटा रहा ॥१८८॥

वहाँ पर महासमुद्र, उस टिटिहरे की अभिमानपूर्ण बातें सुनता रहा। कुछ दिनों में, समय आने पर टिटिहरी ने अण्डे दिये ॥१८८॥

तब समुद्र ने, टिटिहरे का तमाशा देखने की इच्छा से कि यह मेरा क्या बिगाड़ सकता है, अपनी लहरों से उसके अण्डों को बहा लिया ॥१८९॥

तब टिटिहरी, अपने पति से रोती हुई बोली कि मैं जो पहले से कह रही थी, वही विपत्ति, सिर पर आ गई ॥१९०॥

तब वह धैर्यशाली टिटिहरा अपनी टिटहरी से बोला–'देख, मैं इस समुद्र का क्या करता हूँ' ॥१९१॥

ऐसा कहकर उसने सभी पक्षियों को एकत्र करके, अपनी दुर्दशा बताई और उनके साथ जाकर अपने राजा गरुड़ की शरण ली ॥१९२॥

उस गरुड़ से सब पक्षियों ने निवेदन किया कि 'महाराज, आपके स्वामी रहते हुए हम लोग अनाथों के समान तिरस्कृत हो रहे हैं'॥१९३॥

तब क्रुद्ध गरुड़ के निवेदन करने पर भगवान् विष्णु ने आग्नेय अस्त्र से समुद्र को सुखाकर उसके अण्डे दिलवा दिये ॥१९४॥

'इसलिए, बुद्धिमान् व्यक्ति को आपत्ति के समय, धैर्य न छोड़कर, दृढ़ रहना चाहिए। अब तो इसी समय पिंगलक सिंह के साथ तेरा युद्ध होनेवाला है ॥१९५॥

यदैवोत्क्षिप्तलाङ्गूलश्चतुर्भिश्चरणैः समम्।
उत्थास्यति स ते विद्याः प्रजिहीर्षुं तदैव तम्॥१९६॥
सज्जो नतशिरा भूत्वा शृङ्गाभ्यामुदरे च तम्।
हत्वाभिपतितं कुर्याः कीर्णान्त्रनिकरं रिपुम्॥१९७॥
एवमुक्त्वा दमनकः सञ्जीवकवृषं स तम्।
गत्वा करटकायोभौ सिद्धभेदौ[1] शशंस तौ॥१९८॥
ततः सञ्जीवकः प्रायाच्छनैः पिङ्गलकान्तिकम्।
जिज्ञासुरिङ्गिताकारैश्चित्तं तस्य मृगप्रभोः॥१९९॥
ददर्शोत्क्षिप्तलाङ्गूलं युयुत्सुं तं समाङ्घ्रिकम्।
सिंहं सिंहोऽप्यपश्यत्तं शङ्कोद्धूतस्वमस्तकम्॥२००॥
ततः प्राहरदुत्पत्य स सिंहोऽस्मिन् वृषे नखैः।
वृषोऽपि तस्मिञ्शृङ्गाभ्यां प्रावर्त्तिष्टाहवस्तयोः॥२०१॥
तच्च दृष्ट्वा दमनकं साधुः करटकोऽब्रवीत्।
किं स्वार्थसिद्ध्यै व्यसनं प्रभोरुत्पादितं त्वया॥२०२॥
सम्पत्प्रजानुतापेन मैत्री शाठ्येन कामिनी।
पारुष्येणाहृता मित्र न चिरस्थायिनी भवेत्॥२०३॥
अलं वा यो बहु ब्रूते हितवाक्यावमानिनः।
स तस्माल्लभते दोषं कपेः सूचीमुखो यथा॥२०४॥

कपेः सूचीमुखस्य च कथा

पूर्वमासन् वने क्वापि वानरा यूथचारिणः।
ते शीते जातु खद्योतं दृष्ट्वाग्निरिति मेनिरे॥२०५॥
तस्मिंश्च तृणपर्णानि विन्यस्याङ्गमतापयन्।
एकस्तु तेषां खद्योतमधमत्तं मुखानिलैः॥२०६॥
तद्दृष्ट्वा तत्र तं प्राह पक्षी सूचीमुखाभिधः।
नैषोऽग्निरेष खद्योतो मा क्लेशमनुभूरिति॥२०७॥
तच्छ्रुत्वाप्यनिवृत्तं तं पक्षी सोऽभ्येत्य वृक्षतः।
न्यवारयद्यन्निर्बन्धात् कपिस्तेन चुकोप सः॥२०८॥

---

१. सिद्धः=निश्चितः, भेदो ययोस्तौ वृषसिंहौ।

जभी वह पूंछ को ऊपर करके चारों पैरों को एक साथ ही उठायेगा, तब तुम उसे अपने ऊपर प्रहार करनेवाला समझना ॥१९६॥

तुम भी तैयार रहकर नीचे सिर करके अपने दोनों सींगों से उसके पेट में आघात करके गिराये हुये शत्रु की अँतड़ियों को निकाल लेना' ॥१९७॥

दमनक, इस प्रकार संजीवक बैल से कहकर करटक के पास गया और दोनों का विरोध उसे सुनाया ॥१९८॥

तब संजीवक, धीरे से, पिंगलक की भाव-भंगियों से उसके चित्त को समझने के लिए उसके पास गया और उसे पूंछ उठाकर चारों पैरों को एक साथ उठाये हुए देखा। सिंह ने भी शंका से अपने सिर को हिलाते हुए उसे देखा ॥१९९—२०० ॥

तब सिंह ने उठकर बैल को नखों से मारा और बैल ने सींगों से उस पर प्रहार किया। इस प्रकार दोनों का युद्ध आरम्भ हुआ ॥२०१॥

यह देखकर साधु करटक दमनक से बोला—'तूने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए स्वामी पर नई विपत्ति खड़ी कर दी' ॥२०२॥

प्रजा को सताकर प्राप्त की गई सम्पत्ति, धूर्तता से की गई मित्रता और कठोरता से हरण की गई कामिनी चिरकाल तक नहीं रहती ॥२०३॥

हितकारी बातों का अपमान करनेवाले से जो बहुत कहता है, वह उससे बुराई ही पाता है। जैसे सूचीमुख ने बन्दर से बुराई प्राप्त की ॥२०४॥

सूचीमुख पक्षी और बन्दर की कथा

पहले समय किसी वन में झुंड के साथ विचरनेवाले बन्दर रहते थे। उन्होंने कभी शीतकाल में चमकते हुए जुगनू को देखकर उसे आग की चिनगारी समझा और उस पर घास और सूखे पत्ते डालकर शरीर को सेंकने लगे ॥२०५-२०६॥

उनमें से एक बन्दर ने, मुख से फूंक लगाकर उस जुगनू को जलाने की चेष्टा की ॥२०६॥

यह देखकर सूचीमुख नाम का पक्षी, उस बन्दर से बोला,—'यह आग नहीं, जुगनू है। इसे फूंकने का व्यर्थ प्रयत्न न करो। यह सुनकर भी न माननेवाले और बार-बार फूंकते हुए बन्दर के पास पेड़ से नीचे आकर उस पक्षी ने आग्रहपूर्वक उसे रोका, किन्तु उससे बन्दर क्रुद्ध हो गया ॥२०७—२०८॥

क्षिप्तया शिलया तं च सूचीमुखमचूर्णयत्।
तस्मान्न तस्य वक्तव्यं यः कुर्यान्न हितं वचः॥२०९॥
अतः किं वच्मि दोषाय भेदस्तावत् कृतस्त्वया।
दुष्टया क्रियते यच्च बुद्ध्या तन्न शुभं भवेत्॥ १०॥

धर्मबुद्धिदुष्टबुद्धिवणिजोः कथा

तथा चाभवतां पूर्वं भ्रातरौ द्वौ वणिक्सुतौ।
धर्मबुद्धिस्तथा दुष्टबुद्धिः क्वचन पत्तने॥२११॥
तावर्थार्थं पितुर्गेहाद् गत्वा देशान्तरं सह।
कथञ्चित् स्वर्णदीनारसहस्रद्वयमापतुः॥२१२॥
तद्गृहीत्वा स्वनगरं पुनराजग्मतुश्च तौ।
वृक्षमूले च दीनारान् भूतले तान् निचख्नतुः॥२१३॥
शतमेकं गृहीत्वा च दीनाराणां विभज्य च।
परस्परं समांशेन तस्थतुः पितृवेश्मनि॥२१४॥
एकदा दुष्टबुद्धिः स गत्वा तरुतलात्ततः।
एक एवाग्रहीत् स्वैरं दीनारांस्तानसद्व्ययी॥२१५॥
मासमात्रे गते तं च धर्मबुद्धिमुवाच सः।
एह्यार्य विभजावस्तान् दीनारानस्ति मे व्ययः॥२१६॥
तच्छ्रुत्वा धर्मबुद्धिस्तां गत्वा भूमिं तथेति सः।
चखान तेनैव समं दीनारान्यत्र तान्न्यधात्॥२१७॥
सम्प्राप्ता न यदा ते च दीनाराः खातकात्ततः।
तदा स दुष्टबुद्धिस्तं धर्मबुद्धिं शठोऽब्रवीत्॥२१८॥
नीतास्ते भवता तन्मे स्वमर्धं दीयतामिति।
न ते नीता मया नीतास्त्वयेत्याह स्म तं च सः॥२१९॥
एवं प्रवृत्ते कलहे सोऽश्मना ताडयच्छिरः।
दुष्टबुद्धी राजकुलं धर्मबुद्धिं निनाय च॥२२०॥
तत्रोक्तस्वस्वपक्षौ तावनासादितनिर्णयैः।
स्थापितावा दिनच्छेदमुभौ राजाधिकारिभिः॥२२१॥
यस्य मूले न्यधीयन्त दीनारास्ते वनस्पतेः।
स साक्षी वक्ति यन्नीतास्तेऽमुना धर्मबुद्धिना॥२२२॥

और, उसने पत्थर से मारकर, उस सूचीमुख के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। इसलिए, उससे हित की बात कभी न कहनी चाहिए, जो न माने ॥२०९॥

'अब मैं क्या कहूँ, तूने इन दोनों में भेद कराकर अहित किया है। दुष्ट बुद्धि से जो भी किया जाता है, वह शुभ (अच्छा) नहीं होता' ॥२१०॥

धर्मबुद्धि और दुष्टबुद्धि वैश्यों की कथा

प्राचीन समय में, किसी नगर में धर्मबुद्धि और दुष्टबुद्धि नाम के दो वणिक्पुत्र थे। वे दोनों धन कमाने के लिए अपने पिता के घर से दूसरे देश में गये और दैवयोग से उन्होंने दो सहस्र दीनार कमाये ॥२११-२१२॥

उन्हें लेकर वे अपने घर लौट आये और उन्होंने एक वृक्ष के नीचे उन दीनारों को गाड़ दिया ॥२१३॥

और, एक सौ दीनार लेकर तथा पिता की सम्पत्ति का बराबर बँटवारा करके वे पिता के घर में रहने लगे ॥२१४॥

एक बार, व्यर्थ व्यय करनेवाला दुष्टबुद्धि वन में जाकर उस वृक्ष के नीचे गड़े सारे धन को अकेले ही निकाल लाया ॥२१५॥

एक महीना बीत जाने पर दुष्टबद्धि ने धर्मबुद्धि से कहा—'चलो, उन दीनारों का भी बँटवारा कर लें। इस समय मुझे कुछ व्यय की आवश्यकता है' ॥२१६॥

यह सुनकर धर्मबुद्धि ने उसी दुष्टबुद्धि के साथ जाकर उस स्थान को खोदा, जहाँ दीनार गड़े थे ॥२१७॥

जब उस गढ़े से दीनार न मिले, तब दुष्टबुद्धि धर्मबुद्धि से बोला—'तू ही सारे दीनार निकाल ले गया। उनमें से आधा मुझे दे।' धर्मबुद्धि बोला—'उन्हें मैं नहीं ले गया, तू ही ले गया है' ॥२१८-२१९॥

इस प्रकार, कलह होने पर दुष्टबुद्धि ने, पत्थर से अपना सिर फोड़ लिया और धर्मबुद्धि को न्यायालय में ले जाकर उस पर अभियोग (मुकदमा) कर दिया ॥२२०॥

न्यायालय में अपने-अपने पक्ष की बात कहते हुए उन दोनों को अधिकारियों ने दिन-भर वहीं बैठाये रखा ॥२२१॥

तब दुष्टबुद्धि ने कहा—'जिस वृक्ष के नीचे दीनार गड़े थे, वह वृक्ष साक्षी है और वह कहता है कि दीनार धर्मबुद्धि ने लिये' ॥२२२॥

इत्युवाचाथ तान् दुष्टबुद्धी राजाधिकारिणः।
प्रक्ष्यामस्तर्हि तं प्रातरित्यूचुस्तेऽतिविस्मिताः॥२२३॥
ततस्तैर्धर्मबुद्धिश्च दुष्टबुद्धिश्च तावुभौ।
दत्तप्रतिभुवौ मुक्तौ विभिन्नौ जग्मतुर्गृहम्॥२२४॥
दुष्टबुद्धिस्तु वस्तूक्त्वा दत्त्वार्थं पितरं रहः।
भव मे वृक्षगर्भान्तः स्थित्वा साक्षीत्यभाषत॥२२५॥
बाढमित्युक्तवन्तं च नीत्वा महति कोटरे।
निवेश्य तं तरौ तत्र रात्रौ स गृहमाययौ॥२२६॥
प्रातश्च राजाधिकृतैः सह तौ भ्रातरौ तरुम्।
गत्वा पप्रच्छतुः कस्तान् दीनारान् नीतवानिति॥२२७॥
दीनारान् धर्मबुद्धिस्तान् नीतवानिति स स्फुटम्।
तद्वृक्षकोटरान्तःस्थस्ततोऽभाषत तत्पिता॥२२८॥
तदसम्भाव्यमाकर्ण्य निश्चितं दुष्टबुद्धिना।
अत्रान्तःस्थापितः कोऽपीत्युक्त्वाधिकृतकाश्च ते॥२२९॥
तरुगर्भे ददुर्धूमं येनाध्मातः स निःसरन्।
निपत्याधोगतः क्ष्मायां दुष्टबुद्धिपिता मृतः॥२३०॥
तद्दृष्ट्वा वस्तु बुद्ध्वा च राजाधिकृतकैः स तैः।
दापितो दुष्टबुद्धिस्तान् दीनारान् धर्मबुद्धये॥२३१॥
निकृत्तहस्तजिह्वश्च तैः स निर्वासितस्ततः।
दुष्टबुद्धिर्यथार्थाख्यो धर्मबुद्धिश्च मानितः॥२३२॥
एवमन्याय्यया बुद्ध्या कृतं कर्माशुभावहम्।
तस्मात्तन्न्याय्यया कुर्याद्बकेनाहेः कृतं यथा॥२३३॥

बकसर्पयोः कथा

पूर्वं बकस्य कस्यापि जातं जातमभक्षयत्।
भुजगोऽपत्यमागत्य स सन्तेपे ततो बकः॥२३४॥
झषोपदेशात्तेनाथ बकेन नकुलालयात्।
आरुह्याहिबिलं यावन्मत्स्यमांसं व्यकीर्यत॥२३५॥
निर्गत्य नकुलस्तच्च खादंस्तदनुसारतः।
दृष्ट्वा बिलं प्रविष्टस्तं सापत्यमवधीदहिम्॥२३६॥

तब वे अत्यन्त चकित राजकर्मचारी बोले कि 'प्रातःकाल ही चलकर उस वृक्ष का साक्ष्य (गवाही) लेंगे। तब उन्होंने दुष्टबुद्धि और धर्मबुद्धि दोनों को जमानत लेकर छोड़ दिया और वे अपने-अपने घर चले गये ॥२२३–२२४॥

दुष्टबुद्धि ने, घर जाकर अपने पिता से सब सच्चा-सच्चा समाचार सुनाया और कहा कि 'तुम उस वृक्ष के अन्दर बैठकर मेरा साक्षी (गवाह) बनो' ॥२२५॥

'अच्छा', इस प्रकार कहे हुए अपने पिता को ले जाकर दुष्टबुद्धि ने, उस वृक्ष के खोखले में, रात को ही उसे बैठा दिया और अपने घर चला आया ॥२२६॥

प्रातःकाल न्यायाधीशों के साथ वे दोनों भाई उस वृक्ष से जाकर पूछने लगे कि 'यहाँ से उन दीनारों को कौन ले गया?' ॥२२७॥

'उन दीनारों को धर्मबुद्धि ले गया'—ऐसा उस वृक्ष के कोटर में बैठे हुए उसके पिता ने स्पष्ट कहा। न्यायाधिकारी इस बात को असम्भव जानकर समझ गये कि दुष्टबुद्धि ने, अवश्य ही इसके भीतर किसी को छिपा रखा है ॥२२८-२२९॥

ऐसा सोचकर उन्होंने उस वृक्ष के कोटर में धुँआँ दिया, जिसके तीव्र होने पर उससे निकलता हुआ दुष्टबुद्धि का पिता पृथ्वी पर गिरकर मर गया ॥२३०॥

यह देखकर न्यायाधिकारियों ने दुष्टबुद्धि से आधे दीनार धर्मबुद्धि को दिलवाये और उसका हाथ तथा जीभ काटकर वहाँ से निकाल दिया। साथ ही, उस धर्मबुद्धि का उन्होंने सम्मान किया ॥२३१–२३२॥

इस प्रकार अन्याय की बुद्धि से किया हुआ काम अशुभ और अकल्याण देनेवाला होता है। इसलिए, किसी भी काम को न्याय-बुद्धि से करना चाहिए। जैसा कि बगुले ने सर्प से किया ॥२३३॥

साँप और बगले की कथा

पहले समय में कहीं पर एक साँप, बगुले के घोंसले में आकर उत्पन्न होनेवाले उसके बच्चे को खा जाता था। इस कारण बगुला बहुत दुःखी था ॥२३४॥

एक मछली के कथानानुसार बगुले ने, नेवले के बिल से लेकर साँप के बिल तक मछली का मांस बिखेर दिया ॥२३५॥

नेवला, अपने बिल से निकलकर मछली का मांस खाते-खाते तदनुसार साँप के बिल तक चला आया और उसमें घुसकर उसने साँप के बच्चों के साथ साँप को भी मार डाला ॥२३६॥

लौहतुलावैश्यपुत्रयोः कथा

एवं भवत्युपायेन कार्यमन्यच्च मे शृणु।
आसीत्कोऽपि तुलाशेषः पित्र्यर्थात्प्राग्वणिक्सुतः ॥२३७॥
अयःपलसहस्रेण घटितां तां तुलां च सः।
कस्यापि वणिजो हस्ते न्यस्य देशान्तरं ययौ ॥२३८॥
आगतश्च ततो यावत्तस्मान्मृगयते तुलाम्।
आखुभिर्भक्षिता सेति तावत्तं सोऽब्रवीद्वणिक् ॥२३९॥
सत्यं सुस्वादु तल्लोहं तेन जग्धं तदाखुभिः।
इति सोऽपि तमाह स्म वणिक्पुत्रो हसन्हृदि ॥२४०॥
प्रार्थयामास च ततो वणिजोऽस्मात्स भोजनम्।
सोऽपि सन्तुष्य तत्तस्मै प्रदातुं प्रत्यपद्यत ॥२४१॥
ततः स सह कृत्वास्य वणिजः पुत्रमर्भकम्।
स्नातुं वणिक्सुतः प्रायाद्दत्तामलकमात्रकम् ॥२४२॥
स्नात्वार्भकं तं निक्षिप्य गुप्तं क्वापि सुहृद्गृहे।
एक एवाययौ तस्य स धीमान्वणिजो गृहम् ॥२४३॥
अर्भकः क्व स इत्येवं पृच्छन्तं वणिजं च तम्।
श्येनेन सोऽर्भको नीतः खान्निपत्येत्युवाच सः ॥२४४॥
छादितो मे त्वया पुत्र इति क्रुद्धेन तेन च।
नीतः स वणिजा राजकुलेऽप्याह स्म तत्तथा ॥२४५॥
असम्भाव्यमिदं श्येनो नयेत् कथमिवार्भकम्।
इति सभ्यैश्च तत्रोक्ते वणिक्पुत्रो जगाद सः ॥२४६॥
मूषकैर्भक्ष्यते लौही देशे यत्र महातुला।
तत्र द्विपमपि श्येनो नयेत्कि पुनरर्भकम् ॥२४७॥
तच्छ्रुत्वा कौतुकात् पृष्टवृत्तान्तैस्तस्य दापिता।
सभ्यैस्तुला सा तेनापि स आनीयार्पितोऽर्भकः ॥२४८॥
इत्युपायेन घटयन्त्यभीष्टं बुद्धिशालिनः।
त्वया तु साहसेनैव सन्देहे प्रापितः प्रभुः ॥२४९॥
एतत्करटकाच्छ्रुत्वावादीद्दमनको हसन्।
मैवं किमुक्षयुद्धेऽस्ति सिंहस्य जयसंशयः ॥२५०॥
मत्तेभदशनाघातघनव्रणविभूषणः।
क्व केसरी क्व दान्तश्च प्रतोदक्षतविग्रहः ॥२५१॥

लोहे का तराजू और वैश्यपुत्र की कथा

इस प्रकार उपाय से काम निकाले जाते हैं। और भी मुझसे सुनो। प्राचीन काल में किसी वैश्य के पास पिता की सम्पत्ति में से केवल एक लोहे का तराजू बच गया था ॥२३७॥

चार सौ तोले लोहे से बने उस तराजू को किसी बनिये के पास अमानत (धरोहर) रखकर वह वैश्य दूसरे देश को चला गया ॥२३८॥

उसने लौटकर उस बनिये से जब अपना तराजू माँगा, तब उस बनिये ने कहा—'उसे तो चूहे खा गये' ॥२३९॥

'सचमुच, वह लोहा बहुत मीठा था, इसी से उसे चूहे खा गये।'—यह सुनकर मन-ही-मन हँसते हुए वैश्यपुत्र ने उस बनिये से कहा ॥२४०॥

और उसने भोजन की प्रार्थना की। उसने भी सन्तुष्ट होकर उसे भोजन देना स्वीकार कर लिया' ॥२४१॥

तब वह वैश्यपुत्र, उस बनिये के छोटे पुत्र को एक आँवला देकर स्नान के लिए उसे साथ लेकर चला गया। स्नान के बाद वह बनिया उस वैश्यपुत्र को किसी मित्र के यहाँ छिपाकर रख आया और अकेले ही बनिये के घर भोजन के लिए आ गया ॥२४२-२४३॥

'बच्चा कहाँ गया'?—इस प्रकार पूछते हुए बनिये से वणिक्पुत्र ने कहा—'उस बालक को आकाश से नीचे आकर एक बाज उठा ले गया' ॥२४४॥

उस बनिया द्वारा उसे न्यायालय में ले जाने पर भी उस वैश्यपुत्र ने यही कहा ॥२४५॥

'यह असम्भव है। बाज बच्चे को उठाकर कैसे ले जा सकता है?' सभा में उपस्थित व्यक्तियों द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वैश्यपुत्र बोला—'जिस देश में लोहे का भारी तराजू चूहोंसे खाया जाता है, वहाँ तो बाज हाथी को भी ले जा सकता है। बच्चे की तो बात ही क्या' ॥२४६–२४७॥

यह सुनकर कौतुक से सब समाचार पूछकर न्यायाधिकारियों ने उसे तराजू दिला दिया और वैश्यपुत्र ने भी बच्चे को लाकर बनिये को दे दिया ॥२४८॥

इस प्रकार, बुद्धिमान् व्यक्ति उपाय से अपना काम बनाते हैं। तूने तो साहस करके स्वामी को संशय (खतरे) में डाल दिया है ॥२४९॥

करटक से यह सुनकर हँसता हुआ दमनक उससे बोला—'ऐसा न समझो। बैल के साथ युद्ध करने में सिंह की विजय में शंका ही क्या हो सकती है ॥२५०॥

मदोन्मत्त हाथी के दाँतों से लगे व्रणों (घावों) से अलंकृत सिंह कहाँ! और चाबुकों की मार से क्षत शरीरवाला तथा बोझा ढोनेवाला बैल कहाँ!' ॥२५१॥

इत्यादि जल्पतो यावज्जम्बुकौ तौ परस्परम्।
तावत्सञ्जीवकवृषं युद्धे पिङ्गलकोऽवधीत् ॥२५२॥
तस्मिन् हते स किल पिङ्गलकस्य तस्य पार्श्वे समं करटकेन मृगाधि स्य।
तस्थौ ततो दमनको मुदितश्चिराय मन्त्रित्वमप्रतिहतं समवाप्य भूयः ॥२५३॥
इति नरवाहनदत्तो नीतिमतो बुद्धिविभवसम्पन्नाम्।
मन्त्रिवराद्गोमुखतः श्रुत्वा चित्रां कथां जहर्ष भृशम् ॥२५४॥

इति महाकवि श्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शक्तियशोलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः।

पञ्चमस्तरङ्गः

ततः शक्तियशः सोत्कं गोमुखः स विनोदयन्।
नरवाहनदत्तं तं मन्त्री पुनरभाषत ॥१॥

अगुरुवाहीवैश्यकथा

श्रुता प्राज्ञकथा देव त्वया मुग्धकथां शृणु।
मुग्धबुद्धिरभूत्कश्चिदाढ्यस्य वणिजः सुतः ॥२॥
जगाम स वणिज्यायै कटाहद्वीपमेकदा।
भाण्डमध्ये च तस्याभून्महानगुरुसञ्चयः ॥३॥
विक्रीता परभाण्डस्य न तस्यागुरु तत्र तत्।
कश्चिज्जग्राह तद्वासी जनो वेत्ति न तत्र तत् ॥४॥
काष्ठिकेभ्यस्ततोऽङ्गारान् दृष्ट्वापि क्रीणतो जनान्।
स कालागुरु दग्ध्वा तदङ्गारानकरोज्जडः ॥५॥
विक्रीयाङ्गारमूल्येन तच्चागत्य ततो गृहम्।
तदेव कौशलं शंसन्स ययौ लोकहास्यताम् ॥६॥

तिलकार्षिककथा

कथितोऽगुरुदाह्येष श्रूयतां तिलकार्षिकः।
बभूव कश्चिद्ग्रामीणो भूतप्रायः कृषीवलः ॥७॥

जब दोनों सियार इस प्रकार की बातें कर ही रहे थे कि पिंगलक सिंह ने, युद्ध में संजीवक बैल को मार डाला ॥२५२॥

उस संजीवक बैल के मारे जाने पर, करटक के साथ दमनक, मृगराज सिंह का फिर से स्वतन्त्र मन्त्रित्व पाकर प्रसन्नतापूर्वक रहने लगा ॥२५३॥

नरवाहनदत्त भी विज्ञ मन्त्री गोमुख से बुद्धि के चमत्कारों से भरी हुई इस विचित्र कथा को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥२५४॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शक्तियशो लम्बक का
चतुर्थ तरंग समाप्त

पंचम तरंग

तदनन्तर, शक्तियशा के लिए उत्कंठित नरवाहनदत्त का विनोद करता हुआ गोमुख मन्त्री बोला ॥१॥

अगर जलानेवाले वैश्य की कथा

तुमने बुद्धिमानों की कथाएँ सुनीं, अब मूर्खों की कथा सुनो। किसी धनी बनिये का मुग्धबुद्धि नाम का एक बालक था ॥२॥

वह वैश्यपुत्र व्यापार के लिए एक बार कटाह द्वीप में गया। उसके व्यापारिक सामान में, अगर की लकड़ी सबसे अधिक थी ॥३॥

अन्य माल को बेचकर धन कमाये हुए उस वैश्यपुत्र के अगर को वहाँ किसी ने नहीं खरीदा; क्योंकि वहाँ के लोग अगर के महत्त्व को जानते ही न थे ॥४॥

तब उस वैश्यपुत्र ने, लकड़हारों से कोयला खरीदते हुए वहाँ के निवासियों को देखकर सारी अगर की लकड़ी जलाकर उसका कोयला बना डाला। और, उसे कोयले के भाव में बेचकर घर आकर मित्रों में अपनी डींग हाँकने लगा, तो सुनकर लोग उसकी हँसी करने लगे ॥५–६॥

तिल बोनेवाले मूर्ख कृषक की कथा

अगुरुदाही की कथा तुमने सुनी, अब तिवलकार्षिक की कथा सुनो। एक स्थान पर भूत के समान एक मूर्ख किसान था ॥७॥

स कदाचित्तिलान् भृष्टान्भुक्त्वा स्वादूनवेत्य तान्।
भृष्टानेवावपद् भूरींस्तादृशोत्पत्तिवाञ्छया ॥८॥

जलेअग्निक्षेपककथा

भृष्टेषु तेष्वजातेषु नष्टार्थं तं जनोऽहसत्।
तिलकार्षिक उक्तोऽसौ जलेऽग्निक्षेपकं शृणु ॥९॥
मन्दबुद्धिरभूत्कश्चित् पुमान्निशि स चैकदा।
प्रभाते देवतापूजां करिष्यन्नित्यचिन्तयत् ॥१०॥
उपयुक्तौ मम स्नानधूपाद्यर्थं जलानलौ।
स्थापयामि तदेकस्थौ तौ शीघ्रं प्राप्नुयां यथा ॥११॥
इत्यालोच्याम्बुकुम्भान्तः क्षिप्त्वाग्निं संविवेश सः।
प्रातश्च वीक्षते यावद् गतोऽग्निर्नष्टमम्बु च ॥१२॥
अङ्गारमलिने तोये दृष्टे तस्याभवन्मुखम्।
तादृगेव सहासस्य लोकस्यासीत् पुनः स्मितम् ॥१३॥

नासिकारोपणकथा

श्रुतस्त्वयाग्निकुम्भाख्यो नासिकारोपणं शृणु।
बभूव कश्चित्पुरुषो मूर्खो मूढमतिः क्वचित् ॥१४॥
स भार्यां चिपिटघ्राणां गुरुं चोत्तुङ्गनासिकम्।
दृष्ट्वा तस्य प्रसुप्तस्य नासां छित्त्वाग्रहीद् गुरोः ॥१५॥
गत्वा च नासिकां छित्त्वा भार्यायास्तामरोपयत्।
गुरुनासां मुखे तस्या न च तत्रारुरोह सा ॥१६॥
एवं भार्यागुरू तेन च्छिन्ननासौ कृतावुभौ।

मूर्खपशुपालस्य कथा

अधुना वनवासी च पशुपालो निशम्यताम् ॥१७॥
पशुपालो महामुग्धः कोऽप्यासीद्धनवान्वने।
तस्य धूर्ताः समाश्रित्य मित्रत्वे बहवोऽमिलन् ॥१८॥
ते तं जगदुराढ्यस्य सुता नगरवासिनः।
त्वत्कृते याचितास्माभिः सा च पित्रा प्रतिश्रुता ॥१९॥

उसने एक बार तिलों को भूनकर खाया और उन्हें स्वादिष्ट जानकर उन भूने हुए तिलों को ही, वैसा ही मीठा तेल पैदा करने की दृष्टि से खेतों में बो दिया। भुने हुए उन तिलों के न उगने से, अपने माल को नष्ट करनेवाले उस किसान की सभी लोग हँसी करने लगे ॥८॥

पानी में आग फेंकनेवाले की कथा

तिलकार्षिक की कथा सुनी। अब पानी में आग फेंकनेवाले की कथा सुनो ॥९॥

एक मूर्ख मनुष्य था। उसने प्रातःकाल देवता की पूजा करने की इच्छा से सोचा कि कल मुझे स्नान, धूप आदि के लिए जल और अग्नि की आवश्यकता पड़ेगी। अतः, उन्हें एक साथ ही रख देता हूँ, जिससे प्रातः उठते ही दोनों एक ही स्थान में मिल जायँ ॥१०–११॥

ऐसा सोचकर वह पानी के घड़े में आग डालकर सो गया। प्रातःकाल जब उसने उठकर देखा, तो आग समाप्त हो गई थी और पानी भी गँदला होकर नष्ट हो गया था ॥१२॥

कोयले से पानी के काले हो जाने के कारण उससे मुँह धोने पर उसका मुँह भी वैसा ही (काला) हो गया। उसे देखकर सभी लोग मुस्कराने लगे ॥१३॥

नासिकारोपण की कथा

अग्निकुम्भ की कथा तुमने सुनी, अब नासिकारोपण की कथा सुनो। कहीं कोई जड़बुद्धि पुरुष रहता था ॥१४॥

उसने अपनी स्त्री को चिपटी नाकवाली और गुरु को उठी हुई लम्बी नाकवाला देखकर सोये हुए गुरु की नाक काटकर स्त्री के नाक में लगा देने की सोची। तदनन्तर, उसने स्त्री की नाक काटकर उसके स्थान पर गुरु की नाक काटकर रोप दी। किन्तु, गुरु की नाक उस पर जमी नहीं। इस प्रकार उसने गुरु और स्त्री दोनों को नकटा कर दिया। फलस्वरूप, जनता से तिरस्कार और हँसी उसने प्राप्त की ॥१५–१६॥

मूर्ख गड़ेरिये की कथा

अब एक पशुपाल (गड़ेरिये) की कथा सुनो। एक जंगल में महामूर्ख, किन्तु धनी एक गड़ेरिया रहता था। अनेक धूर्त, मित्रता करके उससे मिल गये ॥१७-१८॥

और, वे उससे बोले कि हमलोगों ने नगरनिवासी धनी की एक कन्या, तुम्हारे लिए माँगी है, उसके पिता ने उसे देना स्वीकार भी कर लिया है ॥१९॥

तच्छ्रुत्वा स ददौ तुष्टस्तेभ्योऽर्थं तं च ते पुनः।
विवाहस्तव सम्पन्न इत्यूचुर्दिवसैर्गतैः ॥२०॥
ततः स सुतरां तुष्टस्तेभ्यो भूरि धनं ददौ।
दिनैश्च तं वदन्ति स्म पुत्रो जातस्तवेति ते ॥२१॥
ननन्द तेन सर्वं च मूढस्तेभ्यः समर्प्य सः।
पुत्रं प्रत्युत्सुकोऽस्मीति प्रारोदीच्चापरेऽहनि ॥२२॥
रुदंश्चादत्त लोकस्य हासं धूर्तैः स वञ्चितः।
पशुभ्य इव संक्रान्तजडिमा पशुपालकः ॥२३॥

अलङ्कारलम्बककथा

पशुपालः श्रुतो देव शृण्वलङ्कारलम्बकम्।
ग्राम्यः कश्चित्खनन्भूमिं प्रापालङ्करणं महत् ॥२४॥
रात्रौ राजकुलाच्चौरैर्नीत्वा तत्र निवेशितम्।
यद्गृहीत्वा स तत्रैव भार्यां तेन व्यभूषयत् ॥२५॥
बबन्ध मेखलां मूर्ध्नि हारं च जघनस्थले।
नूपुरौ करयोस्तस्याः कर्णयोरपि कङ्कणौ ॥२६॥
हसद्भिः ख्यापितं लोकैर्बुद्ध्वा राजा जहार तत्।
तस्मात् स्वाभरणं तं तु पशुप्रायं मुमोच सः ॥२७॥

तूलविक्रयिणः कथा

उक्तोऽलङ्करणो देव शृणु वच्म्यथ तूलिकम्।
मूर्खः कश्चित् पुमांस्तूलविक्रयायापणं ययौ ॥२८॥
अशुद्धमिति तत्तस्य न जग्राहात्र कश्चन।
तावद्ददर्श तत्राग्नौ हेम निष्टप्तशोधितम् ॥२९॥
स्वर्णकारेण विक्रीतं गृहीतं ग्राहकेण च।
तद्दृष्ट्वाऽपि स तत्तूलमिच्छञ्शोधयितुं जडः ॥३०॥
अग्नौ चिक्षेप दग्धे च तस्मिँल्लोको जहास तम्।

खर्जूरीछेदककथा

श्रुतोऽयं तूलिको देव खर्जूरीछेदकं शृणु ॥३१॥

यह सुनकर उस मूर्ख ने, प्रसन्न होकर उन्हें बहुत धन दिया। तब कुछ दिन बीतने पर उन धूर्तों ने उससे कहा कि तुम्हारा विवाह हो गया। यह सुनकर वह मूर्ख अत्यन्त प्रसन्न हुआ और जो कुछ उसके पास था, सब उन्हें देकर, अब मैं पुत्र के लिए उत्सुक हूँ, ऐसा कहकर दूसरे ही दिन रोने लगा ॥२०-२२॥

पशुओं का पालन करने से जिसमें पशुता आ गई थी, ऐसा वह गड़ेरिया धूर्तों से ठगा जाकर लोगों के लिए हँसी का आधार बना ॥२३॥

अलंकारलम्बक की कथा

महाराज, पशुपाल की कथा सुनी, अब अलंकारलम्बक की कथा सुनो। किसी मूर्ख गँवार ने, भूमि खोदते-खोदते उसमें बहुत-से आभूषण पाये, जिन्हे चोरों ने रात को राजभवन से चुराकर वहाँ गाड़ दिया था। उसे पाते ही उसने अपनी स्त्री को वहीं ले जाकर सजाना प्रारम्भ किया। कमर की करधनी को उसने स्त्री के सिर पर बाँधा और हार को कमर में। पैरों की पायजेब हाथों में पहनाई और हाथों के कड़े उसके कानों में लटका दिये। यह देखकर हँसते हुए लोगों ने चारों ओर कोलाहल किया। राजा ने यह जानकर उसे पकड़वा लिया और उससे आभूषण ले लिये। अन्त में उसे महामूर्ख जानकर छोड़ दिया ॥२४–२७॥

मूर्ख रूईवाले की कथा

महाराज, अलंकारलम्बक की कथा तुमने सुनी। अब रूई बेचनेवाले की कथा सुनो। एक मूर्ख रूई बेचने के लिए बाजार में गया। यह रूई साफ नहीं है'—ऐसा कहकर किसी ने भी उसे नहीं खरीदा। तब रूईवाले ने एक सोनार की दूकान में देखा कि सुनार ने अशुद्ध सोने को तपाकर उसे शुद्ध करके बेच दिया और ग्राहक ने उसे खरीद लिया। यह देखकर उसने भी 'इसी प्रकार रूई को आग में शुद्ध करके बेचूँ, तो इसके अच्छे दाम मिलेंगे', ऐसा सोचकर उसने सारी रुई आग में झोंक दी। फलतः, रूई के जल जाने पर उसकी मूर्खता पर सभी हँसने लगे ॥२८-३०॥

खजूर काटनेवाले की कथा

यह तो रूई-शोधक की कथा हुई, अब खजूर काटनेवाले की कथा सुनो ॥३१॥

केचिन्मूर्खाः समाहूय न्ययोज्यन्ताधिकारिभिः।
ग्राम्या राजकुलादिष्टं खर्जूरानयनं प्रति ॥३२॥
ते दृष्ट्वैकां सुखग्राह्यां खर्जूरपतितां स्वतः।
खर्जूरीं तत्र खर्जूरीः सर्वा ग्रामे स्वकेऽच्छिनन् ॥३३॥
पतितास्ताश्च कलिताशेषखर्जूरसञ्चयाः।
उत्थाप्यारोपयामासुर्न चैषां सिद्ध्यति स्म तत् ॥३४॥
ततश्चानीतखर्जूरा आदृतारोपणेन ते।
खर्जूरीछेदनं बुद्ध्वा राज्ञा प्रत्युत दण्डिताः ॥३५॥

मूर्खमन्त्रिणः कथा

उक्तः खर्जूरहासोऽयं निध्यालोकनमुच्यते।
निधानदर्शी केनापि कोऽप्याजह्रे महीभुजा ॥३६॥
मा गात्क्वापि पलाय्यायमिति राजकुमन्त्रिणा।
नेत्रे तस्योदपाट्येतां निधानस्थानदर्शिनः ॥३७॥
भूलक्षणान्यपश्यन्तं गतावप्यगतौ समम्।
अन्धं दृष्ट्वा च तं मन्त्री स जडो जहसे जनैः ॥३८॥

लवणभक्षकस्य मूर्खस्य कथा

निधानालोकनं श्रुत्वा श्रूयतां लवणाशनम्।
बभूव गह्वरो ग्रामवासी कोऽपि जडः पुमान् ॥३९॥
स मित्रेण गृहं जातु नीतो नगरवासिना।
भोजितो लवणस्वादून्यन्नानि व्यञ्जनानि च ॥४०॥
केनेयं स्वादुतान्नादेरित्यपृच्छत्स गह्वरः।
प्राधान्याल्लवणेनेति तेनोचे सुहृदा तदा ॥४१॥
तदेव तर्हि भोक्तव्यमित्युक्त्वा लवणस्य सः।
पिष्टस्य मुष्टिमादाय प्रक्षिप्याभक्षयन्मुखे ॥४२॥
तच्चूर्णं तस्य दुर्बुद्धेरोष्ठौ श्मश्रूणि चालिपत्।
हसतस्तु जनस्यात्र मुखं धवलतां ययौ ॥४३॥

मूर्खगोदोहककथा

लवणाशी श्रुतो देव त्वया गोदोहकं शृणु।
ग्राम्यः कश्चिदभून्मुग्धो गौरेका तस्य चाभवत् ॥४४॥

राजा के आज्ञानुसार उसके कुछ अधिकारियों ने कुछ गँवारों को बुलाकर खजूर तोड़ लाने के लिए नियुक्त किया ॥३२॥

उन लोगों ने खजूर के एक पेड़ को गिरा देखकर और उसके खजूरों को विना कष्ट के पाने के योग्य समझकर, अपने गाँव के सभी खजूर के पेड़ काटकर गिरा दिये ॥३३॥

उन गिरे हुए वृक्षों के सारे खजूर एकत्र कर लेने पर वे उन वृक्षों को उठाकर फिर से रोपने लगे, किन्तु ऐसा न कर सके। तब राजा के पास खजूर लाने पर उनकी मूर्खता को सुनकर राजा ने सभी को दंड दिया ॥३४-३५॥

मूर्ख मन्त्री की कथा

खजूर लानेवालों का हास्य सुना। अब भूमि में गड़े धन को देखनेवाले की कथा सुनो। किसी राजा ने गड़ा हुआ धन बताने के लिए किसी ज्ञानी को कहीं से बुलवाया। किन्तु, राजा के मूर्ख मन्त्री ने सोचा कि यह कहीं भाग न जाय, इसलिए उसकी दोनों आँखें निकलवा लीं ॥३६-३७॥

तब वह ज्ञानी, भूमि के लक्षण देखने और चलने-फिरने में भी असमर्थ हो गया। उसे अन्धा देखकर सभी लोग हँसी करने लगे ॥३८॥

नमक खानेवाले की कथा

अब एक नमक खानेवाले की कथा सुनो।

किसी गाँव का रहनेवाला गह्वर नाम का एक वज्रमूर्ख पुरुष था। उसको किसी नागरिक मित्र ने, अपने घर लेजाकर खूब स्वादिष्ठ भोजन कराया ॥३९-४०॥

उस गह्वर ने, अपने मित्र से पूछा कि 'भोजन में इतना स्वाद किस कारण हुआ?' तब उसने कहा—'इसमें प्रधानता नमक की है' ॥४१॥

तब उस गँवार ने सोचा कि जब लवण से ही इतना स्वाद है, तो क्यों न केवल नमक ही खाया जाय। ऐसा सोचकर उसने मुट्ठी-भर नमक का चूर्ण मुंह में डाल लिया और खाने लगा ॥४२॥

उस नमक के चूर्ण से उस मूर्ख के ओठ, दाढ़ी और मूंछ सब भर गये और उसके श्वेत मुंह को देखकर लोगों के मुँह भी हँसी से श्वेत हो गये ॥४३॥

गाय दुहनेवाले की कथा

हे प्रभो, लवणाशी की कथा तुमने सुनी। अब गौ दुहनेवाले की कथा सुनो। एक गँवार ग्वाला था। उसके पास एक गाय थी ॥४४॥

सा च तस्यान्वहं धेनुः पयःपलशतं ददौ।
कदाचिच्चाभवत्तस्य प्रत्यासन्नः किलोत्सवः ॥४५॥
एकवारं ग्रहीष्यामि पयोऽस्याः प्राज्यमुत्सवे।
इति मूर्खः स नैवैतां मासमात्रं दुदोह गाम् ॥४६॥
प्राप्तोत्सवश्च यावत्तां दोग्धि तावत्पयोऽखिलम्।
तत्तस्याश्छिन्नमच्छिन्नं लोकस्य हसितं त्वभूत् ॥४७॥

मूर्खखल्वाटकथा

श्रुतो गोदोहको मूर्खः श्रूयतामपराविमौ।
खलतिस्ताम्रकुम्भाभशिराः कश्चित्पुमानभूत् ॥४८॥
वृक्षमूलोपविष्टं तं तरुणं कश्चिदैक्षत।
आगतोऽत्र कपित्थानि गृहीत्वा क्षुधितः पथा ॥४९॥
स कपित्थेन तत्तस्य क्रीडयाताडयच्छिरः।
खलतिः सोऽपि तत्सेहे न तस्योवाच किञ्चन ॥५०॥
ततोऽन्यैः क्रमशः सर्वैः स कपित्थैरताडयत्।
शिरस्तस्य स चातिष्ठत्तूष्णीं रक्ते स्रवत्यपि ॥५१॥
स च निष्फलतारुण्यकृतक्रीडाविचूर्णितैः।
विना कपित्थैः क्षुत्क्लान्तो ययौ मूर्खयुवा ततः ॥५२॥
कपित्थैः स्वादुभिः किं न सहे घातानिति ब्रुवन्।
स खल्वाटो गलद्रक्तशिरा मूर्खो ययौ गृहम् ॥५३॥
मूर्खसाम्राज्यबद्धेन पट्टेनेव वृतं शिरः।
रक्तेन तस्य तद्दृष्ट्वा हसति स्म न तत्र कः ॥५४॥
एवं देवोपहास्यत्वं लोके गच्छन्त्यबुद्धयः।
लभन्ते नार्थसिद्धिं च पूज्यन्ते तु सुबुद्धयः ॥५५॥
इति गोमुखतः श्रुत्वा मुग्धहासकथा इमाः।
नरवाहनदत्तः समुत्थाय व्यधिताह्निकम् ॥५६॥
निशागमे पुनस्तेन नियुक्तश्चोत्सुकेन सः।
गोमुखः कथयामास प्रज्ञानिष्ठामिमां कथाम् ॥५७॥

उसकी वह गाय प्रतिदिन पाँच सेर दूध देती थी। किसी समय उसके घर, एक उत्सव का समय निकट आया ॥४५॥

अब उत्सव के समय ही उसका रोककर इकट्ठा किया हुआ दूध एक साथ दुह लूँगा, यह सोचकर उसने एक महीना पहले से ही दूध दुहना छोड़ दिया ॥४६॥

उत्सव के दिन, जब वह दूध दुहने के लिए गया, तब उसकी गाय का दूध सूख चुका था। उसकी यह बात लोगों के लिए चिरकाल तक हँसी का कारण बन गई ॥४७॥

मूर्ख गंजे की कथा

मूर्ख ग्वाले की कथा सुनी, अब दूसरे दो मूर्खों की कथा सुनो। एक गंजा, ताँबे के समान लाल और चिकनी खोपड़ीवाला था। एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए उसे किसी जवान ने देखा जो भूखा होने के कारण कुछ कैथ लिये हुए उस मार्ग से जा रहा था ॥४८-४९॥

उसने यों ही हँसी में कैथ से उसके सिर पर प्रहार किया। गंजा उसे सहन कर गया और कुछ न बोला ॥५०॥

तब उस युवक ने, अपने पास के सभी कैथ उसके सिर पर खेल-खेल में दे मारे, खोपड़ी से रक्त बह जाने पर भी, गंजा चुप ही रहा ॥५१॥

वह युवक जवानी के मद में आकर और इस प्रकार के खेल में पड़कर सभी कैथों से हाथ धो बैठा और भूखा ही रह गया और वहाँ से चला गया ॥५२॥

उधर 'मीठे कैथों की चोट भी क्यों न सही जाय', 'इस प्रकार कहता हुआ वह गंजा भी सभी कैथों को लेकर अपने घर चला आया ॥५३॥

घर आकर उसने अपने सिर पर इस प्रकार पट्टी बाँधी, मानों मूर्खता के साम्राज्य की दीक्षा में उसे राजपट्ट बाँधा गया हो। बात खुलने पर वह लोगों के लिए हँसी का पात्र बन गया ॥५४॥

'हे महाराज, मूर्खजन इस प्रकार हँसी के पात्र बनते हैं और अपना कार्य भी सिद्ध नहीं कर पाते। तीक्ष्ण बुद्धिवाले अपनी बुद्धि के प्रभाव से संसार में पूजे जाते हैं' ॥५५॥

इस प्रकार मूर्खों की हास्य-कथाओं को गोमुख से सुनकर, नरवाहनदत्त ने उठकर दैनिक कृत्य (शौच, स्नान, सन्ध्या आदि) किया ॥५६॥

रात आने पर उत्सुक नरवाहनदत्त से पुनः प्रेरित होकर गोमुख ने, बुद्धिमानी की यह कहानी कही ॥५७॥

काककूर्ममृगाखूनां कथा[1]

अभूत्क्वापि वनोद्देशे महाञ्शाल्मलिपादपः।
उवास लघुपातीति काकतस्त्र कृतालयः ॥५८॥
स कदाचित् स्वनीडस्थो ददर्शात्र तरोरधः।
जालहस्तं सलगुडं रौद्रं पुरुषमागतम् ॥५९॥
ततः स वीक्षते यावत्काकस्तावद् वितत्य सः।
जालं भुवि विकीर्यात्र व्रीहींश्छन्नोऽभवत्पुमान् ॥६०॥
तावच्च चित्रग्रीवाख्यः पारावतपतिर्भ्रमन्।
तत्राजगाम नभसा पारावतशतैर्वृतः ॥६१॥
स व्रीहिप्रकरं दृष्ट्वा जालेऽत्राहारलिप्सया।
पतितः पाशनिकरैर्बद्धोऽभूत्सपरिच्छदः ॥६२॥
तद्दृष्ट्वा चानुगान् सर्वांश्चित्रग्रीवो जगाद सः।
गृहीत्वा चञ्चुभिर्जालं खमुत्पतत वेगतः ॥६३॥
ततस्तथेति ते जालमादयोत्पत्य वेगतः।
कपोता नभसा गन्तुं भीताः प्रारेभिरेऽखिलाः ॥६४॥
सोऽप्युत्थायोर्ध्वदृग्विग्नो लुब्धकः संन्यवर्त्तत।
निर्भयोऽथ जगादैतांश्चित्रग्रीवोऽनुयायिनः ॥६५॥
मन्मित्रस्य हिरण्यस्य मूषकस्यान्तिकं द्रुतम्।
व्रजामः स इमान्पाशांश्छित्त्वाऽस्मान् मोचयिष्यति ॥६६॥
इत्युक्त्वा सोऽनुगैः साकं गत्वा तैर्जालकर्षिभिः।
मूषकस्य बिलद्वारं प्राप्याकाशादवातरत् ॥६७॥
भो भो हिरण्य निर्याहि चित्रग्रीवोऽहमागतः।
इत्याजुहाव तं तत्र मूषकं स कपोतराट् ॥६८॥
स श्रुत्वा द्वारमार्गेण दृष्ट्वा तं चागतं तथा।
सुहृदं निर्ययावाखुस्तस्माच्छतमुखाद् बिलात् ॥६९॥

---

१. पञ्चतन्त्रस्य मित्रसम्प्राप्तिप्रकरणस्य मूलकथा। यथा—
असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाखुवत् ॥
इत्येषा कथात्र वर्णिता ॥

कौआ, कछुआ, मृग और चूहे की कथा[1]

किसी वन में एक ओर विशाल सेमल का वृक्ष था। उसमें लघुपाती[2] नाम का एक कौआ घोंसला बनाकर रहता था ॥५८॥

किसी समय अपने घोंसले में बैठे हुए उसने वृक्ष के नीचे, हाथ में जाल और लाठी लिये हुए एक भयानक पुरुष (बहेलिये) को जाते देखा ॥५९॥

जबतक वह देख ही रहा था कि इतने में वह बहेलिया जाल बिछाकर और वहाँ दाने छींट-कर वहीं छिप गया ॥६०॥

इतने में ही चित्रग्रीव नाम का कबूतरों का सरदार, सैकड़ों कबूतरों के साथ, आकाश में भ्रमण करता हुआ, उधर आ निकला ॥६१॥

जाल में फैले हुए पर्याप्त अन्न-बीजों को देखकर वह अपने साथियों के सहित उस जाल पर उतर आया और अपने साथियों के साथ ही उसमें फँस गया ॥६२॥

सब कबूतरों को फँसा हुआ देखकर उनका राजा चित्रग्रीव उनसे बोला—'तुम लोग अपनी-अपनी चोंचों से जाल को पकड़कर वेग में आकाश में उड़ चलो' ॥६३॥

उसकी आज्ञा को स्वीकार करके सभी कबूतर जाल को लेकर कुछ डरते हुए आकाश में उड़ने लगे ॥६४॥

यह देखकर घबराया हुआ वह बहेलिया, ऊपर की ओर आँखें किया हुआ उठा और वहाँ से निराश लौट गया ॥६५॥

तब निर्भय होकर चित्रग्रीव ने अपने साथी कबूतरों से कहा—'चलो, अपने मित्र हिरण्यक चूहे के पास चलें। वह हमारे इन जालों को काटकर हमें मुक्त कर देगा ॥६६॥

ऐसा कहकर और जाल को लेकर उड़ते हुए वे चित्रग्रीव के मित्र चूहे के बिल के पास पहुँचकर आकाश से उतरे ॥६७॥

'ऐ हिरण्यक, निकल आओ। मैं चित्रग्रीव आया हूँ।' ऐसा कहकर कपोतराज ने उस चूहे को आवाज दी ॥६८॥

चूहा यह सुनकर और द्वार के मार्ग से अपने मित्र को आया हुआ देखकर, सौ मुँहवाले अपने उस बिल से बाहर निकल आया ॥६९॥

---

१. यहाँ से पंचतन्त्र का मित्रलाभ-प्रकरण प्रारम्भ होता है, जिसका प्रारम्भ श्लोक इस प्रकार है—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाखुवत्॥

२. पंचतन्त्र और हितोपदेश में इसका नाम लघुपतनक है।

उपेत्य पृष्ट्वा वृत्तान्तं सम्भ्रमात् सोऽपि मूषकः।
पारावतपतेः पाशान् सानुगस्याच्छिनत् सुहृत् ॥७०॥
छिन्नपाशस्तमामन्त्र्य मूषकं वचनैः प्रियैः।
चित्रग्रीवः खमुत्पत्य ययौ सोऽनुचरैः सह ॥७१॥
अन्वागतः स काकोऽत्र लघुपाती विलोक्य तत्।
बिलप्रविष्टं तद्द्वारमागत्योवाच मूषकम् ॥७२॥
लघुपातीति काकोऽहं दृष्ट्वा त्वां मित्रवत्सलम्।
मित्रत्वाय वृणोमीदृग्विपदुद्धरणक्षमम् ॥७३॥
तच्छ्रुत्वाऽभ्यन्तराद्दृष्ट्वा मूषकस्तं स वायसम्।
जगाद गच्छ का मैत्री भक्ष्यभक्षकयोरिति ॥७४॥
ततः स वायसोऽवादीच्छान्तं भुक्ते मम त्वयि।
तृप्तिः क्षणं स्यान्मित्रे तु शश्वज्जीवितरक्षणम् ॥७५॥
इत्याद्युक्त्वा सशपथं कृत्वाश्वासं च तेन सः।
निर्गतेनाऽकरोत्सख्यमाखुना सह वायसः ॥७६॥
स मांसपेशीरानैषीदाखुः शालिकणानपि।
एकत्र सह भुञ्जानौ तस्थतुस्तावुभौ सुखम् ॥७७॥
एकदा स च काकस्तं मित्रं मूषकमब्रवीत्।
इतोऽविदूरे मित्रास्ति वनमध्यगता नदी ॥७८॥
तस्यां मन्थरको नाम कूर्मश्चास्ति सुहृन्मम।
तदर्थं यामि तत्स्थानं सुप्रापामिषभोजनम् ॥७९॥
कृच्छ्रात्प्राप्य इहाहारो नित्यं व्याधभयं च मे।
इत्युक्तवन्तं तं काकं मूषकोऽपि जगाद सः ॥८०॥
सहैव तर्हि वत्स्यामो नय तत्रैव मामपि।
ममाप्यस्तीह निर्वेदो वक्ष्ये तत्रैव तं च ते ॥८१॥
इति वादिनमादाय चञ्च्वा तं स हिरण्यकम्।
नभसा लघुपाती तद्ययौ वननदीतटम् ॥८२॥
मिलित्वा सह कूर्मेण तत्र मन्थरकेण सः।
कृतातिथ्येन मित्रेण स तस्थौ मूषकान्वितः ॥८३॥
कथान्तरे च कूर्माय तस्मै स्वागमकारणम्।
हिरण्यसख्यवृत्तान्तयुक्तं काकः शशंस सः ॥८४॥

उनके पास आकर सब वृत्तान्त पूछकर उस सहृदय चूहे ने, चित्रग्रीव और उसके साथियों के जाल काट दिये ॥७०॥

जाल कट जाने पर, अपने स्नेहपूर्ण मीठे शब्दों से, चित्रग्रीव ने, उस चूहे को धन्यवाद दिया और अपने अनुचरों के साथ आकाश में उड़ गया ॥७१॥

जाल में फंसे कबूतरों के पीछे आया हुआ लघुपाती नाम का कौआ, यह सब देख रहा था। वह बिल में गये हुए चूहे के पास आकर कहने लगा—'मैं लघुपाती नाम का कौआ हूँ। तुम्हें मित्रस्नेही देखकर, विपत्ति से मित्रों का उद्धार करनेवाले तुमसे मित्रता करना चाहता हूँ' ॥७२-७३॥

यह सुनकर बिल के अन्दर से ही कौए को देखकर चूहा बोला—'जा। तू मेरा भक्षक है और मैं तेरा भक्ष्य हूँ। मेरी-तेरी मित्रता कैसी?' ॥७४॥

तब वह कौआ बोला—'ऐसा न कहो। तुम्हें खा लेने पर तो क्षण-भर की तृप्ति होगी और तुम्हारी मित्रता में सदा के लिए रक्षा होगी' ॥७५॥

इस प्रकार की बातें कहकर और शपथपूर्वक विश्वास दिलाकर कहा गया चूहा बिल से बाहर निकला और उस कौए ने उसके साथ मित्रता कर ली ॥७६॥

तब वह चूहा उसके लिए मांस के टुकड़े लाया और चावल के दाने भी। तब दोनों ने मिलकर वहाँ भोजन किया और सुखपूर्वक बैठकर वार्त्तालाप किया ॥७७॥

एक बार वह कौआ मित्र चूहे से बोला—'मित्र, यहाँ समीप ही वन के मध्य में एक नदी है। उस नदी में मेरा मित्र मन्थर नाम का कछुआ है। उसके लिए मैं वहाँ जा रहा हूँ। वहाँ मेरे लिए आमिष-भोजन सुलभ है ॥७८-७९॥

यहाँ रहने से मांस का आहार पाकर भी, मुझे बहेलियों का भय सदा ही बना रहता है।' ऐसा कहते हुए कौए से चूहा बोला ॥८०॥

'यदि ऐसा है, तो हम लोग साथ ही रहेंगे। मुझे भी यहाँ से कुछ वैराग्य हो गया है। इसका कारण वहीं चलकर कहूँगा ॥८१॥

वह लघुपाती कौआ, इस प्रकार कहते हुए हिरण्यक को अपनी चोंच में लेकर आकाश में उड़ गया और उसे उस वन-नदी के तीर पर ले गया ॥८२॥

वहाँ अपने मित्र मन्थर से मिलकर, और उसका आतिथ्य स्वीकार करके चूहे के साथ वह वहीं रहने लगा ॥८३॥

बातचीत के प्रसंग में कौए ने, अपने आने का कारण उसे बताया और हिरण्यक चूहे की त्रिमता क कारण भी उस कछुए से कहा ॥८४॥

ततः स कूर्मस्तं कृत्वा मित्रं वायससंस्तुतम्।
देशनिर्वासनिर्वेदहेतुं पप्रच्छ मूषकम् ॥८५॥
ततो हिरण्यः स तयोरुभयोः काककूर्मयोः।
शृण्वतोर्निजवृत्तान्तकथामेतामवर्णयत् ॥८६॥

मस्करीमूषकयोः कथा

अहं महाबिले तत्र नगरासन्नवर्तिनि।
वसन्राजकुलाद्धारमानीयास्थापयं निशि ॥८७॥
दृश्यमानेन हारेण तेन जातौजसं च माम्।
समर्थमन्नाहरणे मूषकाः पर्यवारयन् ॥८८॥
अत्रान्तरे च तत्रासीत्कश्चिदस्मद्बिलान्तिके।
परिव्राण्मठिकां कृत्वा नानाभिक्षान्नवृत्तिकः ॥८९॥
स भुक्तशेषं भिक्षान्नं नक्तं स्थापयति स्म तत्।
भिक्षाभाण्डस्थमुल्लम्ब्य शङ्कौ[1] प्रातर्जिघत्सया[2] ॥९०॥
सुप्तस्यात्र च तस्याहं बिलेनान्तः प्रविश्य तत्।
दत्तोर्ध्वझम्पो[3] निःशेषमन्नेषं प्रतियामिनि ॥९१॥
कदाचित्तत्र तस्यागात्सुहृत् प्रव्राजकोऽपरः।
भुक्तोत्तरं समं तेन कथां रात्रौ स चाकरोत् ॥९२॥
तावन्नेतुं प्रवृत्तेऽन्नं मयि जर्जरकेण सः।
प्रव्राडवादयद्दत्तकर्णस्तद्भाण्डकं मुहुः ॥९३॥
कथामाच्छिद्य किमिदं करोषीति स तेन च।
आगन्तुना परिव्राजा पृष्टः प्रव्राट् तमब्रवीत् ॥९४॥
इह मे मूषकः शत्रुरुत्पन्नोऽथ सदैव यः।
अपि दूरस्थमुत्प्लुत्य नयत्यन्नमितो मम ॥९५॥
तं त्रासयामि चलयञ्जर्जरेणान्नभाजनम्।
इत्युक्तवन्तं प्रव्राजं परिव्राट् सोऽपरोऽब्रवीत् ॥९६॥
लोभो नामैष जन्तूनां दोषायात्र कथां शृणु।
तीर्थान्यहं भ्रमन् प्रापमेकं नगरमेकदा ॥९७॥

---

१. लोहकीलके लम्बयित्वा। २. प्रातः खादितुमिच्छया। ३. कूर्दनं कृत्वा।

तब मन्थर ने भी कौए से प्रशंसित चूहे से मित्रता करके उससे अपने स्थान से वैराग्य होने का कारण पूछा ॥८५॥

तब उन दोनों के सुनते रहने पर हिरण्यक चूहे ने अपना वृत्तान्त इस प्रकार उनसे कहा ॥८६॥

हिरण्यक चूहा और संन्यासी की कथा

एक बार मैं नगर के समीप बड़े बिल में रहता था। वहाँ रहता हुआ मैं राजा के भवन से एक हार ले आया और उसे अपने बिल में रख दिया ॥८७॥

उस हार को देख-देखकर बढ़े हुए बलवाले मुझे अन्न लाने में समर्थ जानकर दूसरे चूहों ने घेर लिया ॥८८॥

इसी बीच, मेरे बिल के पास एक संन्यासी मठ बनाकर रहने लगा। वह विभिन्न प्रकार के भोजन भिक्षा करके लाता था ॥८९॥

वह भिक्षु, भोजन से बचे हुए अन्न को प्रातःकाल खाने के लिए एक झोली में डालकर एक खूंटी में लटका देता था ॥९०॥

उसके सोये रहने पर मैं बिल के मार्ग से उसके अन्दर घुसकर और ऊँचे उछल-उछलकर प्रत्येक रात में उसका भोजन समाप्त कर देता था ॥९१॥

एक दिन उसके यहाँ उसका एक मित्र संन्यासी आ गया। वह संन्यासी अपने मित्र से बातचीत करने लगा ॥९२॥

तब तक अन्न खाने के लिए मेरे वहाँ पहुँचने पर वह संन्यासी फटे हुए बाँस का एक टुकड़ा लेकर और कान लगाकर उस भिक्षा के पात्र को वह बार-बार बजाने लगा ॥९३॥

बीच में बात को काटकर 'यह तुम क्या करते हो', इस प्रकार आये हुए मित्र द्वारा पूछे जाने पर वह संन्यासी उससे बोला—॥९४॥

'यहाँ एक चूहा मेरा शत्रु हो गया है, जो दूर ऊपर लटकाये हुए अन्न को भी उछल-उछलकर यहाँ से ले जाता है ॥९५॥

इस फटे बाँस से अन्न के बरतन को बार-बार बजाकर मैं उसे डराता हूँ।' इस प्रकार, कहते हुए उस साधु से दूसरा साधु बोला—'लोभ, प्राणियों के लिए महान् हानिकारक है। इस विषय में कथा सुनो।' मैं एक बार तीर्थों का भ्रमण करता हुआ एक नगर में गया ॥९६–९७॥

तत्र चैकस्य विप्रस्य निवासायाविशं गृहम्।
स्थिते मयि स विप्रश्च वदति स्म स्वगेहिनीम् ॥९८॥
कृसरं ब्राह्मणकृते पर्वण्यद्य पचेरिति।
कुतस्ते निर्धनस्यैतदित्यवोचच्च सापि तम् ॥९९॥
ततः स विप्रोऽवादीत्तां प्रिये कार्येऽपि सञ्चये।
नातिसञ्चयधीः कार्या शृणु चात्र कथामिमाम् ॥१००॥
वने क्वापि कृताखेटो व्याधो यन्त्रितसायकः।
प्रादाय मांसं धनुषि प्राधावत्सूकरं प्रति ॥१०१॥
तेनैव काण्डविद्धेन निहतः पोत्रविक्षतः[1]।
स व्यपद्यत तच्चात्र दूरादैक्षत जम्बुकः ॥१०२॥
स चागत्य क्षुधार्त्तोऽपि चिकीर्षुः सञ्चयाय तत्।
क्रोडव्याधामिषात् किञ्चिन्न चखादातिभूयसः ॥१०३॥
भोक्तुं प्रववृते तत्तु गत्वा धनुषि यत्स्थितम्।
तत्क्षणं चोच्चलद्यन्त्रशरविद्धो ममार सः ॥१०४॥
तन्नातिसञ्चयः कार्य इति तेन द्विजेन सा।
भार्योक्ता प्रतिपद्यैतत्तिलान् प्राक्षिपदातपे ॥१०५॥
प्रविष्टायां गृहं तस्यां प्राश्य श्वा तानदूषयत्।
ततो न कृसरानेतान्कश्चिन्मूल्यादिनाग्रहीत् ॥१०६॥
तदेवं नोपभोगाय लोभः क्लेशाय केवलम्।
इत्युक्त्वा पुनराह स्म प्रव्राडागन्तुकोऽथ सः ॥१०७॥
खनित्रमस्ति चेत्तन्मे दीयतां यावदद्य वः।
युक्त्या निवारयाम्येतं मूषकोत्थमुपद्रवम् ॥१०८॥
तच्छ्रुत्वा तन्निवासी स प्रव्राट् तस्मै खनित्रकम्।
ददावहं च च्छन्नस्थस्तद् दृष्ट्वा प्राविशं बिलम् ॥१०९॥
ततस्तेन खनित्रेण प्रव्राडागन्तुकोऽथ सः।
मत्सञ्चारबिलं वीक्ष्य प्रारेभे खनितुं शठः ॥११०॥
क्रमाच्च तावदखनत् पलायनपरे मयि।
यावत्तं प्राप तत्रस्थं हारं मे चान्यसञ्चयम् ॥१११॥
तेजसा तेन तस्याभूदाखोस्तत्तादृशं बलम्।
इत्याह स्थानिनं तं च प्रव्राजं मयि शृण्वति ॥११२॥

---

१. सूकरेण निहतः।

वहाँ निवास के लिए एक ब्राह्मण के घर पहुँचा। मेरे बैठने पर वह ब्राह्मण अपनी पत्नी से बोला—॥९८॥

'आज पर्व का दिन है, इसलिए ब्राह्मण के लिए खिचड़ी पकाओ।' तब उसकी पत्नी ने कहा 'तुम दरिद्र के यहाँ यह कहाँ?' यह सुनने पर उस ब्राह्मण ने पत्नी से फिर कहा—'प्रिये, संग्रह करने पर भी, अत्यन्त संग्रह करने की बुद्धि नहीं करनी चाहिए। इस विषय में कथा सुनो' ॥९९–१००॥

कहीं जंगल में एक बहेलिया, शिकार करके मांस लिये हुए, धनुष-बाण चढ़ाकर एक सूअर की ओर झपट पड़ा॥१०१॥

और, बाण से आहत सूअर के दाढ़े के अघात से वह स्वयं भी मर गया। दूर से एक सियार यह सब देख रहा था॥१०२॥

वह वहाँ आया और भूखा होने पर भी, भोजन का संग्रह करने की दृष्टि से उसने सूअर, बहेलिया आदि के प्रचुर परिमाणवाले मांसों को उसने नहीं चखा। उसने पहले धनुष में लगी चमड़े की डोरी को ही खाना प्रारम्भ किया। उसी समय धनुष के हिलने से उससे छूटे हुए बाण से, वह स्वयं बिधकर मर गया। इसलिए, अति संग्रह न करना चाहिए। ब्राह्मण के इस प्रकार कहने पर, उसकी पत्नी ने, तिलों को सूखने के लिए धूप में रख दिया। तब उसके घर के भीतर चले जाने पर कुत्ते ने, उसमें मुंह डालकर उन तिलों को भ्रष्ट कर दिया। तब उन तिलों को मूल्य देकर भी किसी ने नहीं खरीदा॥१०३–१०६॥

'इसलिए, लोभ से भोग नहीं किया जा सकता। वह तो केवल कष्ट देने के लिए ही होता है।' ऐसा कहकर आये हुए साधु ने उस साधु से कहा—'तुम्हारे पास कुदाल हो, तो मुझे दो। मैं आज ही तुम्हारे चूहे के इस उपद्रव को दूर कहता हूँ'। यह सुनकर मठ-निवासी साधु ने उसे कुदाल लाकर दी और छिपा हुआ मैं अपने बिल में घुस गया॥१०७–१०९॥

तब उस कुदाल को लेकर उस दुष्ट आगन्तुक साधु ने, मेरे आने-जाने के बिल को खोदना प्रारम्भ किया। मेरे भाग जाने पर उस दुष्ट ने क्रमशः वहाँतक खोद डाला, जहाँतक वह हार और अन्य धन-संग्रह उसे मिला। 'देखो मित्र, इसी धन के तेज से उस चूहे को इतना बल था कि उछलकर वह तुम्हारा भोजन खाता था।' ऐसा उसने मठवासी साधु से कहा और मैं सुन रहा था॥११०–११२॥

नीत्वा च तन्मे सर्वस्वं हारं मूर्ध्नि निधाय च।
आगन्तुस्थायिनौ हृष्टौ प्रव्राजौ स्वपतः स्म तौ ॥११३॥
प्रसुप्तयोस्तयोस्तं च हर्तुं मां पुनरागतम्।
प्रबुध्याताडयद्यष्ट्या प्रव्राट् स्थायी स मूर्ध्नि मे ॥११४॥
तेनाहं व्रणितो दैवान्न मृतो बिलमाविशम्।
भूयश्च शक्तिर्नाभून्मे तदन्नाहरणप्लवे ॥११५॥
अर्थो हि यौवनं पुंसां तदभावश्च वार्धकम्।
तेनास्योजो बलं रूपमुत्साहश्चापि हीयते ॥११६॥
अथात्ममात्रभरणे यत्नवन्तमवेक्ष्य माम्।
परित्यज्य गतः सर्वः स मूषकपरिच्छदः ॥११७॥
अवृत्तिके प्रभुं भृत्या अपुष्पं भ्रमरास्तरुम्।
अजलं च सरो हंसा मुञ्चन्त्यपि चिरोषितम् ॥११८॥
इत्थं तत्र चिरोद्विग्नः सुहृदं लघुपातिनम्।
प्राप्यैतं कच्छपश्रेष्ठ त्वत्पार्श्वमहमागतः ॥११९॥
एवं हिरण्यकेनोक्ते कूर्मो मन्थरकोऽभ्यधात्।
स्वमेव स्थानमेतत्ते तन्मा मित्राधृतिं कृथाः ॥१२०॥
गुणिनो न विदेशोऽस्ति न सन्तुष्टस्य चासुखम्।
धीरस्य च विपन्नास्ति नासाध्यं व्यवसायिनः ॥१२१॥
इति तस्मिन् वदत्येव कूर्मे चित्राङ्गसंज्ञकः।
दूरतो व्याधवित्रस्तो मृगस्तद्वनमाययौ ॥१२२॥
तं दृष्ट्वा तस्य दृष्ट्वा च पश्चाद् व्याधमनागतम्।
आश्वासितेन तेनापि सख्यं कूर्मादयो व्यधुः ॥१२३॥
न्यवसंस्ते ततस्तत्र काककूर्ममृगाखवः।
परस्परोपचारेण सुखिताः सुहृदः समम् ॥१२४॥
एकदा क्वापि चित्राङ्गं चिरायातं तमीक्षितुम्।
आरुह्य तरुमैक्षिष्ट लघुपाती स तद्वनम् ॥१२५॥
ददर्श च नदीतीरे कीलपाशेन संयतम्।
चित्राङ्गमवरुह्यैतदवदच्चाखुकूर्मयोः ॥१२६॥
ततः सम्मन्त्र्य चञ्च्वा तं गृहीत्वाखुं हिरण्यकम्।
चित्राङ्गस्यान्तिकं तस्य लघुपाती निनाय सः ॥१२७॥

इस प्रकार, वह साधु मेरा सर्वस्व लेकर और हार को सिर पर रख लिया। तदनन्तर, दोनों साधु निश्चिन्त होकर सो गये ॥११३॥

उन दोनों के प्रसन्न होकर सो जाने पर भोजन चुराने के लिए पुनः आये हुए मुझे स्थायी साधु ने, जगकर छड़ी से मेरे सिर पर मारा ॥११४॥

उस प्रहार से आहत मैं बिल में भाग गया, किन्तु भाग्यवश मरा नहीं। उसके पश्चात्, मुझमें उछलकर उसके भोजन लेने की शक्ति नहीं रह गई ॥११५॥

धन ही पुरुषों का यौवन है और धन का अभाव ही बुढ़ापा है। धन के अभाव से मनुष्य का ओज, तेज, बल और रूप नष्ट हो जाता है ॥११६॥

तदनन्तर, केवल अपने पेट भरने का यत्न करने में ही किसी प्रकार समर्थ देखकर मेरे सभी साथी मुझे छोड़कर चले गये ॥११७॥

जीवन-निर्वाह न कर सकनेवाले स्वामी को सेवक, पुष्पहीन वृक्ष को भ्रमर, जल-रहित सरोवर को हंस, चिरकाल तक उसका आश्रय पाकर भी छोड़ देते हैं ॥११८॥

इस प्रकार, वहाँ बहुत समय से ऊबा हुआ मैं, इस लघुपाती कौए की मित्रता पाकर, हे कच्छपश्रेष्ठ, यहाँ तुम्हारे पास आ पहुँचा ॥११९॥

हिरण्यक के ऐसा कहने पर मन्थरक कछुआ बोला—'मित्र, यह तुम्हारा अपना ही स्थान है। अतः, तुम अधीर न होना ॥१२०॥

गुणी के लिए कोई विदेश नहीं है। सन्तोषी के लिए कोई दुःख नहीं। धैर्यशाली के लिए कोई विपत्ति नहीं और उद्योगी के लिए कोई कार्य असाध्य नहीं ॥१२१॥

कछुआ जब इस प्रकार कह ही रहा था कि बहेलिये से डरा हुआ चित्रांगद नाम का एक हिरण दूर से उस वन में आ पहुँचा ॥१२२॥

उसे देखकर और उसके पीछे बहेलिये को न आते देखकर उसे धीरज बँधाकर कौए, कछुए आदि मित्रों ने उसके साथ भी मित्रता कर ली ॥१२३॥

परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हुए, वे चारों सु-हृदय मित्र, सुखपूर्वक उस वन में साथ ही रहने लगे ॥१२४॥

एक बार बहुत देर तक चित्रांगद को न आते हुए देखकर, उसे देखने के लिए वह लघुपाती कौआ ऊँचे वृक्ष पर चढ़कर चारों ओर उस वन को देखने लगा ॥१२५॥

और, उसने नदी के एक किनारे पर कील और जाल में बँधे हुए चित्रांगद को देखा। आकर यह समाचार उसने चूहे तथा कछुए से कहा ॥१२६॥

तब आपस में विचार कर कौआ उस हिरण्यक चूहे को चोंच से पकड़कर बँधे हुए चित्रांगद के पास ले गया ॥१२७॥

हिरण्यकश्च तं बन्धविधुरं मूषको मृगम्।
क्षणादमुञ्चदाश्वास्य दशनच्छिन्नपाशकम् ॥१२८॥
तावन्मन्थरकोऽभ्येत्य नदीमध्येन कच्छपः।
आरुरोह तटं तेषां निकटं स सुहृत्प्रियः ॥१२९॥
तत्क्षणं स कुतोऽप्येत्य लुब्धकः पाशदायकः।
विद्रुतेषु मृगाद्येषु लब्ध्वा तं कूर्ममग्रहीत् ॥१३०॥
क्षिप्त्वा च जालकान्तस्तं यावन्नष्टमृगाकुलः।
स याति तावद्दृष्ट्वैतद् दीर्घदृश्वाखुवाक्यतः ॥१३१॥
मृगो गत्वा ततो दूरे पतित्वासीन्मृतो यथा।
काकस्तु मूर्ध्नि तस्यासीच्चक्षुषी पाटयन्निव ॥१३२॥
तद्दृष्ट्वा स गृहीतं तं व्याधो मत्वा मृगं मृतम्।
गन्तुं प्रववृते नद्यास्तटे कूर्मं निधाय तम् ॥१३३॥
यातं दृष्ट्वा तमभ्येत्य मूषकस्तस्य जालकम्।
कूर्मस्य सोऽच्छिनत्तेन मुक्तो नद्यां पपात सः ॥१३४॥
मृगोऽपि निकटीभूतं व्याधं वीक्ष्य विकच्छपम्।
उत्थाय स पलाय्यागात् काकोऽप्यारूढवांस्तरुम् ॥१३५॥
एत्य व्याधोऽत्र कूर्मं तं बन्धच्छेदपलायितम्।
अप्राप्योभयविभ्रष्टो दैवं शोचन्नगाद् गृहम् ॥१३६॥
ततो मिलन्ति स्मैकत्र हृष्टाः कूर्मादयोऽत्र ते।
मृगस्तु प्रीतिमानेवं कूर्मादीस्तानुवाच सः ॥१३७॥
पुण्यवानस्मि यत्प्राप्ता भवन्तः सुहृदो मया।
प्राणानुपेक्ष्य यैरेवं मृत्योरद्याहमुद्धृतः ॥१३८॥
एवं प्रशंसता तेन मृगेण सह तत्र ते।
अन्योन्यप्रीतिसुखिताः काककूर्माखवोऽवसन् ॥१३९॥
प्रज्ञया साधयन्त्येवं तिर्यञ्चोऽपि समीहितम्।
प्राणैरपि न मुञ्चन्ति तेऽप्येवं मित्रमापदि ॥१४०॥
एवं च श्रेयसी मित्रेष्वासक्तिर्नाङ्गनासु ताम्।
ईर्ष्याश्रयत्वाच्छंसन्ति तथा च श्रूयतां कथा ॥१४१॥

ईर्ष्यालुपुरुषस्य तस्य च दुष्टस्त्रियःकथा

नगरे क्वापि कोऽप्यासीदीर्ष्यावान्पुरुषः प्रभो।
बभूव तस्य भार्या च वल्लभा रूपशालिनी ॥१४२॥

तब हिरण्यक ने, जाल को दाँतों से काटकर क्षण-भर में जाल से बँधे हुए चित्रांगद को मुक्त कर दिया ॥१२८॥

तबतक नदी के मार्ग से आकर मन्थरक कछुआ भी उनके पास किनारे पर आकर मिल गया ॥१२९॥

उसी समय जाल बाँधनेवाले बहेलिये ने, आकर मृग, चूहे और कौए के भाग जाने पर उस कछुए को ही पकड़ लिया ॥१३०॥

हिरन के भागने से व्याकुल बहेलिये ने कछुए को जाल में रखकर, उसी से सन्तोष किया और घर की ओर चल पड़ा। उसके चलने पर दूरदर्शी हिरण्यक के परामर्शानुसार वह मृग, कुछ दूर जाकर और गिरकर मुर्दे के समान पड़ गया और कौआ उसके शिर पर बैठकर मानों उसकी आँखें निकालने लगा ॥१३१-१३२ ॥

बहेलिये ने, दूर से हिरन को मरा समझकर और कछुए को जाल-सहित नदी के किनारे रखकर मृग को लेने का प्रयत्न किया ॥१३३॥

उसे दूसरी ओर जाते हुए देखकर चूहे ने जाल काटकर कछुए को मुक्त कर दिया और वह नदी में कूद पड़ा ॥१३४॥

हिरन भी कच्छप को रखकर आते हुए बहेलिये को देखकर छलांग मारकर भागा और कौआ उड़कर वृक्ष पर बैठ गया ॥१३५॥

उधर से निराश लौटकर आये हुए बहेलिये ने, जाल काटकर भागे हुए कछुए को भी न पाकर, दोनों ओर से हताश होकर अपने भाग्य को कोसा और अन्त में वह अपने घर चला गया ॥१३६॥

तब वे चारों मित्र, फिर आपस में मिले और प्रेमी मृग उनसे बोला— -॥१३७॥

मैं भाग्यवान् हूँ कि आपलोग जैसे सच्चे और सहृदय मित्र मुझे मिले, जिन्होंने अपने प्राणों की भी परवाह न करके मुझे मौत के पंजे से उबार लिया ॥१३८॥

'इस प्रकार, उस हिरन से प्रशंसित वे चारों मित्र कौआ, कछुआ, चूहा और हिरण उस वन में परस्पर प्रेम के साथ सुखी होकर रहने लगे ॥१३९॥

इस प्रकार पशु भी, बुद्धि से अपना कार्य सिद्ध कर लेते हैं। वे भी अपने प्राणों की चिन्ता न करके आपत्ति के समय मित्र को नहीं छोड़ते ॥१४०॥

मित्रों मे परस्पर ऐसी आसक्ति, कल्याणकारी होती है; किन्तु यह ईर्ष्या के कारण स्त्रियों में प्रशंसनीय नहीं होती। इस सम्बन्ध में कथा सुनो, ॥१४१॥

ईर्ष्यालु पुरुष और उसकी दुष्टा स्त्री की कथा

किसी नगर में कोई ईर्ष्यालु पुरुष था। उसकी स्त्री बहुत रूपवती थी और उसे बहुत प्यारी थी ॥१४२॥

अविश्वस्तो न तां जातु मुमोचैकाकिनीं च सः।
तस्या हि शीलविभ्रंशं चित्रस्थेभ्योऽप्यशङ्कत ॥१४३॥
केनाप्यवश्यकार्येण कदाचित्स पुमानथ।
सहैवादाय तां भार्यां प्रतस्थे विषयान्तरम् ॥१४४॥
मार्गे सभिल्लामटवीमग्रे दृष्ट्वा स तद्भयात्।
स्थापयित्वा गृहे ग्राम्यवृद्धविप्रस्य तां ययौ ॥१४५॥
तत्र स्थिता च सा दृष्ट्वा भिल्लांस्तेनागतान्पथा।
एकेन यूना भिल्लेन सह धृष्टा ययौ ततः ॥१४६॥
तेन युक्ता च तत्पल्लीं यथाकामं चचार सा।
उत्क्रान्तेर्ष्यालुपतिका भग्नसेतुरिवापगा ॥१४७॥
तावत्स तत्पतिः कृत्वा कार्यमागत्य तं द्विजम्।
ग्राम्यं ययाचे तां भार्यां सोऽपि विप्रो जगाद तम् ॥१४८॥
न जानेऽहं क्व याता सा जानाम्येतावदेव तु।
भिल्ला इहागता आसंस्तैः सा नीता भविष्यति ॥१४९॥
सा पल्ली निकटे चेह तत्तत्र व्रज सत्वरम्।
ततः प्राप्स्यसि तां भार्यामन्यथा मा मतिं कृथाः ॥१५०॥
इत्युक्तस्तेन स रुदन्निन्दन् बुद्धिविपर्ययम्।
जगाम भिल्लपल्लीं तां भार्यां तत्र ददर्श च ॥१५१॥
सापि दृष्ट्वा तमभ्येत्य पापा भीता तदाब्रवीत्।
न मे दोषोऽहमानीता भिल्लेनेह बलादिति ॥१५२॥
आयाहि तत्र गच्छावो यावत्कश्चिन्न पश्यति।
इति ब्रुवाणं रागान्धं तमुवाच पतिं च सा ॥१५३॥
तस्यागमनवेलेयं भिल्लस्याखेटगामिनः।
आगतश्चानुधाव्यैव हन्यात्त्वां मां च स ध्रुवम् ॥१५४॥
तत्प्रविश्य गुहामेतां प्रच्छन्नस्तिष्ठ सम्प्रति।
रात्रौ च सुप्तं हत्वा तं यास्यावो निर्भयावितः ॥१५५॥
एवं तयोक्तः शठया प्रविश्यासीद् गुहां स ताम्।
कोऽवकाशो विवेकस्य हृदि कामान्धचेतसः ॥१५६॥
साथ कुस्त्री गुहान्तःस्थमानीतं व्यसनेन तम्।
भिल्लायादर्शयत्तस्मा आगताय दिनात्यये ॥१५७॥

वह अविश्वासी पति उसे कभी अकेला नहीं छोड़ता था। वह चित्रस्थ पुरुषों से भी उसके चरित्र के पतन की आशंका करता था ॥१४३॥

एकबार किसी आवश्यक कार्य से वह पुरुष, पत्नी को साथ ही लेकर दूसरे देश को गया॥१४४॥

आगे के जंगली मार्ग में वह भीलों को देखकर भय से अपनी पत्नी को एक गाँव के बूढ़े ब्राह्मण के घर में रखकर उस जंगल में गया ॥१४५॥

उस ब्राह्मण के घर रहती हुई उस स्त्री ने उस मार्ग से भीलों को जाते हुए देखा और एक युवा भील के साथ वह निर्लज्ज स्त्री, ईर्ष्यालु पति को छोड़कर इस प्रकार निकल भागी, जैसे वेगवती नदी बाँध तोड़कर निकल जाती है ॥१४६-१४७॥

जब उसका पति, अपना कार्य समाप्त करके वहाँ आया, तब उसने उस ग्रामीण वृद्ध से अपनी स्त्री की माँग की ॥१४८॥

'मैं नहीं जानता कि वह कहाँ गई, इतना अवश्य है कि यहाँ कुछ भील आये थे, सम्भवत: वे ही उसे ले गये हों। भीलों का वह गाँव भी यहीं पास में है। शीघ्र जाओ। तुम्हें स्त्री मिलेगी। मेरे प्रति कुछ विपरीत बुद्धि न करो' ॥१४९-१५०॥

ब्राह्मण से इस प्रकार कहा गया वह रोता-कलपता और अपनी बुद्धि की निन्दा करता हुआ भीलों के गाँव में गया और वहाँ जाकर उसने अपनी पत्नी को भी देखा ॥१५१॥

वह पापिन स्त्री भी, उसे देखकर डरी हुई-सी उसके पास आकर बोली—'मेरा अपराध नहीं है। मुझे भील बलपूर्वक ले आया' ॥१५२॥

'चलो जबतक कोई देखता नहीं, वहाँ गाँव में चलें।' इस प्रकार कहते हुए उस प्रेमान्ध पति से वह बोली—॥१५३॥

'शिकार पर गये हुए उस भील के आने का समय हो गया है। आने पर वह पीछे दौड़कर मुझे और तुझे दोनों को मार डालेगा ॥१५४॥

इसलिए, इस गुफा में घुस कर बैठो। रात में सोये हुए उसे मारकर निडर होकर चलेंगे' ॥१५५॥

उस दुष्टा स्त्री से इस प्रकार कहा गया वह मूर्ख उसी गुफा में घुसकर बैठ गया; क्योंकि काम से अन्धे व्यक्ति के हृदय में विवेक के लिए स्थान नहीं होता ॥१५६॥

उस दुष्टा स्त्री ने, सायंकाल घर पर आये हुए उस भील को, दुर्व्यसन के कारण, आया हुआ अपना पति दिखा दिया ॥१५७॥

स च निष्कृष्य तं भिल्लः क्रूरकर्मा पराक्रमी।
प्रातर्देव्युपहारार्थं बबन्ध सुदृढं तरौ॥१५८॥
भुक्त्वा च पश्यतस्तस्य रात्रौ तद्भार्यया सह।
स समासेव्य सुरतं सुखं सुष्वाप तद्युतः॥१५९॥
तं दृष्ट्वा सुप्तमीर्ष्यालुः स पुमांस्तरुसंयतः।
चण्डीं स्तुतिभिरभ्यर्च्य ययौ शरणमार्त्तितः॥१६०॥
साविर्भूय वरं तस्मै तं ददौ येन तस्य सः।
तत्खड्गेनैव भिल्लस्य स्रस्तबन्धोऽच्छिनच्छिरः॥१६१॥
एहीदानीं हतः पापो मयायमिति सोऽथ ताम्।
प्रबोध्य भार्यां वक्ति स्म साप्युत्तस्थौ सुदुःखिता॥१६२॥
गृहीत्वा तस्य च शिरो भिल्लस्यालक्षितं निशि।
ततः प्रतस्थे कुस्त्री सा पत्या तेन सहैव च॥१६३॥
प्रातश्च नगरं प्राप्य दर्शयन्ती शिरोऽत्र तत्।
भर्त्ता हतो मेऽनेनेति चक्रन्दाक्रम्य तं पतिम्॥१६४॥
ततः स नीतस्तद्युक्तो राजाग्रे पुररक्षिभिः।
पृष्टस्तत्र यथावृत्तमीर्ष्यालुस्तदवर्णयत्॥१६५॥
राजाथ तत्त्वमन्विष्य च्छेदयामास कुस्त्रियः।
तस्याः कर्णौ च नासां च तत्पतिं च मुमोच तम्॥१६६॥
स मुक्तः स्वगृहं प्रायात्कुस्त्रीस्नेहग्रहोज्झितः।
एवं हि कुरुते देव योषिदीर्ष्यानियन्त्रिता॥१६७॥
शिक्षयन्त्यन्यपुरुषासङ्गमीर्ष्यैव हि स्त्रियः।
तदीर्ष्यामप्रकाश्यैव रक्ष्या नारी सुबुद्धिना॥१६८॥
रहस्यं च न वक्तव्यं वनितासु यथा तथा।
पुरुषेणेच्छता क्षेममत्र च श्रूयतां कथा॥१६९॥

नागगरुडयोः कथा

नागः कश्चित् पलाय्यासीत् कुत्रचिद् गणिकागृहे।
मानुषं रूपमास्थाय वैनतेयभयाद् भुवि॥१७०॥
गणिकाप्यग्रहीद् भाटिं सा हस्तिशतपञ्चकम्।
स्वप्रभावाच्च तत्तस्यै स नागः प्रत्यहं ददौ॥१७१॥
कुतोऽन्वहमियन्तस्ते हस्तिनो ब्रूहि को भवान्।
इति निर्बन्धतः साथ तं पप्रच्छ विलासिनी॥१७२॥

उस क्रूर और पराक्रमी भील ने उसे गुफा के बाहर निकालकर, प्रातःकाल देवी की बलि देने के लिए, एक पेड़ में कसकर बाँध दिया ॥१५८॥

और, भोजन करके रात में उसके देखते-ही-देखते उसकी स्त्री के साथ व्यभिचार किया। तदुपरान्त, उसे साथ लेकर आनन्द से सो गया ॥१५९॥

पेड़ से बँधे हुए उस ईर्ष्यालु पुरुष ने, उस भील को सोये हुए देखकर चंडी की स्तुति करके अत्यन्त दीन भाव से शरण की प्रार्थना की ॥१६०॥

चंडी ने प्रकट होकर उसे वरदान दिया, जिससे वह बंधनों से मुक्त हो गया। तदनन्तर, उसी की तलवार से ईर्ष्यालु ने भील का शिर काट दिया और अपनी स्त्री को जगाकर चलने के लिए कहने लगा। वह भी उठी और दुःख से उसके साथ जाने को तैयार हुई ॥१६१-१६२॥

वह दुष्टा, उस भील के कटे शिर को चुपके-से अपने संग लेकर पति के साथ चल पड़ी। रात के अँधेरे में वह ईर्ष्यालु अपनी दुष्ट स्त्री की यह चाल लख नहीं सका ॥१६३॥

प्रातःकाल किसी नगर में पहुँचकर वहाँ वह भील का शिर दिखाकर और पति को हत्यारा बताकर रोने-चिल्लाने लगी ॥१६४॥

तब नगर के रक्षक (सिपाही) इस स्त्री को उसके पति के साथ राजा के सामने ले गये। वहाँ पूछे जाने पर उसने सच्चा समाचार राजा को सुना दिया ॥१६५॥

तदनन्तर, उस देश के राजा ने, यथार्थ बात का पता लगाकर उस दुष्टा स्त्री के नाक-कान कटवा दिये और उसके पति को छोड़ दिया ॥१६६॥

वह उसका पति भी, उस दुष्ट स्त्री के स्नेह-रूपी ग्रह से छूटकर किसी प्रकार अपने घर आया। 'महाराज, ईर्ष्या से पागल स्त्री इस प्रकार के कांड कर डालती है ॥१६७॥

पुरुष की यह ईर्ष्या ही स्त्री को पर पुरुष का संग कराना सिखाती है। इसलिए, ईर्ष्या को छिपाकर ही बुद्धिमान् पुरुष को नारी की रक्षा करनी चाहिए ॥१६८॥

और अपना भला चाहनेवाले पुरुष को अपनी गुप्त बात कदापि स्त्री से प्रकट नहीं करनी चाहिए।' इस विषय पर एक कथा सुनो ॥१६९॥

नाग और गरुड की कथा

कहीं पर एक नाग, मनुष्य का रूप धारण करके, गरुड के भय से भागकर भूमि पर आकर किसी वेश्या के घर में रहता था ॥१७०॥

वेश्या ने उससे प्रतिदिन का मूल्य पाँच सौ हाथी माँगा। वह नाग भी, अपने प्रभाव से उसे प्रति दिन पाँच सौ हाथी देता था ॥१७१॥

एकबार उस वेश्या ने नाग से बड़े ही आग्रह के साथ पूछा कि 'तुम्हें प्रति दिन इतने हाथी 'कहाँ से मिलते हैं, सच बताओ और यह भी कहो कि तुम कौन हो?' ॥१७२॥

मा वोचः कस्यचित्तार्क्ष्यभयादेवमिह स्थितः।
नागोऽहमिति वक्ति स्म सोऽपि तां मारमोहितः॥१७३॥
सा तद्रहसि कुट्टन्यै शशंस गणिका ततः।
अथ तार्क्ष्यो जगच्चिन्वन्नत्रागात् पुरुषाकृतिः॥१७४॥
उपेत्य कुट्टनीं तां च जगाद त्वत्सुतागृहे।
अहमद्य वसाम्यार्ये भाटिर्मे गृह्यतामिति॥१७५॥
इह नागः स्थितो नित्यमिभपञ्चशतीं ददत्।
तत्किमेकाहभाट्येति कुट्टन्यपि जगाद तम्॥१७६॥
ततः स गरुडो नागं तत्र स्थितमवेत्य तम्।
विवेशातिथिरूपेण तद्वारवनितागृहम्॥१७७॥
तत्र प्रासादपृष्ठस्थं नागं तमवलोक्य सः।
प्रकाश्यात्मानमुत्प्लुत्य जघान च जघास च॥१७८॥
अतो न कथयेत् प्राज्ञो रहस्यं स्त्रीष्वनर्गलम्।
इत्युक्त्वा गोमुखो मुग्धकथां पुनरवर्णयत्॥१७९॥

केशमूर्खकथा

ताम्रकुम्भोपमशिराः कोऽप्यासीत् खलतिः पुमान्।
स च मूर्खोऽर्थवांल्लोके लज्जते स्म कचैर्विना॥१८०॥
अथ धूर्तस्तमागत्य कोऽप्युवाचोपजीविकः।
एकोऽस्ति वैद्यो यो वेत्ति केशोत्पादनमौषधम्॥१८१॥
एतच्छ्रुत्वा तमाह स्म तमानयसि चेन्मम।
ततोऽहं तव दास्यामि धनं वैद्यस्य तस्य च॥१८२॥
एवमुक्तवतस्तस्य धनं भुक्त्वाचिरेण सः।
मुग्धस्यानीतवानेकं धूर्तो धूर्तचिकित्सकम्॥१८३॥
उपजीव्य चिरं सोऽपि खल्वाटं तं भिषक्छिरः।
अपास्य वेष्टनं युक्त्वा मुग्धायास्मायदर्शयत्॥१८४॥
तद्दृष्ट्वाप्यविमर्शः सन् वैद्यं केशार्थमौषधम्।
तं ययाचे स जडधीस्ततो वैद्योऽब्रवीत् स तम्॥१८५॥
खल्वाटः स्वयमन्यस्य जनयेयं कथं कचान्।
इति ते मूर्ख निर्लोम दर्शितं स्वशिरो मया॥१८६॥
तथापि त्वं न वेत्स्येव धिगित्युक्त्वा ययौ भिषक्।
एवं देव सदा धूर्ताः क्रीडन्ति जडबुद्धिभिः॥१८७॥

'किसी से कहना नहीं, गरुड़ के भय से यहाँ ठहरा हुआ मैं नाग हूँ।' काम-मोहित उस नाग ने इस प्रकार अपना रहस्य उसे बता दिया ॥१७३॥

तब उस वेश्या ने, यह बात एकान्त में अपनी माँ (कुट्टनी) से कह दी। कुछ दिनों के पश्चात् दैवयोग से पुरुष के वेश में, नागों को ढूँढ़ता हुआ गरुड भी वहाँ आ पहुँचा और कुट्टनी के पास जाकर बोला कि आज मैं तुम्हारी बेटी के पास रहना चाहता हूँ, मुझसे मूल्य ले लो ॥१७४-१७५॥

कुट्टनी ने उससे कहा–'यहाँ एक नाग रहता है, जो प्रतिदिन पाँच सौ हाथी देता है। तो एक दिन के मूल्य का क्या होता है'॥१७६॥

तब गरुड ने, वहाँ पर ठहरे हुए उस नाग को जानकर अतिथि के रूप में वेश्या के घर में प्रवेश किया ॥१७७॥

वहाँ भवन के ऊपर बैठे हुए नाग को उसने देखा और अपने को प्रकट कर वह उछला और उस नाग को मारकर खा गया ॥१७८॥

'इसलिए, बुद्धिमान् व्यक्ति निरंकुश होकर स्त्रियों को कोई भी अपना गुप्त भेद न बतावे' ऐसा कहकर गोमुख ने फिर मूर्खों की कथा कहनी प्रारम्भ की। ॥१७९॥

केशमूर्ख की कथा

एक गंजा ताम्रघट (ताँबे के घड़े) के पेंदे के समान सपाट शिरवाला था। किन्तु वह मूर्ख धनी था और शिर पर केश न होने के कारण समाज में लज्जित होता था ॥१८०॥

कुछ दिनों के पश्चात् उसका एक धूर्त अनुजीवी आकर उससे बोला—'एक वैद्य हैं, जो केशों को उत्पन्न करने की ओषधि जानता है' ॥१८१॥

यह सुनकर वह गंजा धनी बोला—'यदि तुम उस ओषधि को मुझे ला दो, तो मैं तुम्हें और वैद्य को भी धन दूंगा' ॥१८२॥

यह सुनकर चिरकाल तक उसका धन खाकर वह धूर्त उसके लिए एक धूर्त वैद्य को ले आया ॥१८३॥

बहुत दिनों तक उस मूर्ख का धन खाकर उस धूर्त वैद्य ने, किसी युक्ति से अपनी पगड़ी हटाकर उस मूर्ख को अपना भी गंजा शिर दिखलाया ॥१८४॥

वैद्य को गंजा देखकर भी उस मूर्ख ने उससे केश उगाने की ओषधि माँगी। तब वैद्य ने उस मूर्ख से कहा—'मैं स्वयं गंजा, दूसरों के शिर पर केश कैसे उगा सकता हूँ। हे मूर्ख, इसीलिए तुझे मैंने अपना गंजा शिर दिखाया था ॥१८५-१८६॥

तब भी तुम नहीं समझ रहे हो, धिक्कार है तुम्हें।' इस प्रकार कहकर वह वैद्य चला गया। 'हे स्वामिन्, धूर्त लोग इसी प्रकार मूर्खों से खेला करते हैं' ॥१८७॥

तैलमुग्धकथा

एवं श्रुतः केशमुग्धस्तैलमुग्धो निशम्यताम्।
मुग्धोऽभूत् पुरुषः कश्चिद् भृत्यः शिष्टस्य कस्यचित् ॥१८८॥
स तेन स्वामिना तैलमानेतुं वणिजोऽन्तिकम्।
प्रेषितो जातु तत्तस्मात् पात्रे तैलमुपाददे ॥१८९॥
तैलपात्रं गृहीत्वा तदागच्छंस्तत्र केनचित्।
ऊचे मित्रेण रक्षेदं तैलपात्रं स्रवत्यधः ॥१९०॥
तच्छ्रुत्वा वीक्षितुमधः पात्रं तत्पर्यवर्त्तयत्।
स मूढस्तेन तत्सर्वं तैलं तस्यापतद् भुवि ॥१९१॥
तद्बुध्वा लोकहास्योऽसौ निरस्तः स्वामिना गृहात्।
तस्मात् स्वबुद्धिर्मुग्धस्य वरं न त्वनुशासनम् ॥१९२॥

अस्थिमुग्धकथा

तैलमुग्धः श्रुतस्तावदस्थिमुग्धो निशम्यताम्।
अभून्मूर्खः पुमान् कश्चिद् भार्याऽभूत्तस्य चामती ॥१९३॥
सा तस्मिन्नेकदा पत्यौ कार्याद्देशान्तरं गते।
दत्तकर्त्तव्यशिक्षां स्वामाप्तां कर्मकरीं गृहे ॥१९४॥
अनन्यदासीं संस्थाप्य निर्गत्यैवान्ततस्ततः।
ययावुपपतेर्गेहं निरर्गलसुखेच्छया ॥१९५॥
अथागतं तत्पतिं सा स्थितशिक्षाश्रुगद्गदम्।
कर्मकर्यभवद् भार्या मृता दग्धा च सा तव ॥१९६॥
इत्युक्त्वा सा श्मशानं च नीत्वा तस्मायदर्शयत्।
अस्थीन्यन्यचितास्थानि तान्यादाय रुदंश्च सः ॥१९७॥
कृतोदकोऽथ तीर्थेषु प्रक्षिप्यास्थीनि तानि च।
प्रावर्त्तत स भार्यायास्तस्याः श्राद्धविधौ जडः ॥१९८॥
सद्विप्र इत्युपानीतं कर्मकर्या तयैव च।
तमेव भार्योपपतिं श्राद्धविप्रं चकार सः ॥१९९॥
तेनोपपतिना सार्धं तद्भार्याऽभ्येत्य तत्र सा।
उदारवेषा भुङ्क्ते स्म मृष्टान्नं मासि मासि तत् ॥२००॥
सतीधर्मप्रभावेण भार्या ते परलोकतः।
पश्यागत्य स्वयं भुङ्क्ते ब्राह्मणेन समं प्रभो ॥२०१॥

तैलमूर्ख की कथा

यह तो केशमूर्ख की कथा हुई अब तैलमूर्ख की कथा सुनो। किसी सज्जन के यहाँ एक मूर्ख सेवक था ॥१८८॥

उसे मालिक ने बनिये के पास तेल लाने के लिए भेजा। वह एक पात्र में बनिये से तेल लेकर चला ॥१८९॥

जब वह तैल का पात्र लेकर इधर आ रहा था, तब उसके किसी मित्र ने उससे कहा—'देखो, ध्यान दो। तेल का पात्र नीचे से चू रहा है' ॥१९०॥

यह सुनकर उसने नीचे का भाग देखने के लिए उस पात्र को उलटा दिया और सारा तेल भूमि पर गिर पड़ा ॥१९१॥

यह देखकर लोग उसे हँसने लगे और स्वामी ने भी उसे नौकरी से निकाल दिया। इसलिए, मूर्ख की अपनी बुद्धि ही अच्छी, उसे उपदेश न देना चाहिए ॥१९२॥

अस्थिमूर्ख की कथा

तैलमूर्ख की कथा सुनी, अब अस्थिमूर्ख की कथा सुनो। एक मूर्ख पुरुष था और उसकी स्त्री व्यभिचारिणी थी ॥१९३॥

एक बार वह मूर्ख किसी कार्यवश दूसरे देश को गया। तब उसकी दुष्टा स्त्री ने, अपने घर में काम करनेवाली सेविका को सिखा-पढ़ाकर अपना विश्वासी बना लिया और उसे सदा के लिए अपनी सेविका बनाकर अपने जार के साथ वह निश्चिन्तता-पूर्वक रमण करने लगी और उसके (दासी के) घर पर जा बैठी ॥१९४-१९५॥

कुछ समय पश्चात् घर आये हुए उसके पति को पहले से ही सिखाई-पढ़ाई हुई दासी ने आँसुओं के साथ गद्‌गद स्वर में कहा—'तुम्हारी पत्नी मर गई और फूंक भी दी गई।' ऐसा कहकर उसने उसे श्मशान में ले जाकर उसके दाहस्थान को दिखा दिया और दूसरे की एकत्र की हुई अस्थियाँ भी उसकी पत्नी की बताकर दिखा दीं। वह मूर्ख, उन हड्डियों को लेकर रोने लगा ॥१९६-१९७॥

तदनन्तर, उसका पिंड आदि कर्म करके और उसकी हड्डियों को किसी तीर्थ में प्रवाहित करके वह मूर्ख उसकी श्राद्ध-क्रिया में लग गया ॥१९८॥

उसी दासी से अच्छा सदाचारी ब्राह्मण कहकर लाये हुए पत्नी के जार को ही उसने श्राद्ध का ब्राह्मण बनाया और खिलाने लगा ॥१९९॥

उसकी स्त्री भी प्रतिमास अपने यार के साथ आकर अपने पति के यहाँ बने सुन्दर पदार्थों का भोजन करती थी ॥२००॥

और वह दासी उस अस्थिमूर्ख से कहती थी—'स्वामिन्, आपकी पत्नी, सती-धर्म के प्रभाव से, परलोक से आकर ब्राह्मण के साथ बैठकर स्वयं तुम्हारे यहाँ भोजन करती है' ॥२०१॥

इति कर्मकरी सा तमवोचत् तत्पतिं यथा।
तथैव प्रतिपेदे तत्सर्वं मूर्खशिरोमणिः ॥२०२॥
वञ्च्यन्ते हेलयैवैवं कुस्त्रीभिः सरलाशयाः।
श्रुतोऽस्थिमुग्धश्चण्डालकन्यका श्रूयतां त्वया ॥२०३॥

चण्डालकन्या कथा

अभूद्रूपवती कापि मुग्धा चण्डालकन्यका।
सार्वभौमवरप्राप्तौ सङ्कल्पं हृदि साकरोत् ॥२०४॥
सा जातु दृष्ट्वा राजानं नगरभ्रमनिर्गतम्।
सर्वोत्तमं भर्त्तृबुद्धेरनुयातुं प्रचक्रमे ॥२०५॥
तावदागात् पथा तेन मुनिस्तस्य प्रणम्य सः।
पादौ गजावरूढः सन् राजा स्वभवनं ययौ ॥२०६॥
तद्दृष्ट्वा राजतोऽप्येनं विचिन्त्य मुनिमुत्तमम्।
चण्डालकन्या राजानं त्यक्त्वा सा मुनिमन्वगात् ॥२०७॥
मुनिः सोऽपि व्रजन् दृष्ट्वा शून्यमग्रे शिवालयम्।
न्यस्तजानुः क्षितौ तत्र शिवं नत्वा ययौ ततः ॥२०८॥
तद्वीक्ष्य सान्त्यजा मत्वा मुनेरप्युत्तमं शिवम्।
भर्त्तृबुद्ध्या मुनिं त्यक्त्वा देवं तत्रैव शिश्रिये ॥२०९॥
क्षणाच्चात्र प्रविश्य श्वा देवस्यारुह्य पीठिकाम्।
जङ्घामुत्क्षिप्य जातेर्यत्सदृशं तस्य तद्व्यधात् ॥२१०॥
तद्विलोक्यान्त्यजा मत्वा देवाच्छ्वानं तमुत्तमम्।
यान्तं तमेवान्वगात् सा त्यक्त्वा देवं पतीच्छया ॥२११॥
श्वा चागत्यैव चण्डालगृहं परिचितस्य सः।
चण्डालयूनः प्रणयाल्लुलोठैकस्य पादयोः ॥२१२॥
तदालोक्योत्तमं मत्वा शुनश्चाण्डालपुत्रकम्।
स्वजातितुष्टा वव्रे सा तमेव पतिमन्त्यजा ॥२१३॥
एवं कृतपदा दूरे पतन्ति स्वपदे जडाः।
एवं च मूर्खं राजानं संक्षेपादपरं शृणु ॥२१४॥

कृपणस्य राज्ञः कथा

मूर्खः कश्चिदभूद्राजा कृपणः कोषवानपि।
एकदा जगदुश्चैवं मन्त्रिणस्तं हितैषिणः ॥२१५॥
दानं हरति देवेह दुर्गतिं पारलौकिकीम्।
तद्देहि दानमायूंषि भङ्गुराणि धनानि च ॥२१६॥
तच्छ्रुत्वा स नृपोऽवादीत् दानं दास्याम्यहं तदा।
दुर्गतिं प्राप्तमात्मानं मृतो द्रक्ष्यामि चेदिति ॥२१७॥

वह मूर्खराज, यह सब सच मानकर प्रसन्न हो गया। इसी प्रकार, सीधे-सादे हृदयवाले लोग दुष्ट स्त्रियों द्वारा खेल-खेल में ही ठगे जाते हैं। 'महाराज, तुमने अस्थिमूर्ख की कथा सुनी, अब एक मूर्खा चंडाली की कथा सुनो' ॥२०२-२०३॥

मूर्खा चण्डालकन्या की कथा

एक मूर्ख और सुन्दरी चंडालकन्या थी। उसने सबसे बड़े पति की प्राप्ति के लिए मन में संकल्प किया ॥२०४॥

उसने किसी समय नगर-भ्रमण के लिए निकले राजा को देखकर उसे पति बनाने के लिए उसके पीछे चलना प्रारम्भ किया ॥२०५॥

इतने में ही उस मार्ग से एक मुनि आया। राजा उतरकर उसके चरणों में प्रणाम करके फिर हाथी पर सवार हो गया और चला गया ॥२०६॥

यह देखकर, उस मुनि को, राजा से भी, उत्तम समझकर, वह कन्या, उस मुनि के पीछे चल पड़ी ॥२०७॥

उस मुनि ने भी, मार्ग में आये हुए एक शिवालय को देखा, वहाँ भूमि पर घुटने टेककर शंकरजी को प्रणाम करके वह आगे की ओर चला ॥२०८॥

उस चंडालकन्या ने, उस मुनि से भी, शिवजी को उत्तम समझकर, मुनि को, छोड़ शिवलिंग को पकड़ लिया ॥२०९॥

कुछ ही समय पश्चात् वहाँ पर एक कुत्ते ने आकर और देवता के चबूतरे पर चढ़कर, टाँगें उठाकर अपनी जाति के स्वभाव का काम किया। (अर्थात्, शिवलिंग पर मूत्र-त्याग कर दिया) ॥२१०॥

यह देखकर उस चंडालिनी ने, कुत्ते को, शिवजी से भी उत्तम समझकर पति बनाने की इच्छा से उस कुत्ते का पीछा किया ॥२११॥

वह कुत्ता, अपने परिचित एक चंडाल के घर में घुसकर, एक युवा चंडाल के पैरों में प्रेम से लोटने लगा ॥२१२॥

यह देखकर वह चंडालकन्या, कुत्ते से भी अधिक अपनी जाति के चांडाल को बड़ा मान कर, अर्थात् उसे सब से बड़ा मानकर, पति बनाकर संतुष्ट हुई ॥२१३॥

गोमुख ने, नरवाहनदत्त से कहा—'स्वामिन्, इस प्रकार बहुत ऊँचे चढ़ने की चेष्टा करनेवाले मूर्ख फिर अपने ही स्थान पर आकर गिरते हैं। इसी प्रसंग में, एक मूर्ख कृपण राजा की कथा सुनो' ॥२१४॥

कृपण राजा की कथा

एक मूर्ख राजा था। वह धनवान् होते हुए भी अति कृपण था। एक बार उसके हितैषी मन्त्रियों ने उससे कहा—'स्वामिन्, इस लोक में किया गया दान परलोक की दुर्दशा को दूर करता है। इसलिए, दान दो; क्योंकि जीवन और धन दोनों नाशवान् हैं ॥२१५-२१६॥

यह सुनकर राजा कहने लगा कि 'मैं दान तब दूंगा, जब मरकर अपने को कष्ट में पड़ा हुआ देखूंगा' ॥२१७॥

ततश्चान्तर्हसन्तस्ते तूष्णीमासत मन्त्रिणः।
एवं नोज्झति मूढोऽर्थान् यावदर्थैः स नोज्झितः ॥२१८॥

मित्रयोः कथा

राजभीतः श्रुतो देव मध्ये मित्रद्वयं शृणु।
बभूव चन्द्रापीडाख्यः कान्यकुब्जे महीपतिः ॥२१९॥
तस्याभवच्च धवलमुखाख्यः कोऽपि सेवकः।
बहिर्भुक्त्वा च पीत्वा च सदैव प्राविशद् गृहम् ॥२२०॥
भुक्तपीतः कुतो नित्यमायासीति स भार्यया।
पृष्टः स जातु धवलमुखस्तामेवमभ्यधात् ॥२२१॥
सुहृत्पार्श्वादहं शश्वद् भुक्त्वा पीत्वा च सुन्दरि।
सदैवायामि येनास्ति लोके मित्रद्वयं मम ॥२२२॥
कल्याणवर्मनामैको भोजनाद्युपकारकृत्।
द्वितीयो वीरबाहुश्च प्राणैरप्युपकारकः ॥२२३॥
एवं श्रुत्वैव धवलमुखोऽसौ भार्यया तया।
ऊचे मित्रद्वयं तन्मे भवता दर्श्यतामिति ॥२२४॥
ततो ययौ स तद्युक्तस्तस्य कल्याणवर्मणः।
गृहं सोऽपि महार्हैस्तमुपचारैरुपाचरत् ॥२२५॥
अन्येद्युः स ययौ वीरबाहोर्भार्यायुतोऽन्तिकम्।
स च द्यूतस्थितः कृत्वा स्वागतं तं विसृष्टवान् ॥२२६॥
ततोऽब्रवीत् सा धवलमुखं भार्या सकौतुका।
कल्याणवर्मा महतीं सत्क्रियामकरोत्तव ॥२२७॥
कृतं स्वागतमात्रं तु भवतो वीरबाहुना।
तदार्यपुत्र तं मित्रं मन्यसेऽभ्यधिकं कथम् ॥२२८॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद् गच्छ मिथ्या तौ ब्रूह्युभौ क्रमात्।
राजा नः कुपितोऽकस्मात् ततो ज्ञास्यस्यथ स्वयम् ॥२२९॥
इत्युक्त्वा तेन गत्वैव सा तथेति तदैव तत्।
कल्याणवर्मणोऽवोचत्स श्रुत्वैव जगाद ताम् ॥२३०॥
भवत्यहं वणिक्पुत्रो ब्रूहि राज्ञः करोमि किम्।
इत्युक्ता तेन सा प्रायाद्वीरबाहोरथान्तिकम् ॥२३१॥
तस्मै तथैव साशंसद्राजकोपं स्वभर्तरि।
स श्रुत्वैवाययौ धावन् गृहीत्वा खड्गचर्मणी ॥२३२॥

तब यह सुनकर मन ही मन हँसते हुए मन्त्री लोग चुप बैठ गए। इस प्रकार, मूर्ख तबतक धन को नहीं छोड़ता, जबतक धन उसे नहीं छोड़ता ॥२१८॥

दो मित्रों की कथा

'महाराज, मूर्ख राजा की कथा सुनी। अब बीच में दो मूर्ख मित्रों की कथा सुनिए। कान्यकुब्ज देश में चन्द्रापीड नाम का एक राजा था ॥२१९॥

उसका धवलमुख नाम का एक सेवक था। वह सदा बाहर से ही खा-पीकर घर में आता था। एक दिन उसकी स्त्री ने उससे पूछा कि तुम प्रतिदिन बाहर कहाँ से खा-पीकर आते हो? तब धवलमुख ने कहा—'हे सुन्दरी, मैं सदा अपने मित्र के यहाँ से खा-पीकर आता हूँ। मेरे दो मित्र हैं ॥२२०—२२२॥

उनमें एक, कल्याणवर्मा नाम का मित्र सदा ही भोजन आदि से मेरा उपकार करता है। दूसरा, वीरबाहु नाम का मित्र है; जो अपने प्राणों से भी मेरा उपकार करता है ॥२२३॥

उसके इस प्रकार कहने पर उसकी स्त्री ने उससे कहा—'तुम उन दोनों मित्रों को मुझे दिखाओ' ॥२२४॥

तदनन्तर, वह धवलमुख, स्त्री के साथ कल्याणवर्मा के घर गया और उसने बहुमूल्य सामान से उनका स्वागत-सत्कार किया ॥२२५॥

तब दूसरे दिन, धवलमुख, अपनी पत्नी के साथ वीरबाहु के पास गया। जूआ खेलते हुए उसने धवलमुख और उसकी स्त्री का साधारण स्वागत करके उसे विदा कर दिया ॥२२६॥

तब धवलमुख की स्त्री ने उससे आश्चर्य के साथ कहा—'कल्याणवर्मा ने तो तुम्हारा बहुत आतिथ्य-सत्कार किया ॥२२७॥

किन्तु, वीरबाहु ने बहुत साधारण स्वागत किया। इसलिए, तुम वीरबाहु को कल्याणवर्मा से अधिक स्वागत-सत्कार करनेवाला (प्राण देनेवाला) क्यों मानते हो?' ॥२२८॥

यह सुनकर, धवलमुख अपनी पत्नी से बोला कि तू जाकर, योंही उनकी परीक्षा लेने की दृष्टि से उन दोनों से कह दे कि 'राजा अकस्मात् ही हमारे लिए क्रुद्ध हो गया है।' उसके बाद स्वयं ही तुझे सब मालूम हो जायगा ॥२२९॥

धवलमुख से इस प्रकार कही गई उसकी स्त्री ने वैसे ही जाकर उसके दोनों मित्रों से कह दिया ॥२३०॥

उसने पहले कल्याणवर्मा से कहा, तो वह सुनते ही कहने लगा—'मैं बनिया का पुत्र हूँ। तुम्हीं बताओ, मैं राजा का क्या करूँ?' उससे इस प्रकार कही गई वह स्त्री उसके बाद वीरबाहु के पास गई ॥२३१॥

उससे भी उसने उसी प्रकार पति से राजा के अप्रसन्न होने की बात कही। यह सुनते ही वीरबाहु, ढाल-तलवार लेकर दौड़ता हुआ धवलमुख के पास आया ॥२३२॥

मन्त्रिभिर्वारितः कोपाद्राजासौ तद्व्रजेति तम्।
वीरबाहुं स धवलमुखोऽथ प्राहिणोद् गृहम्॥२३३॥
एवं तदन्तरं तन्वि मित्रयोरेतयोर्मम।
इति भार्याथ धवलमुखेनोक्ता तुतोष सा।२३४॥
इत्यन्यदुपचारेण मित्रमन्यत्तु सत्यतः।
तुल्येऽपि स्निग्धतायोगे तैलं तैलं घृतं घृतम्॥२३५॥
इत्याख्याय कथामेतां मन्त्री मुग्धकथाः क्रमात्।
नरवाहनदत्ताय गोमुखोऽकथयत्पुनः॥२३६॥

जलभीतमूर्खस्य कथा

कश्चिन्मुग्धोऽध्वगस्तीर्त्वा कृच्छ्रात्तृष्णातुरोऽटवीम्।
नदीं प्राप्यापि न पपौ वीक्षांचक्रे परं जलम्॥२३७॥
तृषितोऽपि पिबस्यम्भः किं नेत्युक्तोऽत्र केनचित्।
इयत्कथं पिबामीति मन्दबुद्धिरुवाच तम्॥२३८॥
किं दण्डयति राजा त्वां सर्वं पीतं न चेत्त्वया।
इति तेनोपहसितोऽप्यम्बु मुग्धः स नापिबत्॥२३९॥
एवं न शक्नुवन्तीह यद्यत्कर्त्तुमशेषतः।
यथाशक्ति न तस्यांशमपि कुर्वन्त्यबुद्धयः॥२४०॥

पुत्रघातिनो मूर्खस्य कथा

जलभीतः श्रुतो देव श्रूयतां पुत्रघात्ययम्।
वहुपुत्रो दरिद्रश्च मूर्खः कश्चिदभूत् पुमान्॥२४१॥
स एकस्मिन्मृते पुत्रे द्वितीयमवधीत् स्वयम्।
कथं बालोऽयमेकाकी पथि दूरे व्रजेदिति॥२४२॥
ततः स निन्द्यो हास्यश्च देशान्निर्वासितो जनैः।
एवं पशुश्च मूर्खश्च निर्विवेकमती समौ॥२४३॥

भ्रातृमूर्ख कथा

श्रुतस्त्वया पुत्रघाती भ्रातृभौतमिमं शृणु।
जनमध्ये कथाः कुर्वन् कोऽप्यासीत् क्वापि मुग्धधीः॥२४४॥
स भव्यं पुरुषं दूराद्दृष्ट्वा मूर्खोऽब्रवीदिदम्।
एष मे भवति भ्राता रिक्थमस्य हराम्यतः॥२४५॥
अहं तु कश्चिन्नैतस्य तेन नैतदृणं मम।
इत्युक्तवान् स मूढोऽत्र पाषाणानप्यहासयत्॥२४६॥
एवं मूढस्य मूढत्वं स्वार्थान्धस्यातिचित्रता।
भ्रातृभौतः श्रुतो देव ब्रह्मचारिसुतं शृणु॥२४७॥

तब धवलमुख ने वीरबाहु को यह कहकर शान्त किया और घर को लौटाया कि 'मंत्रियों ने समझाकर राजा का क्रोध शान्त कर दिया' ॥२३३॥

तब धवलमुख ने अपनी स्त्री से कहा—'प्यारी, तूने मेरे इन दोनों मित्रों का अन्तर देखा !' यह सुनकर उसकी स्त्री सन्तुष्ट हुई ॥२३४॥

इस प्रकार बाहरी शिष्टाचार (दिखावा) करनेवाले मित्र दूसरे होते हैं और सच्चे मित्र दूसरे। चिकनाहट समान होने पर भी तेल, तेल है, और घी, घी ही है ॥२३५॥

गोमुख मन्त्री इस प्रकार मूर्खों की कथा सुनाकर नरवाहनदत्त से फिर बोला ॥२३६॥

जलभीत मूर्ख की कथा

एक मूर्ख पथिक ने प्यास से व्याकुल हो, किसी प्रकार बीहड़ जंगल पार कर नदी के किनारे पहुँचकर भी पानी नहीं पिया और वह केवल जल की ओर ही देखता रहा ॥२३७॥

'प्यासे होकर भी पानी क्यों नहीं पी रहे हो?' किसी के इस प्रकार उससे पूछने पर वह मूर्ख बोला—'इतना पानी मैं कैसे पिऊँ' ? ॥२३८॥

'यदि तू सब पानी न पियेगा, तो क्या राजा तुझे दंड देगा ?' इस प्रकार उसके द्वारा मजाक करने पर भी उस मूर्ख ने पानी नही पिया ॥२३९॥

इस प्रकार जिस कार्य को सम्पूर्ण रूप से किया जा सकता है, उसे मूर्ख अंश मात्र भी नही कर पाते ॥२४०॥

पुत्रघाती मूर्ख की कथा

'इस प्रकार जलभीत मूर्ख की कथा सुनी, अब महाराज, पुत्रघाती की कथा सुनो। बहुत पुत्रोंवाला एक दरिद्री पुरुष था। उसने एक पुत्र के मरने पर, दूसरे पुत्र को, स्वयं मार डाला लोगों के पूछने पर कि 'तूने इस पुत्र को क्यों मार डाला?' उसने उत्तर दिया कि 'यह बच्चा अकेले कैसे रहता ? इसलिए, उसे दूसरा साथी भी दे दिया' ॥२४१-२४२॥

यह सुनकर उसकी निन्दा और हँसी करके लोगों ने उसे गाँव से निकाल दिया। इस प्रकार, विचारहीन पुरुष और पशु दोनों ही समान होते हैं ॥२४३॥

भ्रातृमूर्ख की कथा

'हे राजन्, तुमने पुत्रघाती की कथा सुनी, अब भ्रातृमूर्ख की कथा सुनो।' एक मूर्ख कुछ लोगों की मंडली में बैठकर बात कर रहा था। इतने में किसी अच्छे पुरुष को दूर से ही आते देखकर वह बोला—'यह मेरा भाई होता है।' इसका धन मैं हिस्सेदार के रूप में हरण करता हूँ। परन्तु इसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है'। ऐसा कहते हुए उस मूर्ख ने पत्थरों को भी हँसा दिया ॥२४४--२४६॥

'हे स्वामिन्, इस प्रकार मूर्ख की मूर्खता और स्वार्थ से अन्धे व्यक्ति की अति विचित्रता होती है। इस प्रकार आपने भ्रातृमूर्ख की कथा सुनी। अब ब्रह्मचारी के पुत्र की कथा सुनो ॥२४७॥

ब्रह्मचारि पुत्रस्य कथा

कश्चित् पितृगुणाख्यानप्रवृत्तसखिमध्यगः।
मुग्धः स्वपितुरुत्कर्षं वर्णयन्नेवमभ्यधात् ॥२४८॥
आबाल्याद्ब्रह्मचारी मे पिता नान्योऽस्ति तत्समः।
तच्छ्रुत्वा त्वं कुतो जात इति तं सुहृदोऽब्रुवन् ॥२४९॥
मानसोऽहं सुतस्तस्येत्येवं पुनरपि ब्रुवन्।
विशेषतो विहसितः स तैर्जडशिरोमणिः ॥२५०॥
अत्यारूढं वदन्त्येवमसम्बद्धं जडाशयाः।
ब्रह्मचारिसुतं श्रुत्वा श्रूयतां गणकोऽप्ययम् ॥२५१॥

मूर्खज्योतिर्विदः कथा

बभूव नाम गणकः कश्चिद्विज्ञानवर्जितः।
स भार्यापुत्रसहितः स्वदेशावृत्त्यभावतः ॥२५२॥
गत्वा देशान्तरं चैवं मिथ्याविज्ञानमात्मनः।
कृतकप्रत्ययेनार्थपूजां प्राप्तमदर्शयत् ॥२५३॥
परिष्वज्य सुतं बालं स तं सर्वजनाग्रतः।
रुरोद पृष्टश्च जनैरेवं पापो जगाद सः ॥२५४॥
भूतं भव्यं भविष्यच्च जानेऽहं तदयं शिशुः।
विपत्स्यते मे दिवसे सप्तमे तेन रोदिमि ॥२५५॥
इत्युक्त्वा तत्र विस्माप्य लोकं प्राप्तेऽह्नि सप्तमे।
प्रत्यूष एव सुप्तं च स व्यापादितवान् सुतम् ॥२५६॥
दृष्ट्वाथ तं मृतं बालं सञ्जातप्रत्ययैर्जनैः।
पूजितो धनमासाद्य स्वदेशं स्वैरमाययौ ॥२५७॥
इत्यर्थलोभान् मिथ्यैव विज्ञानख्यापनेच्छवः।
मूर्खाः पुत्रमपि घ्नन्ति न रज्येत्तेषु बुद्धिमान् ॥२५८॥

क्रोधिनो मूर्खस्य कथा

अयं च श्रूयतां मूर्खः क्रोधनः पुरुषः प्रभो।
बहिः स्थितस्य कस्यापि पुंसः कुत्रापि शृण्वतः ॥२५९॥
अभ्यन्तरे गुणान् कश्चिच्छशंस स्वजनाग्रतः।
तदा चैकोऽब्रवीत्तत्र सत्यं स गुणवान् सखे ॥२६०॥
किं तु द्वौ तस्य दोषौ स्तः साहसी क्रोधनश्च यत्।
इति वादिनमेवैतं बहिर्वर्त्ती निशम्य सः ॥२६१॥
पुमान् प्रविश्य सहसा वाससावेष्टयद् गले।
रे जाल्म साहसं किं मे क्रोधः कश्च मया कृतः ॥२६२॥

ब्रह्मचारी पुत्र की कथा

अपने-अपने पिताओं का व्याख्यान करते हुए मित्रों के बीच, एक मूर्ख अपने पिता की प्रशंसा करते हुए बोला—'मेरे पिता बालब्रह्मचारी हैं'। यह सुनकर उसके मित्र बोले –'तब तू किससे उत्पन्न हुआ?' 'मैं उनका मानसपुत्र हूँ'—ऐसा कहते हुए उस मूर्खराज ने, सबको खूब हँसाया ॥२४८—२५०॥

मूर्ख व्यक्ति इस प्रकार बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बोलते हैं। राजन्, तुमने ब्रह्मचारी के पुत्र को सुना, अब एक ज्योतिषी को भी सुनो ॥२५१॥

मूर्ख ज्योतिषी की कथा

एक अपढ़ ज्योतिषी था। जीविका के अभाव में वह अपनी स्त्री और पुत्र को साथ लेकर चल पड़ा। दूसरे देश में जाकर बनावटी विश्वास दिलाकर वह अपने धन और यश की डींग हाँकने लगा ॥२५२-२५३॥

एक बार बहुत लोगों के सामने, अपने लड़के को गोद में लिटाकर वह रोने लगा। लोगों के पूछने पर उस पापी ने कहा—॥२५४॥

'मैं भूत, वर्त्तमान और भविष्य ये तीनों काल जानता हूं। मेरा यह पुत्र आज से सातवें दिन मर जायगा। इसलिए रोता हूँ' ॥२५५॥

ऐसा कहकर और लोगों को आश्चर्य में डालकर, सातवाँ दिन आने पर, उसने प्रातः-काल ही सोये हुए अपने पुत्र को गला घोंटकर मार डाला ॥२५६॥

इस प्रकार बालक के मरने पर ज्योतिषी को त्रिकालदर्शी मानकर विश्वस्त जनता ने धन से उसकी पूजा की और वह इस प्रकार धन कमाकर, अपने घर आ गया ॥२५७॥

इस प्रकार धन के लोभ से झूठी पंडिताई का प्रचार करने के इच्छुक मूर्ख व्यक्ति, अपने पुत्र तक की हत्या कर डालते हैं। अतः, बुद्धिमान् पुरुष को उनसे स्नेह न करना चाहिए ॥२५८॥

क्रोधी मूर्ख की कथा

महाराज, एक और मूर्ख की कथा सुनो। एक पुरुष मूर्ख और अतिक्रोधी था। किसी पुरुष ने घर के भीतर में अपने एक व्यक्ति से बाहर से किसी के सुनते हुए उसके गुणों की प्रशंसा की। तब एक बोला—'यह ठीक है, किन्तु उसमें दो दोष हैं; क्योंकि वह बड़ा साहसी और क्रोधी है।' बाहर खड़े हुए उस क्रोधी ने, यह सुनकर और एकाएक अन्दर घुसकर, कहनेवाले उस पुरुष का गला उसके ही कपड़े से बाँधकर आक्षेप करते हुए कहा—'अरे जालिम, मेरा क्या साहस है और मैंने क्या क्रोध किया'? ॥२५९–२६३॥

इत्युवाच च साक्षेपं पुमान् क्रोधाग्निना ज्वलन्।
ततो हसन्तस्तत्रान्ये तमूचुः किं ब्रवीत्यदः ॥२६३॥
प्रत्यक्षदर्शितक्रोधसाहसोऽपि भवानिति।
एवं स्वदोषः प्रकटोऽप्यज्ञैर्देव न बुध्यते ॥२६४॥

एकस्य मूर्खराज्ञः कथा

इदानीं श्रूयतां मुग्धः कन्यावर्धयिता नृपः।
राजाभूत्कोऽपि कन्यैका सुरूपाजनि तस्य च ॥२६५॥
स वर्धयितुकामस्तामतिस्नेहेन सत्वरम्।
वैद्यानानीय नृपतिः प्रीतिपूर्वमभाषत ॥२६६॥
सदौषधप्रयोगं तं कञ्चित् कुरुत येन मे।
सुतैषा वर्धते शीघ्रं सद्भर्त्रे च प्रदीयते ॥२६७॥
तच्छ्रुत्वा तेऽब्रुवन्वैद्या उपजीवयितुं जडम्।
अस्त्यौषधमितो दूरात्तत्तु देशादवाप्यते ॥२६८॥
आनयामश्च यावत्तत्तावदेव सुता तव।
अदृश्या स्थापनीयैषा विधानं तत्र हीदृशम् ॥२६९॥
इत्युक्त्वा स्थापयामासुश्छन्नां ते तां नृपात्मजाम्।
संवत्सरानत्र बहूनौषधप्राप्तिशंसिनः ॥२७०॥
यौवनस्थां च तां प्राप्तामौषधेन प्रवर्धिताम्।
ब्रुवाणा दर्शयामासुः सुतां तस्मै महीभृते ॥२७१॥
सोऽपि तान्पूरयामास वैद्यांस्तुष्टो धनोच्चयैः।
इति व्याजाज्जडधियो धूर्तैर्भुज्यन्त ईश्वराः ॥२७२॥

मूर्खकृपणस्य कथा

अयं चाकर्ण्यतामर्धपणोपार्जितपण्डितः।
अभून्नगरवास्येकः पुमान् प्रज्ञाभिमानवान् ॥२७३॥
ग्रामवासी च तस्यैकः पुमान् संवत्सरावधि।
भृतकोवृत्त्यसन्तोषादापृच्छ्य स्वगृहं ययौ ॥२७४॥
गते तस्मिश्च पप्रच्छ भार्यां तन्वि गतः स ना।
त्वत्तः किञ्चिद गृहीत्वेति साप्यर्धपणमभ्यधात् ॥२७५॥
ततो दशपणान् कृत्वा पाथेयं स नदीतटे।
गत्वा स्वभृतकात्तस्मात्तमर्धपणमानयत् ॥२७६॥
तच्चार्थकौशलं शंसन् स ययौ लोकहास्यताम्।
एवं बहु क्षपयति स्वल्पस्यार्थे धनान्धधीः ॥२७७॥

तब हँसते हुए दूसरे लोगों ने कहा—'तू तो साहस और क्रोध दोनों ही एक साथ सामने दिखा रहा है।' इस प्रकार प्रत्यक्ष कार्य करते हुए भी मूर्ख, उसको नहीं समझते ॥२६३-२६४॥

एक मूर्ख राजा की कथा

अब कन्या को बढ़ानेवाले पिता की कहानी सुनो। एक राजा था, उसके यहाँ एक सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई ॥२६५॥

वह अत्यन्त स्नेह के कारण, शीघ्र ही उस कन्या को बड़ा करने के लिए उत्सुक था। उसने वैद्यों को बुलाकर उनसे प्रेमपूर्वक कहा ॥२६६॥

आप लोग ऐसी अच्छी ओषधि का प्रयोग कीजिए कि जिससे यह कन्या, शीघ्र ही बढ़ जाय और किसी अच्छे पति को दे दी जाय ॥२६७॥

यह सुनकर, वे वैद्य, उस मूर्ख राजा से धन ऐंठने के लिए बोले—'महाराज, दवा तो है; किन्तु वह यहाँ से दूर देशों में मिलती है ॥२६८॥

जबतक हमलोग उसे मँगाते हैं, तबतक यह कन्या अदृश्य (छिपाकर) रखी जाय। ओषधि का ऐसा ही विधान है' ॥२६९॥

ऐसा कहकर उन्होंने ओषधि-प्राप्ति की आशा में कन्या को अनेक वर्षों तक गुप्त रखा ॥२७०॥

जब कन्या यौवनावस्था में आ गई, तब उन्होंने उसे ओषधि से बढ़ी हुई बताकर राजा को दिखाया और उससे पर्याप्त धन ऐंठ लिया ॥२७१॥

राजा ने भी, उन वैद्यों को धन से भरपूर कर दिया। महाराज, ऐसे बहानों से, धूर्तजन, धनियों को खाते हैं ॥२७२॥

अधेले के लिए दस पैसे खर्च करनेवाले मूर्ख कंजूस की कथा

और भी, अधेले को प्राप्त करने में पंडित, एक मूर्ख की कथा सुनो। किसी नगर में अपने को बहुत चतुर माननेवाला एक मूर्ख था ॥२७३॥

उसके यहाँ गाँव के रहनेवाले एक पुरुष ने एक वर्ष तक नौकरी करके जीविका-निर्वाह न होने के कारण (वेतन न मिलने से) नौकरी छोड़ दी और वह अपने घर चला गया ॥२७४॥

उसके चले जाने पर उसने अपनी स्त्री से कहा—'वह तो गया, पर तुमसे कुछ ले तो नहीं गया? उसने कहा—'हाँ, एक अधेला ले गया है' ॥२७५॥

तब वह दस पैसे मार्ग-व्यय में खर्च करके, नदी किनारे उसके घर पर जाकर, अधेला उससे वसूल करके ले आया ॥२७६॥

और, लोगों के सामने अपनी आर्थिक चतुरता का वर्णन करता हुआ हँसी का पात्र बन गया ॥२७७॥

अभिज्ञानकर्तुः कथा

अथेदानीमभिज्ञानकर्त्ता च श्रूयतां प्रभो।
कस्यचिद्यानपात्रेण मूर्खस्य व्रजतोऽम्बुधौ ॥२७८॥
राजतं भाजनं हस्तादपतत्तज्जलान्तरे।
स तत्र मूर्खोऽभिज्ञानमावर्त्तादिकमग्रहीत् ॥२७९॥
आगच्छन्नुद्धरिष्यामि तदितोऽब्धिजलादिति।
पारं प्राप्याम्बुधेस्तीर्णो दृष्ट्वावर्त्तादि वारिणि ॥२८०॥
ममज्ज भाजनं प्राप्तुमभिज्ञानधिया मुहुः।
पृष्टश्चोक्ताशयः सोऽन्यैरुपाहस्यत धिक्कृतः ॥२८१॥

प्रतिमांसप्रदस्य कथा

एवं च शृणुतेदानीं प्रतिमांसप्रदं नृपम्।
मुग्धः कोऽपि नृपोऽपश्यत्प्रासादाद्द्वावथो नरौ ॥२८२॥
................................।
.... ॥२८३॥
तयोरेकेन च हृतं मांसं दृष्ट्वा महानसे।
पञ्च मांसपलान्यङ्गात्तस्य हर्त्तुर्व्यकर्त्तयत् ॥२८४॥
उत्कृत्तमांसं क्रन्दन्तं दृष्ट्वा तं पतितं भुवि।
जातानुकम्पो राजासौ प्रतीहारं समादिशत् ॥२८५॥
छिन्ने पञ्चपली मांसे नास्य शाम्यति सा व्यथा।
तदतोऽप्यधिकं मांसममुष्मै दीयतामिति ॥२८६॥
किं जीवति शिरश्छिन्नो दत्तैरुत शिरःशतैः।
दास्यामि देवेत्युक्त्वा स क्षत्ता गत्वाहसद्बहिः ॥२८७॥
तं समाश्वास्य वैद्येभ्यः कृत्तमांसं समर्पयत्।
एवं मूढप्रभुर्वेत्ति निग्रहं नाप्यनुग्रहम् ॥२८८॥

पुत्रान्तर काङ्क्षिणी कथा

इयं चाकर्ण्यतां मन्दा स्त्री पुत्रान्तरकाङ्क्षिणी।
एकपुत्रां स्त्रियं काञ्चिदन्यपुत्राभिकाङ्क्षया ॥२८९॥
पृच्छन्तीमब्रवीत् काचित्पाखण्डा क्षुद्रतापसी।
योऽयं पुत्रोऽस्ति ते बालस्तं हत्वा देवताबलिः ॥२९०॥
क्रियते चेत्ततोऽन्यस्ते निश्चितं जायते सुतः।
एवं तयोक्ता यावत्सा तत्तथाकर्त्तुमिच्छति ॥२९१॥
तावद् बुद्ध्वा हितान्या स्त्री वृद्धा तामवदद्रहः।
हंसि पापे सुतं जातमजातं प्राप्तुमिच्छसि ॥२९२॥

समुद्र की लहरों में निशान लगानेवाले की कथा

अब एक चिह्नकर्त्ता की कथा सुनो। समुद्री नाव से यात्रा करते हुए किसी मूर्ख का एक सोने का बरतन समुद्र में गिर गया। उस मूर्ख ने, वहाँ पर लहरों और जल के भँवरों पर मन-ही-मन निशान (चिह्न) लगा लिया और यह सोचा कि 'लौटते समय यहाँ से बरतन निकाल लूँगा।' जब वह उधर से लौटा, तब पानी में अपने चिह्नों का स्मरण करके बरतन निकालने के लिए समुद्र में कूद पड़ा। लोगों के पूछने पर अपना अभिप्राय बताने पर उसकी हँसी हुई और लोगों ने उसे मूर्ख बनाकर धिक्कारा ॥२७८—२८१॥

मांस के बदले में मांस देनेवाले राजा की कथा

अब बदले में मांस देनेवाले एक राजा की कथा सुनो। एक राजा ने महल से दो व्यक्तियों को देखा, उनमें एक ने रसोईघर से मांस चुरा लिया था। राजा ने आज्ञा देकर उसके शरीर से पाँच पल (२० तोला) मांस कटवा लिया। मांस काटने पर उसे रोते-विलखते और भूमि पर लोटते देखकर राजा को दया आ गई और उसने द्वारपाल को आज्ञा दी कि पाँच पल मांस काट लेने से इसकी वेदना शान्त नहीं हो रही है, इसलिए इसे एक पाव से अधिक मांस दे दो ॥२८२—२८६॥

'महाराज, गला काट लेने पर सौ गले देने पर भी क्या पुरुष फिर जी सकता है'—ऐसा कहकर बाहर जाकर और पेट पकड़कर द्वारपाल खूब हँसा ॥२८७॥

और, आश्वासन देकर उसे काटा हुआ मास लौटाकर वैद्यों को सौप दिया। सच है, मूर्ख राजा दंड देना और कृपा करना भी नहीं जानते ॥२८८॥

एक को मारकर दूसरा पुत्र चाहनेवाली स्त्री की कथा

अब दूसरा पुत्र चाहनेवाली मूर्ख स्त्री की कथा सुनो। एक पुत्र के रहने पर भी दूसरे पुत्र को चाहनेवाली और उसके लिए उपाय पूछनेवाली एक स्त्री को एक पाखंडिन नीच तपस्विनी ने कहा—'तुम्हारा जो जीवित बालक है, उसे मारकर यदि देवता की बलि दी जाय, तो निश्चित तुम्हारा दूसरा पुत्र होगा।' उसके इस प्रकार कहने पर जब वह स्त्री, वैसा ही करने को तैयार हुई, तब इस बात को जानकर उसकी हितैषीणी एक वृद्धा स्त्री ने एकान्त में उससे कहा—'अरी पापिन, जीवित पुत्र को तो मारना चाहती है और जो अभी हुआ नहीं, उसे जीवित रखना चाहती है! ॥२८९--२९२॥

यदि सोऽपि न जातस्ते ततस्त्वं किं करिष्यसि।
इत्यवार्यत सा पापादार्यया वृद्धया तया ॥२९३॥
एवं पतन्त्यकार्येषु शाकिनीसङ्गताः स्त्रियः।
वृद्धोपदेशेन तु ता रक्ष्यन्ते कृतयन्त्रणाः ॥२९४॥

मूर्ख सेवक कथा

अयमामलकानेता देवेदानीं निशम्यताम्।
कस्याप्यभूद् गृहस्थस्य भृत्यः कश्चन मुग्धधीः ॥२९५॥
समादिशद् गृहस्थस्तं भृत्यमामलकप्रियः।
गच्छारामात् सुमधुराण्यानयामलकानि मे ॥२९६॥
एकैकं दशनच्छेदेनास्वाद्यानीतवाञ्जडः।
आस्वाद्य मधुराण्येतान्यानीतानीक्षतां प्रभुः ॥२९७॥
सोऽब्रवीत्सोऽपि तान्यर्धोच्छिष्टान्यालोक्य कुत्सया।
जहौ गृहपतिस्तेन भृत्येनाबुद्धिना समम् ॥२९८॥
निष्प्रज्ञो नाशयत्येवं प्रभोरर्थमथात्मनः।
अन्तरा चात्र शृणुत भ्रातृद्वयकथामिमाम् ॥२९९॥

बन्धुद्वयस्य कथा

ब्राह्मणौ भ्रातरावास्तां पुरे पाटलिपुत्रके।
यज्ञसोम इति ज्येष्ठः कीर्त्तिसोमोऽस्य चानुजः ॥३००॥
पित्र्यं चाभूद्धनं भूरि तयोर्ब्राह्मणपुत्रयोः।
कीर्त्तिसोमो निजं भागं व्यवहारादवर्धयत् ॥३०१॥
यज्ञसोमस्तु भुञ्जानो ददच्चाप्यनयत्क्षयम्।
ततः स निर्धनीभूतो निजां भार्यामभाषत ॥३०२॥
प्रिये धनाढ्यो भूत्वाहमिदानीं निर्धनः कथम्।
वसामि मध्ये बन्धूनां तद्विदेशं श्रयावहे ॥३०३॥
पाथेयेन विना कुत्र याव इत्युदिते तया।
निर्बन्धं स यदा चक्रे तदा भार्या तमाह सा ॥३०४॥
अवश्यं यदि गन्तव्यं तद् गत्वा कीर्त्तिसोमतः।
मृगयस्व धनं किञ्चित् पाथेयमनुजादिति ॥३०५॥
ततो गत्वानुजं यावत् पाथेयं तं स मार्गति।
तावत्तदनुजः सोऽत्र जगदे भार्यया स्वया ॥३०६॥
क्षपितस्वधनायास्मै वयं दद्मः कुतः कियत्।
य एव हि दरिद्रः स्यात् स एवास्मान्भजिष्यति ॥३०७॥

यदि वह दूसरा पुत्र भी न हुआ, तो क्या करेगी (इस एकमात्र पुत्र से भी हाथ धो बैठेगी)।' इस प्रकार पुत्र का वध करती हुई उस मूर्ख स्त्री को, उस वृद्धा और भली स्त्री ने बचा दिया ॥२९३॥

इसी प्रकार शाकिनी (डाकिनी) आदि के चक्कर में पड़कर स्त्रियाँ नष्ट हो जाती हैं। और, वृद्धा स्त्रियों के नियन्त्रण और उपदेश से वे रक्षित होती हैं ॥२९४॥

एक मूर्खसेवक की कथा

स्वामिन्, अब आँवले लानेवाले की कथा सुनो। किसी धनी गृहस्थ का एक मूर्ख सेवक था। आँवलों के प्रेमी उस गृहस्थ ने सेवक से कहा—'जाओ, उद्यान से मीठे-मीठे आँवले ले आओ।' वह मूर्ख, एक-एक आँवले को दाँतों से काट-काटकर और चख-चख कर ले आया और बोला—'स्वामी, मैं एक-एक आँवले को चख-चखकर और मीठे-मेठे देखकर लाया हूँ' ॥२९५--२९७॥

स्वामी ने भी उन जूठे आँवलों को उस मूर्ख सेवक के साथ ही छोड़ दिया। (अर्थात्, आँवले फेंक दिये और सेवक को निकाल दिया) ॥२९८॥

इस प्रकार मूर्ख व्यक्ति, अपनी और अपने स्वामी की भी हानि करता है। इसी प्रसंग में दो भाइयों की कथा सुनो ॥२९९॥

दो बन्धुओं की कथा

पाटलिपुत्र नगर में दो भाई रहते थे। बड़ा यज्ञसोम और छोटा कीर्त्तिसोम था। उन दोनों भाइयों के पास पिता का बहुत धन था। दोनों ने, आपस में, पिता के धन का बँटवारा कर लिया था और कीर्त्तिसोम अपने धन को ब्याज-बट्टे में लगाकर बढ़ाता था। यज्ञसोम ने खा-पीकर और ले-देकर अपने धन को समाप्त कर दिया। तब निर्धन होने पर यज्ञसोम अपनी पत्नी से बोला—॥३००--३०२॥

'प्रिये, मैं निर्धन होकर भी इस समय अपने सगे-सम्बन्धियों में कैसे रहूँ। इसलिए चलो, कहीं दूसरे देश में चलें' ॥३०३॥

उसकी पत्नी ने कहा—'मार्ग में खाने-पीने आदि के व्यय के विना कैसे चलें।' उसके इस प्रकार कहने पर भी जब वह हठ करने लगा, तब उसकी पत्नी ने उससे कहा—'यदि जाना ही अवश्यक है, तो जाकर अपने छोटे भाई कीर्त्तिसोम से कुछ आवश्यक व्यय के लिए धन माँगो' ॥३०४--३०५॥

तब यज्ञसोम ने, जाकर कीर्त्तिसोम से मार्ग-व्यय के लिए कुछ धन माँगा, तो उसकी (कीर्त्तिसोम की) पत्नी ने उससे कहा—'अपना सब धन नष्ट कर देनेवाले इसे हम कहाँ से और कितना धन देंगे? जो भी निर्धन होजायगा, वही हमसे इस प्रकार धन माँगने लगेगा' ॥३०६-३०७॥

श्रुत्वैतत्कीर्तिसोमोऽसौ भ्रातृस्नेहान्वितोऽपि सन्।
नैच्छद्दातुं किमप्यस्मै कष्टा कुस्त्रीषु वश्यता ॥३०८॥
यज्ञसोमस्ततस्तूष्णीं गत्वा पत्न्यै निवेद्य तत्।
तया सह प्रस्थितवान् दैवैकशरणस्ततः ॥३०९॥
गच्छन् प्राप्तोऽटवीं दैवान्निगीर्णोऽजगरेण सः।
तद्भार्या च तदालोक्य चक्रन्द पतिता भुवि ॥३१०॥
किमाक्रन्दसि भद्रे त्वमिति मानुषभाषया।
सा तेनाजगरेणोक्ता ब्राह्मणी निजगाद तम् ॥३११॥
न क्रन्दामि कथं यस्मान् महासत्त्व मम त्वया।
दुःखिताया विदेशेऽद्य हा भिक्षाभाजनं हृतम् ॥३१२॥
तच्छ्रुत्वाजगरो वक्त्रादुद्गीर्यास्यै ददौ महत्।
स्वर्णपात्रं गृहाणेदं भिक्षाभाण्डमिति ब्रुवन् ॥३१३॥
को महाभाग भिक्षां मे दास्यत्यस्मिन् स्त्रिया इति।
उक्तस्तया सद्ब्राह्मण्या जगादाजगरश्च सः ॥३१४॥
न दास्यत्यर्थितो योऽत्र भिक्षां ते तस्य तत्क्षणम्।
शतधा यास्यति शिरः सत्यमेतद्वचो मम ॥३१५॥
तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी सा तमुवाचाजगरं सती।
यदेवं तत्त्वमेवात्र भर्तृभिक्षां प्रयच्छ मे ॥३१६॥
इत्युक्तमात्रे ब्राह्मण्या मत्वा सोऽजगरो मुखात्।
उज्जगाराक्षतं यज्ञसोमं जीवन्तमेव तम् ॥३१७॥
तमुद्गीर्यैव सपदि दिव्यः सोऽजगरः पुमान्।
परितुष्टश्च तौ हृष्टौ दम्पती निजगाद सः ॥३१८॥
अहं काञ्चनवेगाख्यो विद्याधरमहीपतिः।
सोऽहं गौतमशापेन प्राप्तोऽस्म्याजगरीं गतिम् ॥३१९॥
साध्वीसंवादपर्यन्तः स च शापो ममाभवत्।
इत्युक्त्वा हेमपात्रं च रत्नैरापूर्य तत्क्षणात् ॥३२०॥
विद्याधरेश्वरो हृष्टः खमुत्पत्य जगाम सः।
तौ चाययतुरादाय रत्नौघं दम्पती गृहम् ॥३२१॥
तत्रास्त यज्ञसोमोऽसावक्षयाप्तधनः सुखम्।
सत्त्वानुरूपं सर्वस्य धाता सर्वं प्रयच्छति ॥३२२॥

यह सुनकर उस कीर्तिसोम ने, भाई के स्नेह से देना चाहते हुए भी, स्त्री के भय से, उसे कुछ नहीं दिया। इस प्रकार, दुष्ट स्त्रियों के वश में होना भी कष्टप्रद ही होता है ॥३०८॥

तब यज्ञसोम ने यह सब समाचार पत्नी से कहा और ईश्वर की शरण होकर वह घर से निकल पड़ा ॥३०९॥

वह जाते हुए मार्ग में एक जंगल में पहुँचा, तो दैववश वहाँ उसे एक अजगर निगल गया। यह देखकर उसकी पत्नी भूमि में लोटकर रोने लगी ॥३१०॥

उसका रोना-धोना सुनकर अजगर मनुष्य की वाणी में उससे बोला—'हे भली स्त्री, तू इस प्रकार क्यों रो रही है ?' तब उस ब्राह्मणी ने कहा ॥३११॥

'हे महाप्राणी, मैं क्यों न रोऊँ, जब कि तूने विदेश में मुझ दुखिया का भिक्षापात्र ही हरण कर लिया ॥३१२॥

मुझ स्त्री को अब कौन भीख देगा'। उस सदाचारिणी ब्राह्मणी के इस प्रकार कहने पर अजगर ने अपने मुँह से उगलकर एक बड़ा-सा सोने का पात्र उसके आगे रख दिया और कहा—'यह ले भिक्षा-पात्र। माँगने पर जो भी व्यक्ति इस पात्र में दान नहीं देगा, उसके शिर के सैकड़ों टुकड़े हो जायेंगे। यह मेरी सत्य वाणी है' ॥३१३—३१५॥

तब वह सती ब्राह्मणी उस अजगर से बोली–'यदि ऐसा है, तो पहले तू ही इस पात्र में मुझे पति की भिक्षा दे' ॥३१६॥

उसके ऐसा कहते ही अजगर ने समूचे और जीवित यज्ञसोम को उगल दिया ॥३१७॥

उसे उगलते ही तुरन्त वह अजगर दिव्य पुरुष बन गया और प्रसन्न होकर उन दोनों (पति-पत्नी) से बोला—॥३१८॥

'मैं कांचनवेग नाम का विद्याधरों का राजा हूँ। मेरे इस शाप की अवधि सती स्त्री के संवाद तक थी। वह आज समाप्त हो गई। (अतः अब मैं पुनः अपने रूप में आ गया), ऐसा कहकर और उस सोने के पात्र को रत्नों से भरकर प्रसन्न विद्याधरराज, आकाश में उड़कर अपने लोक को चला गया। और, वे दम्पती रत्नों का पात्र लेकर अपने घर आ गये ॥३१९—३२१॥

घर आकर अक्षय धन पाया हुआ यज्ञसोम सुख से रहने लगा। विधाता सभी को उसके मन और बल के अनुसार देता है ॥३२२॥

मूर्खयोद्धुः कथा

श्रूयतां नापितस्यार्थी मुग्धोऽत्र च पुमानयम्।
कर्णाटः कोऽपि भूपं स्वं रणे शौर्यादितोषयत्॥३२३॥

स प्रसन्नो नृपस्तस्मायभीष्टं दत्तवान् वरम्।
तस्यैव नापितं वव्रे नपुंसकनिभो भटः॥३२४॥

सर्वश्चित्तप्रमाणेन सदसद्वाभिवाञ्छति।
न किञ्चिन्मार्गणं चेममुन्मुग्धं श्रृणुताधुना॥३२५॥

किञ्चिन्न याचकस्य मूर्खस्य कथा

कश्चित्पथि व्रजन् मूर्खः शकटस्थेन केनचित्।
ऊचे समं कुरुष्वैतच्छकटं मे मनागिति॥३२६॥

समं करोमि चेत्तन्मे किं ददासीति वादिनम्।
न किञ्चित्ते ददामीति शकटी निजगाद तम्॥३२७॥

ततः स मूर्खः शकटं समं कृत्वैव तस्य तत्।
तन्मे न किञ्चिद्देहीति तं ययाचे स चाहसत्॥३२८॥

इति देव सदैव हास्यभावं परिभावं च जनस्य निन्द्यतां च।
विपदास्पदतां च यान्ति मूढा इह सन्तस्तु भवन्ति पूजनीयाः॥३२९॥

एवं स गोमुखमुखोक्तकथाविनोदमेतन्निशम्य रजनौ सचिवैः समेतः।
विश्रान्तिहेतुमखिलस्य जगत्त्रयस्य निद्रामियाय नरवाहनदत्तदेवः॥३३०॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शक्तियशोलम्बके
पञ्चमस्तरङ्गः।

षष्ठस्तरङ्गः

नरवाहनदत्तकथा (पूर्वानुसृता)

ततः प्रातः समुत्थाय पितुर्वत्सेश्वरस्य सः।
नरवाहनदत्तोऽत्र दर्शनायान्तिकं ययौ॥१॥

तत्र पद्मावती देवी भ्रातरि स्वगृहात्ततः।
आगते मगधेशस्य तनये सिंहवर्मणि॥२॥

तत्स्वागतकथाप्रश्नप्रवादैर्दिवसे गते।
नरवाहनदत्तः स्वं भुक्त्वा मन्दिरमाययौ॥३॥

एक मूर्ख योद्धा की कथा

अब नापित के याचक की कथा सुनो। कर्णाट देश के एक वीर ने, युद्ध में शूरता दिखाकर अपने स्वामी राजा को प्रसन्न किया। उस राजा ने भी प्रसन्न होकर उससे इच्छित वर माँगने को कहा। उस नपुंसक योद्धा ने राजा से उसके नाई को वर में माँगा ॥३२३-३२४॥

प्रत्येक व्यक्ति अपने चित्त के प्रमाण से अपना भला या बुरा चाहता है। अब कुछ न माँगनेवाले मूर्ख की कथा सुनो ॥३२५॥

'कुछ न' माँगनेवाले मूर्ख की कथा

राह चलते हुए एक मूर्ख से गाड़ी पर बैठे हुए एक व्यक्ति ने कहा--'मेरी गाड़ी को कुछ बराबर कर दो' ॥३२६॥

उस मूर्ख ने कहा--'यदि मैं बराबर कर दूंगा, तो क्या देगा ?' तब गाड़ीवाले ने कहा--'कुछ नही दूंगा।' तब उस मूर्ख ने 'मुझे कुछ न दो', इस प्रकार कहकर गाड़ी को ठीक कर दिया और 'कुछ न दो' माँगा। तब गाड़ीवान हँसने लगा ॥३२७-३२८॥

'स्वामिन्, मूर्खजन इस प्रकार सदा हँसी के पात्र, तिरस्कृत, निन्दनीय और विपत्तियों के शिकार होते रहते हैं और बुद्धिमान् समाज में सम्मान पाते हैं' ॥३२९॥

इस प्रकार, गोमुख के मुँह से कही गई कथाओं के विनोद को मन्त्रियों के साथ सुनकर युवराज नरवाहनदत्त रात में समस्त संसार को विश्राम देनेवाली नींद में सो गया ॥३३०॥

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शक्तियश लम्बक का
पंचम तरंग समाप्त

षष्ठ तरंग

नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत)

रात बीतने पर प्रातःकाल नरवाहनदत्त उठकर पिता वत्सराज (उदयन) के दर्शन के लिए उनके पास गया ॥१॥

वहाँ महारानी पद्मावती के भाई और मगधराज (प्रद्योत) के पुत्र सिंहवर्मा के आने पर उसके स्वागत, कुशल-प्रश्न तथा अन्यान्य वार्तालाप में दिन व्यतीत होने पर नरवाहनदत्त भोजन करके अपने भवन में आया ॥२-३॥

तत्र शक्तियशः सोत्कं तं विनोदयितुं निशि।
ततः स गोमुखो धीमानिमामकथयत् कथाम् ॥४॥

काकोलूकीयकथा

बभूव क्वापि सच्छायो महान्न्यग्रोधपादपः।
शकुन्तशब्दैः पथिकान् विश्रमायाह्वयन्निव ॥५॥
तत्रासीन् मेघवर्णाख्यः काकराजः कृतालयः।
तस्यावमर्दनामाभूदुलूकाधिपती रिपुः ॥६॥
स तस्य काकराजस्य तत्र रात्रावुलूकराट्।
एत्य काकान् बहून् हत्वा कृत्वा परिभवं ययौ ॥७॥
प्रातः स काकराजोऽत्र सभाज्योवाच मन्त्रिणः।
उड्डीव्याडीविसण्डीविप्रडीविचिरजीविनः ॥८॥
स शत्रुः परिभूयास्मान् लब्धलक्ष्यो बली पुनः।
आपतेदेव तत्तत्र प्रतीकारो निरूप्यताम् ॥९॥
तच्छ्रुत्वाभाषतोड्डीवी शत्रौ बलवति प्रभो।
अन्यदेशाश्रयः कार्यस्तस्यैवानुनयोऽथवा ॥१०॥
श्रुत्वैतदाडीव्याह स्म सद्यो न भयमप्यदः।
पराशयं स्वशक्तिं च वीक्ष्य कुर्मो यथाक्षमम् ॥११॥
ततो जगाद सण्डीवी मरणं देव शोभनम्।
न तु प्रणमनं शत्रोर्विदेशे वापि जीवनम् ॥१२॥
योद्धव्यं तेन साकं नः कृतावद्येन शत्रुणा।
राजा सहायवाञ्शूरः सोत्साहो जयति द्विषः ॥१३॥
अथ प्रडीवी वक्ति स्म न जय्यः स बली रणे।
सन्धिं कृत्वा तु हन्तव्यः सम्प्राप्तेऽवसरे पुनः ॥१४॥
चिरजीवी ततोऽवादीत् कः सन्धिर्दूत एव कः।
आसृष्टि वैरं काकानामुलूकैस्तत्र को व्रजेत् ॥१५॥
मन्त्रसाध्यमिदं मन्त्रो मूलं राज्यस्य चोच्यते।
श्रुत्वैतत्काकराजस्तं सोऽब्रवीच्चिरजीविनम् ॥१६॥
वृद्धस्त्वं वेत्सि चेत्तन्मे ब्रूहि त्वं केन हेतुना।
काकोलूकस्य वैरित्वं मन्त्रं वक्ष्यस्यतः परम् ॥१७॥

तब शक्तियशा के लिए उत्सुक नरवाहनदत्त का मनोरंजन करने के लिए बुद्धिमान् मन्त्री गोमुख ने यह कथा कही ॥४॥

कौओं और उल्लुओं की कथा[1]

किसी जंगल में बहुत बड़ा वटवृक्ष था। जो पक्षियों के कलरव से मानों पक्षियों के विश्राम के लिए सदा उन्हें बुलाता रहता था ॥५॥

उस बरगद पर मेघवर्ण नाम का कौओं का राजा घोंसला बनाकर रहता था। अवमर्द नाम का उल्लुओं का राजा उसका शत्रु था ॥६॥

वह उलूकराज, एकबार रात में आकर, बहुत-से कौओं को मारकर काकराज का अपमान करके चला गया ॥७॥

प्रातःकाल ही, काकराज ने, मन्त्रियों को बुलाकर उन्हें सत्कृत करके कहा। उसके मन्त्री थे—उड्डीवी, आडीवी, संडीवी प्रडीवी और चिरजीवी ॥८॥

काकराज ने कहा—'वह हमारा शत्रु उलूकराज, हमारा स्थान जानता है और बलवान् भी है। वह इस प्रकार आक्रमण करता ही रहेगा। उसका प्रतीकार सोचो' ॥९॥

यह सुनकर उड्डीवी मन्त्री बोला—'स्वामिन् शत्रु यदि बलवान् है, तो दूसरे देश में आश्रय लेना चाहिए या उससे ही अनुनय-विनय करनी चाहिए कि वह आक्रमण न करे' ॥१०॥

यह सुनकर आडीवी बोला—'अभी तत्काल उसका इतना भय नहीं है। शत्रु का आशय (अभिप्राय) और अपनी शक्ति को समझकर यथासम्भव यत्न करना चाहिए' ॥११॥

यह सुनकर संडीवी बोला—'स्वामिन्, मरना अच्छा है या विदेश में जाकर जीवन बिताना अच्छ है। किन्तु, शत्रु के सामने झुकना अच्छा नहीं ॥१२॥

हमें हानि पहुँचानेवाले शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिए। सहायकोंवाला, शूर और उत्साही राजा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है' ॥१३॥

उसके पश्चात् प्रडीवी ने कहा—'वह शत्रु बलवान् है, युद्ध में उसे जीता नहीं जा सकता। इस समय उससे सन्धि करके फिर अवसर मिलने पर उसे मारना चाहिए' ॥१४॥

तब चिरजीवी ने कहा—'सन्धि का दूत कौन होगा और सन्धि ही क्या होगी। कौओं और उल्लुओं की शत्रुता सृष्टि के प्रारम्भ से ही चली आ रही है। उसके बीच कौन पड़ेगा? ॥१५॥

यह काम मन्त्र से सिद्ध होनेवाला है; क्योंकि राज्य का मूल मन्त्र ही है।' यह सुनकर काकराज चिरजीवी से बोला— ॥१६॥

'तुम वृद्ध हो, सब जानते हो, यह बताओ कि कौए और उल्लुओं में वैर किस कारण हुआ। उसके पश्चात् मन्त्र (सम्मति) बताना' ॥१७॥

---

१. पंचतन्त्र के तीसरे काकोलूकीय तन्त्र की कथा मूल, यही कथा है।—अनु०

तच्छ्रुत्वा काकराजं तं चिरजीवी जगाद सः।
वाग्दोषोऽयं श्रुता किं न गर्दभाख्यायिका त्वया ॥१८॥
केनापि रजकेनैत्य गर्दभः पुष्टये कृशः।
परसस्येषु मुक्तोऽभूदाच्छाद्य द्वीपिचर्मणा ॥१९॥
स तानि खादन् द्वीपीति जनैस्त्रासान्न वारितः।
एकेन ददृशे जातु कार्षिकेण धनुर्भृता ॥२०॥
स तं द्वीपीति मन्वानः कुब्जीभूय भयानतः।
कम्बलावेष्टिततनुर्गन्तुं प्रववृते ततः ॥२१॥
तं च दृष्ट्वा तथायान्तं खरोऽयमिति चिन्तयन्।
खरस्तं स्वरुतेनोच्चैर्व्याहरत् सस्यपोषितः ॥२२॥
तच्छ्रुत्वा गर्दभं मत्वा तमुपेत्य स कार्षिकः।
अवधीच्छरघातेन कृतवैरं स्वया गिरा ॥२३॥
एवं वाग्दोषतोऽस्माकमुलूकैः सह वैरिता।
पूर्वं ह्यराजका आसन् कदाचिदपि पक्षिणः ॥२४॥
ते सम्भूयारभन्ते स्म पक्षिराजाभिषेचनम्।
सर्वे कर्त्तुमुलूकस्य ढौकितच्छत्रचामरम् ॥२५॥
तावच्च गगनायातस्तदृष्ट्वा वायसोऽब्रवीत्।
रे मूढाः सन्ति नो हंसकोकिलाद्या न किं खगाः ॥२६॥
येन क्रूरदृशं पापमिममप्रियदर्शनम्।
अभिषिञ्चिथ राज्येऽस्मिन् धिगुलूकमङ्गलम् ॥२७॥
राजा प्रभाववान् कार्यो यस्य नामैव सिद्धिकृत्।
तथा च शृणुतात्रैकां कथां वो वर्णयाम्यहम् ॥२८॥

चतुर्दन्तगजस्य शशकानां च कथा[1]

अस्ति चन्द्रसरो नाम महद् भूरिजलं सरः।
शिलीमुखाख्यस्तत्तीरेऽप्युवास शशकेश्वरः ॥२९॥
तत्रावग्रहशुष्केऽन्यनिपाने गजयूथपः।
चतुर्दन्ताभिधानोऽम्भः पातुमागात् कदाचन ॥३०॥

---

१. पञ्चतन्त्रे कथेयम्—महतां व्यपदेशेन सिद्धिः सञ्जायते परा।
शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम्॥—इत्येवं प्रारब्धा।

यह सुनकर चिरजीवी, काकराज से बोला—'इस सारी शत्रुता का मूल कारण वाणी का दोष है। क्या तुमने गधे की कथा नहीं सुनी'? ॥१८॥

किसी धोबी ने, अपने दुर्बल गधे को पुष्ट करने के लिए बाघ के चमड़े से ढककर दूसरे के खेत में छोड़ दिया॥१९॥

वह खेतों में फसलों को खाता था, किन्तु 'यह बाघ है,' इस भय से खेत के रखवाले उसे रोक नहीं सकते थे। कुछ समय बाद एक धनुर्धारी किसान ने उसे देखा॥२०॥

वह भय से नम्र और कुबड़ा होकर शरीर को कम्बल से लपेटकर उधर से जाने लगा॥२१॥

काला कम्बल ओढ़कर और कुबड़ा होकर जाते हुए उसे देखकर गधे ने उसे दूसरा गधा समझा और फसल खाये हुए गधे ने मस्ती में अपनी चिल्ल-पों आवाज लगाकर उसे बुलाना शुरू किया॥२२॥

उसकी आवाज सुनने से उस किसान ने, अपनी ही आवाज से अपना नाश करनेवाला गधा समझकर उसे बाण से मार डाला॥२३॥

इसी प्रकार, वाणी-दोष के कारण ही हमारी उल्लुओं से शत्रुता है। पहले किसी समय पक्षी राजा से हीन थे॥२४॥

उन्होंने एकत्र होकर पक्षिराज का अभिषेक प्रारम्भ किया और सभी ने छत्र-चामर लगे उल्लू को राजा बनाने की तैयारी की। इतने में ही आकाश से आये हुए कौए ने यह देखकर कहा—'अरे मूर्खो! क्या हंस, कोयल आदि और पक्षी नहीं हैं कि इस क्रूर, पापी, अमंगल और देखने में भद्दे उल्लू को राजा बना रहे हो? धिक्कार है॥२५—२७॥

किसी प्रभावशाली व्यक्ति को राजा बनाना चाहिए, जिसका नाम ही सिद्धिदायक हो। इस विषय में एक कथा सुनो। मैं तुम लोगों से कहता हूँ' ॥२८॥

चतुर्दन्त नाम के हाथी और खरगोशों की कथा[1]

कहीं पर अथाह पानी से भरा चन्द्रसर नाम का एक तालाब था। उसके किनारे शिलीमुख नाम का खरहों का राजा रहता था॥२९॥

उस वन में, अनावृष्टि के कारण, अन्य सभी जलाशयों के सूखने पर हाथियों के झुंड का एक चतुर्दन्त नामक सरदार किसी समय पानी पीने के लिए वहाँ आया॥३०॥

---

१. पंचतन्त्र में इस कथा का प्रारम्भ इस प्रकार है—

व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्जायते परा।
शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम्॥

तस्य यूथेन शशका गाहमानेन तत्र ते।
शिलीमुखस्य बहवः शशराजस्य चूर्णिताः ॥३१॥
ततो गजपतौ तस्मिन् गते सोऽत्र शिलीमुखः।
दुःखितो विजयं नाम शशं प्राहान्यसन्निधौ ॥३२॥
लब्धास्वादो गजेन्द्रोऽयं पुनः पुनरिहैष्यति।
निःशेषयिष्यत्यस्मांश्च तदुपायोऽत्र चिन्त्यताम् ॥३३॥
गच्छ तस्यान्तिकं पश्य युक्तिः काप्यस्ति तेन वा।
त्वं हि कार्यमुपायं च वेत्सि वक्तुं च युक्तिमान् ॥३४॥
यत्र यत्र गतस्त्वं हि तत्र तत्राभवच्छुभम्।
इति स प्रेषितस्तेन प्रीतस्तत्र ययौ शनैः ॥३५॥
मार्गानुसारात् प्राप्तं च वारणेन्द्रं ददर्श तम्।
यथा तथा च युक्तः स्यात् सङ्गमो बलिनेति सः ॥३६॥
शशोऽद्रिशिखरारूढो धीमांस्तमवदद् गजम्।
अहं देवस्य चन्द्रस्य दूतस्त्वां चैवमाह सः ॥३७॥
शीतं चन्द्रसरो नाम निवासोस्ति सरो मम।
तत्रासते शशास्तेषां राजाहं ते च मे प्रियाः ॥३८॥
अत एवास्मि शीतांशुः शशी चेति गतः प्रथाम्।
तत्सरो नाशितं ते च शशका मे हतास्त्वया ॥३९॥
भूयः कर्त्तासि चेदेवं मत्तः प्राप्स्यसि तत्फलम्।
एतद्दूताच्छशाच्छ्रुत्वा गजेन्द्रः सोऽब्रवीद् भयात् ॥४०॥
नैवं करिष्ये भूयोऽहं मान्यो मे भगवाञ्छशी।
तदेहि दर्शयामस्ते यावत्तं प्रार्थयैः सखे ॥४१॥
इत्यूचिवान् स नागेन्द्रमानीय सरसोऽन्तरे।
तत्र तस्मै शशश्चन्द्रप्रतिबिम्बमदर्शयत् ॥४२॥
तद्दृष्ट्वा दूरतो नत्वा भयात् कम्पसमाकुलः।
वनं द्विपेन्द्रः स ययौ भूयस्तत्र च नाययौ ॥४३॥
प्रत्यक्षं तच्च दृष्ट्वा स शशराजः शिलीमुखः।
सम्मान्य तं शशं दूतमवसत्तत्र निर्भयः ॥४४॥
इत्युक्त्वा वायसो भूयः पक्षिणस्तानभाषत।
एवं प्रभुः स्वनाम्नैव यस्य कश्चिन्न बाधते ॥४५॥

उसके झुंड के वहाँ आने पर शिलीमुख के बहुत-से अनुचर खरहे, उसके पैरों से रौंदे जाकर चूर्ण विचूर्ण हो गए ।।।३१।।

हाथी-सरदार के चले जाने पर, दुःखित शिलीमुख ने, सभी खरहों की सभा में विजय नामक खरहे से कहा—।।३२।।

'यह गजराज, यहाँ जल का आनन्द पाकर बार-बार आयगा और हमलोगों को निःशेष कर डालेगा। इसलिए, इस विषय में कोई उपाय सोचो।।३३।।

उसके पास जाओ। देखो, कोई युक्ति लगती है या नहीं। तुम कार्य और उपाय सब जानते हो और बोलने में भी कुशल हो।।३४।।

तुम जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ शुभ ही हुआ। 'इस प्रकार कहकर शिलीमुख से भेजा हुआ विजय, प्रसन्न होकर वहाँ गया।।३५।।

मार्ग के अनुसार जाते हुए उसने गजराज को देखा और सोचने लगा कि जैसे-तैसे इस बलवान् का समागम हो। तब वह विजय नामक खरहा, पहाड़ की चोटी पर चढ़कर उस हाथी से बोला—'मैं राजा चन्द्रमा का दूत हूँ। उसने मुझे यह सन्देश दिया है।।३६–३७।।

चन्द्रसर न म का शीतल सरोवर मेरा निवास-स्थान है। वहाँ शश (खरगोश या खरहा) रहते हैं, वे मेरे प्यारे हैं। इसीलिए, मेरा नाम शीतांशु और शशी है। तूने उस सर को गंदला कर दिया और मेरे प्यारे शशों को मार डाला है।।३८–३९।।

यदि तुम फिर ऐसा करोगे, तो उसका फल (दंड) पाओगे।' दूत के मुँह से यह सन्देश सुनकर वह गजराज भय से बोला—।।४०।।

'अब फिर मैं ऐसा न करूँगा। भगवान् चन्द्रमा मेरे पूज्य हैं। आओ, मुझे चन्द्रमा का दर्शन कराओ। मैं उनसे प्रार्थना करूँ' ।।४१।।

ऐसा कहते हुए उसे विजय ने, ले जाकर रात्रि के जल में चन्द्रमा की परछाईं दिखा दी।।।४२।।

उसे देखकर और भय से काँपते हुए गजराज ने प्रणाम किया। फिर, वह जंगल को लौट गया और उसके बाद वह कभी उधर न आया।।४३।।

इस घटना को आँखों से देखकर शशों के राजा शिलीमुख ने, विजय नामक दूत का बहुत सम्मान किया और वहाँ निडर होकर रहने लगा।।४४।।

ऐसा कहकर वह कौआ, उन पक्षियों से फिर बोला–'राजा ऐसा होना चाहिए, जिसके नाम से ही कोई कष्ट न दे।।४५।।

तदुलूको दिवान्धोऽयं क्षुद्रो राज्यं कुतोऽर्हति।
क्षुद्रश्च स्यादविश्वास्यस्तत्र चैतां कथां शृणु ॥४६॥

शशकपिञ्जलकथा[1]

कदाचित् क्वापि वृक्षेऽहमवसं तत्र चाप्यधः।
पक्षी कपिञ्जलो नाम वसति स्म कृतालयः ॥४७॥
स कदाचिद् गतः क्वापि यावन्न दिवसान् बहून्।
आयाति तावत्तन्नीडं तमेत्य शशकोऽवसत् ॥४८॥
दिनैः कपिञ्जलोऽत्रागात् ततोऽस्य शशकस्य च।
नीडो मे तव नेत्येवं विवाद उदभूद्द्वयोः ॥४९॥
निर्णेतारं ततः सम्यमन्वेष्टुं प्रस्थितावुभौ।
तावहं कौतुकाद् द्रष्टुमन्वगच्छमलक्षितः ॥५०॥
गत्वा स्तोकं सरस्तीरेऽहिंसाधृतमृषाव्रतम्।
ध्यानार्धमीलितदृशं मार्जारं तावपश्यताम् ॥५१॥
एतमेव च पृच्छावः किं न्यायमिह धार्मिकम्।
इत्युक्त्वा तौ बिडालं तमुपेत्यैवमवोचताम् ॥५२॥
शृणु नौ भगवन्न्यायं तपस्वी त्वं हि धार्मिकः।
श्रुत्वैतदल्पया वाचा बिडालस्तौ जगाद सः ॥५३॥
न शृणोमि तपः क्षामो दूरादायात मेऽन्तिकम्।
धर्मो ह्यसम्यङ्क निर्णीतो निहन्त्युभयलोकयोः ॥५४॥
इत्युक्त्वाश्वास्य तावग्रमानीय स बिडालकः।
उभावप्यवधीत्क्षुद्रः साकं शशकपिञ्जलौ ॥५५॥
तदेवं नास्ति विश्वासः क्षुद्रकर्मणि दुर्जने।
तस्मादुलूको राजायं न कर्त्तव्योऽतिदुर्जनः ॥५६॥
इत्युक्ताः पक्षिणस्तेन वायसेन तथेति ते।
अभिषेकमुलूकस्य निवार्यैतस्ततो ययुः ॥५७॥
अद्यप्रभृति यूयं च वयं चान्योन्यशत्रवः।
स्मर यामीत्युलूकस्तं काकमुक्त्वा क्रुधा ययौ ॥५८॥

---

१. क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परौ।
उभावपि क्षयं प्राप्तौ पुरा शशकपिञ्जलौ ॥पञ्चतन्त्रे—

तब दिन का अन्धा और क्षुद्र उल्लू कैसे राजा बन सकता है। सभी क्षुद्र व्यक्ति अविश्वासी होते हैं। इस विषय में एक कथा सुनो' ॥४६॥

शश और कपिंजल की कथा

किसी समय किसी वृक्ष पर मैं (कौआ) रहता था और उसी वृक्ष के नीचे अपना घर बनाकर कपिंजल नाम का पक्षी भी रहता था ॥४७॥

वह कपिंजल, किसी समय, दूर देश को जाकर, जब बहुत दिनों तक नहीं लौटा, तब उसके घोंसले में एक शश आकर रहने लगा ॥४८॥

कुछ दिनों बाद कपिंजल लौट आया, तब उसे घोंसले के विषय में, 'यह मेरा है, तेरा नहीं', दोनों में इस प्रकार का झगड़ा हो गया। तब वे दोनों इसका निर्णय करने के लिए किसी निर्णायक को ढूंढ़ने निकले। कौतुकवश मैं भी छिपे-छिपे उन दोनों के पीछे-पीछे गया ॥४९-५०॥

कुछ दूर जाकर, उन्होंने किसी तालाब के किनारे झूठा अहिंसा-व्रत धारण किये हुए और ध्यान में आधी आँखें बन्द किये हुए एक बिलाव को देखा ॥५१॥

इसी धार्मिक व्यक्ति से न्याय क्यों न पूछें, ऐसा कहकर वे दोनों उसके पास जाकर बोले—॥५२॥

'भगवन्, तुम धार्मिक और तपस्वी हो, हमारे न्याय को सुनो।' यह सुनकर वह बिलाव बहुत थोड़े शब्दों में उन दोनों से बोला—॥५३॥

'मैं तपस्या से दुर्बल होने के कारण ऊँचा सुनता हूँ। इसलिए, तुम दोनों दूर से, मेरे समीप आ जाओ। भली भाँति न दिया गया न्याय दोनों लोकों का नाश करता है' ॥५४॥

ऐसा कहकर और उन दोनों को पास बैठाकर, उस क्षुद्र बिलाव ने शश तथा कपिंजल दोनों को साथ ही मार डाला ॥५५॥

इसलिए, नीच कर्म करनेवाले दुर्जन का विश्वास न करना चाहिए। और इसीलिए, अत्यन्त दुर्जन (दुष्ट) उल्लू को राजा नहीं बनाना चाहिए ॥५६॥

कौए से इस प्रकार कहे गये पक्षी, उसकी बात मानकर उल्लू का राज्याभिषेक रोककर इधर-उधर उड़ गये ॥५७॥

वह उल्लू, 'आज से हम और तुम दोनों परस्पर शत्रु हुए। याद रखना, अब मैं जाता हूँ', क्रोध पूर्वक इस प्रकार मुझसे कहकर चला गया ॥५८॥

काकोऽपि युक्तमुक्तं तु मत्वा विग्नस्ततोऽभवत् ।
वाङमात्रोत्पादितासह्यवैरात्को नानुतप्यते ॥५९॥
एवं वाग्दोषसम्भूतं वैरं नः कौशिकैः सह ।
इत्युक्त्वा काकराजं तं चिरजीव्यवदत् पुनः ॥६०॥
बह्वो बलिनस्ते च जेतुं शक्या न कौशिकाः ।
बह्वो हि जयन्तीह शृणु चात्र निदर्शनम् ॥६१॥

ब्राह्मणस्य धूर्त्तानां च कथा

छागं क्रीतं गृहीत्वांसे ग्रामात्कोऽपि व्रजन् द्विजः ।
बहुभिर्ददृशे मार्गे धूर्त्तैश्छागं जिहीर्षुभिः ॥६२॥
एकश्च तेभ्य आगत्य तमुवाच ससम्भ्रमम् ।
ब्रह्मन्कथमयं स्कन्धे गृहीतः श्वा त्वया त्यज ॥६३॥
तच्छ्रुत्वा तमनादृत्य स द्विजः प्राक्रमद्यदा ।
ततोऽन्यौ द्वावुपेत्याग्रे तद्वदेव तमूचतुः ॥६४॥
ततः ससंशयो यावद्याति च्छागं निरूपयन् ।
तावदन्ये त्रयोऽप्येत्य तमेवमवदञ्शठाः ॥६५॥
कथं यज्ञोपवीतं त्वं श्वानं च वहसे समम् ।
नूनं व्याधो न विप्रस्त्वं हंस्यनेन शुना मृगान् ॥६६॥
तच्छ्रुत्वा स द्विजो दध्यौ नूनं भूतेन केनचित् ।
भ्रामितोऽहं दृशं हृत्वा सर्वे पश्यन्ति किं मृषा ॥६७॥
इति विप्रः स तं त्यक्त्वा छागं स्नात्वा गृहं ययौ ।
धूर्त्ताश्च नीत्वा तमजं यथेच्छं समभक्षयन् ॥६८॥

काकोलूकीयकथायाः शेषांशः

इत्युक्त्वा चिरजीवी तं वायसेश्वरमब्रवीत् ।
तदेवं देव बह्वो बलवन्तश्च दुर्जयाः ॥६९॥
तस्माद्बलिविरोधेऽस्मिन् यदहं वच्मि तत्कुरु ।
किञ्चिल्लुञ्चितपक्षं मां त्यक्त्वास्यैव तरोरधः ॥७०॥
यूयं गिरिमिमं यात कृतार्थो यावदेम्यहम् ।
तच्छ्रुत्वा तं तथेत्यत्र क्रुधेवोल्लुञ्चितच्छदम् ॥७१॥
कृत्वाधस्तं गिरिं प्रायात् काकराजः स सानुगः ।
चिरजीवी तु तत्रासीत् पतित्वा स्वतरोस्तले ॥७२॥

इस कारण कौआ भी 'कहा तो ठीक', ऐसा सोचकर व्याकुल हुआ। केवल वाणी से उत्पन्न हुए असह्य वैर से किसे पश्चात्ताप नहीं होता ॥५९॥

इस प्रकार वाणी के अपराध से हमारे और उल्लुओं के बीच वैर हो गया। काकराज से इस प्रकार कहकर चिरजीवी फिर बोला—॥६०॥

'महाराज, वे उल्लू संख्या में बहुत हैं और हमसे बलवान् भी हैं। इसलिए, युद्ध के द्वारा जीते नहीं जा सकते। अधिक संख्यावाले ही विजय प्राप्त करते हैं। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण सुनो' ॥६१॥

ब्राह्मण और धूर्तों की कथा

एक कोई ब्राह्मण एक बकरा खरीदकर और उसे कन्धे पर रखकर जा रहा था। उसे मार्ग में बकरा ठग लेने की इच्छा रखनेवाले कई धूर्तों ने देखा ॥६२॥

उनमें से एक ने उसके पास आकर घबराहट के साथ कहा—'ब्राह्मण देवता, तुमने इस कुत्ते को कन्धे पर क्यों रख लिया ? इसे छोड़ो' ॥६३॥

यह सुनकर उसकी परवाह न करके ब्राह्मण आगे चला। तब उसे दूसरे दो धूर्त आगे मिले और बोले—'अरे, तुम जनेऊ और कुत्ता, दोनों को एक साथ कन्धे पर रखे हुए हो, कैसा ब्राह्मण हो?' तब वह बकरे को भली भाँति देखता हुआ कुछ आगे गया, तो तीन और धूर्त उसे मिले और बोले—'तुम अवश्य बहेलिये हो, ब्राह्मण नहीं। इस कुत्ते के द्वारा मृगों को मारते हो' ॥६४—६६॥

यह सुनकर ब्राह्मण ने सोचा कि अवश्य ही किसी भूत ने मेरी आँखों का हरण कर मुझे धोखा दिया है, अन्यथा क्या ये सभी व्यक्ति, इसे झूठ देख रहे हैं ? ॥६७॥

यह सोचकर बकरे को वहीं छोड़कर और स्नान करके वह घर गया और उधर वे धूर्त उस बकरे को लेकर आनन्दपूर्वक खा गये ॥६८॥

कौए और उल्लुओं की कथा का शेषांश

ऐसा कहकर चिरजीवी काकराज से बोला—'अतः, महाराज, बहुत और बलवान्, दुर्जेय होते हैं। इसलिए, मैं इस बलवान् के साथ विरोध में जो कहता हूँ, वह करो। तुम लोग मेरे पंखों को कुछ काटकर इसी पेड़ के नीचे फेंककर उस पहाड़ पर चले जाओ। तबतक मैं कार्य करके (सफल होकर) आता हूँ ॥६९—७०॥

यह सुनकर काकराज, क्रोध से कुछ पंखों को नोचकर और चिरजीवी को नीचे फेंककर मानों अपने अनुयायियों के साथ पहाड़ की ओर चला गया, और चिरजीवी, स्वयं उस वृक्ष के नीचे पड़ा रह गया ॥७१—७२॥

ततस्तत्रराययौ रात्रौ सानुगः स उलूकराट्।
अवमर्दो न चापश्यत्तत्रैकमपि वायसम् ॥७३॥
तावत् स चिरजीव्यत्र मन्दं मन्दं विरौत्यधः।
श्रुत्वा चोलूकराजस्तमवतीर्य ददर्श सः ॥७४॥
कस्त्वं किमेवम्भूतोऽसीत्यपृच्छत्तं सविस्मयः।
ततः स चिरजीवी तं रुजेवाल्पस्वरोऽवदत् ॥७५॥
चिरजीवीत्यहं तस्य सचिवो वायसप्रभोः।
स च दातुमवस्कन्दमैच्छत्ते मन्त्रिसम्मतम् ॥७६॥
ततस्तन्मन्त्रिणोऽन्यांस्तान्निर्भर्त्स्याहं तमब्रवम्।
यदि पृच्छसि मां मन्त्रं यदि चाहं मतस्तव ॥७७॥
तन्न कार्यो बलवता कौशिकेन्द्रेण विग्रहः।
कार्यस्त्वनुनयस्तस्य नीतिं चेदनुमन्यसे ॥७८॥
श्रुत्वैतच्छत्रुपक्षोऽयमिति क्रोधात्प्रहृत्य मे।
स काकः स्वैः समं मित्रैर्मूर्खोऽवस्थामिमां व्यधात् ॥७९॥
क्षिप्त्वा च मां तरुतले क्वापि सानुचरो गतः।
इत्युक्त्वा चिरजीवी स श्वसन्नासीदधोमुखः ॥८०॥
उलूकराजश्च ततः स पप्रच्छ स्वमन्त्रिणः।
किमेतस्य विधातव्यमस्माभिश्चिरजीविनः ॥८१॥
तच्छ्रुत्वा दीप्तनयनो नाम मन्त्री जगाद तम्।
अरक्ष्यो रक्ष्यते चौरोऽप्युपकारीति सज्जनैः ॥८२॥

वृद्धवणिजश्चौरस्य च कथा

तथाहि पूर्वं क्वाप्यासीत् वणिक्कोऽपि स कामपि।
वृद्धोऽप्यर्थप्रभावेण परिणिन्ये वणिक्सुताम् ॥८३॥
सा तस्य शयने नित्यं जरातोऽभूत् पराङ्मुखी।
व्यतीतपुष्पकालेऽत्र भ्रमरीव तरोर्वने ॥८४॥
एकदा चाविशच्चौरो निशि शय्यास्थयोस्तयोः।
तं दृष्ट्वा सा परावृत्य तमाश्लिष्यत् पतिं भयात् ॥८५॥

तब रात में, उलूकराज अवमर्द, अपने सहयोगियों के साथ वहाँ आया और उसने वहाँ एक भी कौए को न देखा ॥७३॥

तब चिरजीवी नीचे पड़ा हुआ धीरे-धीरे कराहने लगा। उसका कराहना सुनकर उलूकराज ने नीचे आकर उसे देखा ॥७४॥

और आश्चर्य के साथ उससे पूछा—'तू कौन है और तेरी ऐसी दशा क्यों है?' तब वह चिरजीवी वेदना से लड़खड़ाती हुई वाणी में धीरे से बोला ॥७५॥

"मैं चिरजीवी नाम का, काकराज का सचिव हूँ। वह अन्य मन्त्रियों की सम्मति से तुम पर आक्रमण करना चाहता था ॥७६॥

तब मैंने उसे और उसके अन्य मन्त्रियों को डाँटते-फटकारते हुए कहा—'यदि तुम मुझसे सम्मति पूछते हो और मुझे मानते हो, और यदि नीति को मानते हो, तो उसके अनुसार उस बलवान् उलूकराज से विरोध न करना चाहिए, प्रत्युत उससे अनुनय-विनय करनी चाहिए ॥७७-७८॥

यह सुनकर 'यह शत्रु का पक्षपाती है'—ऐसा कहकर और क्रोध से मुझपर प्रहार करके उस मूर्ख कौए ने, अपने साथियों के साथ मेरी यह दुर्दशा कर डाली ॥७९॥

तदनन्तर, मुझे वृक्ष के नीचे फेंककर अपने अनुयायियों के साथ वह कहीं भाग गया।" कहकर चिरजीवी ने, लम्बी साँस लेकर अपना मुँह लटका दिया ॥८०॥

यह सुनकर उलूकराज ने अपने मन्त्रियों से पूछा कि 'अब हमें इस चिरजीवी का क्या करना चाहिए'॥८१॥

उलूकराज का यह प्रश्न सुनकर उसका दीप्तनयन नाम का मन्त्री उससे बोला—अरक्षणीय चोर भी उपकारी समझकर 'सज्जनों द्वारा रक्षा करने योग्य है ॥८२॥

वृद्ध बनिया और चोर की कथा

प्राचीन समय में कहीं एक बनिया था। वृद्ध होने पर भी उसने धन के प्रभाव से किसी बनिये की कन्या से विवाह कर लिया ॥८३॥

वह वैश्य-कन्या, रात में बिस्तर पर उस बनिये से इस प्रकार मुँह फेरकर सोती थी, जैसे, वन में वसन्त-काल के बीतने पर भ्रमरी वृक्ष से विमुख हो जाती है ॥८४॥

एक बार, रात में, जब वे दोनों शय्या पर सो रहे थे, तब घर में चोर घुस आया। यह देखकर उस कन्या ने, भय से (पति की ओर) करवट बदलकर उस वृद्ध पति का आलिंगन किया ॥८५॥

तमभ्युदयमाश्चर्यं मत्वा यावन्निरीक्षते।
दिशस्तत्र वणिक्तावत्कोणे चौरं ददर्श तम् ॥८६॥
उपकार्यसि मे तस्त्वां न भृत्यैर्घातयाम्यहम्।
इत्युक्त्वा सोऽथ चौरं तं रक्षित्वा प्राहिणोद् वणिक् ॥८७॥
एवं रक्ष्योऽयमस्माकं चिरजीव्युपकारकः।
इत्युक्त्वा दीप्तनयनो मन्त्री तूष्णीं बभूव सः ॥८८॥
ततोऽन्यं वक्रनासाख्यं मन्त्रिणं कौशिकेश्वरः।
स पृच्छति स्म किं कार्यं सम्यग्वक्तुं भवानिति ॥८९॥
वक्रनासस्ततोऽवादीद्रक्ष्योऽयं परमर्मवित्।
अस्माकमेतयोर्वैरं श्रेयसे स्वामिमन्त्रिणोः ॥९०॥

राक्षसचौरयोः कथा

निदर्शनकथा देव श्रूयतामत्र वच्मि ते।
कश्चित्प्रतिग्रहेण द्वे गावौ प्राप द्विजोत्तमः ॥९१॥
तस्य दृष्ट्वाथ चौरस्ते गावौ नेतुमचिन्तयत्।
तत्कालं राक्षसः कोऽपि तमैच्छत् खादितुं द्विजम् ॥९२॥
तदर्थं निशि गच्छन्तौ दैवात्तौ चौरराक्षसौ।
मिलित्वान्योन्यमुक्तार्थौ तत्र प्रययतुः समम् ॥९३॥
अहं धेनू हराम्यादौ त्वद्गृहीतो ह्ययं द्विजः।
सुप्तो यदि प्रबुद्धस्तद्धरेयं गोयुगं कथम् ॥९४॥
मैवं हराम्यहं पूर्वं विप्रं नोचेद्वृथा मम।
भवेद्गोखुरशब्देन प्रबुद्धेऽस्मिन् परिश्रमः ॥९५॥
इति प्रविश्य तद्विप्रसदनं चौरराक्षसौ।
यावत्तौ कलहायेते तावत्प्राबोधि स द्विजः ॥९६॥
उत्थायात्तकृपाणे च तस्मिन् रक्षोघ्नजापिनि।
ब्राह्मणे जग्मतुश्चौरराक्षसौ द्वौ पलाय्य तौ ॥९७॥
एवं तयोर्यथा भेदो हितायाभूद्द्विजन्मनः।
तथा भेदो हितोऽस्माकं काकेन्द्रचिरजीविनोः ॥९८॥
इत्युक्तो वक्रनासेन कौशिकेन्द्रः स्वमन्त्रिणम्।
तं च प्राकारकर्णाख्यमपृच्छत्सोऽप्युवाच तम् ॥९९॥

इस आश्चर्यजनक अपने सौभाग्य को देखकर उस वृद्ध बनिये ने चारों ओर देखा, तो एक कोने में उसे चोर दिखाई दिया ॥८६॥

'तू मेरा उपकारी है, इसलिए मैं तुझे अपने सेवकों से पिटवाऊँगा नहीं', उस चोर से ऐसा कहकर उस बनिये ने उसे सुरक्षित रूप से बाहर निकाल दिया ॥८७॥

इसी प्रकार, अपने उपकारी इस चिरजीवी की हमें रक्षा करनी चाहिए। यह कहकर दीप्तनयन नाम का मन्त्री चुप हो गया ॥८८॥

तब उलूकराज ने वक्रनास नामक अपने दूसरे मन्त्री से पूछा कि 'इसका क्या करना चाहिए, आप अच्छी तरह बताइए' ॥८९॥

तब वक्रनास ने कहा—'शत्रुओं के मर्म (गुप्त भेद) को जाननेवाले इस चिरजीवी की रक्षा करनी चाहिए। शत्रु राजा और उसके मन्त्री का वैर, हमारे कल्याण के लिए होगा, मैं कहता हूँ ॥९०॥

ब्राह्मण, चोर और राक्षस की कथा

इस विषय में उदाहरण के लिए एक कथा सुनो। किसी ब्राह्मण ने दान में दो गौएँ पाईं। यह देखकर चोर ने उसकी गायें चुराने की इच्छा की और उसी समय एक राक्षस ने उस ब्राह्मण को खाने की बात सोची ॥९१-९२॥

अपने-अपने कार्य के लिए, रात में बाहर जाते हुए दोनों (चोर और राक्षस) मिले और अपना-अपना प्रयोजन बताकर एक साथ हो लिये ॥९३॥

पहले मैं गाएँ चुरा लेता हूँ; क्योंकि तुमसे पकड़ा हुआ ब्राह्मण यदि जग उठा तो मैं कैसे गौएँ चुराऊँगा ? ऐसा नहीं, पहले मैं ब्राह्मण को खा लेता हूँ। यदि गायों के खुरों की खट-पटाहट से ब्राह्मण जग उठा, तो मेरा परिश्रम व्यर्थ हो जायगा ॥९४-९५॥

उस ब्राह्मण के घर में घुसकर चोर और राक्षस इस प्रकार बोल-बोलकर लड़ने लगे, तो उनके शब्दों से वह ब्राह्मण जग उठा ॥९६॥

उसने, उठकर, राक्षसों के नाश करने का मन्त्र जपते हुए, हाथ में तलवार उठाई, तो वे दोनों, चोर और राक्षस, भाग गये ॥९७॥

जिस प्रकार चोर और राक्षस का आपसी झगड़ा ब्राह्मण के लिए हितकर हुआ, वैसे ही काकराज और चिरजीवी का झगड़ा हमारे लिए हितकर होगा ॥९८॥

वक्रनास के ऐसा कहने पर उलूकराज ने प्राकारकर्ण नाम के मन्त्री से पूछा और मन्त्री ने उससे कहा—॥९९॥

चिरजीव्यनुकम्प्योऽयमापन्नः शरणागतः।
शरणागतहेतोः प्राक्स्वमामिषमदाच्छिबिः ॥१००॥
प्राकारकर्णाच्छ्रुत्वैतत्सचिवं क्रूरलोचनम्।
उलूकराजः पप्रच्छ सोऽपि तद्वदभाषत ॥१०१॥
ततो रक्ताक्षनामानं सचिवं कौशिकेश्वरः।
तथैव परिपप्रच्छ सोऽपि प्राज्ञोऽब्रवीदिदम् ॥१०२॥
राजन्नपनयेनैतैर्मन्त्रिभिर्नाशितो भवान्।
प्रतीयन्ते न नीतिज्ञाः कृतावज्ञस्य वैरिणः ॥१०३॥
मूर्खो दृष्टव्यलीकोऽपि व्याजसान्त्वेन तुष्यति।

रथकारस्य तद्भार्यायाश्च कथा[1]

तथा हि तक्षा कोऽप्यासीद् भार्याभूत्तस्य तु प्रिया ॥१०४॥
तां चान्यपुरुषासक्तां तक्षा बुद्ध्वान्यलोकतः।
तत्त्वं जिज्ञासमानस्तां भार्यामिवददेकदा ॥१०५॥
प्रिये राजाज्ञया दूरं स्वव्यापाराय याम्यहम्।
तत्त्वया मम सक्त्वादि पाथेयं दीयतामिति ॥१०६॥
तथेति दत्तपाथेयस्तया निर्गत्य गेहतः।
सशिष्यो गुप्तमागत्य तत्रैव प्रविवेश सः ॥१०७॥
तददृष्टस्तु खट्वायास्तस्थौ शिष्ययुतस्थले।
साप्यथानाययत्तं स्वं तद्भार्या परपूरुषम् ॥१०८॥
तेन साकं च खट्वायां रममाणा पतिं पदा।
स्पृष्ट्वा कथञ्चित्तं पापा मेने तत्रस्थमेव तम् ॥१०९॥
क्षणाच्चोपपतिस्तत्र व्याकुलः पृच्छति स्म ताम्।
ब्रूहि प्रिये किमधिकं प्रियोऽहं तव किं पतिः ॥११०॥
तच्छ्रुत्वा कूटकुशला तं जारं निजगाद सा।
प्रियो मम पतिस्तस्य कृते प्राणांस्त्यजाम्यहम् ॥१११॥
इदं तु चापलं स्त्रीणां सहजं क्रियतेऽत्र किम्।
अमेध्यमपि भक्ष्यं स्यान्नासां स्युर्यदि नासिकाः ॥११२॥

---

१. पञ्चतन्त्रे, इयमेव कथा—प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति। रथकारः स्वकां भार्यां सजारां शिरसा वहन्।'—इत्यनेन श्लोकेन समुपर्णितास्ति।

'आपकी शरण में आया हुआ आपत्तिग्रस्त यह चिरजीवी, दया करने के योग्य है। राजा शिबि ने शरणागत की रक्षा के लिए अपना मांस भी दे दिया था ॥१००॥

प्राकारकर्ण से यह सुनकर उलूकराज ने, अपने क्रूरलोचन नाम के मंत्री से चिरजीवी के सम्बन्ध में पूछा कि इसका क्या करना चाहिए ? क्रूरलोचन ने भी प्राकारवर्ण की ही बात दुहराई। तब उलूकराज ने रक्ताक्ष नाम के अपने मन्त्री से, उसी प्रकार पूछा। वह बुद्धिमान् मन्त्री इस प्रकार बोला—॥१०१-१०२॥

'राजन्, इन मन्त्रियों ने उल्टी नीति से तुझे नष्ट कर दिया। ये नीतिज्ञ नहीं प्रतीत होते ॥१०३

रथकार और उसकी पत्नी की कथा

मूर्ख व्यक्ति अपराध को देखकर भी झूठी सान्त्वना देने पर प्रसन्न हो जाता है। (इस विषय में एक कथा सुनो) कहीं एक बढ़ई रहता था, उसकी पत्नी उसे बहुत प्रिय थी ॥१०४॥

उसकी स्त्री, पर-पुरुष का संग करती है, दूसरे लोगों से यह जानकर वह उसका भेद लेने के लिए एक बार अपनी पत्नी से बोला—॥१०५॥

'प्रिये, मैं राजा की आज्ञा से व्यापार के लिए कहीं दूर देश को जाता हूं। इसलिए, तू पाथेय (मार्ग का भोजन) के लिए मुझे सत्तू आदि दे दे' ॥१०६॥

'अच्छा, ठीक है'—कहकर दिये हुए उसके पाथेय को लेकर और अपने एक शिष्य के साथ घर से बाहर निकलकर वह चुपके-से फिर घर में ही आ घुसा ॥१०७॥

घर में अपनी पत्नी के परोक्ष में वह शिष्य के साथ चारपाई के नीचे जा छिपा। पति चला गया, यह जानकर उसकी स्त्री ने भी अपने जार को बुलाया और उस जार के साथ उसी चारपाई पर रमण करती हुई उसकी स्त्री ने, अपने पति के अंग का स्पर्श करके यह जान लिया कि पति यहीं है। कुछ समय बाद उसके जार ने व्याकुलता के साथ उससे पूछा—'प्रिये, यह बताओ कि मैं तुम्हें अधिक प्यारा हूँ या तुम्हारा पति ?' ॥१०८-११०॥

यह सुनकर अत्यन्त चतुर उस स्त्री ने, अपने यार से कहा—'मुझे अपना पति इतना प्यारा है कि मैं उसके लिए अपने प्राणों को भी छोड़ दूं' ॥१११॥

पर पुरुष का संग कर लेना तो स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है। इसमें क्या किया जा सकता है। यदि स्त्रियों को नाक न हो, तो उनके लिए विष्ठा खा लेना भी असम्भव नहीं ॥११२॥

एतत्तस्या वचः श्रुत्वा कुलटायाः स कृत्रिमम्।
तुष्टः शय्यातलात्तक्षा निर्गतः शिष्यमभ्यधात् ॥११३॥
दृष्टं त्वयाद्य साक्षी त्वं मम भक्तेयमीदृशी।
अमुमेवाश्रिता कान्तं तदेतां मूर्ध्न्यहं वहे ॥११४॥
इत्युक्त्वा सहसोत्क्षिप्य खट्वास्थावेव तावुभौ।
सशिष्यः स जडो जायातज्जारौ शिरसावहन् ॥११५॥
इत्थं प्रत्यक्षदृष्टेऽपि दोषे कपटसान्त्वतः।
मूर्खस्तुष्यति हास्यत्वं निर्विवेकश्च गच्छति ॥११६॥
तदेष चिरजीवी ते रक्ष्यो नारिपरिग्रहः।
उपेक्षितो ह्ययं देव हन्याद्रोग इव द्रुतम् ॥११७॥
इति रक्ताक्षतः श्रुत्वा कौशिकेन्द्रोऽब्रवीत्स तम्।
कुर्वन्नस्मद्धितं साधुः प्राप्तोऽवस्थामिमामयम् ॥११८॥
तत्कथं स्यान्न संरक्ष्यः किं कुर्यादेककश्च नः।
इति तत्स निराचक्रे मन्त्रिवाक्यमुलूकराट् ॥११९॥
आश्वासयामास च तं वायसं चिरजीविनम्।
ततः स चिरजीवी तमुलूकेशं व्यजिज्ञपत् ॥१२०॥
किं ममैतदवस्थस्य जीवितेन प्रयोजनम्।
तन्मे दापय काष्ठानि यावदग्निं विशाम्यहम् ॥१२१॥
उलूकयोनि च वरं प्रार्थयेऽहं हुताशनम्।
तर्त्तुं वायसराजस्य तस्य वैरप्रतिक्रियाम् ॥१२२॥
इत्युक्तवन्तं विहसन् रक्ताक्षो निजगाद तम्।
अस्मत्प्रभोः प्रसादात्त्वं स्वस्थ एव किमग्निना ॥१२३॥
न च त्वं कौशिको भावी यावत्काकत्वमस्ति ते।
यादृशो यः कृतो धात्रा भवेत्तादृश एव सः ॥१२४॥
तथा च प्राङ्मुनिः कश्चिच्छ्येनहस्तच्युतं शिशुम्।
मूषिकां प्राप्य कृपया कन्यां चक्रे तपोबलात् ॥१२५॥
वर्धितामाश्रमे तां च स दृष्ट्वा प्राप्तयौवनाम्।
मुनिर्बलवते दातुमिच्छन्नादित्यमाह्वयत् ॥१२६॥
बलिने दित्सितामेतां कन्यां परिणयस्व मे।
इत्युवाच स चर्षिस्तं ततस्तं सोऽब्रवीद्रविः ॥१२७॥

इस प्रकार, उस दुष्टा पत्नी की बनावटी बात सुनकर प्रसन्न वह बढ़ई खाट के नीचे से निकलकर अपने शिष्य से बोला—'आज तुमने देख लिया, इसलिए तुम साक्षी हो कि यह स्त्री मेरी कैसी भक्त है। यह मुझको ही अपना पति समझती है। इसने इसे तो अपने स्वभावानुसार अपना यार बनाया है। अतः, मैं इसे अपने शिर पर उठा लेना चाहता हूँ' ॥११३-११४॥

ऐसा कहकर शिष्य के साथ उसने, यार-सहित अपनी स्त्री की चारपाई को शिर पर उठा लिया ॥११५॥

इस प्रकार, अपनी आँखों के सामने अपराध देखकर भी झूठी सान्त्वना से, मूर्ख व्यक्ति प्रसन्न हो जाता है। और वह विचारहीन व्यक्ति, संसार में हँसी का पात्र बन जाता है ॥११६॥

इसलिए, शत्रु के व्यक्ति इस चिरजीवी की तुम्हें रक्षा न करनी चाहिए। यह उपेक्षित व्यक्ति है, रोग के समान शीघ्र नष्ट कर देना चाहिए ॥११७॥

रक्ताक्ष से इस प्रकार सुनकर, उलूकराज इस प्रकार उससे बोला—'यह सज्जन चिरजीवी, हमारा हित करता हुआ भी इस स्थिति को पहुँचा है ॥११८॥

तब इसकी रक्षा क्यों न की जाय, फिर यह अकेला हमारा बिगाड़ ही क्या सकता है?' इस प्रकार बोलकर उलूकराज ने मंत्री का वचन काट दिया ॥११९॥

उसके बाद उलूकराज ने चिरजीवी कौए को आश्वासन दिया। तब चिरजीवी ने उलूकराज से निवेदन किया—॥१२०॥

'इस अवस्था में मेरे जीने से क्या लाभ है? इसलिए मुझे लकड़ियाँ दिलाओ, जिससे मैं आग में जल मरूँ ॥१२१॥

और, मैं भगवान् से भी यही प्रार्थना करूँ कि काकराज का बदला लेने के लिए वह मुझे उलूक-योनि में जन्म दें' ॥१२२॥

ऐसा कहनेवाले चिरजीवी से रताक्ष हँसकर बोला—'हमारे स्वामी की कृपा से तू पूर्ण स्वस्थ है, आग से क्या लाभ?॥१२३॥

जबतक तू कौआ है, तबतक उल्लू न बनेगा। विधाता ने जिसे जैसा बनाया है, वह वैसा ही रहेगा' (इस प्रसंग में एक कथा सुनो।)' ॥१२४॥

प्राचीन काल में किसी मुनि ने, बाज के हाथ से छूटी हुई किसी चुहिया को पाकर दया करने अपने तपोबल से उसे कन्या बना दिया। अपने आश्रम में पालन-पोषण करके बढ़ाई गई और युवावस्था को प्राप्त उस कन्या को बलवान् पुरुष को देने के लिए मुनि ने, सूर्य को बुलाया और कहा कि सबसे अधिक बलवान् को ही मैं यह कन्या देना चाहता हूँ। इसलिए, तुम मेरी कन्या से विवाह करो। तब सूर्य ने ऋषि से कहा ॥१२५—१२७॥

मत्तोऽपि बलवान् मेघः स मां स्थगयति क्षणात् ।
तच्छ्रुत्वा तं विसृज्यार्कं मेघमाहूतवान्मुनिः ॥१२८॥
तं तथैव च सोऽवादीत्तेनाप्येवमवादि सः ।
मत्तोऽपि बलवान् वायुर्यो विक्षिपति दिक्षु माम् ॥१२९॥
इत्युक्ते तेन स मुनिर्वायुमाह्वयति स्म तम् ।
स तथैव च तेनोक्तस्तमेवमवदन्मरुत् ॥१३०॥
मयापि ये न चाल्यन्ते मत्तस्ते बलिनोऽद्रयः ।
श्रुत्वैतदेकं शैलेन्द्रमाह्वयन् मुनिसत्तमः ॥१३१॥
तथैव यावत्तं वक्ति तावत्सोऽद्रिर्जगाद तम् ।
मूषका बलिनो मत्तो ये मे छिद्राणि कुर्वते ॥१३२॥
इति क्रमेण प्रत्युक्तो दैवतैर्ज्ञानिभिः स तैः ।
महर्षिराजुहावैकं मूषकं वनसम्भवम् ॥१३३॥
कन्यां वहैतामित्युक्तस्तेनोवाच स मूषकः ।
कथं प्रवेक्ष्यति बिलं ममैषा दृश्यतामिति ॥१३४॥
पूर्ववन्मूषिकैवास्तु वरमित्यथ स ब्रुवन् ।
मुनिस्तां मूषिकां कृत्वा तस्मै प्रायच्छदाखवे ॥१३५॥
एवं सुदूरं गत्वापि यो यादृक्तादृगेव सः ।
तदुलूको न जातु त्वं चिरजीविन् भविष्यसि ॥१३६॥
इत्युक्तश्चिरजीवी स रक्ताक्षेण व्यचिन्तयत् ।
नीतिज्ञस्य न चैतस्य राज्ञानेन कृतं वचः ॥१३७॥
शेषा मूर्खा इमे सर्वे तत्कार्यं सिद्धमेव मे ।
इति सञ्चिन्तयन्तं तमादाय चिरजीविनम् ॥१३८॥
अविचार्यैव रक्ताक्षवाक्यं तद्बलगर्वितः ।
उलूकराजः स ययाववमर्दो निजं पदम् ॥१३९॥
चिरजीवी च तद्दत्तमांसाद्यशनपोषितः ।
तत्पार्श्वस्थोऽचिरेणैव बर्हीवाभूत् सुपक्षतिः ॥१४०॥
एकदा तमुलूकेन्द्रमवदद्देव याम्यहम् ।
आश्वास्य काकराजं तमानयामि स्वमास्पदम् ॥१४१॥
येन रात्रौ निपत्याद्य युष्माभिः स निहन्यते ।
अहं भजामि चैतस्य त्वत्प्रसादस्य निष्कृतिम् ॥१४२॥

'मुझसे भी बलवान् मेघ है, जो क्षण-भर में मुझे ढक देता है'—यह सुनकर मुनि ने सूर्य को छोड़कर मेघ को बुलाया ॥१२८॥

उसे भी उसी प्रकार ऋषि ने कहा तो मेघ ने कहा—'मुझसे भी बलवान् वायु है, जो क्षण-भर में ही मुझे चारों दिशाओं में बिखेर देता है ॥१२९॥

उसके इस प्रकार कहने पर मुनि ने वायु को बुलाया। मुनि के उससे भी उसी प्रकार कहने पर वायु ने कहा—॥१३०॥

'पर्वत मुझसे भी बलवान् हैं, जो मुझसे भी हिलाये नहीं जा सकते।' यह सुनकर मुनि ने एक पर्वतराज को बुलाया ॥१३१॥

उसी प्रकार जब मुनि ने पर्वतराज से कहा, तब उसने कहा—'मुझसे भी बलवान् चूहे हैं, जो मुझमें भी छेद कर देते हैं' ॥१३२॥

इस प्रकार क्रमशः ज्ञानी देवताओं से कहे गये मुनि ने, एक जंगली चूहे को बुलाया और उससे कहा—'इस कन्या से विवाह करो। ऋषि के इस प्रकार कहने पर चूहे ने कहा—'यह मेरे बिल में प्रवेश कैसे करेगी, यह देख लीजिए' ॥१३३–१३४॥

'अच्छा तो ठीक है, यह कन्या पहले के ही समान चुहिया बन जाय', इस प्रकार मुनि ने उसे चुहिया बनाकर उस चूहे को दे दिया ॥१३५॥

'इस प्रकार बहुत दूर जाकर भी जो जैसा है, वैसा ही है। इसलिए, हेचिरजीविन्, तू कभी उलूक नहीं बन सकेगा' ॥१३६॥

रक्ताक्ष से इस प्रकार कहे गये चिरजीवी ने सोचा कि उलूकराज ने, इस नीतिज्ञ रक्ताक्ष की बात नहीं मानी ॥१३७॥

शेष सभी मन्त्री मूर्ख हैं, इसलिए मेरा काम सिद्ध ही है। इस प्रकार सोचते हुए चिरजीवी को लेकर, बल से गर्वित उलूकराज, अवमर्द रक्ताक्ष की बात न मानकर अपने निवासस्थान पर गया ॥१३८–१३९॥

उलूकराज से दिये गये मांस आदि पौष्टिक आहारों से पुष्ट होकर उसके पास रहते हुए चिरजीवी, मोर के समान सुन्दर पंखोंवाला हो गया ॥१४०॥

एक बार वह चिरजीवी उलूकराज से बोला—'स्वामिन्, मैं जाता हूँ और काकराज को विश्वास दिलाकर अपने स्थान पर ले आता हूँ ॥१४१॥

जिससे कि आप लोग रात में आक्रमण करके उसका नाश कर सकें। मैं, आपकी (मुझ पर की गई) इस कृपा का प्रत्युपकार करना चाहता हूँ ॥१४२॥

यूयं तृणाद्यैराच्छाद्य द्वारं नीडगृहान्तरे।
दिवा तदापातभयात् सर्वे तिष्ठन्तु रक्षिताः ॥१४३॥
इत्युक्त्वा तृणपर्णादिच्छन्नद्वारगुहागतान्।
कृत्वोलूकान्ययौ पार्श्वं चिरजीवी निजप्रभोः ॥१४४॥
तद्युक्तश्चाययावात्तवह्निदीप्तचितोल्मुकः।
चञ्च्वा प्रलम्बितैकैककाष्ठिकैः सह वायसैः ॥१४५॥
आगत्यैव दिवान्धानां तेषां छन्नं तृणादिभिः।
उलूकानां गुहाद्वारं ज्वालयामास वह्निना ॥१४६॥
प्राक्षिपत्तद्वदेकैकस्तदानीं तांश्च काष्ठिकः।
समिध्याग्निं ददाहात्र तानुलूकान् सराजकान् ॥१४७॥
विनाश्य शत्रुं काकेन्द्रस्तद्युक्तोऽथ तुतोष सः।
समं काककुलेनागान्निजं न्यग्रोधपादपम् ॥१४८॥
तत्राख्याय द्विषन्मध्यवासवृत्तान्तमात्मनः।
काकेन्द्रं मेघवर्णं तं चिरजीव्यब्रवीदिदम् ॥१४९॥
रक्ताक्ष एव सन्मन्त्री तस्यासीत्त्वद्रिपोः प्रभो।
तस्यैवाकुर्वता वाक्यं मदान्धेनास्म्युपेक्षितः ॥१५०॥
यदस्याकारणं मत्वा वचनं नाकरोच्छठः।
अतः सोऽपनयी मूर्खो मया विश्वास्य वञ्चितः ॥१५१॥
व्याजानुवृत्त्या विश्वास्य मण्डूका अहिना यथा।
वृद्धः कश्चित्सुखं प्राप्तुमशक्तः पुरुषाश्रये ॥१५२॥

भेकवाहनसर्पस्य कथा

भेकानहिः सरस्तीरे तस्मिंस्तस्थौ सुनिश्चलः।
तथास्थितं च तं भेकाः पप्रच्छुर्दूरवर्त्तिनः ॥१५३॥
ब्रूहि किं पूर्ववन्नास्मानश्नात्यद्य भवानिति।
इति पृष्टस्तदा भेकैः स तैः प्रोवाच पन्नगः ॥१५४॥
मया ब्राह्मणपुत्रस्य मण्डूकमनुधावता।
भ्रान्त्या दष्टो बताङ्गुष्ठः स च पञ्चत्वमाययौ ॥१५५॥
तत्पित्रा चास्मि शापेन भेकानां वाहनीकृतः।
तद्युष्मान् कथमश्नामि प्रत्युताहं वहामि वः ॥१५६॥
तच्छ्रुत्वा तत्र भेकानां राजा वाहसमुत्सुकः।
जलादुत्तीर्य तत्पृष्ठमारोहद्गतभीर्मुदा ॥१५७॥

आप सब लोग दिन में उसके आक्रमण के भय से बचने के लिए अपने घोंसलों को घास, फूस आदि से ढककर उसके अन्दर सुरक्षित रहें' ॥१४३॥

ऐसा कहकर, उल्लुओं को घास तथा सूखे पत्तों से ढके हुए द्वारवाली गुफा के भीतर करके, चिरजीवी अपने स्वामी काकराज मेघवर्ण के पास गया ॥१४४॥

और जलती हुई चिता से एक-एक जलती हुई लकड़ी चोंच में लटकाए हुए कौओं को साथ लेकर वह वहाँ आया ॥१४५॥

और आकर दिन में अन्धे उन उल्लुओं के घास-फूस से ढके हुए गुफा के द्वार पर आग लगा दी॥१४६॥

वह आग लगाकर, एक-एक लकड़ी चोंच से उठाकर आग में छोड़ता जाता था। इस प्रकार उसने राजा के सहित सभी उल्लुओं को जलाकर भस्म कर डाला ॥१४७॥

तदनन्तर, कौओं का राजा, शत्रुओं का नाश करके, अपने काक-परिवार के साथ, पुनः उसी वटवृक्ष पर सुखपूर्वक निवास करने लगा ॥१४८॥

इसके बाद चिरजीवी ने काकराज मेघवर्ण को, शत्रुओं के बीच रहने का अपना सारा समाचार सुनाकर यह कहा–॥१४९॥

'स्वामिन्, वहाँ तुम्हारे शत्रु का एक ही मन्त्री था, उसी की बात न मानकर उस मदान्ध उलूकराज ने मेरी उपेक्षा की। उस मूर्ख ने, रक्ताक्ष मन्त्री की बात नहीं मानी, इसीलिए नीतिहीन उस मूर्ख को मैंने विश्वास दिलाकर ठग लिया ॥१५०–१५१॥

मेढकों के वाहन सर्प की कथा

जैसे कपट-वृत्ति से विश्वास दिलाकर साँप ने मेढकों को ठग लिया था'।

एक वृद्ध साँप अपना चारा प्राप्त करने में असमर्थ होकर एक तालाब के किनारे निश्चल होकर पड़ा था। इस प्रकार, दीन साँप को देखकर दूर खड़े हुए मेढकों ने पूछा—'अब तुम पहले के समान हम लोगों को क्यों नहीं खाते हो। मेढकों के इस प्रकार पूछने पर साँप ने उनसे कहा—'एक बार एक मेढक की ओर दौड़ते हुए मैंने भ्रम से एक ब्राह्मण के बालक को काट लिया और वह मर गया। तब उसके पिता ने शाप से मुझे मेढकों का वाहन बना दिया। तब मैं तुम लोगों को कैसे खाऊँ? बल्कि आओ, तुम लोगों को ढोने का काम करूँ' ॥१५२–१५६॥

यह सुनकर उस पर सवारी करने के लिए उत्सुक मेढकों का राजा पानी से निकलकर उसकी पीठ पर निर्भय होकर चढ़ बैठा ॥१५७॥

ततस्तं वाहनसुखैरावर्ज्य सचिवैर्युतम्।
कृत्वावसन्नमात्मानमुवाच स सकैतवः ॥१५८॥
आहारेण विना देव न गन्तुमहमुत्सहे।
तन्मे देह्यशनं भृत्योह्यवृत्तिर्वर्त्तते कथम् ॥१५९॥
तच्छ्रुत्वा भेकराजस्तमवोचद्वाहनप्रियः।
कांश्चित् परिमितांस्तर्हि भुङ्क्ष्व मेऽनुचरानिति ॥१६०॥
ततः क्रमात् स मण्डूकानहिः स्वेच्छमभक्षयत्।
तद्वाहनाभिमानान्धः सेहे भेकपतिः स तत् ॥१६१॥
एवं मध्यप्रविष्टेन मूर्खः प्राज्ञेन वञ्च्यते।
मयाप्यनुप्रविश्यैवं देव त्वद्रिपवो हताः ॥१६२॥
तस्मान्नीतिविदा राज्ञा भवितव्यं कृतात्मना।
यथेच्छं भुज्यते भृत्यैर्हन्यते च परैर्जडः ॥१६३॥
श्रीरियं च सदा देव द्यूतलीलेव सच्छला।
वारिवीचीव चपला मदिरेव विमोहिनी ॥१६४॥
सा धीरस्य सुमन्त्रस्य राज्ञो निर्व्यसनस्य च।
विशेषज्ञस्य सोत्साहा पाशवद्धेव तिष्ठति ॥१६५॥
तदिदानीमवहितस्त्वं विद्वद्वचने स्थितः।
निहतारातिसुखितः शाधि राज्यमकण्टकम् ॥१६६॥
इत्युक्तो मन्त्रिणा मेघवर्णः स चिरजीविना।
सम्मान्य तं काकराजश्चक्रे राज्यं तथैव तम् ॥१६७॥
इत्युक्त्वा गोमुखो भूयो वत्सेशसुतमभ्यधात्।
तदेवं प्रज्ञया राज्यं तिर्यग्भिरपि भुज्यते ॥१६८॥
निष्प्रज्ञास्त्ववसीदन्ति लोकोपहसिताः सदा।
तथा च जडधीर्भृत्यो बभूवाढ्यस्य कस्यचित् ॥१६९॥
सोऽजानन्नपि तस्याङ्गे जानामीत्यभिमानतः।
स्फारं ददौ मौर्ख्यबलात्प्रभोस्त्वचमपाटयत् ॥१७०॥
ततस्तेन परित्यक्तः स्वामिनावससाद सः।
अजानानो हठात्कुर्वन् प्राज्ञमानी विनश्यति ॥१७१॥
इदं च श्रूयतामन्यन्मालवे भ्रातरावुभौ।
विप्रावभूतामद्वैधं तयोः पित्र्यमभूद्धनम् ॥१७२॥

तब साँप ने, मन्त्रियों के साथ उस राजा को, विविध प्रकार की चालों से प्रसन्न करके कपट से, अपने को थका-हारा-सा प्रकट किया और मेढकराज से बोला—॥१५८॥

'स्वामी, भोजन के विना अब मैं नहीं चल सकता। इसलिए, मुझे भोजन दो। सेवक, विना भोजन के कैसे रह सकता है ?॥१५९॥

यह सुनकर सवारी का शौकीन मेढकराज ने उस साँप से कहा—'तो कुछ थोड़े-से मेरे अनुचर मेढकों को खा लो' ॥१६०॥

तब वह सर्प, अपने इच्छानुसार मेढकों को क्रमशः खाने लगा। सवारी के आनन्द से अन्धा मेढकराज यह सब सहन करता था॥१६१॥

'इस प्रकार, मूर्खों के भीतर घुसा हुआ बुद्धिमान् मूर्खों को ठग लेता है। इसी प्रकार, महाराज, मैंने भी शत्रुओं में घुसकर ही तुम्हारे शत्रुओं का नाश किया॥१६२॥

अतः, बुद्धिमान् राजा को नीतिज्ञ भी होना चाहिए। अन्यथा, सेवक मूर्ख राजा को मनमाना लूटते-खसोटते और नष्ट कर डालते हैं॥१६३॥

यह लक्ष्मी, जूए के खेल के समान छल से भरी, जल-तरंग के समान चचल और मदिरा के समान नशीली होती है। इसलिए, यह (लक्ष्मी) धैर्यशाली, नीतिज्ञ, व्यसनहीन और विशेषज्ञ राजा के पास जाल से बँधी हुई-सी स्थिर रहती है॥१६४–१६५॥

अतः, अब तुम सावधान होकर नीतिज्ञ विद्वानों की बात मानकर, शत्रु के नाश हो जाने से सुखी होकर निष्कंटक राज्य का पालन करो'॥१६६॥

मन्त्री चिरजीवी से इस प्रकार कहा गया काकराज मेघवर्ण, उस मन्त्री का सम्मान करके उसी प्रकार राज्य करता रहा॥१६७॥

ऐसा कहकर गोमुख ने, वत्सराज के पुत्र नरवाहनदत्त से कहा—'स्वामिन्, इस प्रकार बुद्धिबल से पशुपक्षी भी राज्य करते हैं; किन्तु बुद्धिहीन व्यक्ति, लोगों से हँसे जाते हैं और कष्ट पाते हैं। इस प्रसंग में एक कथा सुनो॥१६८–१६९॥

किसी धनी सेठ का एक मूर्ख सेवक था, जो शरीर में मालिश करना नहीं जानता था। किन्तु 'जानता हूँ', इस अभिमान से बलपूर्वक मालिश करते हुए उसने स्वामी के शरीर की चमड़ी उधेड़ दी॥१७०॥

तब स्वामी ने उसे निकाल दिया और वह दुःखी हुआ। इस प्रकार न जानते हुए भी हठ-पूर्वक जो जानकारी का ढोंग रचता है, वह नष्ट हो जाता है॥१७१॥

और भी सुनो। मालव देश में दो ब्राह्मण-बन्धु रहते थे। उनके पैतृक धन का बँटवारा नहीं हुआ था॥१७२॥

११०

विभज्यमाने चार्थेऽस्मिन्न्यूनाधिकविवादिनौ।
स्थेयीकृत उपाध्यायश्छान्दसस्तावभाषत ॥१७३॥
वस्तु वस्तु समे द्वे द्वे अर्धे कृत्वा विभज्यताम्।
युवाभ्यां येन नैव स्यान्न्यूनाधिककृतः कलिः ॥१७४॥
तच्छ्रुत्वा वेश्मशय्यादिभाण्डं सर्वं पशूनपि।
एकमेकं द्विधा कृत्वा मूढौ विभजतः स्म तौ ॥१७५॥
एका दासी तयोरासीत्सापि ताभ्यां द्विधा कृता।
तद्बुद्ध्वा दण्डितौ राज्ञा सर्वस्वं तावुभावपि ॥१७६॥
द्वौ लोकौ नाशयन्त्येवं मूर्खा मूर्खोपदेशतः।
तस्मान्मूर्खान्न सेवेत प्राज्ञः सेवेत पण्डितान् ॥१७७॥
असन्तोषोऽपि दोषाय तथा चेदं निशम्यताम्।
आसन् प्रव्राजकाः केचिद्भिक्षासन्तोषपीवराः ॥१७८॥
तान्दृष्ट्वा पुरुषाः केचिदन्योन्यं सुहृदोऽब्रुवन्।
अहो भिक्षाशिनोऽप्येते पीनाः प्रव्राजका इति ॥१७९॥
एकस्तेषु ततोऽवादीत् कौतुकं दर्शयामि वः।
अहं कृशीकरोम्येतान् भुञ्जानानपि पूर्ववत् ॥१८०॥
इत्युक्त्वा स निमन्त्र्यैतान् क्रमात् प्रव्राजकान् गृहे।
एकाहं भोजयामास षड्रसाहारमुत्तमम् ॥१८१॥
तेऽथ मूर्खास्तदास्वादं स्मरन्तो भैक्षभोजनम्।
न तथाभिलषन्ति स्म तेन दुर्बलतां ययुः ॥१८२॥
ततः प्रदर्श्य सुहृदां दृष्ट्वा तत्सन्निधौ च तान्।
प्रव्राजकांस्तदाहारदायी स पुरुषोऽब्रवीत् ॥१८३॥
तदा भैक्षेण सन्तुष्टा हृष्टपुष्टा इमेऽभवन्।
अधुना तदसन्तोषदुःखाद्दुर्बलतां गताः ॥१८४॥
तस्मात्प्राज्ञः सुखं वाञ्छन्सन्तोषे स्थापयेन्मनः।
लोकद्वयेऽप्यसन्तोषो दुःसहाश्रान्तदुःखदः ॥१८५॥
इति तेनानुशिष्टास्ते सुहृदो दुष्कृतास्पदम्।
असन्तोषं जहुः कस्य सत्सङ्गो न भवेच्छुभः ॥१८६॥

जब वे बँटवारा करने लगे, तब आपस में कम और अधिक भाग का झगड़ा खड़ा हो गया। तब उन्होंने एक वेदपाठी अध्यापक को निर्णायक माना। उसने कहा,—'तुम दोनों प्रत्येक वस्तु को दो भागों में बराबर बाँटो। इससे तुम दोनों में कम और अधिक का झगड़ा न होगा ॥१७३–१७४॥

मध्यस्थ (निर्णायक) की आज्ञा से उन दोनों ने मकान, खाट, बरतन पशु आदि सबके दो-दो बराबर टुकड़े करके बाँट लिये। अब उनके पिता की एक दासी रह गई। उसको भी काटकर उन दोनों ने दो टुकड़े कर डाले इस हत्या के अपराध में, राजा, ने, उन दोनों का, सब माल हरण करके उन्हें सजा दे दी ॥१७५–१७६॥

इस प्रकार, मूर्खजन धूर्तों के उपदेश से दोनों लोकों का नाश करते हैं। इसलिए, समझदार व्यक्ति को चाहिए कि वह धूर्तों का नहीं, प्रत्युत विद्वानों की संगति करे ॥१७७॥

असन्तोष भी अच्छा नहीं होता। इस प्रसंग में एक कथा सुनो। कहीं पर कुछ साधु भिक्षा से सन्तोष कर हृष्ट-पुष्ट बने रहते थे। उन मोटे-ताजे साधुओं को देखकर कुछ मित्रों ने आपस में कहा—'आश्चर्य है कि भीख माँगकर खानेवाले ये साधु भी इतने मोटे हुए हैं' ॥१७८–१७९॥

तब उनमें से एक ने कहा—'देखो मैं तुम्हें तमाशा दिखाता हूँ। भोजन करते हुए भी इन्हें मैं पहले के समान ही दुर्बल कर देता हूँ' ॥१८०॥

ऐसा कहकर उसने उन साधुओं को क्रमशः अपने घर में निमन्त्रण देकर एक दिन बहुत-सुन्दर षड्रस भोजन कराया। वे मूर्ख साधु, उसके उत्तम और स्वादिष्ट भोजन का स्मरण करते हुए भिक्षा के भोजन से असन्तोष करने लगे और धीरे-धीरे दुर्बल हो गये ॥१८१-१८२॥

तब अपने मित्रों को दिखाकर उन साधुओं के सामने ही उस भोजन करानेवाले ने कहा—॥१८३॥

'मेरे यहाँ भोजन करने के पहले ये साधु भिक्षा के अन्न से ही हृष्ट-पुष्ट बने हुए थे। अब उस उत्तम भोजन का स्वाद पाकर इन्हें भिक्षा से असन्तोष हो गया, इसलिए दुर्बल होने लगे ॥१८४॥

इसलिए, सुख चाहनेवाला बुद्धिमान् व्यक्ति, मन को सदा सन्तुष्ट रखे। असन्तोष दोनों लोकों में असह्य और निरंतर दुःखदायी होता है' ॥१८५॥

इस प्रकार, उस मित्र से शिक्षा पाये हुए उसके मित्रों ने, पापों के भांडार असन्तोष का त्याग कर दिया। सच है, सत्संग किसे कल्याणकारी नहीं होता ॥१८६॥

सुवर्णमुग्धकथा

अयं सुवर्णमुग्धश्च देवेदानीं निशम्यताम्।
पुमान् कश्चिज्जलं पातुं तडागमगमद्युवा ॥१८७॥
स जडोऽनोकहस्थस्य स्वर्णचूडस्य पक्षिणः।
सुवर्णवर्ण तत्राम्भस्यपश्यत्प्रतिबिम्बकम् ॥१८८॥
सुवर्णमिति मत्वा तद्ग्रहीतुं प्रविवेश तम्।
तडागं न च तत्प्राप दृष्टनष्टं चले जले ॥१८९॥
आरुह्यारुह्य च जले स तत्पश्यन् प्रविश्य तत्।
पुनः पुनस्तडागाम्भो जिघृक्षुर्नापि किञ्चन ॥१९०॥
पित्रा च स्वेन दृष्टोऽथ पृष्टो निन्ये गृहं जडः।
तां दृष्ट्वा प्रतिमां तोये खगं विद्राव्य बोधितः ॥१९१॥
निर्विमर्शा मृषाज्ञानैर्मुह्यन्त्येवमबुद्धयः।
उपहास्याः परेषां च शोच्याः स्वेषां भवन्ति च ॥१९२॥

मूर्खसेवकानां कथा

अयं चान्यो महामूर्खवृत्तान्तोऽत्र निशम्यताम्।
कस्याप्युष्ट्रोऽवसन्नोऽभूद्भारेण वणिजोऽध्वनि ॥१९३॥
स भृत्यानब्रवीत् कञ्चिदुष्ट्रं गत्वान्यमानये।
क्रीत्वाहं योऽस्य करभस्यार्धं भारादितो हरेत् ॥१९४॥
मेघागमे यथा वस्त्रपेटास्वेतासु न स्पृशेत्।
अम्भश्चर्माणि युष्माभिस्तथा कार्यमिह स्थितैः ॥१९५॥
इत्युष्ट्रपार्श्वेऽवस्थाप्य भृत्यांस्तस्मिंस्ततो गते।
वणिज्यकस्मादुन्नम्य प्रारेभे वर्षितुं घनः ॥१९६॥
तथा कार्यं यथा नाम्भः पेटाचर्माणि संस्पृशेत्।
इति नः स्वामिना प्रोक्तमित्यालोच्याथ ते जडाः ॥१९७॥
कृष्ट्वा वस्त्राणि पेटाभ्यस्तैस्ते तान्यभ्यवेष्टयन्।
चर्माणि तेन वस्त्राणि विनेशुस्तेन वारिणा ॥१९८॥
पापाः किमत्र सकलो वस्त्रौघो नाशितोऽम्भसा।
इत्यागतोऽथ स वणिक्क्रुद्धो भृत्यानभाषत ॥१९९॥
त्वयैवादिष्टमुदकात् पेटाचर्माभिरक्षणम्।
दोषस्तत्र च कोऽस्माकमिति तेऽपि तमभ्यधुः ॥२००॥

सुवर्णमुग्ध की कथा

स्वामी, अब सुवर्णमुग्ध की कथा सुनो। एक युवा पुरुष जल पीने के लिए तालाब के किनारे गया ॥१८७॥

वहाँ उसने एक वृक्ष पर बैठे हुए सोने की कलगीवाले पक्षी की परछाईं पानी में देखी ॥१८८॥

उसे सोना समझकर लेने के लिए वह मूर्ख तालाब में उतरकर गया, किन्तु चंचल पानी में दीखते और नष्ट होते सोने को वह न पा सका। वह जल से निकल-निकलकर बार-बार सोने को देखता और उसमें सोना पाने के लिए उतरता रहा, किन्तु अन्ततः उसने पाया कुछ नहीं ॥१८९–१९०॥

ऐसा करते हुए उसे, उसके पिता ने देखा और उससे पूछकर तथा पानी में पक्षी की छाया देखकर, वृक्ष से पक्षी को उड़ाकर उसने अपने मूर्ख पुत्र को असलियत समझा दी और उसे अपने साथ घर ले गया ॥१९१॥

इस प्रकार, विचारहीन मूर्ख, झूठी तृष्णा में पड़कर अपने अज्ञान का प्रदर्शन करते हैं। वे दूसरों के लिए हँसने के योग्य और अपने लिए स्वयं शोचनीय हो जाते हैं ॥१९२॥

मूर्ख सेवकों की कथा

अब महामूर्खों की एक और कथा सुनो। किसी बनिये का ऊँट अधिक भार के कारण मार्ग में ही थककर बैठ गया। उसने अपने सेवकों से कहा—'मैं जाकर एक दूसरा ऊँट खरीद लाता हूँ, जो इसका आधा बोझ ले ले। तुमलोग यहाँ रुककर मेरा सामान देखना और पानी बरसने पर कपड़ों की इन पिटारियों के ऊपर चढ़े हुए चमड़े पर पानी न लगे, इसलिए इस पर भी ध्यान देना (अर्थात् पिटारियों के कपड़े न भीगें)।' इस प्रकार, सेवकों को ऊँट के पास रखकर उसके चले जाने पर अकस्मात् बादल आकाश में घिरकर बरसने लगे ॥१९३–१९६॥

'ऐसा करना कि पानी पिटारियों के चमड़े का स्पर्श न करे'—इस प्रकार विचार करके उन मूर्खों ने पिटारियों से कपड़ों के थान निकालकर उनसे ही पिटारियों को लपेट दिया। जिससे पिटारियों के ऊपर चढ़ा हुआ चमड़ा तो बच गया, किन्तु उस बनिये के कपड़े कीचड़-पानी से नष्ट हो गये। तदनन्तर, लौटकर आये हुए उस बनिये ने क्रुद्ध होकर उन सेवकों से कहा—'पापियो, तुमलोगों ने मेरे सारे कपड़े पानी से क्यों नष्ट कर दिये?' तब सेवकों ने उससे कहा—'तुम्हीं ने तो आज्ञा दी थी कि पानी से पिटारियों के चमड़े की रक्षा करना, इसमें हमारा क्या दोष है?' ॥१९७–२००॥

चर्मस्वार्द्रेषु नश्यन्ति वस्त्राणीति मयोदितम्।
वस्त्राणामेव रक्षार्थमुक्तं वो न तु चर्मणाम् ॥२०१॥
इत्युक्त्वा चान्यकरभन्यस्तभारो वणिक्ततः।
स गत्वा स्वगृहं भृत्यान् सर्वस्वं तानदण्डयत् ॥२०२॥
एवमज्ञातहृदया मूर्खाः कृत्वा विपर्ययम्।
घ्नन्ति स्वार्थं परार्थं च तादृग्ददति चोत्तरम् ॥२०३॥

अपूपमुग्धकथा

अयं चापूपिकामुग्धः संक्षेपेण निशम्यताम्।
क्रीणाति स्माध्वगः कश्चित्पणेनाष्टावपूपकान् ॥२०४॥
तेषां च यावत् षड्भुङ्क्ते तावन्मेने न तृप्तताम्।
सप्तमेनाथ भुक्तेन तृप्तिस्तस्योदपद्यत ॥२०५॥
ततश्चक्रन्द स जडो मुषितोऽस्मि न किं मया।
एष एवादितो भुक्तोऽपूपो येनास्मि तर्पितः ॥२०६॥
नाशिताः किं वृथैवान्ये मया हस्तेन किं कृताः।
इति शोचन् क्रमात्तृप्तिमजानञ्जहसे जनैः ॥२०७॥
..............................।
.... ॥२०८॥[1]

कस्यापि मूर्खसेवकस्य कथा

कश्चिद्दासो हि वणिजा मूर्खः केनाप्यभण्यत।
रक्षेस्त्वं विपणीद्वारं क्षणं गेहं विशाम्यहम् ॥२०९॥
इत्युक्तवति यातेऽस्मिन्वणिजि द्वारपट्टकम्।
विपणीतो गृहीत्वांसे दासो द्रष्टुमगान्नटम् ॥२१०॥
आगच्छंश्च ततो दृष्ट्वा वणिजा तेन भर्त्सितः।
त्वदुक्तं रक्षितं द्वारं मयेदमिति सोऽब्रवीत् ॥२११॥
इत्यनर्थाय शब्दैकपरोऽतात्पर्यविज्जडः।
एवं च महिषीमुग्धमपूर्वं श्रृणुताधुना ॥२१२॥

---

१. मूलपुस्तके श्लोकोऽयं त्रुटितः।

'चमड़े के गीला होने से उसके भीतर रखे वस्त्र नष्ट हो जायेंगे......यह मैंने कपड़ों की रक्षा के लिए ही तो कहा था। चमड़े की रक्षा के लिए नहीं'—ऐसा कहकर उस बनिये ने ऊँट के दूसरे बच्चे पर भार लादा और वहाँ से घर गया। घर जाकर उसने सेवकों का सर्वस्व हरण करके उन्हें दंड दिया ॥२०१-२०२॥

इस प्रकार मूर्ख व्यक्ति हृदय की सच्ची भावना न समझकर सीधी बात को भी उल्टी समझते है और अपनी तथा दूसरों की हानि कर डालते हैं और वैसा ही उत्तर भी देते हैं ॥२०३॥

अपूपमुग्ध की कथा

इसी प्रकार मालपूए के मूर्ख की कथा संक्षेप में सुनो। किसी बटोही ने, एक पैसे के आठ पूए खरीदे। उनमें से छह पूए खा लेने तक उसका पेट न भरा, किन्तु सातवाँ पूआ खाते ही उसका पेट भर गया। यह देखकर वह चिल्लाने लगा कि 'हाय, मैं लुट गया! यदि मैं इस सातवें पूए को पहले खा जाता, तो बाकी पूए नष्ट न होते। इसी एक से ही पेट भर जाता?' उसकी यह बात सुनकर वहाँ बैठे सभी व्यक्ति पेट पकड़-पकड़कर हँसने लगे ॥२०४-२०८॥

एक मूर्ख नौकर की कथा

अब एक और महामूर्ख की कथा सुनो। किसी बनिये का मूर्ख सेवक था। बनिये ने उससे कहा—'दूकान के दरवाजे की रक्षा करना, मैं थोड़ी देर के लिए घर जाता हूँ।' बनिये के इस प्रकार कहकर चले जाने पर वह दूकान के दरवाजे को अपने कन्धे पर लेकर कहीं नट का खेल देखने चला गया। बनिये ने आकर जब यह देखा, तब उसे खूब डाँटा। तब सेवक ने उत्तर दिया कि तुमने द्वार की रखवाली के लिए कहा था, तब मैंने उसकी रक्षा कन्धे पर रखकर की ॥२०९—२११॥

इस प्रकार, किसी बात के भीतरी अर्थ को न समझकर मूर्ख, केवल शब्द को ही पकड़ते हैं। इसी प्रकार एक महिष मूर्ख की कथा सुनो ॥२१२॥

महिषमुग्धकथा

कस्यचिन्महिषः कैश्चिद्ग्राम्यैर्ग्रामस्य बाह्यतः।
नीत्वा वटतलं भिल्लवाटे व्यापाद्य भक्षितः ॥२१३॥
तेन गत्वाथ विज्ञप्तो महिषस्वामिना नृपः।
ग्राम्यानानाययामास स तान् महिषभक्षकान् ॥२१४॥
तत्समक्षं स राजाग्रे महिषस्वाम्यभाषत।
तडागनिकटे देव नीत्वा वटतरोरधः ॥२१५॥
एभिर्मे महिषो हत्वा भक्षितः पश्यतो जडैः।
तच्छ्रुत्वान्येषु तेष्वेको वृद्धमूर्खोऽब्रवीदिदम् ॥२१६॥
तडाग एव नास्त्यस्मिन् ग्रामे न च वटः क्वचित्।
मिथ्या वक्त्येष महिषः क्व हतो भक्षितोऽस्य वा ॥२१७॥
श्रुत्वैतन्महिषस्वामी सोऽब्रवीन्नास्ति किं वटः।
तडागश्च स पूर्वस्यां दिशि ग्रामस्य तस्य वः ॥२१८॥
अष्टम्यां च स युष्माभिर्भक्षितो महिषोऽत्र मे।
इत्युक्तस्तेन स पुनर्वृद्धमूर्खोऽब्रवीदिदम् ॥२१९॥
पूर्वा दिगेव नास्त्यस्मद्ग्रामे नाप्यष्टमी तिथिः।
एतच्छ्रुत्वा हसन् राजा तमाहोत्साह यञ्जडम् ॥२२०॥
त्वं सत्यवादी नासत्यं किञ्चिद्वदसि तन्मम।
सत्यं ब्रूहि स युष्माभिः किं भुक्तो महिषो न वा ॥२२१॥
एतच्छ्रुत्वा जडोऽवादीन्मृते पितरि वत्सरैः।
त्रिभिर्जातोऽस्मि तेनैव शिक्षितोऽस्म्युक्तिपाटवम् ॥२२२॥
तदसत्यं महाराज न कदाचिद्वदाम्यहम्।
भुक्तोऽस्य महिषोऽस्माभिरन्यद्वक्ति मृषाह्यसौ ॥२२३॥
श्रुत्वैतत्सानुगो राजा हासं रोद्धुं स नाशकत्।
निर्यात्य महिषं तस्य तांश्च ग्राम्यानदण्डयत् ॥२२४॥
इत्यगुह्यं निगूहन्ते गुह्यं प्रकटयन्ति च।
मौर्ख्याभिमानेनादातुं मूर्खाः प्रत्ययमात्मनि ॥२२५॥
कश्चिद्दरिद्रं गृहिणी चण्डी मूर्खमभाषत।
प्रातः पितृगृहं यास्याम्युत्सवेऽस्मि निमन्त्रिता ॥२२६॥

महिषीमुग्ध की कथा

कुछ गाँव के लोगों ने किसी गँवार का भैंसा, गाँव के बाहर भीलों की बस्ती में ले जाकर वट-वृक्ष के नीचे मारकर खा लिया ॥२१३॥

उस भैंसावाले ने, जाकर राजा से निवेदन किया। तदनन्तर, राजा ने भैंसा खानेवाले उन सभी गाँववालों को बुलवाया ॥२१४॥

उनके सामने भैंसावाला गँवार बोला—'इन लोगों ने मेरे देखते-देखते मेरे भैंसे को तालाब के पास वटवृक्ष के नीचे मारकर खा लिया।' यह सुनकर उनमें से एक वृद्ध मूर्ख ने कहा—'इस गाँव में न तो कोई तालाब है और न वट का ही वृक्ष, इसलिए यह झूठ बोलता है। हमने इसका भसा कहाँ मारा और कहाँ खाया?' ॥२१५-२१७॥

यह सुनकर भैंसावाला बोला—'तुम्हारे गाँव की पूर्व दिशा में तालाब और वट का वृक्ष क्या नहीं है?'॥२१८॥

'अष्टमी तिथि को तुमलोगों ने मेरे भैंसे को खाया है।' उसके इस प्रकार कहने पर वह वृद्ध मूर्ख फिर बोला—'हमारे गाँव में पूर्व दिशा ही नहीं है और न अष्टमी तिथि ही है।' यह सुनकर हँसते हुए राजा ने, उस मूर्ख को उत्साहित करते हुए कहा—'तू सच बोलनेवाला है, कुछ भी झूठ नहीं बोलता। अतः, मुझे सच बता—'तुमने भैंसा खाया है या नहीं?'॥२१९-२२१॥

यह सुनकर वह मूर्ख बोला—'पिता के मरने के तीन वर्षों पश्चात् मैं उत्पन्न हुआ हूँ और उसी पिता ने मुझे यह चतुराई सिखाई है, इसलिए महाराज, मैं झूठ कभी नहीं बोलता। हम लोगों ने इसका भैंसा खाया है, किन्तु और दूसरी बात जो यह कहता है, वह झूठी है।' ॥२२२-२२३॥

यह सुनकर अपने अनुचरों के साथ राजा हँसी को न रोक सका और उसने भैंसावाले को मूल्य दिलाकर उन गँवारों को दंड दिया ॥२२४॥

मूर्खजन, अपनी मूर्खता के अभिमान से, अपने प्रति विश्वास कराने के लिए जो छिपाने योग्य नहीं है, उसे छिपाते हैं और जो छिपाने योग्य है, उसे प्रकट कर डालते हैं ॥२२५॥

किसी एक दरिद्र से उसकी गुस्सैल स्त्री बोली,—'मैं एक उत्सव में अपने पिता के घर निमन्त्रित हूँ। अतः, कल प्रातः मैं वहाँ जाऊँगी ॥२२६॥

तत्त्वयोत्पलमालैका नानीता चेत्कुतोऽपि मे।
तन्न भार्यास्मि ते नापि भर्त्ता मम भवानिति ॥२२७॥
ततस्तदर्थं रात्रौ स राजकीयसरो ययौ।
तत्प्रविष्टश्च कोऽसीति दृष्ट्वापृच्छ्यत रक्षकैः ॥२२८॥
चक्राह्वोऽस्मीति च वदन् बद्ध्वा नीतः प्रगे स तैः।
राजाग्रे पृच्छ्यमानश्च चक्रवाकरुतं व्यधात् ॥२२९॥
ततः स राजा कथितः स्वयं पृष्टोऽनुबन्धतः।
मूर्खः कथितवृत्तान्तो मुक्तो दीनो दयालुना ॥२३०॥
कश्चिच्च मूढधीर्वैद्यः केनाप्यूचे द्विजन्मना।
ककुदं मम पुत्रस्य कुब्जस्याभ्यन्तरं नय ॥२३१॥
एतच्छ्रुत्वाब्रवीद्वैद्यो दश देहि पणान् मम।
ददामि ते दशगुणान्साधयामि न चेदिदम् ॥२३२॥
एवं कृत्वा पणं तस्माद् गृहीत्वा तान् पणान्द्विजात्।
स तं स्वेदादिभिः कुब्जमरुजत्केवलं भिषक् ॥२३३॥
न चाशकत् स्पष्टयितुं ददौ दशगुणान् पणान्।
को हि कुब्जमृजूकर्तुं शक्नुयादिह मानुषम् ॥२३४॥
हासायैवमशक्यार्थप्रतिज्ञानविकत्थनम्।
तदीदृशैर्मूढमार्गैः सञ्चरेत न बुद्धिमान् ॥२३५॥
इति भद्रमुखात्स गोमुखाख्यात्सचिवान्मुग्धकथां निशम्य रात्रौ।
नरवाहनदत्तराजपुत्रः सुमतिः प्रीतमनास्तुतोष तस्मै ॥२३६॥
अभजच्च स तत्कथाविनोदाच्छनकैः शक्तियशः समुत्सुकोऽपि।
शयनीयमुपागतोऽथ निद्रां सवयोभिः सहितो निजैर्वयस्यैः ॥२३७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शक्तियशोलम्बके षष्ठस्तरङ्गः।

सप्तमस्तरङ्गः

गोमुखकथिता नवा नवाः कथाः

ततः प्रातः प्रबुद्धस्तां स शक्तियशसं प्रियाम्।
नरवाहनदत्तोऽत्र ध्यायन् व्याकुलतां ययौ ॥१॥

इसलिए, यदि तुम कहीं से भी मेरे लिए, नीले कमलों की माला न लाये, तो तुम मेरे पति नहीं और मैं तुम्हारी पत्नी नहीं' ॥२२७॥

अब वह पति बेचारा नीले कमल के पुष्पों के लिए राजा के तालाब में गया। उसमें जाने पर वहाँ के रक्षकों द्वारा 'कौन है,' इस प्रकार पूछे जाने पर उसने कहा, 'मैं चकवा हूँ।' तब वे यह सुनकर और उसे बाँधकर प्रातःकाल राजा के पास ले गये। वहाँ राजा के पूछने पर वह चकवे की बोली में बोला। तब भी राजा से बार-बार आग्रहपूर्वक पूछे जाने पर, उसके सच्चा वृत्तान्त सुना देने पर वह दयालु राजा द्वारा छोड़ दिया गया और घर आ गया ॥२२८-२३०॥

किसी ब्राह्मण ने, एक मूर्ख वैद्य से कहा- —'मेरे कुबड़े पुत्र का कूबड़ अन्दर कर दे। यह सुनकर वैद्य ने उससे कहा—'मुझे दस पैसे दे। यदि यह काम न करूँ, तो उसके दसगुने (सौ पैसे) तुझे दूंगा ॥२३१-२३२ ॥

इस शर्त पर ब्राह्मण से दस पैसे लेकर उसके वैद्य ने, स्वेद आदि उपचार करके उस पुत्र की चिकित्सा की ॥२३३ ॥

लेकिन, अन्ततः वह उसे ठीक न कर सका और उसके दसगुने अधिक पैसे उसे उस कुबड़े के पिता को लौटाने पड़े। भला कौन व्यक्ति कुबड़े को सीधा कर सकता है। इस प्रकार, असंभव कार्य करने की प्रतिज्ञा की डींग हाँकनेवाले मूर्खों के मार्ग में बुद्धिमान् व्यक्ति को नहीं पड़ना चाहिए ॥२३४-२३५॥

भद्रमुख मन्त्री गोमुख से, रात्रि में, यह कथा सुनकर, युवराज नरवाहनदत्त, अच्छी शिक्षा से प्रसन्न होकर उस पर बहुत सन्तुष्ट हुआ ॥२३६॥

इस कथा से मनोरंजन होने के कारण शक्तियशा के लिए उत्सुक होने पर भी अपने समान वय के मित्रों के साथ नरवाहनदत्त, पलंग पर लेटकर नींद में सो गया ॥२३७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शक्तियश लम्बक का
षष्ठ तरंग समाप्त

सप्तम तरंग

रात बीतने और प्रातःकाल होने पर, प्राणप्यारी शक्तियशा के लिए उत्सुक नरवाहनदत्त, उसका ध्यान करता हुआ व्याकुल हो गया ॥१॥

तद्विवाहावधेः शेषं मासस्य युगसन्निभम्।
मन्वानो न रतिं लेभे नवोढोत्केन चेतसा ॥२॥
तद्बुद्ध्वा गोमुखमुखात् स्नेहात्तस्य पितान्तिकम्।
वत्सराजः स्वसचिवान् प्राहिणोत्सवसन्तकान् ॥३॥
तद्गौरवात्तधैर्ये च तस्मिन् वत्सेश्वरात्मजे।
विदग्धो गोमुखो मन्त्री वसन्तकमुवाच तम् ॥४॥
युवराजमनस्तुष्टिकरीमार्यवसन्तक ।
विचित्रां काञ्चिदाख्याहि कथामभिनवामिति ॥५॥

यशोधरलक्ष्मीधरब्राह्मणभ्रात्रोः कथा

ततो वसन्तको धीमान्कथां वक्तुं प्रचक्रमे।
मालवे श्रीधरो नाम प्रख्यातोऽभूद्द्विजोत्तमः ॥६॥
उत्पद्येते स्म तस्य द्वौ सदृशौ यमजौ सुतौ।
ज्येष्ठो यशोधरो नाम तस्य लक्ष्मीधरोऽनुजः ॥७॥
यौवनस्थं च तौ विद्याप्राप्तये भ्रातरावुभौ।
देशान्तरं प्रतस्थाते सहितौ पितृसंज्ञया ॥८॥
क्रमात् पथि व्रजन्तौ च प्रापतुस्तौ महाटवीम्।
अजलामतरुच्छायां सन्तप्तसिकताचिताम् ॥९॥
तत्र यान्तौ परिक्लान्तावातपेन तृषा च तौ।
एकं सफलसच्छायं सायं सम्प्रापतुस्तरुम् ॥१०॥
मूले तस्य तरोश्चैकां वापीं पृथगवस्थिताम्।
शीतलस्वच्छसलिलां कमलामोदवासिताम् ॥११॥
तस्यां स्नात्वा कृताहारौ पीतशीताम्बुनिर्वृतौ।
शिलापट्टोपविष्टौ च क्षणं विश्राम्यतः स्म तौ ॥१२॥
अस्तं गते रवौ सन्ध्यामुपास्य प्राणिनां भयात्।
नेतुं निशां भ्रातरौ तौ तमारुरुहतुस्तरुम् ॥१३॥
निशामुखे च तत्राधो वाप्यास्तस्माज्जलान्तरात्।
उद्गच्छन्ति स्म पुरुषा बहवः पश्यतोस्तयोः ॥१४॥
तेषां चाशोधयत् कश्चिद्भूमिं तां कश्चिदालिपत्।
कश्चिच्च तत्र पुष्पाणि पञ्चपर्णान्यवाकिरत् ॥१५॥

उसके विवाह की एक मास की अवधि को एक युग के समान मानते हुए नववधू के लिए उत्सुक-हृदय नरवाहनदत्त को, चैन नहीं मिल रहा था। ॥२॥

गोमुख के मुख से यह समाचार जानकर उसके पिता वत्सराज ने स्नेह के कारण वसन्तक के साथ अपने मित्रों को भेजा ॥३॥

उनलोगों के गौरव (आश्वासन) से नरवाहनदत्त के कुछ धीरज धरने पर चतुर मन्त्री गोमुख ने, वसन्तक से कहा—॥४॥

'आर्य वसन्तक, युवराज के मन को प्रसन्न करनेवाली कोई नई और रोचक कथा सुनाओ' ॥५॥

यशोधर और लक्ष्मीधर की कथा

तब बुद्धिमान् वसन्तक ने कथा प्रारम्भ की। मालव देश में श्रीधर नाम का प्रसिद्ध और श्रेष्ठ ब्राह्मण रहता था। उसके यहाँ एक साथ दो बालक उत्पन्न हुए। बड़े का नाम यशोधर और छोटे का नाम लक्ष्मीधर था ॥६-७॥

युवावस्था में आये हुए वे दोनों भाई विद्याध्ययन के लिए पिता की आज्ञा से दूर देश को चले गये ॥८॥

क्रमशः मार्ग में चलते हुए उन्हें एक विशाल जंगल मिला। वह पानी और पेड़ों की छाया से हीन था और तपी हुई बालू से भरा था। उसमें जाते हुए वे दोनों घाम से विह्वल और प्यास से व्याकुल होकर सायंकाल फल और छायावाले एक विशाल वृक्ष के समीप पहुँचे ॥९—१०॥

उन्होंने उस वृक्ष के नीचे अलग से बनी हुई, शीतल और निर्मल जल से भरी हुई और कमलों की सुगन्धि से युक्त एक बावली देखी ॥११॥

उसमें नहाकर, भोजन करके और शीतल-मधुर जल पीकर तृप्त हुए वे दोनों एक पत्थर की चट्टान पर बैठकर विश्राम करने लगे ॥१२॥

सूर्य के अस्त हो जाने पर, सन्ध्या-वन्दन करके, हिंसक जन्तुओं के भय से रात बिताने के लिए वे दोनों पेड़ पर चढ़ गये ॥१३॥

रात्रि होने पर उस बावली के जल के बीच से, उनके देखते-देखते बहुत-से पुरुष निकले ॥१४॥

उनमें से कोई भूमि को साफ करने लगा, कोई लीपने लगा, और किसी ने वहाँ पाँच रंगों के फूल फैला दिये ॥१५॥

कश्चित्कनकपर्यङ्कमानीयात्र न्यवेशयत् ।
कश्चित्तस्तार तस्मिश्च तूलिकां प्रच्छदोत्तराम् ॥१६॥
केचित् पुष्पाङ्गरागादि पानमाहारमुत्तमम् ।
आनीय स्थापयामासुरेकदेशे तरोस्तले ॥१७॥
ततो वापीतलात्तस्माद्रूपेण जितमन्मथः ।
उदगात्पुरुषः खड्गी दिव्याभरणभूषितः ॥१८॥
तस्मिंस्तत्रासनासीने क्लृप्तमाल्यानुलेपनाः ।
सर्वे परिजनास्तस्यां वाप्यामेव ममज्जिरे ॥१९॥
अथोज्जगार स सुखादेकां भव्याकृतिं प्रियाम् ।
विनीतवेषां मङ्गल्यमाल्याभरणधारिणीम् ॥२०॥
द्वितीयां चातिरूपाढ्यां सद्वस्त्राभरणोज्ज्वलाम् ।
ते च भार्ये उभे तस्य पश्चिमा वल्लभा पुनः ॥२१॥
ततोऽत्र रत्नपात्राणि न्यस्य पात्रद्वये तयोः ।
भर्तुः सपत्न्याश्चाहारं पानं चोपानयत्सती ॥२२॥
तयोर्भुक्तवतोः सापि बुभुजे सोऽथ तत्पतिः ।
पर्यङ्कशयनं भेजे तया साकं द्वितीयया ॥२३॥
अनुभूय रतिक्रीडासुखं निद्रां जगाम सः ।
आद्या च भार्या सा तस्य पादसंवाहनं व्यधात् ॥२४॥
द्वितीया साप्यनिद्रैव तस्याभूच्छयने प्रिया ।
दृष्ट्वैतत्तौ विप्रपुत्रौ तरुस्थावूचतुर्मिथः ॥२५॥
कोऽयं स्यादवतीर्यैत् पादसंवाहिकामिमाम् ।
एतस्य किल पृच्छावः सर्वे ह्यविकृता अमी ॥२६॥
अवतीर्याथ तौ यावदाद्यां तामुपसर्पतः ।
यशोधरं तयोस्तावद्द्वितीया सा ददर्श तम् ॥२७॥
उत्थाय शयनात् पत्युः सुप्तस्योद्दामचापला ।
तमुपेत्य सुरूपं सा मां भजस्वेत्यभाषत ॥२८॥
पापे त्वं परदारा मे तवाहं परपूरुषः ।
तत्किमेवं ब्रवीषीति तेनोक्ता साब्रवीत् पुनः ॥२९॥
त्वादृशानां शतेनाहं सङ्गता किं भयं तव ।
न चेत्प्रत्येषि पश्यैतदङ्गुलीयशतं मम ॥३०॥

किसी ने वहाँ पर सोने का पलंग लाकर बिछा दिया, किसी ने उस पर लिहाफ के साथ गद्दी बिछाई, किसी ने सुन्दर पुष्प चुनकर सेज पर रख दिये । किसी ने उत्तमोत्तम भोजन-पान लाकर वृक्ष के नीचे एक ओर सजा दिये ॥१६-१७॥

तदनन्तर, उस बावली के तल से कामदेव को जीतनेवाला रूपवान्, दिव्य आभूषणों से विभूषित और तलवार हाथ में लिये हुए एक दिव्य पुरुष बाहर निकला ॥१८॥

वहाँ आकर और उसके आसन पर बैठ जाने पर, उसका सारा सेवक-परिवार उसी बावली में डूब गया ॥१९॥

तब उसने बावली से दो स्त्रियों को निकाला, उनमें एक सुन्दरी, नम्र वेषधारिणी और मंगलसूचक वस्त्राभरणों से सुशोभित थी और दूसरी अत्यन्त सुन्दरी और भड़कीले वस्त्राभरणों से युक्त थी । वे दोनों उसकी पत्नियाँ थीं, उनमें दूसरी यानी छोटी उसे अधिक प्यारी थी ॥२०-२१॥

तब पहली पतिव्रता स्त्री ने पति और सपत्नी (सौत) के आगे रत्न की दो थालियों में भोजन परोस दिया ॥२२॥

और, उन दोनों के भोजन कर लेने पर उस सती स्त्री ने स्वयं भोजन किया । तदनन्तर, उसका पति दूसरी छोटी स्त्री के साथ पलँग पर आनन्द-विलास करके नींद में सो गया । तब उसकी बड़ी (पहली) स्त्री उसके पैर दबाने लगी और दूसरी स्त्री भी पलंग पर पड़ी हुई जाग रही थी । ऊपर से यह सब देखकर उन ब्राह्मण-बालकों ने उसी वृक्ष पर बैठे हुए आपस में कहा—'यह कौन होगा, यह बात जानने के लिए पैर दबानेवाली इस स्त्री से पूछना चाहिए । ये सभी कोई दैवी व्यक्ति हैं' ॥ २३—२६॥

ऐसा सोचकर और वृक्ष से उतरकर जब वे पहली स्त्री की ओर चले, तबतक दूसरी लेटी हुई स्त्री ने यशोधर को देख लिया और इतने में, उग्र चंचलतावाली वह सोये हुए पति के पलंग से उठकर उसके पास आकर कहने लगी—'मेरा उपभोग करो' ॥२७–२८॥

यशोधर ने उससे कहा, 'पापिन, तू दूसरे की स्त्री है और मैं दूसरा पुरुष हूँ । फिर, इस प्रकार क्यों कहती है ?' तब वह स्त्री बोली—'मैं तेरे जैसे सौ पुरुषों का संगम कर चुकी हूँ, तो मुझे क्या डर है ? यदि विश्वास न हो, तो मेरी इन सौ अंगूठियों को देखो ॥२९–३०॥

एकैकमङ्गुलीयं हि हृतमेकैकतो मया।
इत्युक्त्वा स्वाञ्चलात्तस्मायङ्गुलीयान्यदर्शयत् ॥३१॥
ततो यशोधरोऽवादीत् सङ्गच्छस्व शतेन वा।
लक्षेण वा मम त्वं तु माता नाहं तथाविधः ॥३२॥
एवं निराकृता तेन सा प्रबोध्य पतिं क्रुधा।
यशोधरं तं सन्दर्श्य जगाद रुदती शठा। ३३॥
अनेन पाप्मना सुप्ते त्वय्यहं ध्वंसिता बलात्।
तच्छ्रुत्वैव स उत्तस्थौ खड्गमाकृष्य तत्पतिः ॥३४॥
अथान्या सा सती भार्या तं गृहीत्वैव पादयोः।
अब्रवीन्मा कृथा मिथ्या पापं शृणु वचो मम ॥३५॥
अनया पापया दृष्ट्वा त्वत्पार्श्वोत्थितया हठात्।
अर्थितोऽयं वचो नास्याः साधुस्तत्प्रत्यपद्यत ॥३६॥
माता मम त्वमित्युक्त्वा यदनेन निराकृता।
प्राबोधयदमर्षात् त्वां वधायैतस्य कोपतः ॥३७॥
अनया मत्समक्षं च रात्रिष्विह तरौ स्थिताः।
हृताङ्गलीयका भुक्ताः शतसंख्याः प्रभोऽध्वगाः ॥३८॥
द्वेषसम्भावनभयान्मया चोक्तं न जातु ते।
अद्य त्वत्पापभीत्यैवमवाच्यमहमब्रवम् ॥३९॥
वस्त्राञ्चलेऽङ्गुलीयानि पश्यास्याः प्रत्ययो न चेत्।
न चैष मे सतीधर्मो यद्भर्त्तर्यनृतं वचः ॥४०॥
सतीत्वप्रत्ययायेमं प्रभावं पश्य मे प्रभो।
इत्युक्त्वा भस्म चक्रे सा तरुं तं क्रोधवीक्षितम् ॥४१॥
प्रसाददृष्टं च पुनस्तं पूर्वाभ्यधिकं व्यधात्।
तद्दृष्ट्वा स चिराद् भर्त्ता तुष्टस्तामुपगूढवान् ॥४२॥
निरास च द्वितीयां तां छित्त्वा नासां कुगेहिनीम्।
अङ्गुलीयानि सम्प्राप्य तद्वस्त्रान्तात्स तत्पतिः ॥४३॥
क्षमयामास किल तं दृष्ट्वाध्ययनपाठकम्।
यशोधरं भ्रातृयुतं सनिर्वेदो जगाद च ॥४४॥
भार्ये हृदि निधायैते रक्ष्यामीर्ष्यावशात्सदा।
तथाप्येषा न शकिता पापैका रक्षितुं मया ॥४५॥

एक-एक पुरुष से मैंने एक-एक अंगूठी ली है', ऐसा कहकर उसने अपने आँचल की गाँठ से खोलकर उसे सौ अंगूठियाँ दिखा दीं ॥३१॥

तब यशोधर ने उससे कहा—'तू सौ से समागम कर या लाख से, मेरी तो तू माता है। मैं उनके समान पतित नहीं हूँ' ॥३२॥

इस प्रकार यशोधर से तिरस्कृत स्त्री ने क्रोध से अपने पति को जगाकर और उसे यशोधर को दिखाकर रोते हुए अपने पति से कहा—'तुम्हारे सोये रहने पर इस पापी ने मुझे बलात्कार करके भ्रष्ट कर दिया है।' उससे यह सुनते ही उसका पति, तलवार खींचकर उठ खड़ा हुआ ॥३३–३४॥

तदनन्तर, दूसरी पतिव्रता स्त्री ने उसके चरणों में गिरकर कहा—'झूठे ही पाप न करो, मेरी बात सुनो ॥३५॥

इस पापिन ने इसे देखकर, तुम्हारी बगल से उठकर इससे आग्रहपूर्वक संगम करने की प्रार्थना की, किन्तु इस सज्जन ने इसे स्वीकार नहीं किया ॥३६॥

तू मेरी माता है, ऐसा कहकर इसे फटकार दिया। इसी ईर्ष्या से इसने उसका वध कराने के लिए तुम्हें जगाया है ॥३७॥

हे स्वामिन्, इसने वृक्ष पर रात को ठहरे हुए एक सौ पथिकों के साथ समागम किया है और उनसे अँगूठियाँ ली हैं। वैर बढ़ने के भय से मैंने इस अकथनीय पाप की कथा तुमसे नहीं कही ॥३८–३९॥

यदि तुम्हें विश्वास न हो, तो इसके आँचल में बँधी हुई अँगूठियाँ देखो। यह मेरा सती-धर्म नहीं है कि मैं स्वामी से झूठ बोलूँ ॥४०॥

हे स्वामिन्, मेरे सतीत्व का विश्वास करने के लिए मेरा प्रभाव देखो।' ऐसा कहकर उसने क्रोध से देखकर एक वृक्ष को भस्म कर डाला और फिर प्रसन्न दृष्टि से देखकर उसे फिर पहले से भी अधिक हरा-भरा बना दिया। यह देखकर उस का सन्तुष्ट पति उसे बड़ी देर तक आलिंगन करता रहा ॥४१–४२॥

और, उस दूसरी स्त्री के आँचल से अँगूठियाँ पाकर उस पति ने, उसकी नाक काटकर उसे दूर कर दिया (निकाल दिया)॥४३॥

और, पढ़ने के लिए जानेवाले उस यशोधर से क्षमा-प्रार्थना की तथा खेद और वैराग्य के साथ वह उससे बोला–'मैं इन दोनों पत्नियों को हृदय में रखकर ईर्ष्या के कारण इनकी रक्षा करता रहा हूँ, परन्तु आज इस दुष्टा स्त्री की रक्षा मैं न कर सका ॥४४–४५॥

विद्युतं कः स्थिरीकुर्यात्को रक्षेच्चपलां स्त्रियम्।
साध्वी यदि परं स्वेन शीलेनैकेन रक्ष्यते॥४६॥
तद्रक्षिता सा भर्त्तारं रक्षत्युभयलोकयोः।
यथानया शापवरक्षमयाद्यास्मि रक्षितः॥४७॥
एतत्प्रसादात् कुलटासङ्गमोऽपगतो मम।
न चोपनतमत्युग्रं सद्विप्रवधपातकम्॥४८॥
इत्युक्त्वा स तमप्राक्षीदुपवेश्य यशोधरम्।
आगतौ स्थः कुतः कुत्र व्रजथः कथ्यतामिति॥४९॥
ततो यशोधरस्तस्मै स्ववृत्तान्तं निवेद्य सः।
विश्वासं प्राप्य पप्रच्छ तमप्येवं कुतूहलात्॥५०॥
न रहस्यं महाभाग यदि तद्ब्रूहि मेऽधुना।
कस्त्वमीदृशि भोगेऽपि किं च ते जलवासिता॥५१॥
तच्छ्रुत्वा श्रूयतां वच्मीत्युक्त्वा स पुरुषस्तदा।
जलवासी स्ववृत्तान्तमेवं वक्तुं प्रचक्रमे॥५२॥
हिमवद्दक्षिणो देशः कश्मीराख्योऽस्ति यं विधिः।
स्वर्गकौतूहलं कर्त्तुं मर्त्यानामिव निर्ममे॥५३॥
यत्र विस्मृत्य कैलासश्वेतद्वीपसुखस्थितिम्।
स्वयम्भुवौ स्थानशतान्यध्यासाते हराच्युतौ॥५४॥
वितस्ताजलपूतो यः शूरविद्वज्जनाकुलः।
अजेयश्छलदोषाणां द्विषतां बलिनामपि॥५५॥
तत्राहं भवशर्माख्यो ग्रामवासी किलाभवम्।
द्विजातिपुत्रः सामान्यो द्विभार्यः पूर्वजन्मनि॥५६॥
सोऽहं कदाचित् सञ्जातसंस्तवो भिक्षुभिः सह।
उपोषणाख्यं नियमं तच्छास्त्रोक्तं गृहीतवान्॥५७॥
तस्मिन् समाप्तप्राये च नियमे शयने मम।
पापा हठादुपेत्यैका भार्या सुप्तवती किल॥५८॥
तुर्ये तु यामे विस्मृत्य तद्व्रते तन्निषेवणम्।
निद्रामोहात्तया साकं रतं सेवितवानहम्॥५९॥
तन्मात्रखण्डिते तस्मिन्व्रतेऽहं जलपूरुषः।
इहाद्य जातस्ते द्वे च भार्ये जाते इहापि मे॥६०॥

बिजली को कौन स्थिर रख सकता है और चंचल (दुराचारिणी) स्त्री की कौन रक्षा कर सकता है ? सती स्त्री केवल एक अपने चरित्र से ही रक्षित होती है ॥४६॥

रक्षा की गई पतिव्रता दोनों लोकों में, पति की रक्षा करती है, जैसा कि शाप और वर देने में इस स्त्री ने मेरी रक्षा की है ॥४७॥

इसकी कृपा से मैं इस व्यभिचारिणी स्त्री के सम्पर्क से बचा और उत्तम ब्राह्मण की हत्या के पाप से भी बचा' ॥४८॥

इस प्रकार कहकर और यशोधर को बैठाकर उसने पूछा—'तुम दोनों कहाँ से आये हो और कहाँ जा रहे हो, यह मुझे बताओ' तब यशोधर ने अपना वृत्तान्त बताकर और उसका विश्वास प्राप्त करके कुतूहलवश उससे भी पूछा—॥४९–५०॥

'हे महापुरुष, यदि गुप्त रखने की बात न हो, तो यह बताओ कि ऐसे भोग प्राप्त करने पर भी तुम्हें यह जलवास कैसे मिला ? ॥५१॥

यह सुनकर, 'सुनो, कहता हूँ', ऐसा कहकर वह पुरुष उससे बोला—'हिमालय के दक्षिण की ओर कश्मीर नाम का देश है, जिसे मानों ब्रह्मा ने मनुष्यों के लिए, स्वर्ग का कौतूहल दूर करने के हेतु बनाया है ॥५२-५३॥

जहाँ कैलास और श्वेतद्वीप के सुखद निवास को छोड़कर शिव और विष्णु सैकड़ों स्थलों में स्वयं प्रादुर्भूत होकर निवास करते हैं। जो देश, वितस्ता नदी के जल से पवित्र एवं शूर तथा विद्वान् व्यक्तियों से भरा है, जो छल, कपट आदि दोषों से अजेय है, अर्थात् जहाँ छल, कपट का नाम नहीं है और जिसे बलवान् शत्रु भी विजित नहीं कर सकते ॥५४–५५॥

मैं उस कश्मीर में, भवशर्मा नाम का सामान्य स्थिति का ग्रामवासी ब्राह्मण-पुत्र था। पूर्वजन्म में मेरी दो पत्नियाँ थी। मैंने किसी समय भिक्षुओं के साथ सम्पर्क हो जाने के कारण शास्त्र में कहे गये उपोषण नाम के नियम-व्रत को स्वीकार किया ॥५६–५७॥

उस व्रत के प्रायः समाप्त हो जाने पर मेरी सेज पर मेरी पापिनी पत्नी, हठपूर्वक आकर सो गई ॥५८॥

रात के चौथे प्रहर में अपने व्रत का ध्यान न रखते हुए नींद के नशे में मैंने उस स्त्री के साथ समागम कर लिया। बस, उस व्रत का इतना ही खंडन हो जाने से मैं जल-पुरुष बनकर यहाँ उत्पन्न हो गया। और, वे ही दोनों पत्नियाँ यहाँ भी मेरी पत्नियाँ हुईं ॥५९–६०॥

एका सा कुलटा पापा द्वितीयेयं पतिव्रता।
खण्डितस्यापि तस्येदृक्प्रभावो नियमस्य मे ॥६१॥
जातिं स्मरामि यद्यच्च रात्रौ भोगा ममेदृशाः।
यदि नाखण्डयिष्यं तदिदं स्यान्मे न जन्म तत् ॥६२॥
इत्याख्याय स्ववृत्तान्तमतिथी तावपूजयत्।
समृष्टभोजनैर्दिव्यवस्त्रैश्च भ्रातरावुभौ ॥६३॥
ततोऽस्य सा सती भार्या पूर्ववृत्तमवेत्य तत्।
विन्यस्य जानुनी भूमाविन्दुं पश्यन्त्यभाषत ॥६४॥
भो लोकपालाः सत्यं चेदहं साध्वी पतिव्रता।
तदम्बुवासमुक्तोऽद्य स्वर्गं यात्वेष मे पतिः ॥६५॥
इत्युक्तवत्यामेवास्यां खाद्विमानमवातरत्।
तदारूढौ च तौ स्वर्गं दम्पती सह जग्मतुः ॥६६॥
असाध्यं सत्यसाध्वीनां किमस्ति हि जगत्त्रये।
तौ च विप्रौ तदालोक्य विस्मयं ययतुः परम् ॥६७॥
नीत्वा च रात्रिशेषं तं प्रभाते स यशोधरः।
लक्ष्मीधरश्च विप्रौ तौ भ्रातरौ प्रस्थितौ ततः ॥६८॥
सायं च निर्जनारण्ये वृक्षमूलमवापतुः।
जलप्रेप्सू च तस्मात्तौ वृक्षाच्छुश्रुवतुर्गिरम् ॥६९॥
हे विप्रौ तिष्ठतं तावदहमद्य करोमि वाम्।
स्नानान्नपानैरातिथ्यं गृहे मे ह्यागतौ युवाम् ॥७०॥
इत्युक्त्वा व्यरमद्वाक्च जज्ञे तत्राम्बुवापिका।
अथोपतस्थे तत्तीरे विचित्रं पानभोजनम् ॥७१॥
किमेतदिति साश्चर्यौ ततस्तौ द्विजपुत्रकौ।
स्नात्वा वाप्यां यथाकाममाहाराद्यत्र चक्रतुः ॥७२॥
ततः सन्ध्यामुपास्यैतौ यावत्तरुतले स्थितौ।
तावच्च कान्तः पुरुषस्तरोस्तस्मादवातरत् ॥७३॥
स चाभिवादितस्ताभ्यां विहितस्वागतः क्रमात्।
उपविष्टो द्विजातिभ्यां को भवानित्यपृच्छ्यत ॥७४॥
ततः स पुरुषोऽवादीत् पुराहं दुर्गतो द्विजः।
अभूवं तस्य मे जाता दैवाच्छ्रमणसङ्गतिः ॥७५॥

जिनमें एक वह पापिन और व्यभिचारिणी थी और दूसरी यह पतिव्रता है। खंडित व्रत का भी इतना प्रभाव है कि मैं पूर्व जन्म का स्मरण भी करता हूँ। यदि मैं अपना व्रत खंडित न करता, तो यहाँ मेरा जन्म भी न होता ॥६१–६२॥

इस प्रकार, अपना समाचार कहकर उस पुरुष ने, उन दोनों भाइयों, को, दिव्य भोजन और वस्त्रादि दे सम्मानित किया ॥६३॥

तब उस पुरुष की सती पत्नी ने, पहले समाचार को जानकर, भूमि पर घुटने टेककर और चन्द्रमा की ओर देखकर यह कहा—॥६४॥

'हे लोकपालो, यदि मैं सचमुच पतिव्रता हूँ, तो मेरा पति इस जल-वास से मुक्त होकर स्वर्ग को जाय' ॥६५॥

उसके इस प्रकार कहते ही आकाश से विमान उतरा और उस पर चढ़े हुए वे दम्पती (पति-पत्नी) स्वर्ग को चले गये ॥६६॥

सच है, सच्ची पतिव्रताओं के लिए तीनों लोकों में असाध्य क्या है? वे दोनों ब्राह्मण-पुत्र यह दृश्य देखकर अत्यन्त आश्चर्य-चकित हो गये ॥६७॥

शेष रात्रि को व्यतीत कर प्रातःकाल ही वे दोनों ब्राह्मण-पुत्र वहाँ से आगे चल पड़े ॥६८॥

और सायंकाल, एक निर्जन वन में, जल की इच्छा करते हुए जब वे एक वृक्ष के नीचे खड़े हुए, तब उन्होंने उस वृक्ष से यह वाणी सुनी—॥६९॥

'हे ब्राह्मणो, ठहरो, मैं अभी आप दोनों का स्नान और भोजन आदि से आतिथ्य करता हूँ; क्योंकि तुम दोनों मेरे घर पर आये हो।' ॥७०॥

ऐसा कहकर वह वाणी बन्द हो गई। तदनन्तर, वहीं एक सुन्दर बावली बन गई और उसके किनारे विविध प्रकार की भोजन-पान-सामग्री उपस्थित हो गई। 'यह क्या है', इस प्रकार आश्चर्य-चकित उन दोनों ब्राह्मण-पुत्रों ने वापी में स्नान करके भोजन किया ॥७१–७२॥

तदनंतर, सन्ध्या करके जब वे वृक्ष के नीचे बैठे, तभी एक सुन्दर पुरुष उस वृक्ष से उतरा ॥७३॥

उन ब्राह्मणों से प्रणाम किया गया वह पुरुष, उनका स्वागत करके क्रमशः जब बैठ गया, तब उससे उन ब्राह्मण-पुत्रों ने पूछा कि 'तुम कौन हो?'॥७४॥

तब वह पुरुष बोला कि मैं पहले जन्म में एक दरिद्र ब्राह्मण था। दैवयोग से कुछ श्रमणों (जैन साधुओं) से मेरी संगति हो गई ॥७५॥

कुर्वंस्तदुपदिष्टं च जातु व्रतमुपोषणम्।
शठेन सार्यं केनापि भोजितोऽस्मि बलात्पुनः॥७६॥
तेनाहं खण्डितात्तस्माद्व्रताज्जातोऽस्मि गुह्यकः।
पूर्णं यद्यकरिष्यं तदभविष्यं सुरो दिवि॥७७॥
एवं मयोक्तः स्वोदन्तो युवां कथयतं तु मे।
कुतो युवां किमेतां च प्रविष्टौ स्थो मरुस्थलीम्॥७८॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीत्तस्मै स्ववृत्तान्तं यशोधरः।
ततस्तौ ब्राह्मणौ यक्षः पुनरेवमभाषत॥७९॥
यद्येवं तदहं विद्याः स्वप्रभावाद्ददामि वाम्।
कृतविद्यौ गृहं यातं विदेशभ्रमणेन किम्॥८०॥
इत्युक्त्वा स ददौ ताभ्यां विद्यास्तौ च तदैव ताः।
तत्प्रभावाज्जगृहतुः सोऽथ यक्षो जगाद तौ॥८१॥
एकामिदानीं याचेऽहं भवद्भ्यां गुरुदक्षिणाम्।
युवाभ्यां मत्कृते कार्यं व्रतमेतदुपोषणम्॥८२॥
सत्याभिभाषणं ब्रह्मचर्यं देवप्रदक्षिणम्।
भोजनं भिक्षुवेलायां मनसः संयमः क्षमा॥८३॥
एकरात्रं विधायैतदर्पणीयं फलं मयि।
पूर्णव्रतफलं येन दिव्यत्वं प्राप्नुयामहम्॥८४॥
इत्युचिवान्विनम्राभ्यां ताभ्यां यक्षस्तथेति सः।
विप्राभ्यां प्रतिपन्नार्थस्तत्रैवान्तर्दधे तरौ॥८५॥
तौ चाप्रयाससिद्धार्थौ प्रहृष्टौ भ्रातरावुभौ।
रात्रिं नीत्वा परावृत्य स्वमेवाजग्मतुर्गृहम्॥८६॥
तत्राख्याय स्ववृत्तान्तमानन्द्य पितरौ निजौ।
उपोषणव्रतं तत्तौ यक्षपुण्याय चक्रतुः॥८७॥
अथैत्य स गुरुर्यक्षो विमानस्थो जगाद तौ।
युष्मत्प्रसादाद्देवत्वं प्राप्तोऽस्म्युत्तीर्य यक्षताम्॥८८॥
तदात्मार्थमिदं कार्यं युवाभ्यामपि तद्व्रतम्।
भविता येन देवत्वं देहान्ते युवयोरिति॥८९॥
अक्षीणार्थाविदानीं च वरान्मम भविष्यथः।
इत्युक्त्वा स विमानेन कामचारी ययौ दिवम्॥९०॥

एकबार मैं उनके द्वारा उपदिष्ट उपोषण (व्रत) करने लगा। उस व्रत के मध्य में ही किसी एक दुष्ट ने मुझे सायंकाल में भोजन करा दिया। इस प्रकार व्रत के खंडित हो जाने पर मैं गुह्यक (यक्ष) योनि में उत्पन्न हो गया। यदि व्रत को पूरा कर लेता, तो स्वर्ग में देवता बन जाता ॥७६–७७॥

यह मैंने अपना समाचार तुम्हें सुनाया। अब तुम अपना परिचय मुझे दो कि तुम लोग इस मरुभूमि में क्यों आ गये हो ? ॥७८॥

यह सुनकर यशोधर ने उसे अपना वृत्तान्त सुनाया। तब वह यक्ष, उन ब्राह्मण-पुत्रों से फिर बोला—॥७९॥

'यदि ऐसी बात है, तो मैं तुम दोनों को अपने प्रभाव से विद्याएँ प्रदान करता हूँ। तुम लोग विद्वान् होकर घर जाओ। व्यर्थ विदेश-भ्रमण से क्या लाभ है ?' ॥८०॥

यह कहकर यक्ष ने उन्हें विद्याएँ प्रदान कीं और उसी यक्ष की कृपा से उन्होंने भी विद्याएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर, यक्ष उन दोनों से बोला–'अब मैं तुम दोनों से गुरु-दक्षिणा माँगता हूँ। इस गुरु-दक्षिणा के रूप में तुम दोनों को मेरे लिए उपोषण (व्रत) करना चाहिए। सच बोलना, ब्रह्मचर्य रहना, देवता की प्रदक्षिणा करना, भिक्षुओं के समय (दिन रहते) भोजन करना, मन का संयम करना और क्षमा ये व्रत के आचरणीय नियम हैं। इसे एक रात करके इसका फल मुझे अर्पण कर देना। जिससे कि मुझे पूरे व्रत का फल (देवत्व) मिल जाय' ॥८१–८४॥

उन विनम्र दोनों बन्धुओं से इस प्रकार कहकर और उनसे व्रत के लिए स्वीकार-वचन लेकर वह यक्ष उसी वृक्ष में अन्तर्हित हो गया ॥८५॥

विना परिश्रम और प्रयत्न के अर्थ सिद्ध किये हुए उन दोनों ने, रात बिताकर, और अपने घर वापस आकर तथा माता-पिता को यह सारा वृत्तान्त सुनाकर उन्हें आनन्दित किया। तब उन दोनों ने अपने गुरु यक्ष के पुण्य के लिए उपोषण नामक व्रत किया ॥८६–८७॥

तदनन्तर, उसका गुरु यक्ष विमान में बैठकर उनके पास आया और बोला—'मैंने यक्ष योनि से मुक्त होकर तुम लोगों की कृपा से देवत्व प्राप्त कर लिया है, अतः अपने कल्याण के लिए तुम दोनों को भी वह व्रत करना चाहिए। इससे, मृत्यु के पश्चात् तुम लोग भी देवता बनोगे और इस जीवन में मेरे वरदान से अक्षय धनी बनोगे।' इस प्रकार कहकर वह कामचारी स्वर्ग को चला गया ॥८८–९०॥

ततो यशोधरो लक्ष्मीधरश्च भ्रातरावुभौ।
कृत्वा व्रतं तत्प्राप्तार्थविद्यावास्तां यथासुखम् ॥९१॥
एवं धर्मप्रवृत्तानां शीलं कृच्छ्रेऽप्यमुञ्चताम्।
देवता अपि रक्षन्ति कुर्वन्तीष्टार्थसाधनम् ॥९२॥
इत्थं वसन्तकाख्यातकथाद्भुतविनोदितः।
वत्सेश्वरसुतः प्रेप्सुः स शक्तियशसं प्रियाम् ॥९३॥
आहारसमये पित्रा समाहूतस्तदन्तिकम्।
नरवाहनदत्तोऽथ ययौ स्वसचिवैः सह ॥९४॥
अथानुरूपं भुक्त्वा च तत्र सायं स्वमन्दिरम्।
वयस्यैः स निजैः साकमाययौ गोमुखादिभिः ॥९५॥
तत्र तं गोमुखो भूयो विनोदयितुमब्रवीत्।
श्रूयतामिममन्यं वो देवाख्यामि कथाक्रमम् ॥९६॥

लब्धप्रणाशमकरवानरयोः कथा

आसीद्वलीमुखो नाम परिभ्रष्टः स्वयूथतः।
उदुम्बरवने तीरे वारिधेर्वानरर्षभः ॥९७॥
तस्य भक्षयतो हस्तश्च्युतमेकमुदुम्बरम्।
जघास शिशुमारोऽत्र वारिराशिजलाश्रयः ॥९८॥
तत्फलास्वादहृष्टश्च स प्रचक्रे कलं रवम्।
यद्रसात् स बहून्यस्मै फलानि कपिरक्षिपत् ॥९९॥
तथैव चाक्षिपन्नित्यं फलानि स तथैव च।
शिशुमारो रुतं चक्रे जज्ञे सख्यं ततस्तयोः ॥१००॥
तेनान्वहं तटस्थस्य जलस्थो निकटे कपेः।
शिशुमारो दिनं स्थित्वा स सायं स्वगृहं ययौ ॥१०१॥
ज्ञातार्था तस्य भार्या च सदा विरहदं दिवा।
कपिसख्यमनिच्छन्ती मान्द्यव्याजमशिश्रियत् ॥१०२॥
ब्रूहि प्रिये किमस्वास्थ्यं तव केन च शाम्यति।
इत्यार्त्तस्तं स पप्रच्छ शिशुमारः प्रियां मुहुः ॥१०३॥
निर्बन्धपृष्टापि यदा न सा प्रतिवचो ददौ।
रहस्यज्ञा सखी तस्यास्तदा तं प्रत्यभाषत ॥१०४॥

तब वह यशोधर और लक्ष्मीधर, दोनों भाई व्रत करके यक्ष की कृपा से, अक्षय धन और विद्या प्राप्त कर सुखपूर्वक रहने लगे ॥९१॥

इस प्रकार धर्म की ओर प्रवृत्ति रखनेवाले और दुःख में भी अपने चरित्र को सुरक्षित रखनेवालों की देवता भी रक्षा करते हैं ॥९२॥

इस प्रकार, वसन्तक द्वारा कही गई अद्भुत कथा से विनोदित और अपनी प्यारी शक्तियशा के लिए उत्कंठित वत्सेश्वर का पुत्र वह नरवाहनदत्त, भोजन के समय अपने पिता के बुलाने पर अपने मन्त्रियों के साथ वहाँ गया और समुचित भोजन करके सायंकाल गोमुख आदि मन्त्रियों के साथ अपने भवन में आ गया ॥९३–९५॥

अपने भवन में आने पर पुनः उसका मनोरंजन करने के लिए गोमुख ने कहा—'सुनिए, मैं दूसरी कथा प्रारम्भ करता हूँ' ॥९६॥

मगर और वानर की कथा

समुद्र के किनारे, गूलर के वन में अपने झुंड से छूटा हुआ वलीमुख नाम का एक बन्दर था ॥९७॥

वृक्ष पर बैठकर गूलर खाते हुए उसके हाथ से छूटे हुए एक गूलर को समुद्र के जल में रहनेवाले एक शिशुमार नामक मगर ने खा लिया और उसके स्वाद से प्रसन्न होकर उसने मीठी आवाज दी। उसकी वाणी के रस से सन्तुष्ट बन्दर ने, उसे बहुत-से गूलर के फल और फेंक दिये ॥९८-९९॥

इसी प्रकार, बन्दर, प्रतिदिन ऊपर से फल फेंकता था और शिशुमार, उन्हें खाकर उसी प्रकार मधुर गान किया करता था। कुछ दिनों में उन दोनों की परस्पर मित्रता हो गयी ॥१००॥

इस कारण प्रतिदिन, वह शिशुमार, तट पर रहनेवाले बन्दर के साथ फल खाता हुआ दिन व्यतीत कर सायंकाल अपने घर को जाता था ॥१०१॥

इस प्रकार सारे, दिन का विरह देनेवाली बन्दर की मित्रता को न चाहनेवाली शिशुमार की स्त्री ने बीमारी का बहाना बनाया ॥१०२॥

तब अत्यन्त दुःखी शिशुमार ने पत्नी से पूछा—'प्रिये, बताओ, तुम्हें क्या रोग है और वह कैसे शान्त होगा?' ॥१०३॥

उसके इस प्रकार आग्रहपूर्वक पूछने पर भी जब उसकी स्त्री ने उत्तर न दिया, तब उसके रहस्य को न जाननेवाली सखी ने उससे कहा—॥१०४॥

यद्यपि त्वं न कुरुषे नेच्छत्येषा तथाप्यहम्।
ब्रवीमि विबुधः खेदं जनानां निह्नुते कथम्॥१०५॥
स तादृगस्या भार्यायास्तवोत्पन्नो महागदः।
विना वानरहृत्पद्मयूषं न शममेति यः॥१०६॥
इत्युक्तः स प्रियासख्या शिशुमारो व्यचिन्तयत्।
कष्टं वानरहृत्पद्मं कुतः सम्प्राप्नुयामहम्॥१०७॥
सख्युः करोमि चेद्द्रोहं कपेस्तत्किं ममोचितम्।
सख्या किमथवा भार्या प्राणेभ्योऽप्यधिकप्रिया॥१०८॥
इत्यालोच्य स्वभार्यां तां शिशुमारो जगाद सः।
तर्ह्यानयाम्यखण्डं ते कपिं किं दूयसे प्रिये॥१०९॥
इत्युक्त्वा स ययौ तस्य मित्रस्य निकटं कपेः।
कथाप्रसङ्गमुत्पाद्य तमेवमवदत् कपिम्॥११०॥
अद्यापि न सखे दृष्टं गृहं भार्या च मे त्वया।
तदेहि तत्र गच्छावो विश्रमायैकमप्यहः॥१११॥
भुज्यते यत्र नान्योन्यं गृहमेत्य निरर्गलम्।
प्रदृश्यन्ते न दाराश्च कैतवं तन्न सौहृदम्॥११२॥
इति प्रतार्य जलधाववतार्यावलम्ब्य च।
वानरं शिशुमारस्तं गन्तुं प्रववृतेऽत्र सः॥११३॥
गच्छन्तं तं स दृष्ट्वा च वानरश्चकिताकुलम्।
सखेऽन्यादृशमद्य त्वां पश्यामीति स पृष्टवान्॥११४॥
निर्बन्धेनाथ पृच्छन्तं मत्वा हस्तस्थितं च तम्।
प्लवङ्गमं जगादैवं शिशुमारो जडाशयः॥११५॥
अस्वस्था मे स्थिता भार्या सा च पथ्योपयोगि माम्।
याचते कपिहृत्पद्मं तेनाद्य विमनाः स्थिता॥११६॥
श्रुत्वैतत्स वचस्तस्य कपिः प्राज्ञो व्यचिन्तयत्।
हन्तैतदर्थमानीतः पापेनाहमिहामुना॥११७॥
अहो स्त्रीव्यसनाक्रान्तो मित्रद्रोहेऽयमुद्यतः।
किं वा दन्तैः स्वमांसानि भूतग्रस्तो न खादति॥११८॥
इत्थं सञ्चिन्त्य च प्राह शिशुमारं स वानरः।
यद्येवं तत्त्वयैतन्मे किं नोक्तं प्रथमं सखे॥११९॥

'यद्यपि तू करेगा नहीं और यह भी ऐसा चाहती नहीं, तो भी कह देती हूँ, कोई भी जानकार लोगों के दुःख को कैसे छिपा सकता है ?॥१०५॥

तुम्हारी पत्नी को ऐसा भीषण रोग उत्पन्न हो गया है, जो बन्दर के हृदय-कमल के स्वरस के विना दूर नहीं होगा' ॥१०६॥

पत्नी की सहेली से इस प्रकार कहा गया शिशुमार सोचने लगा–'दुःख है, बन्दर का हृदय-कमल मुझे कहाँ मिलेगा ? ॥१०७॥

यदि मैं अपने मित्र बन्दर के साथ विश्वासघात करूँ, तो क्या यह मेरे लिए उचित है ? अथवा मित्र से भी क्या ? पत्नी तो मेरी प्राणों से भी प्यारी है'॥१०८॥

ऐसा सोचकर शिशुमार ने अपनी भार्या से कहा–'प्रिये, क्यों दुःखी होती है, मैं तेरे लिए समूचा बन्दर ही ले आता हूँ'॥१०९॥

ऐसा कहकर शिशुमार, अपने मित्र बन्दर के पास गया। बातों के प्रसंग में बन्दर से वह इस प्रकार बोला–'मित्र, अभी तक तुमने मेरा घर और मेरी पत्नी को नहीं देखा। सो चलो, एक ही दिन के विश्राम के लिए सही, जहाँ घर जाकर परस्पर प्रेमपूर्वक भोजन नहीं किया जाता, और अपनी-अपनी स्त्रियाँ नहीं दिखाई जातीं, वहाँ मित्रता नहीं, कपट-मात्र है॥११०–११२॥

इस प्रकार, बन्दर को धोखे से समुद्र में उतारकर और उसे पकड़कर वह शिशुमार अपने घर के लिए चल पड़ा॥११३॥

बन्दर ने चकित और व्याकुल होकर उसे जाते हुए देखकर पूछा–'मित्र, इस समय मैं तुम्हें कुछ दूसरे ही रूप में देख रहा हूँ।' तब वह मूर्खहृदय शिशुमार बन्दर से इस प्रकार कहने लगा–'मेरी पत्नी अस्वस्थ है' और वह अपने रोग के लिए बन्दर का हृदय माँगती है, इसलिए मैं बेचैन हूँ' ॥११४–११६॥

उसकी यह बात सुनकर बुद्धिमान् बन्दर सोचने लगा–'ओह, इसीलिए यह दुष्ट मुझे यहाँ लाया है॥११७॥

स्त्री के व्यसन का मारा हुआ यह मित्रद्रोह पर उतर गया है, भूत से आक्रान्त व्यक्ति क्या अपने ही दाँतों से अपना ही मांस नहीं खा लेता!' ॥११८॥

इस प्रकार सोचकर वह बन्दर शिशुमार से कहने लगा–'मित्र, यदि ऐसी बात है, तो तने मुझे पहले ही क्यों नहीं बताया॥११९॥

आगमिष्यं स्वमादाय हृत्पद्मं त्वत्प्रियाकृते।
वासोदुम्बरवृक्षे हि तदिदानीं मम स्थितम्॥१२०॥
तच्छ्रुत्वा शिशुमारस्तमार्त्तो मूर्खोऽब्रवीदिदम्।
तर्ह्येतदानयैहि त्वमुदुम्बरतरोरिति॥१२१॥
आनिनायाम्बुधेस्तीरं शिशुमारः पुनः स तम्।
तत्र तेनान्तकेनेव मुक्तः स च कपिस्तटम्॥१२२॥
उत्पत्यारुह्य वृक्षाग्रं शिशुमारमुवाच तम्।
गच्छ रे मूर्ख हृदयं देहाद्भवति किं पृथक्॥१२३॥
मयैवं मोचितो ह्यात्मा न चात्रैष्याम्यहं पुनः।
किमत्र न श्रुता मूर्ख गर्दभाख्यायिका त्वया॥१२४॥

कर्णहृदयहीनस्य गर्दभस्य कथा

आसीद्गोमायुसचिवः सिंहः कोऽपि वने क्वचित्।
..............................॥१२५॥[1]
स जात्वाखेटकायातेनात्र भूपेन केनचित्।
आहतो हेतिभिर्जीवन् कथमप्यविशद्गुहाम्॥१२६॥
तत्र स्थितं गते तस्मिन् राज्यनाहारनिःसहम्।
तच्छेषामिषवृत्तिः सन्गोमायुः सचिवोऽभ्यधात्॥१२७॥
निर्गत्य किं यथाशक्ति नाहारं चिनुषे प्रभो।
सीदत्येव शरीरं ते समं परिजनेन यत्॥१२८॥
इत्युक्तः स शृगालेन तेन सिंहो जगाद तम्।
सखे नाहं व्रणाक्रान्तः शक्नोमि भ्रमितुं क्वचित्॥१२९॥
खरस्य कर्णहृदयं भक्ष्यं प्राप्नोमि चेदहम्॥
तन्मे व्रणानि रोहन्ति प्रकृतिस्थो भवामि च॥१३०॥
तदानय कुतोऽपि त्वं गत्वा गर्दभमाशु मे।
इत्युक्तस्तेन गोमायुः स तथेति ययौ ततः॥१३१॥
भ्रमञ्जलान्तिके लब्ध्वा रजकस्य स गर्दभम्॥
प्रीत्येवोपेत्य वक्ति स्म दुर्बलः किं भवानिति॥१३२॥

---

१. मूलपुस्तके पद्यार्धं त्रुटितमस्ति।

यदि तुमने पहले ही कहा होता, तो मैं तुम्हारी प्यारी के लिए अपना हृदय-कमल साथ ले आता। इस समय तो वह हृदय-कमल मेरे निवासस्थान, गूलर के वृक्ष में ही रखा रह गया है' ॥१२०॥

यह सुनकर दीन और मूर्ख शिशुमार उससे बोला–'तब तुम गूलर के वृक्ष से उसे लाकर मुझे दे दो' ॥१२१॥

और वह उसे फिर समुद्र के तट पर ले आया और वहाँ लाकर मृत्यु के प्रतिरूप शिशुमार ने उस बन्दर को छोड़ दिया ॥१२२॥

बन्दर लम्बी छलांग लगाकर वृक्ष की चोटी पर चढ़ गया और उस शिशुमार से बोला– 'अरे मूर्ख, भाग जाओ। क्या किसी का हृदय शरीर से अलग भी होता है। मैंने इस प्रकार कहकर अपने प्राण छुड़ाये। अब मैं फिर न आऊँगा। मूर्ख ऐसे प्रसंग में तुमने गधे की कहानी नहीं सुनी। उसे सुनो' ॥१२३–१२४॥

कान और हृदय से हीन गधे की कथा

एक वन में एक सिंह रहता था। उसका मन्त्री एक सियार था। किसी समय शिकार के लिए आये हुए राजा के बाणों से वह सिंह व्याकुल हो गया और किसी तरह जीता ही गुफा में घुस गया ॥१२५–१२६॥

राजा के लौट जाने पर, वह सिंह, उपवास से अशक्त होकर गुफा में पड़ा रहा। उसकी इस स्थिति से, सिंह के जूठे मांस से जीनेवाला सियार भी भूख से तड़पने लगा और सिंह से बोला– 'स्वामिन्, आप गुफा से बाहर निकलकर अपनी शक्ति के लिए आहार क्यों नहीं खोजते ? ऐसे तो तुम्हारा शरीर तुम्हारे परिवारवालों के साथ कष्ट पा रहा है' ॥१२७–१२८॥

उस सियार से इस प्रकार कहा गया सिंह, उससे बोला–'मित्र, घावों से भरा हुआ मैं घूम नहीं सकता। गधे का कान और उसका हृदय खाने के लिए मिले, तो मेरे घाव भर जायँ और मैं भी शीघ्र स्वस्थ हो जाऊँ। इसलिए तू जाकर कहीं से भी गधे को शीघ्र ला।' सिंह से इस प्रकार कहा गया सियार 'जो आज्ञा', कहकर गधा ढूंढ़ने चला गया ॥१२९–१३१॥

घूमते हुए उसने जल के समीप चरते हुए धोबी के एक गधे को देखा और उसके पास जाकर मानों प्रेम से बोला–'तुम दुबले क्यों दीखते हो ?' ॥१३२॥

कृशीभूतोऽस्मि रजकस्यास्य भारं वहन् सदा।
इत्युक्तवन्तं च खरं तमुवाच स जम्बुकः ॥१३३॥
इह किं वहसि क्लेशमेहि त्वां प्रापयाम्यहम्।
वनं स्वर्गसुखं यत्र खरीभिः सह वर्धसे ॥१३४॥
तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा गर्दभो भोगलोलुपः।
वनं सिंहस्य तस्यागात्तेन गोमायुना सह ॥१३५॥
तं च दृष्ट्वैव तस्यैत्य पृष्ठतो गर्दभस्य सः।
सिंहो ददौ कराघातं प्राणवैक्लव्यदुर्बलः ॥१३६॥
स तेन वीक्षितस्त्रस्तः पलाय्य सहसा खरः।
आगच्छन्न च तं सिंहोऽभ्यपतद्विह्वलाकुलः ॥१३७॥
सिंहस्त्वसिद्धकार्यः स्वां त्वरितं प्राविशद् गुहाम्।
ततस्तं जम्बुको मन्त्री सोपालम्भमभाषत ॥१३८॥
न हतो गर्दभोऽप्येष वराकश्चेत् त्वया प्रभो।
हरिणादिवधे का तद्वार्त्ता तव भविष्यति ॥१३९॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीत् सिंहो यथा वेत्सि तथा पुनः।
तमानय खरं तावत् सज्जो भूत्वा निहन्म्यहम् ॥१४०॥
इति स प्रेषितस्तेन पुनः सिंहेन जम्बुकः।
गत्वा खरं तमवदद्विद्रुतः किं भवानिति ॥१४१॥
अहं सत्त्वेन केनापि ताडितोऽत्रेति वादिनम्।
तं च भूयः स गोमायुर्विहस्य खरमब्रवीत् ॥१४२॥
मिथ्यैव विभ्रमो दृष्टस्त्वया न त्वत्र तादृशम्।
सत्त्वमस्ति सुखं ह्यत्र वसाम्यहमपीदृशः ॥१४३॥
तदेह्येव मया साकं तन्निर्बाधसुखं वनम्।
इति तद्वचसा मूढस्तत्रागात् स खरः पुनः ॥१४४॥
आगतं तं च दृष्ट्वैव स निर्गत्य गुहामुखात्।
निपत्य पृष्ठे न्यवधीन्मृगारिर्दारितं नखैः ॥१४५॥
निकृत्य गर्दभं तं च स्थापयित्वा च रक्षकम्।
तस्यं तं जम्बुकं श्रान्तः सिंहः स्नातुं जगाम सः ॥१४६॥
तत्कालं जम्बुकस्तस्य स मायावी खरस्य तत्।
भक्षयामास हृदयं कर्णौ चाप्यात्मतृप्तये ॥१४७॥

इस प्रकार कहते हुए सियार से वह गधा बोला—'सदा अपने धोबी के बोझ ढोते-ढोते दुर्बल हो गया हूँ।' इस प्रकार कहते हुए गधे से सियार ने कहा—॥१३३॥

'यहाँ क्यों कष्ट उठा रहे हो, आओ। मैं तुम्हें स्वर्ग के समान सुख पहुँचानेवाले वन में पहुँचा देता हूँ। वहाँ तुम गधियों के साथ हृष्ट-पुष्ट हो जाओगे' ॥१३४॥

यह सुनकर भोग का लोभी वह गधा, सियार की बात स्वीकार कर उसके साथ सिंह के वन को चला गया ॥१३५॥

गधे को देखकर उसके पीछे से आकर अस्वस्थता से दुर्बल सिंह ने, उस पर अपने पंजे से आक्रमण कर दिया ॥१३६॥

इस प्रकार मार खाकर डरा हुआ गधा एकाएक भागकर चला आया और रोग से व्याकुल सिंह भी उसका पीछा न कर सका ॥१३७॥

सिंह भी अपने काम में असफल होकर शीघ्र ही अपनी गुफा में घुस गया। तब उस सियार मन्त्री ने उलाहना देते हुए सिंह से कहा—॥१३८॥

'स्वामिन्, यदि तुम एक दुर्बल गधे को न मार सके, तो हरिण आदि के मारने में तुम्हारी क्या दशा होगी' ॥१३९॥

यह सुनकर सिंह ने कहा—'तुम जैसा समझ रहे हो, वैसी ही स्थिति है। अब तुम उस गधे को फिर लाओ और मैं तैयार होकर उसे मारता हूँ' ॥१४०॥

तब सिंह से फिर भेजे गये सियार ने, गदहे के समीप आकर कहा—'तुम वहाँ से शीघ्र क्यों भाग आए?' ॥१४१॥

'मुझे किसी प्राणी ने मारा', इस प्रकार कहते हुए गधे से सियार ने हँसकर कहा—॥१४२॥

'तुम्हें व्यर्थ ही भ्रम हुआ है। वहाँ कोई ऐसा प्राणी नहीं है। मेरे जैसा ही व्यक्ति वहाँ रहता है ॥१४३॥

अतः, तुम मेरे साथ आओ। उस वन में निष्कंटक सुख है। इस प्रकार, उस सियार की बातों में फँसा हुआ वह मूर्ख गधा फिर वहाँ आया ॥१४४॥

उसे आते हुए देखते ही सिंह ने, गुफा के मुँह से निकलकर, उसकी पीठ पर आक्रमण करके नखों से चीरकर उसे मार डाला ॥१४५॥

गधे को फाड़कर और सियार को उसका रक्षक नियुक्त करके थका हुआ सिंह नहाने, के लिए चला गया ॥१४६॥

कपटी, छली उस मूर्ख सियार ने, अपना पेट भरने के लिए उस गधे गदहे के कान और हृदय को खा डाला ॥१४७॥

स्नात्वागतस्तथाभूतं तं दृष्ट्वा गर्दभं हरिः।
क्व कर्णौ हृदयं चास्येत्यपृच्छत्तं च जम्बुकम् ॥१४८॥
जम्बुकः सोऽप्यवादीत्तमकर्णहृदयः प्रभो।
प्रागेवासीत्कथं गत्वाप्यागच्छेदन्यथा ह्ययम् ॥१४९॥
तच्छ्रुत्वा स तथैवैतन्मत्वा केसर्यभक्षयत्।
तन्मांसमन्यत्तच्छेषं जम्बुकोऽपि चखाद सः ॥१५०॥
इत्याख्याय कपिर्भूयः शिशुमारमुवाच तम्।
तन्नात्रैष्याम्यहं भूयः करिष्यामि खरायितम् ॥१५१॥
एवं तस्मात्कपेः श्रुत्वा शिशुमारो ययौ गृहम्।
मोहादसिद्धं भार्यार्थं शोचन्मित्रं च हारितम् ॥१५२॥
तत्सख्यापगमाच्चास्य भार्या प्रकृतिमाययौ।
कपिः सोऽप्यम्बुधेस्तीरे चचार च यथासुखम् ॥१५३॥
तदेवं विश्वसेन्नैव बुद्धिमान् दुर्जने जने।
दुर्जने कृष्णसर्पे च कुतो विश्वासतः सुखम् ॥१५४॥
इत्याख्याय कथां मन्त्री गोमुखः पुनरेव सः।
नरवाहनदत्तं तं निजगाद विनोदयन् ॥१५५॥
शृण्विदानीं क्रमादन्यानुपहास्यानिमान् जडान्।
तत्रेमं शृणु गान्धर्वपरितोषकरं जडम् ॥१५६॥

गायकस्य धनिकस्य च कथा

कश्चिद् गान्धर्विकेनाढ्यो गीतवाद्येन तोषितः।
भाण्डागारिकमाहूय तत्समक्षमभाषत ॥१५७॥
देहि गान्धर्विकायास्मै द्वे सहस्रे पणानिति।
एवं करोमीत्युक्त्वा च स भाण्डागारिको ययौ ॥१५८॥
गान्धर्विकोऽथ गत्वा तान् पणांस्तस्मादयाचत।
न चास्मै स्थितसंवित्तान् पणान् भाण्डारिको ददौ ॥१५९॥
अथाढ्यस्तेन विज्ञप्तस्तत्कृते वैणिकेन सः।
उवाच किं त्वया दत्तं येन प्रतिददानि ते ॥१६०॥
वीणावाद्येन मे क्षिप्रं त्वया श्रुतिसुखं कृतम्।
तथैव दानवाक्येन कृतं क्षिप्रं मयापि ते ॥१६१॥

स्नान करके आये हुए सिंह ने विना कान और हृदय के गधे को देखकर सियार से कहा कि 'इसके कान और हृदय कहाँ है?' ॥१४८॥

यह सुनकर सियार ने कहा—'स्वामिन्, यह गधा तो पहले से ही विना कान और हृदय का था अन्यथा, वह (तुम्हारा थप्पड़ खाकर भागा हुआ) फिर यहाँ कैसे आ जाता?' ॥१४९॥

यह सुनकर और ठीक समझकर वह उस गधे को खा गया और उससे बचे हुए मांस को सियार ने चखा ॥१५०॥

यह कथा सुनकर वह बन्दर शिशुमार से बोला—'अब मैं फिर तेरे साथ आकर गधापन न करूँगा' ॥१५१॥

बन्दर से इस प्रकार फटकारा हुआ शिशुमार, अपनी स्त्री के कार्य की असफलता और हाथ से निकल गये मित्र के लिए चिन्ता करता हुआ अपने घर चला आया ॥१५२॥

शिशुमार के साथ बन्दर की मित्रता नष्ट समझकर उसकी स्त्री, धीरे-धीरे स्वस्थ हो गई। और वह बन्दर भी समुद्र के तट पर आनन्दपूर्वक विचरण करने लगा ॥१५३॥

'इसलिए' बुद्धिमान् व्यक्ति दुष्ट मनुष्य पर कभी विश्वास न करे। दुर्जन और काले साँप पर विश्वास करने से भला कहाँ सुख मिल सकता है?' ॥१५४॥

मन्त्री गोमुख इस प्रकार कथा कहकर नरवाहनदत्त का मनोरंजन करता हुआ फिर बोला—अब हँसने योग्य कुछ मूर्खों की कथाएँ फिर सुनो। उनमें पहले गवैये को सन्तुष्ट करनेवाले मूर्ख की कथा सुनो ॥१५५–१५६॥

धनी और गवैये की कथा

किसी धनी रईस को किसी गवैये ने गा-बजाकर सन्तुष्ट किया। तब उस धनी ने अपने मुनीम को बुलाकर गवैये के सामने कहा—'इस गवैये को पुरस्कार में दो हजार मुद्रा दे दो।' मुनीम ने उसे स्वीकार किया। जब गवैये ने, जाकर उस मुनीम से रुपये माँगे, तब मुनीम ने उसे जान-बूझकर रुपये नहीं दिये ॥१५७–१५९॥

तदनन्तर, गवैये ने, जब उस रईस से जाकर रुपये के लिए कहा, तब उसने उस गवैये से कहा—'तुमने मुझे क्या दिया है कि जिसके बदले में तुम्हें रुपया दूँ ॥१६०॥

तू ने बीन बजाकर कुछ समय तक मेरे कानों को आनन्दित किया, तो मैंने भी तुम्हें पुरस्कार की राशि सुनाकर तुम्हारे कानों को आनन्दित कर दिया' ॥१६१॥

तच्छ्रुत्वा विहताशोऽपि हसित्वा वैणिको ययौ।
कीनाशोक्त्यानया किं न हासो ग्राव्णोऽपि जायते ।।१६२।।

मूर्खशिष्ययोः कथा

भीतशिष्यद्वयं चेदं देवेदानीं निशम्यताम्।
गुरोः कस्याप्यभूतां द्वौ शिष्यावन्योन्यमत्सरौ ।।१६३।।
तयोरेको गुरोस्तस्य दक्षिणं पादमन्वहत्।
अभ्यञ्जन् क्षालयामास वामं पादं तथेतरः ।।१६४।।
दक्षिणाभ्यञ्जके जातु ग्रामं सम्प्रेषिते गुरुः।
अभ्यक्तवामपादं तं द्वितीयं शिष्यमभ्यधात् ।।१६५।।
त्वमेव दक्षिणं पादमभ्यज्य क्षालयाद्य मे।
श्रुत्वैतन्मूर्खशिष्योऽसौ गुरुं स्वैरमभाषत ।।१६६।।
प्रतिपक्षस्य सम्बन्धी न पादोऽभ्यङ्ग्य एष मे।
एवमुक्तवतश्चास्य निर्बन्धं सोऽकरोद् गुरुः ।।१६७।।
ततो विपक्षतच्छिष्यरोषादादाय तस्य तम्।
गुरोः शिष्यः स चरणं बलाद् ग्राव्णा च भग्नवान् ।।१६८।।
मुक्ताक्रन्दे गुरौ तस्मिन् कुशिष्योऽन्यैः प्रविश्य सः।
ताड्यमानः सशोकेन गुरुणा तेन मोचितः ।।१६९।।
अन्येद्युः सोऽपरः शिष्यः प्राप्तो ग्रामाद्विलोक्य ताम्।
अङ्घ्रिपीडां गुरोः पृष्टवृत्तान्तः प्रज्वलन्क्रुधा ।।१७०।।
नाहं भनज्मि किं पादं तस्य सम्बन्धिनं द्विषः।
इत्याकृष्य द्वितीयाङ्घ्रिं गुरोस्तस्य बभञ्ज सः ।।१७१।।
ततोऽत्र ताड्यमानोऽन्यैरपि भग्नोभयाङ्घ्रिणा।
गुरुणा तेन कृपया दुःशिष्यः सोऽप्यमोच्यत ।।१७२।।
सर्वद्वेष्योपहास्यौ तौ शिष्यौ द्वौ ययतुस्ततः।
गुरुश्च स्वक्षमाश्लाघ्यः स्वस्थः सोऽप्यभवत् क्रमात् ।।१७३।।
एवमन्योन्यविद्विष्टो मूर्खः परिजनः प्रभोः।
स्वामिनोऽर्थं निहन्त्येव न चात्महितमश्नुते ।।१७४।।
अयं च द्विशिरः सर्पवृत्तान्तोऽप्यवधार्यताम्।
कस्याप्यहेर्द्वे शिरसी अभूतामग्रपुच्छयोः ।।१७५।।

यह सुनकर बेचारा निराश गवैया हँसकर चला गया। इस प्रकार के कंजूस की कथा सुन कर पत्थरों को भी हँसी आती है॥१६२॥

मूर्ख शिष्यों की कथा

महाराज, अब दो मूर्ख शिष्यों की कथा सुनो। किसी गुरु के दो शिष्य थे, जो आपस में द्वेष रखते थे। उनमें से एक शिष्य प्रतिदिन अपने गुरु के दाहिने पैर को तैल मालिश करके उसे धोता तथा उसकी सेवा करता था, तो दूसरा उसी प्रकार बाँयें पैर की सेवा किया करता था॥१६३–१६४॥

किसी समय दाहिने पैर की मालिश करनेवाले शिष्य को गुरु के गाँव भेज देने पर, उस शिष्य के बाँयें पैर को धो लेने पर गुरु ने उससे कहा कि आज इसे भी तू ही धो दे। यह सुन कर वह मूर्ख शिष्य गुरु से बोला—'यह पैर, मेरे विरोधी का है। अतः मैं इसकी मालिश आदि कुछ न करूँगा। उसके इस प्रकार कहने पर भी जब गुरु ने उससे आग्रह किया तब अपने विरोधी साथी के क्रोध से उसने उस दाहिने पैर को पत्थर मारकर तोड़ दिया॥१६५–१६८॥

गुरु के चिल्लाने पर, दूसरे शिष्यों ने, आकर उस दुष्ट शिष्य को पीटना प्रारम्भ किया, तब गुरु ने दुःख के कारण उसे छुड़वा दिया॥१६९॥

दूसरे दिन गाँव से लौटकर आये हुए दूसरे शिष्य ने गुरु के पैर में वेदना देखकर उसका वृत्तान्त पूछा और जानकर क्रोध से जल उठा॥१७०॥

और क्रुद्ध होकर वह कहने लगा–'यदि उसने ऐसा किया, तो मैं भी क्यों न दूसरे (बाँयें) पैर को तोड़ डालूँ।' इस प्रकार सोचकर और उस पैर को खींचकर उसे भी तोड़ दिया॥१७१॥

तब अन्यान्य शिष्यों द्वारा मारे जाते हुए उसे भी टूटे पैरवाले गुरु ने छुड़वा दिया॥१७२॥

इस प्रकार वे दोनों मूर्ख शिष्य, सभी के लिए द्वेष और हास्य के पात्र बन गये। अपनी क्षमा के कारण प्रशंसनीय गुरु धीरे-धीरे स्वस्थ हो गये॥१७३॥

'हे स्वामिन्, इस प्रकार आपस में द्वेष रखनेवाले सेवक अपने और स्वामी दोनों की हानि करते हैं'॥१७४॥

अब दो मुखोंवाले साँप की कथा सुनो। किसी साँप के आगे और पीछे दोनों ओर शिर थे। ॥१७५॥

पौच्छं शिरस्त्वभूदन्धं चक्षुष्मत्प्रकृतं पुनः।
अहं मुख्यमहं मुख्यमित्यासीदाग्रहस्तयोः॥१७६॥
सर्पस्तु प्रकृतेनैव मुखेन विचचार सः।
एकदास्य शिरः पौच्छं मार्गे कष्टमवाप तत्॥१७७॥
वेष्टयित्वा दृढं तच्च सर्पस्यास्यारुणद् गतिम्।
ततस्तद्बलवन्मेने स सर्पोऽग्रशिरोजयि॥१७८॥
तेनैव चान्धेन ततः स मुखेन भ्रमन्नहिः।
अवटेऽग्नौ परिभ्रष्टो मार्गादृष्टेरदह्यत॥१७९॥
एवं गुणस्य येऽल्पस्य बहवो नान्तरं विदुः।
ते हीनगुणसङ्गेन मूढा यान्ति पराभवम्॥१८०॥

तण्डुलभक्षकस्य कथा

इमं च शृणुतेदानीं भौतं तण्डुलभक्षकम्।
आगात् कश्चित्पुमान्मूर्खः प्रथमं श्वाशुरं गृहम्॥१८१॥
स तत्र तण्डुलाञ्श्वश्र्वा पाकार्थं स्थापितान् सितान्।
दृष्ट्वा भक्षयितुं तेषां मुष्टिं प्राक्षिपदानने॥१८२॥
तत्क्षणादागतायां च श्वश्र्वां मूर्खः स तण्डुलान्।
नाशकत्तान्निगिरितुं न चाप्युद्गिरितुं ह्रिया॥१८३॥
तत्पीनोच्छूनगल्लं च निरालापमवेत्य तम्।
तद्रोगशङ्कयाहूय तच्छ्वश्रूः पतिमानयत्॥१८४॥
सोऽप्यालोक्य निनायाशु वैद्यं वैद्योऽप्यपाटयत्।
शोफशङ्की हनुं तस्य मूढस्याक्रम्य मस्तकम्॥१८५॥
निर्ययुर्लोकहासेन समं तस्य च तण्डुलाः।
इत्यकार्यं करोत्यज्ञो न च जानाति गूहितुम्॥१८६॥

गर्दभदुग्धदोहनकथा

केचिच्च दारका मूर्खा दृष्टदोहा गवादिषु।
गर्दभं प्राप्य संरुध्य दोग्धुमारेभिरे रसात्॥१८७॥
कश्चिदुद्दोह कश्चिच्च क्षीरकुण्डमधारयत्।
अहं प्रथमिकान्येषां पयः पातुमवर्त्तत॥१८८॥

पूँछ वाला शिर अन्धा था, किन्तु प्राकृतिक शिर आँखों वाला था। फिर भी, उन दोनों शिरों में परस्पर मैं प्रधान हूँ, मैं प्रधान हूँ, यह विवाद हो गया। वह साँप अपने वास्तविक शिर से चलने-फिरने का काम लेता था। एक बार उसके पीछेवाले मुँह को मार्ग में बहुत कष्ट उठाना पड़ा ॥१७६–१७७॥

उसने कहीं (किसी चीज से) लिपट कर साँप की गति को आगे बढ़ने से रोक दिया। तब सर्प ने, पिछले मुख को ही अगले शिर को जीतनेवाला बलवान् मान लिया ॥१७८॥

तब उसी अन्धे शिर से बाहर घूमता हुआ वह सर्प मार्ग न दीखने के कारण किसी गढ़े में जलती हुई अग्नि में गिर गया और जलकर मर गया ॥१७९॥

इस प्रकार जो लोग गुण के थोड़े और बहुत अन्तर को नहीं जानते, वे अल्प गुणवाले का संग करके दुर्दशा को प्राप्त होते हैं ॥१८०॥

चावल खानेवाले मूर्ख की कथा

अब चावल खानेवाले मूर्ख की कथा सुनो। एक मूर्ख पहली बार अपनी ससुराल गया ॥१८१॥

वहाँ सास द्वारा पकाने के लिए रखे गये सफेद चावलों को देखकर उसने एक मुट्ठी चावल खाने के लिए मुँह में डाल लिया ॥१८२॥

उसी समय सास के आ जाने के कारण लज्जित वह मूर्ख, न तो चावलों को चबाकर खा सका और न उगल ही सका ॥१८३॥

उसकी सास ने फूले गालवाले और बोलने में असमर्थ देखकर उसे रोगी समझ अपने पति को बुलवाया ॥१८४॥

उस श्वसुर ने भी उसकी यह दशा देखकर वैद्य को बुलाया। वैद्य ने भी शोथ (सूजन) की आशंका से उसकी ठोढ़ी और शिर दोनों पकड़कर उसका मुँह खोल दिया ॥१८५॥

तब लोगों की हँसी के साथ ही उसके मुंह से चावल भी निकल पड़े। इस प्रकार, मूर्ख अकर्म तो कर देते हैं, किन्तु उन्हें छिपाना नहीं जानते ॥१८६॥

गधे का दूध दुहने की कथा

एक समय कुछ मूर्ख बालकों ने, लोगों को गाय-भैंस आदि दुहते देखकर एक गधी को पकड़कर दुहना प्रारम्भ किया। कोई उसे दुहने लगा, किसी ने दुहने का पात्र पकड़ा और उधर कुछ बालक 'हम पहले पियेंगे, हम पहले पियेंगे' इस प्रकार कहकर परस्पर झगड़ने लगे ॥१८७–१८८॥

न च ते लेभिरे क्षीरं कुर्वन्तोऽपि परिश्रमम्।
अवस्तुनि कृतक्लेशो मूर्खो यात्यवहास्यताम्॥१८९॥
कश्चिच्च देव मूर्खोऽभूद्विप्रपुत्रः पिता च ताम्।
सायं जगाद गन्तव्यो ग्रामः पुत्र त्वया प्रगे[1]॥१९०॥
श्रुत्वेत्यपृष्ट्वा कार्यं तं पितरं प्रातरेव सः।
गत्वा वृथैव तं ग्रामं सायमागात्कृतश्रमः॥१९१॥
ग्रामं गत्वाहमायात इत्याह पितरं च सः।
गते त्वयि न किं सिद्धमिति चाह स तत्पिता॥१९२॥
तदेति निरभिप्रायचेष्टितो लोकहास्यताम्।
मूर्खोऽनुभवति क्लेशं न कार्यं कुरुते पुनः॥१९३॥
इत्याकर्ण्य कथां प्रधानसचिवाच्छिक्षावतीं गोमुखा-
दात्मानं च निवेद्य शक्तियशसः सम्प्राप्तिबद्धस्पृहम्।
भूयिष्ठां च गतामवेत्य रजनीं वत्सेश्वरस्यात्मजो
निद्रामुद्रितलोचनः स शयनं भेजे वयस्यैर्युतः॥१९४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शक्तियशोलम्बके सप्तमस्तरङ्गः।

अष्टमस्तरङ्गः

गोमुखकथिता नवा नवाः कथाः

ततोऽन्येद्युः पुनर्नक्तं निजवासगृहे स्थितम्।
नरवाहनदत्तं तं दयिताप्राप्तिसोत्सुकम्॥१॥
वत्सेश्वरसुतं मन्त्री तन्नियोगात् स गोमुखः।
विनोदयन् कथास्तस्य क्रमादेवमवर्णयत्॥२॥

ब्राह्मणस्य नकुलस्य च कथा

बभूव देवशर्माख्यो ब्राह्मणो नगरे क्वचित्।
तस्याभूद्देवदत्तेति गेहिनी सदृशान्वया॥३॥

---

१. प्रातः।

किन्तु, उनके परिश्रम करने पर भी गधे का दूध न मिल सका। अयोग्य वस्तु में व्यर्थ परिश्रम करनेवाले हँसी के पात्र बनते हैं ॥१८९॥

महाराज, कोई एक ब्राह्मण-पुत्र था। उससे सायंकाल में उसके पिता ने कहा—'बेटा, प्रातःकाल गाँव जाना होगा' ॥१९०॥

पुत्र ने चुपचाप सुन लिया और प्रातःकाल ही उठकर पिता से काम पूछे विना ही वह गाँव को चला गया और सायंकाल व्यर्थ लौटकर उसने पिता से कहा—'मैं गाँव जाकर आ गया।' उसके पिता ने कहा—'तुम्हारे जाने पर मेरा कुछ भी काम सिद्ध न हुआ' ॥१९१–१९२॥

इस प्रकार, विना अर्थ के प्रयत्न करनेवाले मूर्ख संसार में हँसे जाते हैं। वे कष्ट करते हैं, किन्तु काम कुछ नहीं बनता ॥१९३॥

प्रधान मन्त्री गोमुख द्वारा इस प्रकार शिक्षा-पूर्ण कथा को सुनकर और अपने को शक्तियशा की आसक्ति में निमग्न बताकर तथा बहुत बीती रात तक जगकर वत्सेश्वर का पुत्र नरवाहनदत्त, नींद से आँखें मूँदता हुआ मित्रों के साथ सो गया ॥१९४॥

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शक्तियश लम्बक का
सप्तम तरंग समाप्त

अष्टम तरंग

गोमुख द्वारा नरवाहनदत्त से कही गई नई-नई कथाएँ

दूसरे दिन रात को अपने वास-गृह में बैठे हुए और नई वधू को पाने के लिए उत्सुक वत्सराज के पुत्र का मनोरंजन करते हुए मन्त्री गोमुख ने, उसी की आज्ञा से फिर क्रमशः इस प्रकार कथाएँ कहना प्रारम्भ किया ॥ १–२॥

ब्राह्मण और नेवले की कथा

किसी नगर में देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी देवदत्ता नाम की स्त्री उसी के समान अच्छे कुल की थी ॥३॥

---

१. इस तरंग की पहली कथा, पंचतन्त्र के लब्धप्रणाश नामक चौथे तन्त्र की प्रथम कथा है। इन दोनों में कुछ अन्तर है। इसमें जहाँ शिशुमार की चर्चा है, वहाँ पंचतन्त्र में मगर का नाम आया है। इस कथा के गूलर वृक्ष के स्थान पर पंचतन्त्र में जामुन का वृक्ष लिखा है। पंचतंत्र के ये परिवर्तन, उपयुक्त और प्रासंगिक जँचते हैं।—अनु०

धृतगर्भा च सा तस्य कालेन सुषुवे सुतम्।
दरिद्रोऽपि स तं मेने निधिं लब्धमिव द्विजः ॥४॥
सूतकान्ते च सा तस्य भार्या स्नातुमगान्नदीम्।
देवशर्मा स तस्थौ तु गृहे रक्षन् सुतं शिशुम् ॥५॥
तावदाह्वायिका तस्य राजान्तःपुरतो द्रुतम्।
चेटिका ब्राह्मणस्यागात् स्वस्तिवाचनजीविनः ॥६॥
ततः स दक्षिणालोभान्नकुलं रक्षकं शिशोः।
स्थापयित्वा ययौ गेहे चिरमाबाल्यवर्धितम् ॥७॥
तस्मिन् गतेऽत्राकस्माच्च शिशोस्तस्यान्तिकागतम्।
सर्पमालोक्य नकुलः स्वामिभक्त्या जघान तम् ॥८॥
अथ तं देवशर्माणमागतं वीक्ष्य दूरतः।
सर्पास्रसिक्तो नकुलो हृष्टोऽस्य निरगात् पुरः ॥९॥
स देवशर्मा तद्रूपं तं दृष्ट्वैवाश्मनाऽवधीत्।
ध्रुवं स बालः पुत्रो मे हतोऽनेनेति सम्भ्रमात् ॥१०॥
प्रविश्य चान्तर्दृष्ट्वा तं भुजगं नकुलाहृतम्।
जीवन्तं च स्थितं बालं ब्राह्मणोऽन्तरतप्यत ॥११॥
अविचार्योपकारी स नकुलः किं हतस्त्वया।
इत्युपालभतायाता भार्यापि तदवेत्य तम् ॥१२॥
तस्मान्न बुद्धिमान् कुर्यात् सहसा देव किञ्चन।
सहसा चेष्टमानो हि हन्यते लोकयोर्द्वयोः ॥१३॥

औषधमूर्खस्य कथा

कुर्वश्चाविधिना कर्म विरोधिफलमश्नुते।
तथा च वायुनाक्रान्तदेहः कोऽप्यभवत्पुमान् ॥१४॥
बस्त्यर्थमौषधं दत्त्वा बभाषे जातु तं भिषक्।
त्वं पेषयैतत् स्वगृहं गत्वा यावदुपैम्यहम् ॥१५॥
एवमुक्त्वा गतो वैद्यो यावच्चिरयति क्षणम्।
तावत्तदौषधं पिष्ट्वा मूर्खोऽसौ वारिणापिबत् ॥१६॥
उत्पन्नव्यापदं तेन तमागत्य भिषक् ततः।
स दत्त्वा वमनं कृच्छ्रान् मृतकल्पमजीवयत् ॥१७॥

उसकी पत्नी ने गर्भ धारण करके यथासमय एक पुत्र उत्पन्न किया। वह ब्राह्मण निर्धन होने पर भी उस पुत्र को एक महती सम्पत्ति के लाभ के समान समझता था ॥४॥

सूतक के अन्त में, उसकी स्त्री नदी में स्नान करने गई और देवशर्मा उस नवजात शिशु की देख-भाल करता हुआ घर में ही रहा ॥५॥

इतने में ही राजा के रनिवास से स्वस्ति-वाचन के लिए उसे बुलाने एक दासी वहाँ आई ॥६॥

तब वह ब्राह्मण दक्षिणा के लोभ से शिशु की रक्षा के लिए अपने पालतू नेवले को वहाँ रखकर चला गया ॥७॥

उस ब्राह्मण के चले जाने पर अकस्मात् शिशु के पास आये हुए सर्प को देखकर उस नेवले ने, मालिक के प्रेम से, उसे मार डाला ॥८॥

तदनन्तर, देवशर्मा को दूर से ही वापस आते हुए देखकर साँप के रक्त से सना हुआ, नेवला प्रसन्नतापूर्वक उसके सामने गया ॥९॥

रक्त से सने हुए नेवले को देखकर, अवश्य ही इसने मेरे बच्चे को मार डाला, इस भ्रम से देवशर्मा ने नेवले को पत्थर से मार डाला ॥१०॥

तदनन्तर, भीतर जाकर साँप को नेवले से मारा हुआ और बालक को जीता हुआ देखकर ब्राह्मण मन ही-मन, पश्चात्ताप करने लगा ॥११॥

'बिना विचारे ही, उपकार करनेवाले नेवले को तूने क्यों मार डाला', इस प्रकार सब समाचार जानने पर उस ब्राह्मण की पत्नी ने भी स्नान करके लौटने पर उसे उलाहना दिया ॥१२॥

इसलिए, हे देव, बुद्धिमान् व्यक्ति सहसा कोई काम न करे। सहसा कोई कार्य कर डालने से, मानव दोनों लोकों से मारा जाता है ॥१३॥

मूर्ख रोगी और वैद्य की कथा

बेढगा कार्य करनेवाला व्यक्ति भी उलटा परिणाम (फल) पाता है, इस प्रसंग में एक कथा सुनो। कोई पुरुष वायु के रोग से पीड़ित था। उसे किसी वैद्य ने बस्तिकर्म (एनेमा) के लिए औषध देकर कहा--'तू अपने घर जाकर इसे पीस ले, तबतक मैं आता हूँ' ॥१४-१५॥

वैद्य के आने में विलम्ब हो जाने पर उस मूर्ख ने, उस औषध को पीसकर पानी के साथ पी लिया ॥१६॥

तब उसके विपरीत परिणाम के कारण मरते हुए उस रोगी को वमन कराकर वैद्य ने, उसे किसी प्रकार स्वस्थ किया ॥१७॥

बस्त्यौषधं गुदे मूर्ख दीयते न तु पीयते।
अहं प्रतीक्षितः किं नेत्युपालभ्यत तेन सः ॥१८॥
इतीष्टमप्यनिष्टाय जायतेऽविधिना कृतम्।
तस्मान्न विधिमुत्सृज्य प्राज्ञः कुर्वीत किञ्चन ॥१९॥

मूर्ख पुरुषस्य तपस्विनाञ्च कथा

अप्रेक्षापूर्वकारी च निन्द्यतेऽवद्यकृत्क्षणात्।
तथा च कुत्रचित् कश्चित् जडबुद्धिरभूत् पुमान् ॥२०॥
तस्य देशान्तरं जातु गच्छतोऽन्वागतः सुतः।
अटव्यां वासिते सार्थे विवेश विहरन् वनम् ॥२१॥
पाटितो मर्कटैः सोऽत्र कृच्छ्राज्जीवन्नुपेत्य तम्।
ऋक्षानभिज्ञः पितरं पृच्छन्तमवदज्जडः ॥२२॥
वनेऽस्मि पाटितः कैश्चिल्लोमशैः फलभक्षिभिः।
तच्छ्रुत्वा क्रोधकृष्टासिस्तत्पिता तद्वनं ययौ ॥२३॥
दृष्ट्वा फलान्याददानाञ्जटिलांस्तत्र तापसान्।
सोऽभ्यधावत्क्षतोऽमीभिः सुतो मे लोमशैरिति ॥२४॥
ऋक्षैस्तैः पाटितः पुत्रो मद्दृष्टैर्मा वधीर्मुनीन्।
इत्यवार्यत पान्थेन तद्वधात् सोऽथ केनचित् ॥२५॥
ततः स दैवादुत्तीर्णः पातकात्सार्थमागतः।
तन्न जातुचिदप्रेक्षापूर्वकारी भवेद्बुधः ॥२६॥
किमन्यत् सर्वदा भाव्यं जन्तुना कृतबुद्धिना।
लोकोपहसिताः शश्वत् सीदन्त्येव ह्यबुद्धयः ॥२७॥
तथा च निर्धनः कश्चित् प्राप्तवानध्वनि व्रजन्।
सार्थवाहस्य कस्यापि च्युतां हेमभृतां दृतिम् ॥२८॥
स मूढस्तां गृहीत्वैव न जगामान्यतोऽपि च।
स्थित्वा तत्रैव संख्यातुमारेभे हेम तच्च तत् ॥२९॥
तावत्स्मृत्वा हयारूढः प्रत्यागत्य स सत्वरम्।
सार्थवाहोऽस्य दृष्टस्य हेमभस्त्रां जहार ताम् ॥३०॥
ततः स दृष्टनष्टार्थः शोचन् प्रायादधोमुखः।
प्राप्तोऽप्यर्थः क्षणादेव हार्यते मन्दबुद्धिना ॥३१॥

'मूर्ख, बस्ति की औषधि गुदा में दी जाती है। वह पी नहीं जाती। तूने मेरी प्रतीक्षा क्यों नहीं की?' इस प्रकार कहते हुए वैद्य ने उसे उलाहना दिया ॥१८॥

इस तरह, उलटे प्रकार से किया गया कार्य अच्छा होने पर भी, हानिकारक हो जाता है। इसलिए, बुद्धिमान् व्यक्ति उचित प्रकार को छोड़कर कोई काम अनुचित ढंग से न करे ॥१९॥

मूर्ख पुरुष और तपस्वियों की कथा

बिना विचारे निन्दनीय काम करनेवाला पुरुष क्षण में ही हास्य और निन्दा का पात्र बन जाता है। कहीं पर कोई जडबुद्धि पुरुष था। दूसरे देश को जाते हुए उसके पीछे उसका पुत्र भी आ गया। यात्रियों के दल के जंगल में डेरा डालने पर वह बालक घूमता-फिरता वन में कहीं दूर निकल गया ॥२०-२१॥

वहाँ पर बन्दरों ने उसे काट लिया और बन्दरों को न जानता हुआ वह लड़का कठिनाई से जीवित रहकर वहाँ वापस आया और पिता के पूछने पर उससे बोला—'जंगल में कुछ बड़े-बड़े बालोंवाले और फल खानेवालों ने मुझे काट लिया।' यह सुनकर क्रोध से तलवार खींचकर उसका पिता उस वन में गया ॥२२—२३॥

वहाँ उसने फल खाते हुए जटाधारी तपस्वियों को देखा और उन्हें देखकर 'इन्हीं लोगों ने मेरे पुत्र को काटा' सोचकर उन पर ही टूट पड़ा ॥२४॥

तब किसी पथिक ने उससे कहा—''मैंने देखा है। तेरे पुत्र को बन्दरों ने काटा है। इन मुनियों को मत मार।' यह सुनकर वह उस हत्याकांड से रुका ॥२५॥

तब वह दैवयोग से मुनियों के वध के पाप से बचकर अपने दल में आ गया। इसलिए, बिना समझे-बूझे विद्वान् को कोई काम नहीं करना चाहिए ॥२६॥

अधिक क्या कहा जाय। प्राणी को सदा तर्कबुद्धि होना चाहिए। मूर्ख तो संसार में हँसे जाते हैं और दुःख भोगते हैं ॥२७॥

किसी निर्धन व्यक्ति ने, मार्ग में जाते हुए, किसी व्यापारी की गिरी हुई रुपयों से भरी चमड़े की थैली पाई ॥२८॥

वह मूर्ख, उसे पाकर इधर-उधर न जाकर वहीं बैठकर उसमें रखे हुए सोने के सिक्कों को गिनने लगा ॥२९॥

इतने में ही, स्मरण आने पर वह व्यापारी, घोड़े पर सवार होकर वहाँ आया और उसे पाकर प्रसन्न होते हुए उस गरीब से अपनी थैली छीन ले गया ॥३०॥

इतना धन पाकर भी उसे गँवाकर वह गँवार पश्चात्ताप करता हुआ मुँह लटकाये हुए चला गया। इस प्रकार, मूर्ख पाये धन को भी गँवा बैठते हैं ॥३१॥

कश्चिच्च पार्वणं चन्द्रं दिदृक्षुः केनचिज्जडः।
अङ्गुल्यभिमुखं पश्येत्यूचे दृष्टनवेन्दुना ॥३२॥
स हित्वा गगनं तस्यैवाङ्गुलिं तां विलोकयन्।
तस्थौ न चेन्दुमद्राक्षीदद्राक्षीद्धसतो जनान् ॥३३॥
प्रज्ञया साध्यतेऽसाध्यं तथा च श्रूयतां कथा।
काचिद्ग्रामान्तरं नारी गन्तुं प्रावर्त्ततैकका ॥३४॥
पथि सा च जिघृक्षन्तकमस्मादेत्य वानरम्।
वञ्चयन्ती मुहुर्वृक्षं संश्रिता पर्यवर्त्तत ॥३५॥
स तं तस्यास्तरुं मूढो भुजाभ्यां कपिरावृणोत्।
साप्यस्य बाहू हस्ताभ्यां तत्रैवापीडयत्तरौ ॥३६॥
तावच्च तस्मिन्निःस्पन्दे जातक्रोधे च वानरे।
पथा तेनागतं कञ्चिदाभीरं स्त्री जगाद सा ॥३७॥
महाभाग गृहाणेमं क्षणं बाह्वोः प्लवङ्गमम्।
यावद्वस्त्रं च वेणीं च विस्रस्तां संवृणोम्यहम् ॥३८॥
एवं करोमि भजसे यदि मामिति तेन सा।
उक्तानुमेने तावत्तत्सोऽथ तं कपिमग्रहीत् ॥३९॥
ततोऽस्य क्षुरिकां कृष्ट्वा सा स्त्री हत्वा च तं कपिम्।
एकान्तमेहीत्युक्त्वा तमाभीरं दूरमानयत् ॥४०॥
मिलितेष्वथ सार्थेषु तं विहायैव तैः सह।
सा जगामेप्सितग्रामं प्रज्ञारक्षितविप्लवा ॥४१॥
इत्थं प्रज्ञैव नामेह प्रधानं लोकवर्त्तनम्।
जीवत्यर्थदरिद्रोऽपि धीदरिद्रो न जीवति ॥४२॥

घटकर्परचोरयोः कथा

इदानीं शृणु देवैतां विचित्रामद्भुतां कथाम्।
घटकर्परनामानौ चौरावास्तां पुरे क्वचित् ॥४३॥
तयोः स कर्परो जातु बहिर्न्यस्य घटं निशि।
सन्धिं दत्त्वा नृपसुतावासवेश्म प्रविष्टवान् ॥४४॥
तत्र कोणस्थितं तं सा विनिद्रा राजकन्यका।
दृष्ट्वैव सद्यः सञ्जातकामा स्वैरमुपाह्वयत् ॥४५॥

कोई मूर्ख दूज का चाँद देखना चाहता था। उसे किसी ने अंगुली से दिखाते हुए कहा—'वह है, देखो, वह है।' वह मूर्ख आकाश को न देखकर उसकी अंगुली को ही देखता रह गया। उसे देखनेवाले देखकर हँसते ही रह गये ॥३२-३३॥

असाध्य कार्य भी बुद्धि से सिद्ध होते हैं। इस पर कथा सुनो। एक स्त्री किसी दूसरे गाँव को अकेली जा रहा थी। मार्ग में उसे पकड़ने के लिए आते हुए एक बन्दर को देखकर अपने को उससे बार-बार बचाती हुई वह स्त्री एक पेड़ पकड़कर उसके चारों ओर घूमने लगी। उस मूर्ख बन्दर ने उस वृक्ष को दोनों हाथों से पकड़ लिया। स्त्री ने भी उसके दोनों हाथों को पकड़कर उसी वृक्ष में उसे दबा दिया ॥३४ –३६॥

जब बन्दर निश्चल होकर क्रोध से भर गया, तब मार्ग में जाते हुए किसी अहीर से उस स्त्री ने कहा—'हे भाग्यवान्, तुम इस बन्दर को इसी प्रकार हाथ से पकड़ लो, तो मैं खिसकी हुई चादर और खुली हुई अपनी चोटी ठीक कर लूं ॥३७–३८॥

उसने कहा—'यदि मेरे साथ तू रमण करे, तो मैं ऐसा करूँ।' उस स्त्री ने स्वीकार कर लिया और उसने भी बन्दर को पकड़ लिया ॥३९॥

तब उस स्त्री ने, उस पुरुष की कटार खींचकर और उससे बन्दर को मार डाला। तदनन्तर वह उस पुरुष से कहने लगी—'आओ, कहीं एकान्त में चलें' ऐसा कहकर वह स्त्री उस अहीर को दूर ले जाकर छोड़ दिया और स्वयं यात्रियों के एक झुंड में मिलकर अपने गाँव को चली गई। इसप्रकार उसने बुद्धिबल से अपने चरित्र की रक्षा कर ली ॥४०–४१॥

'इसलिए बुद्धि ही संसार का जीवन है। धन से हीन व्यक्ति जी सकता है, किन्तु बुद्धिहीन व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता' ॥४२॥

घट और कर्पर नाम के चोरों की कथा

स्वामी, अब एक और विचित्र कथा सुनो। किसी नगर में घट और कर्पर नाम के दो चोर थे। उनमें कर्पर किसी समय घट को बाहर रखकर और सेंध लगाकर राजा की कन्या के घर में घुस गया। वहाँ पर एक कोने में बैठे हुए उसे, जागती हुई राज्यकन्या ने देख लिया और काम के वश में होकर उसने उसे अपने पास बुलाया ॥४३–४५॥

रन्त्वा च तेन साकं सा दत्त्वा चार्थं तमब्रवीत्।
दास्याम्यन्यत्प्रभूतं ते पुनरेष्यसि चेदिति॥४६॥
ततो निर्गत्य वृत्तान्तमाख्यायार्थं समर्प्य च।
व्यसृजत्प्राप्य राजार्थं घटं गेहं स कर्परः॥४७॥
स्वयं तदैवं तु पुनर्विवेशान्तःपुरं स तत्।
आकृष्टः कामलोभाभ्यामपायं को हि पश्यति॥४८॥
तत्रैष सुरतश्रान्तः पानमत्तस्तया सह।
राजपुत्र्या समं सुप्तो न बुबोध गतां निशाम्॥४९॥
प्रातः प्रविष्टैर्लब्ध्वा स बद्ध्वान्तःपुररक्षिभिः।
राज्ञे निवेदितः सोऽपि क्रुधा तस्यादिशद्वधम्॥५०॥
यावत् स नीयते वध्यभुवं तावत् सखास्य सः।
रात्रावनागतस्यागादन्वेष्टुं पदवीं घटः॥५१॥
तमागतं स दृष्ट्वाथ घटं कर्परकः पुनः।
हृत्वा राजसुतां रक्षेरित्याह स्म स्वसंज्ञया॥५२॥
घटेनाङ्गीकृतेच्छोऽथ संज्ञयैव स कर्परः।
नीत्वोल्लम्ब्य तरौ क्षिप्रं वधकैरवशो हतः॥५३॥
ततो गत्वा घटो गेहमनुशोचन्निशागमे।
भित्त्वा सुरङ्गां प्राविक्षत् स तद्राजसुतागृहम्॥५४॥
तत्रैककां संयमितां दृष्ट्वोपेत्य जगाद सः।
त्वत्कृतेऽद्य हतस्याहं कर्परस्य सखा घटः॥५५॥
अपनेतुमितस्त्वां च तत्स्नेहादहमागतः।
तदेहि यावन्नानिष्टं किञ्चित्ते कुरुते पिता॥५६॥
इत्युक्ते तेन सा हृष्टा राजपुत्री तथेति तत्।
प्रतिपेदे स चैतस्य बन्धनानि न्यवारयत्॥५७॥
ततस्तया समं सद्यः समर्पितशरीरया।
निर्गत्य च ययौ चोरः स्वनिकेतं सुरुङ्गया॥५८॥
प्रातश्च खातदुर्लक्ष्यसुरुङ्गेण निजां सुताम्।
केनाप्यपहृतां बुद्ध्वा स राजा समचिन्तयत्॥५९॥
ध्रुवं तस्यास्ति पापस्य निगृहीतस्य बान्धवः।
कश्चित् साहसिको येन हृतैवं सा सुता मम॥६०॥

उसके साथ रमण करके और उसे धन देकर वह बोली—'यदि फिर कभी आयेगा, तो तुझे इससे भी अधिक धन दूँगी' ॥४६॥

तब वहाँ से निकलकर, वहाँ का वृत्तान्त सुनाकर और पाया हुआ राज-धन घट को देकर उसे घर भेज दिया और स्वयं फिर राजकन्या के भवन में जा घुसा। काम और लोभ से खिंचा हुआ कौन पुरुष हानि की चिन्ता करता है ॥४७–४८॥

वहाँ वह कर्पर, रतिकर्म से थका हुआ और नशे में उन्मत्त होकर राजकुमारी के साथ ऐसा सो गया कि बीती हुई रात को भी वह न जान सका। प्रातःकाल अन्तःपुर के रक्षकों द्वारा पकड़ा जाकर राजा के सामने वह उपस्थित किया गया। राजा ने भी, क्रोध से उसके वध की आज्ञा दे दी ॥४९–५०॥

जब वधिक उसे फाँसी देने के लिए ले जा रहे थे, उसी समय रात को न आये हुए उसकी खोज करता हुआ घट वहाँ आ पहुँचा ॥५१॥

फाँसी पर लटकने के लिए जाते हुए कर्पर ने अपने मित्र घट को आया हुआ देखकर अपने इंगित से कहा कि तुम राजकन्या को यहाँ से ले जाकर उसकी रक्षा करना ॥५२॥

घट ने भी अपने इंगित से उसे स्वीकृति दे दी। तब वधिकों ने उस बेचारे को, शीघ्र ही फाँसी के स्थान पर ले जाकर और पेड़ पर लटकाकर मार डाला ॥५३॥

तब घट भी, घर जाकर दिन-भर सोचता रहा और रात आने पर सुरंग फोड़कर राजकुमारी के भवन में घुसा ॥५४॥

वहाँ अकेली और बँधी हुई राजकुमारी को देखकर वह बोला—'मैं मारे गये कर्पर का मित्र घट हूँ। उसी के प्रेम से तुझे भगा ले जाने के लिए यहाँ आया हूँ। इसलिए, आओ। जबतक तुम्हारा पिता तुम्हारा कुछ अनिष्ट नहीं करता, तबतक भाग चलें' ॥५५–५६॥

उस (घट) के ऐसा कहने पर प्रसन्न वह राजकन्या, उसकी बात को मानकर भागने के लिए तैयार हो गई। घट ने भी उसके बन्धन खोल दिये ॥५७॥

तब अपना शरीर समर्पण किये हुई राजकन्या के साथ वह चोर, सुरंग के मार्ग से निकलकर अपने घर आ गया ॥५८॥

प्रातःकाल गड्ढे में छिपी सुरंग के मार्ग से भगाई गई अपनी कन्या का समाचार जानकर राजा ने सोचा—॥५९॥

'अवश्य ही फाँसी पर लटकाये गये उस पापी का कोई साहसी बन्धु है, जिसने इस प्रकार मेरी कन्या का अपहरण कर लिया है' ॥६०॥

इति सञ्चिन्त्य नृपतिः स कर्परकलेवरम्।
रक्षितुं स्थापयामास स्वभृत्यानब्रवीच्च तान्॥६१॥
यः शोचन्निममागच्छेत् कर्त्तुं दाहादिकं च वः।
अवष्टभ्यस्ततो लप्स्ये पापां तां कुलदूषिकाम्॥६२॥
इति राज्ञा समादिष्टा रक्षिणोऽत्र तथेति ते।
रक्षन्तस्तस्थुरनिशं तत्कर्परकलेवरम्॥६३॥
तत् सोऽन्विष्य घटो बुद्ध्वा राजपुत्रीमुवाच ताम्।
प्रिये बन्धुः सखा योऽभूत् परमः कर्परो मम॥६४॥
यत्प्रसादान्मया प्राप्ता त्वं ससद्रत्नसञ्चया।
स्नेहानृण्यमकृत्वास्य नास्ति मे हृदि निर्वृतिः॥६५॥
तत्तं गत्वानुशोचामि प्रेक्षमाणः स्वयुक्तितः।
क्रमाच्च संस्करोम्यग्नौ तीर्थेऽस्यास्थीनि च क्षिपे॥६६॥
भयं मा भूच्च ते नाहमबुद्धिः कर्परो यथा।
इत्युक्त्वा तां तदैवाऽभूत् स महाव्रतिवेषधृत्॥६७॥
स दध्योदनमादाय कर्परे कर्परान्तिकम्।
मार्गागत इवोपागाच्चक्रेऽत्र स्खलितं च सः॥६८॥
निपात्य हस्ताद् भङ्क्त्वा च तं स दध्यन्नकर्परम्।
हा कर्परामृतभृतेत्यादि तत्तच्छुशोच सः॥६९॥
रक्षिणो मेनिरे तच्च भिन्नभाण्डानुशोचनम्।
क्षणाच्च गृहमागत्य राजपुत्र्यै शशंस तत्॥७०॥
अन्येद्युश्च वधूवेषं भृत्यं कृत्वैकमग्रतः।
अन्यं धृतसधत्तूरभक्ष्यभाण्डं च पृष्ठतः॥७१॥
स्वयं च मत्तग्रामीणवेषो भूत्वा दिनात्यये।
प्रस्खलन्निकटे तेषामगात् कर्पररक्षिणाम्॥७२॥
कस्त्वं केयं च ते भ्रातः क्व यासीति च तत्र तैः।
पृष्टः स धूर्तस्तानेवमुवाच स्खलिताक्षरम्॥७३॥
ग्राम्योऽहमेषा भार्या मे यामीतः श्वाशुरं गृहम्
भक्ष्यकोशलिका चेयमानीता तत्कृते मया॥७४॥
सम्भाषणाच्च यूयं मे सञ्जाताः सुहृदोऽधुना।
तदर्धं तत्र नेष्यामि भक्ष्याणामर्धमस्तु वः॥७५॥
इत्युक्त्वा भक्ष्यमेकैकं स ददौ तेषु रक्षिषु।
ते हसन्तो गृहीत्वैव भुञ्जते स्माखिला अपि॥७६॥

ऐसा सोचकर राजा ने फाँसी पर लटकाये गये कर्पर के शव की रक्षा के लिए अपने सिपाही नियुक्त कर दिये और उनसे कहा—॥६१॥

'जो भी कोई इस मुर्दे के लिए शोक करता हुआ इसका शव लेकर दाह आदि क्रिया करने के लिए आये, उसे पकड़ लेना। उससे मैं उस दुष्टा और कुल-कलंकिनी कन्या को प्राप्त कर लूंगा ॥६२॥

राजा की आज्ञा पाये हुए सेवक, उस कर्पर के शव की रक्षा करते हुए रात-दिन वहाँ पहरा देने लगे ॥६३॥

इस बात का पता लगाकर घट ने, राजपुत्री से कहा—'प्यारी, वह कर्पर, मेरा बन्धु और परम मित्र था। जिसकी कृपा से मैंने रत्नों और धन के साथ तुझे पाया है। उसके प्रेम से उऋण हुए विना मेरे हृदय को शान्ति न मिलेगी ॥६४—६५॥

इसलिए, मैं जाकर उसका शोक मनाता हूँ और अपनी युक्ति से उसका अग्नि-संस्कार करके उसकी अस्थियों को किसी तीर्थ में प्रवाहित करता हूँ ॥६६॥

तुझे डरना न चाहिए। मैं कर्पर के समान मूर्ख नहीं हूँ।' उस (राजकन्या) से इस प्रकार कहकर उसने पाशुपत योगी का वेष बनाया और एक खप्पर में दही और भात रखकर मार्ग चलते हुए भटकता-सा कर्पर के शव के पास आ गया। वहाँ आकर उसने हाथ से खप्पर को गिरा दिया और 'हाय अमृत-भरे कर्पर, हाय अमृत-भरे कर्पर'—कहकर चिल्लाकर शोक करने लगा। रक्षकों ने, उसे टूटे हुए खप्पर के लिए शोक करके रोते हुए समझा। उसी समय उसने घर वापस आकर राजपुत्री से सब कहा ॥६७—७०॥

दूसरे दिन, स्त्री (बहू) का वेष धारण किये हुए एक सेवक के शिर पर धतूरा मिले हुए भोजन का बरतन रखकर, दूसरे सेवक को पीछे किये हुए और स्वयं नशे में उन्मत्त ग्रामीण का वेष बनाकर सायंकाल के समय गिरता-पड़ता तथा लड़खड़ाता हुआ घट, कर्पर के शव की रक्षा करते हुए सिपाहियों के पास आ गया ॥७१—७२॥

वहाँ पर 'तू कौन है, यह स्त्री कौन है? और भाई, तू कहाँ जारहा है?'—पहरेदारों द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर वह धूर्त्त बोला—'मैं गाँव का रहनेवाला हूँ। यह मेरी पत्नी है। यहाँ से मैं ससुराल जा रहा हूँ। यह भोजन का सामान, मैं उनके लिए ही लाया था, किन्तु वार्त्तालाप होने के कारण आप लोग भी मेरे मित्र हो गए हैं। अतः, आधा ही अब वहाँ ले जाऊँगा और आधा आपलोगों के लिए रहेगा। ऐसा कहकर उसने वह वस्तु निकालकर उन लोगों को खाने के लिए दी। वे भी सभी हँसते हुए उसे खाने लगे ॥७३—७६॥

तेन रक्षिषु धत्तूरमोहितेष्वेषु सोऽग्निसात् ।
निशि चक्रे घटो देहं कर्परस्याहृतेन्धनः ॥७७॥
गते तस्मिस्ततः प्रातर्बुद्ध्वा राजा निवार्य तान् ।
विमूढान्स्थापयामास रक्षिणोऽन्यानुवाच च ॥७८॥
रक्ष्याण्यस्थीन्यपीदानीं यस्तान्यादातुमेष्यति ।
स युष्माभिर्ग्रहीतव्यो भक्ष्यं किञ्चिच्च नान्यतः ॥७९॥
इति राज्ञोदितास्ते च सावधाना दिवानिशम् ।
तत्रासन् रक्षिणस्तं च वृत्तान्तं बुबुधे घटः ॥८०॥
ततः स चण्डिकादत्तमोहमन्त्रप्रभाववित् ।
मित्रं प्रव्राजकं किञ्चिच्चकाराश्वासकेतनम् ॥८१॥
तत्र गत्वा समं तेन प्रव्राजा मन्त्रजापिना ।
रक्षिणो मोहयित्वा तान् कर्परास्थीनि सोऽग्रहीत् ॥८२॥
क्षिप्त्वा च तानि गङ्गायामेत्याख्याय यथाकृतम् ।
राजपुत्र्या समं तस्थौ सुखं प्रव्राजकान्वितः ॥८३॥
राजाऽपि सोऽस्थिहरणं बुद्ध्वा तद्रक्षिमोहनम् ।
आ सुताहरणात् सर्वं मेने तद्योगिचेष्टितम् ॥८४॥
येनेदं योगिनाकारि तनयाहरणादि मे ।
ददामि तस्मै राज्यार्धमभिव्यक्ति स याति चेत् ॥८५॥
इति राजा स्वनगरे दापयामास घोषणाम् ।
तां श्रुत्वा चैच्छदात्मानं घटो दर्शयितुं तदा ॥८६॥
मैवं कृथा न कार्योऽस्मिन् विश्वासश्छद्मघातिनि ।
राज्ञीत्यवार्यत तया राजपुत्र्या ततश्च सः ॥८७॥
अथोद्भेदभयात्तेन साकं प्रव्राजकेन सः ।
घटो देशान्तरं यायाद्राजपुत्र्या तया युतः ॥८८॥
मार्गे च राजपुत्री सा प्रव्राजं तं रहोऽब्रवीत् ।
एकेन ध्वंसितान्येन भ्रंशितास्म्यमुना पदात् ॥८९॥
तच्चौरः स मृतो नायं घटो मे त्वं बहुप्रियः ।
इत्युक्त्वा तेन सङ्गम्य सा विषेणावधीद् घटम् ॥९०॥
ततस्तेन समं यान्ती पापा प्रव्राजकेन सा ।
धनदेवाभिधानेन सञ्जग्मे वणिजा पथि ॥९१॥
कोऽयं कपाली त्वं प्रेयान् ममेत्युक्त्वा ययौ समम् ।
वणिजा तेन संसुप्तं सा प्रव्राजं विहाय तम् ॥९२॥

उस भोजन में पड़े हुए धतूरे के कारण उन पहरेदारों के बेहोश हो जाने पर, घट ने, रात्रि के समय लकड़ियाँ इकट्ठी करके आग लगा दी और कर्पर का अग्नि-संस्कार पूरा कर दिया ।।७७।।

प्रातःकाल, इस घटना को जानकर राजा ने, उन पहरेदारों को हटाकर दूसरे पहरेदार नियुक्त किये। और उनसे कहा—'अब भी उसकी अस्थियों की रक्षा करनी है। जो भी उन्हें लेने आये, उसे पकड़ लेना और किसी का दिया हुआ कुछ नहीं खाना ।।७८–७९।।

राजा की इस आज्ञा से, वे नये प्रहरी दिन-रात सावधानी से, उसकी रक्षा करते थे। यह समाचार घट को मालूम हुआ ।।८०।।

तब उसने चंडिका से प्राप्त मोहन-मन्त्र को जाननेवाले किसी साधु को अपना विश्वासी मित्र बनाया ।।८१।।

घट, उसी संन्यासी मित्र के साथ वहाँ गया और पहरेदारों को उस साधु से मोहित कराकर कर्पर की अस्थियाँ बीनकर वहाँ से ले आया ।।८२।।

तदनन्तर घट, उन अस्थियों को गंगा में प्रवाहित कर, राजकुमारी को अपना सारा वृत्तान्त सुनाकर और उस साधु के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा ।।८३।।

राजा ने भी, पहरेदारों के मोहित होने और कन्या के अपहरण आदि के कार्य को किसी योगी के योग की माया समझा ।।८४।।

'जिस योगी ने मेरी कन्या का हरण किया है, वह यदि प्रकट हो जाय, तो मैं अपना आधा राज्य उसे दे दूँगा।' राजा ने, अपने नगर में ऐसी घोषणा करा दी। यह सुनकर जब घट अपने को प्रकट करने के लिए तैयार हुआ, तब राजपुत्री ने यह कहकर उसे रोक दिया कि 'कपट से बात करनेवाले राजा पर विश्वास मत करो' ।।८५–८७।।

तब भेद खुलने के भय से घट, उस साधु और राजपुत्री को लेकर दूसरे देश को चला गया ।।।८८।।।

मार्ग में, उस राजपुत्री ने, उस साधु से एकान्त में कहा—'एक कर्पर ने तो मेरा चरित्र नष्ट किया और दूसरे ने, मुझे राजकुमारी-पद से गिरा दिया। वह कर्पर चोर तो मर गया, किन्तु यह घट मरा नहीं। तुम मुझे अत्यन्त प्यारे लगते हो।' ऐसा कहकर उससे संगति करके राजकन्या ने, विष देकर घट को मार डाला ।।८९–९०।।

तब उस साधु के साथ जाती हुई वह पापिन राजकुमारी मार्ग में धनदेव नामक एक बनिये से मिल गई और बोली—'यह कपाल धारण करनेवाला कहाँ? तुम मेरे प्यारे हो।' इस प्रकार सोये हुए साधु को छोड़कर, वह बनिये के साथ चुपके-से भाग गई ।।९१–९२।।

प्रव्राजकश्च स प्रातः प्रबुद्धः समचिन्तयत्।
न स्नेहोऽस्ति न दाक्षिण्यं स्त्रीष्वहो चापलादृते॥९३॥
यद्विश्वास्यापि मां पापा हृतार्था च पलायिता।
सैष लाभोऽथवा यन्न हतोऽस्मि घटवत्तया॥९४॥
इत्यालोच्य निजं देशं ययौ प्रव्राजकोऽथ सः।
वणिजा सह तद्देशं प्राप्ता राजसुतापि सा॥९५॥
प्रवेशयामि सहसा बन्धकीं किमिमां गृहम्।
इति स्वदेशप्राप्तश्च धनदेवो विचिन्तयन्॥९६॥
वणिक्तत्र किलैकस्या वृद्धाया वेश्म योषितः।
प्रविवेश तया साकं राजपुत्र्या दिनात्यये॥९७॥
तत्र नक्तं स वृद्धां तां पप्रच्छापरिजानतीम्।
धनदेव वणिग्गेहवार्तामम्बेह वेत्सि किम्॥९८॥
तच्छ्रुत्वा साऽब्रवीद् वृद्धा का वार्ता यत्र तत्र सा।
पुंसा नवनवेनैव तद्भार्या रमते सदा॥९९॥
चर्मपेटा गवाक्षेण रज्ज्वा तत्र हि लम्ब्यते।
नक्तं विशति यस्तस्यां स एवान्तः प्रवेश्यते॥१००॥
निष्काल्यते तथैवात्र पश्चिमायां पुनर्निशि।
पानमत्ता च सा नैव निभालयति किञ्चन॥१०१॥
एषा च तत्स्थितिः ख्यातिं नगरेऽत्राखिले गता।
बहुकालो गतोऽद्यापि न चायाति स तत्पतिः॥१०२॥
एतद्वृद्धावचः श्रुत्वा धनदेवस्तदैव सः।
युक्त्या निर्गत्य तत्रागात् सान्तर्दुःखः ससंशयः॥१०३॥
दृष्ट्वा स तत्र दासीभिः पेटां रज्ज्ववलम्बिताम्।
विवेश स ततस्ताभिरुत्क्षिप्यान्तरनीयत॥१०४॥
प्रविष्टः स तयाऽलिङ्ग्य शय्यां निन्ये मदान्धया।
अविज्ञातः स्वगेहिन्या हठात् क्षीबत्वमूढया॥१०५॥
रिरंसा तस्य यावच्च नास्ति तद्दोषदर्शनात्।
तावत्सा मददोषेण निद्रां तद्गेहिनी ययौ॥१०६॥
निशान्ते च स दासीभिः सत्वरं रज्जुपेटया।
गवाक्षेण बहिः क्षिप्तः खिन्नो वणिगचिन्तयत्॥१०७॥

प्रातःकाल जगे हुए साधु ने देखा कि स्त्रियों में चंचलता (व्यभिचार) के सिवा न स्नेह है, न सज्जनता है। इसलिए, वह दुष्टा मुझे विश्वास दिलाकर भी माल लेकर भाग गई। इतना ही लाभ हुआ कि उसने मुझे भी घट के समान मार नहीं डाला ॥९३–९४॥

ऐसा सोचकर साधु अपने स्थान पर चला गया, राजपुत्री भी बनिये के साथ उसके देश जा पहुँची ॥९५॥

अपने देश पहुँचकर धनदेव सोचने लगा कि 'मैं इस दुराचारिणी दुष्टा को एकाएक अपने घर में कैसे ले जाऊँ?' ॥९६॥

तब वह बनिया अपने नगर में सायंकाल के समय उस राजकुमारी के साथ एक वृद्धा स्त्री के घर में चला गया और वहीं ठहर गया ॥९७॥

वहाँ पर उस राजकुमारी ने, उस जानकार वृद्धा से पूछा कि 'क्या तुम धनदेव के घर का हाल जानती हो?' ॥९८॥

यह सुनकर वृद्धा बोली—'उसके घर की क्या बात है। उसकी पत्नी, जहाँ-तहाँ सदा नये पुरुष के साथ रमण करती है ॥९९॥

उसकी खिड़की में रस्सी से बँधी चमड़े की पिटारी लटकती रहती है। रात में जो भी उस पिटारी में घुसता है, उसे ही वह अन्दर बुला लेती है ॥१००॥

रात के अन्त में उसे उसी प्रकार बाहर निकाल देती है। मद्यपान से उन्मत्त वह कहीं कुछ देखती नहीं ॥१०१॥

उसकी यह स्थिति इस सारे नगर में प्रसिद्ध हो गई है। बहुत समय हो गया, उसका पति अब भी नहीं आया ॥१०२॥

उस वृद्धा की बात सुनकर मन-ही-मन दुःखी और सन्देह में पड़ा हुआ धनदेव, किसी बहाने अपने घर गया। वहाँ पर उसने दासियों द्वारा रस्सी में बाँधी हुई पिटारी देखी। वह उसमें बैठ गया और दासियों ने उसे ऊपर खींचकर भीतर कर लिया ॥१०३-१०४॥

उसके भीतर जाते ही नशे में चूर और काम में अन्धी स्त्री ने, उसका आलिंगन करके उसे खाट पर पटक दिया। नशे में मत्त रहने के कारण उसकी स्त्री ने, उसे पहचाना भी नहीं ॥१०५॥

अपनी पत्नी की यह दुरवस्था देख उस धनदेव की रमणेच्छा नहीं रह गई और तब तक नशे की तीव्रता के कारण उसकी पत्नी भी सो गई ॥१०६॥

रात का अन्त होने पर उसकी दासियों ने उसे उसी प्रकार पिटारी में भरकर बाहर फेंक दिया। बाहर निकाला हुआ धनदेव, बनिया सोचने लगा— ॥१०७॥

अलं मे गृहमोहेन गृहे नार्यो निबन्धनम्।
तासामेवेदृशी वार्त्ता तस्माच्छ्रेयो वनं परम्॥१०८॥
इति निश्चित्य सन्त्यज्य स तां राजसुतामपि।
धनदेवः प्रववृते गन्तुं दूरं वनान्तरम्॥१०९॥
गच्छतस्तस्य मार्गे च मिलितो मित्रतामगात्।
ब्राह्मणो रुद्रसोमाख्यः प्रवासादागतश्चिरात्॥११०॥
स तेनोक्तः स्ववृत्तान्तं स्वभार्याशङ्कितो द्विजः।
तेनैव वणिजा साकं सायं स्वग्राममासदत्॥१११॥
तत्र स्वभवनोपान्ते गोपं दृष्ट्वा नदीतटे।
माद्यन्तमिव गायन्तं नर्मणा पृच्छति स्म सः॥११२॥
गोप ते तरुणी काचित् कच्चिदस्त्यनुरागिणी।
येनैवं गायसि मदान्मन्यमानस्तृणं जगत्॥११३॥
तच्छ्रुत्वा सोऽहसद् गोपो गोप्यं वस्तु कियन्मया।
चिरविप्रोषितस्येह रुद्रसोमद्विजन्मनः॥११४॥
ग्रामाधिपस्य तरुणीमहं भार्यां सदा भजे।
प्रवेशयति तद्दासी स्त्रीवेषं तद्गृहेऽत्र माम्॥११५॥
एतद्गोपालतः श्रुत्वा मन्युमन्तर्निगृह्य च।
तत्त्वं जिज्ञासमानस्तं रुद्रसोमो जगाद सः॥११६॥
यद्येवमतिथिस्तेऽहं स्ववेषं देह्यमुं मम।
यावत् त्वमिव तत्राद्य याम्यहं कौतुकं हि मे॥११७॥
एवं कुरु गृहाणेमं मदीयं कालकम्बलम्।
लगुडं चास्व चैवेह तद्दासी यावदेष्यति॥११८॥
मद्बुद्ध्या च तयाहूय स्वैरं दत्ताङ्गनाम्बरः।
नक्तं तत्र व्रजाहं च विश्राम्यामि निशामिमाम्॥११९॥
एवमुक्तवतस्तस्माद् गोपाल्लगुडकम्बलौ।
गृहीत्वा रुद्रसोमोऽत्र तद्वेषेण स तस्थिवान्॥१२०॥
गोपश्च वणिजा साकं धनदेवेन तेन सः।
दूरे तत्र मनाक् तस्थौ दासी सा चाययौ ततः॥१२१॥
सा तं तमसि तूष्णीकामेत्य स्त्रीवेषगुण्ठितम्।
एहीत्युक्त्वा ततो रुद्रसोमं गोपधियानयत्॥१२२॥

'घर का मोह व्यर्थ है। क्योंकि, घर में स्त्री ही एक बन्धन है। उन स्त्रियों की भी जब यह दशा है, तब घर से अच्छा एकान्त जंगल ही है' ॥१०८॥

ऐसा निश्चय करके और उस राजकन्या को भी उसी वृद्धा के घर पर ही, छोड़कर धनदेव बनिया, कहीं दूर वन के लिए चल पड़ा ॥१०९॥

मार्ग में जाते हुए उसे रुद्रसोम नाम का एक ब्राह्मण मिला; जो उसका मित्र बन गया। वह भी बहुत दिनों बाद लम्बे प्रवास से घर आ रहा था ॥११०॥

बनिये से उसकी स्त्री के वृत्तान्त को सुनकर वह ब्राह्मण भी, अपनी स्त्री पर शंका करता हुआ उसी बनिये के साथ सायंकाल अपने गाँव पहुँचा ॥१११॥

अपने घर के पास नदी में एक ग्वाले को गाते हुए देखकर उसने हँसी-हँसी में उससे पूछा—॥११२॥

'ग्वाले, क्या कोई युवती स्त्री, तुमसे प्रेम करती है, जिस कारण संसार को तृण के समान समझकर इस प्रकार की मस्ती में तुम गा रहे हो?' ॥११३॥

यह सुनकर वह ग्वाला हँसा और बोला—'मैं कहाँतक छिपाऊँ। लम्बे समय से विदेश गये हुए गाँव के चौधरी रुद्रसोम नामक ब्राह्मण की युवती भार्या है, मैं उसी का सेवन करता हूँ उसकी दासी, स्त्री का वेष पहनाकर मुझे उसके घर ले जाती है।' ग्वाले से यह सुनकर और क्रोध को भीतर-ही-भीतर पीकर सचाई को जानने की इच्छा से रुद्रसोम ने ग्वाले से कहा— ॥११४–११६॥

'यदि ऐसी बात है, तो आज मैं तेरा मेहमान हूँ। अतः, अपना वेष, मुझे दे दो, तो तुम्हारी तरह आज मैं वहाँ जाऊँ। मुझे बहुत कौतुक हो रहा है' ॥११७॥

'ऐसा करो, यह मेरा काला कम्बल ले लो। लाठी भी ले लो और तबतक यहाँ बैठो, जबतक दासी यहाँ आती है।' ग्वाले ने उससे इस प्रकार कहा ॥११८॥

और कहा कि—'मेरे भ्रम से दासी तुझे स्त्री के कपड़े पहनने को देगी। स्त्री वेष धारण कर रात में तू वहाँ जाना और मैं आज की रात विश्राम करूँगा' ॥११९॥

इस प्रकार कहते हुए ग्वाले से लाठी और कम्बल लेकर वह रुद्रसोम उसी वेष में बैठा रहा ॥१२०॥

'वह ग्वाला, धनदेव बनिया के साथ, कुछ दूर पर जा बैठा और इतने में ही वहाँ दासी आ पहुँची ॥१२१॥

उसने चुपचाप आकर अँधेरे में चुप बैठे रुद्रसोम को गोपाल (ग्वाला) समझकर उसे स्त्री वेष धारण कराकर कहा—'आओ' ॥१२२॥

स च नीतः स्वभार्यां तां दृष्ट्वा गोपालबुद्धितः।
उत्थायैव कृताश्लेषां रुद्रसोमो व्यचिन्तयत्॥१२३॥
सन्निकृष्टे निकृष्टेऽपि कष्टं रज्यन्ति कुस्त्रियः।
पापानुरक्ता यदियं गोपेऽप्यासन्नवर्त्तिनि॥१२४॥
इति ध्यायन् मिषं कृत्वा तदैवास्फुटया गिरा।
निर्गत्यैव विरक्तात्मा धनदेवान्तिकं ययौ॥१२५॥
उक्तस्वगृहवृत्तान्तो वणिजं तमुवाच सः।
त्वया सहाहमप्येमि वनं यातु गृहं क्षयम्॥१२६॥
इत्यूचिवान् रुद्रसोमो धनदेववणिक् च सः।
वनं प्रति प्रतस्थाते तदैव सह तौ ततः॥१२७॥
मिलितश्च तयो मार्गे धनदेवसुहृच्छशी।
कथाप्रसङ्गात् तौ तस्मै स्ववृत्तान्तं शशंसतुः॥१२८॥
स तच्छ्रुत्वा शशीर्ष्यालुश्चिराद्देशान्तरागतः।
साशङ्कोऽभूत्स्वगेहिन्यां न्यस्तायामपि भूगृहे॥१२९॥
प्रक्रामंश्च समं ताभ्यां सायं स स्वगृहान्तिकम्।
शशी प्राप गृहातिथ्यं तयोः कर्त्तुमियेष च॥१३०॥
तावच्च दुर्गन्धवहं कुष्ठशीर्णकराङ्घ्रिकम्।
तत्रापश्यत् सशृङ्गारं गायन्तं पुरुषं स्थितम्॥१३१॥
विस्मयाच्च तमप्राक्षीदीदृशः को भवानिति।
कामदेवोऽहमस्मीति कुष्ठी सोऽपि जगाद तम्॥१३२॥
का भ्रान्तिः कामदेवस्त्वं रूपशोभैव वक्ति ते।
इत्युक्तः शशिना भूयः सोऽवादीच्छृणु वच्मि ते॥१३३॥
इह धूर्त्तः शशी नाम दत्तैकपरिचारिकाम्।
भार्यां निक्षिप्य भूगेहे सेर्ष्यो देशान्तरं गतः॥१३४॥
तद्भार्यया विधिवशादिह दृष्टस्य मे तया।
अर्पितः सद्य एवात्मा मदनाकृष्टचित्तया॥१३५॥
तया समं च सततं रात्रौ रात्रावहं रमे।
पृष्ठे गृहीत्वा तद्दासी प्रवेशयति तत्र माम्॥१३६॥
तद् ब्रूहि किन्न कामोऽहं प्राप्तिः कस्यान्ययोषिताम्।
यच्चित्राकारधारिण्या भार्यायाः शशिनः प्रियः॥१३७॥

ग्वाले के भ्रम से ले आये गये रुद्रसोम ने अपनी पत्नी को देखा और उसकी पत्नी ने उठकर उसका आलिंगन किया। तब रुद्रसोम सोचने लगा—॥१२३॥

'अत्यन्त खेद की बात है कि पास रहनेवाले नीच व्यक्ति से भी दुष्ट स्त्रियाँ प्रेम करने लगती हैं। इसीलिए, यह पापिन ग्वाले से ही मिल गई॥१२४॥

ऐसा सोचता हुआ और अस्पष्ट वाणी से कुछ बहाना बताकर वह घर से निकला और विरक्त होकर धनदेव के समीप आया ॥१२५॥

तदनन्तर, अपनी पत्नी का वृत्तान्त सुनाकर उस बनिये से बोला—'मैं भी तुम्हारे साथ जंगल को चलता हूँ। घर चूल्हे में जाय' ॥१२६॥

ऐसा कहता हुआ रुद्रसोम और वह बनिया दोनों, साथ ही वन को चले ॥१२७॥

वन को जाते हुए मार्ग में धनदेव का मित्र शशी, उन्हें मिला। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने अपना-अपना वृत्तान्त शशी को सुनाया ॥१२८॥

यह सुनकर ईर्ष्यालु शशी, जो बहुत दिनों के अनन्तर दूसरे देश से आया था, भूगर्भ-गृह (तहखाने) में रखी हुई भी अपनी पत्नी के प्रति शंकित हो गया ॥१२९॥

उन दोनों के साथ जाता हुआ वह शशी, सायंकाल अपने घर पहुँचा। और, उसने घर में उन दोनों मित्रों का आतिथ्य-सत्कार करना चाहा ॥१३०॥

तभी उसने अपने घर के पास कोढ़ से गले हुए हाथों और पैरोंवाले होने पर भी सजे हुए और गाते हुए एक पुरुष को बैठे देखा॥१३१॥

शशी ने, आश्चर्यचकित होकर उससे पूछा—'ऐसे तुम कौन हो?' तब उस कोढ़ी ने उससे कहा—'मैं कामदेव हूँ' ॥१३२॥

'इसमें सन्देह ही क्या? तुम्हारी रूप-सम्पत्ति ही कह रही है कि तुम कामदेव हो।' शशी से इस प्रकार कहा गया वह कोढ़ी फिर बोला—'सुनो, तुम्हें कहता हूँ। यहाँ धूर्त शशी, अपनी पत्नी के लिए एक दासी छोड़कर ईर्ष्या के साथ अपनी स्त्री को भूगर्भ-गृह में रखकर दूसरे देश को चला गया। ॥१३३-१३४॥

दैवयोग से उसकी स्त्री ने, मुझे यहाँ देखकर और काम से विवश होकर अपने को मुझे समर्पित कर दिया॥१३५॥

प्रत्येक रात मैं उसके साथ रमण करता हूँ। उसकी दासी, मुझे पीठ पर चढ़ाकर उसके पास ले जाती है ॥१३६॥

तब तुम्हीं बताओ कि मैं कामदेव क्यों नहीं हूँ। जहाँ दूसरी स्त्री की प्राप्ति नहीं हो सकती, वहाँ मैं अद्भुत रूपवाली शशी की स्त्री का प्यारा हूँ' ॥१३७॥

एतत्कुष्ठिवचः श्रुत्वा शशी निर्घातदारुणम्।
दुःखं निगूह्य जिज्ञासुर्निश्चयं तमुवाच सः ॥१३८॥
सत्यं भवसि कामस्त्वं तदेवं त्वाहमर्थये।
त्वत्तः श्रुतायामुत्पन्नं तस्यां कौतूहलं मम ॥१३९॥
तदद्यैव निशां तत्र त्वद्वेषेण विशाम्यहम्।
प्रसीदान्वहलभ्येऽर्थे तवात्र कियती क्षतिः ॥१४०॥
इत्युक्तः शशिना तेन स कुष्ठी तमभाषत।
एवमस्तु गृहाणेमं मद्वेषं देहि मे निजम् ॥१४१॥
तिष्ठाहमिह संवेष्ट्य पाणिपादं च वाससा।
यावदायाति सा तस्या दासी तमसि जृम्भिते ॥१४२॥
मद्बुद्ध्या च तया पृष्ठे गृहीतोऽहमिव व्रज।
अहं हि पादवैकल्याद् गच्छाम्यत्र तथा सदा ॥१४३॥
इत्युक्तः कुष्ठिना सोऽथ शशी तद्वेषमास्थितः।
तत्रासीत् तत्सहायौ तौ कुष्ठी चासन् विदूरतः ॥१४४॥
अथागत्य तया कुष्ठिवेषो दृष्टः स तद्धिया।
एहीत्युक्त्वा शशीभार्यादास्या पृष्ठेऽध्यरोप्यत ॥१४५॥
निन्ये च नक्तं स तया स्वभार्यायास्ततोऽन्तिकम्।
कुष्ठिजारप्रतीक्षिण्यास्तस्यास्तद्भूगृहान्तरम् ॥१४६॥
तत्रान्धकारे शोचन्तीमङ्गस्पर्शेन तां ध्रुवम्।
स्वभार्यामेव निश्चित्य स वैराग्यमगाच्छशी ॥१४७॥
ततस्तस्यां प्रसुप्तायां निर्गत्यादृष्ट एव सः।
जगाम धनदेवस्य रुद्रसोमस्य चान्तिकम् ॥१४८॥
आख्याय च स्ववृत्तान्तं तयोः खिन्नो जगाद सः।
हा धिङ्निम्नाभिपातिन्यो लोला दूरान्मनोरमाः ॥१४९॥
सुक्षोभ्या न स्त्रियः शक्याः पातुं श्वभ्रापगा इव।
यदेषा भूगृहस्थापि भार्या मे कुष्ठिनं गता ॥१५०॥
तन्ममाऽपि वनं श्रेयो धिग्गृहानिति स ब्रुवन्।
समदुःखवणिग्विप्रयुतस्तामनयन्निशाम् ॥१५१॥
प्रातस्त्रयोऽपि सहिताः प्रस्थितास्ते वनं प्रति।
सवापीकतलं प्रापुर्दिनान्ते पथि पादपम् ॥१५२॥

वज्र के समान कठोर कोढ़ी के वचन सुनकर अपनी व्याकुलता को छिपाकर वास्तविक तत्त्व जानने की इच्छा से वह कोढ़ी से बोला—॥१३८॥

'तू सचमुच कामदेव है। इसलिए, मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुमसे सुनकर मुझे उस स्त्री के प्रति अत्यन्त कौतूहल उत्पन्न हो गया है जो आज की रात मैं तुम्हारे वेष में उसके घर जाऊँ। इसलिए कृपा करो। प्रतिदिन मिलने वाली वस्तु यदि एक बार न भी मिले, तो तुम्हारी क्या हानि है ?' शशी के इस प्रकार कहने पर, कोढ़ी ने उससे कहा—'ऐसा ही करो। मेरा वेष ले लो और अपना वेष मुझे दे दो॥१३९—१४१॥

और, हाथ-पैरों को कपड़े से ढँककर यहाँ तबतक बैठो, जबतक अँधेरा बढ़ने पर दासी आती है॥१४२॥

मेरे भ्रम से उसके पीठ पर उठा लेने पर (अर्थात् सहारा देने पर) तू मेरे ही समान चलना। मैं पैर से रोगी होने से सदा जैसे जाता हूँ, उसी तरह तुम भी जाना॥१४३॥

कोढ़ी से इस प्रकार कहा गया शशी, उसी के समान वेष में हो गया। वहाँ पर उसके दोनों साथी और कोढ़ी कुछ दूर पर जा बैठे॥१४४॥

तदनन्तर, दासी ने आकर कोढ़ी के वेष में शशी को देखा और उसी कोढ़ी के भ्रम से 'आओ'—ऐसा कहकर उसने उसे अपनी पीठ का सहारा दिया॥१४५॥

तब वह दासी, रात अँधेरे में उसे उसी की पत्नी के पास ले गई, जो अपने कोढ़ी जार की प्रतीक्षा अँधेरे तहखाने में कर रही थी॥१४६॥

वहाँ अन्धकार में सोचती हुई उसके शरीर के स्पर्श से उसे पहचान कर और वही उसकी स्त्री है, इस प्रकार निश्चय करके शशी विरक्त हो गया॥१४७॥

तब उसके सो जाने पर, शशी, चुपचाप बाहर निकलकर धनदेव और रुद्रसोम के पास आ गया और उन दोनों को अपना वृत्तान्त सुनाकर खेद के साथ बोला—'नीचों की ओर जानेवाली चंचल स्त्रियों को धिक्कार है, जो दूर से ही मनोरम प्रतीत होती हैं॥१४८-१४९॥

गड्ढे में गिरनेवाली नदियों के समान स्त्रियों की रक्षा करना सम्भव नहीं है। देखो, तहखाने में रखी हुई भी मेरी पत्नी कोढ़ी के साथ रमण करने लगी॥१५०॥

अतः मेरे लिए भी वन ही ठीक है, घर को धिक्कार है।' ऐसा कहते हुए शशी ने, समान दुःख से दुःखी बनिया और ब्राह्मण के साथ वह रात बिताई॥१५१॥

प्रातः ही वे तीनों मिलकर वन की ओर चले। सायंकाल उन्हें मार्ग में एक बावली के साथ छायादार पेड़ मिला॥१५२॥

भुक्तपीताश्च ते रात्रौ तत्रारुह्य तरौ स्थिताः।
अपश्यन् पान्थमागत्य सुप्तमेकं तरोरधः॥१५३॥
क्षणाच्च ददृशुर्वापीमध्यादपरमुद्गतम्।
पुरुषं वदनोद्गीर्णसस्त्रीकशयनीयकम्॥१५४॥
उपभुज्य स्त्रियं तां स सुष्वाप शयनीयके।
स्त्री च दृष्ट्वैव सञ्जग्मे पान्थेनोत्थाय तेन सा॥१५५॥
कौ युवामिति पृष्टा च रतान्ते तेन साब्रवीत्।
नाग एषोऽहमेतस्य भार्येयं नागकन्यका॥१५६॥
माभूद्भयं च ते यस्मात् पान्थानां नवतिर्मया।
नवाधिकोपभुक्तैव पूरितं तु शतं त्वया॥ १५७॥
एवं वदन्तीं तां तं च पान्थं दैवात् प्रबुध्य सः।
नागो दृष्ट्वा मुखाज्ज्वालां मुक्त्वा भस्मीचकार तौ॥१५८॥
न शक्या रक्षितुं यत्र देहान्तर्निहिता अपि।
स्त्रियस्तत्र गृहे तासां का वार्त्ता धिग्धिगेव ताः॥१५९॥
इति नागे गते वापीं ब्रुवन्तस्ते त्रयो निशाम्।
शशिप्रभृतयो नीत्वा निर्वृताः प्रययुर्वनम्॥१६०॥
तस्मिन् मैत्र्याद्यविकलचतुर्भावनाभ्यासशान्तै-
श्चित्तैः सम्यङनियतमतयः सर्वभूतेषु सौम्याः।
प्राप्ताः सिद्धिं निरुपमपरानन्दभूमौ समाधौ
जग्मुर्मोक्षं क्षपिततमसस्ते त्रयोऽपि क्रमेण॥१६१॥
ता योषितस्तु तेषां निजपापविपाकजनितकष्टदशाः।
अचिरादेव विनष्टा दुष्टा लोकद्वयभ्रष्टाः॥१६२॥
एवं मोहप्रभवो रागो न स्त्रीषु कस्य दुःखाय।
तास्वेव विवेकभृतां भवति विरागस्तु मोक्षाय॥१६३॥
इति गोमुखतः कथाविनोदं सचिवाच्छक्तियशःसमागमोत्कः।
पुनरेव स वत्सराजसूनुश्चिरमाकर्ण्य शनैर्जगाम निद्राम्॥१६४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शक्तियशोलम्बके
अष्टमस्तरङ्गः।

वहाँ वे खा-पीकर रात में, वृक्ष पर चढ़ गये। इतने में ही उन्होंने आकर सोये हुए एक पथिक को वृक्ष के नीचे देखा ॥१५३॥

क्षण-भर में ही उन्होंने बावली के बीच से ऊपर की ओर निकले हुए एक पुरुष को देखा, जिसने अपने मुख से स्त्री के साथ एक श या को उगल दिया था ॥१५४॥

तब वह स्त्री के साथ समागम करके उसी शय्या पर सो गया। और, वह स्त्री सोये हुए उस पथिक के पास जाकर सो गई ॥१५५॥

रति-कार्य के अनन्तर उस पथिक से 'तुम दोनों कौन हो', इस प्रकार पूछी गई वह स्त्री, बोली—'मैं नागकन्या हूँ और इसकी भार्या हूँ ॥१५६॥

तुम्हें डरना न चाहिए, क्योंकि मैं निन्यानब्बे पथिकों के साथ समागम कर चुकी हूँ। अब तूने सौ पूरा कर दिया' ॥१५७॥

ऐसा कहती हुई उस स्त्री को और उसके नये जार को सोये हुए नाग ने उठकर डँस लिया। डँसने के उपरान्त मुँह से अग्नि की ज्वाला फेंककर उन दोनों को भस्म कर दिया ॥१५८॥

'जहाँ शरीर के भीतर रखी हुई भी स्त्री रक्षित नहीं हो सकती, वहाँ घर में तो उनकी बात ही क्या है ? ऐसी स्त्रियों को बार-बार धिक्कार है !' उस नाग के चले जाने पर इस प्रकार कहते हुए शशी आदि वे तीनों रात बिताकर वन को चले गये ॥१५९-१६०॥

वन में जाकर मैत्री आदि की चार भावनाओं को सिद्ध करके और उनके द्वारा अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को स्थिर करके सब प्राणियों पर समान भावना रखनेवाले वे तीनों साधक, अनुपम और परमानन्ददायक समाधि में मग्न होकर पूर्णसिद्धि को प्राप्त हुए और पापों का क्षय हो जाने पर मोक्ष-सिद्धि भी क्रमशः उन्होंने प्राप्त की ॥१६१॥

अपने पापों के फलस्वरूप उत्पन्न विविध कष्टों को भोगती हुई उनकी वे दुष्टा स्त्रियाँ भी, दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर शीघ्र ही नष्ट हो गई ॥१६२॥

इस प्रकार स्त्रियों में मोह (अज्ञान) के कारण होनेवाले राग (प्रेम) किसके लिए दुःख-दायक नहीं होता। और, सारासार का विवेक रखनेवाले महापुरुषों का स्त्रियों के प्रति विराग, मोक्ष के लिए ही होता है ॥१६३॥

शक्तियशा के समागम के लिए उत्सुक वत्सराज का पुत्र नरवाहनदत्त, मन्त्रिप्रवर गोमुख द्वारा इस प्रकार चिरकाल तक मनोरंजन करनेवाली कथा को सुनकर धीरे-धीरे सो गया ॥१६४॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शक्तियश लम्बक का
अष्टम तरंग समाप्त

नवमस्तरङ्गः

नरवाहनदत्ताय गोमुखकथिता विविधाः कथाः

अथान्येद्युः पुनरिमां निशि प्राग्वद्विनोदयन्।
नरवाहनदत्ताय गोमुखोऽकथयत् कथाम्॥१॥

बोधिसत्त्वांशस्य वणिजः कथा

बभूव नगरे क्वापि बोधिसत्त्वांशसम्भवः।
कस्याप्याढ्यस्य वणिजस्तनयो मृतमातृकः॥२॥
अन्यजायाप्रसक्तेन पित्रा तत्प्रेरितेन सः।
निरस्तो वनवासाय सभार्यो निरगाद् गृहात्॥३॥
स्वानुजं तु सहायान्तं तद्वत्पित्रा निराकृतम्।
अशान्तचित्तमुत्सृज्य सोऽन्येनैव पथा ययौ॥४॥
प्रक्रामंश्च क्रमात् प्राप निस्तोयतृणपादपम्।
पाथेयहीनश्चण्डांशुतप्तां मरुमहाटवीम्॥५॥
तस्यां व्रजन् स सप्ताहं भार्यां क्लान्तां क्षुधा तृषा।
अजीवयत् स्वमांसास्रैः पापा तान्याहरच्च सा॥६॥
अष्टमेऽह्नि मरिद्वीचिवाचालं गिरिकाननम्।
प्राप सत्फलसच्छायपादपं स्निग्धशाद्वलम्॥७॥
तत्र सम्भाव्य भार्यां तां क्लान्तां मूलफलाम्बुभिः।
अवातरद् गिरिनदीं स्नातुं कल्लोलमालिनीम्॥८॥
तस्यां ददर्श च छिन्नहस्तपादचतुष्टयम्।
ह्रियमाणं जलौघेन पुरुषं त्राणकाङ्क्षिणम्॥९॥
बहूपवासक्लान्तोऽपि तां विगाह्य नदीं ततः।
उज्जहार कृपालुस्तं महासत्त्वः स पूरुषम्॥१०॥
केनेदं ते कृतं भ्रातरिति कारुणिकेन च।
तेनारोप्य स्थलं पृष्टः स रुण्डः पुरुषोऽभ्यधात्॥११॥
निकृत्तहस्तचरणो नद्यां क्षिप्तोऽस्मि शत्रुभिः।
दित्सुभिः क्लेशमरणं त्वयाहं तूद्धृतस्ततः॥१२॥
एवमुक्तवतस्तस्य स बद्ध्वा व्रणपट्टिकाम्।
दत्त्वाहारं महासत्त्वः स्नानादि व्यधितात्मनः॥१३॥

नवम तरंग

गोमुख द्वारा नरवाहनदत्त को सुनाई गई विविध कथाएँ

दूसरे दिन रात में, फिर पहले के ही समान मनोविनोद करते हुए गोमुख मन्त्री ने नरवाहनदत्त के लिए कथा सुनाई ॥१॥

बोधिसत्त्व के अंश से उत्पन्न बनिये की कथा

किसी नगर में बोधिसत्त्व के अंश से उत्पन्न किसी धनी बनिये (सेठ) का लड़का था, जिसकी माँ मर गई थी ॥२॥

दूसरी स्त्री (सौतेली माँ) के वशीभूत और उसी के द्वारा प्रेरित पिता से वनवास के लिए निर्वासित वह पुत्र, अपनी पत्नी के साथ घर से निकल गया ॥३॥

अपने साथ आते हुए अपने अशान्तचित्त छोटे भाई को लौटाकर वह दूसरे ही मार्ग से गया ॥४॥

चलते-चलते मार्ग में भोजन-रहित वह क्रमशः प्रचंड सूर्य की किरणों से संतप्त महान् मरुस्थल में जा पहुँचा ॥५॥

उस मरुस्थल में, सात दिनों तक थकी-माँदी और भूखी-प्यासी स्त्री को वह अपने मांस और रक्त से जिलाता रहा। वह पापिनी भी उसे खाती-पीती रही। ॥६॥

आठवें दिन, वह एक पहाड़ी जंगल में पहुँचा, जो पहाड़ी नदी की तरंगों से मुखरित, फल-वाले सघन वृक्षों की छायावाला और हरी घासों के मैदानों से रमणीय था ॥७॥

वहाँ पर थकी-माँदी अपनी पत्नी को कन्द, मूल, फल, जल आदि से स्वस्थ करके वह स्वयं तरंगों से सुशोभित पहाड़ी नदी में स्नान करने के लिए उतरा ॥८॥

उसने नदी की धार में बहते हुए अपना बचाव चाहते हुए कटे हुए हाथपैर वाले एक पुरुष को देखकर, अनेक उपवासों से थके और दुर्बल होते हुए भी उस दयालु महापुरुष ने, नदी की धार में जाकर उसे निकाला ॥९-१०॥

और, उस दयालु राजकुमार ने उस रुंड पुरुष को अपनी पीठ पर उठाकर सूखे स्थान पर रखा और पूछा कि 'भाई, तुम्हारी यह दुर्दशा किसने की' ॥११॥

तब उस पुरुष ने कहा—'मेरे शत्रुओं ने मुझे कष्टपूर्वक मरने के लिए मेरे हाथ-पैर काट कर मुझे नदी में फेंक दिया' ॥१२॥

ऐसा कहते हुए उस पुरुष के घावों पर पट्टियाँ बाँधकर और उसे भोजन आदि से सन्तुष्ट करके उस महापुरुष ने, स्नान आदि क्रिया समाप्त की ॥१३॥

ततो मूलफलाहारो भार्यायुक्तोऽत्र कानने।
स तस्थौ बोधिसत्त्वांशो वणिक्पुत्रस्तपश्चरन् ॥१४॥
एकदा फलमूलार्थं गते तस्मिन् स्मरातुरा।
तद्भार्या तेन रुण्डेन रेमे रूढव्रणेन सा ॥१५॥
तत्सक्ता तेन सम्मन्त्र्य भर्तुस्तस्य वधैषिणी।
युक्त्या चकार सान्येद्युर्मान्द्यं दुश्चारिणी मृषा ॥१६॥
श्वभ्रे दुरवतारेऽथ स्थितां दुस्तरनिम्नगे।
दर्शयित्वौषधिं पापा पतिं सा तमभाषत ॥१७॥
जीवाम्यहं त्वयैषा चेन्ममानीता महौषधिः।
जाने ह्येतामिहस्थां मे स्वप्ने वक्ति स्म देवता ॥१८॥
तच्छ्रुत्वा स तथेत्येव श्वभ्रे तत्रौषधैः कृते।
तृणवेष्टितया रज्ज्वावातरत्तरुबद्धया ॥१९॥
अवतीर्णस्य रज्जुं तां चिक्षेपोन्मुच्य तस्य सा।
ततः स पतितो नद्यां तया जह्रे महौघया ॥२०॥
दूराद्दवीयो नीत्वा च तया सुकृतरक्षितः।
नद्या कस्यापि नगरस्यासन्ने सोऽर्पितस्तटे ॥२१॥
ततः स स्थलमारुह्य चिन्तयन् स्त्रीविचेष्टितम्।
जलावगाहनक्लान्तो विशश्राम तरोस्तले ॥२२॥
तस्मिन् काले च नगरे राजा तत्र मृतोऽभवत्।
मृते राजनि चानादिर्देशे तत्रेदृशी स्थितिः ॥२३॥
यन्मङ्गलगजः पौरैर्भ्राम्यमाणः करेण यम्।
आरोपयति पृष्ठे स्वे सोऽत्र राज्येऽभिषिच्यते ॥२४॥
स धैर्यतुष्टो धातेव भ्रमन् प्राप्तोऽन्तिकं गजः।
उत्क्षिप्यारोपयामास स्वपृष्ठे तं वणिक्सुतम् ॥२५॥
ततः स नगरं नीत्वा राज्ये प्रकृतिभिः क्षणात्।
वणिक्सुतोऽभिषिक्तोऽभूद् बोधिसत्त्वांशसम्भवः ॥२६॥
स राज्यं प्राप्य करुणामुदिताक्षान्तिभिः सह।
अरंस्त न तु पापाभिः स्त्रीभिश्चपलवृत्तिभिः ॥२७॥
तद्भार्या सापि निःशङ्का मत्वा तं च नदीहृतम्।
बभ्रामेतस्ततो जारं रुण्डं पृष्ठेऽधिरोप्य तम् ॥२८॥

तब कन्द और फल आदि का आहार करते हुए उस वैश्यपुत्र ने, पत्नी के साथ तपस्या करते हुए उसी वन में निवास किया ॥१४॥

एक बार उस बोधिसत्व के अंश वैश्यपुत्र के कन्द, फल आदि लेने के लिए दूर निकल जाने पर, काम-वासना से पीड़ित उसकी स्त्री, उस रुंड पर आसक्त हो गई और उसके साथ रमण करने लगी ॥१५॥

उसके सम्पर्क में आकर और उससे सम्मति करके अपने पति का वध करने की इच्छा से वह पापिन दुराचारिणी बीमारी का बहाना बनाकर पड़ गई ॥१६॥

दुस्तर नदी के करारे में नीचे की ओर उगी हुई किसी ओषधि को दिखाकर, वह, अपने पति से बोली कि 'यदि तुम उस ओषधि को ला दो, तो मैं जी सकती हूँ, ऐसा मुझे स्वप्न में देवता ने कहा है' ॥१७-१८॥

यह सुनकर साधु स्वभाव उसका पति उस ओषधि को लेने के लिए घास की रस्सी बनाकर, उसे वृक्ष से बाँधकर और उसमें लटककर नदी की ओर लपका। रस्सी के सहारे उसके लपकने पर उस कामिनी ने, रस्सी को खोलकर फेंक दिया। इस कारण उसका पति नदी में गिरकर तेज धारा में बह गया ॥१९-२०॥

पूर्व पुण्यों से रक्षित उस वैश्यपुत्र को नदी ने दूर तक बहाकर एक किनारे पर ले जाकर पटक दिया ॥२१॥

उस तट से ऊपर को चढ़ता हुआ, अपनी स्त्री के कुकर्म को सोचता हुआ और पानी के बहाव से थका-हारा वह वैश्यपुत्र, एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा ॥२२॥

उसी समय उस नगर का राजा मर गया। उस देश में, प्राचीन समय से यह प्रथा चली आ रही थी कि राजा के मरने पर, पुरवासी नागरिक, मंगल-गज को घुमाते थे। वह घूमते हुए सूंड़ से उठाकर जिसे अपनी पीठ पर बैठा लेता था, वही राजगद्दी पर बैठाया जाता था ॥२३-२४॥

उसी नियमानुसार धैर्य से सन्तुष्ट विधाता के समान वह हाथी, वृक्ष के तले बैठे हुए वैश्यपुत्र के पास आया और उसने उसे उठाकर अपनी पीठ पर बैठा लिया ॥२५॥

तब राजा के मन्त्रियों तथा अधिकारियों ने उस वैश्यपुत्र को नगर में ले जाकर उसका राज्याभिषेक कर दिया ॥२६॥

बोधिसत्त्व के अंश से उत्पन्न वह वैश्यपुत्र राज्य पाकर मैत्री, करुणा, मुदिता, क्षमा आदि गुणों के साथ राजशासन करने लगा। चंचल वृत्तिवाली पापिनी स्त्रियों को उसने दूर ही रखा ॥२७॥

उधर, उसकी पत्नी, निःशंक होकर पति को नदी में डूबकर मरा हुआ जानकर, अपने उस जार को पीठ पर चढ़ाकर इधर-उधर घूमने लगी ॥२८॥

वैरिकृत्ताङ्घ्रिहस्तोऽयं भर्त्ता मेऽहं पतिव्रता।
भिक्षित्वा जीवयाम्येतं तद्भिक्षां मे प्रयच्छत ॥२९॥
इति सा भिक्षमाणा च ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे।
राज्यस्थस्यात्मनो भर्त्तुर्नगरं प्राप तस्य तत् ॥३०॥
तथैव भिक्षमाणात्र राज्ञस्तस्य क्रमेण सा।
पतिव्रतेत्यर्च्यमाना पौरैः श्रुतिपथं ययौ ॥३१॥
आनाययत्स राजा च तां पृष्ठारूढरुण्डिकाम्।
का सा पतिव्रतेत्यारात् परिज्ञाय च पृष्टवान् ॥३२॥
साहं पतिव्रता देवेत्यपरिज्ञाय सापि तम्।
भर्तारमब्रवीत् पापा राजश्रीतेजसा वृतम् ॥३३॥
ततः स बोधिसत्त्वांशो हसन् राजा जगाद ताम्।
दृष्टं पतिव्रतात्वं ते फलेनेदं मयैव च ॥३४॥
स्वरक्तमांसं दत्त्वापि स्वीकर्त्तुं शङ्किता न या।
स्वेनाविलुप्तहस्तेन भर्त्रा मानुषराक्षसी ॥३५॥
सा सदा रक्तमांसानि हरन्ती बत मे कथम्।
रुण्डेन विकलेनापि स्वीकृत्य वहनीकृता ॥३६॥
किंस्विदूढः स भर्त्ता यो नद्यां क्षिप्तस्त्वयानघः।
कर्मणा तेन वहसे रुण्डमेतं बिभर्षि च ॥३७॥
इत्युद्घाटितवृत्तं तं परिज्ञाय पतिं ततः।
भयात् सा मूर्च्छितेवाभूल्लिखितेव मृतेव च ॥३८॥
किमेतद्ब्रूहि देवेति सोऽथ राजा सकौतुकैः।
पृष्टोऽमात्यैर्यथावृत्तं तेभ्यः सर्वमवर्णयत् ॥३९॥
ततो भर्त्तृद्रुहं बुद्ध्वा छित्त्वा तां कर्णनासिकम्।
कृत्वाङ्कं मन्त्रिणो देशात् सरुण्डां निरवासयन् ॥४०॥
छिन्ननासिकया रुण्डं बोधिसत्त्वं नृपश्रिया।
युक्तं सदृशसंयोगं तदा विधिरदर्शयत् ॥४१॥
एवं दुरवधार्यैव गतिश्चित्तस्य योषिताम्।
दैवस्येवाविचारस्य नीचैकाभिमुखस्य च ॥४२॥
एवं चात्यक्तशीलानां ससत्त्वानां जितक्रुधाम्।
तुष्ट्वेवाचिन्तिता एव स्वयमायान्ति सम्पदः ॥४३॥

वह कहती थी—'यह मेरा पति है और शत्रुओं ने इसके हाथ-पैर काट दिये हैं। मैं पतिव्रता हूँ, इसलिए भीख माँगकर भी पति को जिलाती हूँ। इसलिए, मुझे भिक्षा दो' ॥२९॥

इस प्रकार, गाँव-गाँव और नगर-नगर में भीख माँगती हुई वह दुष्टा स्त्री उस नगर में, पहुँची, जहाँ उसका पहला पति, राज्य करता था॥३०॥

इसी प्रकार वहाँ भीख माँगती हुई वह पतिव्रता होने के कारण जनता में खूब मानी जाने लगी। धीरे-धीरे राजा के कानों में भी उसकी प्रशंसा पहुँची॥३१॥

राजा ने भी, पीठ पर रुंड को चढ़ाई हुई उसे बुलवाया और भली भाँति उसे पहचान कर पूछा कि 'क्या तू ही वह पतिव्रता है?' ॥३२॥

उस पापिनी ने भी राजलक्ष्मी के तेज से परिवर्तित स्वरूपवाले अपने उस पति को न पहचान कर कहा—'हाँ, महाराज, मैं वही पतिव्रता हूँ' ॥३३॥

तब बोधिसत्त्व का अंश वह राजा, हँसकर बोला—'इस परिणाम से मैं ने भी तेरा पातिव्रत्य देख लिया। तू वह मनुष्य-रूपी राक्षसी है, जिसे तेरा पति अपना रक्त और मांस देकर भी वश में न कर सका और शरीरहीन रुंड ने, तुझे अपना वाहन बनाया। क्या यह वही तेरा निष्पाप पति है; जिसे तूने नदी में फेंक दिया था। उसी कर्म से तू इस रुंड को ढो रही है और पाल रही है?" ॥३४—३७॥

इस प्रकार, गुप्त रहस्य को खोलनेवाले उस अपने पति को पहचानकर वह स्त्री भय से मूर्च्छित-सी, चित्र-लिखित और मृत-सी हो गई॥३८॥

तदनन्तर, कौतुक-भरे मन्त्रियों से 'महाराज, यह क्या बात है?' इस प्रकार पूछे गये राजा, ने, सब सत्य समाचार उन्हें सुना दिया॥३९॥

तब मन्त्रियों ने, उसे पति-विरोधिनी जानकर उसके नाक-कान कटवा दिये और उस रुंड के साथ उसे उस नगर से बाहर निकलवा दिया॥४०॥

नकटी को रुंड के साथ और राजलक्ष्मी को बोधिसत्त्व के साथ मिलाते हुए दैव ने, समान संयोग का उदाहरण प्रदर्शित किया॥४१॥

इस प्रकार विवेकहीन और निम्न चित्तवृत्तिवाली स्त्रियों की चितवृत्ति दैव-गति के समान नहीं जानी जा सकती॥४२॥

इसी प्रकार, अपने स्वभाव और चरित्र के रक्षक विशाल हृदयवाले और क्रोध पर विजय करनेवाले व्यक्तियों को सम्पत्तियाँ मानों प्रसन्न होकर विना सोचे ही प्राप्त हो जाती हैं॥४३॥

इत्याख्याय कथां मन्त्री गोमुखः पुनरेव सः।
नरवाहनदत्ताय कथामेतामवर्णयत् ॥४४॥
कोऽप्यासीद्बोधिसत्त्वांशो वने क्वापि कृतोटजः।
करुणैकाग्रहृदयो महासत्त्वस्तपश्चरन् ॥४५॥
स तत्र जन्तूनापन्नान् पिशाचांश्च समुद्धरन्।
अपरांश्च जलैरन्नैः स्वप्रभावादतर्पयत् ॥४६॥
एकदान्योपकारार्थं भ्रमन् सोऽत्राटवीभुवि।
महान्तं कूपमद्राक्षीतदन्तश्च ददौ दृशम् ॥४७॥
तावच्च स्त्री तदन्तःस्था तं दृष्ट्वोच्चैरभाषत।
भो महात्मन्नहं नारी सिंहः स्वर्णशिखः खगः ॥४८॥
भुजगश्चेति चत्वारः कूपेऽत्र रजनौ वयम्।
पतितास्तदतः क्लेशादुद्धरास्मान् कृपां कुरु ॥४९॥
एतच्छ्रुत्वा जगादैतां स्त्रियं यूयं त्रयो यदि।
तमसान्धा निपतिताः खगोऽत्र पतितः कथम् ॥५०॥
तथैवैषोऽपि पतितो व्याधजालेन संयतः।
इति सापि महासत्त्वं तं नारी प्रत्यभाषत ॥५१॥
ततस्तान् स तपःशक्त्या यावदुद्धर्त्तुमिच्छति।
तावच्छशाक नोद्धर्त्तुं सिद्धिस्तस्य त्वहीयत ॥५२॥
पापेयं स्त्री ध्रुवं सिद्धिरेतत्सम्भाषणाद्धि मे।
नष्टा यतस्त्वत्र तावद्युक्तिमन्यां करोम्यहम् ॥५३॥
इति सञ्चिन्त्य रज्ज्वा तांस्तृणावेष्टितयाखिलान्।
उज्जहार महासत्त्वः स कूपात् कुर्वतः स्तुतिम् ॥५४॥
सविस्मयश्च पप्रच्छ सिंहपक्षिभुजङ्गमान्।
व्यक्ता वाग् वः कथं कीदृग्वृत्तान्तश्चोच्यतामिति ॥५५॥
ततः सिंहोऽब्रवीद् व्यक्तवाचो जातिस्मरा वयम्।
अन्योन्यबाधकाश्चास्मद् वृत्तान्तं च क्रमाच्छृणु ॥५६॥

सिंहस्य कथा

इत्युक्त्वा स स्ववृत्तान्तं सिंहो वक्तुं प्रचक्रमे।
अस्ति वैदूर्यशृङ्गाख्यं तुषाराद्रौ पुरोत्तमम् ॥५७॥
पद्मवेगाभिधानोऽस्ति तत्र विद्याधरेश्वरः।
वज्रवेगाभिधानश्च पुत्रस्तस्योदपद्यत ॥५८॥

मन्त्री गोमुख इस प्रकार कथा कहकर नरवाहनदत्त के लिए फिर यह दूसरी कथा कहने लगा ॥४४॥

बोधिसत्त्व का अंशावतार कोई व्यक्ति किसी वन में, पर्णकुटी बनाकर करुणा में सदा एकाग्रचित्त होकर तपस्या करता हुआ रहता था ॥४५॥

वह उस वन में विपद्ग्रस्त प्राणियों और पिशाचों का उद्धार करता हुआ अन्यान्य प्राणियों की जल और अन्न से सेवा करता था ॥४६॥

एक-बार, दूसरे के उपकार के लिए, जंगलों में घूमते हुए उसने एक भारी कुँआ देखा और उसके भीतर झाँका ॥४७॥

तब उसके भीतर पड़ी हुए एक स्त्री, उसे देखकर जोर से बोली—'हे महात्मन्, मैं (स्त्री), सिंह, स्वर्णचूड पक्षी और सर्प इस प्रकार हम चार व्यक्ति रात को इस कुएँ में गिर पड़े हैं। अतः, कृपाकर हम लोगों को निकालो ॥४८–४९॥

यह सुनकर वह भद्रात्मा उस स्त्री से बोला—'तुम तीनों यदि अँधेरे में न दीख पड़ने के कारण गिर पड़े हो, तो ठीक है, परन्तु यह पक्षी कैसे गिरा ?' ॥५०॥

'बहेलिये के जाल से बँधा हुआ यह पक्षी भी इसी तरह गिरा'—इस प्रकार उस स्त्री ने उत्तर दिया ॥५१॥

तब उस महात्मा ने अपनी तपस्या के बल से उन्हें ऊपर लाना चाहा, किन्तु वह ऐसा न कर सका। उसकी वह सिद्धि नष्ट हो गई ॥५२॥

'यह स्त्री पापिनी, है, अवश्य ही इससे बात करने से मेरी सिद्धि नष्ट हुई है, अतः दूसरी युक्ति करता हूँ'—यह सोचकर उस महात्मा ने, घासों से रस्सी बटकर, उसके द्वारा, अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उन सबको कुँएं से बाहर निकाला ॥५३-५४॥

तदनन्तर, आश्चर्य के साथ उसने सिंह पक्षी और सर्प से पूछा—'तुम्हारी वाणी मनुष्यों के समान क्यों स्पष्ट है और तुम्हारी यह स्थिति क्यों है ? बताओ।' तब उनमें पहले सिंह बोला—पूर्व जन्म का स्मरण करनेवाले तथा एक-दूसरे के बाधक हम लोगों की बात क्रमसे सुनो ॥५५–५६॥

सिंह की आत्म कथा

यह कहकर सिंह ने अपनी कथा शुरू की। हिमालय पर्वत पर वैदूर्यशृंग नाम का एक उत्तम नगर है। वहाँ पद्मवेग नाम का विद्याधरों का राजा है। उसको वज्रवेग नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५७-५८॥

स वज्रवेगोऽहङ्कारी विरोधं येन केनचित्।
साकं शौर्यमदाच्चक्रे लोके वैद्याधरे वसन् ॥५९॥
निषेधतः पितुस्तस्य यदा नागणयद्वचः।
तदा पिता तमशपन्मर्त्यलोके पतेति सः ॥६०॥
ततो नष्टमदो भ्रष्टविद्यः शापहतो रुदन्।
वज्रवेगः स पितरं शापान्तं तमयाचत ॥६१॥
ततः स तत्पिता पद्मवेगो ध्यात्वाऽब्रवीत् क्षणात्।
भुवि विप्रसुतो भूत्वा कृत्वाप्येवं मदं पुनः ॥६२॥
पितुः शापात् ततः सिंहो भूत्वा कूपे पतिष्यसि।
महासत्त्वश्च कृपया कश्चित् त्वामुद्धरिष्यति ॥६३॥
तस्य प्रत्युपकारं च विधायापदि मोक्ष्यसे।
शापादस्मादिति पिता शापान्तं तस्य स व्यधात् ॥६४॥
अथेह वज्रवेगोऽसौ विप्रस्याजनि मालवे।
हरघोषाभिधानस्य देवघोषाभिधः सुतः ॥६५॥
स तत्राप्यकरोद्वैरं बहुभिः शौर्यगर्वतः।
बहुभिर्मा कृथा वैरमिति तं चावदत् पिता ॥६६॥
अकुर्वाणं वचस्तस्य शप्तवान् स पिता क्रुधा।
शौर्याभिमानी दुर्बुद्धे सिंहस्त्वं भव साम्प्रतम् ॥६७॥
एवं तस्य पितुः शापाद्देवघोषः पुनश्च सः।
विद्याधरावतारः सन् सिंहो जातोऽत्र कानने ॥६८॥
तमिमं विद्धि मां सिंहं सोऽहं दैवाद् भ्रमन्निशि।
कूपेऽद्य पतितोऽमुष्मिन् महासत्त्वोद्धृतस्त्वया ॥६९॥
तद्यामि तावदापच्च यदा स्यात् क्वापि ते तदा।
मां स्मरेरुपकारं ते कृत्वा मोक्ष्ये स्वशापतः ॥७०॥
इत्यूदीर्य गते सिंहे बोधिसत्त्वेन तेन सः।
पृष्टः सुवर्णचूलोऽथ पक्षी स्वोदन्तमभ्यधात् ॥७१॥

स्वर्णचूडपक्षिण आत्म कथा

अस्ति विद्याधराधीशो वज्रदंष्ट्रो हिमाचले।
तस्य देव्यामजायन्त पञ्च कन्या निरन्तराः ॥७२॥

वह वज्रवेग, उस विद्याधरनगर में रहता हुआ अपने बल के घमंड से, जिस किसी के साथ वैर-विरोध कर लेता था ।५९।।

पिता के बार-बार मना करने पर भी जब उसने उसकी बात नहीं मानी, तब उसके पिता ने उसे शाप दिया कि 'तू मर्त्यलोक में जाकर गिर' ।।६०।।

तब वह मदहीन और विद्या-रहित होकर रोता हुआ वज्रवेग, अपने पिता से शाप का अन्त करने के लिए प्रार्थना करने लगा ।।६१।।

तब उसके पिता ने, क्षणभर सोचकर कहा—'पृथ्वी पर, ब्राह्मण का पुत्र बनकर और वहाँ भी इसी प्रकार मद करने के कारण पुनः पिता के शाप से सिंह बनकर कुएँ में गिरेगा। तब आकर जो महात्मा, तुझे निकालेगा, उसका प्रत्युपकार करके तू शापमुक्त हो जायगा, ऐसा कह कर पिता ने, उसके शाप का अन्त बतलाया ।।६२–६४।।

तदनन्तर, वह वज्रवेग मालव देश में हरघोष नामक ब्राह्मण के घर में देवघोष इस नाम से उत्पन्न हुआ। वहाँ भी उसने, अपने बल के घमंड से बहुतों के साथ विरोध किया। उसके पिता ने रोका कि 'बहुतों के साथ विरोध न करो' ।।६५–६६।।

किन्तु, उसकी बात न माननेवाले पुत्र को पिता ने, शाप दिया कि 'हे बल के घमंडी, दुष्टबुद्धि, जा, अब तू सिंह बन जा' ।।६७।।

तब पिता के शाप से वह देवघोष जो विद्याधर का अवतार था, इस वन में सिंह बन गया ।।६८।।

मुझे वही सिंह समझो। दैवयोग से वन में घूमता हुआ मैं रात को इस कूप में गिरा और आज तुझ महात्मा से उबारा गया ।।६९।।

इसलिए, अब मैं जाता हूँ। तुम्हें कहीं पर भी कोई विपत्ति आवे, तो मुझे स्मरण कर लेना। उस समय तुम्हारा प्रत्युपकार करके मैं शापमुक्त हो जाऊँगा ।।७०।।

ऐसा कहकर सिंह के चले जाने पर उस बोधिसत्त्व से पूछा गया सुवर्णचूड पक्षी अपना वृत्तान्त कहने लगा ।।७१।।

स्वर्णचूड पक्षी की आत्म कथा

हिमालय पर वज्रदंष्ट्र नाम का विद्याधरों का राजा है। उसकी रानी से लगातार पाँच कन्याएँ उत्पन्न हुईं ।।७२।।

ततः स हरमाराध्य तपसा प्राप्तवान् सुतम्।
राजा रजतदंष्ट्राख्यं जीवितादधिकप्रियम् ॥७३॥
स तेन पित्रा बालोऽपि विद्याः स्नेहेन लम्भितः।
वृद्धिं रजतदंष्ट्रोऽत्र बन्धुनेत्रोत्सवो ययौ ॥७४॥
एकदा भगिनीं ज्येष्ठां नाम्ना सोमप्रभां च सः।
गौर्याः पुरः पिञ्जरकं वादयन्तीमवैक्षत ॥७५॥
देहि पिञ्जरकं मह्यं वादयाम्यहमप्यदः।
इत्ययाचत तां सोऽथ बालत्वादनुबन्धतः ॥७६॥
सा तन्नादाद्यदा तस्मै तदा चापलतः स्वयम्।
तस्यास्तत् सोऽपहृत्यैव पक्षीवोदपतन्नभः ॥७७॥
साथ स्वसा तमशपद्यन्मे पिञ्जरकं हठात्।
हृत्वोड्डीनोऽसि तत्पक्षी स्वर्णचूलो भविष्यसि ॥७८॥
तच्छ्रुत्वा पादपतितेनैत्य सा तेन याचिता।
स्वसा रजतदंष्ट्रेण तस्य शापान्तमब्रवीत् ॥७९॥
पक्षी भूत्वान्धकूपे त्वं यदा मूढ पतिष्यसि।
उद्धरिष्यति कश्चिच्चं तदा त्वां करुणापरः ॥८०॥
तस्य कृत्वोपकारांशं शापमेतं तरिष्यसि।
इत्युक्तः स तया भ्राता स्वर्णचूलः खगोऽजनि ॥८१॥
स एव स्वर्णचूलोऽहं पक्षी भ्रष्टोऽवटे निशि।
इहोद्धृतोऽस्मि भवता तदिदानीं व्रजाम्यहम् ॥८२॥
आपदि त्वं स्मरेर्मां च तव कृत्वा ह्युपक्रियाम्।
शापान् मोक्ष्येऽहमित्युक्त्वा सोऽपि पक्षी ययौ ततः ॥८३॥
ततः स बोधिसत्त्वेन तेन पृष्टो भुजङ्गमः।
स्वोदन्तं कथयामास तस्मायत्र महात्मने ॥८४॥

सर्पस्यात्मकथा

पुरा मुनिकुमारोऽहमभूवं कश्यपाश्रमे।
अभवत्तत्र चैको मे वयस्यो मुनिपुत्रकः ॥८५॥
एकदा चावतीर्णेऽस्मिन् सरः स्नातुं वयस्यके।
तटस्थितोऽहमद्राक्षं त्रिफणं सर्पमागतम् ॥८६॥

तब उसने शिवजी की तपस्या करके एक बालक प्राप्त किया। राजा ने जीवन से भी अधिक प्यारे उस बालक का नाम रजतदंष्ट्र रख दिया ॥७३॥

पिता ने, बालकपन में ही, स्नेह के कारण, उसे सभी विद्याएँ सिखा दीं और बन्धुओं की आँखों का तारा वह रजतदंष्ट्र क्रमशः बड़ा हुआ ॥७४॥

एक बार, उसने अपनी बड़ी बहन सोमप्रभा को गौरी के सामने पिंजरक नाम का बाजा बजाते हुए देखा ॥७५॥

'बहन, यह पिंजरक मुझे दो, मैं भी बजाऊँ'—इस प्रकार बाल-हठ के कारण बाजा माँगते हुए उसे जब बहन ने बाजा नहीं दिया, तब वह चंचलता के कारण, उसकी बीन छीनकर पक्षी के समान आकाश में उड़ गया ॥७६-७७॥

तब उसकी बहन ने, उसे शाप दिया कि 'तू मेरे पिंजरक को हठपूर्वक लेकर पक्षी के समान उड़ा, इसलिए तू स्वर्णचूड पक्षी बनेगा' ॥७८॥

यह सुनकर उसके चरणों पर गिरे हुए भाई रजतदंष्ट्र द्वारा प्रार्थना की गई सोमप्रभा ने उसके शाप का अन्त इस प्रकार बतलाया ॥७९॥

'मूर्ख, तू पक्षी बनकर जब अँधेरे कुएँ में गिरेगा, तब तुझे जो भी दयालु उससे बाहर निकालेगा, उसका उपकार करने पर तेरे शाप का अन्त होगा बहन से इस प्रकार कहा गया वह भाई रजतदंष्ट्र, स्वर्णचूड पक्षी के रूप में उत्पन्न हुआ ॥८०–८१॥

यह वही मैं स्वर्णचूड पक्षी, रात को इस कूप में गिरा हुआ आज तुझ महात्मा द्वारा निकाला गया हूँ, तो अब मैं जाता हूँ ॥८२॥

'संकट के समय, तुम मुझे स्मरण करना। तब तुम्हारा प्रत्युपकार करके मैं शाप से मुक्त हो जाऊँगा' ऐसा कहकर वह पक्षी चला गया ॥८३॥

तदनन्तर, बोधिसत्त्व से पूछे गये सर्प ने अपना वृत्तान्त इस प्रकार सुनाया ॥८४॥

सर्प की आत्मकथा

मैं पूर्वजन्म में कश्यप ऋषि के आश्रम में मुनिकुमार था। वहाँ एक मुनिकुमार मेरा मित्र था ॥८५॥

एक बार स्नान के लिए सरोवर में उतरने पर मैंने तीर पर आये हुए तीन फनों वाले एक सर्प को देखा ॥८६॥

तेन भीषयितुं तं च वयस्यं नर्मणा मया।
तत्सम्मुखं तटान्ते स बद्धो मन्त्रबलादहिः॥८७॥
क्षणात् स्नात्वा तटं प्राप्तो मद्वयस्यो विलोक्य सः।
अशङ्कितं महाहिं तं त्रस्तो मोहमुपागमत्॥८८॥
चिरादाश्वसितः सोऽथ मया ध्यानादवेत्य तत्।
मत्कृतं त्रासनं कोपाच्छपति स्म सखापि माम्॥८९॥
गच्छेदृगेव त्रिफणः सर्पो भव महानिति।
अनुनीतोऽथ शापान्तमृषिपुत्रः स मेऽवदत्॥९०॥
सर्पीभूतं च्युतं कूपे योऽसौ त्वामुद्धरिष्यति।
तस्योपकृत्यावसरे शापमुक्तो भविष्यसि॥९१॥
इत्युक्त्वैव गते तस्मिन्नेषोऽहं सर्पतां गतः।
उद्धृतोऽस्मि त्वया चाद्य कूपात्तद्यामि सम्प्रति॥९२॥
स्मृतश्चैत्योपकारं ते कृत्वा मोक्ष्ये स्वशापतः।
इत्युक्त्वा भुजगे याते स्त्री स्ववृत्तमवर्णयत्॥९३॥

दुष्टस्त्रिय आत्मकथा

अहं क्षत्रियपुत्रस्य भार्या राजोपसेविनः।
शूरस्य त्यागिनो यूनश्चारुरूपस्य मानिनः॥९४॥
कृतोऽन्यपुरुषासङ्गो मया तदपि पापया।
तद्विज्ञाय स भर्ता मे निग्रहायाकरोन्मतिम्॥९५॥
सखीमुखाच्च तद्बुद्ध्वा तदैवाहं पलायिता।
रात्रौ वनं प्रविष्टेदं कूपभ्रष्टोद्धृता त्वया॥९६॥
त्वत्प्रसादादिदानीं च गत्वा जीवामि कुत्रचित्।
भूयात्तन्मे दिनं यत्र कुर्यां ते प्रत्युपक्रियाम्॥९७॥
इत्युक्त्वा बोधिसत्त्वं तं कुलटा निकटात्ततः।
गोत्रवर्धनसंज्ञस्य राज्ञः सा नगरं ययौ॥९८॥
तस्य सङ्गतिमुत्पाद्य परिवारजनैः सह।
तस्थौ राजमहादेव्या दासीभावाश्रयेण सा॥९९॥
तस्यापि बोधिसत्त्वस्य तस्याः सम्भाषणात् स्त्रियाः।
नाविरासीद्वने नष्टसिद्धेर्मूलफलादिकम्॥१००॥

तब मैंने, स्नान करनेवाले अपने मित्र को हास्य-विनोद से डराने के लिए उस सर्प को मन्त्र के बल से किनारे पर बाँध लिया ॥८७॥

स्नान करके तुरन्त किनारे पर आया हुआ मित्र निश्चल बैठे हुए उस सर्प को सहसा देखकर मूर्च्छित हो गया ॥८८॥

मैंने ध्यान से यह जानकर चिरकाल के पश्चात् मित्र को चेतन किया। तब मेरे द्वारा डराये गये उसने, मित्र होने पर भी क्रोध से मुझे शाप दिया ॥८९॥

'जा, तू भी ऐसा ही तीन फनोंवाला साँप हो जा।' मेरे अनुनय-विनय पर उस मित्र ने, मेरे शाप का अन्त इस प्रकार बतलाया ॥९०॥

सांप बनकर कुंएं में गिरे हुए तुझे जो उबारेगा, समय पर उसी का उपकार करके तू शाप मुक्त होगा' ॥९१॥

इस प्रकार सर्प बने और कुएँ में गिरे हुए मुझे तुमने निकाला है। अब मैं जाता हूँ। तुम्हारे स्मरण करने पर प्रत्युपकार करके मैं शाप से छूट जाऊँगा' ऐसा कहकर सर्प के चले जाने पर उस स्त्री ने, अपना वृत्तान्त सुनाया ॥९२–९३॥

दुष्टा स्त्री की आत्मकथा

मैं राजा के सेवक एक क्षत्रिय-पुत्र की भार्या हूँ। मेरा पति शूरवीर और त्यागी है। युवा है, सुन्दर और आत्माभिमानी है ॥९४॥

तो भी पापिनी मैं ने, दूसरे पुरुष का प्रसंग कर लिया। यह जानकर मेरे पति ने मुझे मारने का विचार किया ॥९५॥

अपनी एक सहेली से यह जानकर उसी समय मैं घर से भागी और रात को इस वन में प्रवेश करके इस कुएँ में गिरी और तुमसे उबारी गई ॥९६॥

अब तुम्हारी ही कृपा से कहीं जाकर जीवन बिताती हूँ और वह दिन भी आये कि मैं आपका प्रत्युपकार कर सकूं।'—बोधिसत्त्व से ऐसा कहकर वह कुल्टा वहाँ से गोत्रवर्द्धन नामक राजा के नगर को गई और उसके परिवारवालों से मित्रता करके राजा की महारानी के पास सेविका बनकर रहने लगी ॥९७–९९॥

उस स्त्री के साथ भाषण करने से उस बोधिसत्त्व की सिद्धि नष्ट हो जाने के कारण उस वन में फल-मूलों की भी उत्पत्ति नष्ट हो गई ॥१००॥

ततः क्षुत्तृष्णया क्लान्तः प्राक्स सिंहं तमस्मरत्।
स्मृतागतः स चैतस्य व्यधाद्वृत्तिं मृगामिषैः॥१०१॥
कञ्चित्कालं स तन्मांसैः प्रकृतिस्थं विधाय तम्।
केसरी सोऽब्रवीत् क्षीणः सशापो मे व्रजाम्यहम्॥१०२॥
इत्युक्त्वा सिंहतां मुक्त्वा भूत्वा विद्याधरश्च सः।
जगाम तदनुज्ञातस्तमामन्त्र्य निजं पदम्॥१०३॥
ततः स बोधिसत्त्वांशो वृत्तिग्लानः पुनः खगम्।
सस्मार स्वर्णचूलं तमुपागात् सोऽपि तत्स्मृतः॥१०४॥
आवेदितार्त्तिस्तेनाऽसौ गत्वानीय खगः क्षणात्।
रत्नाभरणसम्पूर्णां ददौ तस्मै करण्डिकाम्॥१०५॥
उवाच चैतेनार्थेन वृत्तिः स्याच्छाश्वती तव।
मम जातश्च शापान्तः स्वस्ति ते साधयाम्यहम्॥१०६॥
इत्युक्त्वा सोऽपि भूत्वैव विद्याधरकुमारकः।
स्वलोकं नभसा गत्वा प्राप राज्यं निजात् पितुः॥१०७॥
सोऽपि रत्नानि विक्रेतुं बोधिसत्त्वः परिभ्रमन्।
तत्प्राप नगरं यत्र सा स्त्री कूपोद्धृता स्थिता॥१०८॥
तत्रैकस्याश्च वृद्धाया ब्राह्मण्या विजने गृहे।
निधाय तान्याभरणान्यापणं यावदेति सः॥१०९॥
तावद्ददर्श तामेव वने कूपात् समुद्धृताम्।
स्त्रियं सम्मुखमायान्तीं सापि स्त्री पश्यति स्मतम्॥११०॥
सम्भाषणे कृतेऽन्योन्यमथ सा स्त्री कथाक्रमात्।
स्वं राजमहिषीपार्श्वस्थितमस्मै न्यवेदयत्॥१११॥
सोऽपि पृष्टस्ववृत्तान्तस्तया तस्यै शशंस ताम्।
रत्नाभरणसम्प्राप्तिं स्वर्णचूलखगादृजुः॥११२॥
नीत्वा चाभरणं तस्यै वृद्धावेश्मन्यदर्शयत्।
सापि गत्वा शठा राज्ञ्यै स्वस्वामिन्यै शशंस तत्॥११३॥
तस्याश्च राज्ञ्या गेहान्तः स्वर्णचूलेन पक्षिणा।
नीतं छलेन पश्यन्त्या एवाभरणभाण्डकम्॥११४॥
तच्च सा स्वपुरप्राप्तं राज्ञी तस्या मुखात् स्त्रियाः।
बुद्ध्वा विदितवेद्याया राजानं तं व्यजिज्ञपत्॥११५॥

तब (फल मूल, आदि के अभाव में) भूख से दुःखित बोधिसत्त्व ने, सबसे पहले सिंह का स्मरण किया। स्मरण करते ही आये हुए सिंह ने मृगों का मांस, लाकर बोधिसत्त्व का जीवन-निर्वाह किया ॥१०१॥

कुछ समय तक मांस खिलाकर उस महात्मा को स्वस्थ बनाकर सिंह ने कहा—'अब मेरा शाप नष्ट हो गया, मैं जाता हूँ' ॥१०२॥

ऐसा कहकर वह सिंह शरीर का त्यागकर विद्याधर हो गया और महात्मा से आज्ञा लेकर उन्हें प्रणाम करके अपने स्थान को गया ॥१०३॥

उसके चले जाने पर भोजन के अभाव से मलिन उस बोधिसत्त्व ने, स्वर्णचूड का स्मरण किया और स्मरण करते ही वह उसके पास उपस्थित हो गया ॥१०४॥

महात्मा द्वारा उसे अपनी पीड़ा बताने पर, उस पक्षी ने, तुरन्त जाकर रत्नों से जड़े आभूषणों से भरी एक पिटारी लाकर उसे दी ॥१०५॥

और बोला—'इतने धन से सदा के लिए तुम्हारा जीवन-निर्वाह चलेगा। अब मेरे शाप का अन्त हो गया, तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं जाता हूँ' ॥१०६॥

ऐसा कहकर और विद्याधरकुमार बनकर वह अपने लोक को चला गया और जाने पर उसने पिता का राज्य प्राप्त किया ॥१०७॥

वह बोधिसत्त्व भी, उन रत्नों को बेचने के लिए घूमता हुआ उसी नगर में जा पहुँचा, जहाँ वह कुएँ से निकाली हुई स्त्री रानी की दासी के रूप में काम कर रही थी ॥१०८॥

उस नगर में, जाकर बोधिसत्त्व ने एकान्त में एक वृद्धा के घर में उन आभूषणों को रख दिया और उनमें से कुछ लेकर वह बाजार में बेचने के लिए गया ॥१०९॥

उसने बाजार में जाते हुए सामने से आती हुई उस स्त्री को देखा, जिसे उसने कूप से निकाला था। परस्पर बात होने पर उस स्त्री ने, अपने को महारानी की दासी बतलाया ॥११०–१११॥

उसके द्वारा अपना हाल-समाचार पूछने पर उस सरल महात्मा ने, स्वर्णचूड पक्षी से रत्नों से मंडित आभूषणों का प्राप्त होना बताया और उसे बूढ़ी के घर में ले जाकर आभूषण भी दिखा दिये उस दुष्टा ने जाकर अपनी स्वामिनी से सब कह दिया। सुवर्णचूड पक्षी ने उस रानी के घर के भीतर से उसके देखते-ही-देखते गहनों की पेटी छल से उठा ली थी। उस पिटारी को फिर उस स्त्री के द्वारा अपने नगर में आई हुई जानकर रानी ने, राजा से कह दिया ॥११२–११५॥

राजापि बोधिसत्त्वं तं दर्शितं कुस्त्रिया तया।
आनाययत् साभरणं भृत्यैर्बद्ध्वा गृहात्ततः ॥११६॥
परिपृच्छ्य च वृत्तान्तं सत्यं मत्वापि तद्वचः।
स्थापयामास बद्धं तं गृहीत्वाभरणान्यपि ॥११७॥
स बन्धस्थोऽत्र सस्मार बोधिसत्त्वो भुजङ्गमम्।
ऋषिपुत्रावतारं तमुपतस्थे च सोऽपि तम् ॥११८॥
दृष्ट्वा च तं स पृष्टार्थः सर्पः साधुमभाषत।
गत्वाऽहं वेष्टयाम्येतमामूर्धान्तं महीपतिम् ॥११९॥
न च मुञ्चाम्यमुं यावदागत्योक्तोऽस्मि न त्वया।
मोक्ष्याम्यहं नृपं सर्पादिति त्वं च वदेरिह ॥१२०॥
त्वय्यागते त्वद्वचसा मोक्ष्याम्यहमतो नृपम्।
मन्मुक्तश्चैष राजा ते स्वराज्यार्धं प्रदास्यति ॥१२१॥
इत्युक्त्वा तं स गत्वैव परिवेष्टितवानहिः।
राजानमास्त चैतस्य मूर्ध्नि कृत्वा फणत्रयम् ॥१२२॥
हा हा दष्टोऽहिना राजेत्याक्रन्दति जनेऽथ सः।
बोधिसत्त्वोऽब्रवीद्रक्षाम्यहं नृपमहेरिति ॥१२३॥
श्रुतवद्भिश्च तद्वाक्यं विज्ञप्तः सोऽनुजीविभिः।
आनाय्य बोधिसत्त्वं तं सर्पाक्रान्तोऽब्रवीन्नृपः ॥१२४॥
यदि मां मोचयस्यस्मात् सर्पात् तत्ते ददाम्यहम्।
राज्यार्धमन्तरस्थाश्च तवैते मन्त्रिणोऽत्र मे ॥१२५॥
तच्छ्रुत्वा बाढमित्युक्ते मन्त्रिभिः स जगाद तम्।
भुजङ्गं बोधिसत्त्वांशो मुञ्च राजानमाश्विति ॥१२६॥
ततस्तेनाहिना मुक्तो राज्यार्धं नृपतिर्ददौ।
स तस्मै बोधिसत्त्वाय सोऽपि स्वस्थोऽभवत् क्षणात् ॥१२७॥
सर्पश्च क्षीणशापः सन् भूत्वा मुनिकुमारकः।
सदस्याख्यातवृत्तान्तो जगाम निजमाश्रमम् ॥१२८॥
एवं निश्चितमभ्येति शुभमेव शुभात्मनाम्।
एवं चातिक्रमो नाम क्लेशाय महतामपि ॥१२९॥
अविश्वासास्पदं चैव स्त्रीणां स्पृशति नाशयम्।
प्राणदानोपकारोऽपि किं तासामन्यदुच्यते ॥१३०॥

राजा ने भी, उस दुष्टा स्त्री द्वारा दिखाये हुए आभूषणों के साथ उस बोधिसत्त्व को सेवकों से बँधवाकर बुलवाया ॥११६॥

उससे सारा वृत्तान्त पूछकर और उसे सच मानकर भी राजा ने सारे आभूषण ले लिये और उसे कारागार में डाल दिया ॥११७॥

कारगार में पड़े हुए उस बोधिसत्त्व ने, ऋषिपुत्र के अवतार उस सर्प का स्मरण किया। स्मरण करते ही वह उसके पास आकर उपस्थित हुआ ॥११८॥

उसे देखकर और समाचार पूछकर सर्प ने साधु से कहा—'मैं जाता हूँ और पैर से शिर तक राजा को लपेट लेता हूँ ॥११९॥

जबतक तुम आकर नहीं कहोगे कि इसे छोड़ दो, तबतक मैं उसे नहीं छोड़ूँगा। तुम भी यहाँ से कहना कि मैं राजा को सर्प से छुड़वा देता हूँ ॥१२०॥

तुम्हारे वहाँ आने पर और कहने पर मैं राजा को छोड़ दूँगा और मुझसे मुक्त किया गया राजा तुम्हें अपना आधा राज्य दे देगा' ॥१२१॥

ऐसा कहकर सर्प ने, जाकर राजा को लपेट लिया और उसके शिर पर तीनों फन फैला दिये ॥१२२॥

तदनन्तर, चारों ओर कोलाहल मच गया कि राजा को सर्प ने काट लिया। तब बोधिसत्त्व ने कहा—'मैं राजा की सर्प से रक्षा कर सकता हूँ' ॥१२३॥

उसकी बात को सुननेवाले सेवकों ने यह बात राजा से कही, तब राजा ने बोधिसत्त्व को बुलाकर कहा—॥१२४॥

'यदि तू मुझे इस सर्प से बचा, तो मैं तुझे आधा राज्य दे दूँगा। ये मेरे मन्त्री मेरी और तेरी इस बात के साक्षी हैं' ॥१२५॥

यह सुनकर मन्त्रियों के स्वीकार करने पर बोधिसत्त्व ने सर्प से कहा—'राजा को शीघ्र छोड़ दो' ॥१२६॥

तब उस सर्प से छोड़े गये राजा ने, उस महात्मा को आधा राज्य दे दिया और स्वयं भी वह पूर्ण स्वस्थ हो गया ॥१२७॥

सर्प-रूपी वह मुनिकुमार भी, शाप से मुक्त होकर, सभा में अपना वृत्तान्त सुनाकर अपने आश्रम को चला गया ॥१२८॥

इस प्रकार, शुभ विचारवालों को अवश्य ही कल्याण प्राप्त होता है और बुरे विचारवाले महान् व्यक्तियों को भी क्लेश प्राप्त होता है ॥१२९॥

अविश्वास की खान स्त्रियों के हृदय में, प्राण देने पर भी, उपकार स्थान प्राप्त नहीं कर सकता, अधिक क्या कहा जाय ॥१३०॥

इत्याख्याय कथां वत्सराजपुत्रं स गोमुखः।
उवाच कथयाम्येताः पुनर्मुग्धकथाः शृणु॥१३१॥
बभूव श्रमणः कश्चिद् वहारे क्वापि मूढधीः।
स रथ्यायां भ्रमन् जातु शुना जान्वदश्यत॥१३२॥
श्वदष्टः स विहारं स्वमुपागत्य व्यचिन्तयत्।
किं वृत्तं जानुनि तवेत्येकैकः प्रक्ष्यतीह माम्॥१३३॥
प्रत्याययिष्याम्येवं च कियतोऽहं कियच्चिरम्।
तदुपायं करोम्यत्र सर्वान् बोधयितुं सकृत्॥१३४॥
इत्यालोच्य समारुह्य स विहारोपरि द्रुतम्।
गृहीत्वा ग्रन्थिमुसलं मूढो भिक्षुरवादयत्॥१३५॥
अकारणमकाले किं ग्रन्थि वादयसीति तम्।
श्रुत्वाश्चर्येण मिलिताः पप्रच्छुरथ भिक्षवः॥१३६॥
शुना मे भक्षितं जानु तदेकैकस्य पृच्छतः।
ब्रुवेऽहं कियदित्येवं यूयं सङ्कुटिता मया॥१३७॥
तद्बुध्यध्वं समं सर्वे जानु मे पश्यतेति सः।
भिक्षून् प्रत्यब्रवीदेतान् श्वदष्टं जानु दर्शयन्॥१३८॥
ततः पार्श्वोपपीडं ते समग्रा भिक्षवोऽहसन्।
कियन्मात्रे कृतोऽनेन संरम्भोऽयं कियानिति॥१३९॥

टक्कमूर्खकथा

आख्यातः श्रमणो मूर्खष्टक्कमूर्खो निशम्यताम्।
कदर्यः कोऽप्यभूत् क्वापि मूर्खष्टक्को[1] महाधनः॥१४०॥
सभार्यः स सदा भुङ्क्ते सक्तूंल्लवणवर्जितान्।
अन्यस्यान्नस्य बुबुधे नैव स्वादं स जातुचित्॥१४१॥
एकदा प्रेरितो धात्रा स भार्यामब्रवीन्निजाम्।
क्षीरिणीं प्रति जाता मे श्रद्धा तामद्य मे पच॥१४२॥
तथेति तस्य सा भार्या पपाच क्षीरिणीं तदा।
तस्थौ चाभ्यन्तरे गुप्तं स टक्कः शयनं श्रितः॥१४३॥
दृष्ट्वा प्राघुणिकः कश्चिदत्र मे मा स्म भूदिति।
तावत्तस्य सुहृद्धूर्तष्टक्कस्तत्रैक आययौ॥१४४॥

---

१. टक्को वाल्हीकदेशोद्भवः पुरुषः।

गोमुख ने वत्सराज को इस प्रकार कथा सुनाकर कहा—'अब फिर और कुछ मूर्खों की कथाएँ सुनो' ॥१३१॥

कहीं पर किसी बौद्धमठ (विहार) में एक मूर्ख भिक्षु रहता था। गलियों में भिक्षार्थ घूमते हुए किसी समय एक कुत्ते ने घुटने में काट लिया था॥१३२॥

कुत्ते का काटा हुआ वह मूर्ख अपने मठ में आकर सोचने लगा कि मेरे घुटने में पट्टी बँधी देखकर प्रत्येक भिक्षु मुझसे पूछेगा कि 'तेरे घुटने में क्या हो गया ?' ॥१३३॥

इस प्रकार मैं कितनों को कितने समय तक बताता रहूँगा। इसलिए, सब को एक बार ही अपना हाल बताने का उपाय करता हूँ ॥१३४॥

ऐसा सोचकर और मठ की छत पर चढ़कर घड़ियाल बजाने का मूसल लेकर उसने उसे बजा दिया। विना कारण, असमय में, यह घड़ियाल क्यों बजाता है, यह सुनकर सभी भिक्षु आश्चर्य के साथ वहाँ एकत्र हो गये और उससे घंटा बजाने का कारण पूछने लगे ॥१३५–१३६॥

'मेरे घुटने में कुत्ते ने काट लिया है', इस बात को एक-एक करके मैं, कबतक और कितनों को बताता रहता। यही एक बार बताने के लिए मैंने आपलोगों को यहाँ एकत्र किया है' ॥१३७॥

इस बात को आप सब लोग जान ले और मेरे घुटने को देख लें भिक्षुओं को ऐसा कहकर उसने अपना घुटना सबको दिखा दिया। तब वे सब भिक्षु पेट पकड़कर हँसने लगे कि इतनी-सी बात के लिए इसने कितना प्रपंच रचा ॥१३८-॥१३९॥

मूर्ख टक्क की कथा

मूर्ख श्रमण की कथा सुनी, अब एक मूर्ख टक्क की कथा सुनो। किसी स्थान पर एक अत्यन्त कंजूस टक्क रहता था, जो बहुत धनी था॥१४०॥

वह अपनी पत्नी के साथ सदा विना नमक का सत्तू खाता था, उसने सत्तू के सिवाय दूसरे अन्न का कभी स्वाद भी नहीं जाना ॥१४१॥

एक बार ईश्वर की प्रेरणा से उसने अपनी पत्नी से कहा—'आज मेरा मन, खीर खाने को है। इसलिए आज तुम खीर पकाओ' ॥१४२॥

'ठीक है' कहकर उसकी पत्नी खीर पकाने लगी और वह मूर्ख घर के भीतर खाट पर जाकर पड़ गया कि मुझे बाहर बैठा देखकर कोई मेहमान न आ जाय। इतने में ही उसका एक मित्र धूर्त टक्क आ गया ॥१४३॥-१४४॥

क्व ते भर्तेति पप्रच्छ स च तां तस्य गेहिनीम्।
साप्यदत्तोत्तरा तस्य प्राविशद्भर्त्तुरन्तिकम्॥१४५॥
आख्यातमित्रागमना सोऽपि भार्यां जगाद ताम्।
उपविश्येह रुदती पादावादाय तिष्ठ मे॥१४६॥
भर्त्ता मे मृत इत्येवं वदेश्च सुहृदं मम।
ततो गतेऽस्मिन्नावाभ्यां भोक्तव्या क्षीरिणी सुखम्॥१४७॥
इत्युक्ता तेन यावत्सा प्रवृत्ता रोदितुं तदा।
तावत् प्रविश्य सोऽपृच्छत्किमेतदिति तां सुहृत्॥१४८॥
भर्त्ता मृतो मे पश्येति तयोक्तः स व्यचिन्तयत्।
क्व पचन्ती मया दृष्टा सुखिता क्षीरिणीमियम्॥१४९॥
क्वाधुनैव विपन्नोऽयमेतद्भर्त्ता विना रुजम्
नूनं मां प्राघुणं दृष्ट्वा कृतमाभ्यामिदं मृषा॥१५०॥
तन्मया नैव गन्तव्यमित्यालोच्योपविश्य सः।
धूर्त्तो हा मित्र हा मित्रेत्याक्रन्दंस्तत्र तस्थिवान्॥१५१॥
श्रुताक्रन्दाः प्रविश्यात्र बान्धवा मृतवत्स्थितम्।
श्मशानं भौतटक्कं तं नेतुमासन् समुद्यताः॥१५२॥
उत्तिष्ठ बान्धवैर्यावदेतैर्नीत्वा न दह्यसे।
इत्युपांश्ववदत् कर्णमूले भार्या तदा च तम्॥१५३॥
मैवं शठोऽयं टक्को मे क्षीरिणीं भोक्तुमिच्छति॥
नोत्तिष्ठामि तदेवस्मिन्नगतेऽहं मृतो यदि॥१५४॥
प्राणेभ्योऽप्यन्नमुष्टिर्हि मादृशानां गरीयसी।
इति प्रत्यब्रवीद् भार्यामुपांश्वेव स तां जडः॥१५५॥
ततस्तेन कुमित्रेण नीत्वा तैः स्वजनैश्च सः।
दह्यमानोऽपि निश्चेष्टो ददौ नामरणाद्वचः॥१५६॥
एवं स मूढो विजहौ प्राणान्न क्षीरिणीं पुनः।
क्लेशार्जितं च बुभुजे तस्यान्यैर्हेलया धनम्॥१५७॥

मार्जारमूर्खस्य कथा

श्रुतः कदर्यः श्रूयन्ताममी मार्जारभौतकाः।
उज्जयिन्यामुपाध्यायो मुग्धः कोऽप्यभवन् मठे॥१५८॥
तत्र निद्रा न तस्याभून्मूषकोपद्रवान्निशि।
तत्खिन्नस्तच्च सुहृदे स कस्मैचिदवर्णयत्॥१५९॥

उसने उसकी स्त्री से पूछा कि तुम्हारा पति कहाँ है। वह भी उसे उत्तर न देकर पति के पास चली गई ॥१४५॥

पति को मित्र के आने की सूचना देती हुई स्त्री से उसने कहा—'मेरे पास पैरों को पकड़ कर रोती हुई बैठी रहो' और मेरे मित्र से कहना कि मेरा पति मर गया है। उसके चले जाने पर हम दोनों सुख से खीर खायेंगे' ॥१४६-१४७॥

पति की यह आज्ञा पाकर वह बैठकर रोने लगी। तब उस मित्र मेहमान ने स्त्री से पूछा कि 'यह क्या हुआ ?' ॥१४८॥

'देखो, मेरा पति मर गया', उसने इस प्रकार कहा। उसके ऐसा कहने पर उस धूर्त मित्र ने सोचा—कहाँ तो मैंने इसे आनन्द से खीर पकाती हुई देखा था और कहाँ अभी-अभी इसका पति, विना किसी रोग के मर गया। अवश्य ही इन दोनों ने मुझे देखकर यह ढोंग रचा है ॥१४९–१५०॥

इसलिए, मुझे अब यहाँ से न जाना चाहिए,—ऐसा सोचकर वह भी वहीं जमकर बैठ गया। और 'हाय मित्र, हाय मित्र,—इस प्रकार रोने-चिल्लाने लगा ॥१५१॥

उसका चिल्लाना सुनकर उसके पड़ोस के सभी बन्धु और मित्र वहाँ आ गये और उसे मरा हुआ देखकर उस मूर्ख टक्क को श्मशान ले जाने की तैयारी करने लगे ॥१५२॥

तब उसकी स्त्री ने, एकान्त में उसके कान में कहा—'उठो। नहीं तो ये सारे भाई-बन्धु तुझे श्मशान में ले जाकर भून डालेंगे' ॥१५३॥

उसने कहा—'ऐसा न होगा। यह धूर्त टक्क मेरी खीर खाना चाहता है। अतः, मैं जब मर गया हूँ, तब इसके यहाँ से गये विना न उठूँगा ॥१५४॥

मेरे जैसे लोगों के लिए एक मुट्ठी अन्न भी प्राणों से अधिक है।' उस मूर्ख ने, एकान्त में ही इस प्रकार अपनी पत्नी से कहा ॥१५५॥

तब उस दुष्ट मित्र ने, बन्धु बान्धवों के साथ उसे ले जाकर चिता में फूंक दिया, किन्तु वह मरते समय भी तनिक भी हिला-डुला नहीं और न मुख से ही कुछ बोला ॥१५६॥

इस प्रकार उस मूर्ख ने खीर के पीछे अपने प्राण दे दिये और इतने कष्टों से कमाया हुआ उसका धन दूसरों ने भोगा ॥१५७॥

मार्जार-मूर्ख की कथा

कंजूस की कथा सुनी, अब मार्जार-मूर्ख की कथा सुनो—'उज्जयिनी के किसी मठ में एक मूर्ख अध्यापक रहता था ॥१५८॥

चूहों के उपद्रव के कारण रात को उसे नींद नहीं आती थी, इस कारण दुःखी होकर उसने अपने किसी मित्र से अपना यह कष्ट सुनाया ॥१५९॥

मार्जारं स्थापयानीय सोऽत्र खादति मूषकान्।
इति सोऽपि सुहृद्विप्रस्तमुपाध्यायमब्रवीत्॥१६०॥
मार्जारः कीदृशः क्वास्ते न स दृष्टचरो मया।
इत्युक्तवत्युपाध्याये तं सुहृत्सोऽब्रवीत् पुनः॥१६१॥
काचरे लोचने तस्य वर्णः कपिलधूसरः।
पृष्ठे च लोमशं चर्म रथ्यास्वटति चेह सः॥१६२॥
तदेभिस्त्वमभिज्ञानैरन्विष्यानाययाशु तम्।
मित्र मार्जारमित्युक्त्वा तत्सुहृत्स ययौ गृहम्॥१६३॥
ततः शिष्यानुपाध्यायः स जगाद जडो निजान्।
अभिज्ञानानि युष्माभिः श्रुतान्येव स्थितैरिह॥१६४॥
तदन्विष्यत मार्जारं रथ्यासु तमिह क्वचित्।
तथेति ते गताः शिष्यास्तत्र भ्रेमुरितस्ततः॥१६५॥
तथापि न तु तैर्दृष्टो मार्जारः स कदाचन।
अथैकं ते बटुं रथ्यामुखादैक्षन्त निर्गतम्॥१६६॥
काचरं नेत्रयुगले वर्णे धूसरपिङ्गलम्।
पृष्ठोपरि दधानं च लोमशं हरिणाजिनम्॥१६७॥
दृष्ट्वा तं सैष मार्जारः प्राप्तोऽस्माभिर्यथाश्रुतः।
इत्यवष्टभ्य तं निन्युरुपाध्यायान्तिकं च ते॥१६८॥
उपाध्यायोऽपि मित्रोक्तैर्युक्तं मार्जारलक्षणैः।
दृष्ट्वा तं स्थापयामास रात्रौ तत्र मठान्तरे॥१६९॥
मार्जारो नूनमस्तीति मेने सोऽपि बटुर्जडः।
मार्जाराख्यां कृतां शृण्वन्नात्मनस्तैरबुद्धिभिः॥१७०॥
स च भौतो बटुः शिष्यस्तस्य विप्रस्य येन तत्।
उपाध्यायस्य तस्योक्तं मैत्र्या मार्जारलक्षणम्॥१७१॥
प्रातः सोऽत्रागतो विप्रो बटुमन्तर्विलोक्य तम्।
इह केनायमानीत इति भौतानुवाच तान्॥१७२॥
श्रुतोपलक्षणस्त्वत्तो मार्जारोऽस्माभिरेष सः।
आनीत इत्युपाध्यायो भौतः शिष्याश्च तेऽवदन्॥१७३॥

'यहाँ एक बिल्ली लाकर रखो, वह चूहों को खा जाती है'—ऐसा उत्तर अध्यापक के मित्र ने दिया ॥१६०॥

'बिल्ली कैसी होती है और कहाँ रहती है, उसे मैंने पहले कभी नहीं देखा', अध्यापक के इस प्रकार कहने पर उसके मित्र ने फिर कहा—॥१६१॥

'उसकी आँखें चमकीली होती हैं, उसका रंग काला और भूरा होता है और पीठ पर रोएँदार चमड़ी होती है। वह यहाँ गलियों में घूमती-फिरती रहती है ॥१६२॥

मित्र, इन चिह्नों से उसे ढूंढ़कर शीघ्र ही मँगाओ।' ऐसा अध्यापक के मित्र ने उससे कहा और कहकर वह अपने घर चला गया ॥१६३॥

तब उस मूर्ख अध्यापक ने अपने शिष्यों से कहा—यहाँ बैठे हुए 'तुमलोगों ने बिल्ली के चिह्न तो सुन ही लिये हैं, अतः गलियों में जाकर इन चिह्नों के अनुसार बिल्ली को ढूंढ़ लाओ' गुरु की आज्ञा से बिल्ली की खोज में, गये हुए वे शिष्य, गलियों में, इधर-उधर घूमने लगे। फिर भी, उन्होंने उन लक्षणोंवाली बिल्ली कहीं नहीं देखी। कुछ समय के पश्चात् उन्होंने गली के मुहाने से निकलते हुए एक ब्रह्मचारी बटु को देखा। उसके दोनों नेत्र चमकीले थे, रंग काला और भूरा था और उसने अपनी पीठ पर रोएँदार मृगचर्म ओढ़ रखा था ॥१६४—१६७॥

उसे देखकर उन लोगों ने कहा—'यही वह बिल्ली है, जिसे हमने सुना था।' अतः, उसे रोककर वे अपने गुरु के समीप ले गये ॥१६८॥

गुरु ने भी मित्र से बताये हुए उन लक्षणों से युक्त उस बटु को देखकर और उसे बिल्ली समझकर अपने मठ में रख लिया ॥१६९॥

उन्हें 'बिल्ली, बिल्ली' कहते सुनकर उस मूर्ख बटु ने भी, अपने को बिल्ली ही समझ लिया। क्योंकि, वह मूर्खों से अपना यही नाम सुनता था ॥१७०॥

वह बटु (बालक) भी उस अध्यापक के उसी मित्र का पुत्र था, जिसने उसे बिल्ली की पहचान बताई थी ॥१७१॥

प्रातःकाल ही उस मठ में आये उस ब्राह्मण ने वहाँ पर उस बटु (ब्रह्मचारी बालक) को देखा और 'इसे यहाँ कौन लाया ?' इस प्रकार उसने उन मूर्खों से पूछा ॥१७२॥

तब गुरु के शिष्य बोले—'हमलोगों ने तुमसे ही बिल्ली का लक्षण सुनकर इसे पकड़कर यहाँ ला रखा है' ॥१७३॥

ततो विहस्य सोऽवादीद्विप्रो मूढाः क्व मानुषः।
क्व च तिर्यक्स मार्जारश्चतुष्पात् पुच्छवानपि ॥१७४॥
तच्छ्रुत्वा तं बटुं मुक्त्वा तेऽब्रुवन्मन्दबुद्धयः।
तर्ह्यन्विष्यानयामस्तं मार्जारं तादृशं पुनः ॥१७५॥
एवमुक्तवतो मूढाञ्जनस्तत्र जहास तान्।
अज्ञता नाम कस्येह नोपहासाय जायते ॥१७६॥
मार्जारभौतः कथितः श्रूयन्तामपरेऽप्यमी।
आसीद् बहूनां मुग्धानां मुख्यो मुग्धो मठे क्वचित् ॥१७७॥
स केनचिद्वाच्यमानाद्धर्मशास्त्रात् कदाचन।
तडागकर्तुरश्रौषीदमुत्र सुमहत् फलम् ॥१७८॥
ततः स धनसम्पूर्णो विपुलं वारिपूरितम्।
तडागं कारयामास नातिदूरे निजान्मठात् ॥१७९॥
एकदा स तडागं तं द्रष्टुं मुग्धाग्रणीर्गतः।
केनाप्युत्पाटितान्यस्य पुलिनानि व्यलोकयत् ॥१८०॥
तथैवागत्य सोऽन्येद्युरुत्खातं तटमन्यतः।
दृष्ट्वा तस्य तडागस्य सोद्वेगः समचिन्तयत् ॥१८१॥
प्रातः प्रभातादारभ्य स्थास्यामीहैव वासरम्।
द्रक्ष्यामि कः करोत्येतदित्यालोच्य ययौ प्रगे ॥१८२॥
अन्येद्युर्यावदेत्यास्ते तावत्तत्र ददर्श सः।
दिवोऽवतीर्य शृङ्गाभ्यां खनन्तं वृषभं तटम् ॥१८३॥
दिव्यो वृषोऽयं तत्किं न दिवं यामि सहामुना।
इत्युपेत्य वृषस्यास्य हस्ताभ्यां पुच्छमग्रहीत् ॥१८४॥
ततः पुच्छाग्रलग्नं तं भौतमुत्क्षिप्य वेगतः।
क्षणान्निनाय कैलासं स्वं धाम भगवान् वृषः ॥१८५॥
तत्र दिव्यानि भक्ष्याणि मोदकादीन्यवाप्य सः।
भुञ्जानो न्यवसद् भौतो दिनानि कतिचित् सुखम् ॥१८६॥
गतागतानि कुर्वाणं स दृष्ट्वा तं महावृषम्।
अचिन्तयत भौतानां मुख्यो दैवेन मोहितः ॥१८७॥
गच्छामि वृषपुच्छाग्रलग्नः पश्यामि बान्धवान्।
कथयित्वाद्भुतमिदं तथैवैष्याम्यहं पुनः ॥१८८॥
इति सञ्चिन्त्य वृषभस्यैकदोपेत्य तस्य सः।
आलम्ब्य गच्छतः पुच्छमागाद् भौतो भुवस्तलम् ॥१८९॥

यह सुनकर वह ब्राह्मण हँसकर बोला—'अरे मूर्खों, कहाँ यह मनुष्य और कहाँ वह पशु ? बिल्ली के चार पैर होते हैं और उसकी पूंछ भी होती है।' यह सुनकर वे मूर्ख शिष्य, उस बालक को छोड़कर बोले—'तब वैसे ही ढूंढ़कर लाते हैं' ॥१७५॥'

ऐसा कहते हुए उन्होंने सभी को हँसा दिया। सच है, मूर्खता किसके हास्य का कारण नहीं होती ॥१७६॥

मार्जार-मूर्ख की कथा सुनी, अब कुछ और मूर्खों की कथाएँ सुनो। किसी एक मठ में मूर्खों का मुखिया एक महामूर्ख था ॥१७७॥

उसने किसी कथावाचक से सुन लिया कि 'तालाब बनवानेवाले को इस लोक में बहुत पुण्य मिलता है।' वह मठाधीश धनी था। उसने अपने मठ के पास ही पानी से भरा एक विशाल तालाब बनवाया ॥१७८-१७९॥

एक बार वह मूर्खराज, उस तालाब को देखने के लिए गया। उसने तालाब के किनारों को किसी के द्वारा उखाड़े हुए देखा ॥१८०॥

इसी प्रकार दूसरे दिन उसने दूसरी ओर देखा और वह सोचने लगा कि 'यह कौन इसके किनारों को तोड़ता है। कल प्रातःकाल ही आकर यहां सारा दिन रहकर देखूंगा कि कौन ऐसा करता है—ऐसा सोचकर वह दूसरे दिन प्रातःकाल ही ज्यों ही वहाँ आया, उसने आकाश से उतरकर सींग से किनारों को तोड़ते हुए एक बैल को देखा। 'ओह ! यह तो दिव्य बैल है, इसलिए मैं भी इसके साथ ही सीधे स्वर्ग क्यों न चला जाऊँ ?'—ऐसा सोचकर और उसके पास जाकर उसने हाथों से उस बैल की पूंछ पकड़ ली ॥१८१—१८४॥

पूछ पकड़े हुए उसे लेकर नन्दी भगवान् क्षण-भर में अपने कैलासधाम जा पहुँचे ॥१८५॥

वह मूर्ख मठाधीश, दिव्य भोजन, लड्डू आदि खाकर, कुछ दिनों तक वहीं सुखपूर्वक रहा। नन्दी को प्रतिदिन पृथ्वी पर यातायात करते हुए देखकर वह मूर्खराज, सोचने लगा कि बैल की पूंछ पकड़कर नीचे जाऊँ और अपने बन्धु-मित्रों से मिलूँ। उन्हें यह आश्चर्यजनक घटना सुनाकर फिर आ जाऊँगा। ऐसा सोचकर एकबार वह मूर्खराज उस नन्दी के पास जाकर उसकी पूंछ पकड़कर भूमि पर आ गया ॥१८६—१८९॥

ततः प्राप्तो मठे भौतैरन्यैराश्लिष्य तत्स्थितैः।
क्व गतोऽसीति पृष्टस्तं स्ववृत्तान्तं शशंस सः ॥१९०॥
ततः सर्वे श्रुताश्चर्या भौतास्ते प्रार्थयन्त तम्।
प्रसीद नय तत्रास्मानपि भोजय मोदकान् ॥१९१॥
तच्छ्रुत्वा स तथेत्येतान् युक्तिमुक्त्वापरे दिने।
तडागोपान्तमनयत् स च तत्रcraft वृषः ॥१९२॥
जग्राह तस्य लाङ्गूलं मुख्यः पाणिद्वयेन सः।
तस्याप्यगृह्णाच्चरणावन्यस्तस्यापि चेतरः ॥१९३॥
इत्यन्योन्याङ्घ्रिलग्नैस्तैर्भौतैर्यावच्च शङ्खला।
रचिता स वृषस्तावदुत्पपात जवान्नभः ॥१९४॥
याति तस्मिंश्च वृषभे लाङ्गूलालम्बिभौतके[1]।
मुख्यभौतं तमप्राक्षीदेको भौतोऽथ दैवतः[2] ॥१९५॥
श्रद्धामाख्याहि नस्तावद्यथेष्टसुलभा दिवि।
कियत्प्रमाणा भवता मोदका भक्षिता इति ॥१९६॥
ततो भ्रष्टानुसन्धानो वृषपुच्छं विमुच्य तम्।
पद्माकारौ करौ कृत्वा संश्लिष्टौ भौतनायकः ॥१९७॥
इयत्प्रमाणा इत्याशु यावत्तान् प्रतिवक्ति सः।
तावत्सोऽन्ये च ते सर्वे खान्निपत्य विपेदिरे ॥१९८॥
वृषः प्रायाच्च कैलासं जनो दृष्ट्वा जहास च।
दोषाय निर्विमर्शैवं भौतप्रश्नोत्तरक्रिया ॥१९९॥
श्रुता द्युगामिनो भौताः श्रूयतामपरोऽप्ययम्।
कश्चिद् भौतो विसस्मार मार्गं मार्गान्तरं व्रजन् ॥२००॥
तरोर्नदीतटस्थस्य गच्छास्योपरिवर्त्मना।
इत्युच्यते स्म पन्थानं परिपृच्छञ्जनैश्च सः ॥२०१॥
ततस्तस्य तरोः पृष्ठं गत्वारूढः स मूढधीः।
एतत्पृष्ठेन मे पन्था उपदिष्टो जनैरिति ॥२०२॥
तत्पृष्ठे सर्पतश्चास्य भरात्पर्यन्तवर्त्तिनी।
शाखा ननाम यत्नेन पपातालम्ब्य नैष ताम् ॥२०३॥

१. लाङ्गूले=पुच्छे, आलम्बिनः=लम्बमानाः भौताः=मूर्खाःयस्य तस्मिन्, वृषभविशेष
२. दैववशादित्यर्थः।

तब उसके मठ में पहुँचते ही अन्य मूर्ख, उसे घेरकर बैठ गये और 'कहाँ गये थे ?' उनके ऐसा पूछने पर मूर्ख ने, कैलास-यात्रा का सारा वृत्तान्त उन्हें सुना दिया ।।१९०

सुनकर आश्चर्य-चकित वे सभी मूर्ख, उससे प्रार्थना करने लगे कि 'हम लोगों पर भी कृपा करो, हमें भी वहाँ ले चलो । हम लोगों को भी दिव्य लड्डू खिलाओ' ।।१९१।।

उनकी बातें सुनकर और वहाँ जाने की युक्ति बताकर दूसरे दिन तालाब के पास वह उन्हें ले गया और बैल भी वहाँ आया ।।१९२।।

तब उन मूर्खों के मुखिया महन्त ने, दोनों हाथों से उसकी पूंछ पकड़ ली। उसके पैर दूसरे ने पकड़े और उसके तीसरे ने । इस प्रकार सभी मूर्खों ने एक-दूसरे के पैर पकड़-पकड़कर एक लम्बी पंक्ति-सी बना ली । तब वह बैल वेग से आकाश में उड़ा । पूँछ में लटके हुए अनेक मूर्खों-वाले बैल के आकाश में जाते समय, दैवयोग से उनमें से एक ने मुखिया से पूछा—मन के अनुकूल फल देनेवाले स्वर्गलोक के प्रति हमारी उत्सुकता बढ़ाओं और यह बताओ कि तुमने कितने बड़े-बड़े लड्डू वहाँ खाये थे ?' ।।१९३—१९६।।

तब अपने सिलसिले को भूलकर उस मूर्ख महन्त ने बैल की पूंछ छोड़ दी और दोनों हाथों को कमल की तरह मिलाकर कहा—'इतने-इतने बड़े' ।।१९७।।

जब वह उन्हें हाथ के इंगित से बता ही रहा था कि तबतक वे सब-के-सब मूर्ख लुंड-मुंड होकर आकाश से नीचे गिर गये और बैल अपनी तीव्र गति से कैलास को चला गया । यह देखकर जनता पेट पकड़कर हँसने लगी मूर्खों की प्रश्नोत्तर-क्रिया भी विवेक-रहित होती है ।।१९८-१९९।।

महाराज, तुमने आकाश में जानेवाले मूर्ख सुने । अब दूसरों को सुनिए एक मूर्ख मार्ग में चलते हुए सही मार्ग भूलकर विपरीत मार्ग पर जा रहा था। लोगों से पूछने पर उन्होंने कहा कि 'नदी के किनारे जो पेड़ है, उसके ऊपर के मार्ग से जाओ।' वह मूर्ख, पेड़ के पीछे जाकर उस पर चढ़ गया । डाल पर चलते हुए उस पेड़ की अगली पतली डालियाँ नीचे झुक गईं। किन्तु, उसने अगली डाल को जोर से पकड़ लिया और नदी के ऊपर झूलने लगा । क्योंकि, लोगों ने उसे पेड़ के पीछे से मार्ग बतलाया था ।।२००—२०३।।

तामालम्ब्य स्थितो यावत्तावत्तेनाययौ पथा।
आरोहेणोपरिस्थेन नद्यां पीतजलः करी ॥२०४॥
तं दृष्ट्वा तरुशाखाग्रलम्भी भीतः स दीनवाक्।
महात्मन् मां गृहाणेति हस्त्यारोहमुवाच तम् ॥२०५॥
हस्त्यारोहश्च भीतं तमवतारयितुं तरोः।
पादयोरग्रहीद्द्वाभ्यां पाणिभ्यामुज्झिताङ्कुशः ॥२०६॥
तावच्च निर्गत्य गते गजे भीतस्य तस्य सः।
ललम्बे पादयोर्हस्तिपको वृक्षाग्रलम्बिनः ॥२०७॥
ततः स त्वरयन्भीतो हस्त्यारोहं तमभ्यधात्।
यदि जानासि तच्छीघ्रं यत्किञ्चिद् गीयतां त्वया ॥२०८॥
इतोऽवतारयेज्जातु यच्छ्रुत्वागत्य नौ जनः।
पतितावन्यथाधस्ताद्धरेदावामियं नदी ॥२०९॥
इत्युक्तः स गजारोहस्तेन मञ्जु तथा जगौ।
यथा स एव भीतोऽत्र परितोषमगात् परम् ॥२१०॥
साधुवादं च स ददद्विस्मृत्योज्झितपादपः।
दातुं प्रावर्त्तत द्वाभ्यां हस्ताभ्यां छोटिकां जडः ॥२११॥
तत्क्षणं विनिपत्यैव सहस्त्यारोह एव सः।
नद्यां विपेदे मूर्खैर्हि सङ्गः कस्यास्ति शर्मणे ॥२१२॥
इत्याख्याय कथां भूयो वत्सेश्वरसुताय सः।
गोमुखः दकथयामास हिरण्याक्षकथामिमाम् ॥२१३॥

हिरण्याक्ष कथा

अस्तीह हिमवत्कुक्षौ देशः पृथ्वीशिरोमणिः।
कश्मीर इति विद्यानां धर्मस्य च निकेतनम् ॥२१४॥
तत्राधिष्ठानमभवद्धिरण्यपुरनामकम् ।
कनकाक्ष इति ख्यातस्तस्मिन् राजा बभूव च ॥२१५॥
तस्य रत्नप्रभादेव्यां शङ्कराराधनोद्भवः।
पुत्रो हिरण्याक्ष इति क्ष्मापतेरुदपद्यत ॥२१६॥
स जातु गुलिकाक्रीडां कुर्वन् गुलिकया छलात्।
तापसीं राजतनयो मार्गायातामताडयत् ॥२१७॥
सा तापसी जितक्रोधा राजपुत्रं विहस्य तम्।
योगीश्वरी हिरण्याक्षमुवाच विकृताननां ॥२१८॥
स्वयौवनादिकैरीदृग्दर्पश्चेत्तव तां यदि।
मृगाङ्कलेखामाप्नोषि भार्यां तत्कीदृशो भवेत् ॥२१९॥

जब वह मूर्ख, डाल पकड़कर झूल ही रहा था कि इतने में उस मार्ग से नदी में पानी पीकर एक हाथी लौट रहा था। उस पर महावत भी बैठा था। उसे देखकर पेड़ की डाल में लटकता हुआ मूर्ख दीनतापूर्वक हाथीवान से बोला, 'महात्मा, मुझे पकड़ लो' ॥२०४-२०५॥

महावत ने भी, उसे वृक्ष से उतारने के लिए, अंकुश को रखकर, दोनों हाथों से उसके दोनों पैर पकड़ लिये ॥२०६॥

इतने में ही हाथी के आगे निकल जाने पर महावत भी, पेड़ की डाल में झूलते हुए उस मूर्ख के पैरों में लटक गया ॥२०७॥

तब डाल में लटका हुआ वह मूर्ख, शीघ्रतापूर्वक महावत से बोला कि 'यदि तू गाना जानता है, तो गा' ॥२०८॥

इसलिए यह सम्भव है कि कोई गाना सुनकर यहाँ आवे और हम दोनों को उतार ले ॥२०९॥

इस प्रकार, उसके कहने पर महावत ने, इतना अच्छा गीत गाया कि वह लटका हुआ मूर्ख अत्यन्त सन्तुष्ट हो गया ॥२१०॥

और उसे वाहवाही देता हुआ यह भूल गया कि मैं लटका हूँ, इसलिए उस मूर्ख ने, अपने दोनों हाथों से चुटकी बजाना प्रारम्भ किया ॥२११॥

इस प्रकार चुटकी बजाने के चक्कर में डाल छूट जाने के कारण वह मूर्ख महावत के साथ ही गिरकर नदी में डूब गया। सच है कि मूर्खों का साथ किसके लिए हानिकारक नहीं होता ॥२१२॥

नरवाहनदत्त को यह कथा सुनाकर गोमुख ने उसे हिरण्याक्ष की कथा सुनाई ॥२१३॥

हिरण्याक्ष की कथा

हिमालय के मध्य में पृथ्वी का शिरोमणि कश्मीर नाम का देश है, जो विद्या एवं धर्म का घर है। उस देश में हिरण्यपुर नाम का एक राज्य था, जिसका राजा कनकाक्ष नाम से प्रसिद्ध था। रत्नप्रभा नाम की उसकी रानी से, शिवजी की आराधना के फलस्वरूप एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम हिरण्याक्ष रखा गया। ॥२१४—२१६॥

वह बालक कभी गोलियाँ खेल रहा था। उसने किसी बहाने से मार्ग में आती हुई एक तपस्विनी को गोली से मारा। क्रोध न करनेवाली क्षमाशील तपस्विनी योगीश्वरी ने मुँह बिगाड़ बिचकाकर राजकुमार से कहा—'यदि तुझे अपने यौवन आदि पर इतना घमंड है, तो मृगांकलेखा को अपनी पत्नी बना लेने पर तुम्हारा घमंड कितना न बढ़ जाय' ॥२१७—२१९॥

तच्छ्रुत्वा क्षमयित्वा तां राजपुत्रः स पृष्टवान्।
कैषा मृगाङ्कलेखाख्या भगवत्युच्यतामिति ॥२२०॥
ततस्तं साब्रवीदस्ति शशितेजा इति श्रुतः।
विद्याधरेन्द्रो हिमवत्यचलेन्द्रे महायशाः ॥२२१॥
मृगाङ्कलेखा तस्यास्ति तनया वरकन्यका।
रूपेण द्युचरेन्द्राणां निशासून्निद्रकप्रदा ॥२२२॥
सा चानुरूपा भार्या ते तस्यास्त्वमुचितः पतिः।
इत्युक्तः सिद्धतापस्या हिरण्याक्षो जगाद ताम् ॥२२३॥
कथं भगवति प्राप्या मया सा तर्हि कथ्यताम्।
तच्छ्रुत्वा सा हिरण्याक्षं तं योगेश्वर्यभाषत ॥२२४॥
गत्वाहं त्वत्कथाख्यानादुपलप्स्ये तदाशयम्।
आगत्य चाहमेव त्वां तत्र नेष्याम्यतः परम् ॥२२५॥
इहास्ति योऽमरेशाख्यो देवस्तत्केतने त्वया।
प्रातः प्राप्यास्मि नित्यं हि तमर्चितुमुपैम्यहम् ॥२२६॥
इत्युक्त्वा नभसा प्रायात्तापसी सा स्वसिद्धितः।
तस्या मृगाङ्कलेखाया निकटं तुहिनाचलम् ॥२२७॥
तत्र तस्यै हिरण्याक्षगुणान्युक्त्या शशंस सा।
तथा यथा दिव्यकन्या सात्युत्कैवमुवाच ताम् ॥२२८॥
तादृशं चेन्न भर्तारं प्राप्नुयां भगवत्यहम्।
तन्निष्फलेन किं कार्यममुना जीवितेन मे ॥२२९॥
इत्यारूढस्मरावेशा नीत्वा तत्कथया दिनम्।
मृगाङ्कलेखा तापस्या सहोवास तया निशाम् ॥२३०॥
तावत्सोऽपि हिरण्याक्षस्तच्चिन्तानीतवासरः।
सुप्तः कथञ्चिज्जगदे गौर्या स्वप्ने निशाक्षये ॥२३१॥
विद्याधरः सन् प्राप्तस्त्वं मुनिशापेन मर्त्यताम्।
तापस्याः करसंस्पर्शादितस्या मोक्ष्यसे ततः ॥२३२॥
मृगाङ्कलेखां च ततस्तामाशु परिणेष्यसि।
तच्चिन्ता नात्र कार्या ते पूर्वभार्या हि सा तव ॥२३३॥

---

१. काश्मीरेषु 'अमरनाथ' इति प्रसिद्धः।

यह सुनकर उस राजकुमार ने, तपस्विनी से क्षमा-प्रार्थनापूर्वक पूछा कि 'भगवति, वह कौन-सी मृगांकलेखा है? कृपया बताइए' ॥२२०॥

तब वह तपस्विनी उससे कहने लगी—'पर्वतराज हिमालय पर शशितेज नाम का विद्याधरों का राजा है। मृगांकलेखा उसी राजा की सुन्दरी कन्या है, जो अपने सौन्दर्य से, रात में विद्याधरों को सोने नहीं देती (अर्थात्, सभी उसकी चिन्ता में सो नहीं पाते) ॥२२१-२२२॥

वह तेरे योग्य पत्नी है और तू उसके योग्य पति है'। सिद्ध तापसी के इस प्रकार कहने पर हिरण्याक्ष उससे बोला—'भगवति, तब मुझे यह भी बताइए कि वह मुझे कैसे मिल सकती है? यह सुनकर योगीश्वरी हिरण्याक्ष से बोली—'मैं उसके पास जाकर तेरी चर्चा करके उसका आशय (अभिप्राय) समझूँगी। और फिर, मैं ही यहाँ आकर तुझे वहाँ ले जाऊँगी ॥२२३—२२५॥

यहाँ अमरनाथ नाम का जो शिव-मन्दिर है, वहीं मैं प्रातःकाल तुझे मिलूँगी। मैं वहाँ नित्य पूजन के लिए उपस्थित होती हूँ' ॥२२६॥

ऐसा कहकर वह तपस्विनी अपनी सिद्धि के योग से उस मृगांकलेखा के पास हिमालय पर गई ॥२२७॥

वहाँ जाकर उसने हिरण्याक्ष के गुणों का ऐसा वर्णन किया कि वह मृगांकलेखा, अत्यन्त उत्कंठित होकर उससे बोली—॥२२८॥

'भगवति, यदि वैसे पति को मैंने न पाया, तो इस विफल जीवन से मुझे क्या लाभ है?' इस प्रकार के भावावेश से आक्रान्त मृगांकलेखा ने, हिरण्याक्ष की चर्चा में दिन व्यतीत कर उसी तपस्विनी के साथ रात भी बिताई ॥२२९-२३०॥

इधर हिरण्याक्ष भी, मृगांकलेखा की चिन्ता में दिन व्यतीत करके रात्रि में किसी प्रकार सोया और पार्वती ने उसे स्वप्न में कहा—'तू पहले जन्म में विद्याधर था। मुनि के शाप से मनुष्य हो गया। इसी तापसी के हाथ का सम्पर्क होने से तू शापमुक्त हो जायगा ॥२३१-२३२॥

तब तू उस मृगांकलेखा से विवाह करेगा। उसकी चिन्ता तुझे न करनी चाहिए। वह तेरी पूर्वजन्म की पत्नी है' ॥२३३॥

इत्यादिश्यैव सा देवी तिरोऽभूत्तस्य सोऽपि च।
प्रबुध्य प्रातरुत्थाय चक्रे स्नानादिमङ्गलम् ॥२३४॥
ततोऽमरेश्वरस्याग्रे गत्वा तस्थौ प्रणम्य तम्।
यत्र सङ्केतकं तस्य तापस्या विहितं तया ॥२३५॥
अत्रान्तरे च कथमप्याप्तनिद्रां स्वमन्दिरे।
मृगाङ्कलेखामपि तां गौरी स्वप्ने समादिशत् ॥२३६॥
क्षीणशापं हिरण्याक्षं जातं विद्याधरं पुनः।
करस्पर्शेन तापस्याः पतिं प्राप्स्यस्यलं शुचा ॥२३७॥
इत्युक्त्वान्तर्हितायां च देव्यां प्रातः प्रबुध्य सा।
मृगाङ्कलेखा तापस्यै तस्यै स्वप्नं शशंस तम् ॥२३८॥
सा तच्छ्रुत्वैव चागत्य भूलोकं सिद्धतापसी।
स्थितं क्षेत्रेऽमरेशस्य हिरण्याक्षं तमभ्यधात् ॥२३९॥
एहि वैद्याधरं लोकं पुत्रेत्युक्त्वा करेण सा।
प्रणतं तं समादाय बाहावुदपतन्नभः ॥२४०॥
तावत्स च हिरण्याक्षो भूत्वा विद्याधरेश्वरः।
स्मृत्वा शापक्षयाज्जातिं तापसीं तामभाषत ॥२४१॥
हिमाद्रौ वज्रकूटाख्ये पुरे जानीहि मामियम्।
विद्याधराणां राजानं नाम्नाप्यमृततेजसम् ॥२४२॥
सोऽहमुल्लङ्घनक्रोधाच्छापं प्राप्य पुरा मुनेः।
मर्त्ययोनिमुपागच्छं त्वत्करस्पर्शनावधिम् ॥२४३॥
शप्तस्य मे तदा भार्या या दुःखादजहत्तनुम्।
सैषा मृगाङ्कलेखाद्य जाता पूर्वप्रिया मम ॥२४४॥
इदानीं च त्वया सार्धं गत्वा प्राप्स्यामि तामहम्।
त्वत्करस्पर्शपूतस्य शान्तः शापो हि सोऽद्य मे ॥२४५॥
इति ब्रुवंस्तया साकं तापस्या गगनेन सः।
जगामामृततेजास्तं हिमाद्रिं द्युचराधिपः ॥२४६॥
मृगाङ्कलेखामुद्यानस्थितां तत्र ददर्श सः।
साप्यपश्यत्तमायान्तं तापस्यावेदितं तया ॥२४७॥
चित्रं श्रुतिपथेनादौ प्रविश्यान्योन्यमानसम्।
अनिर्गत्याप्यविशतां दृष्टिमार्गेण तौ पुनः ॥२४८॥

इस प्रकार आदेश देकर देवी पार्वती अन्तर्धान हो गई और प्रातःकाल उठकर हिरण्याक्ष ने स्नान, सन्ध्या आदि मंगल-कार्य किये ॥२३४॥

तब अमरेश्वर के सम्मुख जाकर और प्रणाम करके वह बैठ गया, जहाँ पर कि उस तपस्विनी ने मिलने का संकेत दिया था ॥२३५॥

इसी बीच अपने घर में किसी प्रकार सोई हुई मृगांकलेखा को भी नींद आई और गौरी ने स्वप्न में उसे भी यह आदेश दिया ॥२३६॥

'शापमुक्त और तापसी के हस्त-स्पर्श से पुनः विद्याधर-योनि को प्राप्त हिरण्याक्ष को तू पति के रूप में प्राप्त करेगी । सोच न कर' ॥२३७॥

ऐसा कहकर देवी के अन्तर्धान हो जाने पर वह प्रातः काल उठी और उस तपस्विनी को, मृगांकलेखा ने, रात का स्वप्न सुनाया ॥२३८॥

यह सुनकर वह तपस्विनी, मर्त्यलोक में आकर अमरनाथ शिव के मन्दिर में उसकी प्रतीक्षा में बैठे हुए, हिरण्याक्ष से बोली-- ॥२३९॥

'बेटा, आओ ।' विद्याधर-लोक में चलें ।' ऐसा कहकर वे प्रणाम करते हुए हिरण्याक्ष को अपने हाथ से अपना बाहु पर बिठाकर तपस्विनी आकाश में उड़ गई ॥२४०॥

इतने में ही वह हिरण्याक्ष विद्याधर-राजा होकर शाप के क्षय होने से अपनी पिछली जाति को स्मरण करके उस तपस्विनी से बोला-- ॥२४१॥

'हिमालय के वज्रकूट नाम के नगर का अमृततेज नामक राजा मुझे तुम जानो ॥२४२॥

मैं पूर्वजन्म में अपमान-जन्य क्रोध के कारण मुनि से शाप प्राप्त करके मर्त्यलोक में उत्पन्न हुआ था । तेरे हाथ के स्पर्श तक ही मेरा शाप था ॥२४३॥

मुनि से शापित मुझे देखकर मेरी पत्नी ने दुःख से अपना शरीर छोड़ दिया । वही मेरी पहली पत्नी इस समय मृगांकलेखा के रूप में है ॥२४४॥

अब मैं तेरे साथ जाकर उसे प्राप्त करूँगा । तेरे पवित्र हाथ के स्पर्श से मेरा वह शाप समाप्त होगया' ॥२४५॥

ऐसा कहता हुआ वह विद्याधरेन्द्र अमृततेज आकाश-मार्ग से हिमालय पर गया और वहाँ उसने उद्यान में बैठी हुई मृगांकलेखा को देखा और मृगांकलेखा ने भी उसे, जैसा तपस्विनी ने बताया था, उसी रूप में देखा ॥२४६-२४७॥

आश्चर्य की बात है कि पहले कानों के मार्ग से दोनों, परस्पर दोनों के हृदयों में घुसकर फिर बिना निकले ही, वे दोनों आँखों के मार्ग से भी उसी प्रकार, फिर दोनों एक दूसरे के हृदय में घुस गये ॥२४८॥

विवाहसिद्धये पित्रे त्वयेदं कथ्यतामिति।
ऊचे मृगाङ्कलेखात्र तापस्या प्रौढया तया ॥२४९॥
ततो लज्जानतमुखी सा गत्वा पितरं निजम्।
सखीमुखेन तत्सर्वं बोधयामास तत्क्षणम् ॥२५०॥
सोऽपि स्वप्नेऽम्बिकादिष्टस्तत्पिता खेचरेश्वरः।
तमनैषीत् स्वभवनं सम्मान्यामृततेजसम् ॥२५१॥
ददौ मृगाङ्कलेखां च तस्मै तां स यथाविधि।
कृतोद्वाहश्च तं वज्रकूटं स्वं प्रययौ पुरम् ॥२५२॥
तत्र सोऽमृततेजाः स्वं राज्यं प्राप्य सभार्यकम्।
आनीतं सिद्धतापस्या मर्त्यत्वात्पितरं निजम् ॥२५३॥
कनकाक्षं तमभ्यर्च्य भोगैः प्रापय्य भूतलम्।
मृगाङ्कलेखया साकं तामृद्धिं बुभुजे चिरम् ॥२५४॥
इति पूर्वकर्मविहितं भवितव्यं जगति यस्य जन्तोर्यत्।
तदयत्नेन स पुरतः पतितं प्राप्नोत्यसाध्यमपि ॥२५५॥
एवं गोमुखकथितां शक्तियशस्युत्सुको निशम्य कथाम्।
शयने निशि नरवाहनदत्तो निद्रामसौ भेजे ॥२५६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शक्तियशोलम्बके नवमस्तरङ्गः।

दशमस्तरङ्गः

ततोऽन्येद्युः पुनर्नक्तं विनोदार्थं स गोमुखः।
नरवाहनदत्ताय कथामेतामवर्णयत् ॥१॥
धारेश्वराभिधे शैवे सिद्धक्षेत्रे पुरावसत् ॥
उपास्यमानो बहुभिः शिष्यैः कोऽपि महामुनिः ॥२॥
सोऽब्रवीज्जातु शिष्यान् स्वान् युष्मासु यदि केनचित्।
अपूर्वमीक्षितं किञ्चिच्छ्रुतं वा तन्निवेद्यताम् ॥३॥
इत्युक्ते तेन मुनिना शिष्य एको जगाद तम्।
मया श्रुतमपूर्वं यत्तदाख्यामि निशम्यताम् ॥४॥

तब उस प्रौढा तापसी ने मृगांकलेखा से कहा कि 'तू विवाह की सिद्धि के लिए सब कुछ पिता से जाकर कह' ॥२४९॥

तब लाज से अधोमुखी मृगांकलेखा ने, अपनी सखी के मुंह से यह सब वृत्तान्त, अपने पिता को उसी समय बता दिया ॥२५०॥

स्वप्न में पहले ही पार्वती द्वारा आज्ञापित उसका पिता अमृततेज को सम्मानित कर अपने घर ले आया ॥२५१॥

और, उसके लिए उसने मृगांकलेखा को विधिपूर्वक प्रदान कर दिया। विवाह के अनन्तर वह अमृततेज को अपने वज्रकूट नगर ले गया। तब अमृततेज ने, अपनी पूर्व पत्नी के साथ, अपने राज्य को प्राप्त कर, मनुष्य होने के कारण सिद्ध तापसी द्वारा अपने पिता कनकाक्ष को बुलवाकर और उसका सम्मान करने के उपरान्त विविध भोगों के साथ उसे पृथ्वी पर पहुँचाकर वह मृगांकलेखा के साथ चिरकाल तक अपने राज्य को भोगता रहा ॥२५२–२५४॥

इस प्रकार, पूर्वजन्म के कर्मों से जिस प्राणी का जो भवितव्य होता है, वह विना प्रयत्न किये ही, असाध्य होने पर भी स्वयं सामने आकर मिलता है॥२५५॥

शक्तियशा के लिए उत्सुक नरवाहनदत्त गोमुख द्वारा कही गई इस कथा को सुनकर सेज पर पड़ा-पड़ा नींद में सो गया ॥२५६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शक्तियश लम्बक का
नवम तरंग समाप्त

दशम तरंग

तब दूसरे दिन फिर रात में, मनोरंजन के लिए मन्त्री गोमुख ने नरवाहनदत्त के लिए यह कथा सुनाई ॥१॥

प्राचीन समय में धारेश्वर नामक शिव-क्षेत्र में बहुत-से शिष्यों द्वारा सेवित एक महामुनि रहता था ॥२॥

किसी समय उस मुनि ने, अपने शिष्यों से कहा—'तुम लोगों में से किसी ने कोई अपूर्व कुछ देखा या सुना हो, तो बताओ' ॥३॥

मुनि के ऐसा कहने पर एक शिष्य बोला—'मैंने जो कुछ नया सुना है, उसे कहता हूँ, सुनिए' ॥४॥

विजयाख्यं महाक्षेत्रं कश्मीरेष्वस्ति शाम्भवम्।
तत्र प्रव्राजकः कश्चिदासीद्विद्याभिमानवान्॥५॥
जयी सर्वत्र भूयासमित्याशंसन् प्रणम्य सः।
शम्भुं प्रतस्थे वादाय प्रव्राट् पाटलिपुत्रकम्॥६॥
गच्छंश्च मार्गेऽतिक्रामन् वनानि सरितो गिरीन्।
प्राप्याटवीं परिश्रान्तो विशश्राम तरोस्तले॥७॥
क्षणाच्च वापीशिशिरे तत्र दूराध्वधूसरम्।
ददर्श धार्मिकं दण्डकुण्डिकाहस्तमागतम्॥८॥
कुतस्त्वं कुत्र यासीति निषण्णोऽत्र च तेन सः।
प्रव्राजकेन पृष्टस्तमित्यभाषत धार्मिकः॥९॥
आगतोऽहं सखे विद्याक्षेत्रात् पाटलिपुत्रकात्।
कश्मीरान् यामि तत्रत्यां जेतुं वादेन पण्डितान्॥१०॥
श्रुत्वैतद्धार्मिकवचः स परिव्राडचिन्तयत्।
इहैको न जितोऽयं चेन्मया पाटलिपुत्रकः॥११॥
तत्तत्र गत्वा जेष्यामि कथमन्यान् बहूनहम्।
इत्यालोच्य स तं प्रव्राडाक्षिप्याह स्म धार्मिकम्॥१२॥
विपरीतमिदं किं ते वद धार्मिक चेष्टितम्।
क्व धार्मिको मुमुक्षुस्त्वं क्व वादी व्यसनातुरः॥१३॥
वादाभिमानबन्धेन संसारान्मोक्षमिच्छसि।
शमयस्यग्निनोष्माणं शीतं हंसि हिमेन च॥१४॥
उत्तितीर्षसि पाषाणनावा मूढ महोदधिम्।
वातेन ज्वलितं वह्निं निवारयितुमीहसे॥१५॥
ब्राह्मं शीलं क्षमा नाम क्षात्रमापन्नरक्षणम्।
मुमुक्षुशीलं च शमः कलहो रक्षसां स्मृतम्॥१६॥
तस्माच्छान्तेन दान्तेन भवितव्यं मुमुक्षुणा।
निरस्तद्वन्द्वदुःखेन संसारक्लेशभीरुणा॥१७॥
अतः शमकुठारेण च्छिन्धीमं भवपादपम्।
हेतुवादाभिमानाम्बुसेकं तस्य तु मा स्म दाः॥१८॥
इत्युक्तो धार्मिकस्तेन परितुष्टः प्रणम्य तम्।
गुरुर्भवान्ममेत्युक्त्वा जगाम स यथागतम्॥१९॥

कश्मीर देश में विजय नाम का विशाल शिव-क्षेत्र है। उस क्षेत्र में एक विद्याभिमानी संन्यासी था ॥५॥

एकबार वह संन्यासी 'मैं सब स्थानों पर विजयी होऊँ', ऐसी कामना करता हुआ शिवजी को प्रणाम करके शास्त्र-वाद (शास्त्रार्थ) के लिए पाटलिपुत्र की ओर चला ॥६॥

रास्ते में जंगलों, नदियों और पहाड़ों को लाँघता हुआ वह एक सुनसान वन में पहुँचकर एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा ॥७॥

कुछ ही समय के पश्चात् बावली से शीतल उस स्थान पर उसने लम्बी यात्रा के कारण धूल से भरे, सोंटा और कुंडी हाथ में लिये हुए एक धार्मिक पुरुष को देखा ॥८॥

उसके वहाँ बैठ जाने पर उस संन्यासी ने उससे पूछा—'तुम कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जा रहे हो ?' तब उस धार्मिक ने उत्तर दिया– ॥९॥

'भाई, मैं विद्या के केन्द्र पाटलिपुत्र से आ रहा हूँ और कश्मीर के विद्वानों को शास्त्रार्थ में जीतने के लिए वहाँ जा रहा हूँ' ॥१०॥

उस धार्मिक की बात सुनकर वह साधु सोचने लगा कि यहीं पर मैंने यदि इसी एक पाटलिपुत्रवाले को शास्त्रार्थ में न जीत लिया, तो पाटलिपुत्र जाकर अन्य बहुतों को कैसे जीतूँगा ऐसा सोचकर उस साधु ने, उस धार्मिक पर आक्षेप करते हुए कहा—॥११–१२॥

'हे धर्मशील, तुम्हारा यह विपरीत विचार कैसे हुआ ? कहाँ तो तू मुक्ति चाहनेवाला धर्मशील व्यक्ति और कहाँ रागद्वेष आदि व्यसनों से युक्त शास्त्रार्थी ॥१३॥

शास्त्रार्थ के अभिमान-रूपी बन्धन से तू संसार से मुक्ति चाहता है। तेरी यह युक्ति अग्नि से गरमी को और हिम से सरदी को शान्त करने के प्रयत्न के समान है। इस प्रकार अरे मूर्ख, तू पत्थर की नाव से समुद्र पार करना चाहता है और जल की अग्नि को, वायु से शान्त करना चाहता है ॥१४-१५॥

ब्राह्मण का स्वाभाविक धर्म क्षमा है और क्षत्रिय का धर्म शरणागत की रक्षा करना। मुमुक्षु (मोक्ष चाहनेवाले) का धर्म शान्ति है और राक्षसों का धर्म कलह है ॥१६॥

इसलिए, मोक्षार्थी को शान्त और दान्त (संयमी) होना चाहिए। रागद्वेष के दुःख को दूर करना चाहिए और सांसारिक क्लेशों से डरना चाहिए ॥१७॥

इसलिए, श्रम-रूपी कुठार से, इस संसार-रूपी वृक्ष को काटो। उसे विपरीत विवाद-रूपी अभिमान के जल का सिंचन न दो ॥१८॥

उस साधु से इस प्रकार कहा गया वह धार्मिक सन्तुष्ट हुआ। उसे प्रणाम करके 'आप मेरे उपदेष्टा गुरु हैं', ऐसा कहकर पीछे की ओर लौट गया ॥१९॥

प्रव्राड्ढसन्स्थितोऽत्रैव तरुमूले तदन्तरात्।
यक्षस्यालापमशृणोत्क्रीडतो भार्यया सह ॥२०॥
कर्णं ददाति यावच्च स प्रव्राट् तावदत्र सः।
यक्षः पुष्पस्रजा भार्यां नर्मणा तामताडयत् ॥२१॥
तावच्च मृतकल्पं सा कृत्वात्मानं शठा मृषा।
तस्थौ तत्परिवारश्च मुक्ताक्रन्दो झगित्यभूत् ॥२२॥
चिराच्चागतजीवेव सा दृशावुदमीलयत्।
किं त्वया दृष्टमिति तां यक्षोऽप्राक्षीत्ततः पतिः ॥२३॥
अथ मिथ्यैव सावोचत् त्वयाहं मालया यदा।
अभ्याहता तदापश्यं कृष्णं पुरुषमागतम् ॥२४॥
पाशहस्तं ज्वलन्नेत्रं प्रांशुमूर्ध्वशिरोरुहम् ।
भयानकं निजच्छायामलिनीकृतदिक्तटम् ॥२५॥
तेन नीताहमभवं दुष्टेन यममन्दिरम्।
त्याजितास्मि च तत्रत्यैस्तं निवार्याधिकारिभिः ॥२६॥
एवं तयोक्ते यक्षिण्या हसन्यक्षो जगाद ताम्।
अहो विनेन्द्रजालेन स्त्रीणां चेष्टा न विद्यते ॥२७॥
को मृत्युः कुसुमाघातादावृत्तिः का यमालयात्।
मूढे पाटलिपुत्रस्त्रीवृत्तान्तोऽनुकृतस्त्वया ॥२८॥
तस्मिन्हि नगरे राजा योऽस्ति सिंहाक्षनामकः।
तद् भार्या मन्त्रिसेनानीपुरोहितभिषग्वधूः ॥२९॥
सहादाय त्रयोदश्यां शुक्लपक्षे कदाचन ।
सनाथीकृततद्देशामागाद्द्रष्टुं सरस्वतीम् ॥३०॥
तत्र तन्मार्गमिलितैः सर्वाः कुब्जान्धपङ्गुभिः।
व्याधितैरित्ययाच्यन्त भूपालप्रमुखाङ्गनाः ॥३१॥
रोगातुराणां दीनानामौषधं नः प्रयच्छत।
येन मुच्यामहे रोगात्कुरुतार्त्तानुकम्पनम् ॥३२॥
समुद्रलहरीलोलो विद्युत्स्फुरितभङ्गुरः।
जीवलोको ह्ययं यात्राद्युत्सवक्षणसुन्दरः ॥३३॥
तदसारेऽत्र संसारे सारं दीनेषु या दया।
कृपणेषु च यद्दानं गुणवान् क्व न जीवति ॥३४॥

और वह हँसता हुआ संन्यासी उसी, वृक्ष के नीचे बैठा रहा और उसने वृक्ष के अन्दर से अपनी स्त्री के साथ विनोद करते हुए उस वृक्ष-निवासी यक्ष की बातचीत सुनी ॥२०॥

साधु ने कान लगाकर सुना कि यक्ष ने हँसी-हँसी में माला से स्त्री को मारा। इतने में ही उस धूर्त्ता स्त्री ने, अपने को झूठे ही मृतवत् बना लिया और उसके परिवार के व्यक्ति, रोते-चिल्लाते हुए स्तब्ध हो गये ॥२१-२२॥

बहुत समय के पश्चात् मानों फिर से जीवन आने पर उसने आँखें खोलीं, तब उसके पति ने उससे पूछा कि तूने इतने समय तक आँखें बन्द करके क्या देखा ? ॥२३॥

तब वह झूठ ही कहने लगी कि 'जब तूने माला से मुझे मारा, तब मैं चेतना-हीन हो गई और मैंने एक काले पुरुष को आये हुए देखा ॥२४॥

वह पुरुष डरावना और लम्बा था, उसके शिर के केश खड़े थे। वह इतना काला था कि उसकी छाया से चारों ओर अँधेरा हो रहा था। उसके हाथ में पाश था और आँखें उसकी जल रही थीं ॥२५॥

उस दुष्ट द्वारा मैं यम के घर ले जाई गई। किन्तु, वहाँ जाने पर उसके अधिकारियों से मैं छुड़ा दी गई' ॥२६॥

यक्षिणी के ऐसा कहने पर यक्ष हँसता हुआ बोला—'आश्चर्य है कि माया के बिना स्त्री की कोई भी चेष्टा नहीं होती ॥२७॥

भला, पुष्पों की मार से कैसी मृत्यु ! और यम-मन्दिर से लौटना कैसा ? अरी मूर्खे, तूने तो पाटलिपुत्र की स्त्रियों का अनुकरण किया ॥२८॥

उस (पाटलिपुत्र) में सिंहाक्ष नाम का जो राजा है, उसकी रानी किसी समय मन्त्री, सेनापति, पुरोहित और वैद्य की पत्नियों के साथ शुक्लपक्ष की त्रयोदशी के दिन, पाटलिपुत्र को अनुगृहीत करनेवाली सरस्वती के दर्शन को गई ॥२९-३०॥

उस यात्रा के मार्ग में बहुत-से, कुबड़े, अन्धे, कोढ़ी और पंगु रोगी भीख माँग रहे थे। उन्होंने उन स्त्रियों से प्रार्थना की कि 'हम रोग से पीड़ित अनाथों को ओषधि दो, जिससे हमलोग इन रोगों से छूट सकें। पीड़ितों और दीनों पर दया करो। हमारी रक्षा करो ॥३१-३२॥

यह संसार, बिजली की चमक के समान, क्षण-भर में नष्ट होनेवाला है और यात्रा, मेला आदि उत्सव भी, क्षण-भर के लिए ही सुन्दर हैं ॥३३॥

इसलिए, संसार में सार यही है कि दीनों पर दया करना और दरिद्रों को दान देना। गुणवान् व्यक्ति कहाँ नहीं सुख भोगता ? ॥३४॥

आढ्यस्य किं च दानेन सुहितस्याशनेन किम् ।
किं चन्दनेन शीतालोः किं घनेन हिमागमे ॥३५॥
तदेतानुद्धरत नः कृपणानामयापदः ।
इत्युक्ता व्याधितैस्तैस्ता नृपभार्यादयोऽब्रुवन् ॥३६॥
सुष्ठूपपन्नं जल्पन्ति कृपणा व्याधिता इमे ।
सर्वस्वेनाप्यतोऽस्माभिः कार्यमेषां चिकित्सितम् ॥३७॥
एवमन्योन्यमालप्य देवीमभ्यर्च्य योषितः ।
व्याधितांस्तान्स्वभवनान्यानिन्युस्ताः पृथक्पृथक् ॥३८॥
स्वभर्तॄन् प्रेर्य तेषां च महासत्त्वान् महौषधैः ।
चिकित्सां कारयामासुर्नोत्तस्थुश्च तदन्तिकात् ॥३९॥
सहवासाच्च तैरेव सङ्गमुद्भूतमन्मथैः ।
तथा ययुस्ताः संसारं तन्मयं ददृशुर्यथा ॥४०॥
क्व रोगिणोऽमी कृपणा भर्त्तारः क्व नृपादयः ।
इति न व्यमृशत्तासां मन्मथान्धीकृतं मनः ॥४१॥
ततश्च ता असम्भाव्यरोगिसम्भोगसम्भवैः ।
नखदन्तक्षतैर्युक्ताः पतयो ददृशुर्निजाः ॥४२॥
ते च भूपालतन्मन्त्रिसेनापतिमुखादयः ।
तदाचख्युः ससन्देहा परस्परमतन्द्रिताः ॥४३॥
ततो राजाऽब्रवीदन्यान्यूयं सम्प्रति तिष्ठत ।
अहमद्य निजां भार्यां तावत्पृच्छामि युक्तितः ॥४४॥
इत्युक्त्वा तान्विसृज्यैव गत्वा वासगृहं च सः ।
प्रदर्शितस्नेहभयो भार्यां पप्रच्छ तां नृपः ॥४५॥
दष्टः केनाधरोऽयं ते क्षतौ केन नखैः स्तनौ ।
सत्यमाख्यासि चेदस्ति श्रेयस्ते नान्यथा पुनः ॥४६॥
इत्युक्त्वा तेन राज्ञा सा राज्ञी कृतकमब्रवीत् ।
अवाच्यमप्यधन्याहं वच्म्याश्चर्यमिदं शृणु ॥४७॥
चित्रभित्तेरितो रात्रौ पुमांश्चक्रगदाधरः ।
निर्गत्यैवोपभुङ्क्ते मां प्रातश्चात्रैव लीयते ॥४८॥
यदङ्गं चन्द्रसूर्याभ्यामपि दृष्टं न जातु मे ।
तत्रेदृगेत्य क्रियते तेनावस्था स्थिते त्वयि ॥४९॥

धनवाले को दान देने से क्या लाभ ? तृप्त को भोजन देने से क्या फल ? शीत से काँपते हुए को चन्दन से क्या लाभ और शीतकाल में वर्षा की क्या आवश्यकता ? ॥३५॥

अतः, हम इन दुःखियों को उद्धार करो। हमारी रोग-रूपी आपत्ति को दूर करो।' उन दुःखियों से इस प्रकार कही गई उन स्त्रियों ने, आपस में कहा—'ये दुःखी ठीक और उचित कह रहे हैं। इसलिए, हम लोगों को अपना सर्वस्व त्याग कर भी इनकी चिकित्सा करनी चाहिए' ॥३६–३७॥

आपस में इस प्रकार विचार कर और सरस्वती देवी की पूजा करके वे स्त्रियाँ उन रोगियों को, अलग-अलग अपने-अपने घरों में ले गईं ॥३८॥

और, सर्वसमर्थ अपने-अपने पतियों को प्रेरित करके उनकी चिकित्सा कराती हुई सदा उनके पास बैठी रहती थीं ॥३९॥

दिन-रात सहवास के कारण उत्पन्न काम-वासना से वे ऐसी हो गईं कि सारे संसार को तन्मय देखने लगीं ॥ ४० ॥

कहाँ ये दरिद्र रोगी, और कहाँ मन्त्री, सेनापति आदि उनके पति, काम-वासना से अन्धा किये हुए उनके मन ने, यह विचार नहीं किया ॥४१॥

तदनन्तर, रोगियों के लिए असंभव संभोग से चिह्नित उन स्त्रियों के शरीरों में, नखक्षत और दन्तक्षत आदि उनके निजी पतियों ने देखे ॥४२॥

तब वे राजा मन्त्री, पुरोहित, वैद्य आदि परस्पर मिलकर बड़ी सावधानी से सन्देह के साथ चर्चा करने लगे ॥४३॥

तब राजा ने दूसरों से कहा—'अभी आपलोग ठहरिए। आज मैं युक्ति से अपनी स्त्री से पूछता हूँ' ॥४४॥

ऐसा कहकर उन सब को विदा करके, अपने वास-भवन में जाकर स्नेह और भय दिखाकर राजा ने रानी से पूछा—॥४५॥

'यह तुम्हारे ओठ को किसने काटा। तुम्हारे स्तनों को नखों से किसने क्षत किया। यदि सच कहती है, तो ठीक है, अन्यथा तेरा कल्याण नहीं' ॥४६॥

राजा से इस प्रकार कही गई रानी ने झूठी बात बनाकर कहा—'बात तो कहने योग्य नहीं है, फिर भी मैं धन्य हूँ कि तुम्हें आश्चर्य की बात कहती हूँ, सुनो ॥४७॥

यह सामने दीखती हुई चित्र की दीवार से रात को हाथ में गदा लिये हुए एक पुरुष निकल कर मेरा उपभोग करता है और प्रातःकाल उसी दीवार में विलीन हो जाता है। मेरे जिस अंग को कभी सूर्य और चन्द्र ने भी नहीं देखा, वहाँ वह पुरुष, तुम्हारे रहते हुए भी, मेरे साथ ऐसा कार्य करता है ॥४८–४९॥

एतत्तस्याः सदुःखाया इव श्रुत्वा वचो नृपः।
प्रत्येति स्म तथा मूर्खो मायामाशङ्क्य वैष्णवीम् ॥५०॥
शशंस मन्त्र्यादिभ्यश्च तेभ्यस्तेऽपि तथा जडाः।
मत्वाच्युतोपभुक्तास्ता भार्यास्तूष्णीं किलाभवन् ॥५१॥
इत्यसत्यैकरचनाचतुराः कुस्त्रियः शठाः।
वञ्चयन्ते जडमतीन्नाहं मूर्खस्तु तादृशः ॥५२॥
इति यक्षो ब्रुवन्भार्यां स विलक्षीचकार ताम्।
तच्च प्रव्राजकोऽश्रौषीत् सर्वं तरुतले स्थितः ॥५३॥
ततः कृताञ्जलिर्यक्षं तं स प्रव्राड् व्यजिज्ञपत्।
भगवन्नाश्रमप्राप्तस्तवाहं शरणागतः ॥५४॥
तत्क्षमस्वापराधं मे त्वद्वचो यन्मया श्रुतम्।
इत्युक्तः सत्यवचनात्तस्य यक्षस्तुतोष सः ॥५५॥
सर्वस्थानगताख्योऽहं यक्षस्तुष्टस्तवास्मि च।
गृहाण वरमित्यूचे प्रव्राड् यक्षेण तेन सः ॥५६॥
मन्युमस्यां स्वभार्यायां मा कृथा एष एव मे।
वरोऽस्त्विति तमाह स्म स प्रव्राडपि गुह्यकम् ॥५७॥
ततः स यक्षोऽवादीत्तं तुष्टोऽस्मि सुतरां तव।
तदेष ते वरो दत्तो मयान्यः प्रार्थ्यतामिति ॥५८॥
ततः प्रव्राजकोऽवादीत्तर्ह्ययं मेऽपरो वरः।
अद्यप्रभृति पुत्रं मां जानीतं दम्पती युवाम् ॥५९॥
श्रुत्वैतत् स सभार्योऽपि प्रत्यक्षीभूय तत्क्षणम्।
यक्षस्तमब्रवीद् बाढं पुत्र पुत्रस्त्वमावयोः ॥६०॥
अस्मत्प्रसादान्न च ते भविष्यति विपत् क्वचित्।
विवादे कलहे द्यूते विजयी च भविष्यसि ॥६१॥
इत्युक्त्वान्तर्हितं यक्षं तं प्रणम्यातिवाह्य च।
रात्रिमत्राययौ प्रव्राट् स तं पाटलिपुत्रकम् ॥६२॥
तत्र द्वाःस्थमुखेनान्तस्तस्मै सिंहाक्षभूभृते।
कश्मीरागतमात्मानमाख्याति स्म स वादिनम् ॥६३॥
अनुज्ञातप्रवेशश्च तेनास्थाने महीभुजा।
प्रविश्यात्र स्थितान् वादायाचिक्षेप स पण्डितान् ॥६४॥

इस प्रकार मानों दुःख से कहती हुई रानी की बात सुनकर उस मूर्ख राजा ने उसे विष्णु भगवान् की माया मानकर विश्वास कर लिया ॥५०॥

और मन्त्री, सेनापति आदि की स्त्रियों ने भी, अपने-अपने पतियों से इसी प्रकार कहा और उन लोगों ने भी उन्हें भगवान् की भोगी हुई जानकर शान्ति प्राप्त की ॥५१॥

'इस प्रकार वे दुष्ट स्त्रियाँ, झूठी बात बनाने में चतुर होती हैं और अपने-अपने पुरुषों को ठग लेती हैं; किन्तु मैं ऐसा मूर्ख नहीं' ॥५२॥

यक्ष ने, इस प्रकार अपनी पत्नी कहकर उसे हतप्रभ कर दिया। उस संन्यासी ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए उनकी सभी बातें सुन लीं। तब संन्यासी ने हाथ जोड़कर यक्ष से निवेदन किया कि 'हे भगवन्! मैं सन्यासी आपकी शरण में हूँ। आपकी बात मैंने (चुपके-से) सुनली, इसके लिए क्षमा करें।' सन्यासी के ऐसा कहने पर सच बोलने के कारण यक्ष उस पर प्रसन्न हो गया ॥५३—५५॥

और बोला—'मैं सर्वस्थानगत नाम का यक्ष हूँ, तुम्हारे लिए प्रसन्न हूँ। तू मुझसे वर माँग' ॥५६॥

उस साधु ने भी कहा—'तुम अपनी पत्नी पर व्यर्थ क्रोध न करना, यही मेरा वर है' ॥५७॥

तब वह यक्ष बोला—'मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। इसलिए, मैंने तुम्हें यह वर दिया और दूसरा वर फिर माँगो' ॥५८॥

तब प्रव्राजक (साधु) बोला—'आज से तुम दोनों स्त्री-पुरुष, मुझे अपना पुत्र मानो' ॥५९॥

यह सुनकर वह यक्ष स्त्री के साथ प्रत्यक्ष हुआ और बोला—'पुत्र, तुम हम दोनों के पुत्र हो ॥६०॥

हमारी कृपा से तुझे कहीं भी और कभी कष्ट न होगा। शास्त्रार्थ में, झगड़े में और जूए में तू सदा विजयी रहेगा' ॥६१॥

ऐसा कहकर अन्तर्धान हुए यक्ष को प्रणाम करके और रात्रि व्यतीत करके वह संन्यासी पाटलिपुत्र को गया ॥६२॥

वहाँ जाकर उसने द्वारपाल द्वारा राजा सिंहाक्ष को कश्मीर से आया हुआ शास्त्रार्थी बताकर सूचित करा दिया ॥६३॥

तब राजा के द्वारा बुलाये जाने पर सभा में जाकर उसने वहाँ के राजपंडितों को शास्त्र-चर्चा के लिए ललकारा ॥६४॥

जित्वा वादेन तान्यक्षवरमाहात्म्यतोऽखिलान्।
राजाग्रे स पुनस्तेषां चकाराक्षेपमीदृशम् ॥६५॥
चित्रभित्तेर्विनिर्गत्य गदाचक्रधरः पुमान्।
दष्टाधरौष्ठीं दशनैः क्षतस्तनतटां नखैः ॥६६॥
कृत्वोपभुज्य रात्रौ मां तद् भित्तावेव लीयते।
एतत्किमिति वः पृच्छाम्युत्तरं मेऽत्रदीयताम् ॥६७॥
एतच्छ्रुत्वा वचो नात्र बुधाः प्रतिवचो ददुः।
परमार्थमजानाना अन्योन्याननदर्शिनः ॥६८॥
ततो राजा स सिंहाक्षः स्वयमेव तमब्रवीत्।
यदेतदुक्तं भवता तदाचक्ष्व त्वमेव नः ॥६९॥
एतच्छ्रुत्वा स राज्ञेऽस्मै प्रव्राट् सर्वं शशंस तत्।
तद् भार्याव्याजचरितं यक्षादश्रावि तेन यत् ॥७०॥
न तत्कुर्यादभिष्वङ्गं पापज्ञप्त्येकहेतवे।
स्त्रीभिः कदाचन जनस्तमित्यूचे नृपं च सः ॥७१॥
तुष्टस्तस्मै निजं राज्यं राजा दातुमियेष सः।
स तु स्वदेशैकरतः प्रव्राट् तन्नाग्रहीद्यदा ॥७२॥
तदा सम्मानयामास राजा रत्नोत्करेण तम्।
आत्तरत्नः स कश्मीरान् प्रव्राट् स्वं देशमागमत् ॥७३॥
तत्र यक्षप्रसादेन स निर्दैन्यः सुखं स्थितः।
इत्याख्याय स शिष्यस्तं महामुनिमभाषत ॥७४॥
अहं प्रव्राजकात्तस्मादेवं तच्छ्रुत्वानिति।
ततः स विस्मितः सान्यशिष्यश्चिरमभून्मुनिः ॥७५॥
इत्युक्त्वा गोमुखो भूयो वत्सेशात्मजमब्रवीत्।
एवमेतानि कुस्त्रीणां चेष्टितानि च वेधसः ॥७६॥
विचित्राणि सदा देव लोकस्य चरितानि च।
इयं च श्रूयतामन्या नार्येकादशमारिका ॥७७॥
ग्रामवासी पुमानासीत् कुटुम्बी कोऽपि मालवे।
तस्योदपादि दुहिता द्वित्रिपुत्रकनीयसी ॥७८॥
तस्यां च जातमात्रायां भार्या तस्य व्यपद्यत।
ततोऽल्पैर्दिवसैस्तस्य पुत्र एको व्यपादि च ॥७९॥

वहाँ यक्ष के वर के प्रभाव से उसने, पंडितों को जीतकर राजा के सामने फिर यह प्रश्न किया—॥६५॥

'चित्रवाली दीवार से निकलकर गदा और चक्र लिये हुए पुरुष दाँतों से अधरोष्ठ में और नखों से स्तनों में क्षत करके स्त्रियों का उपभोग करता है और फिर उसी दीवार में लीन हो जाता है, यह क्या है ? इसका उत्तर दीजिए' ॥६६-६७॥

उसके इस वचन को सुनकर पंडित इसका उत्तर न दे सके और वास्तविक रहस्य को न जानते हुए एक दूसरे का मुँह ताकने लगे ॥६८॥

तब राजा सिंहाक्ष ने संन्यासी से कहा—'आपने यह जो भी कुछ कहा है, इसका स्पष्टीकरण आप ही करें' ॥६९॥

यह सुनकर, उस परिव्राजक ने, रानी के सभी कपट-चरित्र को, राजा से कह सुनाया, जो उसने यक्ष से सुना था ॥७०॥

और राजा से कहा कि पापों के प्रचार के मूल कारण स्त्रियों पर कभी विश्वास न करना चाहिए। तब प्रसन्न होकर राजा ने, उस साधु को अपना राज्य देना चाहा। परन्तु, अपने देश से प्रेम करनेवाले साधु ने राज्य नहीं लिया ॥७१-७२॥

तब राजा ने, उसे रत्नों से सम्मानित किया। वह साधु भी रत्नों को लेकर अपने देश कश्मीर आ गया ॥७३॥

वहाँ वह यक्ष की कृपा से दीनता-रहित होकर सुखपूर्वक रहने लगा। वह शिष्य इस प्रकार अपनी सुनी कथा सुनाकर उस महामुनि से बोला—॥७४॥

मैंने उसी परिव्राजक (साधु) से यह नई कथा सुनी है। तब वह मुनि अन्य शिष्यों के साथ चिरकाल तक आश्चर्य-चकित रहा ॥७५॥

गोमुख ने ऐसा कहकर वत्सराज के पुत्र से फिर कहा—'महाराज, इस प्रकार स्त्रियों के, विधाता के और संसार के चरित्र विचित्र होते हैं' अब ग्यारह पतियों को मारनेवाली एक स्त्री की कथा सुनो। ॥७६-७७॥

मालवा देश में, ग्राम का रहनेवाला एक गृहस्थ था। उसे दो-तीन पुत्रों के बाद एक कन्या उत्पन्न हुई। उस कन्या के उत्पन्न होते ही उस गृहस्थ की पत्नी (कन्या की माँ) मर गई। उसके कुछ ही दिनों बाद उसका एक पुत्र मर गया ॥७८-७९॥

तस्मिन् विपन्ने भ्रातास्य वृषशृङ्गहतो मृतः।
सोऽथ कन्यां कुटुम्बी तां नाम्ना चक्रे त्रिमारिकाम् ॥८०॥
त्रयोऽनया लक्षणया जातया मारिता इति।
कालेन यौवनस्थां तां पितुस्तस्मादयाचत ॥८१॥
त्रिमारिकामाढ्यपुत्रः कश्चित्तद्ग्रामसम्भवः।
पिता च तस्मै प्रादात्तां स यथावत्कृतोत्सवः ॥८२॥
तेन भर्त्रा सहारंस्त कालं कमपि तत्र सा।
अचिराच्च ततस्तस्याः स भर्त्ता पञ्चतामगात् ॥८३॥
दिवसैरेव सा चान्यं चपला पतिमग्रहीत्।
सोऽप्यल्पेनैव कालेन विपत्तिं प्राप तत्पतिः ॥८४॥
ततः सा यौवनोन्मत्ता तृतीयं पतिमाददे।
सोऽपि तस्या विपन्नोऽभूत्पतिघ्न्याः पतिरन्यवत् ॥८५॥
एवं क्रमेण पतयो दश तस्या विपेदिरे।
ततो हास्येन सा नाम्ना पप्रथे दशमारिका ॥८६॥[1]
अथान्यभर्तृस्वीकारात्पित्रा ह्रीतेन वारिता।
सा वर्ज्यमाना च जनैस्तस्थौ तस्य पितुर्गृहे ॥८७॥
एकदा च विवेशात्र पान्थो भव्याकृतिर्युवा।
एकरात्रिनिवासार्थं तत्पित्रानुमतोऽतिथिः ॥८८॥
तं दृष्ट्वा तद्गतमनाः साभवद्दशमारिका।
पान्थोऽपि तरुणीं दृष्ट्वा सोऽभूत्तदभिलाषुकः ॥८९॥
ततः सा मारमुषितत्रपा पितरमभ्यधात्।
एकमेतमहं तात वृणोमि पथिकं पतिम् ॥९०॥
विपत्स्यते चेदेषोऽपि ग्रहीष्यामि ततो व्रतम्।
एवं शृण्वति पान्थे तां ब्रुवतीं स पिताब्रवीत् ॥९१॥
मा पुत्रि लज्जा महती दश ते पतयो मृता।
तदेतस्मिन्नपि मृते हसिष्यतितरां जनः ॥९२॥
तच्छ्रुत्वैव त्रपां त्यक्त्वा पथिकोऽपि जगाद सः।
नाऽहं म्रिये दश मृताः क्रमाद्भार्या ममापि हि ॥९३॥
समावावां शपाम्यत्र पादस्पर्शेन धूर्जटेः।
इत्युक्ते तेन पान्थेन नाचित्रीयत तत्र कः ॥९४॥

---

१. अस्मादग्रे पुस्तकान्तरे 'डाकिनी भर्तृभक्षेयमिति लोकोऽब्रवीच्च ताम्' इतिपद्यार्धमधिकमस्ति।

उस पुत्र के मरने के बाद ही उसका और एक भाई बैल के सींग के आघात से मारा गया। तब पिता ने उस कन्या का नाम 'त्रिमारिका' रख दिया ॥८०॥

इसलिए कि उस कुलक्षणा ने, उत्पन्न होते ही घर के तीन व्यक्ति मार दिये। क्रमशः युवावस्था में आने पर उसी गाँव में उत्पन्न हुए किसी धनवान् ने उसके पिता से त्रिमारिका को माँगा। पिता ने भी विधिपूर्वक विवाहोत्सव करके कन्या उसे दे दी ॥८१-८२॥

वह कन्या कुछ दिनों तक उस पति के साथ रही। तदनन्तर, कुछ ही दिनों के पश्चात् उसका पति मर गया ॥८३॥

उसके कुछ ही दिनों के उपरान्त उस चंचला ने दूसरा पति कर लिया। किन्तु कुछ ही समय बाद वह भी मर गया ॥८४॥

तब जवानी से उन्मत्त उसने, तीसरा पति कर लिया; किन्तु उस पति-घातिनी का वह पति भी, पहले पतियों के समान ही मर गया ॥८५॥

इस प्रकार उसके क्रमशः दस पति मर गये। तब लोगों ने हँसी-हँसी में उसका नाम 'दश-मारिका' रख दिया और इसी नाम से प्रसिद्ध कर दिया ॥८६॥

तदनन्तर, नया पति करने के लिए लज्जित पिता ने, उसे रोक दिया। तब अन्यान्य लोगों से भी इसी प्रकार मना की गई वह अपने पिता के घर पर ही रहने लगी ॥८७॥

एक बार उस घर में उसके पिता की अनुमति से एक युवा पथिक आकर एक रात्रि के लिए ठहर गया ॥८८॥

उसे देखकर वह दशमारिका उस पर मुग्ध हो गई और वह पथिक भी उस युवती को देखकर उसे चाहने लगा ॥८९॥

तब कामदेव से नष्ट लज्जावाली वह कन्या, अपने पिता से बोली—'पिता, मैं एक और इसको अपने लिए पति के रूप में वर लेती हूँ ॥९०॥

यदि यह भी मर गया, तो मैं व्रत ले लूँगी।' पथिक के सुनते रहने पर इस प्रकार कहती हुई कन्या से उसका पिता बोला ॥९१॥

'बेटी, ऐसा न करो। यह बहुत लज्जा की बात है। तेरे दस पति मर चुके हैं। अब इसके भी मरने पर लोग अत्यधिक हँसी करेंगे' ॥९२॥

यह सुनकर पथिक भी लाज छोड़कर बोला—'मैं नहीं मरूँगा। क्रम से मेरी भी दस स्त्रियाँ मर चुकी हैं। हम दोनों बराबर हैं। मैं शिवजी के चरणों की शपथ लेता हूँ।' उस पथिक के इस प्रकार कहने पर कौन आश्चर्य-चकित नहीं हुआ? ॥९३-९४॥

बुद्ध्वा च मिलितैर्ग्राम्यैर्दत्तानुमतया तया।
दशमारिकया सोऽथ पथिको जगृहे पतिः ॥९५॥
तेन साकं च यावत् सा कालं कमपि तिष्ठति।
तावच्छीतज्वराक्रान्तः सोऽपि तस्याः क्षयं ययौ ॥९६॥
ततः सा हासिनी ग्राव्णामप्येकादशमारिका।
विग्ना गङ्गातटं गत्वा प्रव्रज्यामेव शिश्रिये ॥९७॥
इत्युक्त्वा हसितं वत्सराजपुत्रं स गोमुखः।
भूयोऽब्रवीत् कथामन्यां शृण्विमां दान्तजीविनः ॥९८॥
पुमान् कश्चिद्दरिद्रोऽभूद् ग्रामे क्वापि कुटुम्बवान्।
एक एव बलीवर्दस्तस्य चाभूद् गृहे धनम् ॥९९॥
स निःसत्त्वोऽशनाभावात् सीदत्यपि कुटुम्बके।
सोपवासोऽपि तं दान्तं व्यक्रीणीत न लोभतः ॥१००॥
गत्वा तु विन्ध्यवासिन्याः पुरतो दर्भसंस्तरे।
पतित्वा स तपश्चक्रे निराहारोऽर्थकाम्यया ॥१०१॥
उत्तिष्ठैको बलीवर्दः सर्वदा धनमस्ति ते।
अतस्तमेव विक्रीय जीविष्यसि सदा सुखम् ॥१०२॥
इत्यादिष्टस्तया स्वप्ने देव्या प्रातः प्रबुध्य सः।
उत्थाय पारणं किञ्चित् कृत्वा स्वगृहमाययौ ॥१०३॥
एत्याप्यधीरो विक्रेतुं नोक्षाणं तं शशाक सः।
विक्रीतेऽस्मिन्नहं निःस्वो नैव वर्त्तेय जात्विति ॥१०४॥
अथ तं कथितस्वप्नदेव्यादेशं प्रसङ्गतः।
उपवासकृशं कश्चिदुवाच सुमतिः सुहृत् ॥१०५॥
एक एवास्ति दान्तस्ते तं त्वं विक्रीय सर्वदा।
जीविष्यसीति देव्योक्तं तज्ज्ञातं मूढ न त्वया ॥१०६॥
तद्विक्रीयैतमुक्षाणं निर्वाहय कुटुम्बकम्।
ततो भविष्यत्यन्यस्ते ततश्चान्यस्ततोऽपरः ॥१०७॥
इत्युक्तस्तेन मित्रेण ग्रामीणः स तथाकरोत्।
एकैकवृषपण्याच्च जिजीव सततं सुखी ॥१०८॥
एवं फलति सर्वस्य विधिः सत्त्वानुसारतः।
तत्सुसत्त्वो भवेत् सत्त्वहीनं न वृणुते श्रियः ॥१०९॥

यह जानकर गाँव के पंचों ने मिलकर सम्मति प्रदान की और दशमारिका ने उस पथिक को ग्यारहवाँ पति बना लिया ॥९५॥

जब वह स्त्री, कुछ समय तक ही उस पति के साथ रही थी कि उसे शीतज्वर का आक्रमण हो गया और वह उसका ग्यारहवाँ पति भी मर गया ॥९६॥

तब पत्थरों को भी हँसानेवाली उस एकादशमारिका ने गंगातट पर जाकर संन्यास ले लिया ॥९७॥

यह कथा सुनकर हँसते हुए नरवाहनदत्त ने गोमुख ने फिर कहा—'अब बैल से जीवन-निर्वाह करनेवाले की कथा सुनो॥९८॥

किसी गाँव में एक निर्धन कुटुम्बी पुरुष रहता था। उसके घर में एकमात्र एक बैल ही उसका धन था॥९९॥

धनहीन वह सारे कुटुम्ब के और स्वयं भी भोजन विना उपवास करने पर भी लोभ से उस बैल को बेचता न था ॥१००॥

अन्त में दु:खी होकर वह विन्ध्यवासिनी देवी के सामने जाकर, कुश के आसन पर बैठकर धन की कामना से निराहार तप करने लगा ॥१०१॥

'उठ, तेरे भाग्य में सदा एक बैल ही धन है। इसलिए, उसे बेचकर तू सदा सुख से जीवन व्यतीत करेगा' ॥१०२॥

देवी से स्वप्न में इस प्रकार आदेश दिया गया वह प्रात:काल ही उठकर व्रत का पारण करके अपने घर चला गया ॥१०३॥

घर आकर भी, वह अधीर, उस बैल को इसलिए न बेच सका कि इसे बेच देने पर सर्वथा निर्धन होकर मैं कैसे जी सकूँगा ॥१०४॥

तदनन्तर, बातचीत के प्रसंग में स्वप्न में दिये हुए देवी के आदेश को अपने बुद्धिमान् मित्र से कहा। तब उपवास से दुर्बल उससे उसके मित्र ने कहा—॥१०५॥

'अरे मूर्ख, तेरे भाग्य में एक ही बैल है। उसे बेचकर तू सदा जीवित रहेगा। देवी के इस आदेश को तूने नहीं समझा' ॥१०६॥

तू इस बैल को बेचकर अपने कुटुम्ब का पालन कर। तब दूसरा बैल होगा। उसे बेचने पर तीसरा' ॥१०७॥

उस मित्र से इस प्रकार कहे गये उस गँवार ने वैसा ही किया। तदनन्तर, एक-एक बैल को बेच-बेचकर वह सुखपूर्वक रहने लगा ॥१०८॥

इस प्रकार, व्यक्तित्व के अनुसार दैव सबको फल देता है। इसलिए, मनुष्य में अच्छा व्यक्तित्व होना चाहिए। सत्त्वहीन पुरुष को लक्ष्मी वरण नहीं करती ॥१०९॥

शृणुतान्यां कथां चेमां धूर्तस्यालीकमन्त्रिणः।
आसीत् पृथ्वीपतिर्नाम नगरे दक्षिणापथे॥११०॥
तद्राष्ट्रे कोऽप्यभूद्धूर्तः परवञ्चनजीविकः।
स चैकदा महेच्छत्वादसन्तुष्टो व्यचिन्तयत्॥१११॥
धूर्तत्वेनेदृशा किं मे यदाहारादिमात्रकृत्।
प्राप्यते महती येन श्रीस्तादृङ न करोमि किम्॥११२॥
इत्यालोच्य वणिग्वेषमत्युदारं विधाय सः।
उपासर्पत्प्रतीहारं गत्वा द्वारं महीपतेः॥११३॥
तन्मुखेन प्रविश्यान्तः प्राभृतं चोपनीय सः।
एकान्ते मेऽस्ति विज्ञप्तिरिति व्यज्ञापयन्नृपम्॥११४॥
राज्ञापि वेषभ्रान्तेन प्राभृतावर्जितेन च।
तथेति रचितैकान्तस्तमेवं स व्यजिज्ञपत्॥११५॥
दिने दिने मया साकमास्थाने सर्वसन्निधौ।
भूत्वैकान्ते कथालापं क्षणमेकं कुरु प्रभो॥११६॥
तावताहं प्रतिदिनं दीनारशतपञ्चकम्।
ददाम्युपायनं देवस्यार्थये न तु किञ्चन॥११७॥
तच्छ्रुत्वाचिन्तयद्राजा को दोषः किमयं मम।
गृहीत्वा याति दीनारान् ददाति प्रत्युतान्वहम्॥११८॥
महता वणिजा सार्धं कथालापेन का त्रपा।
इति स प्रतिपद्यैतद्राजा तस्य तथाकरोत्॥११९॥
सोऽपि तस्मै ददौ राज्ञे दीनारांस्तान्यथोदितान्।
लोकस्तं च महामन्त्रिपदं प्राप्तममन्यत॥१२०॥
एकस्मिंश्च दिने धूर्तो मुहुः पश्यन्नियोगिनः।
साकूतं मुखमेकस्य चक्रे राज्ञा समं कथाम्॥१२१॥
निर्गतश्च बहिस्तेन मुखालोकनकारणम्।
एत्याधिकारिणा पृष्टः स स्वैरं तं मृषावदत्॥१२२॥
देशो मे लुण्ठितोऽनेनेत्येवं ते कुपितो नृपः।
मयातस्ते मुखं दृष्टं शमयिष्याम्यहं च तम्॥१२३॥
इत्युक्तस्तेन सोऽलीकमन्त्रिणा सभयो गृहम्।
आगत्याधिकृतः स्वर्णसहस्रं तस्य दत्तवान्॥१२४॥

एक धूर्त और झूठे मन्त्री की कथा सुनो। दक्षिणापथ के एक नगर में पृथ्वीपति नाम का एक राजा था। उसके राष्ट्र में दूसरों को ठगने की जीविका करनेवाला कोई धूर्त रहता था। वह बहुत महत्त्वाकांक्षी होने के कारण एक बार असन्तुष्ट होकर सोचने लगा कि मेरी ऐसी धूर्त्तता से क्या लाभ कि जिससे केवल भोजन आदि का ही काम चल सके, जिससे अधिक-से-अधिक धन न कमाया जाय ? ॥११०—११२॥

ऐसा सोचकर और बहुत उत्तम वणिक्-वेष धारण करके वह धूर्त राजा के द्वार पर जाकर द्वारपाल से मिला। उसके द्वारा अन्दर प्रवेश पाकर और राजा से भेंट करके वह बोला—'महाराज, मैं एकान्त में आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। उसके बहुमूल्य वेष से प्रभावित और भेंट से आकृष्ट राजा ने, सबको हटाकर एकान्त किया। तब उस धूर्त ने राजा से इस प्रकार कहा ॥११३—११५॥

'आप प्रतिदिन, सभा में एकान्त करके एक क्षण के लिए गुप्त बातचीत किया कीजिए ॥११६॥

इसके लिए मैं आपको प्रतिदिन पाँच सौ दीनार भेंट किया करूँगा। बस, इतनी ही प्रार्थना है। और कुछ नहीं' ॥११७॥

यह सुनकर उस राजा ने सोचा—'इसमें क्या हानि है ? यह मेरा कुछ ले तो जायगा नहीं, बल्कि प्रतिदिन पाँच सौ दीनार ही देगा ॥११८॥

इस बड़े धनी बनिये के साथ वार्त्तालाप करने में लाज भी क्या ?' इसलिए, राजा ने उसे स्वीकार कर वैसा ही करना प्रारम्भ कर दिया ॥११९॥

वह धूर्त भी, अपने कथनानुसार पाँच सौ दीनार राजा को प्रति दिन देने लगा और राज्य के लोगों ने, उसे राज्य के महामन्त्री पद पर प्रतिष्ठित समझ लिया ॥१२०॥

एक दिन, उस धूर्त ने किसी अधिकारी की ओर भेद-भरी दृष्टि डालकर राजा से बातचीत करनी प्रारम्भ की ॥१२१॥

बाहर निकलने पर उस अधिकारी से उससे अपने मुँह की ओर देखने का कारण पूछा, तो उसने उससे सरासर झूठी बातें कह दीं ॥१२२॥

'इसने मेरे राज्य को लूट लिया, यह समझकर राजा तुझ पर क्रुद्ध है। इसलिए, मैंने तेरा मुँह देखा। अब मैं राजा को समझाकर शान्त कर दूँगा' ॥१२३॥

उस झूठे मन्त्री से इस प्रकार छले गये और डरे हुए अधिकारी ने, उसके घर पर आकर एक हजार दीनार उसे भेंट किये (घूस में दिये) ॥१२४॥

अन्येद्युश्च समं राज्ञा कथां कृत्वा तथैव सः।
निर्गत्य धूर्त्तोऽवादीत्तं नियोगिनमुपागतम् ॥१२५॥
युक्तियुक्तैर्मया वाक्यैस्तव राजा प्रसादितः।
धीरो भवाधुनाहं ते सर्वच्छिद्रेषु रक्षकः ॥१२६॥
इति स्वीकृत्य तं युक्त्या विससर्ज च सोऽपि तम्।
अधिकारी सदा तैस्तैरुपचारैरुपाचरत् ॥१२७॥
एवं क्रमेण सर्वेभ्यो नियोगिभ्यः स बुद्धिमान्।
राजभ्यो राजपुत्रेभ्यः सेवकेभ्यश्च युक्तिभिः ॥१२८॥
बह्वीभिराददानोऽर्थानर्जयामास सर्वतः।
पञ्च कोटीः सुवर्णस्य कुर्वन् राजा समं कथाः ॥१२९॥
ततो रहसि राजानं धूर्त्तमन्त्री जगाद सः।
देव दत्त्वापि नित्यं ते दीनारशतपञ्चकम् ॥१३०॥
त्वत्प्रसादान्मया प्राप्ताः पञ्च काञ्चनकोटयः।
तत्प्रसीद गृहाणैतत् स्वं स्वर्णमहमत्र कः ॥१३१॥
इत्युक्त्वा प्रकटं राज्ञे कनकं तन्न्यवेदयत्।
राजापि कृच्छ्रात्तत्तस्य जग्राहार्धं ततो धनात् ॥१३२॥
तुष्टस्य स्थापयामास महामन्त्रिपदे स तम्।
सोऽपि प्राप्य श्रियं धूर्त्तो दानभोगैरमानयत् ॥१३३॥
एवं प्राप्नोति महतः प्राज्ञोऽर्थान्नातिपापतः।
कूपखानकवत्प्राप्ते फले दोषं निहन्ति च ॥१३४॥
इत्युक्त्वा गोमुखः प्राह वत्सराजसुतं पुनः।
एकामिदानीमुद्वाहसोत्सुकः शृण्विमां कथाम् ॥१३५॥
बभूव दुर्मदारातिकरीन्द्रकुलकेसरी।
रत्नाकराख्ये नगरे नाम्ना बुद्धिप्रभो नृपः ॥१३६॥
रत्नरेखाभिधानायां राज्ञ्यां तस्योदपद्यत।
कन्या हेमप्रभा नाम सर्वलोकैकसुन्दरी ॥१३७॥
सा च विद्याधरी शापादवतीर्णा यदा तदा।
नभोविहारसंस्कारमदाच्चिक्रीड दोलया ॥१३८॥
पातभीत्या निषिद्धापि सा ततो न चचाल यत्।
तत्तस्याः स पिता राजा चपेटं कुपितो ददौ ॥१३९॥

दूसरे दिन, उसी प्रकार राजा से बातचीत करके और बाहर निकलकर वहाँ आये हुए उस अधिकारी से धूर्त्त ने कहा—'मैंने युक्तिपूर्ण बातों से राजा को तुम पर प्रसन्न कर दिया है। अब घबराओ नहीं, धीरज रखो। अब मैं तुम्हारी त्रुटियों (अपराधों) का रक्षक हूँ' ॥१२५–१२६॥

इस प्रकार स्वीकार कर उसे विदा किया और उस अधिकारी ने भी विविध प्रकार से उसकी सेवा की ॥१२७॥

इस प्रकार, उस चतुर धूर्त्त ने, सभी अधिकारियों, सामन्तों, राजपुत्रों और सेवकों से भिन्न-भिन्न युक्तियों द्वारा सभी ओर से राजा से बातें करते हुए पाँच करोड़ दीनार कमा लिये ॥१२८–१२९॥

तब एकबार एकान्त में वह धूर्त्त मन्त्री राजा से बोला—'स्वामिन् ! आपको पाँच सौ दीनार प्रतिदिन देकर भी मैंने तुम्हारी कृपा से पाँच करोड़ दीनार कमा लिये। इसलिए, यह सोना आप ले लो। इसमें मेरा क्या है ? ऐसा कहकर उसने सोना, राजा के सामने रख दिया। राजा ने भी बड़ी कठिनाई से उसमें से आधा ही धन लिया ॥१३०–१३२॥

और, उससे प्रसन्न होकर उसे महामन्त्री बना दिया। उस धूर्त्त ने भी धन पाकर दान और भोग में उसका उपयोग किया।१३३॥

इस प्रकार, बुद्धिमान् व्यक्ति अधिक पाप किये बिना भी, धन प्राप्त कर लेते हैं। जिस प्रकार, कुँआ खोदनेवाले को फल की प्राप्ति (जल-लाभ) भी होती है और उसे दोष भी नहीं लगता है ॥१३४॥

मंत्री गोमुख राजकुमार को इस प्रकार कथा सुनाकर बोला—'अब विवाह के लिए उत्सुक दूसरी कथा सुनो ॥१३५॥

रत्नाकर नाम के नगर में बुद्धिप्रभ नाम का एक राजा था, जो मदोन्मत्त शत्रु-रूपी हाथियों के लिए सिंह के समान था ॥१३६॥

उसकी रत्नरेखा नाम की रानी में हेमप्रभा नाम की कन्या उत्पन्न हुई। वह कन्या, सारे संसार में एकमात्र सुन्दरी थी और शाप के कारण मर्त्यलोक में अवतीर्ण विद्याधरी थी। वह आकाश में विहार करने के पूर्व-संस्कार के कारण झूला झूलने में बहुत रुचि रखती थी ॥१३७–१३८॥

पिता ने गिर जाने के भय से उसे अनेक बार मना किया, किन्तु वह न मानी। तब उसके पिता राजा ने, उसे एक बार एक चाँटा मार दिया ॥१३९॥

तावता सावमानेन राजपुत्री वनैषिणी।
विहारव्यपदेशेन जगामोपवनं बहिः ॥१४०॥
पानमत्तेषु भृत्येषु सञ्चरन्ती च तत्र सा।
प्रविश्य वृक्षगहनं तेषां दृष्टिपथाद्ययौ ॥१४१॥
गत्वा चैकाकिनी दूरं वनं विरचितोटजा।
फलमूलाशिनी तस्थौ हराराधनतत्परा ॥१४२॥
तत्पितापि स राजा तां बुद्ध्वा क्वापि ततो गताम्।
अन्वियेष न च प्राप महादुःखमुवाह च ॥१४३॥
चिरात् किञ्चित्तनूभूतदुःखश्चित्तं विनोदयन्।
बुद्धिप्रभः स निरगान्मृगयायै महीपतिः ॥१४४॥
भ्रमंश्च दैवात्तत्प्राप सुदूरं स वनान्तरम्।
तपस्यन्ती सुता सास्य यत्र हेमप्रभा स्थिता ॥१४५॥
उटजं तत्र दृष्ट्वा स राजाभ्येत्य तदन्तरे।
अशङ्कितं तपःक्षामां तां ददर्श निजां सुताम् ॥१४६॥
सापि दृष्ट्वा तमुत्थाय पादयोः सहसाग्रहीत्।
आलिङ्ग्य स पिता तां च साश्रुरङ्के न्यवेशयत् ॥१४७॥
तौ चान्योन्यं चिराद्दृष्ट्वा तथा रुरुदतुस्ततः।
उदश्रवो यथा तत्र वनेऽभूवन् मृगा अपि ॥१४८॥
ततः शनैः समाश्वास्य राजावोचत् स तां सुताम्।
त्यक्त्वा राजश्रियं पुत्रि किमिदं विहितं त्वया ॥१४९॥
तदेहि जननीपार्श्वं वनवासमिमं त्यज।
इत्यूचिवांसं जनकं सा तं हेमप्रभाभ्यधात् ॥१५०॥
दैवेनैव नियुक्तास्मि शक्तिस्तात ममात्र का।
न चैष्यामि गृहं भोक्तुं न त्यजामि तपःसुखम् ॥१५१॥
इति ब्रुवाणा सा तस्मान्निश्चयान्न चचाल यत्।
तद्राजाकारयत्तस्या वने तत्रैव मन्दिरम् ॥१५२॥
गत्वा च राजधानीं स्वां प्रेषयामास सोऽन्वहम्।
तस्या अतिथिपूजार्थं पक्वान्नानि धनानि च ॥१५३॥
सा च हेमप्रभा तत्र धनैरन्नैश्च तैः सदा।
पूजयन्त्यतिथीनासीत्फलमूलाशिनी स्वयम् ॥१५४॥

इस कारण कन्या ने, अपना अपमान समझा और जंगल में जाने की सोचने लगी। एकबार वह भ्रमण के बहाने नगर के बाहर उद्यान में गई। वहाँ सेवकों के मद्य-पान से उन्मत्त हो जाने पर वह वृक्ष की झुरमुट में घुसकर उनकी आँखों से ओझल हो गई। ॥१४०–१४१॥

अकेली ही जंगल में जाती हुई वह बहुत दूर निकल गई और वहाँ एक पर्णकुटी बनाकर फल-मूल खाती हुई वह शंकर की आराधना में तन्मय हो गई ॥१४२॥

उसके पिता उस राजा ने अपनी पुत्री को कहीं चली गई समझकर उसे बहुत ढुंढवाया और उसके न मिलने पर राजा को बहुत कष्ट हुआ ॥१४३॥

बहुत दिनों के पश्चात्, कष्ट के कुछ शान्त हो जाने पर मनोरंजन करने के निमित्त वह राजा बुद्धिप्रभ शिकार खेलने के लिए निकला ॥१४४॥

और, जंगल में भटकता हुआ वह दैवयोग से बहुत दूर उस दूसरे जंगल में पहुँच गया, जहाँ उसकी कन्या हेमप्रभा तपस्या करती हुई रहती थी। राजा को वहाँ कुटी दिखाई पड़ी, उसके भीतर निःशंक भाव से प्रवेश करने पर राजा ने देखा कि उसी की पुत्री हेमप्रभा तपस्या करती हुई सूखकर काँटा हो गई है। कन्या ने भी एकाएक अपने पिता को देखा और उठकर उसके चरण पकड़ लिये। अश्रुसिक्त पिता ने भी स्नेहपूर्वक उसका आलिंगन कर उसे भली-भाँति गोद में बैठा लिया ॥१४५–१४७॥

बहुत दिनों के बाद देखादेखी होने के कारण दोनों एक दूसरे को देखकर ऐसे रोये कि उनसे प्रभावित वन के मृग भी आँसू बहाने लगे ॥१४८॥

तदनन्तर, धीरे-धीरे आश्वस्त होकर राजा ने उस कन्या से कहा—'बेटी, राजलक्ष्मी के सुख को छोड़ कर तूने यह क्या किया ? वनवास छोड़कर माँ के पास चलो।' इस प्रकार कहते हुए पिता से हेमप्रभ ने कहा—'पिता जी, भाग्य ने ही ऐसी आयोजना कर दी। इसमें मेरी शक्ति ही क्या है। अब मैं सुख भोगने के लिए घर न आऊँगी और तप के सुख को भी न छोड़ूँगी' ॥१४९–१५१॥

इस प्रकार कहती हुई कन्या जब अपने दृढ़ निश्चय से विचलित न हुई, तब राजा ने वन में ही उसके लिए मन्दिर (निवास-स्थान) बनवा दिया ॥१५२॥

और, अपनी राजधानी में लौटकर राजा, अतिथि-सत्कार के निमित्त उसे प्रति दिन पक्वान्न, मिष्टान्न, धन आदि भेजने लगा ॥१५३॥

वह हेमप्रभा, उस अन्न और धन से सदा अतिथियों का सत्कार करने लगी और स्वयं फल मल खाकर रहने लगी ॥१५४॥

एकदा चाययौ तस्या राजपुत्र्यास्तमाश्रमम्।
प्रव्राजिकैका भ्राम्यन्ती कौमारब्रह्मचारिणी ॥१५५॥
स तयाभ्यर्चिता हेमप्रभया स्वकथान्तरे।
प्रव्रज्याकारणं पृष्ट्वा बालप्रव्रजिकाब्रवीत् ॥१५६॥
संवाहयन्ती चरणावहं कन्या सती पितुः।
सीदत्करयुगाभूवं निद्राकुलितलोचना ॥१५७॥
किं निद्रासीति पादेन ततः पित्राहमाहता।
तन्मन्युना प्रव्रजिता निर्गत्यैवास्मि तद्गृहात् ॥१५८॥
इति प्रव्राजिकामुक्तवतीं हेमप्रभाथ सा।
समानशीलप्रीतां तां वनवाससखीं व्यधात् ॥१५९॥
एकदा तामवोचत् सा प्रातः प्रव्राजिकां सखीम्।
सखि स्वप्नेऽद्य जानेहमुत्तीर्णा विपुलां नदीम् ॥१६०॥
आरूढाऽस्मि ततः श्वेतगजं तदनु पर्वतम्।
तत्राश्रमे मया दृष्टो भगवानम्बिकापतिः ॥१६१॥
तदग्रे प्राप्य वीणां च गायन्त्यहमवादयम्।
ततोऽद्राक्षं च पुरुषं दिव्याकारमुपागतम् ॥१६२॥
तं दृष्ट्वा च त्वया साकमहमुत्पतिता नभः।
इयद्दृष्ट्वा प्रबुद्धास्मि व्यतिक्रान्ता च यामिनी ॥१६३॥
एतच्छ्रुत्वैव तां हेमप्रभामाह स्म सा सखी।
शापावतीर्णा कापि त्वं दिव्या कल्याणि निश्चितम् ॥१६४॥
प्रत्यासन्नं च शापान्तं तव स्वप्नो वदत्यसौ।
श्रुत्वैतदभ्यनन्दत् सा राजपुत्री सखीवचः ॥१६५॥
ततो भूयिष्ठमुदिते जगद्दीपे दिवाकरे।
आययौ तुरगारूढो राजपुत्रोऽत्र कश्चन ॥१६६॥
स तां हेमप्रभां दृष्ट्वा तापसीवेषधारिणीम्।
जातप्रीतिरुपागत्य ववन्दे मुक्तवाहनः ॥१६७॥
सापि तं रचितातिथ्या कृतासनपरिग्रहम्।
सञ्जातप्रणयाप्राक्षीन् महात्मन्को भवानिति ॥१६८॥
राजपुत्रोऽथ सोऽवादीन्महाभागे महीपतिः।
प्रतापसेन इत्यस्ति शुभनामानुकीर्त्तनः ॥१६९॥

एकबार उस राजपुत्री के आश्रम में, एक आजन्म ब्रह्मचारिणी सन्यासिनी, विचरण करती हुई आ पहुँची ॥१५५॥

हेमप्रभा से समुचित आतिथ्य-सत्कार प्राप्त कर अपनी कथा के मध्य में, सन्यास का कारण पूछे जाने पर वह बाल-सन्यासिनी बोली–॥१५६॥

मैं अपने कन्यापन में अपने पिता के पैर दबा रही थी। आँखों में निद्रा भर जाने के कारण मेरे दोनों हाथ शिथिल हो गये ॥१५७॥

'क्या सो रही है?', ऐसा कहकर पिता ने पैर से मुझे ठोकर मारी। उसी क्रोध से मैं घर से निकलकर सन्यासिनी हो गई' ॥१५८॥

इस प्रकार कहती हुई सन्यासिनी से हेमप्रभा ने अपने समान स्वभाव और चरित्र से प्रसन्न होकर उसे अपनी वनवास की सखी बना लिया ॥१५९॥

एकबार हेमप्रभा ने, प्रातःकाल उस सन्यासिनी सखी से कहा—'सखि, आज मैंने स्वप्न में देखा कि 'मैं एक विशाल नदी को पार कर गई। उसे पार कर श्वेत हाथी पर चढ़ी और उसके पश्चात् पर्वत पर। उस पर्वत पर एक आश्रम में भगवान् अम्बिकापति शिव को देखा। उनके सामने गाती हुई मैंने बीणा बजाई। तब एक दिव्य पुरुष को अपने पास आया हुआ देखा। उसे देखने पर मैं तेरे साथ आकाश में उड़ गई। इतना देखकर मेरी नींद खुल गई और रात्रि भी व्यतीत हो गई' ॥१६०–१६३॥

यह सुनकर वह सखी हेमप्रभा से बोली—'हे कल्याणी, यह निश्चय है कि तू शाप के कारण पृथ्वी पर अवतीर्ण कोई दिव्य स्त्री है और तेरे शाप का अन्त भी समीप है। यह स्वप्न यही कहता है।' यह सुनकर राजपुत्री ने उसकी बात का समर्थन किया ॥१६४-१६५॥

तदनन्तर, जगत् के दीपक भगवान् भास्कर के पर्याप्त ऊपर आ जाने पर घोड़े पर चढ़ा हुआ कोई राजकुमार उस आश्रम में आया ॥१६६॥

वहाँ तपस्विनी के वेष में राजपुत्री को देखकर उसे उसके प्रति प्रीति उत्पन्न हुई। और उसने वाहन को छोड़कर उसे प्रणाम किया ॥१६७॥

राजपुत्री ने भी, उसका आतिथ्य सत्कार किया और उसे आसन दिया। आसन पर बैठे हुए उसकी ओर आकृष्ट होकर प्रेम से उसने पूछा कि 'आप कौन हैं?' ॥१६८॥

तदनन्तर, उस राजपुत्र ने कहा—'हे महाभाग्यशालिनी, शुभ नाम और चरित्रवाला प्रतापसेन नाम का एक राजा है ॥१६९॥

स तप्यमानः पुत्रार्थं हरस्याराधनं तपः।
तेनादिश्यत देवेन प्रादुर्भूय प्रसादिना ॥१७०॥
विद्याधरावतारस्ते पुत्र एको भविष्यति।
स च शापक्षये लोकं निजमेव प्रपत्स्यते ॥१७१॥
द्वितीयस्तु सुतो भावी वंशराज्यधरस्तव।
इत्युक्तः शम्भुनोत्थाय हृष्टश्चक्रे स पारणम् ॥१७२॥
कालेन जातस्तस्यैको लक्ष्मीसेनाभिधः सुतः।
शूरसेनाभिधानश्च द्वितीयो नृपतेः क्रमात् ॥१७३॥
तदिमं मां विजानीहि लक्ष्मीसेनं वरानने।
आनीतमिह वाताश्वेनाकृष्याखेटनिर्गतम् ॥१७४॥
इत्युक्ता तेन साप्युक्त्वा स्वोदन्तं तस्य पृच्छतः।
सद्यो हेमप्रभा जातिं स्मृत्वा हृष्टा जगाद तम् ॥१७५॥
त्वयि दृष्टे मया जातिर्विद्याभिः सह संस्मृता।
साकं सख्यानया शापच्युता विद्याधरी ह्यहम् ॥१७६॥
त्वं च विद्याधरः शापच्युतः स्वसचिवान्वितः।
भर्त्ता मे त्वं च मत्सख्या अस्यास्त्वत्सचिवश्च सः ॥१७७॥
क्षीणश्च ससखीकायाः स शापो मम साम्प्रतम्।
लोके वैद्याधरे भूयः सर्वेषां नः समागमः ॥१७८॥
इत्युक्त्वा दिव्यरूपत्वं प्राप्य सख्या समं तया।
हेमप्रभा खमुत्पत्य सा स्वलोकमगात्तदा ॥१७९॥
लक्ष्मीसेनश्च यावत् स साश्चर्योऽत्र स्थितः क्षणात्।
तावत्स सचिवस्तस्य चिन्वानो मार्गमाययौ ॥१८०॥
तस्मै स राजपुत्रश्च सख्ये यावद्ब्रवीति तत्।
तावद्बुद्धिप्रभोऽप्यागात् स राजा स्वसुतोत्सुकः ॥१८१॥
सोऽदृष्ट्वैव सुतां दृष्ट्वा लक्ष्मीसेनं च पृष्टवान्।
तस्याः प्रवृत्तिं सोऽप्यस्मै यथादृष्टं शशंस तत् ॥१८२॥
ततो बुद्धिप्रभे विग्ने लक्ष्मीसेनः समन्त्रिकः।
स्मृत्वा शापक्षयाज्जातिं स्वर्लोकं नभसा ययौ ॥१८३॥
प्राप्य हेमप्रभां भार्यामागत्य च तया सह।
बुद्धिप्रभं तमामन्त्र्य व्यसृजत् स निजं पुरम् ॥१८४॥

उसने पुत्र के लिए शिवाराधन-तप किया। तब प्रसन्न शिवजी ने, उसके आगे प्रकट होकर आदेश दिया कि 'तुझे एक पुत्र उत्पन्न होगा और वह विद्याधर का अवतार होगा। अन्त में शाप का क्षय होने पर वह अपने लोक को चला जायगा ॥१७०–१७१॥

दूसरा पुत्र तेरे वंश और राज्य को चलानेवाला होगा।' शम्भु के इस प्रकार आदेश से प्रसन्न राजा ने उठकर व्रत की पारणा की ॥१७२॥

समय आने पर उसके यहाँ लक्ष्मीसेन नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ और क्रम से दूसरा पुत्र शूरसेन नाम का हुआ ॥१७३॥

इसलिए, तुम मुझे उस राजा का ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीसेन समझो। मेरा यह वेगवान् घोड़ा आखेट के लिए निकले मुझे यहाँ ले आया है' ॥१७४॥

उसके द्वारा इस प्रकार कही गई राजपुत्री अपने पूर्वजन्म का स्मरण करके उससे अपना वृत्तान्त कहकर इस प्रकार बोली—॥१७५॥

'तुम्हारे देखने पर मैंने भी विद्याओं के साथ अपनी जाति का स्मरण कर लिया। मैं इस सखी के साथ शापच्युता विद्याधरी हूँ ॥१७६॥

तू अपने मन्त्री के साथ शापच्युत विद्याधर मेरा पति है। और, तेरा वह मन्त्री इस मेरी सखी का पति है ॥१७७॥

सखी के साथ मेरा वह शाप अब क्षीण हो गया है। अब हम सब का विद्याधर-लोक में फिर समागम होगा' ॥१७८॥

इस प्रकार कहकर और अपने दिव्य विद्याधर-रूप को प्राप्त कर, हेमप्रभा अपनी सखी के साथ, आकाश में उड़कर, अपने लोक को चली गई ॥१७९॥

लक्ष्मीसेन वहाँ बैठकर जब इन सब घटनाओं को आश्चर्य के साथ देख रहा था कि तभी उसे ढूंढ़ता हुआ उसका मन्त्री, उसी मार्ग से वहाँ आ गया ॥१८०॥

राजपुत्र लक्ष्मीसेन, जब अपने मित्र मन्त्री को वहाँ का समाचार सुना ही रहा था; इतने में ही अपनी कन्या को देखने के लिए उत्सुक राजा बुद्धिप्रभ भी वहाँ आ गया ॥१८१॥

उसने भी अपनी कन्या हेमप्रभा को वहाँ न देखकर लक्ष्मीसेन से उसका समाचार पूछा। लक्ष्मीसेन ने जो कुछ देखा सुना था, वह सब उससे कह सुनाया ॥१८२॥

तब बुद्धिप्रभ के व्याकुल होने पर, और लक्ष्मीसेन अपने मन्त्री के साथ शाप-मुक्त होने तथा पूर्वजाति का स्मरण करने पर, आकाश से अपने विद्याधर-लोक को गया ॥१८३॥

और, वहाँ जाकर पूर्वजन्म की पत्नी हेमप्रभा को पाकर उसे अपने पिता बुद्धिप्रभ से मिलाया उसके बाद बुद्धिप्रभ अपने नगर को लौट गया ॥१८४॥

गत्वा च प्राप्तभार्येण तेन सख्या समं ततः।
पित्रे प्रतापसेनाय स्ववृत्तान्तमवर्णयत् ॥१८५॥
तेन दत्तं क्रमप्राप्तं राज्यं दत्वानुजन्मने।
शूरसेनाय स ययौ वैद्याधरपुरं निजम् ॥१८६॥
तत्र विद्याधरैश्वर्यसुखं हेमप्रभायुतः।
लक्ष्मीसेनः स भुङ्क्ते स्म सख्या तेनान्वितश्चिरम् ॥१८७॥
इत्थं कथा निगदिताः किल गोमुखेन शृण्वन्क्रमात्स नरवाहनदत्तदेवः।
आसन्नवर्त्तिनवशक्तियशोविवाहसूत्कोऽपि तां क्षणमिव क्षणदां निनाय ॥१८८॥
एवं विनोद्य च दिनानि स राजपुत्रः प्राप्ते विवाहदिवसे पितुरन्तिकस्थः।
वत्सेश्वरस्य नभसः सहसावतीर्णं वैद्याधरं तपनदीप्ति बलं ददर्श ॥१८९॥
तन्मध्ये च स्वकदुहितरं दित्सितां तां गृहीत्वा
प्रीत्या प्राप्तं स्फटिकयशसं वीक्ष्य विद्याधरेन्द्रम्।
प्रत्युद्गम्य श्वशुर इति तं पूजयामास हर्षा-
द्वत्सेशेन प्रथमविहितातिथ्यमर्घ्यादिना सः ॥१९०॥
सोऽप्यावेद्य यथार्थमम्बरचराधीशः क्षणात्कल्पिता-
शेषस्वोचितदिव्यवैभवविधिः सिद्धिप्रभावात्ततः।
रत्नौघप्रतिपूरिताय विधिवद्वत्सेशपुत्राय तां
तस्मै स्वां वितितार शक्तियशसं पूर्वप्रदिष्ठां सुताम् ॥१९१॥
स च नरवाहनदत्तो भार्यां विद्याधरेन्द्रतनयां ताम्।
सम्प्राप्य शक्तियशसं पद्म इवार्कद्युतिं व्यरुचत् ॥१९२॥
स्फटिकयशस्युपयाते कौशाम्ब्यां पुरि स वत्सराजसुतः।
शक्तियशोवदनाम्बुजसक्तेक्षणषट्पदस्तदा तस्थौ ॥१९३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्ट-विरचिते कथासरित्सागरे शक्तियशो लम्बके दशमस्तरङ्गः समाप्तश्चायं

शक्तियशोलम्बको दशमः।

तब पत्नी-सहित उस मित्र के साथ प्रतापसेन (पिता) के पास जाकर अपना सारा वृत्तान्त लक्ष्मीसेन ने सुनाया ॥१८५॥

और, उससे दिये हुए क्रम से प्राप्त राज्य को अपने छोटे भाई शूरसेन को देकर वह विद्याधर-लोक को गया ॥१८६॥

वहाँ जाकर हेमप्रभा से युक्त लक्ष्मीसेन, अपने सपत्नीक मित्र मन्त्री के साथ चिरकाल तक दिव्य आनन्द का उपभोग करता रहा ॥१८७॥

गोमुख द्वारा इस प्रकार कही गई कथाओं को सुनकर, शक्तियशा के आसन्नवर्त्ती नवीन विवाह के लिए उत्सुक होने पर भी नरवाहनदत्त ने, उस रात्रि को क्षण के समान बिता दिया ॥१८८॥

इस प्रकार, विवाह-दिवस की अवधि को विनोदपूर्वक व्यतीत करके उस राजकुमार नरवाहनदत्त ने विवाह का दिन आने पर पिता वत्सेश्वर के पास रहते हुए, सहसा आकाश से उतरते हुए और सूर्य के समान चमकते हुए विद्याधरों के दल को देखा ॥१८९॥

उस दल के मध्य, दान की इच्छा से अपनी कन्या को लेकर, प्रेम से आये हुए विद्याधरों के राजा स्फटिकयश को देखकर, श्वशुर की अगवानी करके नरवाहनदत्त ने, उसकी अभ्यर्थना की और समधी वत्सराज उदयन ने भी, अर्घ्य-पाद्य आदि से उसका समुचित सत्कार किया ॥१९०॥

विद्याधरों के उस राजा ने भी, वत्सराज से यथार्थ बात निवेदित करके, अपनी सिद्धि के प्रभाव से अपने स्वरूप के अनुसार विवाह की दिव्य सामग्री एकत्र करके, रत्नों के समूह से भर दिये गये वत्सराज के पुत्र नरवाहनदत्त के लिए पहले से ही कही गई शक्तियशा नाम की अपनी कन्या विधि-पूर्वक प्रदान कर दी ॥१९१॥

वह नरवाहनदत्त भी, विद्याधरराज की कन्या उस शक्तियशा को अपनी पत्नी के रूप में प्राप्त करके इस प्रकार खिल उठा, जैसे रश्मियों को पाकर कमल खिल उठता है ॥१९२॥

विवाह-संस्कार समाप्त करके स्फटिकयश के अपने लोक को चले जाने पर, नरवाहनदत्त, अपनी नगरी कौशाम्बी में शक्तियशा के मुख-कमल का भ्रमर बनकर रहने लगा ॥१९३॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शक्तियश लम्बक का
दशम तरंग समाप्त

शक्तियश नामक दशम लम्बक समाप्त

वेला नामैकादशो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

प्रथमस्तरङ्गः

मङ्गलाचरणम्

नमताशेषविघ्नौघवारणं वारणाननम्।
कारणं सर्वसिद्धीनां दुरितार्णवतारणम्॥१॥

नरवाहनदत्तकथा (पूर्वानुवृत्ता)

एवं स शक्तियशसं प्राप्यान्याः प्रथमाश्च ताः।
रत्नप्रभाद्या देवीं च मुख्यां मदनमञ्चुकाम्॥२॥
अतिष्ठद्विहरन् वत्सयुवराजः सुहृद्युतः।
नरवाहनदत्तोऽथ कौशाम्ब्यां पितृपार्श्वगः॥३॥

रुचिरदेवपोतकयोः कथा

एकदा च तमुद्यानगतं देशान्तरागतौ।
भ्रातरौ राजपुत्रौ द्वावकस्मादभ्युपेयतुः॥४॥
कृतातिथ्यप्रणतयोस्तयोरेकोऽब्रवीच्च तम्।
वैशाखाख्ये पुरे राज्ञः पुत्रावावां द्विमातृकौ॥५॥
नाम्ना रुचिरदेवोऽहं द्वितीयश्चैष पोतकः।
जविनी हस्तिनी मेऽस्ति तुरगौ द्वावमुष्य च॥६॥
तन्निमित्तं समुत्पन्नो विवादश्चावयोर्द्वयोः।
अहं जवाधिकां वच्मि हस्तिनीं तुरगावयम्॥७॥

वेला नामक एकादश लम्बक

[प्रारम्भिक पद्य का अर्थ सप्तम लम्बक के प्रथम तरंग के प्रारम्भ में देखें।]

प्रथम तरंग

मंगलाचरण

नम्र भक्तों के समस्त दुःखों और विघ्नों को दूर करनेवाले, समस्त सिद्धियों के देनेवाले और पाप-रूपी समुद्र से पार लगानेवाले गजानन को प्रणाम है।।१।।

नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत)

वत्सराज उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त, इस प्रकार शक्तियशा नाम की पत्नी को पाकर मदनमंचुका आदि पहली रानियों के साथ, कौशाम्बी नगरी में अपने मित्रों के सहित, पिता के पास रहता हुआ, आनन्द-विलास करता था।।२–३।।

रुचिरदेव और पोतक की कथा

एक बार जब वह उद्यान में भ्रमण कर रहा था कि अकस्मात् दो राजपूत-बन्धु उसके पास आये।।४।।

नमस्कार, आतिथ्य आदि शिष्टाचार के अनन्तर उन दोनों में से एक ने कहा—'हम दोनों वैशाख नगर के राजा के दो सौतेले पुत्र हैं।।५।।

मेरा नाम रुचिरदेव और इस दूसरे का नाम पोतक है। मेरे पास तेज चलनेवाली एक हथिनी है और इसके पास दो घोड़े हैं।।६।।

इन पशुओं के कारण हम दोनों में विवाद उत्पन्न हो गया है। मैं कहता हूँ कि हथिनी तेज चलती है और यह कहता है, घोड़े।।७।।

अहं यदि जितस्तन्मे पणः सैव करेणुका।
अयं यदि जितो वा स्यात्तदश्वावेव तौ पणौ ॥८॥
तेषां जवान्तरं ज्ञातुं क्षमो नान्यस्त्वया विना।
तदस्मद्गृहमागत्य तत्परीक्षां कुरु प्रभो ॥९॥
प्रसीद त्वं हि सर्वार्थिप्रार्थनाकल्पपादपः।
आवां चाभ्यागतौ दूरादेतदर्थं तवार्थिनौ ॥१०॥
एवं रुचिरदेवेन सोऽर्थितोऽश्ववशारसात्।
अनुरोधाच्च वत्सेशसूनुस्तत्प्रत्यपद्यत ॥११॥
तदुपानीतवाताश्वरथारूढस्तदैव सः।
प्रतस्थे प्राप वैशाखपुरं ताभ्यां समं च तत् ॥१२॥
कोऽयं स्यात्किस्विदप्राप्तरतिः कामो नवोद्भवः।
किं वा द्वितीयश्चन्द्रोऽयमकलङ्को दिवाचरः ॥१३॥
उत वा पुरुषाकारो धात्रा व ामस्य निर्मितः
तरुणीहृदयाकाण्डसमूलोन्मूलनः शरः ॥१४॥
इत्युन्मदाकुलोत्पक्ष्मलोचनाभिर्विलोक्य सः।
वर्ण्यमानः पुरस्त्रीभिस्तद्विवेश पुरोत्तमम् ॥१५॥
शृङ्गारैकमयं तत्र युवराजो ददर्श सः।
पूर्वैः कृतप्रतिष्ठस्य कामदेवस्य मन्दिरम् ॥१६॥
तस्मिन् रतिप्रीतिप्रदे प्रविश्य प्रणिपत्य तम्।
कामदेवं स विश्रम्य क्षणमध्वश्रमं जहौ ॥१७॥
ततस्तद्देवसदनाभ्यर्णवर्त्ति विवेश च।
प्रीत्या रुचिरदेवस्य मन्दिरं तत्पुरस्कृतः ॥१८॥
वरवाजिगजाकीर्णं तदागमनसोत्सवम्।
ऊर्जितश्रि स तत्पश्यन् रेमे वत्सेश्वरात्मजः ॥१९॥
तैस्तै रुचिरदेवेन सत्कारैः सत्कृतोऽथ सः।
तत्र तद्भगिनीं कन्यां ददर्शात्यद्भुताकृतिम् ॥२०॥
तद्रूपशोभाकृष्टेन चक्षुषा मानसेन च।
न सोऽपश्यत् प्रवासं वा विरहं स्वजनेन वा ॥२१॥
सापि दृष्ट्वैव नीलाब्जमालयेव प्रफुल्लया।
प्रेमनिक्षिप्तया तस्य चकारेव स्वयंवरम् ॥२२॥

यदि मैं हार गया तो मेरा पण (दाँव) वही हथिनी है और यदि यह हार गया, तो इसके पण वे ही दोनों घोड़े ॥८॥

उनके वेग का अन्तर आपके सिवा दूसरा नहीं जान सकता; इसलिए हे प्रभो, हमारे घर पर पधारकर इसकी परीक्षा कीजिए ॥९॥

आप कृपा करें। आप सभी प्रकार की प्रार्थनाओं के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं। इसीलिए हम दोनों प्रार्थी होकर दूर से आपके पास आए हैं' ॥१०॥

इस प्रकार रुचिरदेव से प्रार्थित नरवाहनदत्त ने, घोड़े और हथिनी की प्रतियोगिता के शौक से उसकी बात मान ली ॥११॥

और, वह उसी समय लाये हुए तेज घोड़ोंवाले रथ पर चढ़कर उन दोनों के साथ वैशाखपुर को चला ॥१२॥

चलते-चलते वह क्रमशः वैशाखपुर नगर में पहुँचा। उसके नगर में प्रवेश करते ही उसे देखकर दीवानी और एकटक निहारती हुई नागरिक स्त्रियाँ, नाना प्रकार के तर्क-वितर्क करने लगीं 'यह कौन है? क्या रति को विना प्राप्त किया नवीन कामदेव तो नहीं है? अथवा दिन में दीखनेवाला निष्कलंक चन्द्र तो यह नहीं है या ब्रह्मा ने पुरुष के आकार में कामदेव को निर्मित किया है?' इत्यादि ॥१३-१५॥

वहाँ (वैशाखपुर में) युवराज नरवाहनदत्त ने, शृंगार-रसमय और प्राचीन लोगों से प्रतिष्ठित किया गया कामदेव का एक मन्दिर देखा ॥१६॥

रति और प्रीति देनेवाले उस कामदेव के मन्दिर में जाकर और मूर्त्ति को नमन करके, कुछ समय तक विश्राम करके उसने मार्ग की श्रान्ति दूर की ॥१७॥

विश्राम कर लेने के पश्चात् अगवानी किया जाता हुआ वह देवमन्दिर के समीप-स्थित रुचिरदेव के घर में, प्रेम के साथ प्रवेश किया ॥१८॥

नरवाहनदत्त के आगमन के उत्सव में हाथी और घोड़े की कमी नहीं थी। उनकी विराट् शोभा को देखकर नरवाहनदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ ॥१९॥

वहाँ पर रुचिरदेव द्वारा समुचित सत्कार किये गये नरवाहनदत्त ने, अत्यन्त आश्चर्य-मय रूपवाली रुचिरदेव की अविवाहिता बहन को देखा ॥२०॥

उस कन्या के रूप-सौन्दर्य से आकृष्टहृदय और नेत्रवाले नरवाहनदत्त ने, प्रवास में होने-वाले अपनी रानियों के विरह का अनुभव नहीं किया। वह उन्हें भी भूल गया ॥२१॥

उस कन्या ने भी, नीलकमल की माला के सदृश प्रेम से उसके ऊपर डाली हुई दृष्टि से मानों उसे स्वयं बर लिया ॥२२॥

ततो जयेन्द्रसेनाख्यां तां स दध्यौ यथा तथा।
आसतां निशि नार्योऽन्या न निद्रापि जहार तम् ॥२३॥
अन्येद्युः पोतकानीतमपि वातसमं जवे।
तदश्वरत्नयुगलं वाहविद्यारहस्यवित् ॥२४॥
स्वयं रुचिरदेवो यां तामारुह्य करेणुकाम्।
तद्वेगेन जिगायैव जवाधानबलेन सः ॥२५॥
ततो रुचिरदेवेन वाजिरत्नयुगे जिते।
यावत्स वत्सेशसुतो विशत्यभ्यन्तरं ततः ॥२६॥
तावत्तस्य पितुः पार्श्वाद्दूतोऽन्तिकमुपाययौ।
स दृष्ट्वा पादयोर्दूतस्तं प्रणम्याब्रवीदिदम् ॥२७॥
इह प्रयातं बुद्ध्वा त्वां परिवारात् पिता तव।
राजा मां प्राहिणोत् त्वां प्रत्येवमादिशति स्म च ॥२८॥
इयद्दूरमनावेद्य यातोऽस्युद्यानतः कथम्।
अधृतिर्नस्तदायाहि मुक्तव्यासङ्गसत्वरम् ॥२९॥
इति शृण्वन्पितुर्दूतात् प्रियाप्राप्तिं च चिन्तयन्।
नरवाहनदत्तोऽभूत् स दोलारूढमानसः ॥३०॥
तावत् क्षणाच्च तत्रैकः सार्थवाहोऽतिहर्षलः।
दूरादेव नमन्नेत्य युवराजमुवाच तम् ॥३१॥
'जय वीर जयापुष्पकोदण्डकुसुमायुध।
भाविविद्याधराधीश चक्रवर्तिञ्जय प्रभो ॥३२॥
बालो न किं मनोहारी वर्धमानो न किं द्विषाम्।
वित्रासकारी दृष्टोऽसि देव तस्मादसंशयम् ॥३३॥
अचिरादच्युतगुणं त्वां द्रक्ष्यन्त्येव खेचराः।
आक्रामन्तं क्रमेण द्यां कुर्वन्तं बलिनिर्जयम् ॥३४॥'
इत्यादि स्तुतवांस्तेन युवराजेन सत्कृतः।
पृष्टश्चाकथयत् तस्मै स्ववृत्तान्तं महावणिक् ॥३५॥

वणिजो वेलायाश्च कथा

अस्ति लम्पेति नगरी पृथिवीमौलिमालिका।
तस्यां कुसुमसाराख्यो वणिगाढ्यो महानभूत् ॥३६॥

तब उस जयेन्द्रसेना नाम की कन्या का वह इस प्रकार ध्यान करने लगा कि दूसरी स्त्रियों की तो बात ही क्या, निद्रा की भी उसने उपेक्षा कर दी ॥२३॥

दूसरे दिन, घोड़ों की विद्या का रहस्य जाननेवाले नरवाहनदत्त ने, पोतक द्वारा लाये गये वायु से भी अधिक वेगवाले घोड़ों को देखा और स्वयं रुचिरदेव द्वारा लाई गई हथिनी पर बैठकर विद्या के प्रभाव से उसमें अधिक वेग का आधान करके हथिनी को घोड़ों से जिता दिया ॥२४–२५॥

तब रुचिरदेव, उन दोनों अश्व-रत्नों को जीत गया। इसके पश्चात् युवराज, जैसे ही रुचिरदेव के घर में प्रवेश कर रहा था कि उसके पिता का एक दूत वहाँ आ पहुँचा। उसे देखकर दूत ने चरणों में प्रणाम करके यह कहा ॥२६–२७॥

तुम्हें अकस्मात् यहाँ आये हुए जानकर तुम्हारे परिवार के साथ सम्मति करके तुम्हारे पिता ने मुझे दूत बनाकर यहाँ भेजा है और आज्ञा दी है कि तुम उद्यान से ही बिना सूचना दिये इतनी दूर क्यों चले गये? हमलोग अधीर हो रहे हैं। इसलिये, जिस काम में लगे हो, उसे शीघ्र ही समाप्त करके चले आओ ॥२८–२९॥

पिता के दूत से इस प्रकार सुनता हुआ और नवीन प्रेयसी की प्राप्ति की चिन्ता करता हुआ वह नरवाहनदत्त कर्त्तव्य के सन्देह में पड़ गया कि वह क्या करे ॥३०॥

इतने में ही उसी समय अत्यन्त प्रसन्नचित्त एक व्यापारी आकर दूर से ही नमस्कार करके युवराज नरवाहनदत्त से बोला—॥३१॥

'हे वीर, तुम्हारी जय हो। पुष्प के धनुष और पुष्पों के बाण धारण करनेवाले विद्याधरों के भावी चक्रवर्ती, हे प्रभो, तुम्हारी जय हो ॥३२॥

हे स्वामिन्, बालक होकर भी चित्त को चुरानेवाले और बड़े होकर शत्रुओं को भय देने-वाले तुझे मैंने निःसन्देह देखा ॥३३॥

पाताल को जीतकर क्रमशः स्वर्ग को जीतते हुए उत्कृष्ट गुणोंवाले तुझे आकाशचारी लोग भी अवश्य ही देखेंगे ॥३४॥

इन वचनों से स्तुति करता हुआ और युवराज से सत्कृत बनिया, युवराज के पूछने पर अपना वृत्तान्त कहने लगा ॥३५॥

व्यापारी और वेला की कथा

"समस्त पृथ्वी की मस्तक-माला के समान लम्पा नाम की एक नगरी है। उस नगरी में कुसुमसार नामक एक धनी वैश्य था ॥३६॥

तस्य धर्मैकवसतेः शङ्कराराधनार्जितः।
एकोऽहं चन्द्रसाराख्यः पुत्रो वत्सेशनन्दन ॥३७॥
सोऽहं मित्रैः समं जातु देवयात्रामवेक्षितुम्।
गतस्तत्रापरानाढ्यानद्राक्षं ददतोऽर्थिषु ॥३८॥
ततो धनार्जनेच्छा मे प्रदानश्रद्धयोदभूत्।
असन्तुष्टस्य बह्वयापि पित्रुपार्जितया श्रिया ॥३९॥
तेन द्वीपान्तरं गन्तुमहमम्बुधिवर्त्मना।
आरूढवान् प्रवहणं नानारत्नप्रपूरितम् ॥४०॥
दैवेनेवानुकूलेन वायुना प्रेरितं च तत्।
अल्पैरेव दिनैः प्राप तं द्वीपं वहनं मम ॥४१॥
तत्राप्रतीतमुद्रिक्तरत्नव्यवहृतिं च माम्।
बुद्ध्वा राजार्थलोभेन बद्ध्वा कारागृहे न्यधात् ॥४२॥
तस्मिन् गृहे दुष्कृतिभिः क्रन्दद्भिः क्षुत्तृडर्दितैः।
प्रेतैरिव स्थितो यावदहं निरयसन्निभे ॥४३॥
तावदस्मत्कुलाभिज्ञस्तन्निवासी महावणिक्।
महीधराख्यो राजानं मत्कृते तं व्यजिज्ञपत् ॥४४॥
लम्पानिवासिनो देव पुत्र एष वणिक्पतेः।
निर्दोषस्य तदेतस्य बन्धनाद्ययशस्करम् ॥४५॥
इत्यादि बोधितस्तेन स मामुन्मोच्य बन्धनात्।
आनाय्य चान्तिकं राजा सादरं सममानयत् ॥४६॥
ततो राजप्रसादेन तन्मित्रोपाश्रयेण च।
तत्रासं महतः कुर्वन् व्यवहारानहं सुखी ॥४७॥
एकदात्र मधूद्यानयात्रायां दृष्टवानहम्।
वणिजः शिखराख्यस्य तनयां वरकन्यकाम् ॥४८॥
तया कन्दर्पदर्पाब्धिलहर्येव हृतस्ततः।
गत्वैव तत्पितुस्तस्मादहं याचितवांश्च ताम् ॥४९॥
स च क्षणं विचिन्त्यान्तस्तत्पिता मामभाषत।
साक्षान्न युज्यते दातुमेषा मेऽस्त्यत्र कारणम् ॥५०॥
तदेतां सिंहलद्वीपमहं मातामहान्तिकम्।
प्रहिणोम्युपयच्छस्व गत्वैनामर्थितां ततः ॥५१॥

हे वत्सराज के नन्दन, उसी परम धार्मिक वैश्य का मैं चन्द्रसार नामक पुत्र हूँ; जिसे उसने शंकर की आराधना से पाया था ॥३७॥

एक बार मैं मित्रों के साथ देवताओं की यात्रा देखने के लिए गया। वहाँ मैंने दूसरे धनिकों से दान माँगते हुए भिक्षुओं को देखा ॥३८॥

तब देने की श्रद्धा के कारण मुझे धन उपार्जित करने की इच्छा हुई। पिता द्वारा उपार्जित बहुत लक्ष्मी होने पर भी मैं उससे सन्तुष्ट न था ॥३९॥

इस कारण मैंने समुद्र के मार्ग से दूसरे द्वीपों में जाकर व्यापार द्वारा धन कमाने का विचार करके विविध रत्नों से भरे व्यापारिक नाव पर यात्रा की ॥४०॥

देव और वायु के अनुकूल होने से वह मेरी नाव कुछ ही दिनों में निर्दिष्ट द्वीप पर पहुँच गई ॥४१॥

वहाँ मेरे जवाहरात के व्यापार को धूमधाम से चलते देखकर, उस द्वीप के राजा ने, मुझ पर विश्वास न करके धन के लोभ से, मुझे बाँधकर कारागार में डाल दिया ॥४२॥

नरक के समान उस कारागार में रोते-कलपते भूख-प्यास से पीड़ित, कंकाल-मात्र शेष प्रेतों के समान कैदियों के साथ में कुछ दिनों तक पड़ा रहा ॥४३॥

तब मेरे कुल (वंश) को जाननेवाले वहाँ के महाधनी व्यापारी महीधर ने, मेरे लिए राजा से प्रार्थना की कि 'हे महाराज, यह लम्पा-निवासी वैश्यों के चौधरी का बालक है। यह निर्दोष है, इसे कारागार में रखना आपके लिए निन्दा की बात होगी' ॥४४–४५॥

इस प्रकार समझाये गये राजा ने, मुझे कैद से छुड़ाकर और अपने पास बुलाकर आदर के साथ मेरा सम्मान किया ॥४६॥

तब राजा की कृपा से ,राजा के मित्र महीधर वैश्य के आश्रय में रहते हुए मैं वहाँ व्यापार करता हुआ सुखी था ॥४७॥

एक बार उसी द्वीप में मैंने वसन्तकालीन उद्यान-यात्रा में वहाँ के निवासी शिखर नामक वैश्य की सुन्दरी कन्या को देखा ॥४८॥

कामदेव के दर्प-रूपी समुद्र की लहरों के समान, उस कन्या से हरण (आकृष्ट) किया गया मैं, उसके पिता शिखर के पास गया और उससे उस कन्या की माँग की ॥४९॥

उसके पिता ने, मन में क्षण-भर सोचकर, मुझसे कहा—'मैं इसे स्वयं अपने हाथों से दान नहीं कर सकता। इसमें कुछ कारण है ॥५०॥

इसलिए, मैं इसे सिंहल-द्वीप में इसके नाना के पास भेज देता हूँ, तुम वहाँ जाकर उससे माँगकर इससे विवाह कर लो ॥५१॥

सन्देक्ष्यामि तथा तत्र यथैतत्तव सेत्स्यति।
इत्युक्त्वा मां स सम्मान्य शिखरो व्यसृजद् गृहम् ॥५२॥
अन्येद्युश्च स तां कन्यामारोप्य सपरिच्छदाम्।
यानपात्रेऽब्धिमार्गेण प्राहिणोत्सिंहलान् प्रति ॥५३॥
अथ यावदहं तत्र गन्तुमिच्छामि सोत्सुकः।
तावद्विद्युन्निपातोग्रा वार्त्ता तत्रोदभूदियम् ॥५४॥
शिखरस्य सुता येन याता प्रवहणेन तत्।
मग्नमब्धौ न चैकोऽपि तत उत्तीर्णवानिति ॥५५॥
तद्वार्त्तावात्यया भग्नधैर्यः प्रवहणाकुलः।
अहं सद्यो निरालम्बे न्यपतं शोकसागरे ॥५६॥
वृद्धैराश्वास्यमानश्च चित्तमाशाभिराक्षिपन्।
अकार्षं निश्चयं ज्ञातुं तद्द्वीपगमने मतिम् ॥५७॥
अथ राजप्रियोऽप्यर्थैस्तैस्तैरुपचितोऽपि सन्।
आरुह्याम्बुनिधौ पोतं गन्तुमारब्धवानहम् ॥५८॥
गच्छतश्च महाशब्दो मुञ्चन्धाराशरावलीः।
उदतिष्ठन्ममाकस्माद् घोरो वारिदतस्करः ॥५९॥
तद्वायुना विरुद्धेन विधिनैव बलीयसा।
उत्क्षिप्योत्क्षिप्य च मुहुर्भग्नं मे वहनं ततः ॥६०॥
मग्नेऽम्बुधौ परिजने धने च विधियोगतः।
एकं प्रापि महत्काष्ठं पतितेन सता मया ॥६१॥
तेन प्रसारितेनेव धात्रा सपदि बाहुना।
शनैर्वातवशादब्धेः पुलिनं प्राप्तवानहम् ॥६२॥
तत्राधिरुह्य दुःखार्त्तो निन्दन्दैवमशङ्कितम्।
स्वर्णलेशमहं प्रापं तटोपान्तच्युतस्थितम् ॥६३॥
तद्विक्रीयात्र निकटे ग्रामे कृत्वाशनादिकम्।
क्रीतवस्त्रयुगोऽत्याक्षमब्धिवाहक्लमं मनाक् ॥६४॥
ततो दिशमजानानो दयिताविरही भ्रमन्।
दृष्टवानस्मि सिकताशिवलिङ्गभृतां भुवम् ॥६५॥
विचरन् मुनिकन्यायां तस्यां चाद्राक्षमेकतः।
कन्यां लिङ्गार्चनव्यग्रां वनवेषेऽपि शोभिनीम् ॥६६॥

मैं इसके नाना को ऐसा सन्देश भेज दूंगा कि वह इसे तुम्हें ही देगा। इस प्रकार, कहकर और मेरा समुचित सम्मान करके शिखर ने मुझे घर भेज दिया ॥५२॥

दूसरे दिन, शिखर ने अपने पुरुषों और साज-सामान के साथ, उस कन्या को, समुद्री मार्ग से, नाव पर बैठाकर, सिंहल द्वीप भेज दिया ॥५३॥

उसके जाने के उपरान्त जब मैं सिंहल द्वीप जाने को उद्यत हुआ, तब वज्रपात के समान यह समाचार वहाँ फैल गया ॥५४॥

कि शिखर की कन्या जिस नाव से गई थी; वह नाव समुद्र में डूब गई। एक भी व्यक्ति उनमें से समुद्र से नहीं निकल सका ॥५५॥

उस समय समाचार-रूपी आँधी से अधीर और नाव के लिए व्याकुल असहाय होकर मैं शोक-समुद्र में डूब गया ॥५६॥

बड़ों से धैर्य दिलाये जाते हुए और आशाओं से मन को शान्त करते हुए मैंने, यह समाचार जानने के लिए सिंहल द्वीप जाने का निश्चय किया ॥५७॥

तदनन्तर, राजा का प्रिय होने पर और तरह-तरह के धन से समृद्ध होने पर भी, मैंने जहाज पर चढ़कर समुद्र-यात्रा की ॥५८॥

जब मैं समुद्र-यात्रा कर ही रहा था कि इतने में धारा-रूपी बाणों की वर्षा करता हुआ भीषण बादल-रूपी चोर, अकस्मात् आकाश में चढ़ आया ॥५९॥

तब विपरीत वायु से और मेरे बलवान् भाग्य से बार-बार टकराकर उछलता हुआ जहाज टूट-फूट-कर डूब गया ॥६०॥

भाग्यवश मेरे साथियों और धन-सम्पत्ति के समुद्र में डूब जाने पर, समुद्र में बहते हुए मैंने, एक बड़ा लकड़ी का तख्ता पा लिया ॥६१॥

उस पर चढ़कर और हाथों से उसे चलाते-बढ़ाते मैं, वायु के अनुकूल होने पर किसी प्रकार किनारे पर पहुँच गया ॥६२॥

तट पर लग कर अतर्कित देव की निन्दा करते हुए मैंने वहीं पर गिरा हुआ सोने का एक टुकड़ा पाया ॥६३॥

उसे तटवर्ती गाँव में बेचकर भोजन आदि करके दो वस्त्र पहनने और ओढ़ने के लिए खरीदकर मैंने समुद्र-तरण की थकावट को कुछ दूर किया ॥६४॥

तब दिशा को न जानते हुए और प्रेयसी के विरह से दुःखी होकर घूमते हुए मैंने बालू के शिवलिंगों से भरी भूमि देखी ॥६५॥

उस भूमि में, मुनि-कन्याएँ विचर रहीं थीं। उन कन्याओं में एक कन्या को शिव की पूजा में लगी हुई मैंने देखा, जो मुनियों के वेष में भी सुन्दरी थी ॥६६॥

अहो प्रिया सुसदृशी काप्येषा सैव किं भवेत्।
कुतो वैतन्न तादृंशि भागधेयानि यन्मम ॥६७॥
इति मां चिन्तयन्तं च सैवेयमिति दक्षिणम्।
लोचनं वदति स्मैवं साह्लादं प्रस्फुरन्मुहुः ॥६८॥
तन्वि प्रासादवासार्हा त्वमरण्येऽत्र का वद।
इति पृष्टा ततः सा च मया नाह स्म किञ्चन ॥६९॥
मुनिशापभयेनाथ लतागुल्मान्तराश्रितः।
स्थितवानस्मि तां पश्यन्नवितृप्तेन चक्षुषा ॥७०॥
कृतार्चना सा च मुहुः सस्नेहं परिवृत्य माम्।
पश्यन्ती विमृशन्ती च किञ्चित् प्रायात्ततः शनैः ॥७१॥
गतायां दृक्पथात्तस्यां तमोन्धाः पश्यतो दिशः।
निशाचक्राह्वसदृशी काप्यवस्था ममाभवत् ॥७२॥
क्षणाच्चाशङ्कितायातां तेजसार्कप्रभानिभाम्।
सुतां मतङ्गस्य मुनेराबाल्याद्ब्रह्मचारिणीम् ॥७३॥
यमुनाख्यां तपः क्षामशरीरां दिव्यचक्षुषम्।
साक्षाद्धृतिमिवापश्यमहं कल्याणदर्शनाम् ॥७४॥
सा मामवददालम्ब्य चन्द्रसार धृतिं शृणु।
शिखराख्यो वणिग् योऽसावस्ति द्वीपान्तरे महान् ॥७५॥
स रूपवत्यां जातायां कन्यायां सुहृदा किल।
जिनरक्षितसंज्ञेन ज्ञानिनावादि भिक्षुणा ॥७६॥
स्वयं त्वया न देयेयं कन्यैषा ह्यन्यमातृका।
दोषः स्यात्ते स्वयं दाने विहितं तादृशं हितम् ॥७७॥
इत्युक्तो भिक्षुणा सोऽथ तां प्रदेयां सुतां वणिक्।
तन्मातामहहस्तेन दातुमैच्छत्स्वदर्थिताम् ॥७८॥
अतः सा सिंहलद्वीपं तेन मातामहान्तिकम्।
पित्रा विसृष्टा वहने भग्ने न्यपतदम्बुधौ ॥७९॥
आयुर्बलेन चानीय दैवेनेव महोर्मिणा।
वेलातटे समुद्रेण निक्षिप्ता सा वणिक्सुता ॥८०॥
तावत्पिता मे भगवान् मतङ्गमुनिरम्बुधौ।
सशिष्यः स्नातुमायातो मृतकल्पां ददर्श ताम् ॥८१॥

ओह! यह मेरी प्राणप्यारी के समान है या सम्भवतः वही हो। किन्तु, यह कैसे होगा? मेरा ऐसा भाग्य कहाँ ॥६७॥

मैं इस प्रकार सोच ही रहा था कि इतने में प्रसन्नता से बार-बार फड़कती हुई दाहिनी आँख ने कहा—'यह वही है ?' ॥६८॥

'हे कृशांगी, महलों में रहने योग्य तू इस जंगल में कौन है ?' मुझसे इस प्रकार पूछी गई उस बाला ने कुछ न कहा ॥६९॥

तब मैं मुनि के शाप के भय से लता-गुल्म से छिपकर खड़ा हुआ उसे अतृप्त नेत्रों से देखता रह गया ॥७०॥

वह सुन्दरी पूजन करने के उपरान्त घूम करके स्नेहपूर्वक मुझे देखती हुई और कुछ सोचती हुई धीरे-धीरे चल पड़ी ॥७१॥

उसके चले जाने पर मेरे लिए चारों ओर अँधेरा हो जाने पर मेरी दशा रात्रि में चकवे के समान अवर्णनीय थी ॥७२॥

कुछ समय के पश्चात् निःशंक आती हुई, तेज से सूर्य के समान चमकती हुई, मतंग मुनि की बाल-ब्रह्मचारिणी शुभदर्शना पुत्री यमुना नाम की उसकी सहेली को मूर्त्तिमती धृति (धैर्य) के रूप में मैंने देखा ॥७३-७४॥

वह मुझे लक्ष्य करके कहने लगी—"हे चन्द्रसार, धीरज धर के सुन। दूसरे द्वीप में शिखर नाम का महान् वैश्य है ॥७५॥

उसकी रूपवती पत्नी में कन्या उत्पन्न होने पर जिनरक्षित नामक विज्ञानी भिक्षु ने अपने मित्र शिखर से कहा—॥७६॥

'हे शिखर, यह कन्या दूसरी माता की है। इसे तुम स्वयं किसी को दान न करना। स्वयं दान करने से पाप होगा, यही तेरे लिए हित है' ॥७७॥

भिक्षु के इस प्रकार कहने पर उस वैश्य शिखर ने, तुम्हारे द्वारा माँगी गई उस कन्या को उसके नाना के हाथ से दान कराने की इच्छा की ॥७८॥

तब उसने उसे नाव द्वारा सिंहल द्वीप में, उसके नाना के पास भेज दिया। किन्तु, यह नाव भीषण तूफान के कारण समुद्र में डूब गई ॥७९॥

नाव के डूबने पर भी आयु शेष रहने के कारण भाग्य ने लहरों के साथ इसे समुद्र-तट पर ला पटका ॥८०॥

इसी अवसर पर मेरे पिता मतंग मुनि, अपने शिष्यों के साथ समुद्र में, स्नान करने के लिए उतरे और अचेतन पड़ी हुई इस कन्या को उन्होंने देखा ॥८१॥

स दयालुः समाश्वास्य तां स्वमाश्रममानयत्।
यमुने तव पाल्येयमिति च न्यस्तवान् मयि॥८२॥
वेलातटादियं प्राप्ता मयेति स महामुनिः।
नाम्ना तामकरोद्वेलां बालां मुनिजनप्रियाम्॥८३॥
तत्स्नेहेन च चित्तं मेऽपत्यस्नेहकृपामयः।
ब्रह्मचर्यनिरस्तोऽपि हा संसारोऽद्य बाधते॥८४॥
आपाणिग्रहणां तां च नवयौवनशोभिनीम्।
दूयते चन्द्रसारैतां दर्शं दर्शं मनो मम॥८५॥
सा च प्राग्जन्मभार्या ते बुद्ध्वा च त्वामिहागतम्।
प्रणिधानादहं पुत्र सम्प्राप्तैषा तवान्तिकम्॥८६॥
तदागच्छोपयच्छस्व वेलां तामस्मदर्पिताम्।
क्लेशोऽनुभूतः साफल्यं भजतां युवयोरयम्॥८७॥
इत्यानन्द्य गिरानभ्रवृष्ट्येव नयति स्म सा।
यमुना मां भगवती मतङ्गस्याश्रमं पितुः॥८८॥
विज्ञप्तश्च तया तत्र तां मतङ्गमुनिः स मे।
ददौ वेलां मनोराज्यसम्पत्तिमिव रूपिणीम्॥८९॥
ततस्तया समं तत्र वेलयाहं सुखस्थितः।
एकदा तद्युतोऽकार्षं जलकेलिं सरोम्भसि॥९०॥
अपश्यता सवेलेनाप्यवेलं क्षिपता जलम्।
सिक्तः स्नानप्रवृत्तोऽत्र स मतङ्गमुनिर्मया॥९१॥
स तेन कुपितः शापं सभार्ये मय्यपातयत्।
वियोगो भविता पापौ दम्पत्योर्युवयोरिति॥९२॥
ततस्तया दीनगिरा वेलया पादलग्नया।
प्रार्थितः स मुनिर्ध्यात्वा शापान्तं नौ समादिशत्॥९३॥
जेता करेणुवेगेन योऽश्वरत्नयुगं बली।
नरवाहनदत्तं तं भाविविद्याधरेश्वरम्॥९४॥
चन्द्रसार यदा द्रक्ष्यस्याराद्वत्सेश्वरात्मजम्।
सङ्गंस्यसे तदा शापप्रशमाद्भार्ययानया॥९५॥
इत्युक्त्वा स मतङ्गर्षिः कृत्वा स्नानादिकां क्रियाम्।
दर्शनाय हरेर्व्योम्ना श्वेतद्वीपं गतोऽभवत्॥९६॥

दयालु मुनि, उसे धीरज बँधाकर अपने आश्रम में ले आय और—'यमुने, तुझे इसे पालना है'—कहकर मुझे सौंप दिया ॥८२॥

समुद्र के तट से यह लड़की प्राप्त हुई, इसलिए मतंग मुनि ने मुनियों की प्यारी इस कन्या का नाम वेला रख दिया ॥८३॥

इस कन्या के स्नेह से मेरा चित्त सन्तान-स्नेह से भर गया है। ब्रह्मचर्य से त्याग किया हुआ संसार भी आज मुझे कष्टप्रद प्रतीत हो रहा है ॥८४॥

हे चन्द्रसार, अविवाहित और नवयौवन से सुसज्जित इस कन्या को देख-देखकर मेरा चित्त दुःखी हो रहा है ॥८५॥

बेटा, योगबल से मैंने जान लिया कि यह तेरी पूर्वजन्म की भार्या है और दैवयोग से तू भी यहाँ आ गया है ॥८६॥

इसलिए, आओ और हमारे द्वारा दान की गई इस कन्या का पाणिग्रहण करो। तुम दोनों ने जो कष्ट का अनुभव किया है, वह सफल हो" ॥८७॥

विना मेघ की वृष्टि के समान मुझे शान्त करती हुई यमुना, अपने पिता मतंग मुनि के आश्रम में ले गई ॥८८॥

वहाँ जाकर सूचित किये गये मतंग ने, मनोराज्य की मूर्त्तिमती सम्पत्ति के समान उस कन्या को मुझे प्रदान किया ॥८९॥

तब मैं वहाँ आश्रम में वेला के साथ सुखपूर्वक रहने लगा। एक बार मैं उसके साथ तालाब के जल में केलि कर रहा था। उस समय वेला के साथ स्थित मैंने अनजाने में मर्यादा के प्रतिकूल पानी फेंकते हुए वहाँ स्नान के लिए आये हुए मतंग ऋषि को भिगो दिया ॥९०-९१॥

इस कारण क्रुद्ध मुनि ने, पत्नी-सहित मुझे शाप दिया कि 'हे पापियो, तुझ दम्पती का भविष्य में वियोग होगा' ॥९२॥

तब चरणों पर पड़ी हुई वेला द्वारा दीनतापूर्वक प्रार्थना किये जाने पर मुनि ने, हम दोनों का शापान्त इस प्रकार बतलाया ॥९३॥

जो हस्तिनी के वेग से उत्तम घोड़ों की जोड़ी को जीतेगा, उस विद्याधर-चक्रवर्ती वत्सराज के पुत्र नरवाहनदत्त को जब देखोगे, तब तुम्हारे शाप की शान्ति होगी और इस भार्या से तुम्हारा पुनः समागम होगा ॥९४-९५॥

ऐसा कहकर वह मतंग मुनि स्नान, सन्ध्या आदि नित्यक्रिया करके हरि के दर्शन के लिए आकाश-मार्ग से श्वेतद्वीप को चले गये ॥९६॥

विद्याधरेण पादाग्राद्यः प्राप्तो धूर्जटेः पुरा।
तस्मान्मया च बालत्वादात्तो यश्चूतपादपः ॥९७॥
सोऽयं सद्रत्ननिचितो दत्तो वामधुना मया।
इत्युक्त्वा मां सभार्यं सा तत्रैव यमुनाप्यगात् ॥९८॥
अथाहं प्राप्तदयितो निर्विण्णो वनवासतः।
वियोगभीतेरभवं स्वं देशं प्रति सोत्सुकः ॥९९॥
ततः प्रवृत्तश्चागन्तुमहं प्राप्याम्बुधेस्तटम्।
लब्धे वणिक्प्रवहणे भार्यामारोपयं पुरः ॥१००॥
स्वयं चारोढुमिच्छामि यावत्तावत्समीरणः।
मुनिशापात्सुहृत्पोतं तं दूरमहरन्मम ॥१०१॥
पोतेन हृतभार्यस्य मोहोऽपि विनिपत्य मे।
लब्धच्छिद्र इवाहार्षीच्चेतनां विह्वलात्मनः ॥१०२॥
ततोऽत्र तापसः कश्चिदागतो वीक्ष्य मूर्च्छितम्।
कृपया मां समाश्वास्य नीतवानाश्रमं शनैः ॥१०३॥
पृष्ट्वा चात्र यथावृत्तं श्रुत्वा शापविजृम्भितम्।
बुद्ध्वा च सावधिं शापं धृतिबन्धं व्यधात् स मे ॥१०४॥
ततोऽब्धौ भग्नवहनोत्तीर्णं प्राप्य वणिग्वरम्।
सखायं मिलितोऽभूवमन्विष्यंस्तां प्रियां पुनः ॥१०५॥
शापक्षयाशया दत्तहस्तालम्बश्च दुर्गमान्।
तांस्तानुल्लङ्घयन् देशान् दिवसांश्च बहूनहम् ॥१०६॥
क्रमाच्च वैशाखपुरं सम्प्राप्येदं श्रुतो मया।
त्वं वत्सेश्वरसद्वंशमुक्तामणिरिहागतः ॥१०७॥
दृष्टे च दूराद्धस्तिन्या विजिताश्वयुगे त्वयि।
उज्झितः स मया शापभारो लब्ध्वन्तरात्मना ॥१०८॥
क्षणाच्च सम्मुखायातामद्राक्षमिह तां प्रियाम्।
वेलां वणिग्भिरानीतां तेन पोतेन साधुभिः ॥१०९॥
ततस्तयाहं यमुनाप्रत्तसद्रत्नहस्तया।
मिलितस्त्वत्प्रसादेन तीर्णशापमहार्णवः ॥११०॥
अतः प्रणन्तुं त्वामस्मि वत्सराजसुतागतः।
निर्वृतो यामि चेदानीं स्वदेशं दयितायुतः ॥१११॥

विद्याधर ने, प्राचीन समय में, शिवजी के चरण के अग्रभाग से जो आम का पौधा पाया था, उस बालक पौधे को मैंने उससे ले लिया था। अच्छे-अच्छे रत्नों से भरे हुए इस पौधे को अब मैं तुम्ह दम्पती को देती हूँ। इस प्रकार सपत्नीक मुझे कहकर यमुना भी चली गई ॥९७–९८॥

तदनन्तर, अपनी प्रेयसी पत्नी को पाकर और वनवास से त्रस्त मैं वियोग के भय से अपने देश को जाने के लिए उत्सुक हुआ ॥९९॥

यात्रा के लिए उद्यत मैंने समुद्र-तट पर आकर किसी व्यापारी की नाव मिल जाने पर पहले अपनी पत्नी को उस पर चढ़ा दिया ॥१००॥

जब मैं उस पर चढ़ने के लिए उद्यत हुआ, तब मुनि के शाप के प्रभाव से वायु ने मेरी नाव को किनारे से दूर कर दिया ॥१०१॥

उस नाव द्वारा पत्नी का हरण हो जाने पर, मूर्च्छा ने भी अवसर देखकर मेरी चेतना का हरण कर लिया। अर्थात् मैं मूर्छित होकर गिर पड़ा ॥१०२॥

तब वहाँ आया हुआ एक तपस्वी मूर्छित देखकर मुझे होश में लाकर धीरज देकर अपने आश्रम में ले गया ॥१०३॥

वहाँ ले जाकर उसने मेरा सारा समाचार सुनकर, इसे शाप का प्रभाव समझकर और शाप की अवधि को जानकर भी उसने मुझे धैर्य बँधाया ॥१०४॥

तब अपनी पत्नी को ढूंढ़ता हुआ मैं टूटी हुई नाव से बचकर निकले हुए अपने मित्र वैश्य से मिला ॥१०५॥

शाप से क्षय की आशा से उससे आश्वस्त मैं उन-उन बहुत-से दुर्गम देशों को लाँघता हुआ तुमसे मिलने के लिए विशाखपुर आया, तो ज्ञात हुआ कि वत्सराज के वंश के मोती-स्वरूप तुम यहाँ आये हो ॥१०६-१०७॥

जब दूर से मैंने हथिनी द्वारा दोनों घोड़ों को तुम्हारे द्वारा जीतते हुए देखा, तब मैं जीवन पाकर शाप से मुक्त हो गया और क्षण-भर में ही मैंने उसी नाव से वणिकों द्वारा लाई गई अपनी प्राणप्यारी को भी देखा ॥१०८-१०९॥

तब मैं, यमुना के कल्याणमय हाथों से प्राप्त की गई उस वेला से मिला और तुम्हारी कृपा से शाप का कष्ट पार किया ॥११०॥

इसलिए, हे वत्सराज के नन्दन, तुम्हें प्रणाम करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ और अब कष्टों से मुक्त होकर अपनी प्रियतमा के साथ जा रहा हूँ" ॥१११॥

इति स वणिजि तस्मिन्नात्मवृत्तान्तमुक्त्वा
गतवति चरितार्थे चन्द्रसारे प्रणम्य।
अभवदतिविनम्रो वत्सराजात्मजेऽस्मिन्
स किल रुचिरदेवो दृष्टमाहात्म्यहृष्टः ॥११२॥
प्रादाच्च तां स्वभगिनीमुपचारवृत्ति-
मालम्ब्य युक्तिमनुरागहृताय तस्मै।
प्राग्दित्सितां सुसदृशीं स जयेन्द्रसेनां
सद्यः करेणुतुरगोत्तमयुग्मयुक्ताम् ॥११३॥
स च तामादाय वधूं साश्ववशां रुचिरदेवमामन्त्र्य।
नरवाहनदत्तः स्वां कौशाम्बीमाययौ नगरीम् ॥११४॥
तस्यामास्त च विहरन्नन्दितवत्सेश्वरस्तया सहितः।
अन्याभिश्च स सुखितो देवीभिर्मदनमञ्चुकाद्याभिः ॥११५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
वेलालम्बके प्रथमस्तरङ्गः।

समाप्तश्चायं वेलालम्बक एकादशः।

इस प्रकार, उस वैश्य चन्द्रसार के अपना वृत्तान्त कहकर और प्रणाम करके चले जाने पर वह रुचिरदेव, नरवाहनदत्त की महिमा को जानकर अत्यन्त हर्षित हुआ और उसके प्रति और अधिक नम्र हो गया ॥११२॥

साथ ही, रुचिरदेव ने प्रेम से वश में किये गये नरवाहनदत्त के लिए, हथिनी और घोड़ों की जोड़ी के साथ अपनी बहन जयेन्द्रसेना को प्रदान किया, जिसे वह पहले ही देना चाहता था ॥११३॥

तदनन्तर, नरवाहनदत्त, रुचिरदेव से मिलकर घोड़े और हथिनी के साथ उसकी बहन जयेन्द्रसेना को लेकर अपनी नगरी कौशाम्बी लौट आया ॥११४॥

और, अपने पिता वत्सराज तथा मदनमंचुका आदि पत्नियों के साथ वह नरवाहनदत्त अपनी नगरी में सुखपूर्वक रहने लगा ॥११५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के
वेला-लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त
एकादश वेला-लम्बक समाप्त

परिषद् के गौरव-ग्रन्थ

१.	हिन्दी-साहित्य का आदिकाल——आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी	३.२५
२.	यूरोपीय दर्शन——स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा	३.२५
३.	हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन——डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	९.५०
४.	विश्वधर्म-दर्शन——श्रीसाँवलियाविहारीलाल वर्मा	१३.५०
५.	सार्थवाह——डॉ० मोतीचन्द्र	११.००
६.	वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा——डॉ० सत्यप्रकाश	८.००
७.	सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन——डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री	१४.००
८.	काव्य-मीमांसा (राजशेखर-कृत)——अनु० स्व० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत	९.५०
९.	श्रीरामावतार शर्मा-निबन्धावली——स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा	८.७५
१०.	प्राङ्मौर्य बिहार——डॉ० देवसहाय त्रिवेद	७.२५
११.	गुप्तकालीन मुद्राएँ——स्व० डॉ० अनन्त सदाशिव अलतेकर	९.५०
१२.	भोजपुरी भाषा और साहित्य——डॉ० उदयनारायण तिवारी	१३.५०
१३.	राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त——श्रीगोरखनाथ सिंह	१.५०
१४.	रबर——श्रीफूलदेवसहाय वर्मा, एम्० एस्-सी०	७.५०
१५.	ग्रह-नक्षत्र——श्रीत्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्०	४.२५
१६.	नीहारिकाएँ——डॉ० गोरखप्रसाद	४.२५
१७.	हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ——श्रीत्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्०	३.००
१८.	ईख और चीनी——श्रीफूलदेवसहाय वर्मा	१३.५०
१९.	शैवमत——मूल लेखक और अनुवादक डॉ० यदुवंशी	८.००
२०.	मध्यदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सिंहावलोकन——डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	७.००
२१-२४.	प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण——(खण्ड १ से ४ तक)——(संपादित)	७.२५
२५-२८.	शिवपूजन-रचनावली——(चार भागों में)—आचार्य शिवपूजन सहाय	३६.२५
२९.	राजनीति और दर्शन——डॉ० विश्वनाथप्रसाद वर्मा	१४.००
३०.	बौद्धधर्म-दर्शन——स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव	१७.००
३१-३२.	मध्य एसिया का इतिहास——(दो खण्डों में)—महापण्डित राहुल सांकृत्यायन	२०.७५
३३.	दोहाकोश——ले० सरहपाद : छायानुवादक : म० प० राहुल सांकृत्यायन	१३.२५
३४.	हिन्दी को मराठी संतों की देन——आचार्य विनयमोहन शर्मा	११.२५
३५.	रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना——डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१०.२५
३६.	अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन——स्व० वेंकटेश्वर शर्मा	७.५०
३७.	प्राचीन भारत की सांग्रामिकता——पं० रामदीन पाण्डेय	६.५०

३८. **बाँसरी बज रही**—श्रीजगदीश त्रिगुणायत ८.००
३९. **चतुर्दशभाषा-निबन्धावली**—(संकलित) ४.२५
४०. **भारतीय कला को बिहार की देन**—डॉ० विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह ७.५०
४१. **भोजपुरी के कवि और काव्य**—श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह ५.७५
४२. **पेट्रोलियम**—श्रीफूलदेवसहाय वर्मा ५.५०
४३. **नील-पंछी**—(मूल लेखक : मारिस मेटरलिंक) अनु० डॉ० कामिल बुल्के २.५०
४४. **लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् मानभूम ऐण्ड सिंहभूम**—(सम्पादित) ४.५०
४५. **षड्दर्शन-रहस्य**—पं० रंगनाथ पाठक ५.००
४६. **जातककालीन भारतीय संस्कृति**—श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी' ६.५०
४७. **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण**—ले० श्री पिशल; अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी २०.००
४८. **दक्खिनी हिन्दी-काव्यधारा**—महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ६.००
४९. **भारतीय प्रतीक-विद्या**—डॉ० जनार्दन मिश्र ११.००
५०. **संतमत का सरभंग-सम्प्रदाय**—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ५.५०
५१. **कृषिकोश (प्रथम खण्ड)**—संपादक : डॉ० विश्वनाथप्रसाद ३.००
५२. **कुँवरसिंह-अमरसिंह**—ले० का० कि० दत्त; अनु० पं० छविनाथ पाण्डेय ५.००
५३. **मुद्रण-कला**—पं० छविनाथ पाण्डेय ७.२५
५४. **लोक-साहित्य : आकर-साहित्य-सूची**—सं० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ०.५०
५५. **लोकगाथा-परिचय**—सं० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ०.२५
५६. **लोककथा-कोश**—सं० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ०.३२
५७. **बौद्धधर्म और बिहार**—पं० हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ८.००
५८. **साहित्य का इतिहास-दर्शन**—आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ५.००
५९. **मुहावरा-मीमांसा**—डॉ० ओमप्रकाश गुप्त ६.५०
६०. **वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति**—पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ५.००
६१. **पंचदशलोकभाषा-निबन्धावली**—(संकलित) ४.५०
६२. **हिन्दी-साहित्य और बिहार (७वीं से १८वीं शती तक)**—
सं० आचार्य शिवपूजन सहाय ५.५०
६३. **कथासरित्सागर (प्रथम खण्ड)**—ले० सोमदेव; अनु० के० ना० शर्मा सारस्वत १०.००
६४. **अयोध्याप्रसाद खत्री-स्मारक ग्रन्थ**—(सम्पादित) ५.००
६५. **सदलमिश्र-ग्रन्थावली**—सं० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ५.००
६६. **रंगनाथ रामायण (तेलुगु से अनूदित)**—अनु० श्री ए० सी० कामाक्षि राव ६.५०
६७. **गोस्वामी तुलसीदास (पुनर्मुद्रण)**—स्व० श्रीशिवनन्दन सहाय ५.५०
६८. **पुस्तकालय-विज्ञान-कोश**—श्रीप्रभुनारायण गौड़ ४.५०
६९. **प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण (खण्ड ५)**—
सं० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा १.००
७०. **भारतीय अब्दकोश (शकाब्द १८८३)**—सं० श्रीजगन्नाथप्रसाद मिश्र तथा
श्रीगदाधरप्रसाद अम्बष्ठ ८.००